

| | पत्रं | | पत्रं |
|---|-------|------------------------------------|-------|
| त्रित्वे हविर्वहनादिकर्माणि प्रमाणम् | ६३२ | इन्द्रवायुशब्दो पर्यायौ | ६३९ |
| ऐकात्म्यं नानात्वनिरासात् | ” | मध्यमस्य मुख्य. संबन्ध | |
| अङ्गाङ्गित्वं नानात्वस्य हेतु ... | ” | इन्द्रेण न वाय्वादिभिः | ” |
| एकत्वस्य च | ” | मध्यमस्य शब्दद्वयेनोपदेशे | |
| कान्यङ्गानि कानि प्रत्यङ्गानि | ” | प्रयोजनम् ... | ६४० |
| सत्त्वानि प्रकृतेरभिलानि । तस्मात्सत्त्वस्त्वः प्रकृतेरेव स्त्वः | ६३३ | अभिधानद्वयेन हेतुद्वयासिद्धिः.... | ” |
| प्रकृतिस्त्वान्माध्यादेतदुपपद्यते | ” | अभिधानबहुत्वस्य कारणं | |
| देवताधर्मो मनुष्यधर्मविपरीत. | ६३४ | माहात्म्यम् | ” |
| देवा इतरेतरजन्मानो भवन्ति... | ” | अथवा कर्मपृथक्त्वम् ... | ६४१ |
| देवानामश्वाद्यो नाऽऽगन्तवः.... | ” | यथा कुण्डपायिनामयने | ” |
| देवतानां जन्म कर्मसिद्धयर्थम् | ” | लौकिको दृष्टान्त | ” |
| देवता आत्मनो जायन्ते .. | ” | अथवा पृथक्प्रकृतित्वात्पृथक् स्यु. | ” |
| कामसारेण देवताना जन्म । | | अभिधानपृथक्त्वाच्च ... | ६४२ |
| अकामकारेणेतरेषाम् ... | ६३५ | कर्मपृथक्त्वात् इत्यनेकान्त. ... | ” |
| रथादि सर्वमा भैव ... | ” | एकत्व स्थानेन मभो न च | ६४३ |
| माहात्म्यान् एव कस्य बहुनाम- | | लौकिको दृष्टान्त ... | ” |
| धेयता ... | ” | मभोगीकत्वे उदाहरणम् ... | ” |
| तेन यत्नामः इत्यादि लक्षणं | | एकत्व नाम समानकार्यत्वम्.... | ” |
| युक्तम् ... | ” | भेदाभेदे दृष्टान्त. | ६४४ |
| आत्मवित्तपक्षेणीकात्म्यम् | ६३६ | एकत्वे त्रित्वनानात्वयोर्गौण- | |
| याज्ञिकपक्षे देवतानानात्वम् .. | ६३७ | त्वम् । त्रित्वे इतरयोर्द्वयोः । | |
| नेरुक्तपक्षे त्रित्वम् .. | ” | यथा नानात्वे | ” |
| त्रित्वं स्थानभेदात् | ” | वक्तृप्रतिपत्तदशेन भेदाभेदा | ” |
| ध्रुतिलिङ्गाच्च ... | ” | परमार्थेन ऐकात्म्यम् | ६४५ |
| अन्यार्थदर्शनाच्च | ६३८ | देवताकागमिचारः | ” |
| अप्रचादीनां स्थानभेदादृष्टे | | आत्मैत्यपक्षे आकारचिन्तनं | |
| मिगम. | ” | नेद्वयनि | ६४६ |
| षायुर्वेन्द्रो वेनि विकल्पः त्रि- | | नापि त्रित्वपक्षे | ” |
| पथं ... | ” | याज्ञिकपक्षेऽप्ये विचार आव- | |
| | | श्यत्. | ” |

| | पत्रं | | पत्रं |
|--------------------------------|---------|---------------------------------|---------|
| देवताः पुरुषविधाः स्युरि- | | एवं देवताकारचिन्तने चत्वारि | |
| त्येकं मतम् | ६४७ | अविरुद्धानि मतानि | |
| यस्मात् चेतनोवतामिव तेषां | | तिस्रणां देवताना भक्तिसाहचर्यम् | ६५६ |
| स्तुतिः | ” | पृथिव्यादीनि अग्निभक्त्यानि | ६५७ |
| अभिधानतः पौरुषविध्यम् | ६४८ | इडा कथं पृथिवीमिथाना | ” |
| देवतानामहंनि स्तूयन्ते | ” | अग्नेः कर्म | ” |
| यथा इन्द्राय बाहू स्तूयेते | ” | संस्तविका देवाः | ६५८ |
| द्रव्यसंयोगोऽपि पुरुषविधत्वे | | इन्द्रेण सह स्तवः | ” |
| कारणम् | ६४९ | सोमेन सह | ” |
| यथा इन्द्रस्याश्वाम्याम् | ” | वरुणेन | ६५९ |
| गृहेण जायया च | ६४९-६५० | पर्जन्येन | ” |
| कर्माण्यपि कारणम् | ६५० | ऋतुभिः | ६६० |
| इन्द्रोऽस्ति पिबति | ” | आग्निविष्णवं हविः | ” |
| शृणोति च | ६५०-६५१ | अग्निविष्णोः संस्तविकी ऋक् | |
| अपुरुषविधा देवताः स्युरित्यपरं | | दशतयीषु न विद्यते | ” |
| मतम् | ६५१ | अग्निपौष्णं हविरेव न संस्तवः | ६६१ |
| यथाम्यादयोऽपुरुषविधास्तथे- | | अग्निपूष्णोर्विभक्तस्तुतिः | ६६१-६६२ |
| न्द्रादयः | ६५२ | स्तुतिविभागे द्वे मते | ६६२ |
| अचेतना अपि स्तूयन्ते | ” | सुविद्वन्नशब्दस्य व्युत्पत्तिः | ” |
| यथा ग्रावाणः | ६५२-६५३ | इन्द्रकर्म | ६६३ |
| तेषामपि अङ्गानि स्तूयन्ते | ६५३ | संस्तविका देवाः | ” |
| द्रव्यसंयोग औपचारिकः | ” | अग्निना सह स्तवः | ६६३-६६४ |
| यथा नदीस्तुतौ | ६५४ | सोमेन | ६६४ |
| कर्माण्यपि औपचारिकाणि | ” | वरुणेन | ” |
| अथवा देवता उभयविधाः | | पूष्णा | ” |
| स्युः | ” | बृहस्पतिना | ” |
| देवताः स्थितिजलादीनां कर्मा- | | ब्रह्मणस्पतिना | ६६५ |
| त्मानः | ६५५ | पर्वतेन | ” |
| महाभारतादीनामेव वि- | | कुत्सेन | ६६६ |
| द्धान्तः | ” | विष्णुना | ” |

| | पत्रं | | पत्रं |
|----------------------------------|----------|---|----------|
| वायुना | ६६७ | देवताभिधानमेव समाम्नातव्यम् | ” |
| मित्रो वरुणेन संगतूयते | ६६७—६६८ | कर्मानामानि न समाम्नातव्यानि | ” |
| पूषा सोमेन | ... ६६८ | यस्मात्तानि मुख्याभिधानं विशेष- | |
| सोमो रुद्रेण | ... ६६९ | पथन्ति | ” |
| अग्निना पूषा | ... ” | तत्र दृष्टान्तः | ६८० |
| वातेन पर्जन्यः | ६६९—६७० | विशेषव्याख्याया लक्षणमुदाह- | |
| आदित्यकर्म | ... ” | रणं च | ६८०—६८१ |
| चन्द्रमसा सह स्तवः | ६७१ | आत्मविद्याज्ञिकनैरुक्तानामग्नि- | |
| वायुना | ” | विषये मतानि | ६८१ |
| संवत्सरेण | ” | अग्निः किमिति पृथिवीस्थानः.... | ” |
| अन्येषामृतुच्छन्दआदीनां स्थाना- | ६७२ | देवतापदनिर्वचनस्य फलं देवता- | |
| नि मन्त्र-छन्दः-साम-गायत्र्या- | | तादात्म्यम् | ” |
| दीनां व्युत्पत्तिः | ६७३—६७६ | अग्निशब्दस्य निर्वचनम् | ६८२ |
| देवताः स्तुतिभाजो हविर्मात्रश्च. | ६७६ | स्थौलाष्टाविमतम् | ” |
| भूमिष्ठा ऋग्भाजः | ... ” | शाकपूणिमतम् | ६८३ |
| काश्चिदर्धर्चभाजः | ” | अग्निर्माळे | ... ६८४ |
| पादभाजोऽपि काश्चित् | ६७७ | अग्निः पूर्वमि० | ... ६८५ |
| काश्चित् निपातभाजः | ” | अग्न्यभिधानस्यार्थान्तरे वृत्तिः. | ” |
| निपाता द्विविधाः | १ | अभिधानाना द्वे वृत्ती गौणी मुख्या च | ६८६ |
| साधारण्येन | ” | उत्तरे अपि ज्योतिषी अर्ग | |
| नैघण्टुकत्वेन | ... ” | इत्युच्येते | ” |
| अपरो निपातप्रकारः | ” | अभि प्रवन्त समानेव योषा इति | |
| अत्यन्तनैघण्टुकं देवताभिधानम् | ६७८ | मन्थमाग्नेरुद्राहरणम् | ६८७ |
| अनत्यन्तनैघण्टुकम् | ... ” | किमर्थमत्र अग्निर्मध्यमः | ” |
| विशेषणयुक्तान्यो देवतान्यो हवि- | | समुद्रादूर्मिः इति उत्तमम्याग्नेरुद्रा- | |
| श्वोद्यते | ” | हरणम् | ६८८ |
| तानि विशेषणानि समाम्नातन्यानि | | अग्निशब्दाभावे अग्निरत्र सूर्य इति | |
| इति केषां चिन्मतम् | ” | कथमुच्यते | ६८९ |
| न समाम्नातन्यानि इति यास्कमतम् | ६७९ | इन्द्रं मित्रं० इत्यत्र इन्द्राद्यः | |
| संविज्ञानभूतं तथा प्राधान्यमनुति | | अग्निरिति उच्यन्ते | ... ६९० |

| | पत्रं | | पत्रं |
|--------------------------------------|---------|--|---------|
| किंतु एतासु ऋक्ष आशिःशब्दो | | पालः | ७०२ |
| गौणः | ६९० | आदित्यस्य वैश्वानरत्वे ब्राह्मणम् | ” |
| पार्थिवोऽग्निरेव सूक्तभाक् हवि- | | निवित् सौर्यवैश्वानरीया | ” |
| र्माक् च | ” | छान्दोगिकं सूक्तमपि तथैव | ” |
| इतरे ज्योतिषी अप्राधान्येन आग्नि- | | तथा हविष्पान्तीयम् | ७०३ |
| शब्दं मनेते | ६९१ | पार्थिवोऽग्निः वैश्वानर इति शाक- | |
| जातवेदाः कस्मात् | ६९२ | पूणिः | ” |
| प्र नूनं जातवेदसम् | ६९३ | उत्तरे ज्योतिषी विश्वानरो । | |
| जातवेदसं गायत्रं तृचमीकमेव.... | ” | ताभ्यामयं जायते | ” |
| यत्र एतादृशाणां मन्त्रानां प्रयो- | | मध्यमात् पार्थिवाग्नेः जन्म | ” |
| जनं तत्र गायत्रच्छन्दसि वर्त- | | मध्यमस्य ज्योतिषः स्वभावः | ” |
| माना आग्नेया मन्त्राः प्रयुज्यन्ते | ६९४ | तथा पार्थिवस्य | ७०४ |
| मध्यमोऽपि जातवेदाः | ” | आदित्यात् पार्थिवाग्नेः जन्म.... | ” |
| तयोत्तमः | ” | ‘ वैश्वानरो यतते सूर्येण ’ अत्र | |
| तथाऽपि पार्थिवोऽग्निरेव जातवेदाः | ६९५ | सूर्यवैश्वानरो भिन्नौ | ” |
| वैश्वानरः कस्मात् | ६९५-६९६ | अस्यामृचि तयोर्भासोः संगमः | ७०५ |
| वैश्वानरस्य सुमतौ | ६९६ | भगादयो वैश्वानर इति नोच्यन्ते | ” |
| अस्या ऋचो निरूपणवैशिष्ट्यम् | ६९७ | वैश्वानरसूक्तेषु उदयादीनि आदि- | |
| को वैश्वानरः | ” | त्यकर्माणि न कथ्यन्ते | ” |
| मध्यम इति नैरुक्ताः | ” | अग्निः सूक्तेष्वेव वैश्वानररिपप्रवादाः | ७०६ |
| प्र नू महित्वं० अत्र वर्षकर्म । | | वैश्वानरः अग्निर्कर्मभिरेव संबध्यते | ” |
| तस्मात् वैश्वानरो मध्यमः | ६९९ | अग्नौ अपि वर्षकर्मोपपद्यते | ७०६-७०७ |
| आदित्य इति पूर्वं याज्ञिकाः.... | ७०० | वर्षकर्म मध्यमस्य न वैशेषिकं | |
| यस्मात् प्रत्यवरोहे दिवि वैश्वान- | | लक्षणम् | ७०७ |
| रीर्यं शस्त्रं शस्यते | ७००-७०१ | कृष्णं नियानम् | ७०८-७०९ |
| यथा स्तोत्रं तथा शस्त्रमित्युत्स- | | अग्नेः वर्षकर्मसंबन्धे ब्राह्मणम् | ७०९ |
| गस्यात्रापवादः | ७०१ | वर्षकर्म सर्वेषां समानम् | ७१० |
| पृथिवीलोकं प्रत्यवरोह्य यज्ञायज्ञीयं | | आम्नायवचनात् प्रत्यवरोहे यः | |
| शस्त्रं शस्यते | ” | कोऽपि मन्त्रः प्रयुज्येत | ” |
| वैश्वानररिपः पुरोडाशो द्वादशक- | | वैश्वानररिपः पुरोडाश एतद्रूपालः | |

| पङ्क्ति | पत्रं | पत्रं |
|--|-------|--|
| पञ्चकपालोऽपि. | ७१० | तथाऽपि सूक्तभाक् हविर्भाक् वैश्वः- |
| ब्राह्मणप्रवादो न प्रमाणं यस्मात् | | नरः पार्थिवोऽग्निरेव ... |
| ब्राह्मणोऽन्येऽपि प्रवादा वर्तन्ते | ,, | इतरयोज्योऽतिपोः वैश्वानर इत्य- |
| ✓ निविद्रपि अग्निरेव भवति ... | ७११ | भिधानं गौणम् ... ७२४ |
| ✓ तथा छान्दोगिकं सूक्तम् ... | ७१२ | द्रविणं धनं बलं वा । तस्य दाता |
| हविष्पान्तीयमपि तथैव ... | ,, | द्रविणोदाः ... ७२५ |
| ' हविष्पान्तमजरं० ' इयमृक् | | ' द्रविणोदा द्रविणसः ' इत्यस्या |
| आग्नेयी एव ... | ७१३ | ऋचो विशिष्टं निरूपणम् ७२६-७२७ |
| यस्मान्प्रथमा ऋक् आग्नेयी तस्मा- | | को द्रविणोदाः ... ,, |
| त्सर्वं सूक्तं तथैव ... | ७१४ | इन्द्रः । यस्मात्स बलस्य दाता ... ,, |
| ' अपामुपस्थे० ' इयमृक् पार्थि- | | इन्द्रो बलाज्जात. । तेनास्य बलेन |
| वोऽग्निरेव वैश्वानर इति दर्शयति | ७१५ | संबन्धः ... ,, |
| अस्यामृचि-विष्वक्स्वः वैश्वानरगत् | | ' अश्वदियाष ' अत्रेन्द्र ओजसो |
| पृथक् . | ,, | जात इत्युच्यते ७२७-७२८ |
| हविष्पान्तीये सूक्ते अग्निरेव तेन | | अग्निर्द्रविणोदस इत्युच्यते । इन्द्रा- |
| तेन रूपेण स्तूयते ... | ७१६ | चाग्निर्जातः । तस्मादिन्द्रो द्रवि- |
| ' मूर्धा भुवो भवति० ' अस्यामृचि | | णोदाः ७२८ |
| अग्निरेव सूर्यो भवति ... | ७१७ | यो हत्वाऽहि० ' अत्रेन्द्रोऽग्निं जन- |
| ' स्तोमेन हि० ' अस्यामृचि अग्निः | | यामासेत्युच्यते ७२८-७२९ |
| त्रिष्वपि लोकेषु वर्तते ... | ७१८ | ऋतुयानेषु द्रविणोदाः सोमं पिबति । |
| अग्नेस्त्रिधाभावे ब्राह्मणम् | ७१९ | पात्रं चेन्द्रपानमित्युच्यते । तस्मा- |
| ' यदेद्रेनमदधु० ' अत्राग्निः आदित्य | | दिन्द्रो द्रविणोदाः ७२९-७३० |
| इति स्तूयते ... | ,, | इन्द्र एव सोमपानेन स्तूयते । |
| मिथुनशब्दव्युत्पत्तिः ... | ७२० | इन्द्रायैव सोमः संस्क्रियते ७३०-७३१ |
| ' यत्र वदेते० ' अत्र मूर्धो होता । | | यन्मादाग्निः द्राविणोदमः तस्मा- |
| होतृत्वं चाग्नेः । तस्मात्सूर्योऽग्निः | ७२१ | दिन्द्रो द्रविणोदाः ... ७३१ |
| ज्ञाने होताऽग्निः ब्राह्मणहोतृवैगीयान् | ७२२ | अयमेवाग्निर्द्रविणोदा इति शाक- |
| किंतु होतृनपो नाग्निर्वैश्वानरयो | | पूणि. ... ,, |
| यस्मात्तत्र वैश्वानरोऽग्नेः पिने- | | आग्नेयैश्चैव मृत्तेषु द्रविणोदः- |
| त्युच्यते ... | ७२३ | शब्दः प्रयुज्यते ... ,, |

| पत्रं | पत्रं |
|--|--|
| 'स प्रतनथा०' इत्यत्राग्निः द्रवि- णोदाः ७३१-७३२ | एवं पार्थिवोऽग्निः द्रविणोदाः मूक्तभाक् हविर्भाक् च ... १ |
| ऐश्वर्यात् सर्वा एव देवता बलधनयो- र्द्राज्यः । न केवल इन्द्रः ७३२ | आप्रियः इक्ष्मादीनि । तानि विवासितक्रमाणि ... ७३९ |
| अग्निः ओजसा मथ्यमानो जायते एतासु ऋक्षु अग्निः सहसः पुत्रः सहसः सूनुः सहसो यहु- इत्युच्यते ... ७३३ | अमन्यादीनि अपि तथैव ... १ पृथिवीस्थाने सर्वत्र विवासित एव क्रम. ७४० |
| यस्मात् ऋत्विजो हविषां दातारः तस्मात्ते द्रविणोदसः । तेषा पुत्रः अग्निः ... ७३४ | इतरयोः स्थानयोरपि तथैवेति शाकपूणिः ... १ आग्नीशब्दन्युत्पत्तिः १ |
| 'अज्ञावाग्निश्चरति०' अत्राग्निः ऋषीणां पुत्र इत्युच्यते ... १ | आग्नीशब्देन ऋचः देवताश्चाभि- धीयन्ते ... १ |
| पात्रस्य इन्द्रपानमिति समाख्या गौणी ... ७३५ | 'समिद्धो अद्य०' अत्र इक्ष्म- अग्निवत् वर्ण्यते ७४१-७४२ |
| अग्नौ अपि सोमपानमुपपद्यते... ऋतुयाजेषु अग्निरपि सोमभाक् ७३५-७३६ | इक्ष्मो यज्ञेक्ष्म इति कात्थक्यः ... ७४२ अग्निरिति शाकपूणिः ... ७४३ |
| यद्यपि सोम इन्द्रार्थं संस्कियते तथाऽपि सोऽन्याभ्यो देवताभ्यो गृह्णते हूयते च ... ७३६ | यस्मात् आप्रियः अमन्यर्था. १ शाकपूणिमतं याम्कसमतम् .. १ शाकपूणिपक्षे मन्त्रार्थः ७४४ |
| ऐन्द्राग्ने ग्रहे अग्निरपि इन्द्रेण सह सोमं संभुङ्क्ते १ | तनूनपात् आज्यमिति कात्थक्यः अग्निरिति शाकपूणिः ... १ |
| 'मेघन्तु ते वहयः' अत्र वनस्पतिः द्रविणोदाः । स ऋतुभिः सह सोमं पातुमाहूयते ... ७३७ | 'तनूनपात्पथ०' अत्र तनूनपात् संबोध्यते ७४५ |
| धिष्ण्यशब्दन्य व्युत्पत्तिः ७३८ | शाकपूणिमते मन्त्रार्थः ७४६ |
| वनस्पतिः अग्निः । तस्मात् द्रविणो- दा अपि अग्निरेव ... १ | नराशंसो यज्ञ इति कात्थक्यः ... १ |
| अग्निः वनस्पतिः कथम् ... १ | अग्निरिति शाकपूणिः ... १ यज्ञ इति मते मन्त्रयोजना ७४७ |
| | उभयानि हवींषि सोमं चैतराणि च । अथवा तान्त्राणि आवापि- कानि च १ |

| | पं० | | पत्रं |
|--------------------------------|-----|------------------------------|----------|
| अग्निरिति मते मन्त्रयोजना | ७४७ | द्यावापृथिव्यौ | .. ” |
| इल्लशब्दस्य व्युत्पत्ति | ७४८ | अहोरात्रे | ” |
| ‘ आजुहान ईडच ’ अत्र इड | | अरणी वा | .. ” |
| इत्यैकवचनमभ्यभिप्रायम् | ” | ‘उपावसुज त्मन्या’ अत्र वन | |
| ऐष्टिके होत्रे इड इति बहुवचनम- | | स्पति | ... ७६१ |
| न्नाभिप्रायम् | ७४९ | को वनस्पति | ७६२ |
| बर्हि शब्दस्य व्युत्पत्ति | ” | यूप इति कात्यक्य | ” |
| ‘ प्राचीन बर्हि ’ | ” | ‘ अञ्जन्ति त्वामध्वरे | .. ” |
| बर्हि इति यज्ञाङ्गमेव नाग्नि | ७५० | अग्निरिति शाकपूणि | .. ७६३ |
| अग्निरिति मते मन्त्रार्थ | ” | ‘ देवेभ्यो वनस्पते ० ’ अत्र | |
| द्वार इत्यस्य व्युत्पत्ति | ७५१ | वनस्पतिरग्नि | ७६३-७६४ |
| यज्ञगृहस्य द्वार इति कात्यक्य | ” | ‘ वनस्पते रशनया ’ इत्यत्रापि | |
| अग्निरिति शाकपूणि | ७५२ | तथैव | ७६४-७६५ |
| उप शब्दस्य व्युत्पत्ति | ” | यूपाञ्जनीथायामृचि अपि तथैव | ७६५ |
| नक्तशब्दस्य च | ” | ‘ देवेभ्यो वनस्पते ’ ‘ वन | |
| ‘ जा सुप्वयन्ती यजने ’ | ७५३ | स्पते रशनया ’ इत्यनयो | |
| उपासान्ता अग्निरिति केचित् | ७५४ | ऋचो यूपार्थे योजना | .. ७६६ |
| कौ देव्यो होतारौ | ” | स्वाहाकृतय वा | .. ” |
| ‘ देव्या होतारा ० | ७५५ | ता निमर्थ समान्ता | ७६६-७६७ |
| ‘ आ नो यज्ञ ’ अत्र तिस्रो | | स्वाहाकृतय कम्मात् | .. ७६७ |
| देव्य | ७५६ | ‘ सद्यो जात ’ | .. ७६८ |
| त्वष्टृशब्दव्युत्पत्ति | ७५७ | आग्निदेवता एनाडश | .. ” |
| ‘ य इमे द्यावा ० ’ | ” | किंदेवता प्रयाजा | .. ७६९ |
| कम्त्वष्टा | ७५८ | आग्नेया इत्येव | .. ” |
| माध्यमिन् इति नैरुक्ता | ” | प्रयाजानुयाजा आग्नेया इत्य | |
| द्वादशानामादित्यानामन्यत्रम | ” | थे ऋचा | ७७० |
| इत्यैतिहासिका | ” | नानादेवता इत्यपरं | .. ७७१ |
| अग्निरिति शाकपूणि | ” | आग्नेया इति तु स्थिति | .. ” |
| ‘ आविष्ट्यो वर्धने ’ | ७५९ | अय देवताविचार. विमर्थ | ... ” |
| अग्न्यागृचि उभे वे | ७६० | | |

| | पत्रं । | | पत्रं |
|------------------------------------|---------|--------------------------------|---------|
| अत्र ब्राह्मणवचनम् | ७७१-७७२ | नाराशस | .. " |
| आप्रीसूक्तानि एकादश | .. ७७२ | 'अमन्दास्तोमान् ०' अत्र राज्ञो | .. " |
| तेषु कानिचिन्नाराशसवन्ति . | .. " | भान्यस्य स्तुति | .. ७८५ |
| कानिचिदुभयवन्ति | ... " | राजा यज्ञसवन्धात्स्तुतिं लभते | ७८६ |
| शेषाणि तनूनपात्वन्ति | .. " | युद्धोपकरणानि राजसवन्धात्स्तू- | .. " |
| अन्येषामाप्रीसूक्तानामनिर्देशे | | यन्ते | ... " |
| काग्णानि | ७७३-७७४ | रथ कस्मात् | .. ७८७ |
| प्रयाजानामाग्नेयत्वे 'तिस्रो देवी' | | 'वनस्पते वीड्वङ्ग ०' अत्र रथ | .. " |
| इत्ययं प्रयाज. कथमाग्नेय . | ७७६ | दुन्दुभि. कस्मात् | .. ७८८ |
| पृथिव्यायतनेषु सत्त्वेषु अत्र | | 'उपश्वासय ०' अत्र दुन्दुभि | .. " |
| प्रथम. | .. " | इषुषि कस्मात् | ... ७८९ |
| 'अथो वोह्य' . | ... ७७७ | 'बह्वीना पिता ०' अत्र इषुषि | .. " |
| 'मा नो मित्रो ०' | .. " | हस्तघ्न कस्मात् | .. ७९० |
| शकुनि. कस्मात् | ... ७७८ | 'अहिरिव भोगै ०' अत्र | .. " |
| 'कनिरुदञ्जनुपम्' | ... ७७९ | हस्तघ्न | " |
| शकुनिनामानि प्राय ध्वनि. | | 'रथे तिष्ठन्नयति ०' अत्र अभी | .. " |
| मूल्यानि | .. " | शव | ... ७९१ |
| मङ्गलं कस्मात् | ... " | धनु कस्मात् | ... " |
| गृत्समद कपिञ्जलरनात् | | 'धन्ना गा ०' अत्र धनु . | ७९२ |
| भविष्यं पश्यति | .. " | संमद कस्मात् | ... " |
| 'भद्र वद दक्षिणत' | .. ७८० | उया कस्मात् | ... " |
| मण्डूका. कस्मात् | .. " | 'वश्यन्तीवेडा' अत्र उया | ... ७९३ |
| 'सवत्सर शशायाना' | .. ७८१ | इषु कस्मात् | " |
| धमिष्ठो वर्षामो मण्डूकास्तुष्टाव | .. " | 'सुपर्ण वस्ते ०' अत्र इषु | ... ७९४ |
| 'उप हुवद मण्डूकि ०' | ... " | कशा कस्मात् | .. " |
| अशा कस्मात् | ... ७८२ | 'आ नहन्ति ०' अत्र अशा- | .. " |
| 'प्रावेपा मा गृहतो ०' | ७८२-७८३ | जनि | ... ७९५ |
| सोम कथं मौजवन | ... ७८३ | उल्लवन् कस्मात् | .. ७९६ |
| धावाण कस्मात् | | 'यजिद्वि त्व ०' अत्र उल्लव- | .. " |
| 'प्रने वदन्तु ०' | ... ७८४ | न्म | ७९६-७९७ |

| | पत्रं | | पत्रं |
|------------------------------------|---------|--------------------------------|---------|
| वृषभ कस्मात् | ७९७ | अष्टौ द्वद्वानि | ८१२ |
| 'न्यत्रन्दयत्तुपयन्त०' अत्र | | अन्यानि द्वद्वानि किं न समा | |
| वृषभ | ७९८ | ज्ञातानि | |
| दुषण कस्मात् | ७९९ | मुसल कस्मात् | |
| दुषणस्य इति हास | .. | 'आप्यजी वाजसातमा०' अत्र | |
| 'इम त पश्य०' अत्र दुषण ७९९-८०० | | उल्लूखलमुमले स्तूयेते | ८१३ |
| पृथनाज्य मुद्रल भार्ग्यं च शब्दाना | | हविर्धाने कस्मात् | |
| व्युत्पत्ति | ८०० | 'आ वामुपम्य०' | ८१४ |
| पितु कस्मात् | .. | 'द्यावा न पृथिवी०' | |
| 'पितु नु स्तोष०' | ८०१ | 'प्र पर्वतानामुशती०' अत्र | |
| 'इम मे गङ्गे यमुने' | ८०२ | विपाट्टुत्तुश्रौ | |
| गङ्गादेशब्दाना व्युत्पत्ति | ८०२-८०३ | आर्त्ना कस्मात् | |
| आप कस्मात् | ८०३ | 'ते आचरन्ती०' | ८१६ |
| 'आपो हि छा | ८०४ | शुनासीरी कस्मात् | |
| ओपधय कस्मात् | .. | 'शुनासीराविमा वाच०' | ८१७ |
| 'या ओपधी पूर्वा जाता०' | ८०५ | के देवी जोष्टी | |
| धामशब्दस्य र्था | .. | 'देवी जोष्टी वसुधिति०' | ८१८ |
| 'आ रात्रि पारिभ०' | ८०६ | देवी ऊर्जाहुती०' | ८१९ |
| अरण्य व मात् | ८०७ | मन्थस्थानामु देवतामु वायु | |
| 'अरण्यान्यरण्यान्यभौ' | .. | त्रिमर्ष प्रथम | ८२१ |
| नदा कस्मात् | ८०८ | वायु कस्मात् | ८२२ |
| 'भद्रयाडगे मभि यने' | .. | 'वायवा याहि दर्शन०' | |
| 'स्येना पृथिवि' | ८०९ | इन्द्र एव वायु | ८२३ |
| शरभ कस्मात् | .. | 'आत्त्राणाम शवमानमच्छा०' | |
| 'अर्मापा पित्त० अत्र अर्मा | | अत्र वायुर्नरण्टु इन्द्र प्रधा | |
| मर्षा यने | ८१० | नमिद्येरे । उभौ प्रधाने | |
| अग्नी कस्मात् | | इत्यपर मनम् | |
| 'इहेन्द्रागमुपहये | ८११ | वग्ग कस्मात् | |
| इममृत् न केवमप्राधी स्ने ति | | 'नीचानिवार वग्ग०' | ८२४-८२५ |
| किंत्तु इन्द्रागो वग्गर्जमि | .. | अन्वोऽन्वोऽर्थे | ८२५ |

| | पत्रं | | पत्रं |
|---------------------------------|-------|---------|--------------------------------------|
| कमन्धः कस्मात् | | ८२५ | स्वरूपेऽपि मेदे अजामि भवतीति |
| ‘ तम् पु समना० ’ इयं वरु- | | | यास्कः |
| णस्य मध्यमत्वे अपरा ऋक्... | | ८२६ | पुनरुक्तौ काश्चिद्विशेषो वर्तते एव । |
| रुद्रः कस्मात् | ... | ” | यथा ‘ मण्डूका उदकादिव’ |
| ‘ इमा रुद्राय० ’ | | ८२७ | इत्यत्र |
| रुद्रो मध्यमो बलकृतेः | | ” | को वास्तोष्पतिः |
| ‘ या ते द्विद्युद्वसृष्टा ’ | | ८२८ | वान्तुः कस्मात् |
| द्विद्युत् तोकं तनयः कस्मात् | | ” | ‘ अमविहा वास्तोष्पते०’ |
| ‘ जराभोध तद्विविद्धि० ’ अत्र | | | ऋवः कस्मात् |
| रुद्रः अग्निः | | ८२९ | ऐश्वर्यादेवता इष्टं रूपं स्वी करोति |
| इन्द्रः कस्मात् | | ८३०-८३१ | यथा ‘ रूपं रूपं मघवा० ’ |
| ‘ अदर्दरुत्समसृजो० ’ | | ८३२ | इत्यत्र |
| ‘ यो जात एव प्रथमो० ’ | | ८३२-८३३ | वाचस्पतिः कस्मात् |
| ऋचो निदानम् | | ८३३ | ‘ पुनरोहि वाचस्पते० ’ |
| पर्जन्यः कस्मात् | | ८३४ | अपांनपात् कस्मात् |
| ‘ वि वृक्षान्हन्ति० ’ | | ८३५ | ‘ यो आनिभो दीदयत्० ’ |
| बृहस्पतिः कस्मात् | ... | ” | यमः कस्मात् |
| ‘ अश्रापिनद्धं मधु० ’ | | ८३५-८३६ | ‘ परोयिवांमं प्रवतो० ’ |
| ब्रह्मणस्पतिः कस्मात् | | ८३६ | प्रवतः अवते. कथं स्यात् |
| ‘ अश्मास्यमवतं० ’ | | ८३६-८३७ | ‘ सेनेव सृष्टा० ’ अत्र अग्निः |
| क्षेत्रं पतिश्च कस्मात् | | ८३७ | यमः |
| ‘ क्षेत्रस्य षतिना वयं० ’ | ... | ८३८ | ‘ बळित्था० यमाविहेह मातरा ’ |
| ‘ क्षेत्रस्य पते मधुमन्त० ’ | | ८३९ | इत्यत्रापि तथैव |
| जाम्यजामिताविचारः | | ८३९-८४१ | ‘ सोमः प्रथमो विविदे० ’ अत्र |
| द्विविधं जामि । समानशब्दार्थम- | | | कन्यानामाग्निः तुरीयः पतिः |
| समानशब्दं समानार्थं च | | ८४० | ‘ सोमं ददद्भन्धर्वाय० ’ अत्रापि |
| एकस्यामपि ऋचि वर्तमाना पुन- | | | तथैव |
| रुक्तिः जामिदोषार्हेत्येकं मतम् | | ” | मित्रः कस्मात् |
| समानपादे एव वर्तमाना दोषार्हे- | | | ‘ मित्रो जनान्यातयति० ’ |
| त्यपरम् | ... | ” | कृष्टयः कस्मात् |

| | पत्रं | | पत्रं |
|-----------------------------------|---------|-----------------------------|---------|
| क कथ मध्यम | ८९१ | असुरत्वमित्यम्यार्था | ८६८ |
| क कस्मात् | ,, | वात कस्मात् | ,, |
| 'हिरण्यगर्भं समदर्ताग्रे०' | ८९२ | 'वात आ वातु०' | ८६९ |
| हिरण्यगर्भं वरमात् | ८९२-८९३ | 'प्रति त्य चारमध्वर०' अत्र | |
| गर्भस्य मीमांसा | ८९३ | अग्नि मध्यम | ९६९-९७० |
| 'ये ते सरस्व ऊर्मय०' अत्र | | 'अभि त्वा पूर्वपीतये' तथैव | ९७० |
| सरस्वान् रूढते | ८९३-८९४ | वेन कस्मात् | ८७१ |
| विश्वकर्मा कस्मात् | ८९४ | 'अय वेनश्चोदयत्०' | ८७१-८७२ |
| स कथ मध्यम | ,, | जरायु शिशु कस्मात् | ८७२ |
| 'विश्वकर्मा विमना०' | ८९५-८९६ | अमुनीति कस्मात् | ,, |
| ऋष आत्मपर अर्थ | ८९७-८९८ | 'असुनाते मनो अम्मासु०' | ८७३ |
| विश्वकर्माण आत्मयोगे इतिहास | ८९८ | 'देवी पलुर्वारि०' अत्र रय | |
| विदुष सर्वमेध कथ सपद्यते | ,, | निर्वशगमने | ८७३-८७४ |
| निरु-सज्ञ सर्वमेधो भिन्न | ८९९ | ऋतस्य हि सुरध०' अत्र | |
| 'य इमा विश्वा भुवनानि०' अत्र | | ऋत स्तूयते | ८७४-८७५ |
| विदुष सर्वमेधसपत् दृश्यते | ८९९ ८६० | इन्दु कस्मात् | ८७५ |
| 'विश्वकर्मा हविषा०' | ८६०-८६१ | प्र तद्गोत्रिय २ यायेन्वे०' | ८७६ |
| ताक्षर्य कस्मात् | ८६१ | अम्यामे भूयानर्थ | ८७६-८७७ |
| 'त्यमू पु वानिन०' | ८६१-८६२ | अम्याम परच्छेपस्य शीत्यम् | ८७७ |
| 'सद्यश्चिद्य शवसा०' | ८६२-८६३ | परच्छेप कस्मात् | ,, |
| मयु कस्मात् | ८६३ | एष देवतानामधेयेषु वानिचित् | |
| 'त्वया मयो सरथ०' | ८६४ | मूक्तभाजि हविर्भाजि च । | |
| ' । दधिना चवमा०' अत्र | | वानिचित् मूक्तभाजि एव | ,, |
| दधि- स्तूयते | ८६४-८६५ | प्रजापति कस्मात् | ,, |
| 'मविता यत्र०' | ८६५-८६६ | प्रजापत न त्वये णि०' | ८७८ |
| अत्र सविता मयम एव | ८६६ | 'अजनामुक्तैर्गहि०' अत्र अहि | |
| 'हिरण्यमनूप मपितर्यथा०' | | स्तूयते | ८७९ |
| अत्रापि तथैव | ८६७ | बुध कस्मात् । अहिकुन्त्यश्च | ,, |
| 'देवस्त्वष्टा मविता' अत्र त्वष्टा | | 'मानोऽहिकुन्त्यो०' | ,, |
| स्तूयते | ८६७ ८६८ | 'एव सुरर्षा म समुद्र०' अत्र | |

| | पत्रं | | पत्रं |
|------------------------------------|---------|----------------------------|---------|
| सुपर्ण स्तूयते ... | ८८० | 'उदु ज्योतिरमृत०' तथैव | ८९४-८९५ |
| पुरूरवा कस्मात् | " | धाता कस्मात् | ८९५ |
| 'समस्मिन् जायमान०' | ८८१ | 'धाता ददातु दाशुषे०' | " |
| गा अत्र आप देवपत्न्यो वा | ८८१-८८२ | 'सोमस्य राज्ञो वरणस्य०' | |
| 'आदाय श्येनो०' अत्र श्येन | | अत्र विधाता मृत्यते | ८९६ |
| स्तूयते | ८८३-८८४ | कलश कला काले कस्मात् | " |
| अत्र अयुतशब्देन दक्षिणा वा | | मरुत कस्मात् | ८९७-८९८ |
| प्रासर्पणा वा बहुत्व वा द्योत्यते | ८८४ | 'आ विद्युन्मद्भिर्मरुत०' | ८९८ |
| सोम कस्मात् | ८८५ | 'आ रुद्रास इन्द्रवन्त०' | |
| स कथ मयम | " | अत्र रुद्रा स्तूयन्ते | ८९०-९०० |
| सूक्तेषु स गौणवृत्त्या स्तूयते । | | ऋभन कस्मात् | ९०० |
| कश्चित्प्राधान्येन | " | 'विद्री शमी तरणित्वेन०' | ९०१ |
| 'स्वादिष्टया मदिष्टया' | | ऋम्बादीनामितिहास । ऋभु | |
| 'सोम मन्यते०' इय सोमस्य | | वैशिष्ट्य च । ऋभुमि कृत | |
| चन्द्रमसो वा स्तुति । अधि | | चमसस्य चतुर्विंशत्यम् | " |
| यज्ञे सोम । अधिदेवते | | 'उद्वत्स्वमा अकृणोतना' | |
| चन्द्रमा | ८८६ ८८७ | अत्र आदित्यरश्मय ऋभव | ९०२ |
| 'यत्त्वा देव प्र पिबन्ति०' अत्रा | | 'विरूपास इष्टपयन्त०' | |
| पि तर्पव | ८८७ | अत्र अङ्गिरस स्तूयन्ते | ९०३ |
| वायु कथ सोमस्य रक्षिता | ८८८ | 'उदोरतामवर उत्परास०' | |
| 'स्वादिष्टया मदिष्टया०' अत्रापि | ८८९ | अत्र पितर म्नुयन्ते | ९०३-९०४ |
| चन्द्रमा कस्मात् । चन्द्र चन्दन | | पितृणा माव्यमिदत्त्व निजा- | |
| वारु च | | रणम् | ९०४ |
| 'नवो नवो भवति०' | ८९०-८९१ | 'अङ्गिरसो न पितर०' | |
| आन्त्येष्टेवतो द्वितीय वाट इत्येते | ८९१ | अत्र अपर्वाण म्नुयन्ते .. | ९०५ |
| चन्द्रमा कथ मयम्पान | ८९१-८९२ | अपर्वान्यो मय्यमिदो देव | |
| मृत्यु कस्मात् | ८९२ | गण इति नैरत्ता । पितर | |
| 'पर मृत्यो अनु परोहि०' | " | इत्याश्रयानम् | " |
| 'प्रपो महे मन्द्मानाय०' | | अथवा एते ऋषय म्यु दमा | |
| अत्र विधानर म्नुयते | ८९३-८९४ | दृषयोऽपि म्नुयते | ९०६ |

| | पत्रं | | पत्रं |
|--------------------------------|----------|----------------------------------|----------|
| ' सूर्यस्येव वक्षथो० ' अत्र | | नैरुक्ताः | ... |
| वसिष्ठाः स्तूयन्ते ... | ९०६ | ' यद्वावदन्त्यविचेतनानि० ' | |
| अस्या ऋचोऽर्थोऽन्य इत्यपरं | | अत्र वाक् स्तूयते ... | ९१६ |
| मतम् ... | ९०७ | ' देवीं वाचमजनयन्त० ' | ... |
| आप्त्यानामितिहासः । आप्त्यः | | तथैव | ९१७ |
| कस्मात् ... | ९०७ | अनुमतिः राका देवपत्न्यौ इति | |
| ' स्तुपेय्यं पुरुवर्षसम्० ' | ९०७-९०८ | नैरुक्ताः । पौर्णमास्यौ इति | |
| अदितिः कस्मात् ... | ९०८ | याज्ञिकाः | ... " |
| ' दक्षस्य वाऽदिते जन्मनि० ' | ९०९-९१० | अनुमतिः कस्मात् | ९१७-९१८ |
| ऋचोऽन्योऽर्थः | ९१० | ' अन्विदमनुमते० ' | ९१८ |
| ' यो अग्निं देववीतये० ' अत्र | | राका कस्मात् | ... " |
| विवासतिः परिचर्यायाम् | " | ' राकामहं हुह्वाम्० ' | ... ९१९ |
| दक्ष आदित्यो यस्मादादित्यमध्ये | | सिनीवाली कुहूः देवपत्न्यौ इति | |
| स्तुतः | ... " | नैरुक्ताः । अमावास्ये इति | |
| ' अदितेर्दक्षो अजायत० ' अत्र | | याज्ञिकाः | " |
| अदितिः दक्षायणी | ... ९११ | सिनीवाली कस्मात् । तथा | |
| अस्यामृचि दक्ष आदित्य इत्य- | | सिन् वाळं च | ९१९-९२० |
| प्युच्यते | " | ' सिनीवालि पृथुपुत्रे० ' | ... ९२० |
| ' यस्मै त्वं मुद्रविणो० ' अत्र | | कुहूः कस्मात् | ... ९२१ |
| अग्निः अदितिः | ... ९१२ | ' कुहमहं मुकृतं० ' | ... " |
| सरमा कस्मात् | ... " | ' अन्यम् पु त्वं यम्यन्य० ' अत्र | |
| ' त्रिभिच्छन्नी सरमा० ' | ... ९१३ | यमी संनोच्यते | ... ९२२ |
| सरमाया इतिहासः | " | माध्यमिकपक्षे यमी उपा. तदा | |
| सरमा वाक् इत्यास्मिन् पक्षे | | ऋचोऽर्थः | ९२२-९२३ |
| ऋचोऽर्थः | ९१३-९१४ | ' विद्युन्न या पतन्ती० ' अत्र | |
| ' पावका नः सरम्बती० ' अत्र | | उर्वशी म्त्तुयते | ९२३-९२४ |
| सरम्बती देवता | ९१४ | ऐतिहासिकपक्षे अर्थः | ९२४ |
| ' महो अर्णोः मरम्बती० ' | | ' बलित्या पर्वतानां० ' अत्र | |
| तथैव | ... ९१५ | पृथिवी म्त्तुयते | ... ९२५ |
| सरम्बती माध्यमिका वाक् इति | | याम्बनिरूपणं मैत्रायणीसंहिता- | |

| | पत्रं | | पत्रं |
|------------------------------------|----------|------------------------------------|----------|
| दत्तविनियोगेन विरुद्धम् | ९२५ | रोदसी कस्मात् | ... |
| इन्द्राणी कस्मात् | ... | ‘ रथं न मारुतं वयं० ’ | ... ९३७ |
| ‘ इन्द्राणीमासु नारिपु० ’ | ... ९२६ | बुस्थान्देवतासु अश्विनौ किमर्थं | |
| ‘ नाहमिन्द्राणि रारण० ’ | | प्रथमं समाम्नायेते | ९३९ |
| अत्रापि इन्द्राणी | ९२७ | द्वयोरेकत्र कथने किं कारणम् | ” |
| गौरीः कस्मात् | | अश्विनौ कस्मात् | ... ९४० |
| ‘ गौरीर्मिमाय सलिलानि० ’ | ... ९२८ | कौ अश्विनौ | ... ” |
| ‘ तस्याः समुद्रा अधि० ’ | ... | तयोः कालः | ” |
| अत्रापि गौरीः | ९२८-९२९ | ‘ वसातिषु स्म चरथः० ’ | ... |
| ‘ गौरमीमेदनु वत्सं० ’ अत्र.... | | समानकालयोः समानकर्मणोः.... | |
| गौः स्तुयते | ९२९ | संस्तुतप्राययोः तयोः क्वचित् | |
| घर्मध्रुवक्षे अर्थः | ९३० | असंस्तवः यथा ‘वासात्यो अन्य०’ | |
| वेनुः कस्मात् | ... ” | इत्यत्र | ९४१-९४२ |
| ‘ उपह्वये सुदुवां धेनुमेतां० ’ | ” | ‘ वसातिषु स्म चरथः० ’ इय- | |
| घर्मध्रुवक्षे अर्थः | ... ९३१ | मृक् नाश्विपरा । नापि अर्घर्चः.... | ९४१ |
| अध्या कस्मात् | ... ” | द्वावपि मन्त्रौ अश्विपरौ एव | ... |
| ‘ स्यवसाद्भगवती हि भूया० ’ | | | ९४१-९४२ |
| | ९३१-९३२ | ‘ इहेह जाता समवा० ’ अत्रापि | |
| घर्मध्रुवक्षे अर्थः | ... ९३२ | अश्विनौ | ... ९४२ |
| ‘ हिंक्रुण्वती वसुपत्नी० ’ अत्रापि | | ‘ प्रातर्युजा विबोधय० ’ तथैव | ९४३ |
| अध्या | ” | ‘ प्रातर्युजध्वमाश्विना० ’ तथैव | ९४४ |
| पथना कस्मात् | ... ९३३ | आश्विने काले अन्यासां देवता- | |
| ‘ स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा० ’ | | नामावापः | ” |
| अत्र स्वस्तिः | ” | उपाः कस्मात् | ” |
| ‘ अपोषा अनसा सरत्० ’ अत्र | | ‘ उपस्तच्चित्रमा मर० ’ | ... ९४५ |
| उपाः | ... ९३४ | ‘ एता उ त्या उपसः० ’ अत्रापि | |
| ‘ एतदस्या अनः शये० ’ तैव | | उपाः | ९४६ |
| | ... ९३५ | निः = सम् । यथा ‘ यदा | |
| ‘अधि न इळा यूथस्य माता० ’ | | दीध्ये नदविपाणि० ’ इत्यत्र ९४६-९४७ | |
| अत्र इळा | ९३६ | का सूर्या | ९४७ |

| | पत्रं | | पत्रं |
|----------------------------------|---------|------------------------------------|---------|
| 'सुविंशुत्र शल्मलि' | ९४७-९४८ | पूषा | -- ९९९ |
| सविता सूर्या प्रायच्छन् इति | | विष्णु कस्मात् | ९६० |
| ब्राह्मणम् | ९४८ | 'इदं विष्णुर्विचक्रमे०' | ९६०-९६१ |
| तस्य नैरुक्तपक्षे अर्थ | " | 'विश्वानरम्य वस्पर्ति०' | अत्र |
| वृषाकपायी का | ९४९ | विश्वानर | .. ९६२ |
| 'वृषाकपायि रेवति०' | " | 'येना पावक चक्षसा०' | अत्र |
| सरण्यू कस्मात् | ९९० | वरुण । ऋच चतुर्विधा वाक्य | |
| 'अपागूहन्नमृतां०' | ९९१ | समाप्ति | ९६३-९६५ |
| अत्र मिथुनौ मध्यम माध्यमिका | | केशि कस्मात् | ९६५ |
| च वाक् | " | 'केश्यग्नि केशी विप०' | ९६६ |
| यमो यमी च इत्यैतिहासिका | " | इतरे ज्योतिषी अपि केशिनी उच्येते | " |
| 'स्वष्टा दुहित्रे वहतु०' अत्रापि | | 'त्रय केशिन' अत्र अग्निवा | |
| सरण्यू | ९९२ | युसूर्या केशिन | ९६७ |
| नैरुक्तपक्षे अर्थ | ९९२ | वृषाकपि कस्मात् | ९६७ |
| 'विश्वारूपाणि प्रति०' अत्र | | 'पुनरोहि वृषाकपे०' | ९६८ |
| सविता | ९९४ | 'यन्मिन् वृक्षे सुपलाशे०' अत्र | |
| अधोराम किमर्थं सावित्र | " | यम | ९६९ |
| अधोराम कस्मात् | " | क एकपात् कस्माच्च | , |
| राम = कृष्ण इति कथम् | ९९५ | 'एक पाद नोत्खिद्रति०' अत्र | |
| कृकवाकु किमर्थं सावित्र | , | जिव ब्रह्मण एव पाद | ९७० |
| कृकवाकु कस्मात् | " | 'पावीरवी तन्यनु०' अत्र एकपाद् | ९७१ |
| प्रातर्जित भगमुग्र०' अत्र भग | ९९६ | पावीरवी कस्मात् | ९७१ |
| भग किमर्थमन्व | " | पवारिवान् इन्द्र | " |
| सूर्य कस्मात् | " | 'यन्निन्द्राग्नी परमम्या पृथि या०' | |
| 'उदु त्य जातवेदस०' | ९९ | अत्र पृथिवी | ९७२ |
| 'पित्र देवानामुद्गादनिक०' | | 'पवित्रवन्त परिवारा०' अत्र समुद्र | ९७३ |
| अत्र सूर्य एव | ९९७-९९८ | 'उननोऽहिर्बुज्य०' अत्र अज | |
| पूषा कस्मात् | ९९८ | एकपात् पृथिवी समुद्र नैरुक्त | ९७४ |
| 'शुक्र ते अन्यद्यत्न० | ९९८ ९९९ | क यद् कस्मात् | .. " |
| 'पथम्पथ परिपति०' अत्रापि | | | |

| | पत्र | | पत्र |
|----------------------------------|---------|---|---------|
| मनुर्मननात् | ९७५ | त्रे साध्या । कम्माच्च | ,, |
| 'याम्थर्वा मनुष्पिता०' अत्र | | यज्ञेन यज्ञमयजन्त०' | ९८६-९८७ |
| अथर्वा ढयड् मनु मृत्य | | के वसव । कम्माच्च | ९८७ |
| स्ते | ९७५-९७६ | 'सुमा वो देवा ०' | ९८७-९८८ |
| द्युम्यानदेवगणेषु आदित्या प्रथमा | ९७६ | 'मया अत्र वसवो०' अत्र | |
| 'इमा गिर आदित्येभ्यो०' | ९७७ | वसव त्रिस्थाना | ९८८-९८९ |
| 'सप्त ऋषय प्रतिहिता ०' अत्र | | 'शानो भवन्तु वाजिनो०' अत्र | |
| सप्त ऋषय | ९७८-९७९ | वाजिन | ९८९-९९० |
| 'तिर्यग्भिलश्चमस० ते एव | ९८० | 'देवपत्न्य कम्मात् | ९९० |
| 'देवाना भद्रा सुमति०' अत्र | | देवाना पत्नीरुशती०' | ९९०-९९१ |
| देवा | ९८१-९८२ | उत ज्ञा व्यन्तु देवपत्नी०' | |
| विश्वे देवा के | ९८२ | अत्रापि देवपत्न्य | ९९१-९९२ |
| 'ओमासश्चर्षणीधृतो०' | ९८३ | अतिमृत्य | ९९३ |
| वैश्वदेव गायत्र तृचमेऽमेव | ,, | अत्रवा नैता अतिमृत्य । किंतु | |
| एतादृशा तृचाना प्रयोजने बहुष्वेव | | देवताना माहाभाग्यमेव . ,, | |
| तानि तृचानि प्रयुज्यन्ते | ,, | 'त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षाणि ०' | |
| 'विश्वशब्दोपेतमेव मन्त्रजात | | अत्र अग्ने अतिमृत्य | ९९४ |
| युज्यते इति शारूपूणि | ,, | 'अपो मु म्यक्ष वरुण०' अत्र | |
| शाकपूणैरेतन्मतमैकान्तिरम् | ,, | वरुणस्य | ,, |
| बहुष्वेवत गायत्र मन्त्रजात विनि | | 'यद्द्याव इन्द्र ते०' अत्र | |
| योक्तव्यमिति याम्क् | ९८४ | इन्द्रम्भ | ९९५ |
| अश्विशब्दयुक्तया एकयाऽपि ऋचा | | 'यदुदञ्चो वृषाक्पे०' अत्र | |
| सर्वं सूक्तमाश्विनमिति भूताश | ,, | आदित्यस्य | ९९५-९९६ |
| पर्करीसूक्ते 'ऋयाम' इत्येष | | 'वि हि सोतोरोरुस्तत०' अत्र | |
| ऋक् अश्विलिङ्गा | ,, | आदित्यरश्मीनाम् | ९२६ |
| 'ऋयाम स्तोम०' | ९८४-९८५ | 'स्रण्येव जर्भरी०' अत्र | |
| अभितथीये सूक्ते एकम्यामेव | | अश्विनो | ९९७ |
| ऋचि इन्द्रलिङ्गम् । तथाऽपि सर्व | | 'तरत्स मन्दी०' अत्र सोमस्य | ,, |
| सूक्तमैन्द्रम् | ,, | 'चत्वारि शृङ्गा०' अत्र यज्ञस्य | ,, |
| | ९८५ | 'स्वर्धन्तो नापेक्षन्ते०' तस्यैव९९७-९९८ | |

| | पत्रं । | | पत्रं |
|------------------------------------|-----------|--------------------------------|-----------|
| ' चत्वारि वाक्परिमिता०' | ९९८-९९९ | रत्नेव | " |
| चत्वारि पदानि कानि | ९९९ | महान्तमात्मान प्रवदन्त्य ऋच | १००७ |
| नामादीनि इति वैयाकरणे । | | 'सूर्य आत्मा०' | ." |
| मन्त्रादीनि इति याज्ञिका । | | ' अग्निरस्मि जन्मना०' | .. " |
| ' ऋगादीनि इति नैरुक्ता । सर्पा | | 'अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य | ." |
| दीना वाच इति एके । पश्चादीनाम् | | ' अपश्य गोपा० ' | ." |
| इत्यात्मप्रवादा । ब्राह्मणमतम् . | .. | आत्मस्वरूपम् | ." |
| ' ऋचो अक्षरे परमे०' अत्र | | महानात्मा प्रतिभादिङ्ग | १००७-१००८ |
| अक्षरस्य | १००० | महाभूताना गुणा | १००८ |
| अक्षरम् ॐ इति शाकपूणि | | सृष्टि | ." |
| | १०००-१००१ | प्रत्यय | ." |
| आदित्य इति शाकपूणे पुत्र | १००१ | ब्रह्मण अह रात्रिश्च . | ." |
| आत्मा इत्यात्मप्रवादा | १००१-१००२ | आत्मन शरीरेण तादात्म्यम् | ." |
| अक्षर कम्मात् | १००२ | शरीरघट्टा | ." |
| अक्ष कम्मान् | .. | धर्मानुरोधेन देवभाव । ज्ञानानु | |
| निरक्तशास्त्र ध्रुतिमाह स्य तर्क | | रोधेन अमृतत्वम् । कामानुरो | |
| साहाय्य चापेक्षेते | १००३ | धने नग्देह . | ." |
| मन्त्रनिरूपणे प्रकरणमवश्यम् | .. | गभोत्पत्ति | ." |
| मन्त्रा आधुनिकाना न प्रत्यक्षा । | | पुमान्स्त्रीनपुमसा । एतेषा | |
| तम्मात् ध्रुतिनिर्वचनाय ध्रुतिज्ञा | | भेदाना वाग्णानि | १००८-१००९ |
| नरूप बहुविद्यत्वमावश्यम् | | रेन राग्णेन यमो भवति | १००९ |
| तर्कश्चाऽऽवश्यम् | १००४ | गर्भवद्धि | ." |
| 'हृदा तटेषु मनमा०' अत्र तर्क | | पुनर्जन्म | ." |
| प्रशस्यते | १००४-१००५ | जन्ममाम | ." |
| अथ तर्क ध्रुति-मति बुद्धि महा | | धाम्जन्मविम्बनि | ." |
| स्यपेक्षेते | १००५ | शरीरस्य अन्तर्वाग्णाना | |
| तर्क परा कोटि नेत्य | | प्रमाणानि | ." |
| किंतु आगुरिच्छ्या परा कोटि | | धाम्जन्ममद्धार | ." |
| नेन न शक्यते | १००६ | मरणभयानन्दस तन्म | |
| अनेरुक्ता शेषा छन्दमि वने | | शरीरम् | १०१० |

| | पत्रं | | पत्रं |
|------------------------------------|-----------|------------------------------------|-----------|
| कर्मणोऽनुरूपस्य फलस्य भोगः | १०१० | ‘न वि जानामि०’ | १०१६-१०१७ |
| हिंसां वेदोक्तानि कर्माणि वा | | ‘अपाङ् प्राड्येति०’ | ” |
| कुर्वन्तामूर्ध्वमार्गः इह लोके | | ‘तादिदास भुवनेषु०’ | ” |
| पुनरागमनं च | ” | ‘को अद्य युङ्क्ते०’ | ... १०१८ |
| हिंसामुत्सृज्य ज्ञानोक्तानि कर्मा- | | ‘क ईपते तुज्यते०’ | ” |
| णि कुर्वतामूर्ध्वमार्गः अपुनरा- | | ‘को अग्निमीष्टे०’ | १०१८-१०१९ |
| वृतिश्च | ” | ‘त्वमङ्ग प्रशंसिषो०’ | १०१९ |
| शिष्टा दन्दशूकाः | ” | ‘हंसः शुचिपद्मसु०’ | १०१९-१०२० |
| सृष्टिकर्तारं ज्ञातुं के समर्थाः | | ‘द्वा सुपर्णा सयुजा०’ | ... १०२० |
| | १०१०-१०११ | ‘आ याहीन्द्र०’ | ... ” |
| महत आत्मनो नामधेयानि | | ‘विप्रं विप्रासोऽवसे०’ | १०२१ |
| | १०११-१०१२ | ‘जातवेदसे सुनवाम’ | ... ” |
| अतः परं पठ्यमानासु ऋक्षु | | ‘इदं तेऽन्यामि०’ | १०२२ |
| महान् आ-मा स्तूयते | ... १०१२ | ‘त्र्यम्बकं यजामहे०’ | ... ” |
| ‘सोमः पवते०’ | ... ” | ‘शतं जवि शरदो०’ | ” |
| ‘ब्रह्मा देवानां०’ | १०१२-१०१३ | ‘मा ते राधांमि०’ | १०२२-१०२३ |
| ‘तिस्रो वाच०’ | ... ” | आत्मजिज्ञासायाः सर्वभूतानि- | |
| ‘सोमं गावो धेनवो०’ | १०१३-१०१४ | ज्ञासायाश्च फलं ब्रह्मणः सारिष्टिः | |
| ‘अक्रान्तसमुद्रः प्रथमे०’ | १०१४ | सरूपता सलोकता | ... १०२३ |
| ‘महत्तत्सोमो०’ | १०१४-१०१५ | टिप्पणी | ... १-२८१ |
| ‘विधुं दद्राणं०’ | ... १०१५ | अनुपलब्ध मूलानि । | २८२-८४ |
| ‘साकं जानां सप्तथ०’ | ” | मुद्रणानन्तरमुपलब्धमूलम् । | ८४ |
| ‘त्रियः सतीमतां उ०’ | ... १०१६ | शुद्धिपत्रकम् | १-४४ |
| ‘सप्तार्धगर्भा भुवनस्य०’ | ” | | |

अथोत्तरपट्टकम् ।

सप्तमाध्यायस्य

प्रथमः पादः ।

देवतं काण्डम् ।

ॐ ३ मू । अथातो देवतं तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्देवतमित्याचक्षते सैषा देवतोपरीक्षा यत्काम ऋषिर्षस्यादेवतायामार्यपत्यमिच्छेन्स्तुतिं प्रयुक्ते तद्देवतः समन्त्रो भवति तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः मत्सकृता आध्यात्मिक्यश्च तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्गुञ्जन्ते प्रथमदुरूपश्चाख्यातस्य ॥ १ ॥

ॐ नमः । समाप्तं चैकपदिकं प्रकरणम् । अस्यानु देवतं तद्भवति यस्यायमादिः 'अथातो देवतम्' इति । यावन्तो मन्त्राः सर्वशान्वमु १५
तेषु यानि गुणपदानि लक्ष्णोद्देशतस्तानि सर्वाण्येव व्याख्यातानि द्वयोः प्रकरणयोर्नैवण्टकैकपदिकयोः । संविज्ञानपदानि तु प्रधानस्तुतिभाग्देव-
तारिपयाण्यग्न्यादीनि सर्वमन्त्रेष्वपरवशिष्यन्ते । तानि च पुनरमुनि समाम्नातान्यास्मिन्मन्त्रेऽग्न्या-
दीनि देवपत्यन्तानि । यैतस्नह्यचिह्नयामयेदमा- २०
रम्यते 'अथातो देवतम्' इति । 'अथ'शब्दोऽधिकारार्थः । 'अतः' शब्दः क्रमे हेतौ वा । प्रकरगद्वयादनन्तरमिदमवश्यं समाम्नायानुक्रमपातं व्याख्यातव्यमिदं क्रमे । देवतमन्तरेण न शक्यं देवतार्थार्थः सम्पग-
वन्नोद्धुम् । देवतापरिज्ञानानुबद्धस्वविलः पुरुषार्थ इत्यतो देवतं प्रकरणं

१ ड. य. ध श्रीगणेशायनमः । हरिः ॐ ; छ. ठ. श्रीगणेशायनमः । ॐ ; २५
द. श्रीगणेशपरस्वनीगुण्यो नमः २. ड. °च्छस्तु ; छ मिच्छेस्तु °च्छव्. ३ ग.
च. ॐ नमो विप्रर्षभे, च. झ ट. श्रीगणेशायनमः, उ. श्रीगणेशायनमः । श्रीवदे-
णुकाचक्राम्या नम । श्रीवदतामे गय गुण्ये नमः, द. ॐ नमः श्रीगणेशाय. ४ ड.
ख. अनस्त ; ग. ज. यवन्तुवायवयेदं. ५ ग. ज. कर्मदे. ६ च. देवतागार्थः.

व्याख्यास्याम इति वाक्यशेषः । एवं हेतौ । आह । किंसतत्त्वं पुनस्त-
 'देवतम्' इत्यस्य ईरते प्रकरणमिति । तदुच्यते । ' यानि नामानि
 व्याख्या प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्देवतमित्याचक्षते ' ।
 तच्चानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनामन्यादीनां देव-
 पत्यन्तानां तद्देवतं प्रकरणमित्येवमाचार्या व्यञ्च-
 क्षते । निरुद्धा हीयमेवमिन् प्रकरणे संज्ञेयमिप्रायः ।

५ 'सैवा देवतोपपरीक्षा' । सा या पुरस्तात् प्रकरणाप्रयोपन्यासे 'नैघण्टुक-
 मिदं देवतानाम प्राधान्येनेदीमे'ति तथानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां
 तद्देवतमित्याचक्षते तदुपरिष्ठाह्याह्य स्यामः ' (निरु० १ । २०) इति
 १० प्रतिज्ञाता सेदानां प्रकरणद्वये निर्णयके यथाप्रकरणोपन्यासेनैवावसरप्राप्ता ।
 सामान्यविशेषसालक्षण्यसतस्योपपत्तिभिरैकैकस्या देवताया उपगम्योपगम्य
 परीक्षा वर्तिष्यत इति वाक्यशेषः । इदमिहोक्तम् । प्राधान्यस्तुतिमाञ्छि यानि
 देवताभिधानानि तत्समुदायो देवत प्रकरणं तद्व्याख्यास्याम इति । तस्य
 पुनरियमेव समाप्तो व्याख्या यदेवतोपपरीक्षां तदभिधानव्युत्पत्तित्वाद्युदा-
 १५ हरणतन्निर्वचनानि ।

त्पुनरेत सर्वमपि मन्त्राविदेवतलक्षणमनुक्त्वा न शक्यं व्याख्यातुं
 मन्त्राधीनत्वात्सर्वस्यास्य । यतो मन्त्रदेवत लक्षणविधिधारयिषया मयीति ।
 'यत्काम चर्षिषेसां देवतायामावपमिच्छन्तुनि
 मन्त्रस्यद्वयता- प्रयुक्ते तदैवतः स मन्त्रो भवति ' । यदैवतस्तु
 २० निर्णयः कामयमान ऋषिः यस्या देवतायामभिष्टुतायाम्
 अर्षिपन्तम् अर्षिपतिभावमामन इच्छन् अमुक्या
 देवतायोः प्रमादेनाहममुक्यां पतिर्नविष्वाभीयेतां बुद्धि पुरोधाय

स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तदैवत एव स मन्त्रोऽर्थाद्भवति । एतन्मन्त्रे देवतालक्षणम् ।

चतुर्विधा स्तुतिः एतेन लक्षणेन सर्वमन्त्रेषु देवतोपलक्ष्या । अथवा ।
देवतायामस्यार्थस्यैव देवता दातुं समर्थेति जानानः

स्तुतिं प्रयुङ्क्ते येन मन्त्रेण सा प्राधान्यस्तुतिभेदे देवता । सा पुनरियं
स्तुतिश्चतुर्विधा नाम्ना बन्धुभिः कर्मणश्च रूपेणेति । 'स्तुतिर्नाम-
कर्मबन्धुरूपैः' इत्युक्तम् ।

ऋच एव हि प्रायेणातितरामपि हेतार्थाः । न तथा यजुषि । तासु हि

विज्ञातासु यजुष्यपि विज्ञातान्येव भवन्ति तस्मादृच
ऋचस्त्रिविधाः एव पुरस्कृत्य ब्रवीति । 'तास्त्रिविधा ऋचः' ।

याः काश्चन सर्ववेदेऽप्युच्यन्ते एताः सर्वा अपि
त्रिविधा एव भवन्ति । तद्यथा 'परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आश्वामि-
क्यश्च' इति ।

तस्त्रैविध्यं सामान्यत उरिदयाधुना प्रत्येकं लक्षणतो ब्रवीत्युदाहरणैश्च

परोक्षकृतानामृचां दर्शयति । तत्र तस्मिन्त्रैविध्ये परोक्षकृतानामृचा-
मेतदलक्षणं भवति । 'परोक्षकृताः सर्वाभिर्नाम-
विभक्तिभिर्भुज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाद्यातस्य' ॥ १ ॥

इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रमिन्द्राधिनो बृहदिन्द्रेणैते
नुत्सवो वेविपाणा इन्द्राय साम गायत नेन्द्रादृते पवते धाम
ऋचनेन्द्रस्य तु वीर्याणि प्रवोचमिन्द्रे कामा अयंसतेत्यथ प्रत्य-
क्षकृता मध्यमपुरुषयोगमास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना त्वमिन्द्र
बलाद्धि वि न इन्द्र गृधो जहीत्यथापि प्रत्यक्षकृता स्तोतारो
भवन्ति परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि मा चिदन्यद्विशंसत कणा

१ म ज देवा देवता° । २ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. °मरूपकर्मबन्धुभि-
रित्युक्तम् । ३ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. ऋच इति । ४ घ. ङ. ट. ठ. ड. तत्र
परोक्ष ; च. ° परोक्ष' तत्र. ५ ठ. 'विभक्तिषु इन्द्रो दिव इत्येवामादीनि । इति
निरुक्तटीकाया उत्तरपटके प्रथम द्वाये निवग्दुर्गारभ्य द्वादशे च प्रथमः खण्डः । १।
इन्द्रो दिव° । ६ घ. ङ. ट. °खण्डसमाप्तिर्नास्ति; ग. छ; च. ज. अइस्थने छ.
° अस्मिन्खण्डे घ. ठ. ड. वर्गं सर्वेषु पुस्तकेषु पतीकानि सस्तराभि दीयन्ते. ८
°यंसतेति । अथ° । ९ छ. ख. छ. त. द. °नाम्ना । त्व°; घ. नष्वात्त्वं° । १०
क. ख. छ. त. द. °व्यानि । स्तो°; घ. °व्यानि-स्तो° ।

युयमपि हे होतारः अर्किणः अर्केभिः अर्कैः ऋद्धमपैर्भन्त्रैः इन्द्रमेवाभिष्टुत ।
युयमपि च हे अध्वर्यवः इन्द्रमेव वाणीभिः वाग्मिर्यजुर्मयीभिः अनूयत
अभिष्टुत । द्वितीयायां एतदुदाहरणम् ।

‘ इन्द्रेणैते ’ इति तृतीयस्यां उदाहरणम् । व्याख्यातः शेरः
तृतीयायाः (निरु० ६ । ६) ।

‘ इन्द्राय सोमं गायत विप्राय बृहते बृहन् । धर्मकृते विपक्षितं पन-
स्यवे ’ (ऋ० सं० ८ । ९८ । १) ॥

चतुर्थ्याः नृमेधस अर्पम् । सात्रिकेष्वहःसु स्तोत्रियानुरूप-
परमं तृतीयसवने ब्राह्मणाच्छसिनः शस्त्रे विनि-

युक्ता (अ.श्व० श्रौ० ७ । ८) । हे उदात्तारः इन्द्राय बृहत्साम गायत १०
विप्राय मेधाविने बृहते महते धर्मकृते कृतधर्मणे विपक्षिते विदुषे व्यनस्यवे
पन इच्छते आत्मनः स्तुतिमिच्छते । चतुर्थ्यां एतदुदाहरणम् ।

‘ सूर्यस्यैवं रश्मयो द्रावयित्त्वो मत्सरासः प्रसुपः साकभीरते । तन्तुं
ततं परिसर्गास आशवो नेन्द्रादृते पवते धाम

पञ्चम्याः किंचन ’ (ऋ० सं० ९ । ६९ । ६) ॥ १५

रणोऽवद्यामित्रस्येष्मर्पम् । पावनानी सौमी ।
जगती । यथा सूर्यस्य रश्मयस्तमसां द्रावयित्त्वः द्रावण-शीला एवमेते
मत्सराः सोमाः पापानां द्रावणशीलाः । किंच । प्रसुपः प्रसृता एतैर्ऋत्विग्भिः
साकम् इन्द्रं प्रति ईरते । गच्छन्तीत्यर्थः । गत्रा च तन्तुं ततं तन्तुमित्र
ततं तन्त्रययवाः परिसर्गासः अश्वरः परिसृता यथा व्यामुत्रन्ति एवमेतं २०
पातारमिष्टं प्रत्यश्रुवन्ति । व्यामुत्रन्तीत्यर्थः । कस्मा-पुनरेवं ब्रूमः । इतो
यस्मात् नेन्द्रादृते सोमः प्रातःसवनानीनां सोमसवनस्थानानां किंचिदपि
प्रीतिपवते पूयते । तस्मादेवं ब्रूमह इन्द्रमेवैने व्यामुवन्तीति । पञ्चम्यां
एतदुदाहरणम् ।

१ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. °वायामेत°; च °यायां एत° दां. २ ग. इति २५
वृ°. ३ क. ख. तृतीयायामेतदुदा°; ४. झ. ट. ठ. °यसगमुदा°; च. °यसगो
उदा° स्यां. ४ ग. ज. व्याख्यातशेषः, च. व्य स्वार्तेशेषः° ततः. ५ ग. सार्भे° । नृमे°;
घ. झ. ट. ठ. साम गायत° पन°. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. °व्यपित°. ७ ग.
सूर्यस्यैवं रेणो° ८ घ. झ. ट. ठ. रश्मयः° धाम°. ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
°मिन्द्रं स्वामिनं प्रत्य°; च. °मिन्द्रं च प्रत्य° स्वामिनं. १० क. ख. घ. झ. ट. ठ.
ड. °प्रति° नास्ति; ग. ज. त्वैतिवते. ११ क. ख. घ. झ. ट. ठ. पञ्चम्यामेत°. ३१

‘ इन्द्रस्य तु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वच्ची । अहन-
हिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम् ’

षष्ठ्याः (ऋ० सं० १ । ३२ १) ॥ हिरण्यस्तू-
पस्येयमार्षम् । निष्केवस्ये शस्यते (आश्व०

५ औ० ५ । १५ ॥ ८ । ६ ॥ ऐ० आ० ५ । २ । २) । इन्द्रस्य
अहे वीर्याणि वीरकर्मणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि अह्नपूर्वाण्यैः
वच्ची वज्रसंयुक्तः । अहनाहे हन् मेघम् अनु ततर्द अः वर्षार्थाः ।
पुनः पुनश्च प्राभिनत् वक्षणाः उदकवहनशिराः पर्वतानां भवानाम् ।
एवमादीनि वीर्याण्यह्निन्द्रस्य प्रवोचमिति । षष्ठ्यामेतद्दुदाहरणम् ।

१० ‘ इन्द्रे कौमा अयंसत दिव्यासः पार्थिवा उत । ल्यम् पु गृणता
नरः ’ ॥ हे स्तोतारः ये दिव्याः कामाः ये च
सप्तम्याः पार्थिवाः त इन्द्र एव उपनिबद्धाः । तं प्रार्थि-
यन् । सहि कामानामिष्टे । ल्यम् पु तं सुष्टु काम-
प्रत्ययं गृणत स्तुत हे नरः । सप्तम्यामेतद्दुदाहरणम् ।

१५ उक्तं सोदाहरणं परोक्षकृतलक्षणम् । अधुना प्रत्यक्षकृतलक्षण-
मुच्यते । तद्विकारस्योऽयम् ‘ अथ’शब्दः
प्रत्यक्षकृतलक्षणम् ‘ अथ प्रत्यक्षकृता’ इति । ‘ मध्यमपुरुषयोगाः ’
मध्यमेन पुरुषेण ये संयुक्ता मन्त्रास्ते प्रत्यक्षकृताः ।

२० ‘ त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना ’ संयुक्तास्ते च प्रत्यक्षकृताः । यत्र त्वमि-
त्येवं श्रूयते तत्राविद्यमानमपि मध्यमपुरुषयुक्तमाख्यातमध्याहार्यम् । यत्र
मध्यमपुरुषयुक्तमाख्यातपदं श्रूयते तत्राविद्यमानमपि त्वमित्येत्सर्वनामा-
ध्याहार्यं संबन्धिगन्तव्यादनयोः ।

- १ ग. मु- हिर°; घ. झ ट. तु वीर्याणि° पर्वताना. २ क ख. घ. झ. ट. ठ.
ड. वर्षार्थैः; च. वर्षार्थाः° र्थ. ३ ग. ज. वर्षाः° (ज. “इ” नास्ति). हे स्तो°.
१५ ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. उक्तं परोक्षकृतगन्तलक्षणं सोदाहरणम् (ठ. ड.
‘मन्त्र’ नास्ति). ५ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. कृतमन्त्रलक्षणम्. ६ घ. झ. ट. ठ.
ड. इ. कृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना मध्य°; च. °कृता इति°
मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. संयुक्ता
ये. ८ ग. ज. ‘ते’ नास्ति, च. ग मा-अत्य° स्ते. ९ क. ख. स. ठ. ड. °त्येवं; ट.
त्येवं° वं. १० क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘विद्यमानेऽपि मध्यमपुरुषोऽध्याहार्यः ।
यत्र’ (ट. ‘ °विद्यमानोऽपि° ’ इत्याद्यस्यत्ववीहृत्तपाठश्च सर्वविषये स्वकी-
१२ यपाठो निराक्रियते. ११ क. ख. घ. झ. ट. ठ. यत्र तु मध्यमः पुरुषः श्रू° .

‘ त्वमिन्द्र बल्यदधि ’ नि न इन्द्र मृषो जहति । चैत उदाहरणे ।
 त्वमिन्द्र बल्यदधि सहस्रो जात भोजनः । एवं
 प्रत्यक्षकृतदेव-
 वृत्तमृषदसि (ऋ० सं० १० । १५३ । २) ॥
 तात्रे ‘ त्वं ’ पदयुक्तमु-
 दाहरणम् देवनामयः सूक्तं ददद्युः । तत्रैवं महारात्रिके
 पर्याये प्रयास्तुः स्तोत्रे विनियुक्ता (आश्व० श्रौ० ५
 ६ । ४) । हे इन्द्र त्वं बल्यदधि जायसे सहसः
 अभिभक्तसमर्थात् भोजसश्च तेजसः । किञ्च । हे वृन् वर्धितः वृषासि ।
 चर्षितासीन्वर्धः ।

‘ नि न इन्द्र मृषो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः । यो अस्मौ अभि-
 दामलधरं गमया तमः ’ (ऋ० सं० १० । १
 १५२ । ४) ॥ शासस्य भारद्वाजस्येयमार्गम् । २०
 ‘ त्वं ’ पदविर-
 हितम् । १५२ । ४) ॥ शासस्य भारद्वाजस्येयमार्गम् ।
 वैमृषस्य हविषो यज्या (मैत्रा० सं० २ । २ ।
 १० ॥ ४ । १२ । ३) । हे इन्द्र विजहि न
 एतान् मृषः मृषकर्तृन् शत्रून् । किञ्च । नीचैः यच्छ तान् येषामभिः सह
 पृतन्यन्ति । पृतना कर्तुमिच्छन्तीत्यर्थः । किञ्च । योऽस्मौ अभिगमते । २५
 अभ्युपक्षपयितुमिच्छन्तीत्यर्थः । तम् अधरं गमय तमः । न. शयेत्यर्थः ।

‘ अथापि ’ क्वचित् ‘ प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति ’ । गुणप्रयोगैर्हि
 क्वचिस्तोतारः संख्यन्ते । तद्यथा । ‘ मा चिदन्व-
 द्विद्यसत कणा अभि प्रगायतोप प्रेन कुनिका-
 स्तोतारः ’ प्रत्यक्षकृताः
 स्तोतारः ‘ क्षेत्वा भिति ’ एतान्युदाहरणानि । २०

‘ मा चिदन्वद्वि शंसित सर्वायो मा रिप्यत । इन्द्रमिन्तैता वृषं
 सचा मुने मुह्यन्क्ष्वा चं संमत । (ऋ० सं० ८ । ११ । १) ॥ प्रगाथस्येय-
 मार्गम् । बृहती । तृचाशीतिषु विनियुक्ता (ऐ० आ० ५ । २ । ४) ।

१ च ‘ त्वमिन्द्र ’ इति सर्वा क्रक् पठिता. २ ग. बल्यदधि । वि. ३ ग.
 च ज. ‘ त्वमिन्द्र ’ इति क्रक् न पठिता. ४ घ झ. ट. ‘ द्वि० वृषेदसि ’ ५ क. २५
 ख घ. झ. ठ. ड. त्व इ. ६ ग इ-द्रं० शास०; घ. झ. ट. ठ. इन्द्र मृषो०
 गमया तम; च इन्द्र० । शास०. ७ ठ ड. नीचा नीचः. ८ ठ. ड. ‘ अथरं
 निवृष्ट तमः अन्वधरं मरणलक्षणम् ’ इदं ट पुस्तके सायणभाष्याद्दृशितं ग्रन्थे
 लिख्यते । ठ. ड. पृतन्ययोरनत् ‘ तमध ’ तमः इत्यस्य स्थने लिख्यते ९ क. ख.
 घ. झ. ट. ठ ‘ न्ति परोक्षकृतानि स्तोत्रयानि यु’, च ‘ न्ति- । यु’ परोक्षकृतानि,
 स्तोत्रयानि. १० य. ‘ चिदन्वत् । प्रगा’. ११ घ. झ. ट. ठ. ‘ सत० कणा च
 संमत.

हे स्तोतारः सखायः मा अन्यत् किञ्चिदपि देवतीन्तरं शंसत विवि-
धाभिः स्तुतिभिः । मा च रिपण्यत चेतमा मा गच्छतान्यद्वैतान्तरम् ।
किं तर्हि । इन्द्रमेव शृणुं वरितारं स्तुत सखा सहभूताः एतस्मिन् सुते
सोमे । मुहुर्मुहुश्च हे होतार उक्तानि च शंसत ।

५ 'क्रीलं वः शीर्षो मारुतमनर्वाणं' रथेशुभम् । कण्ठो अभि प्र गायत' (ऋ०

सं० १ । ३७ । १) ॥ कण्ठस्येयमार्यम् । क्रीलिनस्य हविषो याग्या
(मैत्रा० सं० १ । १० । १ ॥ १ । १० । १६ ॥ ४ । १० । ५ ॥
मान० श्री० १ । ७ । ५ । ३१) । शत्रुनपि दृष्ट्वा यत्क्रीडनशीलमे-

१० य मारुतं शीर्षो बलम् अनर्वाणम् अनाश्रितं किञ्चिदन्वयत् । स्वप्रमाथयुक्तवेनेस-
भिप्रायः । रथेशुभं रथैस्थितं शोभिष्ठं हे कण्ठो मेवाविन आरिज एतत्
अभिप्रगायत । एतद्वो ब्रवीमि ।

'उप प्रेतै' कुशिकाश्चेतयेभ्यमर्षे राये प्र मुञ्चता सुदासः । राजा वृत्रं
जह्वनत्प्रागपागुदगर्था यजाते वर आ पृथिव्या ।' (ऋ० सं० ३ ।

५३ । ११) ॥ विश्वामित्रस्येयमार्यम् । हे कुशिकाः स्तुतिक्रोष्टार आरिजः
१५ उपर्षागच्छत । चेतयभ्वं विजानीष्वमेतयथैव राजा वृत्रं शत्रुं जह्वनत् हत-
वान् सर्वासु दिक्षु । अथ एव सर्वहतामित्रो भूत्वा वरे श्रेष्ठे प्रदेशे पृथिव्याः
यजते । ते युष्मेतद्विज्ञाय उःप्रगच्छत । उपप्रगम्य चैतमाश्वमेधिक्रमयन्
मुञ्चत उत्सृजत विधानतः प्रेक्षयाश्वमेधयागार्थं योऽपमेतस्मिन्सुदासे
कल्याणदाने यजमाने वर्तते ।

२० एवमेतेषु युष्मद्रुणप्रयोगेषु संबद्धाः स्तोतारः स्तोतव्यानि यानि देवता-
न्तराणि तानि परोक्षकृतानि संवर्धनीयानि संवर्धयन् मन्त्रजातमुपेक्षितव्यम् ।

- १ क. ए. घ. स. ट. ठ. ड. 'द्वयत्नार' नास्ति. २ घ. 'मा' नास्ति.
३ घ. स. ट. ठ. ड. सुते सुते सोमे. ४ घ. ट. मुहु' २ अ. ५ क. ख. च. ज.
घ. क्रीलं, ग. क्रीलं वैः । क. ड. ६ घ. स. ट. ठ. शीर्षो प्र गायत. ७ ट.
१५ ठ. ड. क्रीलिनस्य. ८ ग. प्रीहिनशीलमेव; घ. स. ठ. क्रीलनशीलमेव, ज.
क्रीलिनशीलमेव; घ. क्रीलनशील [ल] नव, ट. प्रीलनशीलमेव, ठ. ड.
क्रीलनशीलमेव. ९ क. ख. घ. स. ट. ट. ड. 'कवित्' नास्ति १० क. ख. घ.
स. ट. ठ. ड. रथैस्थितं. ११ ग. यैत. १ विष्वा, ग. स. ट. येन कुशिकां वर
आ. १२ क. ख. घ. स. ट. ठ. ड. उरार, घ. उरारो प्र. १३ क. ड.
'यागाय राये धनाय सो' (अथ 'राये धनाय' ट. पुस्तके दान्ते लिखितम्) १४ क.
ख. घ. स. ट. ठ. ड. 'व्यानि तु यानि १५ क. ख. घ. स. ट. ठ. ड. 'इति'
१६ नास्ति.

‘अथाध्यात्मिक्यः’ । उक्तमेव पुरुषेण या ऋचो युक्तास्ता आध्यात्मिक्यः ।
 ‘अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना’ या युक्ताः ताश्चा-
 आध्यात्मिकी- ध्यात्मिक्यः । अत्रापि यत्राहमित्येतस्सर्वनाम श्रूयते
 नामृचां लक्षणम् तत्राविद्यमानमप्युत्तमपुरुषसंबद्धमाख्यातपदमाध्याह-
 र्तव्यम् । यत्र चोत्तमपुरुषसंबद्धमाख्यातपदं श्रूयते ५
 तत्राविद्यमानमप्यहमित्येतस्सर्वनामाध्याहर्तव्यं संबन्धिशाब्दत्वादर्नयोः ।

‘यथैतत्’ उदाहरणत्रयमाध्यात्मिकम् ‘इन्द्रो वैकुण्ठमिति’ एव-
 मादि एवमप्यन्येऽप्याध्यात्मिका मन्त्रा उपेक्षितव्याः ।

विकुण्ठा नामासुरी वभूव । तस्याः किल तपसः प्रभावेणापलत्वमिन्द्र
 आजगाम । वैकुण्ठो नाम वभूव । तस्यात्मस्तुतिप्रयुक्तमेवमादि ब्रह्म प्रादुरभूत् । १०

‘अहं भूवं वसुनः पूर्वस्यातिरंहं धनानि सं जयामि शश्वतः । मां हवन्ते
 पितरं न जन्तवोऽहं दाशुपे वि भजामि भोजनम्’

वैकुण्ठनाम्न इन्द्रस्य (ऋ० सं० १० । ४८ । १) ॥ अहम् एव
 सूक्ते प्रथमा ऋक् अहं भूवं वसुनो धनस्य पूर्वः प्रथमः पतिः ।
 किंच । सांप्रतमप्यहमेव पतिः । अहमेव च शत्रुभ्यः सकाशात्समस्तानि १५
 धनानि जयामि शश्वतो नित्यकालमेव । किंच । मामेव हवन्ते आह्वयन्ति
 पितरं न पितरमिव तासु तास्वार्तिषु जन्तवो मनुष्याः । किंच । अहमेव
 दाशुपे दत्तवते हर्षापि यजमानाय विभजामि यथाहं भोजनम् । धनमित्यर्थः ।

‘इति वै इति मे मनो गामथं सनुयामिति । कुविस्तोमस्यापामिति’
 लवसूक्तस्था (ऋ० सं० १० । ११९ । १) ॥ लवसूक्ते २०
 स एव लवो ब्रवीति । एवं चैवं च मे मनो वर्तते ।

आह । कथमिति । उच्यते । गामथम् गां वै अथं वा सनुयां संभोजयेयमेतान्

१ क. ख. ग. ज. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘त्मिक्य उक्तमपुरुषयोःगाः । उक्तैः च.
 ‘त्मिक्यः’ । उक्तं उक्तमपुरुषयोःगाः । २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘मपि ह्युत्’.

३ ग. ज. ‘संन्ययः’; च संबन्धेना° वद्ध. ४ ग. ज. शोक्त°; च. शोक्त° चो. १५

५ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ध्याहार्य. ६ क. ख. ग. ‘नयोः । ७ । यथै°. ७

क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. स वैकु° . ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘स्तुतिसंयुक्त°.

९ घ. झ. ट. ठ. ड. ‘भृदित्त्वन्तरं र षडसपतिः. १० ग. भुवं° । अद्वेषाशुभं;

ज. भुवं° यजमानस्य° । अहमशभूव°; घ. झ. ट. ठ. भुं वसुनः° वि भजामि°.

११ ग. अभुं°; च. अभुं° भू. १२ च. ‘च नास्ति ४ ग. वा० । लघु°; घ. झ.

ट. मा इति° रयापामिति. १४ घ. लवसू° १५ ग. घ. झ. लवो. १६ क.

ख. घ. झ. ट. ठ. ड. चाथं च हं°; च. शोथं वै° चाथं च. १७ क. ख. घ.

झ. ट. ठ. ड. ‘मेताव°; च. ‘मेताव° ता.

यजमानानिति । अधैवमतितरा प्रत्युपकाराभिप्राये सति किमर्थं वृते ।
कुर्वित् वद् अहं सोमस्यापामिति ।

‘अहं रद्रभिर्भुसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विद्वदेवैः । अहं मित्रा-

वागाम्भृणीसूक्तस्था

वरणोभा विभर्भर्हर्मिन्द्राम्नी अहमदिवनोभा ’

(ऋ० स १० । १२५ । १) ॥ वागाम्भृणीये

५

वागाम्भृण्या

वागेव व्रजति । अहम् एव रुद्रैः वसुभिः

आध्यात्मिका ऋक्

आदित्यैः विद्वैश्च देवैः सहभूता चरामि ।

स्तुतिरूपेण अहमेव मित्रावरुणौ उभात्रपि

इन्द्राम्नी अदिवनौ च उभात्रपि विभर्भि हविषा । मत्पूर्वकं हवि -

१०

संप्रदानं सर्वदेवताभ्य इत्यभिप्रायः ॥ २ ॥

परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठा अल्पज्ञ आभ्यात्मिका
अथापि स्तुतिरेव भवति नाशीर्वाद इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र योच-

१५

मिति यथैतस्मिन्सूक्तेऽध्याप्याशीरेव न स्तुतिः ‘सुचक्षा अहमक्षीभ्यां

भूयासं सुवर्चा मुसेन नुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासमिति’ (मान० गृ० १।९।

२५।) तदेतद्गृह्यमाण्यवे याज्ञेषु च मन्त्रेष्वथापि शपथाभिज्ञापौ ।

अथा मुरीय यदि यातुयानो अस्मि । अथा स वीरर्दशभिर्वियू-

या इत्यथापि कस्यचिद्भावास्याचिरयासा । न मृत्युरासीदमृतं

न तर्हि । तम आसीत्तमंसा गूर्ह्यमग्रे । अथापि परिदेवना

२०

कस्माच्चिद्भावात् । मुद्रैवो अद्य मपतेदनादृत् । न विजानामि

यदि वेदमस्मीत्यथापि निन्दाप्रशंसते । केवल्यायां भवति केवलानी ।

भोजस्येदं पुष्करिणीव वेद्येत्येवमक्षसूक्ते धूननिन्दा च कृपित्तज्ञसा

चैवमुच्चावचैरभिप्रायैर्कृपीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति ॥ ३ ॥

‘परोक्षकृताश्च प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा मूयिष्ठाः’ । शाखान्तरेषु बहवः ।
 आध्यात्मिका मन्त्राः ‘अल्पशः’ क्वचित् क्वचित् ‘आध्यात्मिकाः’
 लक्ष्यन्ते । आःमानमेव स्तोतव्यमधिकृत्य येऽभि-
 वदन्त्यास्त इह शास्त्रे आध्यात्मिका उच्यन्ते ।

‘अथापि’ क्वचित् ‘स्तुतिरेव भवति नाशीर्वादः’ । तत्र पुनराशी- ५
 र्योग्या । किं कारणम् । आशिषो ह्यर्थे स्तुतिः
 स्तुतिपरेषु मन्त्रेष्वशी- प्रयुज्यते । आह । किमुदाहरणमिति । उच्यते ।
 र्योग्या ‘इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचमिति यथैतस्मिन्सूक्ते’
 (ऋ० सं० १ । २२ । १) । अत्र हि स्तुतिरेव

श्रूयते नाशीः । सः पुनर्योग्येति प्रतिपादितम् । ‘अथापि’ क्वचित् १०
 ‘आशीरेव न स्तुतिः’ । तद्यथा । ‘सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासमिति’ ।

आशिष आध्वर्यवे ‘तदेतत्’ एवंलक्षणं मन्त्रजातम् ‘आध्वर्यवे’
 बहुला माशेषु च मन्त्रेषु वेदे ‘बहुलं’ प्रायेण पठ्यते । ‘याज्ञेषु च मन्त्रेषु’
 कर्मकरणेषु । इतरयोरपि वेदयोरिष्टाशीरेव भवति
 न स्तुतिरेव केवलम् । यत्राप्याशीरेव केवलम् तत्रापि तस्यार्थस्य या देव- १५
 तेष्ट तस्याः स्तुतिर्योग्या । किं कारणम् । न ह्यनभिष्टना देवताशिषं समर्धयति ।

‘अथापि शपथाभिशापौ’ भवतः । ‘अथा मुरीय’ इत्येकमुदाहरणं द्वयो-
 रपि । वसिष्ठः किल राक्षसस्त्वमित्यभियुक्तः ।
 शपथाभिशापौ सोऽनपर्चा शपथं प्रतिपेदे परं चाभिशापाप ।

‘अथामुरीयं यदि यत्तुवानो अस्मि यदि वायुस्ततप पूर्यस्य । २०
 अधा स धीरेदंशभिर्विं यूया यो मा मोघं यातु-
 वसिष्ठोऽनृतशंस- धानेत्वाहं’ (ऋ० सं० ७ । १०४ । १५) ॥

मभिशापति अव्येवाहं म्रिये यदि यातुधानः स्याम् । यदि वा
 आयुः ततप तस्यवानहं कस्यचिदपि पूर्यस्य
 पुर्यस्य । अथ पुनरयातुधानमेव मां सन्तं यो मोघननृतं यातुधानस्त्वमि- २५
 त्येवमाह स वीरैः पुत्रैः दशभिः त्रियुषीः । त्रियुष्यतामित्यभिशापः ।

१ क. र. ग. ज. प. झ. ट. ठ. ड. ‘क्वचित्’ ऋद्धेव. २ म. च. ‘तस्मिन्सू’;
 ज. ‘तस्मिन्सू’. ३ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. दुश्यते. ४ क. ख. घ. झ. ट.
 ठ. ड. देवनेष्टा. ५ ग. मुरीयं. - अथा; घ. झ. ट. ठ. मुरीय यदि यातुगने.
 ६ न. र. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘पूर्यस्य’ नास्ति; च. पूर्यस्य. ७ क. ख. घ.
 झ. ट. ठ. ड. ‘यूयाः त्रियूयात् त्रियु’; च. ‘यूयाः - त्रियु’ त्रियूयात्. २१

‘अथापि कस्यचिद्भावस्थोचिख्यासा’ मन्त्रेषु भवति । अथापि कस्य-
चिदर्धस्याचिख्यासा मन्त्रेषु भवति । ‘न मृत्युर्गतीदमृतं न तर्हि न रात्र्या
अहं आसीत्प्रकेतः । आनीदवातं स्वधया तदेकं
केपुचिद्भावकथनम् तस्माद्धान्यन्न परः किं चनासं’ (ऋ० सं०

- ५ १० । १२९ । ३२) ॥ प्रजापतेः परमेष्ठिन आर्षम् । तम आसी-
दित्यं चै (ऋ० सं० १० । १२९ । ३) । प्रागुत्पत्तेरस्य जगतो नापि
मृत्युरित्यं व्यपदेश असीन्मर्त्यस्याभावात् । न अपि अमृतम् इत्यं व्यपदेश
आसीन्मृत्योरभावादेव । इतरेतरापेक्षया हि मृत्युधामृतं च व्यपदिश्येते । न
एव रात्र्याः प्रज्ञानम् आसीत् इयं रात्रिरिति । नापि अहः । एते अपि ह्यहो-
१० रात्रे यतो भगवतो विवस्वत उदयास्तमयाम्यामुपलक्ष्येते तदभावे ह्येते अपि
नास्तामित्येतदुपपद्यते । आह । अथ किमसीदिति । उच्यते । अविशिष्टमप्र-
ज्ञातम् एकम् एव सर्वशक्तिमद्ब्रह्मासीत् । तत्कार्यकारणाभावात् अवातम्
अनिति । प्राणितीत्यर्थः । सति हि कार्यकारणभावे परमात्मनि या प्राणन-
शक्तिः सा पञ्चधा भिद्यमाना प्राणापानादिभावमापद्यते । तदभावे न
१५ वातोऽस्तीत्यवातमनित्युपपद्यते । स्वधया अग्नेन । तस्मिन्नेव पर-
मात्मनि यान्नशक्तिस्तथा निमित्तभूतया प्राणितीत्यवशिष्यते तद् ब्रह्म ।
आह । किमन्यदपि ततः परस्तात्किञ्चिदासीदिति । नेत्युच्यते । तस्मा-
द्धान्यन्न परः परस्तात्किञ्चिदप्यासीत् । इदमेव तावदतिक्रान्तसर्वत्रिशेषं
ब्रह्म व्यपदेष्टुमशक्यम् । अतोऽपि परस्तात्किमन्यद्ब्रविष्यतीत्यभिप्रायः ।
२० द्वितीयमुदाहरणमाचिख्यासायामेव । ‘तम आसीत्तमसा गुणैस्त्वमेष्टप्र-
केतं मंडिलं सर्वमा इदम् । तृच्छेपेनाम्भविहितं
भावाचिख्यासाया यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्’ (ऋ० सं०
द्वितीयमुदाहरणम् १० । १२९ । ३) ॥ तम आसीत् अन्धेनैव
तमसा निगूढम् अविशिष्टम् अप्रज्ञातम् अग्रे । प्राक् सृष्टेरित्यर्थः ।

- २५ १ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. ‘अवस्य कस्यचिदर्थेराचिख्यासा मन्त्रेषु
भवति । न मृत्युः । २ घ. मन्त्रेषु भवति. ३ ग. ‘रात्री’० । प्रजा; घ. ङ. ट.
ठ. ‘रात्रीदं किं चनासं. ३ क. र. घ. ङ. ट. ठ. ड. ५ । त्रिष्टुप् । भावकृतम् ।
तर्हि नागुः. ४ क. र. घ. ङ. ट. ठ. ड. ‘नादि’ नास्ति. ५ क. ख. घ. ङ.
ट. ठ. ड. नास्ति. ६ घ. ट. ठ. खने; घ. खने’ ने. ७ क. र. घ. ङ. ट. ठ.
‘इति’ नास्ति. ८ ग. आसीत्. ९ तमः; घ. ङ. ट. ठ. आसीत्तमसा
३१ मरि. १ घ. मृत्युः.

तदा हि न द्रष्टा न दर्शनं नापि दृशोऽर्थ आसीदित्यभिप्रायः ।
सांख्यास्तु प्रथमं तमःशब्देनोपादानमुच्यमानमिच्छन्ति । ते हि
पारमैर्षं सूत्रमधीयते । ' तम एव खल्विदमग्रं आसीत्तस्मिंस्तमसि
क्षेत्रज्ञ एव प्रथमोऽध्यैवर्तत ' इति । तल्लिङं सद्भावे लीनं सर्वमिदं जग-
त्सन्मात्रस्यैव भावस्योपरि लीनमासीत् । तुच्छैरेन सूक्ष्मभूतेन पटमण्डप-
स्थानीयेन कर्मणो यदपिहितम् इव जगत् आसीत् सर्गकालापेक्षे तदि-
दमनादिस्वात्संसारस्य तपसः तस्यैव कर्मणो महिना महिन्ना महाभावेन
कारणावस्थायाम् एकम् अपि सद् अनेकधा उपस्थिते सर्गकाले प्रतिनिय-
तकर्मोपभोगार्थम् अजायत इति ।

‘ अथापि परिदेवना कस्माच्चिद्भावात् ’ । ‘ मुदेवो अद्य प्रपतेदना-
वृत् न भिजानानि यदि वेदमरमीति ’ एते
परिदेवना उदाहरणे ।

‘ मुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्तरावर्तं परमां गन्तवा उ । अथा शयीत
निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अयुः ’

पुरूरवसः प्रिया-
वियुक्तस्य परिदेवना

(ऋ० सं० १० । ९५ । १४) ॥ पुरूरवस
औषम् । स शोभनो देवः स्यात् योऽद्य तया
प्रियया विर्युक्तं उर्वश्या भृगुप्रपातम् अनावर्तमानः

प्रपतेत् । पतितश्च दूरादूरतरं गच्छेत् । अथ गत्वा शयीत मृतः सन्
निर्ऋतेः भूमेः उपस्थे उपारि । अथैनं तामवस्थामापन्नं वृकाः विकर्तिता-
रथं सृगालादयः रभसाः रभस्वन्तो वेगदन्तः अयुः भक्षयेयुः । नाहं

१ घ. झ. ट. ठ. ड. तमःशब्देन प्रधानमुगा । २ म. ज. पारमार्थ; घ. झ.
ठ. परमार्थसूत्र; ३. वैमार्थ पारमार्थ. ३ क. र. घ. झ. ट. ठ. 'मये; च.
मये' धे. ४ ग. तस्मिन्तमसि; च. ज. तस्मिन्नमसि. ५ ग. ज. 'मो वावर्त
इति. ६ घ. ट. तुच्छयोन; झ. तुच्छेन. ७ ठ. ड. कर्मणा 'आमनाद्भवतीत्यासुः
अज्ञानं' । यद् (' ' चिह्नस्थाः शब्दाः सायणभाष्यादृष्टताः ट. पुत्तंक्रान्तभये
लिखन्ने). ८ क. ख. ठ. तमनादि; च. 'नादि-त्वा'; म. ड. 'तद्वनादि'. ९ च.
ज. महाभा. १० ग. मुदेवो. ११ पुरू; च. सुदेवः । पुरू. १२ घ. ट. 'पतेत्
रभसा'. १२ क. ख. घ. ट. ठ. ड. आर्षम् । विष्टम् । परिदेवना । सुरेवः स; च.
आर्षम् । १३ सुदेवः. १३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. यो ह्यनया पि; च. यो-
यो तेषां ह्यन. १४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. उर्वश्या वियुक्तः. १५ क. ख. घ.
झ. ट. 'मानोऽद्य प्रप'; च. मानः १५ अय; उ ड. 'मानोऽद्य प्रप'. १६ क. ख.
घ. झ. ट. ठ. ड. 'तारः श्वशूगा'.

१०

१५

२०

२५

३.

मुदेवः किं तु स मुदेवः स्याद्यैः प्रियावियुक्त एतामत्रस्थामाम्नुयादित्येवमेवा
परिदेवनी ।

‘ न वि जानामि यदि वेदमस्मि निष्पन्नः संनद्धो मनसा चरामि । यदा
मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्रुत्रे भागमस्याः ’ (ऋ० सं० १ ।

५

१६४ । ३७) ॥ दीर्घामन इर्यमार्पम् ।

जौवात्मनो द्वैता- अस्यामीये । न एतदहं विस्पष्टं जानामि
द्वैतवियये संशयः यदि वेदमस्मि कारणं परं ब्रह्माख्यम् अध-
राणयोर्द्वैताद्वैतयोरन्तरा वर्तमानो निष्पन्नः अन्तर्हितोऽविद्यया संनद्ध-

१०

धानेकैः सदेहप्रान्थिभिः मनसा उभे अपि द्वैताद्वैते चरामि । मच्छाभी-
त्यर्थः । एव सति यदा मा आगन् मामागच्छेत् प्रथमजा बुद्धिः । सा
हि सर्वेन्द्रियेभ्यः प्रथम जायते । ऋतस्य भगवत आदित्यस्य रजभूता ।
तस्य हि प्रकृष्टा बुद्धिः प्रहीणसर्वसंशया । तथा सर्वमिदमसंशय परिज्ञाय
किमहं कारणसत्तर उत वा द्वैतसत्त्व इति । ततः अस्याः कृच्छ्रप्रज्ञा-

१५

ताया वाचो भागम् अहम् अश्रुयाम् । यदिय कृत्स्ना वागभिवदति
तत्सर्वमहमाप्नुयामित्यर्थः । एवमयमात्मनिन्दापूर्वको त्रिलापः परिदेवनेत्यु-
च्यते । यदि नामैव स्यात्साधु स्यादिति ।

२०

‘ अथापि ’ मन्त्रेषु ‘ निन्दाप्रशसे ’ भवतः । तद्यथा ‘ केवलाद्यो
भवति केवलादी भोजस्येद पुष्करिणीव वेश्मेति ’
निन्दाप्रशसे एते उदाहरणं ।

‘ मोघर्षन्नं निन्दते अप्रचेता स य ब्रवीमि वध इत्स तस्यं । नार्यमगं
पुष्पानि नैः मर्वाय केवलाद्यो भवति केवलादी ’
अनमददतो निन्दा (ऋ० सं० १० । ११७ । ६) ॥ भिक्षोरा-
द्विरत्सस्येयमार्पम् । मोघ वितथम् । निन्दते प्राप्नोति । आह । क

२५

१ क. स. प. झ. ट. ठ. ड. ‘ दतो वतता (ठ. ड. वतथा) वि’ . २ क.
स. ‘ देवता । पतपेत्यपनम् । न’ . ३ ग. जानामि । दीर्घ’ ; घ. झ. ट. ठ.
जानामि यदि ० अश्रुत्रे’ , च. जानामि । दीर्घ . ४ क. स. ‘ तमत्र आम् ।
अस्य’ ; घ. झ. ट. ठ. ड. ‘ तमत्र आम् । कृत्स्ना धारणम् ।
निष्ठुर । अस्य’ . ५ क. स. प. झ. ट. ठ. ड. ‘ वा’ नस्ति. ६ घ. झ. ठ.
ड. ‘ अह’ नास्ति, ट. भाग ० अश्रु’ जट ७ ग. ‘ रणे’ । मोघ’ . ८ ग. ज.
‘ कर्ष’ । भिक्षो’ ; घ. झ. ट. कर्ष ० केवलादी . ९ ग. ‘ स. प. झ. ट. ठ. ड.
३२ भिक्षोर्वाद्विरत्सस्येयमार्पम् । विष्णु । अद्दने (ग. ड. ११३) निन्दा । मोघ’ .

इति । उपपत्ते । यः अप्रचेताः अप्रबुद्धज्ञानः । सत्यम् अहं ब्रवीमि वव
इस तस्य । चय एव सोऽन्नलाभस्य । वरमलब्धं तेनान्नमित्यभिप्रायः ।
किं पुनः कारणं मोघममावन्नं विन्दते' इति । उपपत्ते । न असौ अर्यमणम्
आदित्यं पुष्पति नापि सखायं समानहृदानं मनुष्यम् । न देवान् पुष्पाति
न मनुष्यानित्यभिप्रायः । एत एवमनः केवलाघो भवति स केवलादी ।
आत्मनैव केवलं योऽन्नमसि न देवग्नितृमनुष्येभ्यो ददाति स केवठमघमेव
प्राप्नोति । तदुक्तमन्यत्रापि ' भुञ्जते ते त्विधं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् '
(भग० ३ । १३) इति । तस्माद्दध एव स तस्यान्नलाभ इत्युपपद्यते ।
न ह्यसत्यन्ने प्रत्यवेयाद्ददन्नमित्यभिप्रायः । अन्नसंयोग एव ह्यत्र वधोऽ-
भिप्रेतः ।

५

१०

केचित्त्वेनमनघ्यात्मविदमप्रचेतसं मन्यन्ते । स ह्यस्मिच्छरीरे विवक्षितः ।

केपाचिन्मते अध्या- नार्यमणम् आदित्वान्तरपूर्वम् मोक्षारं पश्यति
मिकीयमृक् नापि सखायं प्राणं वायुम् । स हि भुञ्जमानेऽन्ने
करणमावं पुष्पातीति सखः । केवलं एसाववि-
द्वानात्मानमेव भोक्तारमत्र पश्यति । अतः स केवलाघो भवति । यदि हि स
देवताः पश्येदेवता अन्नभोक्त्रीः स हि तत्र भुक्तेन न केवलघ, स्यादिति ।

१५

१ ' भोजार्थं च सं मृजन्त्याशु भोजार्थास्ते क्रत्या ३ शुभमाना । भोज-
भोजेन दत्ताया दक्षि- स्पेदं पुष्करिणीं च वेदम परिष्कृतं देवमानेवं
चित्रम् ' (ऋ० सं० १० । १०७ । १०) ॥

प्रायाः प्रशंसा

दक्षिणा नाम प्रजापतेर्दुहिता । तथा मुक्तमत्मानः
स्तुतिसंबद्धं दृष्टम् । तत्रैषा जगती । भोजाय राज्ञे
अश्वम् आशुं शीघ्रं संमृजन्ति संमार्जयन्ति ऋषयन्ति यस्याः । किंच ।

२०

१ ष. विन्दति° ते. २ क. ख. च झ ट. ट. ढ. नापि. ३ ट त्विधं° ह्य.
४ क. ख. च झ. ट. °रिन्दु शरी°; ग. च. ज. °सिन्धरी°; ठ. ढ. °दिन्दरी°.
५ क. ख. च. झ. ट. ठ. ढ. °न्तरपुरव°. ६ क. स. घ. झ. ट. ठ. ढ. प्राणवायु;
च. प्राण वायुं° घ. ७ ग. ज. देवता अन्नभोक्त्रीः स हि° नासि. ८ ग. °याश्व°
द°; घ. झ ट. ठ. याश्वं मृजन्त्याशुं° देव°. ९ क रा घ. झ. ट. ठ ढ जगती
(क. ख. त्रिष्टुप्) । दातृपश्या। भो°; च. जगती ~ भो° दातृपश्या. १० च.
°र्जयन्ति° भूयाः °स्तापयन्ति.

भोजाय उद्धनार्थमन्यान्वरानपास्य स्वलङ्कृता शोभमाना कन्या आस्ते । स
हि तामर्हतीत्यभिप्रायः । किञ्च । भोजस्य इदं वेदम गृहं परिष्कृतं संस्कृतं
पुष्करिणीव पुष्करैर्देवतं विमानमिव चित्रम् । चायनीयमित्यर्थः । तदेत-
त्सर्वमयस्य जन्मान्तरप्रतिविशिष्टदक्षिणासहिताः कर्मणोऽप्येभ्यः कर्मभ्यः
सकाशात्कलातिरेकपमित्येवभेषा दक्षिणाप्रशंसा ।

यथैवमिह मन्त्रद्वये निन्दा च प्रशंसा च ' एवमक्षसूक्ते द्यूतनिन्दा च
कृपिप्रशंसा च ' भवतीति विषयोपप्रदर्शनार्थमाह ।

' अक्षैर्मा दीव्यैः कृपिमिच्छंस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः । तत्र

गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवि-

१० द्यूतनिन्दा कृपि- तायमर्थः ' (ऋ० सं० १० । ३४ । १३) ॥

प्रशंसा च मूत्रवानामाक्षपुत्ररस्येयमोर्षम् । अक्षैर्मादीव्यः
इत्यक्षदेवनप्रतिषेधः । तत्र हि बहवोऽनर्थाः

सन्ति । कृपिमिच्छस्वेति कृपिनिधानम् । तस्या बहवो गुणाः
सन्ति । वित्ते रमस्व । स्वला एवोपार्जिते बहु एतदेवेति मन्यमानो मा

१५ वित्तलोभेन दीव्यः । निजमपि वित्तं हारयिष्यसि । कृपि पुनरेतस्मात्का-

रणात्कृपस्व । हे कितव तत्र तस्या कृपौ गावः सन्ति । तस्यां च
जाया । तः पुनैर्भूमैस्तविता देवः अर्षः ईश्वरः श्रुतिस्मृत्यनुशासनद्वारेण

विविधमनेकप्रकारम् आचष्टे । उभे अपि हीमि श्रुतिस्मृती मन्वादिद्वारेणा-
दित्यान्तरपुरपप्रभये एव । अत इदमुक्तं सवितैर भैमेदं विचष्ट इति ।

२० ' एवम् ' अनेन प्रकारेण ' उच्चारचरमिमाथैः ' बहुभिः अथवा

प्रकृष्टाप्रकृष्टमप्यभैः मन्त्राभिव्यक्तिनिदानमूर्तेः । ' ऋषीणा मन्त्रदृष्टयो '

मन्त्रदर्शनानि ' भवन्ति ' । विद्यमानानामर्थ मन्त्राणामृपयो येन केनचि-

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. ' निरिच्छ' । २ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड.

' ष ' नास्ति. ३ ग. शी. प्र. । मू. र. ङ. ट. दी. यः • सतिता'. ४ क. ख.

घ. ङ. ट. ठ. ड. ' नास्ति । मिष्टम् । अक्षैः'. ५ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड.

तस्या हि व'. ६ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. ' पुनः पुनः मन्त्रे ' (उ. ड. ' तत् '.

नास्ति). ७ क. ख. घ. ङ. ट. ' तैर्वान्म वि', घ. ' तैर्वै म' वेन-न. ८ क.

१० ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. ' इव हि म', घ. ' इव म' हि.

निगितेन निदानभूतेन हर्षशोकनिन्दाप्रशस्तादिना मन्त्राणां द्रष्टारो भवन्ति
 न तु कर्तार इत्यभिप्राय । तदर्थानुक्रमेण
 अनादिमन्त्राणाम्- निदानमां चोभयमुपेक्षितव्यम् । परिज्ञातार्प-
 षयो द्रष्टारो न तु निदानो हि सुखमनेकत्रिपय मन्त्रार्थमवबोद्धुं
 कर्तारः शक्नोति । तदेतदिह लक्षणोद्देशतो भाष्यकारेण
 प्रदर्शितम् ॥ ३ ॥

तद्येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा यद्देवतः स यज्ञा
 वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्त्यथान्यत्र यज्ञात्प्राजापत्या इति
 याज्ञिका नाराशंसा इति नैरुक्ता अपि वा सा कामदेवता स्यात्प्रा- १०
 योदेवता वास्ति शाचारो बहुलं लोके देवदेवत्वमतिधिदेवत्यं पितृ-
 देवत्यं याज्ञदैवतो मन्त्र इत्यपि ह्यदेवता देवतावत्स्तूयन्ते यथा-
 श्वभृतीन्योपधिपर्यन्तान्येथाप्यष्टौ द्वन्द्वानि (निघ० ५ । ३ ।
 २९—३६) । स न मन्येतामन्तुनिवार्थान्देवतानां प्रत्यक्षदृश्य-
 मेतद्भवति माहाभार्यादेवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयत एक- १५
 स्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्त्यपि च सत्त्वानां प्रकृतिर्भूम-
 भिर्ऋषयः स्तुवन्तीत्याहुः प्रकृतिसार्धनाम्याद्येतेरेतरजन्मानो भवन्ती-
 तरेतरप्रकृतयः कर्मजन्मान आत्मजन्मान आत्मैवैषां रथो भवत्या-
 त्माश्वीं आत्मायुधमात्मेपव आत्मा सर्व देवस्य देवस्य ॥ ४ ॥

१०

१५

२०

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. निन्दाहर्षशोकप्रशं. २ च. सुखेन° ख. ३ क.
 ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. शक्नोतीति. ४ ठ. ड. ३ (ठ. ' ३ ' नास्ति) निरु-
 क्तवृत्तौ उत्तरपटके (ड. निरुक्तोत्तरपट्कभाष्ये) प्रथमाध्याये तृतीयः खण्डः.
 ५ क. ख. छ. त. द. ' न्यानि । ४ । अथा° . ६ छ. थ. घ. ड. ' वार्था देव° ,
 ठ. ' वार्थादेव° , त. द. ' वार्थानां देव° . ७ ठ. ड. ' वस्ति । आपि° . ८ त. ' तिर्भूम° .
 ९ क. ख. ड. थ. घ. ड. ' नाम्नाये° , त. ' नाम्नाये° म्या. १० क. ख. छ.
 त. द. ' त्नाश्व आ° . ११ क. ख. देवस्य । ५ । हनि सतमध्यायस्य प्रथमः
 पादः, छ. त. द. ५.

‘ तथेऽनादिष्टदेवता मन्त्राः ’ । इहैतदुक्तम् । ‘ यत्काम ऋषिर्यस्या
 देवतायामार्थपन्थमिच्छन् स्तुतिं प्रयुञ्जे तदैवतः स
 अनादिष्टदेवतेषु मन्त्रो भवति ’ इति । तदेतत्प्रकटदेवतालक्ष-
 मन्त्रेषु देवतोपपरीक्षा णेषु मन्त्रेषु मन्त्रदेवतालक्षणमुपपद्यते । ये त्वना-
 दिष्टदेवतालिङ्गा मन्त्रास्तेषु देवता कथमन्वेष्येति
 सदेतद्विचार्यत इत्युपयुक्तस्तच्छब्दः । येऽनादिष्टदेवतालिङ्गा मन्त्राः ‘ तेषु ’
 देवताया अतः परं परीक्षा उपपत्तितो भविष्यतीति वाक्यशेषः ।

‘ यदैवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तदेवता भवन्ति ’ । यदैवतः स यज्ञो
 यस्मिन् यज्ञे तेऽनादिष्टदेवतालिङ्गा मन्त्रा विनि-

१० यज्ञप्रकरणाद्यज्ञा- युज्यन्ते तदैवता एव हि ते भवन्ति । तद्यथा ।
 ङ्गप्रकरणाद्वा देवता ‘ आग्नेयोऽग्निष्टेम ’ इति श्रूयते । तत्र योऽना-
 निर्णयः रिष्टतदेवतालिङ्गो मन्त्रः स्यात्स आग्नेय एव
 स्यात् । प्रकरणाद्धि सदिग्धदेवतेषु देवतानियम

१५ यो माष्याग्निने स ऐन्द्रैस्त्वृतीयसवने यः स आदित्यः । आह । अथान्यत्र
 यज्ञात् कथं मन्त्रेषु देवतापरिज्ञानमिति । अथ पुनरन्यत्र यज्ञाये वर्तन्ते
 येषामुत्सन्नः प्रयोगः । ‘ उत्सन्नयज्ञो वा एषः ’

यज्ञादन्यत्र प्राजा- (मैत्रा० सं० १ । ११ । ६ ॥ ४ । ३ ।
 १० मत्तम् ३ ॥ तै० स० ४ । ३ । ४) इत्युत्सन्नता-
 मपि दर्शयन्त्येव ब्राह्मणम् । तेषामुत्सन्नप्रकरणप्रयो-

गेषु वाच्यतामप्रयोगविनियोगकल्पेषु ‘ किं ब्राह्म-
 णस्य पितृं पृच्छसि किं त्वं मातरम् । श्रुत्वादिदस्मिन् वेद्यं स पितामहः ’
 इत्यादिषु कथमन्वेष्वा देवतेति । शृणु ‘ प्राजापत्याः ’ ते मन्त्राः । इति

१ ग. घ. न. प. झ. ट. ठ. ड. ‘उत्सु’ । २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘
 कर्त्तव्य इति’ । ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ऐन्द्रो यज्ञोत्सन्नसवने ष’ ।
 १५ ५ ग. न. कर्त्तव्ये उपपत्तयेष्वा’ । ६ च. ‘किन्तु, ठ. ड. ‘किं मात’ ।

याञ्चिन्नाः ? मन्यन्ते । किं कारणम् । ' अनिरुक्तो हि प्रजापतिः ' (मैत्रा०
सं० ३ । ६ । ५) अनिरुक्तदेवतालिङ्गाश्च

नाराशंसा इति मन्त्रा इत्येतस्मात्सामान्यात् । ' नाराशंसाः ' ते
नैरुक्तमतम् इति ' नैरुक्ताः ' मन्यन्ते । नाराशंसोऽग्निर्विश्वो वा ।
वक्ष्यति हि ' यज्ञं इति^३ कार्यकयोऽग्निर्गिति
शाकपूणिः ' (निरु० ८ । ६) इति । यज्ञशब्देन च विष्णुरुच्यते ।
' विष्णुर्वै यज्ञः ' (मैत्रा० सं० ४ । ३ । ७ ॥ ऐ० ब्रा० ३ । ४)

इति हि विज्ञायते । ' अग्निर्हि भूयिष्ठमादेवतानाम् ' (मैत्रा० सं० ४ ।
७ । ८) इति । अतोऽनाविष्कृतदेवतालिङ्गो मन्त्र आग्नेयः स्यात् ।
सर्वदेवताश्रयणाच्च ' अग्निर्वै सर्वा देवताः ' ' अन्नं वै सर्वा वसति देवता'
इति विज्ञायते । यस्मिन्नपि पक्षे, नाराशंसो यज्ञस्तस्मिन्नपि पक्षे यज्ञप्रभव-
त्वादस्य जगतो यज्ञस्य श्रेष्ठ्यम् । ' अपरिग्रहं च श्रेष्ठगामि ' इति
न्यायः । केचित्तु येन नराः प्रशस्यन्ते स
' नाराशंसशब्दस्य । नाराशंसो मन्त्र इति हि पश्यन्तो मनुष्यस्तुत-
न्युत्पत्त्या अनाविष्कृत- यस्ता इत्येवं मन्यन्ते । तदयुक्तम् । न हि मनु-
तदेवता मन्त्रा मनुष्य- ष्याणःमनाविष्कृतलिङ्गैर्मन्त्रैः स्तुतिरुपपद्यते दुर्बो-
स्तुतिपरा इत्ययुक्तम् श्यत्वात्तेषामन्यदुच्चिन्नाच्च मनुष्याणामिति ।

। ' अपि वा सा कामदेवता स्यात् ? अपि वैवमन्यथा स्यात् । सा
ऋक् स मन्त्रो योऽनाविष्कृतलिङ्गः स कामदे-
। कामदेवता वा वतः स्यात् । कामतो हीच्छातस्तस्मिन्देवता
कल्पयित्वाप्येवमिप्रायः । किं कारणम् । गुणपद-
मयो हि सः । न हि तत्र देवतासंविज्ञानपदमन्यतर्भेदेवताविशेषप्रख्याप-
कमस्ति यतो विशेषात्कस्यांभेदेकस्यां देवतायामन्याम्यो व्यावृत्त्यावतिष्ठेत् ।
गुणपदानां च सर्वेषां सर्वदेवताश्रयत्वाद्देश्वर्थयोगान्तरासां देवतानामिति ।

१ ग. च. ज. नाशं. २ ठ. ड. नाराशंसो यज्ञं. ३ ग. ज. इति ह कां; च. २५
इति ह कां हि. ४ क. ख. ठ. ड. कार्यकयो; घ. स. ट. कार्यकयो; ग. कार्यकयो
घ; ज. कार्यकयो; घ. कार्यकयो. ५ क. ख. घ. झ. ठ. ड. इ. ६ क.
ख. घ. झ. ट. ठ. ड. इति ह विं. ७ क. स. ग. च. ज. घ. झ. ट. नाशं.
८ घ. झ. ट. ठ. ड. मन्त्रश्रेष्ठ्यम्. ९ क. स. ग. झ. ट. ठ. ड. 'हि' नाशित.
१० ग. ज. वैवं. ११ ठ. ट. हीच्छात अतं. १२ ग. ज. 'ज्ञातपं'; च.
'ज्ञातपं' न. १३ ग. घ. झ. ट. ठ. ड. 'तमदेव'. ३९

- ‘ प्रायोदेवता वा ’ तस्मिन्मन्त्रे स्यादिति वाक्यशेषः । प्राय इति
 प्रायोदेवता वा ह्यधिकार उच्यते । यद्देवताधिकारे ह्यध्ययनपाठा-
 तद्देवत एवेति बोद्धव्यम् । तद्यथा । अग्न्यधिकारे वर्तमाने आग्नेय एव
 मन्त्रो भवतीन्द्राधिकारे चैन्द्र एवेति । अथवा । प्राय इति बाहुल्यमुच्यते । तद्यथा । अनृतप्रायो
 ५ अधिकारार्थे प्रायः- शब्दः प्राय इति बाहुल्यमुच्यते । तद्यथा । अनृतप्रायो
 देवदत्त इत्युक्तेऽनृतबहुल इत्येवगम्यते । एव-
 मिहापि प्रायोदेवतेत्युक्ते बहुलदेवतेति स्यात् । किं कारणम् । ‘ अस्ति
 १० बाहुल्यार्थे वा ह्याचारो बहुलं लोके ’ । अस्ति हीयं लोके बहु-
 लस्य भूवत्त्वेन प्रसिद्धिः । निर्दिष्टेभ्यो द्रव्येभ्यो
 यदन्यदवशिष्यते तत्साधारणम् । तद्यथा । कश्चिद्रूही निर्दिशतीदं मे ‘देव
 द्वितीयमर्थं लोका- देवस्यं’ द्रव्यमिदम् ‘अतिधिदेवस्यम्’ इदं ‘पितृ
 चारः समर्थयति देवस्यम्’ इति । तत्रैवं निर्दिष्टे ततो राशेर्यदन्यद-
 वशिष्यते तद्देवपितृमनुष्याणां साधारणं भवति ।
 १५ तथा च निर्वपणकर्मणीदं देवानामिति निरुक्तमभिमृश्येदं नः सहेति शेष-
 मभिमृश्यते साधारणत्वप्रख्यापनार्थम् । एवमिहाप्यादिष्टदेवतालिङ्गान्मन्त्ररा-
 शेर्योऽन्योऽनाविष्टदेवतालिङ्गो मन्त्रराशिः स्यात्साधारण्याद्बहुदेवतो विद्वे-
 देव एव स्यादिति । आह । कः पुनरैतस्मिन्विचारे निश्चयः । उच्यते ।
 २० याज्ञदेवतो मन्त्र इति निर्णयः ‘ याज्ञदेवतो मन्त्रः ’ इति । योऽनाविष्टदे-
 वतालिङ्गो मन्त्रः स याज्ञो वा स्यादेवतो वा ।
 ‘ विष्णुर्धे यज्ञः ’ इति हि विज्ञायते । विष्णुर्धे

- १ घ. ट. बोद्धव्यः; ठ. ड. बोद्धव्यः. २ घ. ट. अग्निपिष्टा; ठ. आग्निपि; ३. अग्नेपि. ३ घ. स. ट. ठ. ड. इत्येषां. ४ घ. बहुलस्य. ५ क. स. घ. स. ट. ठ. ड. 'र्णं भवति । तं. ६ क. स. घ. स. ट. ठ. ड. इदं मे अति. ७ क. स. घ. स. ट. ठ. ड. इदं मे पि. ८ क. स. घ. स. ट. ठ. ड. अरुनिर्व. ९ क. स. घ. स. ट. ड. देवनामा; ट. देवनामा वा. १० क. स. घ. स. ट. ठ. ड. मृशति सर्वेषां; घ. मृशति एषां सति सर्व. ११ क. स. घ. स. ट. ठ. ड. नादिष्टे. १२ क. स. घ. स. ट. ठ. ड. स्यात्सर्वेषांसाधारणत्वाद्; घ. स्यात्सर्वेषां. १३ क. स. घ. स. ट. ठ. ड. नैश्वदेवः स्या; घ. विश्व. १४ ग. स. पुनरस्मि. १५ क. स. घ. स. ट. ठ. ड. 'इति' नास्ति. १६ क. ११ स. घ. स. ट. ठ. ड. इ. १७ क. स. घ. स. ट. ठ. ड. 'च' नास्ति.

पुनरादित्य एव नैरुक्तानां युस्थाने समाश्रानात् (निघ० ५ । ६) ।

याज्ञ आदित्य-
देवतः ' यच्च किञ्चित्प्रवृत्तितमादित्यकर्मैः तत् ' (निरु० ७ । ११) इति वैक्ष्यति ।
तस्मादादित्यदेवतः स मन्त्र इति स्यात् ।

अथवा दैवतः रा मन्त्रः । देवतास्मि-देवतेति दैवतः । अविशिष्टं हि ५

दैवत आप्तयेः देवतात्वमप्रायेण सर्वदेवताभिवादात् । ' अग्निर्वै सर्वा देवताः ' (काठ० सं० १० । १) ।

इति हि विज्ञायते । ' अग्निर्वै देवतानां भूषिष्ठभाक् ' इति च । ' अपारि-
ग्रहं च प्रधानगामि ' इति न्यायः । तस्मादाप्तयेः स मन्त्रः स्यादिति ।
तद्यदुपोद्धात उक्तं ' नाराशंसा इति नैरुक्ताः ' तदेव ' काव्येक्य- १०
शाकपूर्णमतेनावबृत्तं यज्ञोऽग्निर्वेति तौ हि नैरुक्ताविति ।

' यदैवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तदैवता भवन्ति ' इत्येवमादीनामपरो

' यदैवतः ' व्याख्यामार्गः । ' यदैवतः स यज्ञः ' । यदे-
वतं प्रधानं हविः । तद्यथा । प्रकृतावैन्द्रं
इत्यादेरपरा व्याख्या सान्नाय्यं माहेन्द्रं वा (तै० सं० २ । ५ । १५
३—४) । तत्संस्कारपरा इत्येवादयः (सर्वास्तु

यज्ञःसंहितासु) । तेऽनाविष्कृतदेवतालिङ्गा ऐन्द्रा एव भवन्ति माहेन्द्रा वा ।
यदैवते वाधिकारे चोदकेन प्रदिश्यन्ते तदैवता एव भवन्ति । तद्यथा ।
' कुविदङ्ग ' (ऋ० सं० १ । १३१ । २) इति प्रजापत्यग्रहणे
विनियोगाद्यौजापत्य एव भवति (भैत्रा० सं० १ । ११ । ४) । २०
' यज्ञाङ्गं वा ' इत्याधाराद्यभिप्रायेण । ' ऋक्भोऽसि शाक्वरः ' (भैत्रा०
सं० १ । १० । १२) इत्यनाविष्कृतदेवतालिङ्गः पूर्णस्तुनासादनमन्त्रः
सौवे विनियोगात् । तस्य च प्राजापत्यवाप्यौजापत्यः ।

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'इति हि १०'. २ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड.
ह. ३ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. नैरुक्ता इति तत्रे. ४ ग. ज. कार्यक. ५ ग.
ज. यदैवतः. ६ ग. ज. प्रजा; च. प्रजा० या. ७ ग. ज. प्रजा. ८ ग. ज.
पूर्णः सुगता; च. पूर्णः सुगता वा. ९ च. प्रजा० या.

‘अथान्यत्र यज्ञात्’ । कान्यत्र यज्ञान्मन्त्राणां विनियोगः । उपाक-
 रणप्रत्ययज्ञजपप्रादधिक्येणु नैष्टिकप्रहाचारिणश्च ।
 ‘अथान्यत्र यज्ञात्’ इत्यस्य
 ‘पो ह वा अविदितार्थेयच्छन्दोदैवतत्राहणोत्र
 मन्त्रेण योजयति वाच्यापयति वा स्थाणु वैच्छति
 गैत्रे वा पतति प्र वो मीयते यातयामान्यस्य
 छन्दामि भवन्ति’ (आर्येयब्राह्मणम्) इति प्रत्ययापश्रवणात्सर्वत्रान्वेष्या
 देवतोत्पारम्भव्यमथान्यत्र यज्ञादिति ।

‘प्राजापत्या इति याज्ञिकाः’ । प्रजापतिस्तेपूजाकरणादिकर्मसूपास्य
 ‘प्राजापत्या इति याज्ञिकाः’ इति याज्ञिका मन्यन्ते स हानिरुक्त इत्य-
 १० ‘नाराशंसा इति नैरुक्ताः’ निरुक्ततासामान्यात् । ‘नाराशंसा इति
 नैरुक्ताः’ । सौर्या वा आग्नेया वेति ।
 ‘अपि वा कामदेवता’ ‘अपि वा सा कामदेवता स्यात्’ ।
 अनादिःकृन्नेदेवतालिङ्गे मन्त्रे वा विचार्यते देवता कारिदन् देवता स्यादिति
 सा कामतः कल्प्या । इच्छात इत्यर्थः । गुणपदमयात्तस्य । न मन्त्र-
 वाक्पसामर्थ्यादेरता नियम्यते तत्र । किं तर्हि । प्रयोक्तुरेऽस्सामर्थ्यात् ।
 १५ अथवा । प्रयोक्ता यन्कामस्तं मन्त्रं प्रयुञ्जे तस्य कामस्य वा देवताविप-
 तिर्स्तानेन तस्मिन्निमित्तं दधीत । ‘प्रायोदेवता वा’ इति समानमेव पूर्वेण ।

‘अपि सदेवता देवतावत्सूयन्ते’ । ‘यत्काम ऋषिर्यस्या देवता-
 यामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते’ इति मन्त्रदे-
 २० अदेवता देवता- वताच्छ्रवणमुक्तम् । तदुपपद्यते देवतानामार्थ-
 वास्तूयन्ते पत्यसंश्रद्धात् । अनाविच्छ्रितदेवतोत्पति मंविज्ञा-
 तपदाभावाकल्पते देवता कामस्याविपतिरपि ।
 यत्र तु सुष्टमदेवता देवतावत्सूयन्ते ननु तत्रैतच्छ्रवणं व्याह्रियते । तद्यथा ।
 ‘अद्वयमभूतीत्योपधिपर्यन्तानि’ (निघ० ५ । ३) । एतस्मिन्वर्गे कानि-
 २५ तानि च पुनरासन्नमर्थं चेतयन्ते नातीतं नातागतमिति । आत्मनेऽपि च
 रिताहितं न प्रतिपद्यन्ते । तानि कथमभिष्टुताभि स्तोत्रमिदमवस्यार्थस्य

१ क ल. च. झ. ट. ठ. ड. यज्ञान्मन्त्राणां मन्त्रा°. २ च. यजति यज्ञ°.
 ३ ग. च. ज. वा पतति. ४ ग. ज. गर्ग वा पतति; च. गतं वा पतति.
 ५ ठ. ड. ‘वा’ नास्ति. ६ ग. च. ज. ‘तादेव’ नास्ति. ७ ग. च. ल. ग.
 ८ ग. ट. ठ. ड. ‘मिच्छन्तु’. ९ ग. ‘न्तानि । एत°. १० च. ‘पर्यन्ते’ ते.

पतिव्यं करिष्यन्ति । न हि तानि स्तुतिनिन्दे विशेषतो विदुः ।
अपि चादनादिषु चिच्चिरपि काचिदस्ति । न त्वक्षादिष्वसावस्ति ।
तस्माच्छिष्यो भेधावी 'न मन्येत' न जानीयात्सम्पगविरुद्ध-
मेतद्भ्रूय्येण लक्षणमुच्यते इति । अपि च सुतरां न मन्येत ' आगन्तूनि-

बाधां देवतानां ' मन्यमानः । अत्रेते तावदेते ५

आगन्तव एतेऽ- मनुष्याणामनिलामामश्वादयोऽर्था आगन्तवोऽ-
र्था अश्वादयः । तस्मा- पायिनश्चानिभ्याः । तदादि देवतानामप्येवमेव
स्तुतिरयुक्ता ततस्तासां तेषां चानित्यत्वात्स्तुतिरनर्थिका ।
अपि च । ' प्रत्यक्षदृश्यमेतद्भवति ' । मन्यश्चत

एवैतद्दृश्यते । यथोपकरणमश्वादय उपरुर्तव्या मनुष्याः । देवतानामपि,
चेन्द्राग्निसूर्यप्रभृतीनामुपकरणं हरिरोहिदरित्प्रभृतयोऽश्वाः । तस्माद्गमये-
षामुपकरणोपरुर्तव्यतासामान्यान्मनुष्याश्चवदन्तित्वात्तमिति युक्तम् । यत्स
शिष्यो न मन्येत नैतत्संभ्यगमिधीयत इति तस्मात्प्रतिपत्तमाघातव्यमेतदि-
त्युपोद्बल्योत्तरमुच्यते । ' माहाभाग्यदेवताया एक आत्मा बहुधा स्तूपते '

नायुक्ता देवतानां

यस्मात्तस्मात्सर्वमेतत्सम्प्रागिति । भजयत इति २५

माहाभाग्यात्

मागः । सेवयत इत्यर्थः । तन्न पुनैश्वर्यं
महत् । ' अणिमा महिमा लपिना प्राप्तिः
प्राकाम्यमेव च । ईशित्वं चै वशित्वं च यत्र

कामावसायिता ' इत्येवमनेन महत्तैश्वर्येण भजयत महदेतैश्वर्यं भजत
इति वा महाभागा देवता । तद्भावो माहाभाग्यम् । तस्मान्माहाभाग्याद्देवतैरे-
कोऽपि सन्देवतामा बहुधा स्तूपते प्रकृतिभेदेनापेकृतिभेदेन वा वर्ध-
मानः । निगमोऽपि हि मरत्यैश्वर्यप्रख्यापको ' रूपं रूपं मद्यत्र गोम-
वीति ' (ऋ० सं० ३ । ५३ । ८)

देवतानानात्वं निग-

दीया । यथा च उच्यते तथा लक्षणं प्रवर्तिषुम-

मेन प्रस्थाप्यते

हति दृष्टानुविधागात्तन्दसः । छन्दसि हि उच्ये २५

१ अ. विधिः. २ क. ल. 'वति' । ४ । अथा' ; ग. ज. 'वस्तीत्युक्त तस्मा' ;
३ क. ल. प. झ. ट. ठ. ड. तस्मात्स शिष्यो. ४ ग. च. ज. ड. 'थो दे' ; ठ.
'मादे' । ५ क. स. प. झ. ट. ' च ' नास्ति. ६ ग. ज. वा. व. वो' च.
७ अ. ' च ' नास्ति. ८ क. स. प. झ. ट. ड. महदेश्व' ; च. महदेश्व' दे.
९ क. ल. प. झ. ट. 'देन वा अत'. १० क. ल. प. झ. ट. ठ. ड. 'वीनि ।
पथा पथा' ; ग. ज. 'वीनि पथा । पथा च', च. 'वीनि'. पथा च' पथा.
११ प. ड. ठ. ड. ' वि ' नास्ति.

नानात्वे देवतासं-
वादः प्रमाणम् । हवि-
र्वहनादिकर्माणि च

यावदभिधानं देवतानानात्वविधिष्यवस्था । संवा-
दसूक्तानि च कयाशुभादीनीन्द्रमरुदादिसंवा-
दव्यपदेशहेतुना गमयन्ति । तदशक्यमयासितुम् ।
तथा त्रिस्थानानां यान्यसंकरवर्तीनि हविर्वहन-

- ५ रसानुप्रदानरसादानलक्षणान्यग्नीन्द्रसूर्याणां कर्माणि लिङ्गान्यर्थदर्शनहेतूपवृ-
हितानि त्रित्वं गमयन्ति तदशक्यमयासितुम् ।
नानात्वनिरासादै- तथा चैकात्म्यम् ' इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमौद्दुः '
कात्म्यम् (ऋ० सं० १ । १६४ । ४६) इत्येवमादयो
गमयन्ति निगमाः । तदप्यशक्यमयासितुम् ।

- १० त्रिष्वपि चैतेषु पक्षेष्वैश्वर्यमपरिहीणं देवतायाः । तत्रैवं सत्यै-
कात्म्यं तावदाश्रित्य प्रतिसमाधानम् । माहाभाग्यादेकस्य देवतात्मनः
प्रकृतिभेदेन वाप्रकृतिभेदेन वेति । चेतनाचेतन-
अङ्गाङ्गित्वं नाना- विकरणधर्मिणाद्रात्मानं विकुर्वतोऽस्यान्ये देवाः
त्वस्य हेतुः प्रत्यङ्गानि भवन्ति । अग्नीन्द्रसूर्याणां परस्वरापे-

- १५ क्षमन्यत्वम् । अनन्यत्वमेकेन देवतात्मना महता
सह । यथा घटादीनां मृदा । न ह्यङ्गिनमङ्गानि व्येतिरिच्यन्ते भेदेनाग्रहणात् । न
एकत्वस्य च र्वङ्गान्यनपेक्ष्य प्रत्यङ्गानि भवन्ति । न ह्यधिष्ठा-
नमनपेक्ष्य प्रत्यधिष्ठानं नाम भवति । तस्माद-

- अग्नीन्द्रसूर्या एकस्य देवतात्मनोऽङ्गानि जातवेदेधातुभगप्रभृतीनि शकुन्पश्यप्रभृतयश्च ।
प्रत्यङ्गानि । स एव महानात्माग्नीन्द्रसूर्या-
२० फान्यङ्गानि कानि अङ्गप्रभृत्तमतेन च्छूदन्त्युभयनेत्रोऽपि सन्त्यहया
प्रत्यङ्गानि च स्तुयते ।

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. तदपि चार्शुः; ख. तदु-शं पि चा. २ क. रा.
घ. ङ. ट. ठ. ड. 'मङ्गिमित्पादयो'. ३ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'धानम् ।
एकरयामनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति । माहा'; ग. न. 'धानम् । महा'; ख.
'धानम् । - महा' एकस्वात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति । ४ क. ख.
घ. ङ. ट. ठ. ड. 'न्यत्वं त्वेके' ५ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'द्वान्यनि'. ६ क.
१८ ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'न चाहा'; ख. न चाहा' वा.

‘अपि च’ एवं कृत्वा ‘सत्त्वानाम्’ अत्रादीनां ‘प्रकृतिभूमभिः
 ऋषयः स्तुवन्तीत्याहुः’ । प्रक्रियन्तेऽस्यां सर्वे
 सत्त्वानां स्तवैः विकारा इति प्रकृतिः सत्तालक्षणो महानात्मा
 प्रकृतिरेव स्तुयते हिरण्यगर्भ इति । वक्ष्यति हि । ‘स एव महा-
 यस्मात्तानि प्रकृतेर-नात्मा सत्तालक्षणस्तत्परं तद्ब्रह्म स भूतधना
 भिन्नानि’ सैषा भूतप्रकृतिः’ (निरु० १४।३) इति ।
 तस्या भूमा बहुत्वम् अनेकधा त्रिपारणामः
 स्थावरजङ्गमभावेन । प्रकृतेर्भूमानि बहुत्वानि यानि सत्त्वानां तेरनन्यविप-
 यत्वं पश्यन्तः कार्यकारणयोरनन्यत्वात्कारणमहिममिस्तान्यदनादीन्यभिष्टु-
 वन्तीत्याहुरात्मविदः । तद्यथा । ‘यौस्ते पृथुं पृथिवी संधैस्थमात्मन्तरिक्षम्’
 (मैत्रा० सं० २।७।२) इत्येवमादीनि । आत्मैव सर्वं स्थावरजङ्गममित्यवेत्या-
 इवमेधे ‘मूलेभ्यः स्वाहा शाखाभ्यः स्वाहा’ (मैत्रा० सं० ३।१२।७)
 इत्येवमादिभिस्तेन तेन वैशेषिकेण स्थावरजङ्गमामना प्रकृतेरभिन्नेनावस्था-
 नेनावस्थितो महानेवात्मैव्यते । न अदेवता यागमर्हति । यावच्चान्यदपि
 किञ्चिदंधं प्रकारमेवतामिमतामिष्यते गृह्ये च बलिप्रभृतिरुर्धादौ सर्वत्र स
 एवेत्युपेक्ष्यम् ।

‘प्रकृतिसार्वनाम्न्यैश्च’ एतदुपपन्नं नैता अदेवता देवतायस्तुयन्ते
 किंतु महान्देवा त्रिविधरूपः स्तुयत इति । प्रकृ-
 तिसार्वना-तिसार्वनाम्न्यैदिनि । नतिमात्रं नाम नमनं संज्ञी ।
 म्यादेतदुपपद्यते सर्वत्वेन नाम सर्वनाम । प्रकृतेः सर्वनाम प्रकृ-
 तिसर्वनाम । तद्भावः प्रकृतिनार्वनाम्न्यम् । तस्मा-
 द्प्रकृतिसार्वनाम्न्यैद्वेतोः । यस्मान्माहाभाग्ययुक्ता देवता प्रकृतिर्यस्माच्च
 सर्वत्वेन नता तस्माद्वेतोर्नैता अदेवता देवतायस्तुयन्ते ।

अपि चैतद्यदैर्भिहितम् ‘आगन्तूनिवार्थान्मन्यमानो हरिरोहिद्व-

१ अ. ‘अपि सर्वे’ २ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. ‘कृतिः स सत्ता’ ३ ग. ज. ‘कृतिर्भू’; च. ‘कृतिभू’ ते ४ अ. कार्यकर. ५ क. रा. घ. ङ. ट. ठ. ड. शरीरमात्मा; च. संधैस्थमा शरीर. ६ ग. ज. ‘तेन’ सङ्घदेव; घ. ‘स्तेन’ वै० तेन. ७ ग. ज. ‘कृतिर’; च. ‘कृतिर’ ते. ८ ग. ज. ‘स्तुयन्ते’ एत् । मङ्ग; ‘स्तुयन्ते’ । ९ प. प. १ क. ग. घ. ङ. ट. ठ. ड. ‘नाम्न्यम्’ १० क. ख. घ. ट. ठ. ड. महानेवायमात्मा विषयाः स्तु. ११ च. ‘नमनं नं सज्ञा. १२ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. नाम्ना. १३ क. ख. ग. घ. ङ. ट. ठ. ट. ड. ‘स्तु’ नाम्नि.

रितादीनीन्द्रादीनां मनुष्याश्च वदनित्यत्वमत्रेत्य न सम्यगभिधीयत इति

स न मन्येत' इत्यत्र ब्रूमः । मनुष्यधर्मवि-

देवताधर्मो मनु-

ष्यधर्माङ्गिनः

परीता हि देवताधर्मोऽनैश्वर्यान्मनुष्याणामैश्वर्याच्च

देवतानाम् । तत्कथमिति । यतो भेदमाश्रित्य

प्रतिसमाधीयते । ' इतरेतरजन्मानो भवन्ति ' ।

इतरेतरप्रकृतयो देवा ऐश्वर्यात् । न मनुष्याणामियं शक्तिरस्यनैश्वर्यात् ।

मनुष्याणां हि पिता पुत्रं जनयतीति पिता

देवा इतरेतरज-

न्मानो भवन्ति

प्रकृतिः । न पुनरिच्छन्नपि पुत्रः पितरं जन-

यति । देवतानां तत्रैः सूर्यो जायते । ' एष

प्रातः प्रजुयति ' (भैत्रा० सं० १ । ५ । ७)

इति है विज्ञायते । तस्मात्सूर्यस्याग्निः प्रकृतिः । सूर्याच्चाग्निः सायं जायते ।

तस्मादग्नेः सूर्यः प्रकृतिः । अदिनेर्दक्षो दक्षाच्चादितिरिति (ऋ० सं० १० ।

७२ । ४) । अथाध्यात्मेषु ' कोष्ठयदग्नेर्नाद इन्द्रो बलादिन्द्रान्मध्यमानोऽग्निः'

इत्येवमादि । स एष सर्वथाप्यचिन्त्यो देवताधर्मः । तासामानन्त्यान्मोहाभा-

ग्यस्य । तत्रैवं सर्वशक्यमध्यवसातुं यथा मनुष्या-

णामागन्तवोऽश्वादयस्तथैव देवानामपीति । त-

स्मादोपानुपपत्तिरनागन्तुः साहेसाश्वादीनामिति ।

अथ किमर्थमीश्वराः सन्तो देवा जायन्त इति । कर्मजन्मानः । कर्म-

फलसिद्धये लोकस्याग्निवायुसूर्या जायन्ते । न

ह्येनेभ्य ऋते लोकस्य कर्मफलसिद्धिः स्यात् ।

विद्यमानमपि चैश्वर्यमैश्वर्यवति न प्रह्वयतिमि-

यादीशितव्यमर्थमप्रतीत्य । तस्मादैश्वर्यप्रस्थापनाय जायन्ते कर्मफलसिद्धयै

लोकमनुजिघृक्षन्तः । पुनः पुनर्जायन्ते ।

' अत्मजन्मानः ' । योऽमी ' एक आत्मा बहुधा

स्तूयते ' इत्युक्त उपपत्तिसर्वमूर्तः स्थितावुपरतसर्व-

मूर्तिः प्रलये भावास्तः सन्मानः सर्गकाले पोट्वात्मानं विभज्य जगद्भावं विभक्ति

१ क. ख. प. स. ट. ठ. ड. दुर्गाना. २ क. ख. प. स. ट. ठ. ड. सूर्याऽ-

जायत; च. जायते° अजायत. ३ प. प्रमुषव°; ट. प्रमुषति° स; ग. च. ज.

ठ. ड. प्रस्यति. ४ च. दि. ५ च. संजायते. ६ ठ. ड. अदिनेर्दक्षो अजायत

दक्षाददितिः परीति मन्वन्तत्वात् । अथाध्या° ७ ग. ज. अथाध्यात्मनेपि कोष्ठाद्°;

च. स. ट. ठ. ड. ' अथ ' नास्ति. ८ क. ख. च. ' न्यान्महा°. ९ क. ख. प.

स. ट. ठ. ड. देवताना°. १० क. ख. प. स. ट. ठ. ड. देवता. ११ ग. ज. आत्मनः

१२ क. ख. प. स. ट. ठ. ड. इत्युपपत्तः सर्व°; ग. ज. इत्युपपत्तः (च. इत्युपपत्तः)

१३ सर्वमूर्तिः विद्या°; च. इत्युक्त-पाठ० ट.

तस्माज्जायन्त इत्यात्मजन्मानः । क एव तस्मान्न जायत इति चेत्सत्यं

कामकारेण देव-
तानां जन्म अकाम-
कारेणेतरेषाम्

सर्वं तस्माज्जायते । न कामकारेण । देवास्तु तमा-
त्मानं पश्यन्तो योगेन ततः कामकारतो जायन्ते ।
किमेषां जन्म । यदेषामिच्छतां संकल्पानुविधा-
यिकर्मनुरूपं यथाकालमात्मनः कार्यकारणमुप-
यते तदेषां जन्म । तदनीश्वरणां नास्ति ।

यतश्चेश्वरास्ते तस्मादात्मनस्तसंकल्पानुविधाविच्चात् ' आत्मैवैषां रथो भव-
त्यामाश्वा आत्मायुधमात्मेभ्य आत्मा सर्वं देवैस्य देवस्य ' । तत्र यदुक्तम्

रथादिसर्वमालैव

' अश्वादीनि मत्त्रान्यक्षरथप्रभृतीनि च द्रव्याण्य-
देवताः ' इत्येतदयुक्तम् । देवता एवेमाः ।
रथादिरूपेण हि देवतैवात्मानं विकृत्य प्रकृति-

भेदेन रथादिसाध्यमर्थं साधयति । सा तद्द्रव्यं सती रथादिस्तुत्या स्तूपते
सौ तस्त्वृत्तिसमवेतमर्थमाशासितं स्तोतुस्तेनैव रूपेण साधयितुमलमिति ।

तस्मात् ' महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि ' (नि०
६० ७ । ५) । तासामेव तिसृणामग्न्यादीनां महाभाग्यादेश्वर्ययोगादा-

एकैकस्य माहा-
भाग्याद्बहुनामधेयत्वम्

त्मानमनेकधा विकृतीनामेकैकस्याः प्रतिविकारं
नामधेयप्रतिलम्भात्तेनैव रूपेण धारयन्त्यात्मान-
मिति ' यकाम ऋषिर्यस्या देवतायामार्धपत्यमि-
च्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते ' इत्यस्य लक्षणस्याव्या-

घातः । तस्मात्सम्यगोक्तमिति । अथवा । स्तुतिसंक्रमन्यायेन चतुर्द-

तेन 'यकामः०'
इति लक्षणं युक्तम्

शेषव्याये ' यज्ञसंयोगाद्राजा स्तुतिं लभेत '
(निर० ९ । ११) इत्यत्र पुनः प्रति-
समाधास्यामहे ॥ ४ ॥

द्वादशाध्ययस्य प्रथमः पादः ।

१ क. ख. घ. झ. ट. तदेवैषा. २ क. ख. झ. ' देवस्य ' सङ्घे. ३ ग.
ज. विष्णुत्प. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. सा ' च स्तु'. ५ च. मा. ६ ग. न.
विदुर्पन्ती. ७ ग. च. झ. ट. ठ. ड. ' निष्कण्डस्तु'. ८ घ. झ. ट. निरुक्तीकार्या
दादशास्य मं, ठ. इति निरुक्त्वृत्ता आदिनः द्वादशास्य उत्तरपदस्यमाप्यासाय
चतुर्थः खण्डः ४४४, ड. इति निरुक्तीकार्या द्वादशाप्यासाय प्रथमः पादः । इति
नैऋत्योपरखण्डे प्रथमाप्यासाय चतुर्थः खण्डः ४४४ ॥

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ता अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो
 वान्तरिक्षस्थान. सूर्यो द्युस्थानस्तासां माहाभाग्यादेकैकस्या
 अपि बहूनि नामधेयानि भवन्त्यपि वा कर्मपृथक्त्वाद्यथा होताध्व-
 १ सुर्व्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतोऽपि वा पृथगेव स्युः पृथग्वि स्तुतयो
 ५ भवन्ति तथाभिधानानि यथो एतत्कर्मपृथक्त्वादिति बहवोऽपि
 विभज्य कर्माणि कुर्युस्तत्र सस्थानैकत्वं संभोगैकत्वं चोपेक्षितव्यं
 यथा पृथिव्यां मनुष्याः पशवो देवा इति स्थानैकत्वं च संभोगैक-
 त्वं च दृश्यते यथा पृथिव्याः पर्जन्येन च वाय्वादित्याभ्यां च
 संभोगोऽग्निना चैतरस्य लोकास्य तत्रैतन्नरराष्ट्रमिव ॥ ५ ॥

१०

‘ तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः ’ । अत्रोपोद्घात. । ‘ सैषा देवतो-
 पपरीक्षा ’ इत्यधिकारे वर्तमाने ‘ यत्काम ऋषिः ’ इत्येवमादि मन्त्रदेवता-
 लक्षणमुक्तम् । तत्पुनरदेवतात्वादश्वादीना ‘ मा नो मित्रो धरणो अर्धमायुः ’
 (ऋ० सं० १ । १६२ । १) इत्येवमादिषु व्याह्वयमानमपेक्ष्य ‘ स
 १५ न मन्वेत ’ इत्येवमादिनाक्षिते ‘ माहाभाग्यादेवताया एक आत्मा बहुधा
 स्तूयते ’ इत्येवमादिना ‘ पुरश्च एवेद सर्वं यद्भूत यच्च भव्यम् ’
 (ऋ० सं० १० । ९० । २) इत्येवमादिभ्यो
 मात्राव्ययः ‘ अथातो विभूतयोऽयं पुंसस्य ’ (ऐत० आ० २ ।
 १ । ७) इत्येवमादिभ्यश्च ब्राह्मणेभ्यः ‘ एष इन्द्र एष प्रजापतिः ’ (ऐत०
 २० उ० ३ । ३) इत्येवमादिभ्यश्चेत्ताभ्ये सामर्थ्यमुज्जीया मन्थिपक्षेणा भैवेदं

सर्वमिन्मैत्रात्म्यमुक्तम् । आ मन्दिदा द्वात्म-
 आमत्रिपक्षेणै-
 कात्म्यम्
 न्युपजातमिच्छिभावनानामासनरीरस्थानाममम-
 यमेवेद सर्वमनुपश्यन्नाम मर्थ. सर्वो वेदोऽन्या
 च सर्वो यक् । न एतामनोऽन्यद्दृष्टानिरिक्तम-

भिधेयमस्ति सत्त्वाविशेषाद्यदभिधानग्रभिदध्यात् । अथ पुनरुपक्रमः

पुरुषार्थस्य प्रथमनिश्रेणाफलकास्थानीयेन केवले-

पुरुषार्थस्योपक्रमो नाधियज्ञेन । तत्र चावधानेऽधिदैवता । अध्यात्म-

यज्ञेन । याज्ञिकयज्ञे ज्ञानं किञ्चिद्विदुषः पृथगात्मनो देवताः प्रथमः

देवतानान्तरम् परिच्छिन्नफलाभिप्रायस्याधियज्ञं प्रयुञ्जमाणस्य

पूर्वजन्माविद्यावासितान्तःकरणस्याभिधानरूपति-

भेदाभ्यां विधिमन्त्रार्थवादविचारवशेन यथाग्रहं पृथगिव देवताः प्रकाशन्ते ।

तदुक्तम् ' अथ योऽन्या देवतामुपास्तेऽन्योऽस्मान्न्योऽहमस्मीति न स

वेद ' (बृह० उ० १ । ४ । १०) इति । तदाह ' आत्मयाजी श्रेया

इन् देवयाजी इत्यात्मयाजीति ह ब्रूयात् ' (शत० ब्रा० ११ । २ । ६

१३) इति । तदेवं ब्रह्म देवतावृक्षस्य मूलमैकाल्प्यमामिदः प्रत्यववामते ।

नैरुक्तपक्षे त्रिवम् यावदभिधानं तु याज्ञिकान्प्रति त्रिविधाप्रधा-

नान् । यच्चावशिष्यते तन्नैरुक्तान्प्रत्यववामते ।

अत इदमुच्यते ' तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः ' ।

तिस्र इति संख्या । एवेत्यवधारणमितरौ पञ्चावपेक्ष्य । कतमास्ता इति ।

' अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वन्द्रे वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो ह्यस्थानः ' ।

कपोपपत्त्या त्रिवं पारिजगृहः । स्थानभेदाप्रत्य-

क्षलिङ्गादन्यार्थदर्शनाच्च । लिङ्ग द्वि भवति ' विश्व-

कर्मा ह्यजनिष्ट देव आदिन्द्रं चर्यो अभवेद्द्वि-

तीयः । तृतीयः पिता जनिती प्रथीनामसा गर्भं व्यदधात्पुरुत्रा

(य० वा सं० १७ । ३२ । तै० सं०

४ । ६ । २) इति ' अत्रस्य

१ ग. ज. 'निमयणी'; च. 'निधेयणी'; ठ. ड. नि धेणी २ ग. ज.

किञ्चाविदुषः ३ घ ट. प्रयुञ्जमाणस्य, ठ ड प्रमुञ्जमाणस्य. ४ क. ख. घ. झ.

ठ. ड. 'विद्यारसेन, ट. 'विद्यारसेन वशे. ५ क. ख. घ. झ. ट. 'याजीवेया'; २५

च. इवेया; ठ. ड. 'याजी वेत्या'; 'नहस्मिन्नपि पुनरेष्टुतिचिद्रे विद्वे.

६ ग. ज. ' इति ' नास्ति ७ ग. ज. 'त्रिविधानर'. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ.

ड. 'प्रधानात्; ग. ज. 'प्रधानान्मध्यमोऽवशि', च. 'प्रधानान्' त्. ९ ग. ज.

स नैः. १० क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. लिङ्ग त्रिधा दि, च. लिङ्ग द्वि-न' त्रिधा.

११ ग. ज. अभवो दि'. १२ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. इयम । अत्'; च.

इति । अन' एवम्.

नाभावधेकमर्पितम् (ऋ० सं० १० । ८२ । ६) इति । अन्यार्धदर्शनाच्च । ' प्रजापतिर्वै श्रीन्महिम्नोऽसृजताग्निं
अन्यार्धदर्शनाच्च वायुं सूर्यम् ' (मैत्रा० सं० ४ । २ । १२)
इति । ' प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितसेभ्यो

- ५ रसान्प्रावृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षासूर्यं दिवः ' (छान्दोग्योप० ४ ।
१७ । १) इति । ' अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः
सूर्यो युस्थानैः ' । ' तिस्रः ' इति प्रकृतैः स्वरूपप्रहणात्स्थानभेदं त्रित्वे
हेतुमुपसंसूचयति । कुतो नियमोऽन्यादीनां
अन्यादीनां स्था- पृथिव्यादिषु । निगमेभ्यः । ' पृथिव्यासि जन्मना
१० नवैशिष्ट्ये निगमः वशा साग्निं गर्भमधत्थाः अन्तरिक्षमसि जन्मना
वशा सा वायुं गर्भमधत्थाः द्यौरसि जन्मना
वशा सादित्स्वं गर्भमधत्थाः ' (मैत्रा० सं० २ । १३ । १९) इत्ये-
वमादिभ्यो निगमेभ्यः ।

' वायुर्वेन्द्रो वा ' इति किमेकस्य पर्यायवचनावेतौ शब्दावुताभि-

- १५ वायुर्वेन्द्रो वेति कि- धेयो भिद्येते इति । कुतः संदेहः । उभयथा
मर्थो विकल्पः । हि प्रसिद्धिः । प्रत्यभिधानं चार्थभेदो दृष्टो गौरव
इति यथा । अभिधानभेदेऽपि चैकार्थता दृष्टा
हस्तः करः पाणिरिति यथा । अतो युक्तः संशय इति । याज्ञिकपक्षे
तावदोपः । अर्थभेदेऽपि तेना यावन्त्यभिधानानि तावैत्यो देवताः । अस्य
२० पुनराचार्यस्य स्वसिद्धान्तावलम्बिनः ' तिस्र एव देवताः ' इति प्रतिज्ञा ।
ततः कुतो वायुर्वेन्द्रान्द्र्योर्धर्भेदः । भेदे हि प्रतिज्ञादानिः स्यात् ।
अपि च भेदेऽभिप्रेते नैकवचनेन निरदेक्ष्यदन्तरिक्षस्थान इति । अभिधान-
पार्थभेदेऽपि भेदेऽप्यस्य आभेदेऽन्तरिक्षमभ्य स्थानमित्युर्ध्वान्तरेष्वेकवचने
विशेष्योऽन्तरिक्षस्थानसाम्येन विशेष्यने । इतरथा एन्तरिक्षस्थानाविन्य-
२५ र्थेऽप्योर्विशेष्ययोः । अपि च ' वायवा याहि दर्शनं ' (ऋ० सं०

१ क. स. ग. ज. ट 'न्यापृष्ट' ; ख. 'न्यापृष्ट' कृ. १ क. स. ग. झ. ट.
ठ. ड. 'स्थान इति । तिस्र' ; ख. 'स्थान- तिस्र इति. १ ग. ज. प्रज्ञानेः ; ख.
प्रज्ञानवत्'. ४ ग. ख. ज. गुरो. ५ ग. ज. तावन्त्यो ; ख तावै दो' वं. ६ घ.
झ. ट. ठ. ड. 'ज्ञानवत्तः कु' ; ख. 'ज्ञा तिस्र' व. ७ क. स. घ. झ.
ट. ठ. ड. 'मात्रे भिद्येऽप्य'. ८ क. स. घ. झ. ट. ठ. ड. 'तदुपपत्ते. दृष्टये' ;
ख. 'तदुपपत्ते' पत्तेः. ९ क. स. ग. ज. घ. झ. ट. ठ. ड. 'वचनो वि'.
१० क. स. ग. ज. 'तत्ररददत्' ; ख. 'तत्ररददत्' इव.

१ । २ । १) इति वायोः प्राधान्यस्तुतिमुदाहृत्य (निरु० १० । २)
तां निरूप्य तस्यां सोमपानसंबन्धमुपलक्ष्यैन्द्रत्वं च सोमस्यावेत्य 'अंशुरंशुष्टे'

पर्यायौ वाचिन्द्रशब्दौ इत्येतस्मिन् 'आ त्वमिन्द्राय प्यायस्व । तुभ्यमिन्द्रः
प्यायताम् ' (मैत्रा० सं० १ । २ । ७)

इति नान्यत्रेन्द्रशब्दान्मुख्याभिसंबन्धिनो मध्यमा-

सोमपानं संभवतीति प्रतीत्य वायुशब्दस्येन्द्रशब्देन समानार्थतां दृढमवधार्यामृष्यमाणो वायुशब्दस्य मध्यमादर्धान्तरे वृत्तिमपर्यायशब्दत्वादिनमाक्षिप-

चाह 'कमन्थं मध्यमादेवमर्क्षयत्' (निरु० १० । २) इति । उत्तरमपि च यमुद्राजहार निगमं ' तस्यैषा परा भवति ' (निरु० १० ।

२) इत्युपोहस्य तैस्मैन्द्रादेव सूक्तात् ' अस्मैन्द्रस्य पापोर्वधा भक्षो
न विदस्येत्तथैनमेवमभिवहेद्युः ' (निरु० १० । ३) इति वायुशब्द-

स्येन्द्रविशेषणत्वं प्रतीत्येन्द्रप्रधानत्वात्सूक्तस्य ' वेन्द्रैः ' उपात्तस्तस्मादाचार्यस्य
मध्यमपर्यायवचनावेत्ती शब्दाविति । सत्यपि पर्यायवचनत्वे मुद्ध्यतरः

संबन्धो मध्यमस्येन्द्रशब्देन न तथा वायुवरुणरुद्रादिभिः । तत्कृतः ।

मध्यमस्य मुख्य-
तरः संबन्ध इन्द्रेण
न वाधादिभिः

तथा निगमे दर्शनात् । ' सा प्रथमा संच्छतिः'
(मैत्रा० सं० १ । ३ । १२) इत्येतस्मिञ्छु-

क्तामन्थिनोर्हवनमन्त्रे ' यो मध्यमो वंरुणो मि-
त्रोऽग्निस्तस्मा इन्द्राय मुतमा जुहोत ' (मैत्रा०
सं० १ । ३ । १२) इति वरुणादीननुक्रम्य

विशेषतश्चतुर्थ्यन्तेनेन्द्रशब्देन संप्रदानेन संबन्धाति 'तस्मै' मध्यमाय इन्द्राय
इति । तस्मात्संप्रदानेन सामानाधिकरण्यान्मन्त्रान्ते मध्यमशब्देनेन्द्रशब्दयोर्मु-

द्ध्यतरः संबन्ध इति गम्यते । यथास्यै मध्यमस्य ज्योतिषो मुख्यः संबन्ध
इन्द्रशब्देन तथेतरयोरपि पार्थिवोत्तमयोरग्निस्पर्शशब्दाभ्याम् । प्रसिद्धतर-

त्वात्संबन्धस्य । न तथेतरैर्जातपेदःप्रभृतिभिः । सैति गौणमुद्ध्यत्वे शुक्तं

१ क. ख. घ. झ. 'शब्दस्य; ट 'शब्दैस्सै' ष्देन. २ ग. 'मध्यसदि'; घ. २५
'मवशोक्ते' इप; ज. 'मवसदि'. ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. एतस्मा'; घ.
'तस्मा' ९. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. अस्मैन्द्र'. ५ क. ख. घ. झ. ट.
वेन्द्रः; घ. वेन्द्रः; वे. ६ ग. ज. मम प'. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. सत्यपि
तु प'. ८ ग. ज. ममस्ये. ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. सा प्रथमा संच्छतिर्विश्व-
धारा स प्रथमो मित्रो वरुणो अग्निः । स प्रथमो वृक्षपनिभिकित्वांस्तस्मा २ इन्द्राय
सुभमाहुतेन त्वाहा । सा प्रथ'. १० क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'अस्य' नास्ति;
घ. अस्मै. ११ क. ख. ग. न. घ. झ. ट. ठ. ड. सति च गो'; घ. सति
गो' घ.

यदन्वयभिधानेन प्रसिद्धतरसवयेन पार्थिवस्य उद्योतिष उपदेशः क्रियते न जातवेद प्रभृतिभिः । तद्योत्तमस्य सूर्यशब्देन न सवितृभगप्रभृतिभिरिति ।

कस्मात्पुनर्मध्यमस्य शब्दद्वयेनोपदेशः क्रियते पार्थिवोत्तमयोरेकैकेनेति ।

५

मध्यमस्य शब्द द्वयोरनित्यदर्शन एको विद्युदाश्वाद्यौ ।
द्वयेनोपदेशे प्रयोज वाश्वाद्यप्रस्तरगिन्द्रियप्रत्यक्ष । तत्कथं नाम
नम् त्रिष्वपि स्थानेष्वभिमानिन्यो देवता कर्मात्मभि-
रवैपम्येण प्रत्यक्षत उपदिष्टा. स्युरित्यतो 'वायुर्म-

१०

ध्यमस्थान' इति वाश्वाद्येन कर्मात्मना मध्यमस्थानमुद्दिश्यामुपपत्त्वा
द्वयव्यभिचानस्य मुद्ध्यवाक्षेन्द्राभिधानस्य 'इन्द्रो वा' इत्याह । एव-
मुभय कृत भविष्यति । अनुपरतक्रियाव्यापारता च मध्यमस्य वाश्वास्त्र्येन
कर्मात्मनेतरुद्योतिर्वर्द्धिता भविष्यति मुद्ध्येन चेन्द्रशब्देन मुख्यसंबन्धो-

१५

अभिधानद्वयेन वातरिक्षस्थान' इति । न तु पार्थिवोत्तमयोर्द्वौ
हेतुद्वयसिद्धि कर्मात्मनौ स्तो यथा मध्यमस्थानस्य । तस्मान्न
दोषो मध्यमस्थानव्याभिधानद्वयोच्चारितेति ।

२०

आह । यदिदमभिधानवद्भूत्य जातवेदो वैश्वानर इत्येवमादि त्रिवे
सत्येताविकृतमिति । उच्यते 'ताना माहाभग्यादेवैकस्यै अपि वह्नि
नामधेयानि भवन्ति' । तासामेव तिसृणाम-
अभिधानवद्भूतस्य ग्यादीना महामोर्गादेरर्थयोगेनेकात्मानमने-
चारणम् कथा विजुर्भतीनामेकैकस्या प्रतिविकार जात
चेदो वैश्वानरो वग्णो रजोऽदिवनायुषा इत्ये-

१ क. म. प. झ. ट. ठ. ड. 'शब्दोपदेशं क्रियते न त', च. 'इष्टे
२१ उपदेशं क्रियते इत्यर्थं न त'; २ क. म. प. झ. - ट. ड. 'दत्त एवाप', च.
'क्षत - उर' एव ३ प. झ. ट. ठ. ड. 'सुमध्यमस्य'. ४ च मध्यमस्य'. ५ क.
म. ग. ज. प. झ. ट. ठ. ड. 'यद्वौ ही कर्मा', च. 'यद्वौ - कर्मा' ही. ६ ट.
ड. मध्यमस्थान'. ७ क. च. प. झ. ट. ठ. ड. तस्मान्नदोषो मध्य'. ८ क.
म. प. झ. ट. मध्यमस्य', ९ ड. मध्यमस्थानस्य'. १० ग. ज. मृ. १० च.
'इत्येव' ११ ड. ड. तस्मान्नदोषो मध्यमस्य'. १२ ग. च. ज.
१३ 'शब्दोपदेशं'. १४ क. म. प. झ. ट. ठ. ड. 'यद्वौ ही'.

वनादीनि बहूनि नामधेयानि भवन्ति प्रतिस्थानं स्वप्रकृत्यभेदादैकाम्यवदे-
कैकत्वं न जहाति सा सा देवतेति ।

‘ अपि वा कर्मपृथक्त्वात् ’ । अपि वैवं विकरणधर्मिवा-
दाभिन्नप्रकृतीनां बहुनामता । अपि वा स्वं स्वमात्मानमविकुर्वतीनामेवा-

एकस्य बहुनामता
कर्मपृथक्त्वात्

यथा कुण्डपायि
नामयने

अत्र लौकिकद-
ष्टान्तः

नेककर्मयोगात्पृथक्कर्महेतुको नामधेयलाभः स्यात् ।
को दृष्टान्तः । ‘ यथा होताश्चर्युर्ब्रह्मलोत्रातेत्य-
प्येकस्य सप्तः ’ कुण्डपायिनामयने । तत्र हि
सप्त दीक्षन्ते । त एव च स्वयं कर्म कुर्वते ।
तेषां षट् षोडशानां पर्यायेण कर्म कुर्वते ।
तत्कर्म कुर्वन्नास्तदाह्वा भवन्ति । यथा लोके
लौकिकाः पावकादयः । तदेतत्प्रदर्शितं भवति ।
न किञ्चिदप्यत्र गौणमभिधानम् । संविज्ञातैपदत्वे
त्वग्न्यादानां संज्ञाशब्दानां कारकादिशब्दैरेप
विशेषो यदप्रनभनादियुगवागेऽप्यसति नाग्न्या-
दीन् जहति । कारकादिशब्दास्तु करणादिवियोगसमनन्तरमेव कारकादीन्
जहति । एवमेतद्गौणमभिधानानामपेक्षयोक्तम् ‘ अपि वा कर्मपृथ-
क्त्वात् ’ इति । अपि वैश्वर्यात् । उभयथापि शक्यमतीघःताद्गुपपद्यत
एकैकस्या अपि बहुनामतेति ।

‘ अपि वा पृथगेव स्युः पृथग्वि स्तुतयो भवन्ति ’ । अपि वैवं
यथोक्तमेकैकस्या माहाभाष्यात्कर्मपृथक्त्वाद्वा बहुनामता । अपि वा पृथ-

अथवा पृथक्स्तु-
तित्वात्पृथक्स्युः

यज्ञमिति व्याख्येयम् । पृथग्वि स्तुतयो भवन्तीति हेतौ । यस्मात्पृथ-

वपृथगत्यन्तभिन्ना एवोऽपत्तिकेन भेदेन स्युरिति
याज्ञिका आहुः ‘ पृथग्वि स्तुतयो भवन्ति ’
इति । कुत एतद्याज्ञिका आहुरिति । अधियज्ञे
हि स्तुतिनियमो भवत्यभिधाननियमश्चेति । अधि-
१ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. कारकलावकाचका°; ग. ज. लोके लावकाः २५
पावका°; च. °लोके - लावकाः° कारक. २ च. पावका° च. २ क. ख. घ.
झ. ट. ठ. ड. °शानप°; च. शानप° न. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. °शदानां
तेषां का°. ५ ग. अ. जहाति; च. जहति° ह. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
°णादियोग°; च °णादिविनियोग° वियो. ७ ट. ठ. ड. वेष्°. ८ घ. झ.
ट. °नामंति; ड. बहुनामंति. ९ च. °ख्येय यौज्ञिमं(ति) वं (च) पू°. १० क.
ख. घ. झ. ट. ठ. ड. °न्तीनि । नीति हेतौ°; च. न्तीनि ° हेतौ° हीति. २१

- नैपृथगम्यादीनां स्तुतयो मवन्ति । पृथगग्नेः ' अग्निमीळे (ऋ० सं० १।१।१) इत्येवमाद्याः । पृथग्ज्ञानवेदसोऽनग्निच्छिद्रं सूक्तं ' प्र-
 नृनं जातवेदसम् ' (ऋ० सं० १०।१८८।१) इति । पृथ-
 गिन्द्रस्य हरिष्याम् । पृथग्गयोर्नियुद्धेः । पृथक्सूर्यस्य हरिर्द्धिः ।
 ५ पूष्ण इत्यजाभिः । अरूणीभिर्गोभिरुपताम् । स्तुतिर्व्यभिचारे च प्राय-
 धिच्छम् । तदनुपपन्नं च पर्यायवचनत्वे । ते वषं स्तुतिनियमात्पश्यामः
 पृथक्पृथगग्निवैश्वानरप्रभृतय इति ।

‘ तथाभिधानानि ’ । यथैव हि स्तुतिभेदास्तुत्यभेद एवमेवाभिधानभे-
 दादभिधेयभेदोऽपि भवितुमर्हति । प्रसिद्धतरं चेदं छंके प्रत्यभिधानमर्थभेद

- १० अभिधानपृथक्त्वाच्च इति । न तथैकस्यानेकाभिधानता । तस्मत्पृ-
 थ्वाग्निजातवेदोवैश्वानरादिशब्दानामभिधेया इति
 स्थितिः । स्तुतिष्वेव वाभिधानभेद इति समा-
 नार्थता हेतुविति चेन्न विधावप्यभिधाननियमदर्शनात् । ‘ आग्नेयमष्टा-
 कपाळं निर्वपेत् ’ (मैत्र० सं० २।३।१॥२।३।५ ॥
 १५ २।४।६ ॥ २।५।९) इति येनैवाभिधानेन चोच्यते तेनैव
 निर्वपणादस्म्य समप्यते तस्मादसमानार्थतेति ।

- ‘ यथो एतत् ’ यपुनरेतदुक्तं ‘ कर्मपृथक्त्वात् ’ इत्यनेनान्त एवः ।
 ‘ कर्मपृथक्त्वादित्य-
 २० नेकान्तः पृथक्त्वं हि प्रकृतभेदात्प्रतिरुर्म भेदः । सा च
 पृथक्त्वं दिव्यस्य माहात्म्यादित्याचार्येणात्र
 पृथक्त्वं हेतुर्न प्रत्युक्त इष्ट एव हि याज्ञिकरूपे
 प्रत्यभिधानमर्थभेद इति । तत्किनेकत्वं न स्येव ।

एकत्वं स्थानिन
संभोगेन च

तत्र । अस्ति गुणतः । कथम् । ' तत्र
सस्थानैकत्वं संभोगैकत्वं चोपेक्षितव्यम् ' ।
तत्र तस्मिन्पृथक्त्वे सति स्थानैकत्वं संभोगैकत्वं
चोपपत्तित ईक्षितव्यम् । तत्र दृष्टान्तः । ' यथा पृथिव्यां मनुष्याः पशवो
देवा इति स्थानैकत्वं संभोगैकत्वं च दृश्यते ' । ५

अत्र लौकिको
दृष्टान्तः

सहस्थानतया एकत्वं स्थानैकत्वं । पृथिव्यायुक्ते
यवता सहभावेन समानं स्थानं ते तद्ग्रहणं
गृह्यन्ते । ए मितरयोरपि स्थानैकैकत्वं ।
संभोगहेतुकमेकत्वं संभोगैकत्वं । संभोगो नामतरेतरोपकारित्वम् । समा-
नकार्थतेत्यर्थः । तच्च पुनर्भिन्नस्थानानामपि भवति किमङ्ग पुनः समान- १०
स्थानानामिति । ' यथा पृथिव्याः पर्जन्येन च
संभोगैकत्वे उदा-
हरणम्

यथादित्याभ्यां च संभोगः ' । कथम् । पृथि-
व्योपच्युत्पत्तौ स्वकार्यरूपे पर्जन्ययाग्नादित्य-
कृतमुपकारमेक्षते । तदुक्तम् ' त्रयस्तपन्ति
पृथिवीमनूपाः ' (निरु० २ । २२) इति । ' अग्निना चेतस्व १५
लोकस्य ' । तदप्युक्तम् ' अग्निर्वा इतो वृष्टिं
समीरयति ' ' दिवं जिन्वन्व्यग्रयः ' (ऋ०
मं० १ । १६४ । ५१ ।) इति च । तदेत-
प्रकारमेकत्वं कार्यकारणस्थानैकत्वाद्वा भाक्तं न प्रतिविष्यते । लोकेऽपि
समानकार्यता भवति, येषां तेषामैक्यमिन्द्रियते । २०

कः पुनरत्रापिरोधी भेदाभेदे दृष्टान्त इति । उभवे हि प्रमाणं भेदाभेदवा-

१ क. ल. म. च. ज. तस्मान्ति, य. झ. ट. ठ. ड. तस्यासि. २ ठ.
ड. 'नैकत्वमिति तत्र सत्त्वा'. ३ क. ल. प. झ. ट. ठ. ड. संस्थाने; च. सति
'स्था' घ. ४ घ. झ. ट. ठ. ड. सस्थाने; च. 'स्थाने' स. ५ क. ल.
प. झ. ट. ठ. ड. एवमुत्तर; च एवमित्ते' मुत्त ६ क. ल. प. झ. ट. ठ.
ड. स्थानयोरेवकात्मेकत्व, च स्थानयोरेकत्व' एवमुत्ताने. ७ क. ल. प. झ.
ट. ठ. ड. 'इत्वं (प. ट. ल.) संभोगैकत्वं प्रो-(ठ. ड. स्तो-) वेक्षितम् ।
संभोग', < ठ. ड. वेति । कथ'. ९ प. ट. ठ. 'लोपी धेनु'.

दिन आत्मविनैरुक्तयाज्ञिकाः । न हि ते स्वमनीषिकया भेदाभेदौ प्रकल्पयन्ति ।

किं तर्हि । मन्त्रार्थमुद्दिश्य । तस्माद्दक्तव्यः समञ्जसो

भेदाभेदे दृष्टान्तः दृष्टान्तः । उच्यते ' तत्रतन्नरराष्ट्रमिव ' । यथा राष्ट्र-

मित्यभेदो नरा इति भेदः । एवं पृथिव्यग्निरित्यभेदो

५ जातवेदा वैश्वानर इति भेदः । एवमुत्तरयोरपि स्थानयोः । तथात्मैत्यभेदो

लोकाश्च लोकिनश्चेति भेदः । सर्वत्रैव सामान्यविशेषधर्मो द्रष्टव्यः ।

पुरुषबुद्धयपेक्षातश्च गुणप्रधानतोऽपेक्षा पुरुषानुरागविशेषात् । तत्रैवं

सत्यात्मविद आत्मनि त्रिचनानात्वे गुणीकृत्य तदङ्गप्रत्यङ्गभावेन कल्पयि-

त्वैकमात्मानं पश्यन्ति । तथा नानात्वैकत्वे

१० एकत्वे त्रिचनाना-
त्वयोगोऽप्यत्रम् । त्रित्वे
इतरयोर्द्वयोः । तथा
नानात्वे

नैरुक्ता इति त्रित्वे । तथा त्रिवैक्ये याज्ञिका

नानात्वे । एवमेवामविरोधः । अस्ति हि

शब्दार्थयोर्वक्तृप्रतिपत्तृवशेन तद्बुद्धयपेक्षयावय-

व्यतिरेकाभ्यां वर्तितुं शक्तिः । न तु स्वाभाविकम-

१५

भिधानामिधेयसंबन्धमकृतकमप्रचर्याव्यमानावभि-

धानामिधेयौ जहीतः । न ह्यग्नेरवभास्यं प्रत्यवभासनशक्तिरवभास्यस्य चाव-

भास्यमानताशक्तिर्ब्रह्मधानमन्तरेण विहन्यते । न ह्यकृतकं स्वयमर्थधीतं

को विकल्पते वैदिकानां पदवाक्यप्रमाणानाम् । आत्मभावानुशयवशेना-

त्मविनैरुक्तयाज्ञिका वेदस्याविपर्यासिनीमध्यध्यामाभिदेवाधियज्ञविपयनिश्च-

२०

तामर्थाभिधानशक्तिं विपर्यासिनीमिव मन्यमानाः परस्परतो विपर्यस्यन्ते ।

तदेतत्सर्वथापि भेदाभेदवर्ति देवतासतत्त्वं यथा-

वक्तृप्रतिपत्तृवशे-

प्रहं वक्तृप्रतिपत्तृवशेन प्रख्यातिमुपैत्स्तुतिरूपके-

नाभेदाभेदौ

णः मनोऽर्थसतत्त्वं तथाभूतं मन्त्रैराविष्क्रियते ।

तदुक्तम् ' तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति '

२५

१ ट. 'मिव । ५ । यथा' । २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'विशेषतः' । ३ ग.

च. ज. कृत्वे. ४ ग. च. ज. कृत्वे' । ५ क. ख. ग. ज. घ. झ. ठ. ड. 'प्रति-

वक्तृवशे' ; ६ ट. 'प्रतिवक्तृवशे पत्तृ. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'प्रच्यवमा' ;

७. 'प्रच्यवमा' च्य. ७ ग. क. ख. ज. जहीताम्. ८ ग. क. ख. ग. ज. घ. झ. ट.

ठ. ड. स्वयमप्यर्थं तयो वि' (ग. 'तयो विकल्प्यते' विक्र; ज. 'तयो किलप्यते);

च स्वयमप्य ('प्य' अस्पष्ट) ध वि ('वि' अस्पष्ट) 'धी' (अस्पष्ट)

ने (त). ९ ग. ज. 'देवविपय'. १० घ. ट. 'इयन्ति रूपके'. ११ क. ख.

झ. 'प्रतिवक्तृवशे' ; १२. वक्तृप्रतिवक्तृवशेन विपयवशेन. १३ क. ख. झ. 'मुपयत्स्तु'.

६८

१३ ग. च. ज. 'तावि.क्रिय'.

(निरु० २ । १६) इति । दर्शितं चैतन्मन्त्रेण ' न त्वं युयुत्से ।'
 (शत० ब्रा० ११ । १ । ६ । १०) इति ।
 परमार्थत एका- निष्ठितरूपत्वेन स्वे स्वे विषयेऽध्यात्मादौ पर-
 त्पम् मार्थतयैकार्थ्ये निष्ठा तदन्तत्वाद्वाचः । तदुक्तम्
 ' यतो वाचो निवर्तन्ते ' (तै० उ० २ । ४)
 इति ॥ ५ ॥

अथाकारचिन्तनं देवतानां पुरुषविधौ स्युरित्येकं चेतनाव-
 द्बद्धिं स्तुतयो भवन्ति तथाभिधानान्यथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः
 संस्तूयन्ते । ऋध्वा त इन्द्र स्थविरस्य वाहू । यत्संगृभ्णा मघ- १०
 वन्काशिरित्ते । अथापि पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैः । आ द्वाभ्यां
 हरिभ्यामिन्द्र याहि । कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते । अथापि
 पौरुषविधिकैः कर्मभिः । अद्दीद्र पिब च प्रस्थितस्योश्रुत्कुर्ण
 श्रुथी ह्वम् । अपुरुषविधौ स्युरित्यपरमपि तु यद् दृश्यते ॥ ६ ॥

' अथाकारचिन्तनं देवतानाम् ' । आह । माहाभाग्यादेवताया विव-
 रणधर्मित्वादनियम आकारे । अथ नियमो नन्वैश्व-
 देवताकारविचारः र्यन्याघातान्माहाभाग्यादेवताया इत्येतद्व्याहृत्यते ।
 तस्मात् ' अथाकारचिन्तनं देवतानाम् ' इत्ये- २०
 तदनारभ्यम् । उच्यते । आरभ्यमेव । प्रकृतिसत्तामनेपेक्ष विहरणं नाम
 देवताधर्मो नास्ति । तस्मात्प्रकृतिश्चिन्त्यते देवतायाः । अपि च यत् एवेश्वरा
 देवास्तत् एवोभयभागित्वात्किमाकारवचनं स्वभावो देवताया अथवा निरा-
 कारत्वमिति सतत्त्वपरिज्ञानाय चिन्त्यते ।

१ ग. ज. °काल्पनिष्ठा. २ ट. ड. 'तन्ते अपाप्य मनसा सहे. ३ क. ख. १;
 ग. ६; ठ इति नि० ० उत्तरपदके प्रथमाध्याये पञ्चमः खण्डः । ५ ।; ड. इति निरु- २५
 क्तीकाया नैरुक्तोत्तरपदकाध्याये पञ्चम खण्डः. ४ ड. 'विधाः; छ. त. °विधा
 °स्युः. ५ क. ख. छ. त. द. °ताय । आश्रु°. ६ क. ख. 'ह्वम् । २ (६) ।
 अपु°; छ. त. द. 'ह्वम् । ७ । अपु°. ७ क. ख. छ. त. द. '६' नास्ति.
 ८ ग. ज. महा°. ९ च. 'तान्महा°. १० क. ख. घ. झ. ट. ड. ड.
 भाषित्वा°; च. 'भागित्वा° वि. ११ क. ख. घ. झ. ट. ड. °करवत्त्वं, ३०

अस्तु तावदियं चिन्ता । किमिदमविशेषेण पक्षत्रयमस्याश्चिन्ताया विषय उत वा कार्मिश्चिदेवैकस्मिन्पक्षे द्वयोर्वैतौचिन्त्यत इति । इह तावदात्मविदामेक आत्मा । स प्राग्निकारापत्तेः सन्मात्र उदस्तसर्वाकृतिः सर्गस्थितोरुपात्त-

५ आत्मैक्यपक्षे आ-
कारचिन्तनं नोद्भवति

नापि त्रिःपक्षे

१०

याद्बुदस्यत एव । अथ पुनर्योजिकानां यावदभिधानं देवतापक्षवादिनामग्निवायुसूर्यभिधानानि प्रयत्नार्थाभिसम्बन्धीनि जातवेदोऽरुद्रपर्वज-

१५ याज्ञिकपक्षेऽयं
विचार आवश्यकः

२-

न्याश्विप्रमृतीन्यप्रत्यक्षार्थाभिसम्बन्धीन । शब्दमात्रं प्रत्यक्षम् । अभिधानानां च लोके दृष्टमाकृतिपदार्थवत्त्वमनाकारार्थवत्त्वं च । रुद्रेन्द्रदीना शब्दानां मन्त्रगतानां लौकिकैर्भन्तुष्वध्यात्माकाशादिभिरभिधीनत्वं तुल्यम् । तत्रैतद्भवति । अप्रत्यक्षत्वाद्बुदभिधानानामर्थस्य किं तु खल्वमी रुद्रदिशब्दा मनुष्यादिशब्दवदाकारवतार्थेनार्थवन्त उत यस्यात्माकाशादिशब्दवदनाकारेणेति । एवमयमस्याश्चि ताया याज्ञिकपक्षो विषयः । 'अपि वा पृथगेव स्युः' इत्यत एव याज्ञिकपक्षाद्देवन्तरमिदमारब्धम् 'अथाकारचिन्तनम्' इति ।

किमाकारस्य चिन्त्यते । किमस्ति नास्तीति यद्यस्ति कीदृशः । इह द्विविधा अकारिणोऽर्थाश्चेतनाश्चाचेतनाश्च । चेतनाश्च मनुष्यादयः ।

२५

१ ग. ज. 'वैतश्चिन्त्यते, च. 'वैतश्चिन्त्यते' चि. २ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. 'पयत्वम्'. ३ क. ख. ग. ज. प. झ. ट. ठ. ड. 'मिधानमव'; च. 'मिधानमव'. ४ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. 'च' नास्ति. ५ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. 'मनुष्यादिशब्देऽर्था'; च. 'मनुष्यैश्चैतानां' मनुष्यादिशब्देर्वा. ६ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. 'धानवत्त्व, ग. ज. धानवत्त्वं. ७ ग. ज. प. झ. ट. ठ. ड. किं नु. ८ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. 'मस्ति उत ना'; च. 'मस्ति - ना' उत १ ग. ज. कीदृशः, च. कीदृशाः' शः १० ग. ज. 'धा. । चेतना मनु'. ११ क. ख. प. झ. ट. तत्र चेतना; च. 'चाश्च । चेत' तत्र. १२ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. 'च' नास्ति.

अचेतनाश्च पाषाणादयः । तत्रैतद्भवति किममी मनुष्यादिवचेतना उत
पाषाणादिवदचेतना द्रव्यमात्रं प्रत्यक्षमित्येवमुपोद्देश्य संशयं तद्व्युदा-

देवनाः पुरुषविधाः साय पक्षः परिगृह्यते । ' पुरुषविधाँ स्युरित्ये-
कम् ' इति । मन्त्रप्रत्ययमस्तिर्यं देवताया
स्युरित्येकं गतम् अभ्युपगतं ' यत्कामः ' इत्युपक्रम्य ' तदैवेतः

स मन्त्रो भवति ' इति । सति हि देवतास्तिव्ये

तद्देवतत्वं मन्त्रस्य । यदि चैवमाकारोऽपि तत्प्रत्यय एव भवितु-
मर्हति । अस्ति चेदं पौरुषविध्यं मन्त्रेषु देवतासंविज्ञातपदसंबन्धीति ।

यत उच्यते ' पुरुषविधाँ स्युरित्येकम् ' मन्त्रेषु दर्शनमिति
वाक्यशेषः । पुरुषविधाः पुरुषमकाराः । पुरुषविग्रहा इत्यर्थः । १०

को हेतुः । ' चेतनावद्बद्धिं स्तुतयो भवन्ति ' ।

यस्मात् चेतना-
वतामिव तेषां स्तुतिः हिशब्दो हेत्वर्थः । यस्माच्चेतनावतामिव स्तुतयो
मन्त्रा अभिधायका भवन्ति । पूर्वो वृत्तिर्भवत्यर्थे ।

उत्तरस्तुत्यार्थे । तस्मात्पुरुषाकारविग्रहा इति ।

ननु चैतन्यमपुरुषाकारविग्रहाणामपि हिँ गवादीनामस्ति । न । नास्ति । १५

न तु ते विवेकक्षमाः । आसनचेतनाः । लोकेऽपि हिँ यस्य हिताहितवि-
वेकलक्षणं विशिष्टं संविज्ञानं नं भवति तमधिकृत्य नृवृत्ते निश्चेतनोऽ-
यमिति । एतन्ने च गवादयः सत्यपि चैतन्य असन्नचेतनत्वात् । ' न विदुः

श्वस्तनं न लोकालोकौ ' (ऐ० आ० २ । ३ । २) इति हिँ विज्ञा-
यते । तस्मादचेतना इवोपेक्ष्यन्ते । पुरुस्तु ' वेद श्वस्तनं वेद लोकालोकौ २०

मर्तेनामृतत्वमीप्सति ' (ऐ० आ० २ । ३ । २) इति । तस्माद्धिता-
हितपरिज्ञानापौरुषविध्यस्यै च सिंसाधयिवितत्वादनपेक्ष्य सामान्यं विशिष्ट-

१ च. ट. प्रत्येक्षं. २ ग. पोद्वैत्व' ज्, च. 'पोद्वैत्य' ज्, ज. पोपृत्य. ३ क.
ख. घ. झ. ट; संशय. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. 'विधाः. ५ क. ख. घ. झ. ट.
ठ. ड. तद्देव'. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'विधाः. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ.
ड. कोऽय दे'. च. को - हे' न. ८ क. ख. घ. झ. ट. 'हि' नास्ति. च. हिँ.
९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'हि' नास्ति १० ग. ज. 'क्षणविशिष्टं वि'.
११ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'ह' नास्ति; ग. ज. हि. १२ क. ख. घ. झ.
ठ. ठ. ड. 'विध्यस्यै सि'; च. 'विध्यस्यै च' स्यैव.

चैतन्यः पुरुषो नियम्यते । यथैव चेतयमानो अर्धान्पुरुषाः स्तूयन्ते तथैव देवता अपि । तस्मात् ' पुरुषविधौः ' इत्युपपन्नम् ।

' तथाभिधानानि ' । यथैव पौरुषविधौ स्तुतिः कारणं भवति तथैव

५

अभिधानतश्च
पौरुषविध्यम्

संवादसूक्तेषु परस्परमभिधानान्युक्तप्रत्युक्तानि सं-
वदार्थानि परस्परतः कथाशुभीयादिषु ' कुत-
स्त्वमिन्द्र ' (ऋ० सं १ । १६५ । ३)
इत्येवमादीनि । तस्मात्पौरुषविध्यं देवतानाम् ।

अथाप्ययमपरो हेतुः पौरुषविध्ये देवतानाम् ' पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तु-
यन्ते ' । पौरुषविधित्वे यान्यङ्गानि तैः संस्तु-

१०

देवतानामङ्गानि
स्तूयन्ते

यन्ते । तद्यथा ' ऋष्या त इन्द्रे स्थ-
विरस्य बाहू ' ' यत्संगृभ्या मववन्कांशि-
रित्ते ' ।

' उरं नेां लोकर्मनु' नेपि विद्वान्स्वर्वज्ज्योतिरभयं स्वस्ति । ऋष्या
तं इन्द्रे स्थविरस्य बाहू उपं स्थेयाम शरणा ब्रुहन्ता ' (ऋ० सं०

१५

अस्यामूचि इन्द्रस्य
बाहू स्तूयते

६ । ४७ । ८) ॥ शंयोरार्यम् । एकादश-
न्यामैन्द्रस्य पत्नोर्विषाया याज्या (आश्व० श्रौ०
३ । ७) । उरं लोकं विस्तीर्णं यत्स्वम् अस्ना-
न् अनुनेपि अनुनयसि । स्वेन सुकृतेन कर्मणा

२०

कम् । अभयं स्वस्ति स्वस्ययनाय । तस्य तत्र ययम् इ द्र ऋषी एतौ
रेपणौ शत्रूणां स्थविरस्य महर्तैः ब्रुहन्तौ महान्तौ शरणौ आश्रयणीयौ
नित्यम् उपस्थेयाम उपतिष्ठेभ्येतत्प्राप्तमहे ।

१ ग. ज. 'मानार्था पुः' २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. श्रूयन्ते; ग. ज.
सूयन्ते; च. स्तूयन्ते' श्रू. ३ क. ख. झ. ट. ठ. ड. 'विधाः स्तुरित्युप'; च.
१५ विधा ~ इ' स्युः. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'विध्यमप्ययते चेतनावत्तदृश-
स्तुतिभिः तत्प्रति ताः कारणं भवन्ति; ट. पुस्तके 'विध्ये स्तुतिः कारणं भवति'
अपं पाठो प्रान्ते दीपते. ५ क. ख. ग. ज. घ. झ. ट. ठ. 'विधत्ते; च. 'विधित्वे'
घ. ६ ठ. ड. इन्द्र इति । उरं. ७ ग. उरं. ८ घ. झ. ट. 'मनुं शरणा०.
९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'वर्म'. विष्णुवेन्द्री । एं; च. 'वर्म । ~ ए' विष्णु-
वेन्द्री । १० क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'मानं प्रज्ञासेन लो'; च. 'मानं (नं) प्रकाशं
२१ (शेन) ११ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'मानं हस्तं मुः'; च. घ. ख. ~ वृ' बाहू हन्ती.

‘यसंगृह्या मववन्काशिरिते’ (ऋ० सं० ३।३०।५) इति । व्याख्यातः शेषः (निरु० ६।१) । एवमस्मिन्मन्त्रद्वये बह्व-
मुष्टिसंबन्धदर्शनास्तुत्यस्येन्द्रस्य पौरुषविध्यम् । अन्यथा हि वितथामिधानत्वं
मन्त्रयोः । तथा च सत्यानर्थक्यं मन्त्राणां सर्वेषां शास्त्रस्य च तदर्थलक्षण-
भूतस्य । तन्मा भूदित्यवश्यमेष्टव्यं पौरुषविध्यं देवतानामिति ।

‘अथापि’ अयमप्यपरो हेतुः पौरुषविध्ये देवतानाम् । ‘पै.हाविधिकै-
द्रव्यसंयोगेऽपि द्रव्यसंयोगैः’ । तद्यथा ‘आ द्वाभ्यां हरिभ्या-
पुरुषविधये कारणम् मिन्द्र याहि’ ‘कल्याणीर्जाया सुरणं
गृहे ते’ ।

औ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा पृद्भिर्ह्यमानः । आद्या-
भिर्दशाभिः सोमपेयमयं सुतः सुमव मा मृत्सकः’ (ऋ० सं० २।

इन्द्रस्य हरिनाम- १८।४) ॥ हे भगवन् इन्द्र यदि तावत्तत्र द्वौ
भ्यामध्याम्नां योगः हरी संनिहितौ ततस्ताद्येव युक्तौ ताम्भाम्
आयाहि । अथ चत्वारस्ततस्तैः । अथ पृत् ततस्तैः ।
अथाष्टौ ततस्तैः । अथ दश ततस्तैः । आयाहि

इदं सोमपेयं सोमपानकर्म प्रति । किमियेवं ब्रूमहे । अयं सुतः सोमः
अभिपुतस्त्वदर्थम् । स त्वं हे सुमन्त्र सुधन मा अन्तरा केनचिन्मृधः संप्रामं
कार्षीः । अथिलञ्चितमागच्छेत्याभिप्रायः ।

‘अथाः सोममेस्तमिन्द्र प्र याहि कल्याणीर्जायाः सुरणं गृहे ते’ ।
तस्य गृहं जाया च यत्रा रथस्य बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो
दक्षिणावत्’ (ऋ० सं० ३।५३।६) ॥
विश्वामित्रस्यार्थम् । हरियोजनस्यानुवाक्या (आश्व० श्रौ० ६।११) ।
हे भगवन् इन्द्र पीतवानसि सोमम् एतस्मिन्कर्मणि । स त्वं पुनः अस्तं गृहं

१ ठ. ड. ‘उनाभये’ इति सर्वा ऋक् पठित्वा यत्संगृहं. २ च. तथा च
हत्यां च. ३ ग. औं द्वा०; व. झ. ट. आ द्वाभ्यां० मृत्सकः. ४ क. ख. घ. झ. २५
ठ. ठ. ड. गुत्तमद् (क. ख. मद् जापेः) । ऐन्द्री । त्रिष्टुर् । हं ; च. ५ हे
गृत्तमद् जापिः । ऐन्द्री । त्रिष्टुर् . ५ क. ख. घ. झ. ट. रथे युक्ता; च. ‘वव
च दुक्त्वा’ रथे. ६ च. ज. सुव. ७ ग. च. ज. ‘भिष्टुव’ . ८ ग. अथाः.
९ घ. झ. ट. ‘मस्तं० वाजिनो०. १० ग. सुत्तं० । विष्णुः. ११ क. ख. घ.
झ. ट. ठ. ड. ‘दम् । त्रिष्टुर् । हा’ ; च. रथे । ५ हा’ त्रिष्टुर्. १०.

प्रयाहि । यस्मात्तत्र कल्याणीर्जाया तत्र । बृहत्तः च रथस्य निधानं रथशाला ।
विमोचनं च वजिनो जित्रा संप्राममागतस्य । दक्षिणावत् अन्यर्दपि
यद्यद्रमणीयं ततस्त्रै तत्र गृहे वर्तते । तस्मात्पुनरस्तं प्रयाहि ।

एयमेतयोर्मन्त्रयोर्हरिगृहजागरथाभिसन्नवात्पौरुपरिध्यमिन्द्रस्य । न ह्यपौ-
५ रपरिध्ये सति सन्धो जायादिभिरस्ति ।

‘ अथापि ’ अयमपरो हेतु पौरुषविध्ये । कतम । ‘ पौरुषत्रिधिकैः
कर्माण्यपि पुरस- कर्मभि ’ सस्तृयन्ते देवता । तद्यथा । ‘ अद्धीन्द्र
विधत्ते कारणम् पित्र च प्ररिपतस्य ’ ‘ आश्रुःकर्णं शुधी
हृत्तम् ’ ।

१० ‘ इद् हविर्मघैन्तुभ्य रात प्रति सन्न लेंड्रणानो गृभाय । तुभ्यं सुतो
मघन्तुभ्य पक्वोर्द्धा-द्र पित्र च प्रस्थितस्य ’
इन्द्रोऽस्तु पातु च (ऋ० स० १० । ११६ । ७) ॥ अग्नि
प्रार्थ्यते युतो नाम स्थूरपुत्रस्तस्यार्थम् । हे मघवन्
इन्द्र हविः आज्यादिक तुभ्य रात मनसास्माभिः

१५ पूर्वेनिर्वपणादौ सस्कारकाले हे सम्राट् प्रतिगृहाण । अपि च । तुभ्यं
वदर्थभेषाय सुतः अभिपुत्र सोम । अपि च । हे मघवन् त्वदर्थमेवैष
पुरोडाश पक्व । स त्वमस्य सोमस्य प्रस्थितस्य आद्धि पित्र च स्मशामिति
द्वेषे ।

‘ आश्रुःकर्णं शुधी हृत् नू चिदधिष्व मे गिरः । इन्द्र स्तोममिम मम
२० कृत्वा युजश्चिदन्तरम् ’ (ऋ० स० १ । १० । ९) ॥ मधुच्छन्दस

१ ऋ स घ झ ट ठ ड 'दपि सुराण यय', च. 'दपि + यय' सुराण. २ ग.
हृत्तम् । २५ । इद्' ३ ग 'वन्' । अग्नि, घ झ. ट. 'वन् ० पित्र' ४ क.
ख. च. सम्राट्, ज. सम्राट्. ५ क स. घ झ ट ठ. ड. 'पम् । निष्टुप् ।
ऐन्द्री । हे, च. 'पम् । + हे' निष्टुवेन्द्री । ६ क स. घ झ ट. ठ. ड इद्
हवि'. ७ क. स. घ झ. ट ठ ड. 'स्माभिर्निष्प पूर्ण नि', च 'स्माभि हृत्त'
निरुत्त पूर्व. ८ क स. घ. झ ट. ठ ड. तदिदानीं, च. + हे' तदिदानीं.
९ क. स. घ. झ. ट. ठ ड 'घाट् अङ्गान पति, च 'घाट् + प्रति' अङ्-
णत् १० ग रोम. । २६ । आ'. ११ ग. 'त्सर्गं ० । मधु', घ. झ. ट.
२९ 'त्सर्गं युज'.

आर्षम् । श्रोतारौ यस्य कर्णौ अप्रतिहतश्रवणौ सर्वत्र स भवति श्रुत्कर्णः ।
 तस्य संबोधनम् । हे श्रुत्कर्ण अभिमुख्येन
 श्रोतुं च श्रुधि शृणु त्वमाह्वानमस्माकम् । श्रुत्वा च नू-
 चित् पुराण इव दधिष्व धारयस्व एता अस्म-
 द्विरः हृदयेन । किंच । हे मघन्न इन्द्र मैम इमं स्तोमं युजः त्वयुक्तस्य
 त्वां प्रत्याहृतस्य पुनःपुनरपि भुवतः कृष्य कुरुष्व श्रोतुम् अन्तरम् । ५
 क्षणमित्यर्थः ।*

एवमनयोर्मन्त्रयोरश्वौशृणुहीत्यामन्त्रणपूर्वकमदर्शनश्रवणपूर्वको विनियोगः ।

एवं देवतानां पौ-
 र्यविध्यम्

स न संभवत्यपौरुषविध्ये । न हि गवादयोऽप्यौ-
 शृणुहीत्युक्ताः किंचि प्रतिपचन्ते । तस्मात्कार्य-
 करणसंनिवेशो मनुष्यदेवतानाम् । कार्यकार- १०
 णापेक्षं च विज्ञानम् । तदेवमेतेभ्यो मन्त्रदर्श-

नेभ्यः स्थितं पौरुषविध्यं मन्त्रे देवतानामिति ।

अपुरुषविधा स्युरित्यपरम् । दर्शनमिति याक्यशेषः । तदुक्तम् ।
 ' अगां च ज्योतिषश्च मिथ्रीभावकर्मगो वर्षकर्म जायते तत्रोपमार्धेन '

अपुरुषविधा देव-
 ताः स्युरित्यपरं मतम्

युद्धवर्णा भवन्ति ' (निरु० २ । १६) इति । १५
 विज्ञायते ' तदाहुर्नैतदस्ति यद्देवासुरम् ' (शत०
 ब्रा० ११ । १ । ६ । ९) इति च ' न त्वं

ययुसे ' (शत० ब्रा० ११ । १ । ६ । १०) इति । अपि चैतदुक्त-
 मेव (निरु० ७ । ५) ।

' अपि तु यद्दृश्यते ' देवानां किंचित् ॥ ६ ॥

२०

१ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'आर्षम् । अनुष्टुभेन्द्री । ओ' ; च. आर्षम् ।
 २ ओ' अनुष्टुभेन्द्री । ३ ग. ख. ज. मे मम' । ४ क. ख. ग. ज. ठ. अध्याशु' ; च.
 अध्याशु' इत्या. ५ घ. झ. ट. ठ. ड. 'वैश्वानरम्' । ६ 'अध्याशु' इति
 सर्वेषु पुस्तकेषु. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. कार्यकार' । ७ क. ख. 'मिति । २५
 २ (६) । अयु' ; ग. 'मिति । ७ । अयु' ; घ. ट. च. ज. 'मिति' इत्य-
 स्यान्तरं खण्डममातिथोक्तं चिह्नम्. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'च' नास्ति ;
 च. च. ९ च. 'इयते' । 'दे'. १० ठ. इति निरुक्तं । ११ प्रथ० आदितः सप्त०
 पष्ठः खण्डः । ६ । ; ड. इति नैऋतीकायामुत्तरपठके प्रथमाप्यपि षष्ठमखण्डः
 । ६ । ; इतरेष्वत्रो नास्ति.

- अपुरुषविधं तद्यथाग्निर्वायुरादित्यः पृथिवी चन्द्रमा इति यथो
एतच्चेतनावद्बद्धि स्तुतयो भवन्तीत्यचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते यथा-
क्षप्रभृतीन्योपधिपर्यन्तानि (निघ० ५ । ३ । ४—२२)
यथो एतत्पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्त इत्यचेतनेष्वप्येतद्भव-
५ त्याभि क्रन्दन्ति हरितेभिरासभिरिति ग्रावस्तुतिर्यथो एतत्पौरुष-
विधिकैर्द्रव्यसंयोगैरित्येतदपि तादृशमेव मुखं रथं युयुजे सिन्धु-
रश्विनमिति नदीस्तुतिर्यथो एतत्पौरुषविधिकैः कर्मभिरित्येतदपि
तादृशमेव होतृश्चित्पूर्वं हविरद्यमाशतेति ग्रावस्तुतिरेवापि बोभय-
विधा स्युरपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युर्यथा
१० यज्ञो यजमानस्यैष चाख्यानसमयः ॥ ७ ॥

सप्तमाध्यायस्य प्रथमः पाठः ॥

- ‘ अपुरुषविधम् ’ । अपुरुषप्रकारं तदित्यर्थः । ‘ तद्यथाग्निर्वा-
युरादित्यः पृथिवी च द्रमा इति ’ । प्रत्यक्षत
१५ यथान्यादयोऽपुर- एतान्यपुरप्रकाराणांति । एतेषामतोऽन्यथाभ्युप-
पविधास्तथेन्द्र दयोऽपि गमे दृष्टहानिः स्यात् । न चैतदिष्टम् । तस्मादपु-
रुषविधा अग्न्यादयः । तस्मानान्याददृष्ट इन्द्रा-
दयोऽप्यपुरपविधाः । न हि मनुष्ये तुल्ये केचिदाकारिणः केचिदना-
कारिण इति । तथैव देवतानामपि हि न्याय । तस्मादपुरुषविधा इति ।
‘ यथो एतच्चेतनावद्बद्धि स्तुतये भवन्तीति ’ । अचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते
२० चेतनावस्तुति- ‘ यथाक्षप्रभृतीन्योपधिपर्यन्तानि ’ । तस्माच्चे-
त्तरमहोतुः पौरुषविधये त्नात्र स्तुतिमन्त्रहेतुः पौरुषविधे देवतानामप्ये-
तनेष्वप्यक्षादिषु चेतनावस्तुतेर्दृष्टादिनि ।
‘ यथो एतत्पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्त इति ’ । अपमन्त्रहेतुर्धर्मि-
च्यौरित्वात् । ‘ अचेतनेष्वप्येतद्भवति ’ । तद्यथा ‘ प्राग्स्तुतिः ’ । ‘ एते

१ क. स. इति सप्तमाध्यायस्य द्वितीयः पाठः ; उ. ३० ॥ प्रथमः पाठः ॥ तिष्ये ;
त ॥ ८ ॥ सप्तमाध्याय प्रथमः पाठः । तिष्ये ; द. ८ इति नेत्रेन उक्तार्थेण प्रथमा-
ध्यायस्य प्रथमः ; द. घ. घ. ‘ सप्त ० पाठः ’ नास्ति. २ उ. ट. विधिमिति ।
अपुरुषप्रकारं. ३ क. स. घ. झ. ट. ‘ भिद्यतेन वात् ; ब. ‘ भिद्ये (घ)
२१ रि- न्यात् ’ त, ट द. ‘ भिद्यते वात् ४ ग. ‘ स्तुतिः । ६५ । एते’.

वदन्ति शतवत्सहस्रवदभि क्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः । विष्टी प्रावाणः सुकृतः
सुकृत्या होतुश्चिपूर्वे हधिर्यमाशत ' (ऋ० सं० १० । ९४ । २) ॥

अचेतना प्रावा-
दयोऽपि पौरुषविधि-
कैः संस्तूयन्ते

अर्बुदस्यार्पम् । प्रावस्तुतिः । एते प्रावाणः अभिय-
चकर्म कुर्वाणा वदन्ति । कथम् । शतवत् शत-
मिव । सहस्रवत् सहस्रमिव । शब्दबाहुल्याभिप्रा-
यम् । अभिक्रन्दन्ति अह्वयन्ति सोमपातृन्
आर्गच्छतास्माभिरभिपुतं सोमं पातुमिति । तत्र

येयं विष्टी प्राव्याम् एतया सुकृत्या शोभनया क्रियया एते सुकृतः
शोभनस्य कर्मणः कर्तारो होतुश्चिपूर्वे होतुरप्यग्नेः मनुष्यहोतुर्वा पूर्व
प्रथमतर्ह हविः एतत्सोमाह्वयम् अद्यम् अदनीयम् आशत अश्रन्ति । अ-
भियग्ने सोमसंयोगमात्रमशनमुपचर्यते प्राव्याम् । तस्मादपौरुषव्यमिते । न
हि प्राव्यां यथाभूतान्वास्यानि सन्ति र्यसंयोगेन च स्तूयन्ते । तद्ब्रह्मि-
दीनामप्ययथाभूतैर्बाहुमुष्टधादिभिः स्तुतिः स्यात् । तस्मादहेतुरयं यत्
' पौरुषविधिकैः संस्तूयन्ते ' इति । तस्मादपुरुषविधाः ।

'यथो एतत्पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैरिति । एतदपि तादृशमेव ' । औप-
चारिकम् । रूपकमात्रमित्यर्थः । यथैव ह्यास्यादि-
द्रव्यसंयोग औप-
चारिकः कल्पना दृष्टव्यभिचारित्वाद् प्रावप्रभृतिषु न संभ-
वति । रूपकमात्रं स्तुत्यर्थम् । संकल्पतो बाहादि-
कार्थसिद्धिः । एवं हरिरथजायादिस्तुतयो रूप-
कमात्रमिति । अपि च । ' सुखं रयं युयुजे सिंधुरदिरनमिति २०
नदास्तुतिः ' । न चास्या स्तुतौ यथाभूता रथोपपत्तिरस्यसंभवात् ।

१ क. र. प. झ. ट. 'दन्ति शतवत् ० रवि'; ग. 'दन्ति० । अर्बु०. २ क.
ख. प. झ. ट. ठ. ड. 'र्षम् । जगती । मा'; च. 'र्षम् ५ । मा' जगती । ३ ठ.
ड. आगता'. ४ ' हरितेभिरासभिः ' इयस्य सायणवृत्तं विषयण ट. पुस्तके प्रान्ते
लिखितम् । तत् ' पातुमिति ' इतरथानन्तरं क र. ट. ठ ड पुस्तकेषु लिख्यते ।
तपथा । ' पातुमिति । हरितेभिः सोमसंमर्गात् हरिर्दग्ः आसभिः आस्यः ' तथ'.
५ क. ख. प. झ. ट. ठ ड. विष्टी व्याप्तिः मा'; च. विष्टी ५ मा' आगते'.
६ ग. ज. प. झ. ट. ठ. ड. तत्सं'; च. यत्सं' त. ७ क र. प. झ. ट. ठ.
ड. भूतार्थोपपत्तिः; च. भूता रथोपपत्तिः

कथमसंभवः । न ह्युदकाभिकाया नवा बहन्त्या रयेऽवस्थानं संभवति ।

‘ सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनं तेन वाजं सनिपद्मिन्नाजौ । महा-
न्दास्य महिमा पनस्यतेऽद्वयस्य स्वयंशसो विरशिनः ’ (ऋ० सं०
१० । ७५ । ९) ॥ सिन्धुक्षिन्नाम प्रियमेधसः पुत्रः । तस्येयमार्पम् ।

५

मुखं सुखहेतुं लोकस्य रथं रहणम् उदकं युक्तवती
यथा नदीस्तुतौ सिन्धुः नदी अश्विनम् अशनेन व्यापनेन तद्व-
न्तम् उदकरथम् । तेन वाजम् अन्नं सनिपत्

संभक्तवती उत्पादितवती अस्मिन्नजौ आजनेने संग्रामे । यतो यतो गच्छति
ततस्ततो ब्रह्माद्यन्नमभिनिष्पादयतीत्यर्थः । यस्माच्चायमुदकरथोऽन्नमभि-
निष्पादयति तस्मात्तस्य महान्महिमा माहाभयं पनस्यते स्तूयते स्तोत्रभिः ।
अद्वयस्य अनुपदस्तस्यै विरशिनो विरपणशीलस्य । शब्दकारिण इत्यर्थः ।
रथमिवाश्विनमिति केचित् ।

१०

तदेवमादिव्यसंभवान्मुल्यार्थकल्पनायाः सर्वत्र रूपकप्रदाः स्तुतय
इत्युपेक्ष्यम् ।

२५

‘ यथो एतत्पौरुषविधिकैः कर्मभिररति । एतदपि तादृशमेव ’ । ‘ होतृ-
पौरुषविधिकानि श्विपूर्वे हविरयमाशतोति ’ अशनशक्तिक्रियया
कर्मण्यप्यौपनारिकाणि प्रावाणः स्तूयन्ते । न च पुनर्प्राण्यां यथाभूत्-
मशनमस्ति । तस्मादिदमपि रूपकमेव । ‘ एते
वदन्ति ’ इत्यत्र (पत्रं ६५३) व्याख्यातम् ।

२०

‘ अपि बोभयविधा स्युः ’ उभयहेतुप्रामाण्यात् । ‘ अपि वा पुरुष-
विधानामेव सतां ’ पृथिव्यादीनां ‘ कर्मात्मान
एते स्युः ’ । अपुरुषविधाः क्षितिजलादयः ।
अथवा देवता उभयविधाः स्युः परे त्र्यधिष्ठानारः पुरपविग्रहाः । एतमुभयोः प्रत्य-

२५

क्षागमयोरप्यनुमदः कृतो भविष्यति । ‘ यथा यज्ञो यजमानस्य ’ कर्मात्मा ।

१ ग. ‘वति । २८ । मुखं’ । २ ग. ‘रथं ० । सिन्धुः’ ; घ. ट. ‘रथं युयुजे०
विरशिनः’ । ३ क. भ. घ. ट. ड. ड. ‘पमं । जगती नदीस्तुतिः । सुखं’ ; घ.
‘दम् । - सुखं’ जगती नदीस्तुतिः । ४ ग. झ. कानियत् ; घ. तापनियत् । ५ क.
ख. घ. झ. ट. ड. ढ. ‘तस्मात् तदन्नमः तदाद्यज्ञीनेः विर’ ; घ. ‘स्तस्य - विर’
१० तदपशः तदाद्यज्ञीनेः ।

‘ इदमेतेनोङ्गं संस्क्रियते इदमेतेनोङ्गमुपधीयते
अथवा देवताः इति (गत० ब्रा० ११ । २ । ६ । १३)
कर्मात्मानः स्युः ‘ संस्कृतममुष्मिन्लोकै उवैति ’ (मैत्रा० सं०
४ । १ । ८) इति विज्ञापते ।

‘ एष चास्यानसमयेः ’ । भारते चास्यानसमयः । एष एव सिद्धान्त
इत्यर्थः । पृथिवी स्त्रीरूपेण भारावर्तणाय
एष महाभारता- ब्रह्माणं ययाचे (महाभा० आदि० १४) ।
दीनां सिद्धान्तः अग्निश्च ब्राह्मणरूपेण वासुदेवाजुंनावुमौ खाण्डवं
ययाचे (महाभा० आदि० २२४—२२५) ।
पुरुषरूपेण (महाभा० आदि० २३०) अग्निरूपेण (महाभा०
आदि० २२७) च खाण्डवं ददाह इत्येवमादिनां ।

सदेतच्चतुर्था भिद्यते मन्त्रार्थदर्शनादेव पौरुषविध्यमपौरुषविध्यं
कर्माधीभयविध्यं नित्यमौभयविध्यमेवेति । सर्वं चैतदुपपद्यते । महाभाष्ये
सत्यैश्वर्यात्कथमिव देवता न स्यादमूर्ता मूर्ता
एवं देवताकार एकधा द्विधा बहुधा वेति । यथा तु वर्तमाना-
विचारे चत्वारिमतानि मपश्यन् मन्त्रदृशस्तथा तथास्तुन् । सर्वधैत्रा-
सर्वाण्यविरुद्धानि च दीपः फलदर्शनात्नातवस्थादर्शनवदाख्यातणाम् ।
परिदेवनानिन्दादिष्वपि केन्द्रादीनां कार्भितस्तद्रूप-
मवस्थितानां सा सा स्तुतिरेव न निन्दा । उक्तं च ‘ हीना न निन्दा
स्तुतिरेव साङ्गैः देवान्मर्षः सम्मगभिष्टपात्कः । शक्तिक्षयेऽप्यप्यस्यन्ति
शिष्टाः स्तोत्रं न पश्यन्ति गतिं यतोऽयाम् ’ इति ॥ ७ ॥

१ प. झ. ट. ठ. ड. इदमेतेना°; च. इदमेतेना° इं मेने. २ ग. च. ज.
‘नागमु’. ३ क. र. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘मुर्षय’. ४ क. र. घ. झ. ट. ड.
परीतीति च वि°; ट. परीतीति च वि° उये. ५ ड. ‘समयः । ७ । भार°’. ६ क.
ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘स्तार°. ७ क. र. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘मादि । त°’.
८ क. ख. घ. ट. ठ. ड. कर्माधीभय°; ग. ज. कर्माधीभय°; च. कर्माधीभ°
धीतमो. ९ क. र. घ. झ. ट. ठ. ड. घेति. १० क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
कामकातर°; ग. ज. कामकातर°; च. काम-त° कार ११ क. ख. घ. झ.
ट. तास्योदेवा°; घ. तास्योदेवा° इया दे; ठ. ड. तास्य. १२ क. र. २ (७);
ग. ८; इत्येवमो नाति.

यद्येवमुच्यतां तर्हि कानि किमक्तीनीति । तदुच्यते । अथैतान्याग्नि-
भक्तीनि । अथेति विशेषाधिकारे । अग्निं भजन्ते अग्निना वा भज्यन्ते
इत्यग्निभक्तीनि । कृतमानि । ' अयं लोकः '

पृथिव्यादी-यग्नि-
भक्तीनि इत्येवमादीन्याग्निभक्तीन्धवगन्तव्यानि । ' ये च
देवगणाः समान्नाताः प्रथमे स्थाने ' तद्यथा ५
' आप्रियः ' (निघ० ५ । २) ' अक्षाः प्राजाणोऽ-

भीशवः ' (निघ० ५ । ३) इत्येवमादीनि ' अग्नायी पृथिवी इळा
इति स्त्रियः ' । इळा पृथिवी अग्नायी इति क्रमेण यत्कवे क्रमभेदः ।
अग्नायी तैत्समाख्यानात्संनिकृष्टतरा न तथा पृथिवीति तस्मात्प्रथममुच्यते ।
ततः पृथिव्याश्रयसंबन्धादग्नेः । न तथेळा पारोक्ष्यादभिधेयस्य । आपी- १०
मध्ये ' तिस्रो देवीः ' इत्यत्र इळा भारत्या सुस्थानाया अनन्तरं श्रूय-
माणा ' आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विळा

इळा कथं पृथि-
वीस्थाना मनुष्वत् ' (ऋ० सं० १० । ११० । ८)
इति । कथं पृथिवीस्थानेति । उच्यते । अनुया-
जेषु सामर्थात् । ' द्या भारत्यादित्वैरस्पृक्षत्सरस्व- १५
तीमं रुद्रैर्यज्ञमावीदिहैवेळ्यो वसुमत्या ' (मैत्रा० स० ४ । १३ । ८ ॥
तैत्ति० ब्रा० ३ । ६ । १३ । ७) इत्यतः सामर्थ्यमुज्जीय वसुताहच-
र्यात् ' इहैवेळ्यो ' इति चाग्निभक्तिरिळायाह । रुद्रैः साहचर्यात्सरस्वती मध्य-
स्थाना । आदित्यैः साहचर्याद्भारती सुस्थानेति ।

' अथास्य कर्म ' । अथास्याग्नेः कर्म सहभावि अनन्यदेवतागामि २०
यत्संयोगादसत्यप्यग्निशब्दे आग्नेय एव मन्त्रो
अग्नेः कर्म भवति । ' वहनं च हविषाम् ' इत्येवमादि ।
' दार्ष्टिंविपयिकम् ' । दृष्ट्यनुग्रहो यस्य विप-
यस्तद्दार्ष्टिंविपयिकम् । प्रकाशादि कर्मैत्यर्थः । ' अग्निर्कर्मैव तत् ' इति
प्रकृतं पुनर्वचनमादरार्थमप्यात्मेऽपि यावान्काश्चित्प्रकाश इति ।

१ क. ख. ग. च. ज. घ. ङ. इत्या. २ क. ख. घ. ङ. इत्या; ग. च. ज.
इत्या. ३ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. तन्तमानास्या. ४ क. ख. घ. ङ. ग. च.
ज. इत्या. ५ क. ख. घ. ङ. इत्या, ग. च. ज. इत्या. ६ च. इत्यानुग्रह
इत्य. ७ च. इत्यानुग्रह इत्या. ८ च. इत्यानुग्रह इत्या. ९ च. इत्यानुग्रह इत्या. १० च. इत्यानुग्रह इत्या.

- ‘अथास्य संस्तविका देवाः’ यैः सहाग्निः स्तूयते । तदथा
 अग्नेः संस्तविका ‘इन्द्रः सोमः’ इत्येवमादयः । मन्त्रस्वमा-
 देवाः योपदर्शनाय संस्तवोदाहरणम् । अग्नेः पूर्वनि-
 पातादेवताद्वन्द्वे मुख्यता ।
- ५ ‘अग्न इन्द्रं दानुषो दुरोणे मुतायतो यज्ञमिहोपं यातम् । अम-
 धन्ता सोमपेयाय देवाः’ (ऋ० सं० ३ । २५ । ४) इति ॥ विश्वामि-
 त्रस्येयमार्षम् । आप्रापणे विनियोगः (मैत्रा० सं० २ । ६ । २ ॥
 ४ । ३ । २) । हे भगवन् अग्ने त्वम् इन्द्रं अस्य दानुषो
 इन्द्रेण सह स्तवः दत्तयते ह्योपि यजमानस्य दुरोणे यज्ञगृहे
 १० मुतायतः अभिपुत्रयतः सोमं मृषं संप्रामम्
 अकुर्वाणौ अन्तरा केनचि सह सोमपेयाय सोमपानार्थम् उपयातमि-
 त्येतदन्तार्थम् ।
- ‘अग्नोपामार्षिम् सु मे’ शृणुनं वृषणा हवम् । प्रति सुक्तानि हर्षतं
 भरनं दानुषे मयः’ (ऋ० सं० १ । ९३ । १) ॥ सोमेन सह
 १५ संस्तरः । गीतमस्वापम् । पौर्णमास्येऽग्नीषोमी-
 सोमेन सह यस्यानुसाकपा (याठक सं० ८ । १०) । हे
 अग्नीषोमी शुशमुष्ये । इमं हवम् आह्वानं मे
 मम शुशु नृणुं हृत्तां वरिवागी । श्रुवा चागच्छतमागत्य च प्रतिहर्षतं
 प्रतिदेष्याम् । मया पूर्वं देवितो प्रतिकामपेधामिमानि मुतानि धोतुम् ।
 २० श्रुवा चमनि भवनं दानुषे शुवां वरिवाग्रे मयः । मुतापिर्ष्येः ।

‘त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान्देवस्य हेळोऽव यासिसीष्टाः । यजिष्ठो
वद्वित्तमः शोशुचानो विश्वा द्वेषासि प्रमुमुग्ध्यस्मत् ’ (ऋ० सं० ४ । १

वरुणेन सह । ४) ॥ वरुणेन संस्तवः । वामदेवस्यार्पणम् ।
अग्नेर्भूधे विनियोगः (आश्व० श्रौ० ६ ।

१३) । हे भगवन् अग्ने त्वम् अस्मान् यथावत् विद्वान् ५
जानानो भक्ता ममैत इति वरुणस्य देवस्य योऽस्मान्प्रति हेळः
क्रोधः तमनेनावभृधकर्मणा अयासिसीष्टा अपगमय । किं च । यस्त्वं
यजिष्ठो यष्टृतमो देवानां होतृत्वे वर्तमाने वद्वित्तमो वोदृतमश्च हविषा सँ त्वं
पुनः पुनः शोशुचानो देदीप्यमानः तेषु तेषु कर्मसु विश्वानि सर्वाणि
द्वेषासि द्वेष्याणि प्रकर्षेण अस्मत् अस्मत्तो मुमुग्धि मुञ्च । वियोजयेत्सर्थः ॥ १०

‘अग्नीपर्जन्याववत धियं मेऽस्मिन्हेवे सुहवा सुष्टुतिं नः । इळीमन्यो
जनयद्रर्भमन्यः प्रजावतीरिप आ धत्तमस्मे’ (ऋ० सं० ६ । १२ । १६) ॥

पर्जन्येन संस्तवः । भरद्वाजस्यार्पणम् । हे अग्नीपर्जन्यौ
पर्जन्येन सह युवामुच्येधे । अवतम् आगच्छतम् इमा वियम्
इदं कर्म प्रति मे मम अस्मिन् हवे अस्मिन्वा-

हाने सुहवौ स्वाहानौ सुष्टुतिं शोभनामिमा स्तुतिं श्रोतुम् । आगत्य च
शुत्वामम् इळीम् अन्नम् अन्य एको जनयतु । गर्भमन्यः । गर्भमेको जनयतु ।
तौ युवामेवं प्रतिसवत्सरं प्रजावतीः प्रजासंयुक्ता इप अन्नानि आभिमु-
ह्येन स्थित्वा धत्त दत्तम् अस्मे । अस्मभ्यमित्यर्थः । १५

१ ग. च. ज. ‘णस्येति वरुणे’; घ. झ. ट. ‘णस्य० गध्यस्मत् । वरुणे’ २०
२ क. ख. हेलेऽव०. ३ क. ख. घ. झ. ट ठ. ड. ‘र्षम् । त्रिष्टुप् । अत’; घ.
‘र्षम् । ~ अव’ त्रिष्टुप् । ४ क. ख. ग. घ. ज. घ. झ. हेलः. ५ ग. घ. ज.
‘तः’ नास्ति. ६ घ. ठ. ड ‘पुन’ ऋद्धेव, ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
अवयो’; घ. वियो’ अव. ८ ग. ‘त्यर्थ’ । ३१ । अग्नी’ . ९ ग. ‘वत’ । पर्ज’;
घ. झ. ट. वत० इप’ . १० क. ख. च. ज. इलाम’ . ११ क. ख. घ. झ. ट.
ठ. ड. ‘र्षम् । त्रिष्टुप् । हे’, घ. ‘र्षम् । ~ हे’ त्रिष्टुप् । १२ क. ख. घ. ख.
ट ठ. ड. इदाम्. १३ क. ख. घ. झ. ट ठ. ड. जनयत् जनयतु, घ. जन-
यत् ~ । गर्भ’ जनयतु. १४ ग. ‘त्यर्थ’ । ३२ । अग्ने’ . १८

अग्ने देवाँ इहा ब्रह्म सादर्या योनिषु त्रिषु । परिभूय पितॄन् ऋतुना ।

(ऋ० सं० १ । १५ । ४) ॥ ऋतुभिः

ऋतुभिः सह संस्तवः । मेधातिथेरार्षम् । ऋतुयाजेषु विनियोगः ।

हे भगवन् अग्ने देवान् इह अस्माकं कर्मणि

५ आवह आहूय । आहूय देवान् सादर्यं योनिषु त्रिषु । सवनेषु त्रिष्वेतान्यथा-
कालं यज । अमुना प्रकारेण परिभूय सर्वतो देवयोगनालंकुरुष्वैतं यज्ञम् ।
आत्मना पितॄन् चैतं सीमम् ऋतुना सह ।

‘ आग्नावैष्णवं च हविः ’ । हविर्ग्रहणाद्भवित् एव संप्रदानार्थं या
ऋचस्ताः संस्तवेनाग्नाविष्णोः सन्ति । तद्यथै ।

१० ‘ अग्नाविष्णूँ सजोपसेमा वर्धन्तु वा गिरः । शुन्नैर्वाजेभिराँ गंतम् ’

आग्नावैष्णवं हविः (मैत्रा० सं० ४ । १० । १ ॥ ४ । ११ ।

२ ॥ तैत्ति० ४ । ७ । १) इत्येवमाद्या ॥

यामदेवस्येयमार्षम् । आग्नावैष्णवे हविषि

विनियोगः (मैत्रा० सं० १ । ४ । १४ ॥ २ । १ । ७ ॥ २ । ३

। ५ ॥ तैत्ति० ४ । ७ । १) । हे अग्नाविष्णूँ सजोपसा

१५ सजोपसो निचं समानप्रीती युवामुष्येधे । एताः अस्मद्भिरः अस्मत्तुतयः

वर्धन्तु वर्धयन्तु युवाम् । यद्धी च सत्यामश्मसंप्रदेयैः शुन्नैः द्योतनवद्भिः

वाजेभिः अग्नेः अम्युद्यतेः अस्मान्प्रति आयातम् ।

‘ न त्वृक्संस्तविषी दशतपीषु विद्यते ’ । ‘ न ’ इति प्रतिषेधः ।

‘ तु ’ शब्दोऽवधारणार्थः । ऋतूँ संस्तविषी

२० अग्नाविष्णोः संस्तवेषुक्तः । दशतपीषु । दशमण्डलावयवम-

संस्तविषी ऋदश- विभागेन तापत इति दशतयः ऋग्वेदः तस्य

मधीषु न विद्यते ।

शाखाः दशतयः तामु तामु मर्त्याँर्हति, व्यागामु,

एतापि एविषि अविनियुक्तः शश्वत्प्रत्यपातिनी ऋग-

१ म. सादर्यं । ऋतुः; घ. स. ट. सादर्यं ऋतुना. २ घ. ए. ए. हा. ट.

१५ ट. ट. ‘ संम् । सादर्या । ऋतुः; घं संम् । - ऋतुः सादर्या । १ घ. ए. घ.

स. ट. ‘ तदपा । सादर्या; घ. तदपी, ४ म. ज. ‘ सजोपसेमया । वाँ;’

घ. स. ट. मग्ने । अग्नेभिराग्ने । सादर्या । सा. ५ ट. ट. ‘ सा गतम् ।

सादर्याः सादर्या । सा. ६ घ. ‘ संम् । - आँ सादर्या । ७ घ. ए. घ. हा. ट. ट.

‘ ट. निचं सजोपसो निचं समानं; घ. निचं - समानं सजोपसो. ८ घ. ए. ट.

ट. ‘ दीती वाँ दुता;’ म. ज. ‘ दीताँ दुता;’ घ. स. ट. ‘ दीती वाँ दुता;’ घ.

‘ दीती - दुता. ९ म. ज. सादर्या; घ. सादर्या. १० घ. म. घ. स. ट. ट.

१९ ‘ अग्निं दशतयुः ’ अग्निः; घ. अग्निं दशतयुः.

प्राविष्णोः संस्तविकी नास्ति । स्यादप्यन्यत्र संस्तविकी न तु दशत-
यीषु । असंस्तवेन वा दशतयीष्वपीत्युत्सर्गं दर्शयत्येवमेतन्मया निपुण-
मन्विष्यत इति ।

अथाप्ययमपर उत्सर्गः । ' अथाप्याग्नापौष्णं हविः ' एव ' न तु
संस्तवः ' । तस्मिन्तु हविषि कित्तु पृथक्पृथगे- ५
आग्नापौष्णं हवि- वाग्निः स्तूयते पूषा च । ' तत्र ' तस्मिन्संस्तवे
रेव न तु संस्तवः अग्नापूष्णोः ' एतां विभक्तंस्तुतिमृच्चमुदाहरन्ति ' ६
नैरक्ताः ॥ ८ ॥

पूषा त्वेतश्च्यावयतु म विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः । स १०
त्वैतेभ्यः परिददत्पितृभ्योऽग्निदेवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः (ऋ० सं०
१० । १७ । ३) ॥ पूषा त्वेतः प्रच्यावयतु विद्वाननष्टपशुर्भु-
वनस्य गोपा इत्येष हि सर्वेषां भूतानां गोपायितादित्यः स त्वैतेभ्यः
परिददत्पितृभ्य इति सांशयिकस्तृतीयः पादः पूषा पुरस्तात्तस्या-
न्वादेश इत्येकमग्निरुपरिष्ठात्तस्य प्रकीर्तनेत्यपरम् । अग्निदेवेभ्यः १५
सुविदत्रियेभ्यः । सुविदत्रं धनं भवति विन्दतेर्वैकोपसर्गाद्ददातेर्वा
स्याद्दशुपसर्गात् ॥ ९ ॥

पूषा त्वेत इति । देवत्रयसो यासायनस्वार्थम् । शवस्य कर्णे प्रमी-
तानुमन्त्रणे विनियोगः (आश्व० श्रौ० ६ । १०) । प्रमीत उच्यते । २०

१ ग. ज. सास्त; घ. सास्त 'स. २ ग. च. ज. सास्त'. ३ ग. ज. पौष्णव;
च. पौष्णव 'ष्णं. ४ ग. ज. ट. तस्मिन्स्तल'; घ. तस्मिन्स्तल'. ५ ट. ड.
विभक्तिस्तु'. ६ क. ख. १ (८); ग. १; ठ. ८ । इति नि० उत्तरपरके मय-
माध्याये अष्टमः खण्डः । ८ ।; ड. ८; इतरेष्वशो नास्ति. ७ क. ख. 'इत्ये';
छ. त. 'इपाते'; द. 'इपाते' दा. ८ क. ख. २ (९); छ. १०; त. द. २.
१ ग. त्वेत 'इति; अ. पूषा त्वेत इति सर्वां ऋदीयते. १० घ. ट. 'मन्त्रे मा'.
११ क. ख. घ. झ. ट. ड. 'र्षम् । त्रिष्टुप् । इ'; ग. ज. 'र्षम् । चुनस्वर्णं;
घ. 'र्षम् । 'शमस्य' त्रिष्टुप् । १२ क. ख. घ. झ. ट. ड. सन्मी'; घ. ५
सन्मी' घ.

पूषा भगवान् आदित्यः पथामधिपतिः । सः त्वाम् इतो मनुष्यलोकात्
विशिष्टेन पथा प्रच्यावयतु प्रंगमयतु विद्वान्
अग्निपूष्णोर्विभ- अव्यवहितज्ञानः । सर्वत्र ज्ञानाव्यवधानादेव च
क्तस्तुतेरुदाहरणम् अनष्टपशुः । भुवनस्य गोपाः । भुवनस्य भूत-
जातस्य गोपाः रक्षिणा उपर्यवस्थितः । स

५

पूषा एवंलक्षणः त्वां प्रगमस्य एतेभ्यश्चन्द्रमण्डलोपान्तवासिभ्यः पितृभ्यः
परिददातु । तदुक्तम् । ' दक्षिणायनात्पितृलोकम् ' (निरु० १४ । ८)
इति । अग्निः अपि चैतेभ्य उक्तव्य देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यो ये विशुतो
मध्ये निवसन्ति तेभ्यः परिददातु । तदुक्तम् । ' चन्द्रमसो वैशुतम् '
१० (छान्दो० उ० ५ । १० । २) इति । स त्वमेवमुभापि देवलोक-
पितृलोकावम्यश्रुहीत्याशीः प्रमीतस्य । उक्तं च ' ये देवयानाः पितृ-
यानाश्च लोकाः सर्वास्ताननृणाः संचरेम ' (मान० श्रौ० २ ।
५ । ५ । २२) इति ।

१५

स्तुतिविभागे द्वे
मते

' स त्वैतेभ्यः इति सांशयिकस्तृतीयः पादः ' । संशयोऽस्मिन्नस्तीति
सांशयिकः तृतीयः पादोऽस्या ऋचः । कथं
कृत्वा । यथा ' पूषा पुरस्तात् ' ' पूषा त्वेतश्च्याव-
यतु ' इति । ' तस्यान्वादेश इत्येकं ' सामर्था-
दर्शनम् । तथा व्याख्यातमेव । त्रयः पौष्णाः पादा

२०

एक एवाग्नेयः । एवमियं विभक्तस्तुतिः । अथवा । द्वावुत्तरावाग्नेयौ ।
तत्रार्थयोजना । पूष्णा प्रच्यावितं सन्तं सोऽग्निर्वक्ष्यमाणस्त्वामेतेभ्यः पितृभ्यो
देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः परिददातु । मा पितृभ्यः प्रेतेभ्य इत्यभिप्रायः ।
' तं प्रेतं दिष्टमितोऽप्रप एव हरन्ति ' (छा० उ० ५ । ९ । २)
इत्यपेक्ष्य सर्वनाम्नश्चोत्तरेणाप्यग्निदान्देन संबन्धमविरुध्यमानं व्यपेक्ष्याक-
ल्पयन् ' अग्निपरिष्टान्तस्य प्रकीर्तनेन्यपरम् ' इति ।

२५

सुविदप्रशब्द-
स्य व्युत्पत्तिः

' सुविदत्रं धनं भवति ' ' विन्दनेर्वा ' ' सु ' इत्येतेन एकेन उपस-
र्गेण उपसृष्टात् । ' ददातेर्वा ' ' सुविम्हां ' द्वाभ्यामु-
पसर्गाभ्या युक्तात् । तदेषामस्ति ते सुविद-
त्रियाः ॥ ९ ॥

१ ग. ज. भूतस्य. २ क. म. घ. झ. ट. ठ. ड. तदुत्पुत्रं. ३ च. 'कल्पय'.
४ क. ल. २ (९), ग. १०; ड. 'येभ्यः । इति निरु० उत्तरपट्टकप्रथमाध्या-
ये नामः सण्डः । ९ ।; ड. ९ इति निरु० उत्तरपट्टकटीकायां प्रथमाध्याये नवमः
२१ सण्डः । ९ ।, इतिोपश्लो नास्ति.

अथैतानीन्द्रभक्तान्यन्तरिक्षलोको माध्यंदिनं सवनं ग्रीष्पस्त्रि-
 पुष्पञ्चदशस्तोमो बृहत्साम ये च देवगणाः समान्नाता मध्यमे
 स्थाने याश्च स्त्रियोऽथास्य कर्म रसानुप्रदानं वृत्रवधो या च
 कौ च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तदथास्य संस्तविका देवा अग्निः सोमो
 वरुणः पूषा बृहस्पतिर्ब्रह्मणस्सतिः पर्वतः कुत्सो विष्णुर्वायुरथापि
 मित्रो वरुणेन संस्तूयते पूष्णा रुद्रेण च सोमोऽग्निना च पूषा
 चातेन च पर्जन्यः ॥ १० ॥

५

‘ अथैतानीन्द्रभक्तीनि ’ । पूर्ववत्सर्वम् ‘ अन्तरिक्षलोकः ’ इत्येवमादि ।
 ‘ ये च देवगणाः समान्नाताः ’ (निघ० ५ । ५ । ८—१५)
 महदादयः ‘ याश्च स्त्रियः ’ (निघ० ५ । ५ । १६—३६)
 अदित्याद्याः ।

१०

‘ अथास्य कर्म रसानुप्रदानम् ’ अवश्याययर्थादि ‘ वृत्रवधो ’ मेघ-
 वधः । ‘ या च का च बलकृतिः ’ अन्यापि
 इन्द्रकर्म ‘ इन्द्रकर्मैव तत् ’ इत्यादरार्थं पुनर्वचनम् ।
 अपि कीटपिपीलिकादिषु यद्वलेन क्रियते सर्वमि-
 न्द्रकर्मैव तादिति ।

१५

संस्तविका देवाः ‘ अथास्य संस्तविकाः देवाः अग्निः ’ इत्येव-
 मार्दयः ।

‘ इन्द्राग्नी रोचना दिव्यं परि वाजेषु भूपथः । तद्वा चेति प्र
 वीर्यम् ’ (ऋ० सं० ३ । १२ । ९) इति ॥
 अग्निना संस्तवः विश्वामित्रस्वेयनार्थम् । ऐन्द्राग्ने हविषि विनि-
 योगः (मैत्रा० सं० २ । १ । १) । हे इन्द्राग्नी रोचना रोचनौ
 दीपनौ हविषा च उदकेन च दिवः परिभूपथो वाजेषु अस्मान् सर्वतः ।

२०

१ छ. त. द. काचिद्वल. २ द. 'नेन च सस्त'. ३ छ त. द. सोमो वायुना २५
 च पू. ४ क. ख. ३ (१०), छ. ११; त. द. ३. ५ ग. च. ज. 'च'
 नास्ति. ६ क. ख. ष. झ. ट. ठ. ड. 'दयः । तपया । इन्द्रा'; ग. 'दय'. २५।
 इन्द्रा'; घ. 'दयः । इन्द्रा' तपया । ७ ग. ज. टि इति । विष्वा'; घ. झ. ट.
 दिवः । विष्वा'. ८ ठ. ड. 'इति' नास्ति. ९ घ. झ. ट. ठ. ड. 'दियः ।
 वायवी । रे'; घ. 'वैस्वैर्वा-मार्ते'. १० वः । गायत्री ।

३०

१ ' दिश्वं सत्यं मघवाना युवोरिदापथ्वन प्र भिनन्ति व्रतं वाम् । अश्वे-
न्द्राब्रह्मणस्पती हविर्नोऽन्नं युजेव धाजिना जिगा-
बृहस्पतिना तम् ' (ऋ० सं० २ । २४ । १२) ॥

इति ब्रह्मणस्पतिना संस्तवः । गृन्समदस्येयमा-
र्षम् । विश्वं सत्यं जगत् सत्यं यावदिदमस्ति किञ्चित् हे
मघवाना मघवानौ धनवन्तौ इन्द्राब्रह्मणस्पती युवामुत्पेथे युवोः युजयोः
सर्वमेतत्त्वभूतम् । किं व । यतः सर्वस्येगानौ स्थः अतः आपोऽपि
न प्रमिनन्ति न हिंसन्ति व्रतं कर्म वा युजयोः । यथासंकल्पं वर्तन्ते ।
यौ युवामेवमतिमहानुभावौ तौ अम्माकम् आभिमुख्येन इदं हविः जिगा-
तम् आगच्छतं भोक्तुं युजाविव सहचारिणौ वाजिनौ रथाद्रिमुक्तौ
सुभुक्षु स्वम् अन्नम् । इत्येतदाशार्षमिहे ।

१ ' इन्द्रापर्वतौ बृहता रथेन वामीरिप आ वंहतं सुरीराः । वीतं हव्या-
न्यश्वरेषु देवा वर्षेथा गीर्भिरिळ्यौ मर्दन्ता ' ५
पर्वतेन (ऋ० सं० ३ । १३ । १) ॥ पर्वतेन
संस्तवः । विश्वमित्रैर्यार्षम् । हे इन्द्रापर्वतौ १५

देवौ युजामुत्पेथे । बृहता महता रथेन महता उदकरहणेन उदकदानेन
वामीः वननीया इप. अन्नानि आवहतम् ईरयतम् । व्रीह्यादीनि प्रेरयतम् ।
सुरीराः शोभनवीराः । ततः स्ये काळे ईजानानामस्माकं वीतं भक्षयतं
हव्यानि अप्परेषु पुरोडाशादीनि वर्षेथा च गीर्भिः स्तुतिभिः पुनः पुनः
प्रतिकर्म इळ्यौ अन्नेन मदन्तौ तृप्यन्तौ । इत्येतदाशार्षमिहे । २०

१ ग. ज. सत्यमिति ब्रह्मं; घ. झ. ट. सत्य मघ० वाजिना जिगात । ब्रह्मं.
२ ठ. ड. ' इति ' नास्ति. ३ घ. झ. ट. ठ. ड. गृत्समदः । त्रिष्टुप् । विश्वं, ०.
४ च. ' र्षम् । - विश्वं त्रिष्टुप् । ५ ग. ज. सत्य वा यद्विदमस्ति'. ६ क. ल. ग.
ज. घ. झ. ट. ठ. ड. किञ्च; ७ च. किञ्चित्' घ. ८ घ. झ. ट. ठ. ड.
यत. ९ क. ल. घ. झ. वर्तते. १० ग. 'महे । ३१ । इन्द्रा'. ११ ग.
' वंता ० । पर्वतेन'; घ. झ. ट. ' वंता ० मर्दन्ता. १२ क. ल. घ. ज. ' त्रिष्य.
१३ घ. झ. ट. ठ. ड. ' मित्रः । त्रिष्टुप् । हे'; च. मित्रस्यार्षं । - हे' त्रिष्टुप् ।
१४ ठ. ड. पुरोडाशा'. १५ क. ल. ग. घ. ज. झ. इत्था; घ. ठ. ड.
इत्था. १६ ग. 'सने । ४० । इन्द्रा'.

‘ इन्द्राकुत्सा वहमाना रथेना धामत्या अपि कर्णे वहन्तु ।

निः पीमद्भयोर्धर्मयो निः पधैस्याग्मघोनो हृदो

कुत्सेन

वर्धस्तमोसि ’ (ऋ० सं० ५ । ३१ । ९) ॥

कुत्सेन संस्तवः । अवस्योरार्षम् । हे इन्द्राकुत्सा वहमानौ उह्यमानौ रथेन

- ५ युवा वृषे । आवहन्तु वाम् अत्याः अश्वाः अपि कर्णे नित्यं कर्मणे ।
ततश्च कर्मणा परितोषिनौ अस्माभिः निः पीम् अद्भयो निर्धमथः सर्वतः
अरीन् निः पधस्थात् समानस्थानादन्तरिक्षादद्भयः अपः । तत ओपध्या-
द्युपस्था सुकालं कुर्वाणौ मघोनः महान्येतानि तमासि हृदो हृदयस्य छाद-
कानि अनाकालमयकृतानि वरथः वारयथ इत्येतदाशास्महे ।

१० ‘ इन्द्राविष्णुं दंष्टिताः शम्बरस्य नव पुरो नवति च श्रथिष्टम् । शतं

वर्धिनः सहस्रं च साकं हृधो अंप्रत्यसुरस्य

विष्णुना

वीरान् ’ (ऋ० सं० ७ । ९९ । ६) ॥

विष्णुना संस्तवः । वसिष्ठैस्वार्षम् । त्रैधातव्यां

१ विनियोगः (मैत्रा० सं० २ । ४ । ४) । हे इन्द्राविष्णु युवां दंष्टिताः

- १५ स्थिरीकृताः शम्बरस्य मेघस्य असुरस्य वा स्वभूताः पुरः श्रथिष्टं हत-
वन्तौ स्थः । ताश्च हत्वा मेघान्तर्गतान् शतं वर्धिनः दीप्तिमतोऽन्नवतो वा
सहस्रं च साकम् अस्थितान् सहभावेन एकनिश्चयान् हृधो हतवन्तौ
स्थः अति वीरान् असुरस्य शम्बरस्य स्वभूतान् । यौ युवा-
मेतदतिदुष्करमकार्षं तास्माकमपि शत्रून् हथ इत्येतदाशास्महे ।

- १० १ ग. 'कुत्सा० । कुत्सेन' ; घ. स. ट. 'कुत्सा ५० वरथ' . २ च. निः पीम° .
३ च. निः ऋध° . ४ क. ख. घ. स. ट. ठ. ड. धम् । विष्टुर् । हे° ; घ. 'धम् ।
- हे° विष्टुर् । ५ ग. 'स्महे । ४१ । इन्द्रा° . ६ ग. 'द्विता० । विष्णु° ; घ. स.
ट. 'द्विताः ० अरथसु° . ७ घ. स. ट. ठ. ड. वसिष्ठः । विष्टुर् । अ्रे° , च. वसि-
ष्ठस्वार्षम् । ८ अ्रे° विष्टुर् । ८ क. ख. घ. स. ट. ठ. ड. शंवरस्य नवति नव च
पुरः वेच° ; च. अम्बरस्य - मे° नवति नव च पुरः . ९ ग. ज. वा भूताः . १० क.
ख. घ. स. ट. ठ. ड. अति वरनीकृतान् वी° ; च. अति - वी° अतिवृत्ता-
१७ तान. ११ ग. 'स्महे । ४१ । इन्द्र° .

‘ इन्द्रवायु इमे मुता उप प्रयोभिरा गंतम् । इन्द्रो वायुशान्ति
 हि (ऋ० सं० १ । २ । ४) ॥ वायुना
 वायुना संस्तयः । मधुच्छन्दैस आर्यम् । उपात्तद्विक-
 र्भात्मनो हि मय्यमस्य एकस्यापि वाय्विन्द्रभावेन
 विकरणधर्मित्वाद्द्वित्वं विभ्रतो नैरुक्तपक्षेऽपि द्विवचनसंस्तुतिरविरुद्धा ५
 यथैकस्योदकस्य द्विपात्रस्थस्य द्विवचनेनोक्तिः । ऐन्द्रवायवस्य प्रहस्य
 पुरोनुवाकर्यम् (मैत्रा० सं० १ । ३ । ६) । हे इन्द्रवायु युवामु-
 ध्येथे । इमे मुता अभिपूताः इन्द्रवः । सोमाः इत्यर्थः । मुसस्कृताः सोमा
 यस्मात् उशन्ति कामयन्ते युवामात्मनः पानाय तस्मादुपागच्छतं पातुमे-
 तान् । कथं च पुनरपागच्छतम् । प्रयोभिः अत्रैरस्मत्संप्रदेयैरभ्युद्यतैरित्ये- १०
 तदाशास्महे ।

‘ अथापि मित्रो वरणेन संस्तूयते ’ । ‘ अथ ’ शब्दः प्रकृतादि-
 इतराः का देवता न्द्राद्विशेषतो मित्रादी-प्रकरोति । ‘ अपि ’
 काभिः संस्तूयन्ते इति संभावने । प्रकृताभ्यरितस्युभ्यो देवताभ्यः
 पराण्यपरेणाभिधानेन संस्तययुक्तानीति भेदपक्षे १५
 अविरेद्धमेव । नैरुक्तपक्षे यद्विरुद्धाभासमिदं किञ्चि-
 दत्र तदिन्द्रवायुसंस्तवे प्रतिसमाहितम् । ‘ मित्रो वरणेन ’ इत्येवमादिपु
 या प्रथमया निर्दिश्यते सा मुख्यस्तुतिः या तृतीयया सामुह्या । सा
 च निर्दिष्टा ।

१ ग. अ. ज घ. झ. ट. मुता इति वायुना°. २ क. रा. हि । इति । वायु°. २०
 ३ घ. झ. ट. ठ ड. °च्छन्दा गायत्री । उपा°. ४ क. ल. प. झ. ट. ठ. ड.
 °त्मनोऽपि हि°; घ. °त्मनो° हि° पि. ५ क. ल. घ. झ. ठ. ड. °वनोक्तिः;
 ट. अ. °नोक्ति° ने. ६ ग. ज. °यन्ति, घ. °यन्ति यु° न्ते. ७ क. ल. ग. ज. घ.
 झ. ट. °मात्मपाना°; घ. °मात्मनः पा°. ८ क. ल. घ. झ. ट. ‘ अ ’ नास्ति,
 घ. घ. ९ क. ल. ग. ज. ट. ठ. °विशेष एव°; घ. अविरेद्धं एव° तेष. १० क.
 ल. घ. झ. ट. ठ. ड. मुस्यास्तु°, घ मुस्यास्तु° स्या ११ क. ल. प. झ. ट.
 ठ. ड. °यया निर्दिष्टा सामुह्या । आ नो°; घ °यया सा अमुह्या सा यं वि-
 दिष्टा° निर्दिष्टा सामुह्या. १२ ग. °हा । ४३ । आ°.

‘ आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम् । मध्वा रजांसि सुकृतू ’

मित्रो वरुणेन (ऋ० सं० ३ । ६२ । १६) इति ॥ विश्वा-
संस्तूयते मित्रैस्त्वार्यम् । मैत्रावरुण्याः पयस्यायाः पुरोनु-
वाक्या (मैत्रा० सं० २ । ३ । १) । हे

५ मित्रावरुणौ सुकृतू शोभनकर्माणौ युवामुच्येथे । गव्यूतिं गोयूतिं
यवसोदकोत्पत्तये रजांसि च गोयूतेर्यान्यन्यानि ब्रीह्यादिधान्योत्पत्तिक्षेत्राणि
तानि च ब्रीह्याद्युपत्तये मध्वा मधुरेण सस्यसंपत्कारेण उदकेन अस्माकम्
उक्षतम् अर्वा सिंचतमित्येतदाशास्मिहे ।

१० ‘ सोमापूषणा जनर्ना रयीणां जनना दिवो जनना पृथिव्याः । जातौ
विश्वस्य भुवनस्य गोषी देवा अकृष्वन्नमृतस्य
पूषा सोमेन संस्तू नाभिम् ’ (ऋ० सं० २ । ४० । १) ॥
यते पूषा सोमस्य संस्तवः । गुत्समदस्येयमार्यम् ।

सोमापूषणस्य चरोः पुरोनुवाक्या (मैत्रा०
सं० २ । १ । ४—५ ॥ २ । २ । ४) । सोमापूषणौ चन्द्रसूर्यौ ।
१५ तावुच्येते । सोमापूषणा हे सोमापूषणौ युवां जननौ जनयितारौ रयीणां
धनानां जनयितारौ च स्वेनोपकारेण दिवो जनयितारौ पृथिव्याः जातौ
यातमात्रादेव युवां विश्वस्य सर्वस्य भुवनस्य भूतजातस्य गोषी गोप्तारौ
यमूवधुः । देवाश्च रदमवो युवामेव अमृतस्य उदकस्य नाभिं नहनं बन्ध-
नम् आधारं सार्वभौमिकिरस्य अकृष्वन् सदा कुर्वन्ति । युवामिदं नामास्माकं
२० पुरतभिन्वाशिवा निरावाइक्षीम् ।

- १ ग. व. ज. ‘रुणा घृतैरिति विश्वा’; प. स. ट. ‘४० ० रजांसि सुकृतू ।
विश्वा’; २ ठ. ट. ‘इति’ नारित. ३ प. स. ट. ठ. ट. ‘मित्रो गायत्री ।
मैत्रा’; व. ‘मित्रार्यम्’ । ‘मैत्रा’ गायत्री १. ४ प. स. ट. ठ. ट. ‘ये । घृतेः
उद्वैर्गव्यू’; ५ क. स. प. स. ट. ठ. ट. ‘न्यानि स्थानानि मी’; व. ‘न्यानि -
१५ श्रीस्थानानि. ६ क. स. प. स. ट. ठ. ट. ‘क्षतं हि’; व. ‘क्षतं आति’; ७ क.
स. प. स. ट. ठ. ट. ‘स्मरे । पूषा इद्रेण च सोमः । सोमा’; ग. ‘स्मरे । ४५ ।
सोमा’; व. ‘स्मरे - सोमा’ पूषा इद्रेण च सोमः < ग. ‘नना० । पूषा’; प.
स. ट. ‘नना० पृषु’; ९ प. स. ट. ठ. ट. ‘मदः । मिष्टुय । सो’; व. ‘मदः ।
‘ सो’ मिष्टुय । १० क. स. प. स. ट. ठ. ट. ‘सोमा’; ग. ज. ‘सोमापूषण’.
११ प. स. ट. ठ. ‘तारौ च दृ’ व. ‘तारौ - दृ’ व. १२ ग. ज. ‘पिन्या । जन-
विन्दारौ च । जातमाज’; व. ‘पिन्याः । श्वेदितारौ च । ज्य’; १३ ग.
१२ ‘वाट् ५ । ४५ । सोमा’.

‘ सोमारद्रा युवमेतान्यस्मे विश्वा तनूपु भेषजानि धत्तम् । अत्र स्यतं
मुञ्चतं यन्नो अस्ति तनूपु बद्धं कृतमेनो अस्मत् ’

सोमो रुद्रेण (ऋ० सं० ६ । ७४ । ३) ॥ रुद्रेण

सस्तवः । भरद्वाजस्येयमार्षम् । सोमारौद्रस्य

चरोः पुरोनुवाक्या (मैत्रा० सं० २ । १ । ५—६) । हे सोमारद्रौ

युवामुच्येधे । एतानि सर्वाणि भेषजानि अस्मे अस्माक तनूपु शरीरेषु

धत्तम् । किंच । अवस्यतं नित्यमस्मानवितु रक्षितुमिच्छतम् । किंच ।

यत् अस्माकं मनोवाक्कायैः कृतम् एन. किंचिदस्ति तनूपु बद्धं तन्मु-

ञ्चतम् अस्मत्तः ।

‘ अग्निना च पूषा ’ । मध्यमेन च युस्थानेन च सस्तव इति १०

अग्निना च पूषा पार्थिवेन प्रतिषेधात् । ऋचं नोदाहरन्ति ।

भृग्यमुदाहरणम् । वायुना संस्तवैः । वातेन

च पर्जन्यैः ।

‘ धतारो दिव ऋभैवः सुहस्ता वातापर्जन्या महिषस्य तन्यतो । आप

घातेन च पर्जन्यः ओषधीः प्र तिरेन्तु नो गिरो भगो रातिर्वाजिनो १५

यन्तु मे हवम् ’ (ऋ० सं० १० । ६६ ।

१०) ॥ असुर्कर्णस्यार्षम् । धतारो दिवः इति ऋभवः शोभनहस्ताः

वातापर्जन्यौ च आपश्च ओषधयश्च भगश्च रातिः दाता वाजिनश्च धार-

यितारो द्योत्तनवन्तो ये उक्ताः अर्ष्ये उदकस्य महिषस्य महतः तन्यतोः

१ ग. ‘मितानि’ । रुद्रे°, घ. झ. ट. ‘मेता ० कृतमेनो° । २ घ. झ. ट ठ. २०

ड. °दाज । विष्टुप् सो° । ३ च. ‘र्षम् । ~ सो° विष्टुप् । ४ क. ख. ग ज. घ. झ.

ट. ड. सेमारौ°, ठ. सेमारुद्र°, च सोमारौद्र° सोमारौ° । ५ ग ज. ‘शरीरेषु’

नास्ति. ६ क. ख. घ. ट. ठ. ड. °ञ्चत अस्मत् आरभत् । ७ क. ख. मध्यमरथा-

नेन, घ. झ. ट. ठ. ड. मध्यरथानेन, ग. ज. मध्यमेन व यु° । ८ क. ख. घ झ.

ट. ठ. ड. °हरति. ९ ग. ज. °सस्तव । सप्त ऋषय इत्यञ्च तत्र जागृते । आरभजानि-

त्येतरिमग्यादे वाय्वाङ्गित्याविति वक्ष्यते । वातेन° । १० ग. °न्यः । ४६ । घर्षा°.

११ ग. °भवः । वसु°, घ झ. ट °भवः ० यतु° । १२ ग ज. ठ. °कर्मस्या°,

घ. झ. ट. ड. °कर्णस्यार्षम् । विष्टुप् । घ°, च. °कर्णस्यार्षम् । ~ घ° विष्टुप् ।

१३ क. ख. घ. झ. ट. ठ ड. ‘इति’ नास्ति. १४ क. ख. घ. झ. ट. ‘आप’ नास्ति, च. अर्ष्ये, १५ ग. ज. ‘उदकस्य’ नास्ति. ३०

सर्वार्थतनितुः हृष्यम् आह्वानम् अस्माकम् आयन्तु आगच्छन्तु आगम्यं
च प्रतिरन्तु प्रतीर्णाः कुर्वन्तु एता अस्मद्भिरः । यर्धयन्त्वित्यर्थः । वाताय-
र्जन्याविस्यत्र सेस्तवः ॥ १० ॥

- ५ अथैतान्यादित्यभक्तीन्वसौ लोकस्तृतीयसवनं वर्षा जगती
सप्तदशस्तोमो वैरूपं साम ये च देवगणाः समाम्नाता उत्तमे
स्थाने याश्च स्त्रियोऽथास्य कर्म रसादानं रश्मिभिश्च रक्षेभारणं
यैश्च किञ्चित्पबल्लितमादित्यकर्मैव तच्चन्द्रमसा वायुना संवत्सरे-
णेति संस्तवं एतेष्वेव स्थानव्यूहेषुतुच्छन्दःस्तोमपृष्टस्य भक्ति-
१० शेषमनुकल्पयति शरदनुष्टुबेकविंशः स्तोमो वैराजं सामेति पृथि-
व्यायतनानि हेमन्तः पङ्क्तिस्त्रिणवः स्तोमः शाकरं सामेत्यन्तारि-
क्षायतनानि शिशिरोऽतिच्छन्दास्त्रयस्त्रिंशः स्तोमो वैवतं सामेति
धुभक्तीनि ॥ ११ ॥

- १५ 'अथैतान्यादित्यभक्तीनि' । पूर्ववत् 'असौ लोकः' इत्येवमादि ।
'सूर्यो धुस्थानः' (निघ० ७ । ५) इति पूर्वमधिकृत्य 'अदित्यभ-
क्तीनि' इहाश्रयीद्विशेषतः स्वपक्षोद्योतनानुस्मृतये ।

- 'ये च देवगणाः समाम्नाता उत्तमे स्थाने आदित्यादयः' (निघ०
५ । ६ । २४-२९) । 'याश्च स्त्रियः' उपाः सूर्या इषाकामापी सैरुपूः
२० (निघ० ५ । ६ । २-५) देवगण्यः (निघ० ५ । ६ । ३१) इति ।

'अथास्य कर्म' रसादानादि । 'यैश्च किञ्चित्पब-
आदित्यकर्म लिहितमादित्यकर्मैव तत्' । 'चन्द्रमसा वायुना
संवत्सरेणेति संस्तवः' । अस्मन्नास्त्रयस्त्रिंशः
ब्रवीति नाभिचारवचनं करोति 'अधार्थं' इति ।

- १५ १ च. हवनम्. २ क. रा. घ. झ. ट. ठ. ड. गत्य. ३ क. ल. : (१०);
ग. ११; ठ. ड. १० । इति निघ० (ड निरुक्तीकायां) उत्तमपटके प्रथमाध्या-
ये दशमः खण्डः । १० । ४ क. य. घ. ठ. ड. रसाधा, ५ छ. त. द. यत्तु.
६ क. ल. त. द. °स्तवः । ४ । एते; उ. °स्तवः । १२ । एते. ७ छ. 'इकि-
स्तुण'. ८ क. ल. ५ (११); छ. १२; त. द. ५. ९ क. ल. घ. झ. ट. ठ.
ड. 'कीर्तिनि । पू'. १० क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड. 'इत्य अर्थतान्यादि'; च.
'इत्य - आदि' अर्थतानि. ११ क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड. इतीक्ष्णः; च.
'कीनि - इक्ष' इति. १२ क. उत्पू. १२ म. च. ज. यच. १४ म. °स्तेति ।
१२ ४७ । पूर्वा.

‘पूर्वापरं चरतो माययेतो शिशू क्रीळन्तौ परिं यातो अध्वरम् । विदना-
चन्द्रमसा संस्तवः न्यन्यो भुवनाभिचष्टे ऋतूरन्यो विदधंजायते
पुनः’ (ऋ० सं १० । ८५ । १८) ॥

चन्द्रमसा संस्तवः । सूर्यायाश्चार्यम् । राजयज्ञमेष्टया वैश्वदेवस्य चरोः पुरो-
नुवाक्येया (मैत्रा० सं० २ । २ । ७) । पूर्वापरं चरतः सूर्याचन्द्र- ५
मसा । पूर्वपक्षे पूर्वः सूर्योऽपरश्चन्द्रमाः । अपरपक्षे पुनरपरः सूर्यः पूर्वश्च-
न्द्रमाः । एवम् एतौ चरणम् अनुपरैतं चरन्तौ सर्वदा चरतः । तौ पुनः
मायया योगैश्वर्यकृतया कयापि प्रज्ञयेति । कस्तत्त्वं वेद । न ह्ययोगिना-
वेवं शक्तौ चारितुमिति । अपि चैतदतिचित्रं यदपरिखिद्यमानौ आभूत-
संस्तरात् शिशू इव क्रीळन्तौ अध्वरं मङ्गं निष्पादयन्तौ सर्वमिदं परियातः १०
परिगच्छतः । तत्कथमिति । विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्टे । विश्वानि भुव-
नानि भूतानि अन्यः अभिचष्टे अभिपश्यति आदित्यः । यथैतान्याभिदृष्ट-
व्यानि उपकारकत्वेन तैथा स एव तानि पश्यति । ऋतूरन्यः चन्द्रमाः विद-
धत् अभिनिष्पादयन्स्वगत्या पुनः पुनः प्रतिमासं जायमान उदेत्यस्तमेति
च । असंस्तवेनोचरोऽर्धर्चः । यावेतदेवमत्यद्भुतं किमपि चरणं चरतस्ता- १५
वेतौ अगदमस्मद्यजमानं कुरुतमित्याशिषा निराकाङ्क्षः ।

वायुना संस्तवः । सप्त ऋषयः प्रतिहिताः इत्यत्र । तत्र ‘जागृतो
वायुना संस्तवः अस्वमजौ’ इत्यास्मिन्वादे ‘वाध्वादित्वौ’ इति
वदति (निरु० १२ । ३७) ।
संस्तरेण च संस्तवः । ‘पञ्चपादं पितरम्’ २०
इति व्याख्यानम् (निरु० ४ । २७) ।

१ ग. चरतः । चन्द्र’; घ. झ. ट. चरतः ० जायते०. २ क. ख. च. क्रीडन्तौ;
ज क्रीलन्तौ. ३ घ. झ. ट. ‘र्धम् । जगती । राज’; च. ‘र्धम् । राज’ जगती.
४ क. ख. घ. झ. ट. ड. ‘परतो, च. परत’ तौ. ५ घ. झ. ट. ‘वेध. ६ क.
ख. क्रीडन्तौ’; ग. च. ज घ. झ. क्रीलन्तौ. ७ क. ख घ. झ. ट. ठ. ड. ‘यज्ञम २५
भिनिपा’ . ८ घ. झ. ट. उ ट. विश्वा विश्वानि’; च √ विश्वा’ विश्वा. ९ क.
ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘अन्य’ नास्ति. १० क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. अर्थ’;
च. कथं अ(ध), ट. अर्थे’ य. ११ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. तथैव स तानि.
१२ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. इत्येतस्मि’ . १३ क. ख. ‘स्यातः । ४ । एते’;
च. ‘स्यात’ तः; ग. ‘स्यात । १२ । एते’; घ. ज. रयातमित्यनन्तर एण्ड
समाप्तिः; घ. झ. ट. ठ. ड. ‘स्यात’.

‘ एतेष्वेव स्थानव्यूहेष्वृतुच्छन्दःस्तोमपृष्ठस्य भक्तिशेषमनुस्वरपीत ’ ।

अन्वेषामृतुच्छन्दः ऋतुच्छन्दःस्तोमपृष्ठम् । तस्य ऋतुच्छन्दःस्तोम-
आदीनां स्थानानि पृष्ठस्य । ऋतुभक्तिशेषं छन्दोभक्तिशेषं स्तोम-

५

भक्तिशेषं पृष्ठभक्तिशेषं च । तथा । ‘ शरदनु-

ष्टुवेकविंशः स्तोमः वैराजं सामेति पृथिव्यायतनानि ’ । अनग्निलिङ्गेऽपि

चेन्मन्त्र एतेषामन्यतमं स्यात्स आग्नेय इति प्रतिपद्यन्व्यः । एवमेवोत्तरयो-

रपि, स्थानव्यूहयोः । व्यूहो नाम विस्तारः । ‘ हेमन्तः पङ्क्तिखिण्वः

स्तोमः शाकरं सभोत्यन्तरिक्षायतनानि ’ । ‘ शिशिरोऽतिच्छन्दाः त्रयस्त्रिंशः

स्तोमो रैवत सामेति शुभक्तीनि ’ । सा भजन्त इति शुभक्तीनि चौरपि

चादित्यं भजत इति । भक्तिग्रहणं प्रणाडिकोपप्रदर्शनार्थं यैतेषां स्तुतिः सा

स्तुतिसंक्रमणन्यायेन स्थानाधिपतेः सूर्यस्य स्तुतिरिति । सर्वत्रैवम् ।

आह । सर्वभेदान्मन्त्राश्रयभूतम् । त एव सायन्मन्त्राः कस्मान्मन्त्रा इति

उच्यन्ते । यत आह ॥ ११ ॥

१५

मन्त्रा मननाच्छन्दासि छादनात्स्तोमैः स्तवनाद्यजुर्वजतेः

साम संमितमृचास्यतेर्वर्चा समं धेन इति नैदाना गायत्री गायतेः

स्तुतिकर्मणस्त्रिगमना वा विपरीता गायतो मुख्यादुदपतदिति च

ब्राह्मर्षेभ्युष्णिगुत्सनाता भवति स्निह्यतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मण

२० १ क. ख. ठ. तम, ग. च. ज. ड. ‘तमस्या’; घ. हा. ट. तमं स्वा°. २ क.

ख. ग. ज. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘सत्यम्. ३ च. विश्वाः° स्त. ४ ग. ज. ‘इत्कि-

स्तुण°’. ५ क. ख. ‘रिक्षायतनानि । अन्तरिक्षलोकायतनानि । शिशि°’; घ. झ.

ट. ‘रिक्षलोकायत°’. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. इति शुभक्तीनि । भक्ति°;

च. इति ° । भक्ति° शुभक्तीनि. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘शेकमणन्या°’.

८ क. ख. ‘त्रैवम् । ५ (११) । हवेने°. ९ च. आह° । घ°. १० क. ख. घ.

झ. ट. ठ. ड. ‘श्रयमित्युक्तं, ठ. ‘श्रयमित्युक्तं । ११ । इति निष्कृतौ उच्य-

त्यङ्के प्रथमाध्याये निष्कृतुमान्य द्वादशे एकादशः खण्डः । ११ । मन्त्रा°. ११ ग.

१३; इतोष्वङ्गो नास्ति. १२ क. ख. छ. त. द. ‘स्तोमः स्तवनात्°’ चादित्.

२१ १३ क. ख. त. द. ‘णम् । ६ । उष्णि°; छ. ‘णम् । १४ । उष्णि°.

उष्णीपिणी वेत्यौपमिकमुष्णीपं स्नायतेः ककुप् ककुभिनी भवति
 ककुप् च कुब्जश्च कुजतेर्वोब्जतेर्वानुष्टुवनुष्टोभनाद्वायत्रीमेव त्रिपदां
 सर्ती चतुर्थेन पादेनानुष्टोभतीति च ब्राह्मणं बृहती परिवर्हणा-
 स्पङ्क्तिः पञ्चपदा त्रिष्टुप् स्तोभत्युत्तरपदा का तु त्रिता स्यात्तीर्ण-
 नमं छन्दस्त्रिष्टुप्स्तस्य स्तोभनीति वा यच्चिरस्तोभत्तत्रिष्टुभस्त्रि-
 ष्टुप्त्वमिति विज्ञायते ॥ १२ ॥

५

‘ मन्त्राः मननात् ’ । ईभ्यो ह्यभ्योत्माधिदैवाधियज्ञादि मन्तारो
 मन्यन्ते । तदेपां मन्त्रत्वम् । ते पुनश्छन्दोमयाः ‘ नाच्छन्दसि वागुच्चरति’
 इति । अथ ‘ छन्दांसि ’ कस्मात् । ‘ छादनात् ’ । ‘ यदेमिरात्मानमाच्छा- १०
 दयन्देवा ऋयोर्विभ्यतस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ’ इति विज्ञायते । अथ ‘ यजुः’
 कस्मात् । ‘ यजतेः ’ धातोः । तेन हि विशेषत इष्यते सर्वत्र याज्यान्ते
 षपत्कारविधानात् । अथ ‘ साम ’ कस्मात् । ‘ तद्वि संमितमृचा ’ ।
 यावती ऋक्तावदेव परिमाणतः । ‘ अस्यतेर्वा ’ क्षेपणार्थस्य (धा० ४ ।
 १०३) । प्रक्षिप्तमिव हि तद्वचि भवति । विज्ञायते च ‘ तस्माद्दृच्यष्युर्दं १५
 साम गीयते ’ (छा० उ० १ । ६-७) । अथवा ‘ स्यतेर्वा ’
 इति । ‘ पो अन्तकर्मणि ’ (धा० ४ । ४१) । अन्यं तत्कर्म भवति
 संहिता पदं सामेति । ‘ ऋचा समं मेने इति नैदानाः ’ । ऋचा एतत्
 समम् इत्येवं प्रजापतिर्मेने ज्ञातवान् । अथवा । आत्मानमेव ऋचा
 समं मेने ज्ञातवान् । तस्मात्साम्नः सामत्वमित्येवं नैदाना मन्यन्ते । निदान- २०
 मिति ग्रन्थः । तद्विदो नैदानाः ।

‘ छन्दांसि छादनात् ’ इत्युक्तम् । तानि च पुनरमूनि गायत्रीप्रमु-
 खानि । यतो गायत्री निराह । ‘ गायत्री गायतेः स्तुतिर्कर्मणः ’ ।
 तथा हि गीयन्ते स्तुयन्ते देवर्ताः । अतः परमुष्णिगादीनि छन्दांसि
 चतुरुत्तराणि । तानि तत्प्रसङ्गेनैव निराह । तत्र तावत् ‘ उष्णिगुष्णाता ’ २५

१ क. ख. 'णम् । ७ । बृह'; छ 'णम् । १५ । बृह'; त. व. 'णम् ।
 ७ । बृह'. २ क. ख. छ त. द. 'भनीति ३ क. ख. ८ (१२), छ. १६;
 त. द. ८ ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. तेभ्यो'; च. ईभ्यो' तं. ५ ग. ज.
 'भ्यात्माधियज्ञादि'. ६ ग. घ. झ. ट. पोऽभ'. ७ क. ख. व. झ. ट. ठ. ड.
 शानवत् तत्साम्नः'; च. शानवो' वन्. ८ ग. 'राह । १४ । गाय'. ९ क. घ.
 'वताः । ६ । अनः'.

गायत्रीतश्चतुर्भिरक्षरैरधिकैरुद्द्वेष्टितेव ' भगति ' । ' उष्णिग्भायत्री
जागतश्च ' (पिङ्गलच्छन्दःसू० ४ । १८) इति । ' स्निह्यतेर्वा स्यात्का-
न्तिऋमणः ' । स्निग्धम् इष्टं देवताना कान्तमेतच्छन्दः । ' उष्णीपिणी-
वेलौपमिऋम् ' । च चार्यक्षराण्यस्या उष्णीपमित्र उक्षन्ते । तेनेष्णिग्क् ।
५ अथोष्णीपं कस्मात् उष्णीपम् । ' स्नायतेः ' शौचार्थस्य (धा० २ ।
४२) । शुद्धं हि तद्भवति शुक्लम् ।

' ककुप् ककुभिनी भवति ' । सैवोष्णिग्जागतेन पादेनोपहितेन मध्यतः
ककुप्त्रियुच्यते । स तस्याः ककुप्त्रिव मध्यतो भवति । तेन ककुभिनीव
ककुप् । अथ ' ककुप् ' कस्मात् । ' कुजतेर्वा ' कौटिल्यार्थस्य (धा०
१० १ । १९९) ' उञ्जतेर्वा ' न्यग्भावार्थस्य (धा० ६ । २३) ।
१० नतं हि तद्भवति । कुञ्जोऽप्यनयोरेवान्यतरस्मात् । ' अनुष्टुप्नुष्टोभनात् ' ।
किमियमनुष्टोभति । ' गायत्रीमेव त्रिंशदां सतीं चतुर्थेन पादेनानुष्टो-
भतीति च ब्राह्मणम् ' । स्वमनं चशब्देन समुच्चिनोति । गायत्री त्रिभिर-
ष्टाक्षरैः पादैः समाप्यते । तस्याश्च पुनरपरश्चतुर्थः पादो भवति येन तामे-
१५ वानुष्टुप्नुष्टोभति । तस्मादनुष्टुप् ।

' बृहती परिवर्हणात् ' । परिवर्द्धासौ भगवत्यनुष्टुभश्चतुर्भिरक्षरैः । उक्तं
हि ' बृहती जागतश्चयश्च गायत्राः ' (पिङ्गल० सू० ५ । ६) इति ।
' पङ्क्तिः पञ्चपदा ' । पञ्चभिः पादैः पङ्क्तिरित्युच्यते । अथ ' त्रिष्टुप् '
कस्मात् । ततो त्रिगृहोत्तरं पद निराह ' स्तोमश्चतुत्तरपदा ' । स्तोमति-
२० धातुरुत्तरं पदं यस्याः सेयं स्तोमश्चतुत्तरपदा । अथ पुनः पूर्व-
पदे येयं त्रिता त्रिचं श्रूयते ' त्रि ' इति एतन्किमर्थमिति । ' तीर्णतमं '
विस्तृततममेवत् ' छन्दो ' गायत्र्यादिभ्यो बद्धःमात् । सेयं तीर्णतमा
च स्तोमैर्ना चेति त्रिष्टुप् । ' त्रिगृहजज्ञस्य स्तोमैर्नाति वा ' ।

वज्रमायुधम् । तच्च पुनः प्रायः त्रिसन्धिं । ' शरो देणुः गृह्णं शल्यम् ' इति विज्ञायते । तस्य स्तोभनी स्तुतिः । अथवा ऐन्द्रमेतच्छन्दः । वैज्रश्चेन्द्रमक्तिः । तस्मादुपपद्यते ॥ १२ ॥

जगती गततमं छन्दो जलचरगतिर्वा जलगलयमानोऽसृज- ५
दिति च ब्राह्मणं विराड्विराजनाद्वा विराधनाद्वा विमापणाद्वा
विराजनात्संपूर्णाक्षरा विराधनादूनाक्षरा विमापणादधिकाक्षरा
पिपीलिकमध्येत्यौपमिकं पिपीलिका पेलतेर्गतिकर्मणं इतीमा
देवता अनुक्रान्ताः सूक्तभाजो हविर्भाज ऋग्भाजश्च भूपिष्टाः
काश्चिन्निपातभाजोऽथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयतीन्द्राय १०
वृत्रघ्न इन्द्राय वृत्रतुर इन्द्रायांहोमुच इति तान्यप्येके समामनन्ति
भूयांसि तु समाभानानाद्यन्तु संविज्ञानभूतं स्यात्प्राधान्यस्ताति
तत्समामनेऽथोत कर्मभिर्यदिदेवताः स्तोति वृत्रहा पुरन्दर इति
तान्यप्येके समामनन्ति भूयांसि तु समाभानानाद् व्यञ्जनमात्रं तु-
तत्तस्याभिधानस्य भवति यथा ब्राह्मणाय वृभुक्षितार्यादनं देहि १५
स्नातायानुलेपनं पिपासते पानीयमिति ॥ १३ ॥

' जगती गततमं छन्दः ' । औत्तमित्यर्थः । अतःपरमतिच्छन्दांसि ।
' जलचरगतिर्वा ' । जलोर्मिप्रकारो हि तस्याः प्रस्तारः । ' जलगलय-
मानोऽसृजदिति च ब्राह्मणम् ' । ' गृह्णं हर्षक्षये ' (धा० १ । ९२९) । २०
शीणहर्ष इव किलैतां प्रजापतिः ससृजे । ददर्शेत्यर्थः । न हि छन्दांसि

१ ग. ज. सन्धिः. २ ग. च ज. स्तोभनीति स्तु०. ३ क. ख. घ. झ. ट. ड. ड.
वज्रं चेन्द्रमक्तिः. ४ क. ख. घ. झ. ट. ' यते । यत्त्रिरस्तोभतत्त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वमिति
विज्ञायते [क. ख. ' यते ८ (१२)]; ट. ड. ' यते इत्यादि (क. ख. घ. झ. ट.
वत्) ० यते । (ड. ० यते । १२) इति निरुक्त० उक्त० (ड. निरुक्टीकायामुत्- २५
रपदेके) प्रथमपद्यायै दादशः खण्डः । १२ । (ड. ' १२ ' नास्ति); च. ' यते
० । १२ । जग० यत्त्रिरस्तोभतत्त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वमिति विज्ञायते; ग. १९. ५ क. ख.
त. द. ' मणः । ९ । इती; छ. ' मणः । १७ । इती'. ६ क. ख. १० (१२);
छ । १८ । द्वितीयः पादः १; त १० । ७ । द्वितीयः पादः १, द. १० ।
इति नेरुके उत्तरार्धस्य प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ७ क. ख. घ. झ. ट. ड.
ड. अन्त्यमि'; च. औत्तमि' अन्त्य०.

काचिदुपेक्षितव्याः । तद्यथा । ' नवो नवो भवति जायमानः ' (ऋ०
पादमाजोऽपि सं० १० । ८५ । १९) इत्यस्या आदित्य-
काश्चित् दैवतो द्वितीयः पादो भवति (निरु० ११ ।
६) । मृगिष्ठप्रहणाच्च दर्शयत्यसामान्नाता अपि
सन्ति ता अप्युपेक्षितव्याः । यथालक्षणं त्रिषु स्थानेषु कल्प्याः । तद्यथा । ५
परमेष्ठिप्रहनक्षत्रसर्पलाङ्गलकुसुम्भप्रमृतीनि ।

' काश्चिन्निपातमाजः ' इति । निपातो हि द्विविधः । देवतान्तरैः

' सह साधारण्येनोपस्तुती नैघण्टुकत्वेन च । तत्र

निपातमाजः साधारण्यं नाम । तद्यथा । ' विधाता धात्रा
काश्चित् । निपातो व्याख्यातस्तस्यैव निपातो भवति बहुदेवताया- १०
द्विविधः मृचि ' (निरु० ११ । ११) । ' सोमस्य
राज्ञो वरुणस्य ' (ऋ० १० । १६७ । ३)

इत्यस्या सोमप्रमृतिभिः सह विधाता स्तूयते साधारण्येन (निरु० ११ ।
१२) । नैघण्टुकत्वेन पुनः । तद्यथा । ' पृथिवी व्याख्याता तस्या
एव निपातो भवत्येन्द्रान्यामृचि ' (निरु० १२ । ३०) ' यदि- १५
द्राग्नी परमस्यां पृथिव्याम् ' (ऋ० सं० १ । १०८ । १०) इति (निरु०
१२ । ३१) । ' पृथिव्याम् ' इति ताम्यामिन्द्राग्निम्यां सह साधारण्येन
न पृथिवी स्तूयते । किं तर्हि । लक्षणत्वेनेन्द्राग्न्योरेवोपादीयते । एवं तावद-
यमिहाधिकारे काश्चिन्निपातमाज इति द्विप्रकारो निपात उक्तः ।

अथ पुनरयमपरो निपातप्रकारैरुपेक्ष्यः । तद्यथा । अत्यन्तनैघण्टुकं देव- २०

तामिधानमनत्यन्तनैघण्टुकं च । तत्रान्यन्तनैघ-

अपरो निपात- ण्टुकं नामात्यन्तमदृष्टस्वप्रधानस्तुति^{१२} । तद्यथा ।

प्रकारः आदित्यस्य सः पृश्निप्रभृतिभिः । अथ पुनर्ह

१ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'तस्या इति । ताश्च यथा'; च.
'तव्याः ~ । यथा' इति । ताश्च. २ क. ख. कुसुम्भप्र'; घ. झ. ट. ठ. ड. २५
'कुसुम्भप्र'; च. 'कुसुम्भ-प्र' क ३ क. ख. ज 'स्तुतो नि'. ४ क. ख.
घ. झ. ट. ठ. ड. साधारण्यं; ग. ज. तत्र साधारण्योपस्तुती ण्यं तय'. ५ क. ख. घ.
झ. ट. ठ. ड. राज इत्य'. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. मूय'. ७ क. ख. घ.
झ. ट. ठ. ड. 'पृथिव्या इति' नास्ति, ग. ज. पृथिव्या इति. ८ क. ख. घ.
झ. ट. ठ. ड. 'ण्येन पृथिवी न स्तू'. ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'त्वेने-
न्द्राग्न्यो'. १० क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'पुनः' नास्ति. ११ ग. ज.
'कारणुपेक्ष्यः. १२ क. ख. ट. ड. 'स्तुतिः; च. 'स्तुति' तिः.

गुणपदानि वृत्रहाहोमुक्प्रभृतीनि तान्यप्येके समामनन्ति । ततोऽन्यान्यपि

तानि न समा-
न्नातव्यानि यस्मात्ते-
षामभियत्ता नास्ति

भूयांसि बहुतराणि सन्त्येव महाभाग्याद्देवताया
गुणानामियत्ता नास्तीति । तेषां च सर्वेषां समा-
न्नाने समान्नायस्यापारिनिष्ठैव स्यात् । तथा च
सति तेषां शास्त्रेऽपरिसमाप्तिः । तन्ममापि मा

भूदित्यतो ' यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात्प्राधान्यस्तुति तत्समामने ' इति ।

यत्संविज्ञानभूतं
स्यात्प्राधान्यस्तुति च
तदेव समान्नातव्यम्

यदेतत्संविज्ञानभूतं रूढमगौणं केवलमपि निर्दि-
शेपणं लब्धप्रधानस्तुति देवतापदसन्त्यादि तत्स-
मामने न गौणं व्रतमृद्व्रतपत्यादि ।

अथवा ' तान्यप्येके समामनन्ति ' इत्यत उत्तरस्य ' भूयांसि तु
समान्नानात् ' इत्यस्यापरोऽर्थः । भूयांस्येव तेषां समान्नानात्समा-
न्नातानि स्युः । न किञ्चिदतिरिक्तं प्रयोजनं वचनात् । केवलं गुरु शास्त्रं संपद्यते ।
तन्मा भूदित्यर्थः ।

' अथोत कर्मभिर्कृपिर्देवताः स्तौति वृत्रहा पुरन्दर इति ' स वृत्रहा
कर्मनामान्यपि शतक्रतुः पुरन्दरो गोत्रभिद्वज्जवाहुरिति । तान्य-
समामनन्ति । पूर्वम्यः समाम्नातृभ्यः । विधिदर्शनात्पूर्वं ' हवि-
श्वोदयति ' इति वचनात् । स्तुतिदर्शनादिमे ' कर्मभिर्कृपिर्देवताः स्तौति '
इति वचनात् । ' भूयांसि तु समान्नानात् ' इति स एव दोषः ।

' व्यञ्जनमात्रं तु तत्तस्याभिधानस्य भवति ' । वृत्रहा पुरन्दर इति यदेव-

यस्मात्तानि मू-
ल्याभिधानस्य विशे-
षगान्येव

मादि गुणपदं तत्तस्यैवेन्द्रादेः संविज्ञानपदस्य
व्यञ्जनमात्रं विशेषणमात्रं भवति । न पृथक्प्रधानं
केवलस्यासन्नवास्तुत्या । यथा लोके ' ब्राह्मणाय
बुभुक्षितायौदनं देहि स्नातायानुलेपनं पिपासते
पानीयमिति ' । यो बुभुक्षितस्तस्मा ईति ।

१ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ' तान्यप्येके ' नास्ति; च. तान्यप्येके. २ ग.
ज. महा; ख. महा मा. ३ क. ख. घ. झ. ट. ' इति ' नास्ति. ४ क. ख.
घ. झ. ट. ठ. ड. शास्त्रेऽस्मा. ५ ग. ज. तेषां समान्नानानि स्युः; ख. तेषां
समा समान्नानात्. ६ क. ख. घ. झ. ट. तान्यप्येके समामनन्ति (तान्यप्येके
कर्म; च. ७ तान्यं तान्यप्येके समामनन्ति. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
लस्य संभ; च. लस्यां संभ. ९ ग. ज. तस्मायेति.

यथा तु बुभुक्षितशब्दो विशेषणं केवलस्य बुभुक्षि-
 यथा बुभुक्षिताना- तशब्दस्य विशेषणः क्वचिदनवस्थानादेवं वृत्रहा
 तपिपासच्छब्दा विशेष- पुरन्दर इत्येवमादीनां विशेषणमप्राधान्यस्थाना-
 पणत्वान्न स्वतन्त्रापव- द्वाङ्जनमात्रता न स्वप्रधानता । तस्मान्नान्यदहं
 ५ मेतानि कर्मनामानि समामने ॥ १३ ॥

इति निरुक्तभाष्यार्थनिबन्धपद्धतो द्वादशस्य तृतीयः पादः ।

अथातोऽनुक्रामिष्यामोऽग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्या-
 स्यामोऽग्निः कस्मादग्रणीर्भवत्यग्रं यज्ञेषु प्रणीयतेऽङ्गं नयति
 १० संनममानोऽक्रोपनो भवतीति स्थौलाष्टीविर्ने क्रोपयति न स्नेह-
 यति त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिरितादृक्ताद्गधाद्वा
 नीतात्त खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः
 परस्तस्थैषा भवति ॥ १४ ॥

१५ 'अथातोऽनुक्रामिष्यामः' । सामान्यतः परीक्षितोऽन्यादिदेवपुत्रो
 देवतापदसामान्यतः । विशेषत इदानीं प्रतिपदननुक्याख्यास्यते । तदर्थम-
 धिकारवचनम् 'अथ' इति । 'अतः' इत्यानन्तर्ये । सामा-
 न्यात्पारिभाषिकाद् व्याख्यानादनन्तस्मानुपूर्व्येण यथासामान्यतः क्रमि-
 २० च पुनर्भाष्याभिधानाभिधेयाभिधानान्युपत्तिप्राधान्यस्तुत्पुदाहरणतन्निर्भचन-

विचारोपपत्त्यन्धारणक्रमलक्षणा । तद्यथा 'अग्निः'

विशेषव्याख्याया इत्यभिधानम् । अयं 'पार्थिवः' इत्यभिधेयम् ।

लक्षणम्

'अग्रणीर्भवति' इत्यभिधानव्युपत्तिः । 'अग्नि-

मीळे' इति प्राधान्यस्तुत्पुदाहरणम् । 'अग्नि-

२५ उदाहरणं च

मीळे अग्निं याचामि' (निरु० ७ । १५)

इति तन्निर्भचनम् । 'स न मन्येतायमेवाग्निः'

१ क. रा १० (१३) ; ग. १८ ; घ. ट. ठ. ड. ज. अष्टौ नास्ति. २ घ.
 स. ट. इति द्वादशस्य ; ङ. 'मने इति नि० उत्तरप० प्र० अथोदराः लण्डः ।

१३ । आदितो द्वादशाध्यायस्य तृतीयः पादः ; द. 'मने । इति द्वादशस्य
 तृतीयः पादः । इति निरुक्तटीकापाठस्य पूर्वकं प्रथमाध्याये त्रयोदशः पादः ।

२ क. ल. १ (१४), छ. १५ ; त. द. १. ४ क. म. घ. स. ट. ड.
 पण्डितः ; ग. ज. पारिभाषिको ; घ. परिशिष्टो ; ट. परिशिष्टो । तिष्ठ. ५ क.

३३ स. ग. ज. घ. श. 'मने.

(निरु० ७।१६) इति च विचारः । ' यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यते ' (निरु० ७।१८) इतीयमुपपत्तिः । ' अपमेव सोऽग्निः ' (निरु० ७।१८) इत्यवधारणम् । एवंप्रकारया व्याख्याया प्रतिपदमनु-
क्रमिष्यामः ।

तत्रैतद्भवति कोऽयमग्निरिति । आत्मेत्यात्मविदः । ' एकं सद्विधा ५
आत्मविद्याज्ञिकनै- बहुधा वदन्ति ' (ऋ०सं० १।१६४।४६)
रुक्तानामग्निविषये म- इति मन्त्रदर्शनात् । अत्रिवक्षितस्थानविशेषो
तानि निर्ज्ञातैतदभिधानो देवताविशेषो लोकवेदप्रसिद्धः
कर्माङ्गमिति याज्ञिकाः । विवक्षितप्रिशिष्टस्थान-
कर्मा मध्यमोत्तमाभ्यां ज्योतिर्भ्यामन्यः पार्थिवोऽयमग्निरिति नैरुक्तसमयः । १०
त्रित्वाभ्युपगमात्तत्संपिपादयिष्येदमारभ्यते । ' अग्निः पृथिवीस्थानस्तं
अग्निः किमिति प्रथमं व्याख्यास्यामः ' इति । पृथिव्येवास्य
पृथिवीस्थानः विशेषतः स्थानं नान्तरिक्षं न चौरिति
पृथिवीस्थानस्तत्र कर्माधिकारात्तत्र । तिष्ठत्य-
स्मिन्निति स्थानम् । यस्मात्पृथिव्यस्य स्थानं १५
तस्मात्सैनिकर्पाष्टोक्तानुक्रमाच्च न चासति कारणे प्रथमातिक्रमो न्याय्य
इति तमेव प्रथमं व्याख्यास्यामः ।

' अग्निः ' (निघ० ५।१।१) कस्मात् । देवताभिधाने देवता-
मात्मनः परोक्षीकृत्य परोक्षीकृतं तत्त्वमर्थितम् । ' परोक्षप्रिया इव हि ।
देवाः प्रत्यक्षद्विपः ' (शत० ब्रा० १४।५।६।२ ॥ बृह० उप० २०
४।२।२) इति हि विज्ञायते । तन्निर्वचनादागमप्रामाणिकं देवताता-
द्भाग्यमनुभवताल्यवेत्य तन्निर्विवक्षया ' अग्निः
देवतापदनिर्वच- कस्मात् ' इत्युपोद्गत्य ' अग्रणीर्भवति ' इत्येव-
नस्य फलं देवताता- मादिनाग्निशब्दं निराह । सर्वत्रैवं देवतापदे उपो-
द्भाग्यम् द्धातोपन्यासौ द्रष्टव्यौ । आत्मवित्पक्षे तु सर्वम- २५
धानव्युत्पत्तितो निरुच्य याथात्म्यतः परिज्ञाय सर्वात्मनः आत्मनः सर्वावस्थं

१ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. इत्युपप. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. विव-
क्षितस्थानविशिष्टमर्मा; च. 'विशिष्टस्थानं' स्थानविशिष्ट. ३ क. ख. ग. ज.
झ. ट. ठ. ड. 'परितम्. ३०

विभूतिताद्वाव्यमनुभवतीति सर्वपदव्युत्पत्तिप्रयोजनम् । स्मर्यते हि ।
' शब्दब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति ' इति ।

' अप्रणीर्भवति ' इत्यग्निशब्दं विगृह्य वाक्यीकृत्य कृतवाक्यपदवर्ण-
निष्कर्षणसमुदायोपजनितस्याग्निशब्दस्याप्रशब्दो-

५ अग्निशब्दस्य
व्युत्पत्त्यः

त् ' अगकारमुपलभ्य अप्रशब्दं कर्माभिधायिनं
पूर्वपदत्वेन व्यवस्थाप्य नयति च अपरमुत्तरपदं
कर्तव्यात्मनि अवस्थाप्याग्निशब्दं निराह । अथ
कोऽर्थ इति । सर्वेष्वर्थेष्वसावात्मानमग्रं नयति ।
सर्वत्र तथोपकरोति यथाग्रं संपद्यत इत्यर्थः ।

१० अग्रशब्दः प्रधानवाची । स एव चोग्रं नयति । सेनां वाग्रे नयति सेनापत्येऽव-
स्थित इत्येके । विज्ञायते हि ' अग्निं देवानां सेनानीः ' इति । अथवा । ' अग्रं
यज्ञेषु प्रणीयते ' । प्रथमं यज्ञेषु प्रणीयते । न तावत्किंचिदन्यत्क्रियते यावदयं
न प्रणीयत इति । ततोऽग्निमन्त्रतमुपेत्यान्वयानि कर्माणि क्रियन्त इति ।
अथवा । ' अङ्गं नयति संनममानः ' । यत्रायं संनमयति साधनत्वेन
१५ वैदिके वा लौकिके वा र्थे तत्र संनममान एवात्मानं प्रधानीकृत्य सर्वमन्य-
दात्मनोऽङ्गतां नयति । गुणीकरोतीत्यर्थः । अथवा । ' अङ्गं नयति संनम-
मानः ' । तृणं फाष्टं वा यत्र संनमयाश्रयति तदात्मनोऽङ्गतां नयति ।
आत्मसात्करोतीत्यर्थः ।

२० ' अत्रोपनो भवतीति स्थौलाष्टीविः ' । स्थौलाष्टीवतः पुत्रः स्थौलाष्टी-
विगार्यायः । न एरं मन्यते अयमत्रोपनो यस्मा-
त्प्रति तस्मादग्निरेति । किमिदमत्रोपन इति ।
यत्र आह ' न ऋषयनि ' । एवमपि न गृह्यते
ऋषयनोऽप्रमिदार्थात् । अतः पुनर्भवति प्रमि-
दार्थेन ' न ऋषयनि ' । विन्दुशीकरोतीत्यर्थः । स हि तस्य स्वभावः ।

‘ त्रिम्य आह्वयातेम्यो जायत इति शाकपूणिः ’ । त्रयाणामाह्वया-
 तानामभिधेयाः क्रिया अत्र लक्ष्यन्ते । ता
 शाकपूणिमतेन उपादाय हेतुन्वेनाग्निशब्द आमानं लभते ।
 तद्यथा । ‘ इतात् ’ । ‘ ईणः ’ इत्यर्थः ।
 ‘ अक्ताद्गधाद्वा ’ । अनक्तेर्वा दहतेर्वा । विकल्प एतयोः । ततो ५
 ‘ नीतात् ’ इति । ‘ णीञ् प्रापणे ’ (धा० १ । ९२६) इत्येतस्मात् ।
 धातवः केवल निर्दिष्टाः । किं कुत आदत्ते इति । यत आह ।
 ‘ स खलु ’ शाकपूणिः ‘ एतेः ’ घातोः ‘ अकारमादत्ते ’ । नन्वेतेर्घातो-
 रकार एव नास्ति । अतः किमादत्ते । सत्यं नास्ति । वर्षासामान्येन तद्वि-
 कारमादाय इणोऽर्धदर्शनादर्शनां शब्दार्थसंबन्धनित्यत्वादर्थे च गुणभूतत्वा- १०
 च्छब्दस्य तत्तत्तं व्यापादयत्यकारत्वेन । अथवा । रूपानेकत्वादिगो यथा-
 वस्थितस्याकारो भवति तथा रूपमवस्थाय ततोऽकारमादत्ते । दर्शितं
 च ‘ एतेः कारितं च यकारादि चात्करणम् ’ इत्यत्र (निरु० १ ।
 १३) । भवति चास्य ष्वन्ते रूपम् ‘ आययति ’ इति । अंतोऽकारं
 तत आदत्ते । ‘ गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा ’ कृतकुत्वजश्चयोर्विकल्पेन । १५
 ‘ नीः परः ’ । एष ह्रस्वः । एति च व्यनक्ति च रूपाणि । अथवा ।
 एति च दहति च । नयति च ह्रींषि देवेभ्यः इति सार्धायस्तरा एत-
 द्धातुवाच्याः क्रिया एष करोतीति ‘ अग्निः ’ । ‘ तस्य ’ एतल्लक्षित-
 लक्ष्यप्रधानभूतिसंबन्धमभिधानमुपलक्ष्य देवतापदसमाम्नाये समाम्नातम-
 ग्निरिति । तस्य ‘ अग्निर्माले ’ इत्येतत्प्रमुखा अग्निर्मलिङ्गलिङ्गिताः सर्वा २०
 आग्नेय्य ऋच उदाहरणम् । न पुनरस्ति कारणे मुख्यातिक्रमे न्याय्य
 इति ऋग्वेदप्रथमामिमामृचमुदाजहार ‘ तस्यैषा भवति ’ इति ॥ १४ ॥

१ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. इण् गतावित्यस्मादित्यर्थः. २ ग. च. ज.
 णीद् प्रा०. ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘ घातोः ’ नास्ति. ४ क. ख. घ.
 झ. ट. ठ. ड. चैतदेतेः, च. चैत० चैतदे. ५ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. अग-
 कारः. ततः. ६ ग. ज. णीः ७ घ. ट. ‘ एति दहति न्वति ’, ठ. ड. ‘ एतिस्तथा
 एतावद्धातुवाच्या. ’ ८ क. ख. घ. झ. ट. इत्यग्नि. साधीयस्तरा । एता०. ९ क.
 ख. ग. च. ज. घ. झ. मीले. १० क. ख. १ (१४), ग. १९; घ. झ. ट. ज.
 अङ्को नास्ति.

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातम-
मम् (ऋ० सं० १ । १ । ३) ॥ अग्निमीळेऽग्निं याचामीळिर्मध्ये-
पणाकर्मा पूजाकर्मा वा पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञश्चै देवो
दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा यो देवः सा
५ देवता होतारं द्वातारं जुहोतेहेतित्यौर्णवाभो रत्नधातमं रमणी-
यानां धनानां दातृतमं तस्यैपापरा भवति ॥ १५ ॥

‘ अग्निमीळे ’ इति । मधुच्छन्दस आर्षम् । गायत्री । आश्विने विनियो-
गः । ऋः अग्निः देवः पुरोहितैः अस्माकं यज्ञे यश्च
अग्निश्च रोता यज्ञस्य रत्नधातमश्च दातृत्वो
१० हरणम् रत्नानां तपहं रत्नानि याच इति समाप्तार्थः ।

अथैकपदनिरुक्तम् । ‘ ईद्विः ’ धातुः ‘ अध्येपणाकर्मा ’ याच्ना-
कर्मैह । अन्यत्र ‘ पूजाकर्मा ’ अपि । ‘ पुरोहितो व्याख्यातः ’
‘ पुर एनं दधति ’ (निर० २ । १२) इति । ‘ यज्ञैश्च ’
‘ प्रत्ययान्तं यज्ञतिकर्म ’ (निर० ३ । १२) इति । ‘ देवो दानाद्वा ’ ।
१५ ददाति दासात्रैश्वर्यात् । ‘ दीपनाद्वा ’ । दीपयति दासौ तेजोमयत्वात् ।
‘ द्योतनाद्वा ’ । धात्वन्त्यरमर्थकत्वम् । ‘ द्युस्थानो भवतीति वा ’
पक्षेऽर्षवसं निर्वचनस्य । अथवा । अग्नीन्द्रावपि द्युस्थानौ । सामान्यं हि
द्यौः स्थानं देवतानाम् । तयोस्तु कर्माधिकारस्थाने विशिष्टे पृथिव्यन्तरिक्षे ।
होतारं द्वातारं देवतानाम् । ‘ और्णवाभः ’ तु ‘ जुहोतेः ’ ‘ इ ’
२० दानाद्वादेवोः ’ (धा० ३ । १) इत्यस्य मन्यते ‘ होतेति ’ । रत्नधातमं
रमणीयानां धनानां दातृत्वम् ।

‘ तस्य ’ पराश्रेः ‘ एषा परा ’ ऋरुः भवति । समानसंहितत्वा-
दपरेति वा । द्वितीयेत्यर्थः । सा पुनः किमर्थमिति । अमुना प्रकारेण

- १ क. स. छ. त. द. ‘ मीले. २ क. स. छ. त. द. ‘ मीलि. ३ छ.
१५ यदाप; त. दायसं’ ध, द. दसं’ एव ४ छ. त. द. ‘ होतेरिन्वो. ५ क. स.
२ (१५); छ. २०; त. द. २. ६ क. स. ग. य. ज. प. स. ‘ मीले. ७ ग.
इति । म. ८ छ. द. आश्विनदधे. ९ क. स. प. स. ट. ट. द. ‘ तितः पाक-
यते अ’, य. ‘ दि. - अ’ पाकयते. १० ग. य. ज. ईति. ११ क. स. प.
स. ट. ट. द. दसं व्याख्यात. १२; ग. न. व्याख्यानदसं; य. दसं. १३
व्याख्यान. १. १२ क. स. प. स. ट. देवानां. १३ प. स. ट. ट. क. दान-
११ दनयोः.

सर्वा एतस्यामुदाहरणं तैत्कर्मयुक्ता ऋच उपेक्ष्या इत्युपप्रदर्श-
नार्थम् ॥ १५ ॥

अग्निः पूर्वैर्भिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत । स देवाँ एह वंसति
(ऋ० सं० १।१।२) ॥ अग्निर्यः पूर्वैर्ऋषिभिरीडितव्यो वन्दित-
व्योऽस्माभिश्च नवतरैः स देवानिहावहत्विति स न मन्येताय-
मेवाग्निरित्यप्येते उचरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते ततो नु
मध्यमः ॥ १६ ॥

‘ अग्निः पूर्वैभिः ’ इति । पूर्वैश्च समानार्पविनियोगच्छन्दस्का ।

द्वितीयमुदाहरणम् तद्वृत्तमुत्तरत्रापेक्ष्य यद्वृत्तमध्याजहार भाष्यकारो
यत्तदोर्निलैः संबन्ध इति दर्शयन् । अग्निः यः

पूर्वैभिः पूर्वैः चिरंतनैः ऋषिभिः ईडितव्यः

ईडनं पूजनमर्हति अस्माभिश्च नवतरैः ईडितव्य इति वर्तते । स किं
करोतीत्याकाङ्क्षिते निराकाङ्क्षम् । स देवानिह एतस्मिन्कर्मण्यस्माकम्
आवहतु इति लोटा निराह भाष्यकार आशिपमाकाङ्क्षितामपेक्ष्य ।
ऋग्वेकपदनिरुक्तम् ।

संकीर्णत्वादन्यभिधानस्यातः परं विचारः । ‘ स न मन्येत ’

अन्यभिधान-
स्यार्थान्तरे वृत्तिः

इत्येवमादिनाक्षिप्य विचारः । ननु नित्ये स्वार्थाभि-
संबन्धेऽभिधानानामर्थान्तरवृत्तितैव नास्ति कुतः
संकर इति । अथास्त्यर्थान्तरवृत्तिता जैहैस्वार्थ-
मर्थान्तरमुपसंक्रामदेनित्यता संबन्धस्य द्योतयति ।

१ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘रणमेतत्क’ । २ क. ख. २(१५), ग. २० ;
ठ. ड. इति निरुक्तवृत्तौ (ड. निरुक्तटीकायां) उत्तरपट्टके प्रथमध्याये पञ्चदशः
खण्डः (ठ. खण्डः । १५ ।) । ३ क. ख. थ. ‘रीडितव्यो’ ; छ. त. द.
‘रीडितव्यो’ । ४ क. ख. ३ (१६), छ. २१ ; त. द. ३. ५ ग. इति । ५.
६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘नित्यसं’ । ७ क. ख. झ. ठ. ड. इडित’ ;
ग. च. ज. प. इडित’ । ८ क. ख. ईडनं, ग. च. ज. झ. ईडनं. ९ क. ख.
ईडित’ ; ग. च. ज. प. झ. ईडित’ । १० घ. झ. ट. ठ. ड. करोत्वित्या’ ।
११ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘काङ्क्षं कियते । स’ ; च. ‘काङ्क्ष’ । स’
क्रियते. १२ ग. ज. जहन्स्वार्थ’ ; च. जहन्सो’ त्स्वा. १३ च. ४ जं सर्वेऽपु
पुस्तकेषु ‘कामचानि’ ; च. ‘कामचानि’ भ.

नैव जहत्स्वार्थमभिधानमभिधेयान्तरे वर्तते । किं तर्हि । द्वे ह्यभिधानस्य
 शक्ती गौणी मुख्या च । तयोर्गौणी गुणसाम्या-
 अभिधानानां गौणी शक्ती मुख्या इति द्वे शक्ती
 चरमात्कस्माच्चिद्रुणात्सर्वत्र वर्तते । तस्यास्तथा-
 विध एव संबन्धः सर्वोर्निर्णयं समर्थमकरणो-
 पपदपरतन्त्रः । मुख्यौ त्वविनियोगेन लोकवेद-
 प्रसिद्धया स्व एवार्थे वर्तते । तदेवमसंकरेऽपि शब्दानां मुख्यगौणार्थ-
 वर्तिनां संकर इनामेवसां प्रतिभाति ।

- १० षट् कस्य शब्दस्य गौणी शक्तिः क कस्य मुख्येति तत्प्रतिवेकार्थ-
 मिदमुपोद्धन्ति चोदकरूपेण ' स न मन्येत् ' इति । स शिष्यो न
 मन्येत् न जानीयात्सम्पत्तेरभिहितम् ' अयमेवाग्निः ' पृथिवीस्थानः
 ' इति ' । कस्मात्पुनर्न मन्येत् । इतो यस्मात्
 उत्तरे अपि ज्यो- ' अप्येते उत्तरे ज्योतिषी ' मध्यमं चोत्तमं च
 निषी अग्नी इत्युच्येते ' अग्नी उच्येते ' । कथमिति । अत आह । एत-
 ताप्यनार्थिवं ज्योतिरायैर्नामिकायायोगात् ' अग्नि-
 १५ मीऽऽ ' इत्येतस्यां यथा भरतोक्तं तथैवोच्यते । ' ततो नु '
 ययमपि यथा ' मस्यमः ' अग्निशब्देनोच्यते तत्कार्थयोगाच्च स एवाग्निः-
 स्तथेमानुचमुदाहरिष्यमः ॥ १६ ॥

- १० अग्निं प्रचन्त समनेव योषाः वन्याप्यः स्मयमानामो अग्निम् ।
 पुत्रस्य धाराः समिधो नरन्त ना जुषाणो ह्यग्निं ज्ञानवेदाः
 (ऋ० मं० ४ । ५८ । ८) ॥ अभिनर्भन्त सदनम इव योषाः

समनं समननाद्वा संमाननाद्वा कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निमित्यौपमिकं घृतस्य धारा उदकस्य धाराः समिधो नसन्त नसतिरामोतिकर्मा वा नमतिकर्मा वा । ता जुषाणो हर्षति जातवेदाः । हर्षतिः प्रेप्साकर्मा विहर्षतीति । समद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदित्यादित्यमुक्तं मन्यन्ते समुद्राद्ग्रथेपोऽद्ग्रथ उदैतीति च ब्राह्मणमथापि ब्राह्मणं भवत्यग्निः सर्वा देवता इति तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनान् ॥ १७ ॥

‘ अभिप्रवन्त ’ इति । वामदेवस्वार्थम् । सप्तमेऽहनि दशरात्रस्या-
 मध्यमस्य ज्योतिः- उपशस्त्रे विनियोगः (आश्व० श्रौ० ८ । १०
 योऽग्निशब्दे उदाह- ९) । अभिप्रवन्त आभिमुख्येन नमन्ति प्रह्वी-
 रणम् भवन्ति । काः पुनस्ताः । घृतस्य उदकस्य
 धाराः । कमभिप्रह्वीभवन्ति । मध्यमम् अग्निम् ।
 कथमिति । समनेव योपाः । समानमनसः ।
 एकास्मिन् भर्तारि यासां मनांसि वर्तन्ते ताः समनसः । ता यथा कल्याण्यः
 रूपयौवनादिगुणसंपन्नाः स्मयमाना ईषद्ग्रतन्व्यः ‘ हर्षमुपजनयन्त्वो
 भर्तुस्तं प्रति परिष्वजनायाभिनमेयुस्तथा मध्यमस्थानमग्निं घृतस्योदकस्य
 धाराः समिधः समिन्धयन्त्वो नसन्त । प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । ताश्च पुनः स
 जातवेदाः मर्ष्यस्थानो वैद्युतोऽग्निः जुषाणः प्रीयमाणो हर्षति पुनः पुनः
 प्रेप्सति अभिकामयते ।

एवमेतस्मिन्मन्त्रे युगपदविधानात्पार्थिवे घृताहुतिहवनस्योपमानोपमेय-
 वैधर्म्याच्च युगपत्संमनाच्चोदकधाराणां वैद्युते तत्रोपमानोपमेयसामञ्जस्याच्च
 सामर्थ्यात्प्रसिद्धिमुपरुन्व्य ‘ घृतस्य धारा ’ शब्द
 अग्निशब्दस्य मध्य- उदकधारावचनः संपद्यते । पठिनं चैतदेव
 मत्वे कारणम् सामर्थ्यमपेक्षयोदकनामसु ‘ घृतं मधु ’ (निघ०

१ छ. त. द. ‘ कर्माभिहर्ष्य ’. २ छ. त. द. उदैती°. ३ क. ख. ४ (१७);
 छ २२, त. द. ४. ४ ग. इति । सप्तमे°. ५ च. भर्तुः - प्र° त. ६ क.
 ख. ग. ज. ठ. ड. मध्यमस्था°. ७ क. ख. ‘ उदकस्य धाराः; घ. झ. ट. ठ. ड.
 ‘ उदकस्य धारा°. ८ क. स. घ. झ. ट. घृतधारा°; ग. ज. घृतस्य धाराः श°.

१ । १२) इति । एवंवेद्योऽयमग्निशब्दोऽत्र सामर्थ्यान्मन्थनं ज्योतिराह तस्मात्सुष्ठु ' स न मन्येतायमेवाग्निः पृथिवीस्थानः ' इति ।

' समनं समननाद्वा संमाननाद्वा ' इति । पूर्वम् अनितेः प्राणनार्थस्य (धा० २ । ६०) । उत्तरं मनोतेः (धा० ८ । ९) । ऋञ्जन्य-निर्वचनम् ।

अथ खलु यथोत्तममपि ज्योतिर्भवत्याग्निस्तथोदाहारिण्यामः । ' समु-

उत्तमस्याग्निशब्दत्वे द्राक्षीर्मिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमीनत् ।
उदाहरणम् घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नामिः ' (ऋ० सं० ४ । ५८ । १) ॥

१० ' आदित्यम् उक्तं मन्यन्ते ' । पूर्वयैव समानार्थविनियोगा । अनुक्रमण्यं नानादेवता । इह तु सौरीति कृत्योदाहृता भाष्यकारेण । समुद्रात् उदक-संचातात् ऊर्भिः ह्यादकः सर्वस्य प्रकाशेन मधुमान् उदकवान् उदारत् उदतीर्तत् उचरति उदेति अहन्यहनि । प्रथमं वास्य जन्माभिप्रेत्य । स पुनर्जातः सन् अमृतत्वम् अमृतभावम् अंशुना चन्द्रमत्ता उपसमानत्

१५ उपसंख्याप्रोति । सोऽस्यान्नं तेन न त्रियते । ' यमक्षितिमक्षितयः पिवन्ति ' इत्युक्तम् (निरु० ५ । ११) । कथममृतत्वं तेन उपसमानडिति । घृतस्य उदकस्य हविषो वा यत् नाम नमनं गुह्यं रहस्यमविज्ञातं केनचिदपि यदत्र अस्ति त्रियते च-द्रमासि तत्र देवानां रस्मीनां जिह्वा तदमृतं निन्यमास्वादयन्ति देवास्तेन न त्रियन्ते । तेषाम्

२० अमृतस्य अमरर्णस्य नामिः नहनं सः । हेतुरित्यर्थः ।

१ घ. झ. ट. ठ. ड. एव वेद्यो°; च. एव वेद्यो° धे°. २ ग. °ध्यामः । समु°. ३ ग. च. न. प. झ. ट. ड. ड. दुर्मि रत्यादित्य°. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. °योगा । नानादेवताभिषाद्रस्तवायां देवतानुक्रमण्यः शीनकेनोकः (ठ. ड. शीनकेनोकः) । इह पुनः सौरी. ५ च. °देवता ~ । इह° वताभिवा-दस्तायां देवतानुक्रमण्यं शीनकेनोकः. ६ क. ख. ग. ज. घ. झ. ट. ठ. ड. °रेण सूक्तं सकलं च । समु°; च. °रेण ~ । समु° सूक्तं सकलं च; ठ. ड. °रेण सूक्तं सकलं च । समुद्राद्दूर्मितेति सर्वां ऋक् पश्यते. ७ क. रा. प. झ. ट. ठ. २८ इति वा उदे°. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. °मरगत्वस्या°; च. °मरगत्वस्या° १५.

अथ कुतः सूर्योऽयं विशेषतोऽबधियते । न चात्राग्निशब्दोऽस्ति यः
 अस्यामुचि अग्नि सस्यप्यादि यदेवत्वेऽस्य मन्त्रस्याग्निस्त्वमादित्यस्य
 धाब्दो न वर्तते । प्रख्यापयेत् । घृतस्तोत्र एता इति विज्ञायते ।
 तेनाग्निशब्दोऽत्र सूर्य- यस्मादसमर्थमिदमुदाहरणम् । न असमर्थम् ।
 पर इति कथमुच्यते कस्मत् । सूक्तेऽग्निलिङ्गमेकेषा शाखिनामस्ति । ५
 ' इमं स्तनम् ' इत्यत्र अया प्रौढीनमग्ने ' (य० घा० सं० १६ । ८७) इति । निवि-
 चाग्निन् सूक्ते धीयते । सा चाग्निलिङ्गा । आदित्यधायमनेन मन्त्रेणोच्यत
 इति स्फुटमस्यैव मन्त्रस्य " ब्राह्मणे ' समुद्राद्द्वेषोऽद्वय उदैति ' १०
 (कौषी० ब्रा० २५ । १) इति " । न च पार्थिवः समुद्राद्दुदेति
 विरोधात्तस्योदकेन । तस्मादादित्योऽनाग्निभिप्रेत इति नासमर्थमुदाहरणम् ।
 " अधापि ब्राह्मणं भवति ' अग्निः सर्वा देवताः ' (ऐ० ब्रा०
 ६ । ३ ॥ मैत्रा० सं० १ । ४ । १३ इत्यादि बहुकृत्वः ॥ शब० ब्रा०
 १ । ६ । २ । २० ॥ सै० सं० ६ । २ । २) इति " । अथ खल्वधमपरः
 संकरोऽग्निशब्दस्य । ब्राह्मणं हि भवति ' अग्निः सर्वा देवताः ' इति । १५
 अस्य च ब्राह्मणस्य ' उत्तरा ' ऋक् ' भृयसे ' बहुतराय
 ' निर्वचनाय ' ॥ १७ ॥

इन्द्रं मित्रं वरेणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
 एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः (ऋ० सं० २०

१ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. सूर्याऽयमिति वि०. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
 न चात्राग्निशब्दोऽस्ति यः. ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. इति च वि०, च. इति.
 वि० घ. ४ क. ख. ग. ज. घ. झ. ट. ठ. ड. तस्मा०, अ. गौ०मा० त. ५ ग. ज.
 प्रतीतमग्ने, अ. प्रपीनमग्ने त ६ ग. ज. उदैति. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
 इति च । न०, च. इति. । न० च ट. च. ' अत्र ' नास्ति. ९ क. ख. घ.
 झ. ट. ' हि ' नास्ति. १० क. ख. घ. झ. ट. तस्य. ११ क. ख. घ.
 (१७), ग. २२ (५३), ठ. ड. १७ इति निरुक्तार्थक्यामु (ठ.
 निरुक्त० उ) तत्रापदेकं प्रथमेध्याये सप्तदश खण्ड. (ठ खण्ड. १७), घ.
 ट. ज. अद्या नास्ति.

१।१६४।४६) ॥ इममेवाग्निं महान्तमैतानपेकमात्मानं बहुधा
मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं दिव्यं च गरुत्मन्तं दिव्यो
दिविजो गरुत्मान् गरुणवान् गुर्वात्मा महात्मेति वा यस्तु सूक्तं
भजते यस्मै हविर्निरुप्यतेऽयमेव सोऽग्निर्निपातमेवैते उत्तरे
५ ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजते ॥ १८ ॥

इन्द्रं मित्रमिति अस्मदानीय एवा । इन्द्रं मित्रं वरुणम् इयेतैरभिधानैः
अग्निः इन्द्रादि- अग्निमाहुः सतत्त्वविदः । अथो अपि च योऽयमा-
भिर्नामभिरप्यभिधीयते दिव्यो दिवि जायते सुपर्णः सुपत्नः गरुत्मान्
गरुणवान् । स्तुतिभिस्तद्दान् रसानां वा गरिता
आदित्यः । अयमपि स एवाग्निरित्याहुः । किं
१० बहुना । इममेवाग्निम् एकं महान्तमात्मानम् अनन्यत्वेन पश्यन्तो विप्रा
मेधाविनः अत्सविदो बहुधा वदन्ति अग्निं यमं गातरिधानमित्येवम् ।
अन्वैध्याभिधानैः । ' एतस्यैव सा विस्मृष्टिः । एष उ ह्येव सर्वे देवाः '
(बृह० उ० १।४।६) इति च विज्ञापते । तस्माद्युक्तं यत् ' न मन्ये-
१५ तायमेवाग्निरिति ' ।

अत्र प्रतिसमाधानम् । सत्यमेतत्सर्व एतेऽग्निशब्देन स्तूपन्ते । न तु
प्रधानतः । किं तर्हि । गुणतः स्तूपन्ते । यतो ब्रवीति । ' यस्तु सूक्तं
भजते यस्मै हविर्निरुप्यतेऽयमेव सोऽग्निः ' । तुशब्दः पूर्वपक्षव्याव-
र्तकः परमत्वप्रदासार्थः । यः सूक्तं भजते प्रधानतः । स्तुत्यत्यनेत्यर्थः ।
२० पार्थिवोऽग्निःसू- यस्मै च हविर्निरुप्यते चोदनासामर्थ्यात्
क्तमापविर्भावश्च । ' आप्रेयमष्टाकपालं निर्वपेत् ' (मैत्रा० सं०
इतरयोगोतिपौराग्नि- २ । २ इत्यादि) इति ' अयमेव सोऽग्निः '
शब्दो गौणः पार्थिवः । अग्निशब्दस्य विशेषतोऽत्र लोकेऽद-
प्रसिद्धेः । ' अग्निमानय अग्निं प्रणय ' इत्येतमेव

२५ हि लोकः प्रतिपद्यते न मध्यमं नाप्युत्तमम् ।
न च प्रमिद्विबाधो न्यायः । शास्त्रचोदिता अपि खदिरपञ्चाशादधी

१ क. त. ६ महान्तं आत्मा. २ क. त. ५ (१८) । छ. २३। तृतीयः
पादः ; त. ५।४। तृतीयः पादः ; इति सप्तमाध्यायस्य चतुर्थः पदः ; ६ ' भजते ।
इति नेहने उक्तार्थस्य प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः. ३ क. ख. घ. ङ. ट. ठ.
ड. षेऽं दि.पो दि.ने' . ४ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'मिति एषमावध्यामि'.
५ ग. न. गितोऽग्निः. ६ क. ग. ङ. ङ. ट. ठ. ड. लोके वेदे च अग्नि'. ७ ग.
१२ न. 'दिताो त'; घ. 'दिन.पि' अ.

लोकप्रसिद्धित एव प्रतीयन्ते । तस्माद्वाग्निशब्देन पार्थिवस्य ज्योतिषो मुख्यः संबन्धः । गौण इतरयोर्भेद्यमोत्तमयोः । यथाग्निशब्देन न तथा मध्यमोत्तमाम्या विद्युसूर्धशब्दाभ्यां लोकप्रसिद्ध्या मुख्यः संबन्धः । एवं चेतुष्टुक्तं ' यस्तु सूक्तं भजते यामै हविर्निरिप्यतेऽथमेव सोऽग्निः ' इति । एतदेव चात्र विचारप्रयोजनमाश्लेषेण सूक्तेषु हविःसंप्रदानेषु रतुत्यनेन भोक्तृत्वेन चोपासनाति । अथ पुनर्योऽयं मध्यमोत्तमयोर्ज्योतिषोरग्निप्रवादः स कथमिति । ' निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन चाफधेयेन भजेते ' । निपातो नाम अपाधान्यं भक्तिरित्येवं ॥ १८ ॥

द्वादशस्य चतुर्थः पादः ॥

१०

जातवेदाः कस्माज्जातानि वेद जातानि वै न विदुर्जाति जाते विश्वत इति वा जातविद्यो वा जातधनो जातविद्यो वा जातप्रज्ञानो यत्तज्जातः पशूनविन्दतेति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वामिति ब्राह्मणम् (मैत्रा० सं० १ । ८ । २) तस्मात्सर्वानृतून् पशवोऽग्निमभिसर्पन्तीति (मैत्रा० सं० १ । ८ । २) च तस्यैषा भवति ॥ १९ ॥

१५

' जातवेदाः ' (निघ० ५ । १ । २) इति वक्तव्यम् । स

१ क. ख. घ. झ ट. ठ. ड ' च ' नास्ति २ ग. ज. ' न ' नास्ति.
३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. विचारे प्र०. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. चैतमेवोपासी ; ग. चोदयामीति ५ ठ. भजेते । इत्यग्निशब्देस्य निर्वचनेन २०
॥ १८ ॥ निपा०. ६ क. ख. घ. झ ट ठ ड. ' रित्यर्थः. ७ क. ख. ५(१८);
ग. २३; इत्येष्वङ्गो नास्ति. ८ क. ख. इति निरुक्तश्रुतौ द्वादशाभ्यासस्य [रसमा-
ध्यासस्य] चतुर्थः पादः, ठ. इति निरु० उत्तर० पथ० अष्टादशः खण्डः । १८।;
९. इति जम्बूमार्गाग्रमनिवासेन आचार्यभगवद्दुर्गस्य कृत्वा अज्वर्याया नितकटीकायां
नेपथ्यध्यायनेन सह द्वादशाभ्यासोत्तरस्यैके प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः । इत्यष्टादश-
खण्डः समाप्तः । इत्यग्निशब्देस्य निर्वचनम् । अग्रये ऽमोऽस्तु ९ धनो वा ज त०
(सायणभष्ये निरुक्तम्) १० ' एतो वा य० (तथैव) ११ ' मिति हि मा०
(तथैव). १२ क. ख. १ (१९), छ २४, त. ६. १.

२८

पुनरेष माहाभाष्यात्कर्मपृथक्त्वादग्निरेष । अथवा । पृथग्भिधानस्तुभ्यन्त-
रसंबन्धेवतान्तरम् । ' जातवेदाः कस्मात् ' ।

जातवेदाः स हि ' जातानि वेद ' । न हि तदस्ति
जातमस्मिंल्लोके यद्रसौ न वेद । सर्वज्ञ इत्यर्थः ।

५ ' जातानि वा एनं विदुः ' । स एव धातुः । कारकान्यत्वं केवलम् ।
' जाते जाते विद्यत इति वा ' । विदेः सत्कार्यस्याधिकरणे कारके । न
तदस्ति जातं यत्रासौ नास्ति । ' जातविद्यो वा जातधनः ' । जात-
शब्दः पूर्वपदं वित्तशब्द उत्तरपदम् । जातमस्य वित्तमिति जातवेदाः ।
' जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः ' । जातशब्द एव पूर्वपदं विदेर्ज्ञानार्थस्यो-

१० त्तगदम् । निसर्गत एवास्य जातं प्रज्ञानमित्यर्थः । ' ब्राह्मणम् ' अपि
भवति जनेर्भिदेश्च जातवेदा इति । ' यच्चजातः पशुनविन्दतेति ' ।
यत् असौ तत् तदा जातमात्र एव निसर्गतः पशुनविन्दत अलभत
' तज्जातवेदसो जातवेदस्यमिति ' विज्ञायते । यत्तैतदेवं ' तस्मात् '
अथाप्येऽपि स्वाभ्ययमस्माकमिति गन्वमानः ' पशवः सर्वानृतुन् '
१२ प्रति अपि प्रीण्ये ' अग्निमभिसर्पन्ति ' । ' तस्य ' जातवेदसः प्राधान्य-
स्तुत्यादाहरणम् ' एषा ' ऋग् ' भवति ॥ १९ ॥

मं नूनं जातवेदसमर्ध्वं हिनोत वाजिनम् । इदं नो वहिरासदं
(ऋ० सं० १० । १८८ । १) ॥ महिषुत जातवेदसं कर्षभिः

- १ क. स. प. झ. ट. ठ. ड. पदवम्. २ क. स. प. झ. ट. ठ. ड. अपि
२० य. मं. ३ क. ल. प. झ. र. अलभत्; ए. अलभते त्. ४ क. ल. १
(१९), ग. २४।२५; ठ. ड. १९ । इति निरुद्धं कायामुत्तरपदके
(ड. इति निरुद्धं. उत्त०) प्रथमेऽध्याये (ठ. प्र०) पक्षे. नविद्यः (२. ५६२)
इतोऽहो नास्ति. ५ क. ल. छ. त. द. जातवेदसं मुनयाम सोममगनी-
यतो नि ददाति वेदः. स नः पर्वदति दुर्गाणि विश्वा नाशेव सिन्धु दुर्गातात्याग्निः
२ (ऋ० मं० १ । ९ । १) ॥ जातवेदस इति जातवेदसः । येषु जातवेदसेऽर्थाय
मुनयाम सोममिति पक्षपायाभिव्याय सोमं राजानममृवमगनीयता यथार्थेव निगमो
निरुद्धाति (त. निरुद्धेति) ददाति निश्चयेन ददाति भाष्येति गीति सोमो ददति इत्यर्थः ।
स नः पर्वदति दुर्गाणि विश्वाणि दुर्गाणि (छ. दुर्गाणि सि, स. दुर्गाणि)
इषानानि नाशेव सिन्धु नाशे सिन्धु सिन्धु माशे नदी जलदुर्गा मरुदुर्गा (त. माशे-
दुर्गा) इति तावन्ति दुर्गाणि इति ददाति इति तावन्ति तावन्ति तावन्ति तावन्ति
३० क. म. त. द. २; छ. २१०५ नूनं.

समश्रुवानमपि योपमार्थे स्यादश्वमिव जातवेदसमितीदं नो बर्हि-
 रासीदित्वाति तदेतदेकमेव जातवेदसं गायत्रं तृचं दशतयीषु
 विद्यते यत्तु किञ्चिदाग्नेयं तज्जातवेदसानां स्थाने युज्यते स न
 मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी जातवेदसी उच्येते
 ततो नु मध्यमः । अभि प्रवन्त समनेव योपा इति तत्पुरस्ताद्दद्या-
 रुयातम् (निरु० ७ । १७) अथासावादित्य उदु त्यं जातवे-
 दसमिति तदुपरिष्ठाद्दद्याख्यास्यामो यस्तु सूक्तं भजते यस्मै
 ऋषिर्निरुप्यतेऽयमेव सोऽग्निर्जातवेदा निपातमेवेते उत्तरे ज्योतिषी
 एतेन नामधेयेन भजेते ॥ २० ॥

इति सप्तमाध्यायस्य पञ्चमः पादः ॥

१०

प्र नूनं जातवेदसमिति । श्वेनस्याग्निपुत्रस्यार्थम् । हे स्तोतारो यूय-
 मुष्यध्वे । प्रहिणुत प्रेरयत स्तुतिभिरेतं जातवे-
 जातवेदःशब्द- दसम् अश्वं कर्मभिः सर्वमेतज्जगत् अश्रुवानं
 स्योदाहरणम् व्यापयन्तं वाजिनं वेजनवन्तं चलनवन्तम-
 चिभिः । अथवा । अश्वमिव इति यौ लुप्तोपमं
 रुहेर्वलीयस्यात् । वाजिनं वेजनवन्तं चलनस्वभावं शीघ्रम् । किमिति
 प्रहिणुतेति । इतः । इदं नो बर्हिरासदे । इदम् अस्माकर्म बर्हिपोप-
 लक्षितं बर्हिः कथं नामारमदभिमतार्थसिद्धयर्थमाभिमुत्येन सोद्रेदित्येवमर्थं
 प्रहिणुर्न ।

१५

इदानीमुत्सवं दर्शयति प्रयोजनार्थम् । ' तदेतदेकमेव जातवेदसंम् '

२०

जातवेदसं गायत्रं
 तृचमेकमेध

इति । तदिति दशतयीस्थस्यानुसृृतये परोक्ष-
 निर्देशः । एतदिति प्रत्यक्षेण प्र नूनमित्येतया
 संनिधीकृत्योपदिशति । गायत्रमिति छन्दोनिर्देशो

१ छ. त. द् 'देकमिव. २ छ. त. द्. 'वेदसा उ'. ३ क. ख. ३ (२०), २ छ. २६ । चतुर्थं पादः, त ३।७ । चतुर्थः पादः. द्. - इति नेरुक्ते उत्तरार्धाय प्रथमाध्यायाय चतुर्थः पद. ४ ग. 'मिति । श्वेन'. ५ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'र्थम् । गायत्री । हे, च. 'र्थम् । 'हे' ग यत्री । ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. चञ्चलमचिभिः, च. चलनवन्तं न अ. ७ क. ख. घ. झ. ट. ड. 'वा' नास्ति ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'णुमेति. ९ ग. ज. 'वेषमिव, च. 'दे- कमिव' मे. १० क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'वेदसं गायत्रं तृचमित्यादि, च. 'वेद- स' स्व.

२५

२९

विवक्षितप्रयोजनार्थः । तृचमिति सूक्तस्य संख्यानिर्देशः । दशतथीषु
सर्वास्वपीति निर्धारणे । विद्यते अस्ति । ततः किं यद्येतदेवैकं जातवेदसं
गायत्रं तृचं दशतथीषु विद्यते । शृणु । बहुभिरैतैर्गायत्रच्छन्दोयुक्तैर्जातवेद-
सैर्मन्त्रैराधियज्ञे प्रयोजनमस्ति । न चैते बहवः सन्ति सर्वास्वपि दशतथी-

५ यत्र गायत्रच्छन्दो-
युक्तानां जातवेद
सानां मन्त्राणां प्रयो-
जनं तत्राम्नेषास्तच्छ-
न्दोयुक्ता मन्त्रा विनि-
युज्यन्ते

१०

ध्वेतदेवैकं तृचं मुक्त्वा । तत्र किं कर्तव्यमिति ।
यत्तु किञ्चिदाग्नेयं मन्त्रजातं गायत्रच्छन्दस्य-
जातवेदोलिङ्गमपि 'तज्जातवेदसानां' मन्त्राणां
'स्थाने' विनियुज्यते' शब्देण । तेन
किं स्थितं भवति । अग्निरेव जातवेदा इति
कर्मपृथक्त्वान्मौहाभाभाद्भेदेति । इतरथा हि प्रयो-
गवैकत्वं स्यात् । न चान्यदेवतमन्यस्य स्थाने
प्रयुज्यते । यथा चायमनर्थान्तरमग्निर्जातवेदस
एतस्माद्विधिलिङ्गात्तथा वैश्वानरमभृतयोऽपीत्युपेक्ष्यत् ।

१५ 'स न मन्येत' इति पूर्ववद्विचारः । केवलम् 'अग्निं प्रवन्त'
मध्यमोऽपि जात-
वेदा इत्यभिधीयते
इत्यग्निपदविचारेऽग्निशब्दो विशेष्य आसी-
ज्जातवेदःशब्दोऽस्य गुणपदमिति । इह तु जात-
वेदःशब्दविचारे पुनः 'अग्निं प्रवन्त' इत्य-
स्मिन्नेवोपात्ते मन्त्रे गुणपदमग्निशब्दो जातवेदः-
शब्दस्येयेतावदुपेक्ष्यम् ।

२० यथा क्षु पूर्वास्मिन् 'समुद्रादग्निः' इत्यादित्यस्याग्निव्योपपत्तावुदाहरणं
तथैह 'अधासायादित्य उदु इयं जातवेदसमिति'
तथोत्तमोऽपि जातवेदस्त्वेवपत्ती । तदेतत्प्रतिपदमुदाहरणम्
'उपरिष्ठद् व्याहृयास्यामः' (निरु० १२ । १५)।

१ क. ए. घ. झ. ट. ठ. ड. 'मित्येतत्क्षु'. २ क. ए. घ. झ. ट. ठ. ड.
'एते तत्तमी । वि'; घ. 'एते ५ वि' एतमी. ३ घ. झ. ट. वेदस्य; घ. वेदसां.
४ क. ए. घ. झ. ट. ट. र. 'विदुषिण'. ५ क. ए. घ. झ. ट. ठ. ड. गायत्र
पद्यच्छन्द'. ६ ग. घ. ज. 'वत्या मता'. ७ क. ए. घ. झ. ट. ड. 'विदा
१'; ठ. 'वेदा इत्यग्ना'. ८ क. ए. घ. ज. घ. झ. ट. ठ. ड. ए.

‘जातवेदसं सूर्यमुद्ब्रह्मन्ति’ इति तु विशेषणविशेष्यसामानाधिकरण्यैकवाक्य-
प्रसिद्धयार्थं निगमसिद्धमस्मिन्मन्त्रे जातवेदाः सूर्य इति । तस्मात्सुप्रुक्तं
यत् ‘स न मन्येतायमेवाग्निः’ जातवेदा इति ।

‘यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यतेऽयमेव सोऽग्निर्जातवेदाः’

तथापि जातवेदा
अयमेव पार्थिवोऽग्निः

इति पूर्ववत्प्रसिद्धिरेव विशेषहेतुः । यद्यपि मन्त्र-
दर्शनमविशिष्टं त्रयाणामपि ज्योतिषां जातवेदस्त्वे
तथापि पार्थिवोऽग्निरित्तरयोः प्रसिद्धया विशे-
ष्यते । जातवेदस्त्वं हि प्रसिद्धमस्मिन्नग्नौ नै तथा

५

वैद्युते नापि सूर्य इति । ‘निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी’ जातवेदा इति ‘एतेनै
नामधेयेन भजेते’ इति व्याख्यातम् ॥ २० ॥

१०

द्वादशस्य पञ्चमः पादः ।

वैश्वानरः कस्माद्विश्वान्नरान्नयति विश्व एनं नरा नयन्तीति
वापि वा विश्वानर एव स्यात्प्रत्युतः सर्वाणि भूतानि तस्य
वैश्वानरस्तस्यैवा भवति ॥ २१ ॥

१५

‘वैश्वानरः’ (निघ० ५ । १ । ३) इति वक्तव्यम् । तदर्थमुपो-
द्ब्रन्ति ‘वैश्वानरः कस्माद्’ इति । ‘विश्वान्नरान्’ इतो लोकादमुं लोकं
नयति’ यथा पञ्चाग्निविद्यायामुच्यते (छा०

वैश्वानरः

उ० ५ । ४ । ९) । अपि वा सति तस्मि-
न्सर्वाः प्रवृत्तयः फलवत्यो नराणां भवन्तीति

२०

हेतुकर्तृत्वेन सर्वासु प्रवृत्तिष्यमेव नरान्नयति प्रवर्तयतीति वैश्वानरः ।
अथवा । ‘विश्वे एनं नरा नयन्तीति वा’ कर्मकारकम् । स नीयमान-

१ क. ख. घ. झ. ठ. ड. ङ. ‘च’ नास्ति०. घ. झ. ट. ‘ज’ नास्ति. ३ क.
ख. घ. झ. ट. ठ. ड. अनेन. ४ क. ख. ३ (२०), ग. २६; इतरेष्वङ्गो २५
नास्ति. ५ घ. झ. ट. इति द्वाद्; ठ. व्याख्यातम् । इति नि० उ० प्र० विंशतितमः
खण्डः । २० । पञ्चमः पादः; ङ. व्याख्यातम् । इति निरुक्तरीकायामुत्तरपट्टके
प्रथमाध्याये पञ्चमः पादः । समाप्त विंशतिः खण्डम्. ६ च. पादः समाप्तः । २० ।
७ क. ख. १ (२१), छ. २७; त. द. १. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
० ति । हेतुकर्तृत्वेन सर्वासु प्रवृत्तिषु अयमेव नरान् नयति । यथा०. २०

स्तौसु क्रियास्वङ्गभावं नरैः कर्म संपद्यते । 'अपि वा विश्वानर एव' कश्चित् 'स्यात्' । स पुनः कस्मात् । 'प्रवृतः सर्वाणि भूतानि' । विश्वानि ह्यसौ भूतानि प्रवृतः । प्रविष्ट इत्यर्थः । 'तस्य' अपत्यं विश्वानरस्य 'वैश्वानरः' । तस्य 'वैश्वानरस्य' 'एषा' प्राधान्यस्तुतिः 'भवति' ॥ २१ ॥

- वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिथ्रीः ।
इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो यंतते सूर्येण (ऋ० सं०
१।९८।१) ॥ इतो जातः सर्वमिदमभिविपश्यति वैश्वानरः
१० संयतते सूर्येण राजा यः सर्वेषां भूतानामभिश्रयणीयस्तस्य वयं
वैश्वानरस्य कल्याण्यां मतां स्यामोति तत्को वैश्वानरो मध्यम
इत्याचार्या वर्षकर्मणा ह्येनं स्ताति ॥ २२ ॥

- वैश्वानरस्य सुमताविति कुत्सस्वार्पम् । पृष्टयाभिन्वयोश्चतुर्धर्षण्यो-
१५ वैश्वानरशब्दस्यो- रद्धोरामिगारुतस्य प्रतिपत् (आश्व० श्री० ८।८) ।
दाहरणम् इतः पृथिवीलोकादोपधिवनस्पतिभ्यो यो जातो
विश्वमिदं विचष्टे सर्वमिदमभिविपश्यति तथा
दृष्टपुष्करकेत्वेन दर्शयति वा प्रकाशकत्वेन ।
यश्च संयतते सूर्येण संगच्छते स्वेन भासा । राजा च यः सर्वेषां
२० भूतानाम् आश्रयणीयः । तस्य वयम् एवंगुणयुक्तस्य वैश्वानरस्य
नियं कल्याण्यां मतां उकारप्रवृत्तायामात्मनो यथाभिमतार्थसाधि-
कायां स्याम इत्येतदाशस्महे । लोकेऽपि हि स्तूपत एव पूर्वं पश्चात्प्राथ्व्यत

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'स्तासु तासु क्रि०. २ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'स्तुतिक्रमव०. ३ क. ख. १ (२१); ग. २७; ट. 'वति । इति निरुक्तं उ० प्रथ० एकविंशतिः एण्डः, ड. 'वति । इत्येकविंशतिः एण्डः; घ. ङ. ट. ज. अट्टो नास्ति. ४ क. ख. २ (२२), छ २; त. द. २. ५ ग. विति 'कु०. ६ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'र्थपञ्चमयो'. ७ च. 'तिम्यां वो'. ८ घ. ङ. ट. ठ. ड. 'इयति यथाभिदृष्टपुष्कर' . ९ ग. ज. ११ 'कारत्वेन, घ. 'कारत्वेन' क. १० ग. अभिभ०.

इत्याचार्यः पश्यन्मन्त्रेऽप्ययमेव न्याय इत्युपदर्शनार्थं पदानां क्रमं विभेद ।
कल्याणार्थं मत्तौ स्यामेत्यादिषु समाप्याचक्रे । अनेकस्तिष्ठि चैतस्मिन्मध्ये
प्रतितिष्ठ्वाक्यभेदे प्राप्ते यत्तदोरघ्याहारेण ' राजा यः सर्वेषां भूताना-

मभिश्चयणीयस्तस्य वयं वैश्वानरस्य कल्याणार्थं

अत्र यत्तदोरघ्या- मत्तौ स्याम ' इत्येकत्राक्यतया सामर्थ्यमुद्भाव-

हारेण भिन्नवाक्या- योचकारैकोऽत्रार्थपतिर्वैश्वानरो यतः कल्याणी

व्येकीकृतानि आशास्यते मतिस्तमभिसंतिष्ठते स्तुतिरिति ।

अयमेकवाक्यतान्यायः प्रायशो मन्त्रेषु । क्वचित्पुनः

प्रत्याख्यातमर्थमपेक्ष्यैकस्मिन्नपि मन्त्रे वाक्यभेदो भवत्येव । तद्यथा ।

' भ्रूचां ह्यः पोषम् ' इत्यत्र प्रतिपादं वाक्य-

कचिदर्थवशेनै- समाप्तिः (निरु० १ । ८) । अनेकेषामपि च म-

कस्य वाक्यस्यानेक- न्त्राणामाकाङ्क्षितार्थिनां परस्परमेकवाक्यता भवति ।

वाक्यानि तदपि चोपप्रदर्शयिष्यति ' येना पावक चक्षसा'

इत्यत्र (निरु० १२ । २२-२५) ।

' तत्को वैश्वानरः ' इत्यतःप्रभृति विचारः । तदिति वाक्योपादाने ।

को वैश्वानरः कोऽयं वैश्वानरः । कुतः संशयः । आगम-

विप्रतिपत्तेः । वैश्वानरविद्यायां (छा० उ०

५ । ११-२४) तावदामेत्यात्मविदः । इन्द्र

आदित्यवाग्वाकाशोदकपृथिव्यादयश्च पृथक् पृथ-

वैश्वानरत्वेन विज्ञायन्ते । अपि च ' मय्यमो ' २०

मय्यम इति नैरुक्ताः वैश्वानरः ' इति ' नैरुक्ताः कोचित् ' आचार्याः '

मन्यन्ते । कस्मात् । ' वर्षकर्मणा ह्येनं स्तौति '

इति मन्त्रदृक् । हिशब्दो हेत्वर्थः । वर्षकर्मणैर्न वैश्वानरं यस्मान्मन्त्रदृक्

स्तौति । कथमिति । यत आह ॥ २२ ॥

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. मन्त्रेष्वयमे. २ क. ख. घ. ङ. ट. 'वा य' २५
स'. ३ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'स्तमेभिः शब्देरभिद्यौति संतिष्ठ'. - ४ ग. च.
ज. घ. ट. ठ. ड. प्रतिपदं. ५ क. ख. घ. ट. ठ. ड. विष्वा'. ६ क.
ख. घ. ट. ठ. ड. इन्द्रादित्य'. ७ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'द्योगे वैश्या'.
८ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'इति' नास्ति. ९ क. ख. २(१२), ग. २८;
ठ. 'इति नि० उ० ५० द्वाविंशतिः खण्डः । २२ ।; ड. 'आह । निष्कन्दी-
कायामुत्तरपट्टके प्रथमाध्याये द्वाविंशतिः खण्डः, घ. ङ. ट. ज. अडो नास्ति. ११
८८

- प्र नू मंहित्वे वृषभस्य घोचं यं पूरवो घृत्रहणं सचन्ते ।
 वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ अधूनोत्काष्ठा अव शम्बरं भेत्
 (ऋ० सं० १ । ५९ । ६) ॥ प्रब्रवीमि तन्महित्वे माहाभाग्यं
 वृषभस्य वर्षितुरपां यं पूरवः पूरयितव्या मनुष्या वृत्रहणं मेघहनं
 ५ सचन्ते सेचन्ते वर्षकामा दस्युर्दस्यतेः क्षयार्थादुपदस्यन्त्यस्मिन्नसा
 उपदासयति कर्माणि तमग्निर्वैश्वानरो ब्रह्मवाधूनोदपः काष्ठा अभि-
 नच्छम्बरं मेघमथासावादित्य इति पूर्वे याज्ञिका एषां लोकानां
 रोहेण सबनानां रोह आमनातो रोहात्प्रत्यवरोहश्चिकीर्षितस्त-
 मनुकृतिं होताग्निमारुते शस्त्रे वैश्वानरीयेण सूक्तेन प्रति-
 १० पद्यते (ऐ० ब्रा० १२ । ३) सोऽपि न स्तोत्रिय-
 माद्रियेताग्नेयो हि भवति तत आगच्छति मध्यस्थाना देवता
 रुद्रं च मरुतश्च ततोऽग्निमिहस्थानमत्रैव स्तोत्रियं शंसत्यैथापि
 वैश्वानरीयो द्वादशरूपालो भवत्येतस्य हि द्वादशविधं कर्मा-
 थापि ब्राह्मणं भवत्यसौ वा आदित्योऽग्निर्वैश्वानर इत्यथापि
 १५ निवित्सौर्यवैश्वानरी भवत्या यो द्यां भात्या पृथिवीमित्येष हि
 द्यावापृथिव्यावाभासयत्यथापि छन्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं
 भवति दिवि पृष्ठे अरोचतेत्येष हि दिवि पृष्ठे अरोचतेत्यथापि
 हविष्पान्तीयं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवत्येषमेवाग्निर्वैश्वानर इति
 शकपूणिर्विश्वानरोवेते उत्तरे ज्योतिषी वैश्वानरोऽयं यत्ताभ्यां
 २० जायते कथं न्वयमेताभ्यां जायत इति यत्र चैद्युतः शरणमभिहन्ति
 यावदनुपात्तो भवति मध्यमधर्मैव तावद्भवत्युदकेन्धनः शरीरो-
 पशमन उपादीयमान एवायं संपद्यत उदकोपशमनः शरीरदीर्घि-
 रथादित्यादुदीचि प्रथमसमावृत्त आद्रित्ये कंसं वा मणिं वा परि-
 मृज्य प्रतिस्वरे यत्र शुष्कगोपयमसंस्पर्शयन्धारयति तत्प्रदीप्यते
 २५ सोऽयमेव संपद्यतेऽथाप्याह । वैश्वानरो यतते सूर्येणेति । न च

१ ङ घ. ठ. द. तन्महित्वे; य. तन्महित्वे. २ क. ख. त. द. 'काः
 । ३ । ५; छ. 'काः । २९ । एपा'. ३ क. ख. त. द. 'सुनि । ४ । अथा'; छ.
 'सति । २० । अथा'. ४ छ. 'वति । ३१ । अय'; त. द. 'वति । ५ ।
 अय'. ५ ङ. य. घ. ठ. द. 'नरावित्पद्येते'. ६ छ. 'तिः । ३२ । अथा'; त.
 १० द. 'तिः । ६ । अथा'. ७ क. ख. छ. त. द. 'ते तथा'.

पुनरात्मनात्मा संयततेऽन्येनैवान्यः संयतत इत इममादधात्यमु-
तोऽमुष्य रश्मयः प्रादुर्भवन्तीतोऽस्याच्चिपस्तयोर्भासोः संसङ्गं
दृष्ट्वैत्रमवक्ष्येदथ यान्येतान्यौत्तमैकानि सूक्तानि भागानि वा
सावित्राणि वा पौष्णानि वा वैष्णवानि वा तेषु वैश्वानरीयाः
प्रवादा अभविष्यन्नादित्यकर्मणा चैनमस्तोष्यन्नित्युदेपीत्यस्तमे- ५
पीति विपर्येपीत्याग्नेयेष्वेव हि सूक्तेषु वैश्वानरीयाः प्रवादा
भवन्त्यग्निकर्मणा चैनं स्तौतीति दृहसीति वहसीति पचसीति
यथो एतद्वर्षकर्मणा ह्येनं स्तौतीत्यस्मिन्नप्येतदुपपद्यते । समान-
मेतदुदकमुच्चैत्यव चार्हभिः । भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं
जिन्वन्त्यग्र्यः (ऋ० सं० १ । १६४ । ५१) इति ॥ सा १०
निगदव्याख्याता ॥ २३ ॥

प्र नू महिनामिति । नोधस आर्षम् । प्रवधीमि अहं महिन्वं मीहा-
भाग्यं स्तुत्यन्वम् । कस्य । वृषभस्य वर्षितुरपाम् ।
मध्यमस्य वैश्वा- यम् अन्येऽपि पूरवः पूरयितव्या मनुष्याः कामैः १५
नरत्वे उदाहरणम् वृत्रहणं मेघहनं सचन्ते सेवन्ते वर्षकामाः स्तुति-
भिः । तन्माहाभाग्यं प्रव्रवीमि । यदसौ वर्षिता
वैश्वानरोऽग्निः दस्युं दासयितारमुपक्षयितारं रसानाम् । शुष्पन्ति हि तद-
नुद्रेमे सस्यानि । कर्मणां वोपदासयितारमनाशुद्धिद्वारेण । तं दस्युं शम्बरं
मेघम् उदकपूर्णं जघन्वान् हतवान् अभिनेत् भृशं व्यदारयत् विदार्य २०
च अधूनोत् वर्षभावेनकम्पयत् अक्षारयत् काष्ठा असौ यस्तस्याहं वर्ष-

१ ऋ. ध. घ. ठ. ड नान्वाम सं. २ छ. 'वक्षत्' । - ३ । अश्व०; त. द.
'वक्षत् । ७ । अश्व०. ३ ऋ. घ. घ. ठ ड. 'सामिका' । ४ क. ख. ५ ऋ. ध. घ.
ठ. ड. वा सोर्याणि वा पौ०. ५ क. ख. ऋ. ध. घ ठ. ड. वा वैश्वेऽप्यानि वा
तेषु' । ६ ऋ. ध. घ. 'तति वहसीति पचसीति दृहसीति यथो'. ७ छ. 'ते
। ३४ । स' ; त. द. 'ते । ८ । स'. ८ उ. ३५ । पश्चमः पादः ।; त. २५
९ । इति पश्चमः पादः ।; द. ९ । इति नैरुक्ते उत्तरार्धस्य प्रथमाभ्यासस्य
पश्चमः पादः. ९ म. मिति' । गो०. १० क. ख. घ. ट. ठ. ड 'र्षम् । त्रिदुषु ।
वैश्वानरोऽग्निदेवता । प्र०. ११ ठ. ड. महर्षे. १२ ख. महर्षि० मा. १३ क. ख. घ.
ट. ठ. ड. स्तुत्या । क०. १४ क. ख. घ. ट. ठ. ड. उदकवन्तमुदकपूर्णं.
१५ क. ख. घ. ट. हतवानवाभिनत् भृ' ; म. ज. हतवान भृशं नभिनत् व्यदार'. ३०

प्राप्तयथं प्रावोचं मौहामाग्यम् । स वर्षत्वस्माकमित्यभिप्रायः ।

एवमेतस्मिन्मन्त्रे वैश्वानरस्य वर्षकर्मणैकत्राक्यैसंबन्धान्नान्यो मध्यमा-
द्वैश्वानर इत्याचार्या मन्यन्ते । स्थितं तावदेवम् ।

- ५ वैश्वानर आदित्य
इति पूर्वे याज्ञिकाः ।
‘असावादित्य इति पूर्वे याज्ञिकाः’ । असाविति कर्मात्मनैर्नमैपदिशन्
ब्रवीति । मा भूद्रौणः कस्मिन्धिप्रत्ययः । पूर्वं इति
विधिमन्त्रार्थवादेभ्यो यज्ञसतस्त्वमुन्नीयैनं यज्ञं
प्रयोगतः प्रथमं ये चक्रुस्ते पूर्वे याज्ञिकाः । साक्षा-
त्कृतधर्माण इत्यर्थः । त एनमेवमाहुः ‘असावादित्य इति’ । कथा पुनरुप-
पत्त्या त एवमाहुः इति । विध्यनुकरणप्रसिद्धयो । कथमिति । यतस्तन्मतमार्हं ।
- १० ‘एषां लोकानां रोहणं सत्रनानां रोह आघ्रातः’ । य एव हि
लोकानामारोहणकर्मैः पृथिव्यन्तारिक्षं चौरिति स
यस्मात् दिशि प्रत्य-
परोहे वैश्वानरीय सृक्तं
शस्यते
एव सवनानामपि क्रमः प्रातःसवनं माध्यंदिनं
तृतीयसवनमिति । ततः किम् । कस्मि-
न्धि कर्मणि रोहप्रातिलोभनेन ‘रोहाध्यायवरो-
- १५ ह्यधिकीर्षिनः’ कर्तुर्नाम्भितः । तदुपग्याचश्महे । स एषे होतु
प्रातःसवनं पृथिवीलोकमर्कं संसिन्धौ ततो माध्यंदिनमग्नारिक्षलोक-
मर्कं संसति संसृतात् । प्रतिभक्तिं संसृतवथ
प्रत्यवरोहक्रमः । पटि- संसिन्धुं पृथिवीलोकान्तरिक्षलोकमाग्दो भवति ।
तन्पानि सत्राणि च स एतेकमारोहन् एतेकमर्कं तृतीयसवनं
शसति । तदपि संसन् एतेःकमाग्दो भवति ।
- २० सोऽग्निदोमसि दशापदिये ५८७म त्रिमात्रं तसवनलोकप्रत्यवरोहा-

नुकृतिं चिकीर्षञ्छ्वं ' वैश्वानरीयेण सूक्तेन प्रतिपद्यते ' प्रारभते । तद्यथा
' वैश्वानराय पृथुपाजसे ' (ऋ० सं० ३ । १ । ३) इति प्रतिपत्
(ऐ० ब्रा० २० । २) । ' सोऽपि न स्तोत्रियमाद्रियेत ' ' यज्ञायज्ञा वो
अग्नये ' (ऋ० सं० ६ । ४८) इति । अयं तावत्स्तोत्रियन्वेन प्रथममाप-
द्यतं एष हि स्तोत्रैश्चाणां धर्म इति । कस्मात्पुनः स्तोत्रियं नाद्रियते ।
' आग्नेयो हि भवति ' । प्रत्यवरोहे कर्तव्ये स च पुनराग्नेयो यैः स्तोत्रियः ।

यथा स्तोत्रं तथा
शास्त्रमित्यस्योत्सर्गस्या-
त्रापवादो वैश्वानरीय-
शास्त्रपठने

अग्निश्च पृथिवीस्थानः । तद्यदीर्घमाद्रियेत न प्रत्य-
वरोहानुकृतिप्रारम्भः कृतः स्यात् । अन्येषु तु
शास्त्रेषु युक्तं यदूर्ध्वमारुरुक्षमाणः स्तोत्रियेण
प्रतिपद्यते इह पुनरवरोक्षमाणो चुरथाना-
धिदेवर्ताशंसनक्रमेण वैश्वानरीयेण सूक्तेन

प्रतिपद्यत इति । तेन ज्ञायत आदित्यो वैश्वानर इति ।

अपि च । सुतरां प्रत्यवरोहणमेतदिति गम्यते येन ' सत आगच्छति

ततो मध्यस्थान-
देवताशंसनम्

मध्यस्थाना देवता रुद्रं च मस्तश्च ' । ' ततः '
वैश्वानरीयात्सूक्तात्प्रत्यवरोहानुकरणाभिप्रायेण श-
स्तात्प्रत्यवरुद्धं ' मध्यस्थाना देवता आगच्छति '
मध्यमैस्थानेऽभिशांसितुम् । कतमाः । ' रुद्रं च

मस्तश्च ' । तद्यथा ' आ ते पितर्मेरुतां सुमनेतु ' (ऋ० सं० २ ।
३३) इति (ऐ० ब्रा० १३ । १०) । ततो मध्यस्थानात्पृथि-

पृथिवीलोकं प्रत्य-
वरुद्ध यज्ञायज्ञियं शास्त्रं
पठ्यते । तस्माद्वैश्वानर
आदित्यः

वीस्थानं प्रत्यवरुद्धं ' अत्रैव तं स्तोत्रियं शांसति '
' यज्ञायज्ञा वो अग्नये ' (ऐ० ब्रा० १३ ।
११) इति । तदेवमेतस्माद्विष्यनुकरणात्प्रश्याम-
आदित्यो वैश्वानर इति ।

१ ग. ज. स्तोत्रुयं. २ ग. च. ज. 'स्तोत्रुयं'. ३ ग. ज. स्तोत्रे शास्त्रां.
४ प. ट. ठ. ड. नाद्रियेत. ५ क. ख. घ. ट. 'योऽयं स्तो'. ६ क. ख. घ. ट. २५
तपाद्दि तपादि°. ७ क. ख. अन्येषु शास्त्रेषु च युक्तं; घ. ट. ठ. ड. ' च '.
८ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'वताः शंसमानः क्रमे'; घ. 'वता शंसना' क° सु.
९ क. ख. घ. ट. ठ. ड. कथं पुनः (क. ख. अपि च सुतरां) प्रत्यवरोहानु-
करणमेतादि°. १० क. ख. ग. घ. ज. मध्यमस्था°. ११ क. ख. घ. ट. ठ.
ड. मध्यस्था°. १२ क. ख. ग. ज. घ. ट. ठ. ड. ततोऽपि मध्य°. १३ क. ख.
इति । ४ । अयादि; ग. इति । २० । अयादि.

‘ अथापि वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवति ’ । देवतागुणसामान्येन
 वैश्वानरीयपुरो-
 ५ द्वादशस्य द्वादशकपाल-
 त्वाच्च
 ह्यवियज्ञे गुणविधयः कल्पन्ते । वैश्वानरीयश्च
 सर्वत्र द्वादशकपालः । ‘ एतस्य ’ च ‘ द्वाद-
 शविधं ’ द्वादशमासार्धभागधिकारलक्षणं ‘ कर्म ’ ।
 तेनैतस्मादपि देवतागुणकपालविधनुकरणौदा-
 दित्यो वैश्वानर इति । अथापि श्फुटमेव ब्राह्मणं भवति ‘ असौ वा
 आदित्योऽग्निवैश्वानरः ’ (मैत्रा० ब्रा० २ । १ । २) इति । तच्च नः
 परं प्रमाणम् । तस्मात्सूर्यो वैश्वानर इति ।

‘ अथापि निविदसौर्यवैश्वानरी भवति ’ इति । निविदित्याकृतिविशिष्टे
 १० निविदः सौर्यवै-
 श्वानरीयत्वात्
 मन्त्रः शस्त्रमध्यपाती । स तथा भवति यथा
 सूर्यो वैश्वानर इति । न पार्थिवो न मध्यम
 इति । कथमिति । भवति हि तत्रैतत्पदम् ‘ आ
 यो यां भाल्यो पृथिवीम् ’ इति । न च पुनरा-
 दित्यादन्यो भासयते वावापृथिव्यौ । यत उच्यते ‘ एष हि वावापृथिव्यावा-
 १५ भासयति । ’

‘ अथापि छान्दोमिकं मूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति ’ । कतमत् ।
 छान्दोमिकमूक्त-
 स्यापि तथात्वात्
 ‘ दिवि पृष्टो अरोचताग्निवैश्वानरो बृहन् । क्षमया
 वृथान अर्जसा चनो हितो ज्योतिषा बाधते
 तमः ’ (आश्व० श्रौ० ८ । १०) इति ॥
 २० न च पुनरादित्यादन्यो दिवि पृष्टो रोचते । यत्
 उच्यते ‘ एष हि दिवि पृष्टो रोचते ’ । दिवि स्पृष्टः सुलोके स्पृष्टः ।
 अवस्थित इत्यर्थः । अरोचत रोचते दीप्यते । कोऽसाविति । अग्निवैश्वान-
 नरः । बृहन् । महानित्यर्थः । स रोचमानः किं करोति । ज्योतिषा
 स्वेन बाधते तमः । नाशयत इत्यर्थः ।

२५ १ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. ‘ मातशविभा° । २ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड.
 ‘ रणात्प्रश्याम आदि° । ३ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. ‘ इति ’ नारिन् । ४ ग. ज
 भात्यामिति पृथि°; च भार्यो पृ° त्या. ५ ग. ‘ दन्वो वा भास°; ज ‘ दन्वोवभास°;
 च. ‘ दन्वोर्भवांस° वभा. ६ च. छान्दोमि° । ७ ग. च. ज घ. ङ. ट. ‘ रोचतेति ।
 न°; ठ. ड. ‘ रोचतेति । ‘ दिवि पृष्टो° इति सर्वा ऋक्पठ्यन्ते. ८ घ. ट. ठ. ड. य
 १० उच्य° । ९ ग. ज. अरोचने.

‘ अथापि हविष्यान्तीयं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति ’ । कथमिति ।

भवति तत्र मन्त्रः सूर्यो वैश्वानर इति समर्थः ।
- तथा हविष्यान्ती- तथा । ‘ विश्वस्मा अग्नि भुवंनाय देवा वैश्वा-
यस्यापि नरं केतुमहामहामृणन् (ऋ० सं० १० । ८८ ।

१२) इति । वैश्वानरं केतुं कर्तारमहामहामृणन्निति । नैव तावदादित्या-
दन्यस्याहं कर्तृत्वमुपपद्यते पार्थिवे मय्यमे वा । आदित्य एव ह्युदयास्तम-
याम्यामहानि करोति । तेन वयमेतैर्हेतुभिः पश्यामः सूर्यो वैश्वानर इति ।

‘ अयमेवाग्निर्वैश्वानर इति शाकपूणिः ’ । न मध्यमो न सूर्यः । किं

पार्थिवोऽग्निर्वैश्वानरः तर्हि । अयमेव पार्थिवोऽग्निः । केन हेतुना ।
यस्माद्विश्वानरी तद्वितोत्पत्तिसामर्थ्यात् । कथमिति । ‘ विश्वान-
उत्तरे ज्योतिषी उत्तरे ज्योतिषी ’ । तदुक्तम् ‘ अपि
ताम्यां चाय जायते वा विश्वानर एव कश्चित्सात्तस्वापत्यं वैश्वानरः ’
(निरु० ७ । २१) इति । तदि-

दमुपपद्यते ‘ वैश्वानरोऽयं यत्ताम्यां जायते ’ । तस्मात्तद्वि-
तेन व्यपदेशेन पार्थिवोऽग्निर्वैश्वानर इति ।

‘ कथं न्वयमेताम्यां जायते ’ । यत उच्यते । ‘ यत्र वैद्युतः ’ अग्निः

मध्यमात्पार्थिवान्ने- ‘ शरणमभिहन्ति ’ । आश्रयमात्मनो दारु
र्जन्म अन्यद्वा अभिहन्ति निहन्ति अभिगच्छति । प्राप्नो-
तीत्यर्थः । किं तत्र । तद्यदीप्यते । स च पुनः

‘ यावदनुपाचो भवति ’ मनुष्यैरनुस्पृष्टो भव-
त्यपरिगृहीतो वा । किं तावत् । ‘ मध्यमधर्मैव तावद्भवति ’ । कः पुनः
मध्यमज्योतिषः रम्यमस्य धर्मः । यदसौ ‘ उदकेन्धनः शरीरोपश-
मनः ’ । उदकेनेर्ष्यते क्षीप्यते रसस्वभावकेन ।
शरीरेण काष्ठेनान्येन वा प्रतिहतमूर्तिस्वभावकेन
पार्थिवधातुबहुलेनोपशाम्यति । स मध्यमस्य

धर्मः । तदेतत्स्थानजात्यादिकृतं स्वाभाव्यमहेतुकं ज्योतिषो न भवति

धर्मः । तदेतत्स्थानजात्यादिकृतं स्वाभाव्यमहेतुकं ज्योतिषो न भवति

१ क. ल. घ. ङ. ट. ड. ड. भवति हि तत्र°. २ ग. ज. समर्थ. ३ क.
स्व. इति । ५ । अय°; ग. इति । २१ । अय°. ४ ठ. ड. ‘नाराविन्द्यते’.
५ घ. वर्जं त्रैषु ‘तद्वितेन’. ६ घ. ल. घ. ङ. ट. ड. ड. ‘दीप्यते’. ७ क.
ल. घ. ङ. ट. ड. ड. ‘नेर्ष्ये’.

प्रथमस्य धर्मः । स च पुनः ' उपादीयमान एवायं ' पार्थिवोऽग्निः ' संप-
द्यते ' । कथम् । उपातो हि मनुष्यैः स्वजातिधर्मं हित्वा पार्थिवधर्मं

पार्थिवस्य च

प्रतिपद्यते । कथमिति । ' उदकोपशमनः शरी-
रदीप्तिः ' । विपर्यस्तधर्मा मध्यमेन संपद्यते ।
एवं तावन्मध्यमादयं विश्वानराऽजायते । तेनायं

तदपत्यमिति भवति हि तद्धितार्थोपपत्त्या वैश्वानर इति । अथ पुनरादि-
त्यात्क्रथं जायते । आह ।

' अथादित्यात् । उदीचि प्रथमसमावृत्त आदित्ये ' इत्येवमादि ।

' अथ ' शब्द आनन्तर्ये प्रकृतार्थादर्थान्तरमाधिकरोति । उदीचीं दिशं प्रति

१०

आदित्यात्पार्थि-
वाग्नेर्जन्म

प्रथमसमावृत्त आदित्यः । ' तस्मिन्नुदीचि प्रथमस-
मावृत्ते ' । उदगयनादावित्यर्थः । कथमिति ।
' कंसं वा मणिं वा परिमृज्य ' यमादित्यमणि-

मित्याचक्षते । ' प्रतिस्वरे ' प्रत्युपतापे । ' यत्र

१५

शुष्कगोमयसंरक्षणयन् धारयति तद्वदीप्यते ' । यैः शुष्कगोमयेऽग्निर्जा-
यते एवमयमादित्यादपि कसाद्वा मणोर्वा जायते । असावपि च विश्वानर
इत्याचक्षते । तदपन्यापेक्षयाप्यस्य वैश्वानररजमुपपद्यते ।

' अधाप्याह ' तद्धितविग्रहव्यपदेशात्तावदेवमुपपद्यते । अन्य आदित्यात्ता-
वद्वैश्वानरः । ' अथापि ' अयमपरो व्यपदेश एकवाक्ये विभक्त्यन्तरकृतः

२०

मन्त्रादपि सूर्यवै-
श्वानरयोर्भेदः

सूर्यवैश्वानरयोर्भेदं गमयति । तद्यथा । ' वैश्वानरो
यतते सूर्येण ' (ऋ० सं० १।१८ । १) इति
मन्त्रदृगाह । प्रथमान्तस्य वैश्वानरशब्दस्य तृतीया-
न्तेन सूर्यशब्देन विभक्तिभेदाद्दिशेषणविशेष्यभा-
वेन सामानाधिकरण्यं नास्ति । एतदेवासामानाधिकरण्यमपेक्ष्यानेकत्वं

- १ क. ल. 'नरः । ६ । अथ°; घ. झ. ट. ' इति ' नास्ति; ग. अ.
२५ ' वैश्वानर इति ' नास्ति. २ ग. आह । ३२ । अथा°. ३ घ. झ. ट. ठ. ड.
पृक्तादुर्धाद्विर्था°. ४ च. उदीचीप० बि. ५ क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड. 'प्यते
सोऽप्येव संपद्यते यः°; घ. 'प्यते ~ यः° सोऽप्येव संपद्यते. ६ क. ल. घ. झ.
ट. ठ. ड. 'प्यते । स एवमादित्या°; च. यते । एवायं स. ७ क. ल. घ. झ.
२९ ट. ठ. ड. वैष्वा°. < क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड. इत्युच्यते.

वैश्वानरसूर्यशब्दयोर्त्रयीति । ' न च पुनरात्मनात्मा संयतते ' । नि. तर्हि ।
 ' अन्येनैवान्यः संयतते ' संगच्छते यथा देवदत्तो यज्ञदत्तेन । तन्मथ-
 मयं संयतते सूर्येणेति । यत अ.ह । ' इत इममादधाति ' । इतो लोका-
 दोषधीभ्यः शरौदिभ्यो वनस्पतिभ्यो वा मधिच्वा प्रत्यक्षत एवेममादधाति ।
 अम्यादधातीन्धनैः । ' अमुतो ' मण्डलात् कर्मात्मनः ' अमुष्यै ' ५
 च आदिमण्डलाधिष्ठातुः स्वभूता ' रश्मयः प्रादुर्भवन्ति ' ।

अथ तयोर्भासोः ' इतः ' तेजःपिण्डात् ' अस्य ' तदधिष्ठातुः
 ' अर्चिषः ' प्रादुर्भवन्तीति वर्तते । ' तयो-
 र्भासोः संसङ्गं दृष्ट्वेवमवर्षत् ' मन्त्रदक् ' वैश्वान-
 नरो यतते सूर्येण ' इति । १०

अथ यान्येतान्यौत्तर्कानि सूक्तानि । ' अथ ' इत्याधिकारान्तरे । यदि
 सूर्यो वैश्वानरोऽभविर्ध्यन्ननु ' यान्येतान्यौत्तर्कानि सूक्तानि ' उक्तमस्था-

उक्तमस्थानस्थानां नदेवताविशेषस्तुत्यर्थानि । तद्यथा । ' भागानि
 वा सावित्राणि वा पौष्णानि वा वैश्वानानि
 वा ' । गुणपदत्वमैभ्युपेत्य वैश्वानरशब्दस्य १५
 भगादयो वैश्वानर
 इति नोच्यन्ते
 इति नोच्यन्ते
 ' आदित्यकर्मणा चैनमस्तोष्यन् ' । एव वैश्वानरीयेषु सूक्तेषु वैश्वानर-
 मस्तोष्यन्मन्त्रदशः । कथमिति । ' इत्युदेरीत्यस्त- २०
 मेगीति विपर्ययीति ' । इतिकरण एवमन्त्रार्थे ।
 एवमुदेपि त्वं वैश्वानर एवमस्तमेपि एवं विपर्ये-
 पोति । न च पुनरेतदुभयमप्यस्ति । न हि वैश्वान-
 रीयाः प्रवादा अर्चनकेषु सूक्तेषु सन्ति ।
 नाप्यादित्यकर्मणा वैश्वानरं स्तुवते मन्त्रदशः । २५

वैश्वानरसूक्तेषु
 वैश्वानर उदयादिभि-
 रादित्यकर्मभिर्न
 संबध्यते

तस्मान्नैव सूर्यो वैश्वानर इति ।

१ ठ. ड. 'नात्पानं सं'. २ ग. ज. वनस्पतिभ्यो वा शरादिभ्यो वा मधि'.
 ३ क. र. घ. झ. ट. 'मुष्य च आदृ'; च. 'मुष्य- आदि' च. ४ क. ख.
 ग. च. ज. 'वक्षत्. ५ क. ख. इति । ७, ग. १३४। अथ'. ६ घ. झ. ट. ठ. ड.
 'तमिक्तानि'. ७ क. र. घ. झ. ट. ठ. ड. 'प्यन् तयो ननु'; च. 'इत्यत्
 ननु' तयो. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'तमिक्ता'. ९ ठ. ड. वा सौर्षाणि वा
 पौष्णा'. १० ठ. ड. वा वैश्वदेवानि वा तेषु'. ११ ग. च. ज. 'पद्मम्पु'. १२ क.
 ख. घ. झ. ट. ठ. ड. स्तुवन्ति, च. 'स्तुवते' णि.

- किंच । अयमपरो विशेषहेतुरग्निवैश्वानर इति । ' आग्नेयेष्वेव हि सूक्तेषु
 अग्निसूक्तेष्वेव वै- वैश्वानरीयाः प्रयादाः भवन्ति ' अग्निविशेषणत्वे-
 ५ ५ श्वानरीयप्रवादाः न । ' वैश्वानरमृत आ जातमग्निम् ' (ऋ०
 सं० ६ । ७ । १) इत्येवमादयः । ' अग्नि-
 कर्मणा चैनं ' वैश्वानरं प्रायेण ' स्तौति ' । ' इति दहसीति
 वैश्वानरोऽग्निकर्म- वहसीति पचसीति ' । एवं वैश्वानर वहसि
 भिरेव संबध्यते हवीषि पचसि पकव्यानि दहसि दग्धव्यानि ।
 तस्मादाग्नेरेव वैश्वानर इति स्थितम् ।
 तदेते षट् हेतवः तद्धितेन विप्रहृष्यपदेशात् (१) एकवाक्ये विभ-
 १० क्तपन्तरन्वपदेशात् (२) औत्तमिकेषु सूक्तेषु अप्रवादान् (३) आदित्य-
 कर्मणा चौरसंस्तवात् (४) अग्नेयेषु सूक्तेषु प्रवादात् (५) अग्निकर्मणा च
 संस्तवात् (६) इति ।

- तत्पुनरेतदग्निवैश्वानरत्वं स्थितमपस्थितमिव परपक्षहेतुष्वनिराकृतेषु ।
 यतस्तन्निराकरणाय प्रसूति । ' यथो एतत् ' इति । यत्पुनरेतदुक्तं
 १५ वर्षकर्मणा यस्मास्तौति तस्मान्मध्यम इति (६९६ । १२) ।
 ' अस्मिन्नपि ' पार्थिवेऽग्नौ ' एतद्रूपपद्यने ' वर्षकर्म । कथमिति । यत् आह ।
 ' समानमेतत् ' इति । समानम् एव इदम् उदकम् उदकत्वेनाविशे-
 २० अत्रापि वर्षकर्मो- ष्टम् । उच्चैस्त्व चाहभिः । उत एति च ऊर्ध्वं
 पपद्यते चैति अहोभिर्निमित्तभूतैः । पुनश्च अवाक् एति ।
 दक्षिणोत्तरायणयोर्व्यावृत्तिभिः प्रतिसंवत्सरमहा-
 न्यभिषेतानि । तदेतदेकमेवोदकम् । पर्यायेण
 दक्षिणायनोत्तरायणयोः जगद्यात्रासिद्धये तदुदेति चावैति च वर्षर्भवेन ।
 कथामिति । यत् आह । अवाक् सावदेति । भूमिं पर्जन्याः प्रार्जयितारो

- १ क. रा. प. झ. ट. ठ. ड. इति वहसीति पचसीति दहसीति २ झ. औत्त
 २५ मके. ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ' च ' नास्ति. ४ ग. ज. ' द्विर्वि ' ; ख.
 ' द्विर्वि ' भे. ५ ग. ख. ज. ठ. ड. यतस्त्वं नि. ६ ग. आह । ३४ । समा. ७ ग.
 इति । ५७ । समा. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. एकेव. ९ क. ख. घ. झ.
 ट. ठ. ड. पुनश्चाहोभिर्निमित्तभूतैः ; च. पुनश्चाहोभिर्निमित्तभूतैः. १० क. ख. घ.
 झ. ट. ठ. ड. उत्तरायणदक्षिणायणयोः ; ख. दक्षिणायणोत्तरायणयोः. उत्तरा-
 यणदक्षिणायणयोः. ११ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. वर्षकर्मभावेन. १२ क. ख. घ.
 १३ झ. ट. ठ. ड. अवाक्.

रसानां माध्यमिका देवगणा वर्षममुतो भुञ्जन्तो भूमिं जिन्वन्ति तर्पयन्ति
 ओषध्युत्तये । एवं तावदशब्दं । अथ पुनरुच्यं कथमिति । यत आह ।
 दिवं जिन्वन्त्यग्नय इति । यथैवामुतो वर्षेणेना पर्जन्या जिन्वन्ति तथे-
 वाहृतिप्रभवेन वर्षेण दिवं जिन्वन्त्यग्नयः । आहृतयो ह्यग्नौ प्रक्षिप्तास्तेन
 दग्धास्ता अर्चिभिः कृत्वोदकभावमापाद्य परमं सूक्ष्मं देवोपभोगयोग्यं यां
 प्रति वर्षमावेनोन्नीयन्ते तल्लोकनिवासिना तृप्तये । ततस्त इह पुनर्वर्षं प्राति
 कल्पयन्ति । तदुक्तम् ' अमुष्य लोकस्य का गतिरित्ययं लोक इति
 होवाच ' (छ० उ० १।८।७) इति ।

एवं च सुतरामयमपि वर्षानाहुतिमूढत्वत्सर्वस्य वर्षस्य । स्मर्यते

च ' अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्भगादित्यमुप-

वर्षकर्म मध्यमस्य
 न वैशेषिक लक्षणम्

तिष्ठते ' (मनुस्मृ० ३।७६) इति । तत्र
 यदभूद्र्यकर्मभावान्मध्यम इति तदेतद्वैशेषिकम् ।
 मध्यमस्य वैशेषिकरत्ने न लक्षणम् ।

अपि चायमपरो मन्त्रो यस्मिन्नग्निरादित्यो वर्षकर्मणा स्मर्यते । तस्मा-
 त्सुतरामनैकान्तो वर्षकर्मभिष्टवो मध्यमस्येति । यत आह ' कृष्णं निया-
 नम् ' इति । २३ ।

द्वादशीध्यायस्य षष्ठः पादः ॥

सप्तमः पादः ॥

कृष्णं नियानं हर्यः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।

१ क ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'वाडेति । अ°; च. 'वाह्- । अ° एति.
 २ क ख. घ. झ. ट. ठ. ड. कथमेति । अत आह°. ३ क ख. घ. झ. ट. ठ.
 ड. इति' नास्ति ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. स्वाचिभिः कृतो (क. ख.
 कृत्वो) दक°; च. अर्चिभिः°. ५ ग. ज. परमसूक्ष्मं. ६ क. ख. घ. झ. ट.
 ठ. ड. 'भावेन नीय°'. ७ च. वर्जितरेषु ' प्रकल्प°. ८ क ख. घ. झ. ट. ठ.
 ड. 'मपि च वर्ष°'. ९ ठ. ड. 'स्येति । इति निरु० उक्तं प्र० त्रयोविंशः खण्डः ।
 २३ । इति द्वादशस्य षष्ठः पादः । यत°; ड. 'स्येति । इति द्वादशस्य षष्ठः पादः ।
 इति निरुक्तटीकायामुत्तरपट्टे त्रयोविंशति. खण्डः । एत°. १० क ख. १ (२२);
 ग. ३६; इतरेष्वहो नास्ति. ११ क. ख. इति निरुक्तवृत्तौ द्वाद°; घ. झ. ट.
 द्वादशस्य.

त आद्यवृत्रन्तसदेनाहतस्यादिद्यूतेन पृथिवी व्युद्यते (ऋ. सं. १।१६४।४७) ॥ कृष्णं निरयणं रात्रिरादित्यस्य हरयः सुपर्णा हरणा आदित्यरश्मयस्ते यदामुतोऽर्वाञ्चः पर्यावर्तन्ते सहस्थानादुदकस्यादित्यादय घृतेनोदकेन पृथिवी व्युद्यते घृतमित्युदकनाम निवर्तेः सिञ्चतिकर्मणोऽथापि ब्राह्मणं भवत्यग्निर्वा इतो वृष्टिः सभिरयति धामच्छद्वि वि भूत्वा वर्षति मरुतः सृष्टां वृष्टिं नयन्ति यदासात्रादित्योऽग्निं रश्मिभिः पर्यावर्ततेऽथ वर्षतीति यथो एतद्रोहात्प्रत्यवरोहश्चिकीर्षित इत्याम्नायवचनादेतद्भवति यथो एतद्वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवतीत्यनिर्वचनं कपालानि भवन्त्यस्ति हि सौर्य एककपालः पञ्चकपालश्च यथो एतद्ब्राह्मणं भवतीति बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति पृथिवी वैश्वानरः संवत्सरो वैश्वानरो ब्राह्मणो वैश्वानर इति यथो एतन्निवित्सौर्यवैश्वानरो भवतीत्यस्यैव सा भवति यो विद्भ्यो मानुषीभ्यो दीदेदित्येप हि विद्भ्यो मानुषीभ्यो दीर्ष्यते यथो एतच्छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवतीत्यस्यैव तद्भवति जमदग्निभिराहुत इति जमदग्नयः प्रजमित्ताग्नयो वा प्रज्वलित्ताग्नयो वा तैरभिर्हुतो भवति यथो एतद्धविष्पान्तीयं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवतीत्यस्यैव तद्भवति ॥ २४ ॥

- २) 'कृष्णं नियानम्' इति। दीर्घतमस आर्षम्। वृष्टिकामस्य कारीर्यामग्नये धामच्छदेऽष्टाकपालं तस्य पुरोनुवाक्या (भैत्रा० स २।४।७॥४।१२।५)। भैत्रायणीयके अग्निरयमादिलीकृत्य स्तुयत इति प्रकरणादभ्यवसीयते। कृष्णं निरयणं निर्गतिः।

- १५ १ इ. थ. घ. ठ. ड. 'एतदिव रलु वे भूत्वा'. २ ड. थ. घ. ठ. ड. यदा खलु वा अणपादित्यो न्यहृ रदिम°. ३ द. 'दित्योवाहृ मिं र°. ४ छ. त. द. 'वतन्तेऽ'. ५ छ. 'तत्। ३६। वैश्वा', त. द. 'तत्। १। वैश्वा°. ६ छ त. द. दीदयति. ७ छ. त. द. 'राहूतः. ८ छ. त. द. 'भिदूतो°. ९ क. रा. २ (२४), छ. १७, त. द २. १० ग. इति। दीर्घी°. ११ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. 'र्षम्। त्रिष्टुप्। इ°; च 'र्षम्। वृ त्रिष्टुप्। १२ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'क्या। तायां मी°; ग. ज. भैत्रायणीयके; च. 'क्या। ~ मे 'तस्यां. १३ क. ख. १२ प. ङ. ट. ठ. ड. कृष्ण। किं पुनस्तत्कृष्णनि°; च. कृष्णं ~ नि° किं पुनस्तत्कृष्णं.

निर्गच्छतीत्येतदिति निधानं वैर्त्त पन्थाः । तच्च पुनरेतत् रात्रिः आदित्यस्य । द्वे द्यस्थायने शुक्लं चोत्तरं कृष्णं च दक्षिणम् । सा हि दैधी रात्रिरभिप्रेता । ततो ब्रवीति रात्रिरादित्यस्य ज्योतिषः । स एष भगवानादित्यो जगदनुग्रहाय गर्भमुदकमात्मन्याधिसुरस्तरायणं प्रति पचने । तदैते हरयो रसहरणाः सुपर्णाः तस्य रश्मयः सर्वस्मादस्माच्छोकात् अपो पसानाः आत्मन्याच्छादयन्तः आददानाः दिवं द्योतनवन्तैमेतमादित्यं प्रति उत्पतन्ति तद्गुदकं निधित्समानास्तस्मिन्गर्भवेन । स एष आदित्य उत्तरायणं मासैः षड्भिराहितोदकगर्भः संपचते । स एष परिपिक्तोदकगर्भो दक्षिणैर्गर्भ प्रति पचमानो नभस्यान्मासाधप्रभृति प्रसूयते । तदिदमुच्यते त आववृत्रन्तैदनादृतस्य इति । ते रश्मयो यदा अमुतः अमुष्मादादित्यात् ऋतस्य उदकस्थ सदानात् सहस्थानात् आववृत्रन् यदा पर्यावर्तन्ते अथ तदा वृत्तिसमनन्तरमेव घृतेन उदकेन पृथिवी व्युचते विविधमुच्यते । घृतमियुदकनाम पृथिवी व्युचते इति सामर्थ्यात् । तत्पुनः जिघर्तेः सिद्धतिकर्मणः ।

५

१०

एवमेतस्मिन्मन्त्रे मन्त्ररूपादादित्यः प्रकरणादग्निः । उभयथाप्यन्यो मृष्यमाहर्षकर्मणः कर्ता । ' अथापि ब्राह्मणम् ' एतस्मिन्प्रकरणे यस्मिन्नथं मन्त्रो विनियुज्यते ' अग्निर्वा इतो वृष्टिं समोरपति ' इत्येवमादि । अग्निरितो लोकाद्दृष्टिं समन्तत ईरयति धूमभूता आप औषधिवनस्पतिभ्यो निर्वर्त्यमाना आहुतिभूताध्वाभुं लोकमात्रिशन्ति । अग्नेर्ष्वर्षभसंबन्धे ' अग्नेर्धूमो जायते धूमादभ्रमध्राद्दृष्टिः ' (शत० ब्रा० १ । ३ । ५ । १७) इति ह ब्राह्मणमपि - निशापते । ताः पुनराग्निः स्थानाभित्तं भित्तिप्रनाडिकाया धामच्छद् आदित्यो भूना धाम्ना छादयिता रश्मिभिर्मेघरूपैर्मध्यस्थानपापादयति । एवं तेन ' सृष्टा वृष्टि ' मध्यमैस्थानात् ' मरुतो '

१५

२०

१ क. रा. प. झ. ट. ठ. ड. °च्छत्पेतदि ; ग. ज. °च्छतीत्येन दि°. २ ग. २५ ज. बात्मा. ३ प. झ. ट. ठ. ड. 'नवत् तमेतमादि'. ४ क. रा. प. झ. ट. ठ. ड. दक्षिणं वर्त्तम्. ५ ग. घ. ज. 'वृपन्तद'. ६ घ. औष'. ७ क. रा. ट. ठ. ड. विनिवर्त्य'; घ. झ. ट. विनिवर्त्यमाना'; ग. घ. ज. निर्वर्त्य'. ८ घ. ज. ङि. ९ ग. घ. ज. 'भित्तवतिपना'. १० घ. झ. ठ. ड. °प्रनाडिकाया; ट. °प्रनाडिकाया. ११ क. रा. प. झ. ट. मध्यस्था'.

३०

वायवो भेषोदराणि विदार्थ तैभ्यो विक्षिपन्तो वृष्टिमिर्म लोकं ' नयन्ति ' ।

वर्षकर्म सर्वेषां
समानम्

प्रापयन्तीत्यर्थः । अर्परमपि ब्राह्मणं भवति
' यदासावादेश्वोऽग्नि रश्मिभिः ' इत्येवमादि ।
तदेवमेतद्वर्षकर्म समानं सर्वेषामित्यहेतुर्मध्यमस्य

५ वैश्वानरत्वे भवति ।

आग्नायवचनाम्-
स्यवरोहे य. कोऽपि
१० मघ्नः प्रयुज्येत

' यथो एतत् ' । यत्पुनरेतदुक्तं याज्ञि-
कपक्षे ' रोहाप्रत्यवरोहक्षिकीर्षित इति '
अकारणमेतत्सूर्यस्य वैश्वानरत्वे । कस्मात् । य-
स्मात् ' आग्नायवचनादेतत् ' एवं ' भवति ' ।
रोहाप्रत्यवरोह इत्यर्थवादमात्रमेव ।

यदपि चोक्तं ' वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवति ' इत्येतदध्यकारणं
सूर्यस्य वैश्वानरत्वे । कस्मात् । व्यभिचारात् ।

यस्माद्वैश्वानरीयः
पुरोडाश एककपालः
पञ्चकपालश्च तस्मा-
१५ द्वादशकपालत्व न
सौर्यत्वे कारणम्

व्यभिचार्येतदिति । यत् आह । ' अग्नि हि सौर्य
एककपालः पञ्चकपालश्च ' । यदि हि देवतागुणा-
भिप्रायमवधिष्यद् द्वादशविधमस्य कर्म तस्माद्
द्वादशकपाल इति नन्वेवं सति सौर्योऽपि द्वादश-
कपाल एवावधिष्यद्भिधानमात्रं भिद्यते न
कर्मते । न च भवति सौर्यो द्वादशकपाल इति ।

तस्मादहेतुः कपालानि ।

यैदम्पुक्तं ' ब्राह्मण सौर्यवैश्वानरप्रवादं भवतीति ' एतदध्यकारणम् ।

२० ब्राह्मणप्रवादो न
प्रमाणं यस्माद्ब्राह्मणेऽ-
न्येऽपि प्रवादा वर्तन्ते

कस्मात् । ' बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि
भवन्ति ' । यस्माद्बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि
भवन्ति । भक्तिर्नाम गुणकल्पना । येन केनचि-
दुणेन ब्राह्मणं सर्वथा व्रवीते । तत्र तत्त्वमन्त्रे-
भ्यमेव भवति । तद्यथा । ' पृथिवी वैश्वानरः ' इत्येवमादि किमपि
ब्राह्मणेन बहु वैश्वानरशब्देनोच्यते भक्त्या ।

१ क. ख. घ. ङ. च. ट. ठ. ड. अथापा°. २ घ. ङ. ट. ठ. ड. यत्पुनस्तदु°.

३ क. ख. ग. ज. ' यस्मात् ' नास्ति. ४ ग. ' नम् । ३६ । वैशा°. ५ क.

ख. घ. ङ. ट. ठ. ड यणे एतत् । यद्? ५ ' यद् ' यथो एतत्. ६ क. ख.

२१ घ. ङ. ट. ठ. ड. ' हि ' नास्ति.

‘ यथो एतन्निवित्सीर्यवैश्वानरी भवतीत्यस्यैव ’ अग्नेः ‘ सा भवति ’ ।
 कथमिति । तस्या हि पदं भवति ‘ यो विड्भ्यो
 निविदपि अग्नेरेव मानुषीभ्यो दीदेदिति ’ । ‘ एष हि विड्भ्यो
 भवति मानुषीभ्यो दीप्यते ’ । ‘ अग्निर्वैश्वानरः सोमस्य
 मत्सत् । विश्वेषां देवानां समिन् । अजस्रं दैव्यं ५
 ज्योतिः । यो विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीदेत् । शुपु पूर्वास्तु दिद्युतानः ।
 अजर उपसामनीके । आ यो द्यां भात्या पृथिवीम् । उर्वन्तरिक्षम् ।
 ज्योतिषा यज्ञाय शर्म यंसत् । अग्निर्वैश्वानर इह श्रवदिह सोमस्य मत्सत् ।
 प्रेमां देवो देवहूतिमवतु देव्या धिया । प्रेदं ब्रह्म प्रेदं क्षत्रम् । प्रेमं
 मुन्धन्तं यजमानमवतु चित्रक्षित्राभिरुतिभिः श्रवद्ब्रह्माण्वावसागमत् ’ । १०
 इतीयं निविदाग्निमारते शंस्यते । ‘ निविःपुरोह्वः प्रैषा विश्वामित्रस्य
 सर्वेशः ’ इति^१ विश्वामित्रस्यार्थम् । अग्निर्वैश्वानरः सोमस्य मत्सत् तृप्यतु ।
 तृप्तश्च प्रेमां देवो देवहूतिमवतु । प्रकर्षेण इमाम् अग्निर्वैश्वानरो देवो
 देवहूतिं देवानामस्माकमह्वानम् अशतु रक्षतु । यो विश्वेषां देवानां
 समिन् समिन्धनः स इदं करोतु । यश्च अजस्रं नित्यं ज्योतिः । यश्च १५
 विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीदेत् देदीप्यते । यश्च शुपु पूर्वास्तु पूर्वेष्वह सु
 दिद्युतानो दीप्यमान एवासीत् । यश्चासौ अजरो जरावियुक्तः उपसा-
 मनीके अग्निहोत्रेषु चोतते । यश्च आभासयति द्यां सूर्यात्मना आभा-
 सयति च पृथिवीम् अम्षात्मना उरु द्यां अन्तरिक्षं मध्यमात्मना । एवं
 त्रिभिर्ज्योतिर्भिः । यश्च ज्योतिषा यज्ञिर्वीर्यं शर्म यच्छति मुखं ददाति । २०

१ क. ख. घ. झ. ट. तस्याके पद; ठ. ड. तस्या हि. २ क. ख. घ. झ.
 ट. ठ. ड. 'दिति । तत. किम् । ए ; च 'दिति - । १' ततः किम् । ३ ग.
 मत्सत् । इतीयं निवि' ; च. 'अग्निर्वैश्वानरः सोमस्य मत्सत् । इतीयं निवि' (अग्निर्वै
 इति सर्वा निवित् च. पुस्तके पत्रशोपरितनभागे पठ्यते). ४ ट. उर्वं ओ. ५ ग.
 ज. 'स्यते । अग्निर्वैश्वानर इत्यादि भवद्ब्रह्माण्वावसागमदित्यन्तं । निवि' ; च.
 'स्यते । अग्निर्वैश्वानर इत्यादि भवद्ब्रह्माण्वावसागमदित्यन्तं । निवि'. ६ क. ख.
 घ. झ. ट. ठ. ड. इति सर्वा वि'. ७ ग. ज. 'देत् दीप्यते. ८ क. ख. घ. झ.
 ट. ठ. ड. होवादिषु, च. 'होवेषु' त्राडि. ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. च
 अन्त'. १० क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. यज्ञाय; च. यज्ञिर्वीर्यं सा.

सं: अग्निर्वैश्वानरं इह श्रवत् शृणोतु अस्माकं स्तुतीः । ईह कर्मणि
 सोमस्य अस्सत् नृप्यतु । किञ्च । प्रायस्त्रिभौ देवो देवहृति देवशा चिवा ।
 देवानां वा दात्री धीः प्रज्ञा तथा अवतु रक्षतु । प्रेदं ब्रह्म प्रेदं क्षत्रम् ।
 ईदं ब्रह्म प्रावतु । ईदं क्षत्रं प्रावतु । प्रेमं मुन्वन्तम् अभिपुण्यन्तं यजमानम् ।
 चित्रः चायनीयः पूज्यो वैश्वानरः चित्राभिरूतिभिः शोभनाभिर्गीतिभिः
 प्रीतिभिर्वा शृणोत्वियमानि ब्रह्माणि अस्माकं नित्यं चास्मान् प्रत्यागच्छतु
 धवसा पाठनाभिप्रायेण मनसा कर्मस्वियेतदाशास्महे ।

‘ यथो एतत् ’ । यत्पुनरेतदुक्तं ‘ छन्दोमिकं ’ छन्दोमयज्ञेषु दाश-
 रात्रिकेषु यत् ‘ सूक्तं ’ तत् ‘ सौर्यवैश्वानरम् ’
 इति ‘ तद् अस्यैव ’ अग्नेः ‘ भवति ’ । कथ-
 निति । तत्र ह्येतदिशिष्टं पार्थिवान्नेमोचकं लिङ्गं
 भवति । ‘ जमदग्निभिराहुतः ’ (आश्व० श्रौ०

३० छन्दोमिकं सूक्त-
 मपि अग्नेरेव

८ । ९) इति । जमदग्नेयो ह्येनमाहुतिभिर्जुहति नादित्यमपिधाना-
 दसंभयाच्च । तस्मादत्रापि यद्वैश्वानरलिङ्गं तदप्येतस्य पार्थिवस्याग्नेर्व्यञ्जकं

२१ भवति । ‘ वृषा पावक दीदिहि ’ । वृषा वर्णिता हे वैश्वानरं पावकं घुमत्
 दीक्षिमत् यस्यं जमदग्निभिराहुतः अभिहुतः स त्वमस्माकं कर्मसु नित्यं
 दीदिहि दीप्यस्व । इत्येतदाशास्महे । ‘ जमदग्नेयः ’ नित्यं ‘ प्रजनिता-
 श्रयः ’ प्रभूताग्नेयः ‘ प्रञ्जलिताग्नेयो वा ’ ।

‘ यथो एतत् ’ । यदप्युक्तं ‘ हविष्पान्तीयं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं
 भवतीति तत् ’ अपि ‘ अस्यैव भवति ’ ।
 २० हविष्पान्तीयं सू-
 क्तमपि अस्यैव
 कथमिति । यतस्तस्य सूक्तस्य या प्रथमा
 ऋक् सा यथाग्नेयो भवति न सौरी तथा
 निराह । इदमाग्नेयं सूक्तं न सौर्यमित्युपप्रदर्श-
 नाधम् ॥ २४ ॥

२५ १ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. इह ष क०, २ घ. झ. ट. ठ. ड. विम.
 ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ब्रह्म मावतिवद्म् । सत्र प्रायस्त्रिवद्म्. ४ क. ख. घ.
 झ. ट. ठ. ड. ‘मानं प्रावतु । चि’; च. ‘मानं ० । चि’ प्रावतु. ५ घ. झ. ट. ठ.
 ड. ‘नरः तस्य चि’. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘स्मात् प्रत्यागमत् प्रत्या-
 गच्छतु. ७ ठ. ड. दीदिहमे वैश्वानरं वृषत् । वृषा’. ८ ग. ज. नित्यमज०. ९ क.
 ख. २ (२४), ग. ३७; ठ. ‘नाधम् । इति नि० उच० प्र० चतुर्विंशतिः
 सप्तः । २४ ।, ड. २४ । इति निरवदीकायादुत्तरपटके प्रथमाध्याये चतुर्विंशतिः
 ३२ सप्तः ; इतोऽग्रे नास्ति.

हविष्पान्तमजरं स्वविदिं दिविस्पृश्याहुतं जुष्टमग्नौ । तस्य
 भर्षणे भुवनाय देवा धर्षणे कं स्वधया पप्रथन्त (ऋ० सं०
 १० । ८८ । १) ॥ हविर्यत्पानीयमजरं सूर्यविदि दिविस्पृश्य-
 भिहुतं जुष्टमग्नौ तस्य भरणाय च भावनाय च धारणाय
 चैतेभ्यः सर्वेभ्यः कर्मभ्य इममग्निमन्त्रेनापप्रथन्तेत्यथाप्याह
 ॥ २५ ॥

हविष्पान्तमिति । सूक्तमेतन्मूर्धन्वत आङ्गिरसस्यार्थं वामदेवस्य वा ।
 तत्सूक्तस्य प्रथमा व्युत्स्य दशरानस्य पञ्चमेऽह्न्याग्निमारुतस्य
 ऋक् आग्नेयी एव प्रतिपत् । (ए० ब्रा० २२ । ४ ॥ आश्व० १०
 श्रौ० ८ । ८) हविः । कतमत् । यत्
 एतत् पान्तं पानाहं पानयोग्यं च देवानां पुरो-
 ऽशादि निर्दग्धस्थलभावमग्निना क्रियते । अजरम् । जरा विपरिणामः ।
 यतः परं विपरिणामो नास्ति कश्चित्तत् । प्रविवेकमापादितमग्निना । यदे-
 तत्स्वविदि । स्वः आदित्यः त वेत्ति यथासौ वेदितव्य इति तदर्थं वा
 वेत्ति हविः । स्वविदयमग्निर्न सूर्यः । भाष्यकारोऽपि व्यपदेशेन निरुह
 'सूर्यविदि' इति । दिविस्पृशि वामसौ स्पृशत्यह्न्यहनि हविरुपनय-
 नादित्यम् । आहुतम् अभिहुतं विसृष्टम् । जुष्टं प्रियं देवानाम् । तस्य
 हविषः भर्षणे भरणाय संभरणाय बहुलीकरणाय । अपि नाम अयमग्नि-
 रेतद्द्वु कुर्यादित्येवमर्थम् । भावनाय च । विभूतियुक्तमुपजायेतेत्येवमर्थ-
 मेवं । तर्क्यं नाम देवतातृप्तिसमर्थं कुर्यादिति । धर्षणे धारणाय अवि-
 ष्टेदनाय । कर्म नामैतदेवताम्यो निर्ग्यं प्रापयेदिति । एतेभ्यः कर्मभ्यः
 अर्थाय इमम् एव अग्निं पृथिवीस्थानं साधयतेः स्वधया अन्नेन हविषा

१ ङ. घ. ष. ठ. ड. 'र्मभ्यो द्वा इमं'. २ ङ. घ. ष. ठ. ड. 'इति'
 नास्ति. ३ क. ल. ३ (२५), छ. २८; त द. २. ४ प. झ. ट. ठ. ड. २५
 'वाना च६पुरोऽशादिभिर्निर्दग्ध'; च. 'वाना-पुरो' च६. ५ घ. झ. ट. ठ. ड.
 'तत्' नास्ति. ६ क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड. त स्ववि'; च. त स्ववि'.
 ७ क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड. 'प्रित्येतद्'. ८ क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड.
 विभूतियुक्त'. ९ क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड. 'मर्थमपि एतत्कर्म'. १० क. ल.
 घ. झ. ट. ठ. ड. साधयते । स'; च. 'स्थानं साधयते । स'.

आज्येन पुरोडाशेन च । यदुक्तं निगमे ' घृतं चापा पुरुषं चौपदीनाम् ' (ऋ० सं० १० । ५१ । ८) इति तदेतत् । अपप्रथन्ते । अवर्धन्तेत्यर्थः ।

एवमेतस्मिन्सूक्ते प्रथमे मन्त्रे यदेतदग्निहोत्रमस्पृष्टं वश्वानरशब्देन तदसंशयमाग्निवाचि । तत्पुनरेतत्सूक्तं हविष्यान्तीयं प्रागेवाग्नेयं करोति

६

यस्मात्प्रथमा ऋक्
आग्नेयी तस्मात्सर्वं
सूक्तमपि आग्नेयमेव

प्राथम्यात् । प्रथमं लोके हि यो स्तूयते स
स्वेनाभिधानेनाव्यभिचारिणोपक्रम्यते स्तोतुम् ।
ततोऽग्न्यैभाक्तेः स्तूयते त्वं राजा त्वमिन्द्र इत्ये-
वमादिभिः । तथैव कृत्वास्मिन्सूक्ते यो वैश्वान-
रशब्द उत्तरत्र (ऋ० सं० १० । ८८ ।

१२-१४) सोऽयैवाग्नेः पृथिवीस्थानस्य व्यञ्जनमात्रं भवति ।

१०

यथा चायमेव, पृथिवीस्थानोऽग्निर्वैश्वानरो न मध्यमस्तथेम-
भिपरं मन्त्रं स्वप्रक्षोद्विभोवपिपया अन्यस्मात् सूक्ताद्भिर्ज्योतिर्लक्षणमा-
नीय मध्यमोत्तमयोर्ज्योतिषोरन्यत्पदव्यपदेशवतो वैश्वानरस्य निर्णिनीकप्रक-
रोति ' अथाप्याह ' इति ॥ २५ ॥

१५

अपामुपस्थे महिषा अंगृष्णत विभो राजानमुप तस्युर्गमिषयम् ।
आ दूतो अग्निमभरद्विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वा परावर्तः
(ऋ० सं० ६ । ८ । ४) ॥ अपामुपस्थ उपस्थाने महत्यन्तरि-
सलोक आसीना महान्त इति वागृह्यत माध्यामिका देवगणा
विश इव राजानमुप तस्युर्गमिषयमृग्मन्तमिति वार्चनीयमिति
१० वाहर्यं दूतो देवानां विवस्वत आदित्याद्विवश्वान्विवासन-

१ प. म. २. पुरोडाशेन २ क. स प. म. उ. उ. ह. 'घृत देवाः । अव' ;
२. 'घ-त- । अव' देवाः २ क. स. प. म. उ. उ. ह. 'लोके यो हि स्तूयते'.
४ क. 'स्तूय' ५ क. स. प. म. उ. उ. ह. तथैव, स. तथैव' व. ६ क.
स. प. म. उ. उ. ह. न तदेतत्. ७ क. स. प. म. उ. उ. ह. त. उ. ह.
'द्विष उधो'. ९ क. स. ३ (२५). ग. २८, उ. इति । इति नि६० उ०
३० पद्यविद्वानिः सप्तः । २५ ।, उ. इति । इति निगृहीतापामुपरवृत् प्रथ-
माध्याय पद्य विद्वानिः सप्तः. १० उ. त. द. मध्यमका. ११ क. प. प. उ.
६. 'मिति वा पूजनीयमिति वा'.

वान् प्रेरितवतः परागताद्वास्याभेर्वैश्वानरस्य मातरिश्वानमाहर्तार-
माह मातरिश्वा वायुर्मातर्यन्तारिक्षे श्वसिति मातर्याश्वनितीति वा-
थैनमेताभ्यां सर्वाणि स्थानान्यभ्यापादं स्तौति ॥ २६ ॥

अपामुपस्थे इति । भरद्वाजस्यार्षम् । प्रातरनुवाकाश्विनयोः शस्यते ।

पार्थिवोऽग्निरेव वै- अपामुपस्थे उपस्थाने । यत्रोपगम्य तिष्ठन्त्यापः
श्वानर इत्यर्थे ऋक्- सोऽपामुपस्थ- अन्तरिक्षलोके । तस्मिन्नेपामु-
पस्थे महति विस्तीर्णे सैन्ना महिषा. माध्यमिका
देवगणाः । यथा वा । महिषाः त एव महान्तः ।

किमकुर्वन् । अगृह्णत अगृह्णन् । गृहीत्वा च विश इव मनुष्या इव
राजान् परिवार्य उपतस्थुः । ऋग्मियम् ऋग्भिः । स्तुतिभिः तद्वन्तम् ।
अर्चनीयम् अर्चनाहं वा । कर्मिति । यम् आभरत् आहरत् दूतो देवाना
मातरिश्वा वायुः अग्निं वैश्वानरम् । कुतः । परावत प्रकर्षेण ईरीतवत
प्रेरिततरात् परागताद्वा दूरतरात् विवस्वतः आदित्यात् विवैसक्रिययां
तद्गतस्तं प्रयगृह्णन् अन्तरिक्षलोके गृहीत्वा चोपतस्थुर्विश इव राजा-
नम् । मातरिश्वा वायुः ' मातर्यन्तारिक्षे ' अप्रतिवध्यमानशक्ति ' श्वसिति '
गच्छति । अथवा । ' मातारि आशु अनिति ' गच्छति ।

एवमेतस्मिन्मन्त्रे यत आहियते येन चाहियते यथाहियते सर्वे ते

एतस्मिन् मन्त्रे - पृथग् व्यपदिष्टाः । तत्र विवस्वत आहियते
विवस्वान् वैश्वान- मातरिश्वना वैश्वानर इति । तस्मादेतयोर्विवस्व-
रात् पृथक्- न्मातरिश्वनोः संनिधानव्यपदेशे सति साक्षाद्वै-
श्वानरशब्देन पार्थिव उक्त इति व्यवतिष्ठते
पार्थिवो वैश्वानर इति ।

५

१०

१५

२०

१ ऋ. य. ध. ठ. ड. 'हापि वास्याभे' २ क. ख. उ (२६), छ. ३९,
त. द. ४. ३ ग. इति । भा०. ४ घ झ ट. ठ. ड. 'वम् । वैश्वानरोऽग्निर्ज- २५
गती । भा०. ५ घ. झ. ट. ठ. ड. 'अपा' नास्ति. ६ ग. ज. सति. ८ क. ख.
७. झ. ट. ठ. ड. ग. ज. अथवा०. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. क्तमनिति.
९ क. ख. ग. ज. घ. झ. ट. ठ. ड. विवाहनक्रियया तमसा तदहं; च विवैसक्रि-
वास्तन. १० च. 'क्रियया च तं' तमसा. ११ क. ख. घ. झ. ट. 'रिक्षे लो'.
१२ क. ख. घ. झ. ट. 'वायु । स हि मत'. १३ ग. ज. 'पृथक् उपदिष्टाः,
च. 'पृथु व्य' यक्. १४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. अत्र-

अथ पुनर्यदेङ्गीकृत्य सूर्योदिसंबन्धि विशेषलिङ्गं हविष्यान्तीयस्य सौर्य-
 वैश्वानरत्वमुक्तं ' विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमहामकृण्वन् '
 इति नान्यः सूर्योदहां कर्ता तस्मात्सूर्योऽत्र वैश्वानर इति । अत्र ब्रूमः ।
 पार्थिव एवायमग्निः सुक्ते (ऋ० सं० १० । ८८) प्रथमायामृचि प्रकृ-
 लैथ सर्वास्त्विक्षु एतस्मिन्सुक्ते प्रकृतिभूम्ना स्तूयते
 महत् आत्मनो माहाभागात् । अपि ताहं सत्त्वा-
 न्यश्चप्रभृतीनि प्रकृतिभूमभिः स्तूयन्ते किमद्ग
 पुनर्देवतास्तासामपि च विशेषतोऽग्निर्भस्य सर्व-
 देवतात्माभिवादः साक्षात् ' अग्निः सर्वा देवताः '

१० (ऐ० ब्रा० ६ । ३ ॥ मैत्रा० सं० १ । ४ । १३ इत्यादिबहुकृत्वः ।
 शत० ब्रा० १ । ६ । २ । २० ॥ तै० सं० ६ । २ । २) ' इन्द्रं
 मित्रं वरुणमग्निम् ' (ऋ० सं० १ । १६४ । ४६) इति । तदेतदे-
 तस्मिन्नेव सुक्ते स्फुटतरमुपदिश्यते यथा पार्थिव एवायमग्निस्तेन तेन देवता-
 विशेषेण देवतात्मना तत्स्थानमापन्नः स्तूयत इति । तदर्थमिदमाह ।
 ३५ ' अथैनमेताभ्यां सर्वाणि स्थानान्यभ्यापादं स्तौति ' । एताभ्यां ये एते
 वक्ष्यमाणे । सर्वाणि स्थानानि पृथिव्यन्तरिक्षगुलक्षणानि । अभ्यापाय
 अभ्यापादं स्तौति मन्त्रदक् ॥ २६ ॥

१ मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन् ।
 २ मायामु तु यज्ञिर्यानामेतामपो यच्चूर्णिश्चरति प्रजानन् (ऋ० सं०
 १० । ८८ । ६) ॥ मूर्धा भूर्तमस्मिन्धीयते मूर्धा यः सर्वेषां भूतानां
 भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्त्स एव प्रज्ञां त्वेतां

१ प. झ. ट. ठ. ड. 'पंदा अग्नीकृत्य'. २ क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड.
 'प्रकृत्योत्तामु ऋक्षु'; घ. 'सर्वामु' उतता. ३ घ. गटा. ४ घ. ज. इति घ
 तद. ५ क. ल. झ. 'गान्यभ्यापाय । अभ्यापाय इत्यभ्यापादं'; घ. ट. ठ. ड.
 'गान्यभ्यापाय । अभ्यापाय इत्यभ्यापादं'; घ. 'गानि-अभ्यापा' अभ्यापाय.
 ६ न. ३९; क. ल. ४ (२६); ड. 'दक्' इति वि० उ० प्रथ० इद्विंशतिः
 सप्तः । २६ ।, ड. 'दका' इति नि० छन्द्यास्यासामुत्तरदक् इधमाध्याये वदविंशतिः
 ६९ सप्तः, इतरेषां नास्ति. ७ छ. त. द. 'दंत्म'.

मन्यन्ते यज्ञियानां देवानां यज्ञसंपादिनामपो यत्कर्म चराति प्रजा-
नन्त्सर्वाणि स्थानान्यनुसंचरते त्वरमाणस्तस्योत्तरा भूयसे
निर्वचनाय ॥ २७ ॥

मूर्धा भुवो भवति नक्तमिति । मूर्धा मूर्तमस्मिन् सर्वं सत्त्वजातमुपनि-
बद्धं धीयते । यथा हि शिरसो वियोगे तद्वतोऽवश्यंभावि मरणमेवमग्नि-
वियोगेऽप्यवश्यं त्रिंशन्ते भूतानि इत्यतः प्रधानम्
अग्निरेव सूर्यो भ-
वति अग्निः मूर्धा भुवो भूलोकस्य भवति । विशेष-
तस्तु नक्तं रात्रौ तत्कृतत्वादा लोकस्य भूताना
अपक्तेस्तत्कृतत्वात् । तत्किमयमन्योऽग्निरेवः

सूर्य इति । नेत्युच्यते । ततः सूर्यो जायते प्रातरुच्यन् । रात्रावशित्वेन
लोकस्योपकारं कृत्वा ततः अनन्तरमेव प्रभाताया रात्र्यामाह्निकैरुपकारैरु-
पकारेण्यन् लोकस्य सूर्यो भूवा जायते प्रातरुच्यन् स एवाग्निः । तस्येयं
माया । क एना जानाति । माया त्वेतां यज्ञियाना देवाना यज्ञसंपादिनां
सतत्त्वविदो मन्दन्ते । यत्किमिति । अपो यत्कर्म स्वाधिकारप्रयुक्तमादि-
त्यात्मनाग्न्यात्मना च कर्तव्य प्रजानन् प्रकर्षेण जानन् सर्वाणि स्थानान्य-
नुसंचरते तूर्णिः त्वरमाणः । कर्मकालमपरिहापयन्निशमिप्रायः ।

‘ तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ’ । यथा चैतदेवं तथेयमपरा
ऋग्भूपत्तरमेतमेवार्थं वक्ति । किं पूर्वया नोक्त यदनया भूपत्तर निरु-
च्यत इति । स्थानद्वयमभिसंपन्नः पूर्वया स्तुतः । मूर्धा भुवो भवत्यग्नि-
नक्तं ततः सूर्यामना प्रातरसावुदेति । अथ पुनरुत्तरया स्थानत्रयमभिसंपन्नः
स्फुटतरं स्तुयत इत्येतद्भूयस्त्वम् ॥ २७ ॥

१ छ. त. द. °जानत्त°. २ ड. थ. प. ठ. ड. चरति. ३ क. ख. ५ (२७), १
छ. ४०; त. द. ५. ४ ग. °मिति ६१ । मू°; घ. झ. ट. ठ. ड. °भवति (ठ. २५
भवति इति) । मू°. ५ ग. ज °मस्मि धीयते सर्व°. ६ घ. झ. ठ. °ड. °वश्यं-
भावी विनाश इत्य°, ७. °वश्यं भौवी विनीशो इत्य° त्रियते भूतानि. ७ ग. ज.
°मूर्धा भूलोकस्य°; घ. झ. ट. ठ. ड. भूलोक°. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
एवायमग्नि, च एवाग्निः °यम. ९ क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड. °युक्तत्वाधि-
कारप्रयुक्तमादि°. १० घ. झ. ट. ठ. ड. चरति ११ क. ख. ५ (२७), म.
४०, ठ. °वश्यम् । इति निरुक्तं ३० मं तप्तविंशतिं खण्ड १ २७ १; ड.
°यत्त्वम् । इति निरुक्तीकायामुपरषटके प्रथमाध्याये सप्तविंशतिः खण्डः. ३२

स्तोमेन हि दिवि देवासां अग्निमजीजनञ्छक्तिभि रोदसि-
 माम् । तम् अकृण्वन् त्रेधा भुवे कं सं ओषधीः पचति विश्व-
 रूपाः (१० । ८८ । १०) ॥ स्तोमेन यं हि दिवि देवासां अ-
 ५ अग्निमजनयञ्छक्तिभिः कर्मभिर्द्यावापृथिव्योरौपूरणं तमकुर्वस्त्रेधा-
 भावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिर्यदस्य दिवि तृतीयं
 तदसावादित्य इति ब्राह्मणं तदग्नीकृत्य स्तोत्यथैनमेतयादित्यी-
 कृत्य स्तौति ॥ २८ ॥

स्तोमेन हि दिवीति । स्तौतिभिः शक्तिभिः कर्मभिः अग्निहोत्रादिभिः
 १० अग्निः त्रिष्वपि दिवि सुलोके एतम् अग्निमादित्यात्मना रोदस्योः
 लोकेषु वर्तते द्यावापृथिव्योः आपूरणं देवाः अजीजनन्
 अजनयन्यजमानाः । ते हि हविषो दातारः ।
 'शश्वद्वा एष नोदियाद्यदेतामग्नावाहुतिं न जुह-
 यादिति आहुतिभिरेवैनं जनयन्ति' इति । तमकृण्वन् तमेवाग्निं कृतवन्तः ।
 १५ त्रेधा भुवे कम् । कामित्यनर्थको निपातः । त्रेधाभावाय पृथिव्यामन्त-
 रिक्षे दिवीति च । स एवमवस्थितो जगद्यात्रासिद्धये सर्वा-
 वर्थैः सर्वावस्था ओषधीः पचति सर्वरूपैः । प्रकृतस्यैव शाक-
 पूणेः पुनर्महणं स्वअक्षानुष्मृतये । मंकरे ह्यस्मिन् सूक्ते आत्मविज्ञैर-

- १ ठ. ड. 'नञ्छक्ति'. १ क. ल. छ त द. हि यं. ३ क. ल. छ. त. द.
 २० देवा अ°. ४ क. ल. छ. त. द. 'शक्तिभिः' नास्ति; ठ. ड. 'यञ्छक्ति'.
 ५ क. ल. छ. त. द. 'व्याः पू'. ६ क. ल. ड. घ. ष. ठ. ड. इति हि मा°;
 छ. इति ~ मा° च. ७ क. ल. ६ (२८); छ. ४१; त. द. ६. ८ क. ल. ष.
 झ. ट. ठ. ड. 'दिवि' नास्ति; ग. 'वीति' इति स्तो°. ९ क. ल. ष. झ.
 ट. ठ. ड. स्तोमेन स्तु°; च. ~ स्तु° स्तोमेन. १० क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड.
 २५ हविषां; च. हविषो° वां. ११ क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड. शश्वद् अद्दया एष°;
 च. शश्वद्वा° त् अद्दया. १२ क. ल. ष. झ. ट. ठ. ड. 'यदेता°; च. 'यदे-
 ता° छे: १३ ग. झ. ना जुह°. १४ घ. झ. ट. ठ. ड. तम् अह°. १५ क.
 ल. घ. झ. ट. ठ. ड. 'इति' नास्ति. १६ च. 'वर्थाः स° स्थः; ज. 'व-
 रथाः स°. १७ घ. ओष°. १८ क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड. 'रथा इति; च.
 १९ 'रथाः ~ । प° इति.

क्रयाशिकानामिति । ब्राह्मणमपि चैतमेवार्थं त्रिवीत्ययमेवाग्निरादित्यो भव-
तोति । ' यदस्य दिवि तृतीयं तदसात्रादित्य इति
ब्राह्मणम् ' । अस्य इति व्यपदेशात्पार्थिवस्याग्नेः
प्राधान्यं दर्शयति । उमाभ्या पक्षाभ्या व्याहृत्य
स्वपक्षसाधनमुक्त्वा देवतासतत्त्वमालम्ब्योच्यते ।

एकमेवेदं ज्योतिर्ज्योतिष्टोत्रविशेषात् । तत्पुनरेतज्जगद्यात्रासिद्धये त्रिधा विभक्तं
पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि च । विभक्त्यैभिधानं संपद्यतेऽग्निर्विशुदादित्य
इति । तत्रैवं सति ज्योतिषो दिवि तृतीयमादित्याह्वयमस्मिन् सूक्ते सर्वो-
त्सृक्षु ' हविष्यान्तम् ' इत्येवमाद्यास्वमीकृत्य मन्त्रद्वक् स्तोति । ' अथेन-
मेतया ' पुनः आदित्यीकृत्य स्तोति ॥ २८ ॥

यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम् । यदा
चरिष्णू मिथुनावभूतामादित्याभ्यन्भुवनानि विद्वां (ऋ० सं०
१० । ८८ । ११) ॥ यदेनमदधुर्यज्ञियाः सर्वे दिवि देवाः
सूर्यमादितेयमदितेः पुत्रं यदा चरिष्णू मिथुनौ प्रादुरभूतां सर्वदा
सहचारिणावुपाश्चादित्यश्च मिथुनौ कस्मान्मिनोतिः श्रयतिकर्मा
शु इति नामकरस्थकारो वा नयतिः परो वनिर्वा समाश्रिता-
चन्योन्यं नयतो वनुतो वा । मनुष्यमिथुनावप्येतस्मादेव मेथन्ता-
चन्योन्यं वनुत इति वार्थेनमेतयाग्नीकृत्य स्तोति ॥ २९ ॥

यदेदेनमदधुर्यज्ञियास इति । यदेनं सूर्यम् आदितेयम् अदितेः
पुत्रं दिवि अदधु. सुलोके स्थापितवन्तो देवाः
अग्नित्र आदित्य यज्ञियासः यज्ञसपादिनो यजमाना याज्ञेन
इति स्तूपते कर्मणा । सर्वस्यास्यापूर्वकृतत्वाज्जगद्विरचनाप्र-
पन्नस्य । रश्मयो वा देवाः सौर्या यदेनमुन्नोतवन्तः । यदा चैनौ चरिष्णू-

१ ठ. ड. इति हि आ°. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'लम्ब्य निरुच्यते;
घ. 'लम्ब्य उ° निरु. ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. विभक्ताभिः; च. विभ-
क्त्याभिः का. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. पूर्वोत्तु°. ५ क. ख. ६ (२८),
ग. ४१; 'स्तौनि । इति निरुक्तं उ० (ड. निरुक्तभाष्योत्तरपटके) प्रथमाध्याये
अष्टाविंशतिः खण्डः । २८ । (ड. ' २८ ' न स्ति) ६ छ. त. द. सूर्यमादिते°.
७ थ. द. घ. 'रश्मः स्थ°. ८ क. ख. ७ (२९), छ. ४२, त. द. ९. ३ ट.
ट. यदेदेनेमिति.

सर्वदा सहचरगर्शली मिथुनौ प्रादुरमृताम् उपाश्वादित्यश्च धात् अथ
तदा प्रापश्यन् प्रकपेणौपश्यन् भुवनानि भूतानि विश्वौ सर्वाणि ।

‘ मिथुनौ कस्मात् ’ । मिनीतिः तावदत्र ‘ अयतिकर्मा ’ । मिथुनशब्दे

५ मिथुनशब्दव्यु- पूर्वपदं ‘ मि ’ इति । ‘ थु इति नामकरणः ’
त्यतिः प्रत्ययः । ‘ धकारो वा ’ नामकरणो विक-
ल्पेन । ‘ नैवतिः परः ’ उत्तरपदे ‘ वनिर्वा ’
विकल्पेन । यदा तावत् ‘ थु ’ इति नाम-

१० कारणो नयतिश्च परस्तदा धातोः पूर्वत्वात्प्रत्ययस्य परत्वात् ‘ मि नि
थुः ’ इति प्राप्ते रूढेर्वलीयस्वान्मध्यान्तविपर्ययेण मिथुनावित्युक्तम् ।
अथ पुनर्यदा धकारो नामकरणस्तदा वनिरुत्तरः । तदा वैकारस्य संप्र-

१५ सारणम् । संप्रसारणपरपूर्वत्वं मध्यान्तविपर्ययः । धकारे च यः स्वर-
स्तरस्य छोपः । धकारोऽन्तस्थ उकारमुपसंक्रमेत । एवं मिथुनाविति
सिष्यति । अथ कोऽर्थः । ‘ समाश्रितौ अन्धोऽन्धं ’ प्रति आत्मानं
‘ नयतः ’ कालं वा । समाश्रितौ भवतः परस्परं संभक्तौ ।
‘ मनुष्यमिथुनाद्यप्येतस्मादेव ’ । अथवा । मेधतेर्मनुष्यमिथुनौ स्याताम् ।
तौ हि कर्माथं ‘ मेधन्तौ ’ इव परस्परेण कालं नयतः ।

‘ अथ ’ पुनः ‘ एनेम् ’ आदित्यम् ‘ एतया ’ उत्तरत्यर्चा एतस्मिन्-
नेव सूक्ते होतृत्वेन ‘ स्तौति ’ । होतृत्वं ह्यग्नेः कर्म न सूर्यस्य । तस्मात्-
दिदमग्निवैधानरीयं सूक्तम् ॥ २९ ॥

९०

१ प. स. ट. ठ. ड. ‘ वैष्य पश्यन्. २ घ. स. ट. ठ. ड. विश्वानि. ३ म.
अ. ‘ मि इति ’ नास्ति. ४ ग. अ. निवतिगो वनिर्वा यदा; च. निवतिः
पतो वनिर्वा । पर उत्तर. ५ क. स. घ. स. ट. ठ. ड. ‘ यस्य च प. ’ ६ क.
स. घ. ठ. ड. भिनपुः; स. भिनपुनीरि; ट. भिनपु नी. ७ ग. अ.
वकारस्य; घ. वकारस्य. ८ क. स. घ. स. ट. ठ. ड. यकारश्च उ; च. यश्च
रोऽन्तस्य उ. ९ क. स. घ. स. ट. ठ. ड. ‘ एतम्; च. ‘ एनेम् ’ त.
१० क. स. ७ (२९), ग. ४२; ठ. ‘ सूक्तम् । इति नि० उ० प्र० एकोनविं-
शत्तमः सप्तः । २९ १; ड. ‘ सूक्तम् । इति निरुक्तीकायामुत्तरपदे प्रथमाध्याये
२९ विरुत्तरः; च. वर्धमिनोऽग्नेः शक्तिः.

यत्रा वेदेते अव्वरः परंथ यज्ञन्योः कतरो नौ त्र वेदं ।
 आ शेकुऱित्तसंघमादं सखायो नक्षन्त यज्ञं क इदं वि वेचत्
 (ऋ० सं० १० । ८८ । १७) ॥ यत्र विवेदेते दैव्यौ होता-
 रावयं चाग्निरसौ च मध्यमः कतरो नौ यज्ञे भूयो वेदेत्याशक्नु-
 चन्ति तत्तहमदनं समानंख्याना ऋत्विजस्तेषां यज्ञं समश्रुवा-
 नानां को न इदं विवक्ष्यतीति तस्योचरा भूयसे निर्वच-
 नाय ॥ ३० ॥

‘ यत्रा वेदेते ’ इति । यत्र यस्मिन् कर्मणि विवेदेते । वेरुपसर्गस्याप-
 कृष्य यत्र क्रियापदेन सामर्थ्यं तत्रानेधनम् । को पुनस्तौ विवेदेते ।
 अवरः परथ दैव्यौ होतारौ । अयं चाग्निः पार्थिवः असौ च मध्यमो
 वायुः । कथं विवेदेते । यज्ञन्योः यज्ञनेत्रोः ।
 अत्र सूर्यो होतेति उभावप्याना यज्ञस्य नेतारौ । तत्कतर
 स्तुयते । होतृत्वं चाग्नेः । आवयोः यज्ञे भूयो ब्रह्म वेद इति । तत्र य एते
 तस्मात्सूर्योऽग्निरेव समानंख्याना ऋत्विजो यज्ञे विनियुक्ताः समश्रु-
 चते यज्ञम् । त एनं सधमादं सहमदनं संदर्भम् उपश्रुयानयाः आशेकुः
 न शक्नुवन्ति । अशक्नुवन्तश्च किं ब्रूयुः । को न इदं विवक्ष्यति ।
 कतर एतयोर्यज्ञे भूयो वेदेति । उभावप्येतौ यज्ञे भूयोविदावित्यभिप्रायः ।
 यथाग्निप्रधानमेतत्सूक्त होतृ कर्मणोऽग्निमवैद्वत्वात्त्रिशोषलिङ्गेन न सूर्यप्रधानं
 ‘ तैत्स्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ’ बहुतराय निरुच्य वचनाय । पूर्वस्थाः
 को विशेषः । अस्या हि विभज्य वायोः केरलोऽग्निरेव स्तुयते । पूर्वस्था-
 मुभावपि भूयोविदावित्युक्तम् ॥ ३० ॥

१ ङ. थ. ध. ठ. ड. समानाख्याना. २ क ल. ८ (१०), छ.
 ५३, त द. ८. ७ ग. इति । यत्र. ४ ग. ज. द. झ. ट. ठ. ड. ‘तत्रानयनं’
 नास्ति. ५ ट ड. समानाख्याना. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ ड. ‘युक्ताः नक्षन्त
 समं’; च. ‘युक्ताः- स’ नक्षन्त ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड एवं, च. एनं
 वं. ८ घ. झ. ट. ठ. ड. सवपं; च सवर्षं ६. ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ.
 ड. अथाशक्नुं, च. नि. १- इक्नुं अथा १० क. र. घ. झ. ट. ठ ड.
 इत्यतीति. ११ ग. ज. संवन्धत्वा; च. संवधत्वा १२ क. ख. घ. झ. ट.
 ठ. ड. तथेयनपरा ऋक् भू. १३ क. ख. ८ (३०), ग. ५३, त. ‘तत्रम् ।
 इति नि० ३० प्रथ. त्रिंशत्तमः खण्डः ३०, ड. त्रुणम् । इति निरुक्ती
 कायानुतरपत्रे पथपात्राप्ये त्रिंशत्तमः, ७. ३० निरुक्ती नार्ति.
 ११

- १ यावन्मात्रमुपसो न प्रतीकं सुपुण्योऽवसते मातरिभ्यः । तार्क-
 द्धधात्स्युप यज्ञमायन्ब्राह्मणो होतुरवरो नि पीदन् (ऋ० स०
 १० । ८८ । १९) ॥ यावन्मात्रमुपसः प्रत्यक्तं भवति प्रतिदर्शन-
 मिति वास्त्युपमानस्य संप्रत्यर्थे प्रयोग इहेव निधेहीति यथा
 ५ सुपुण्यः सुपतना एता रात्रयो वसते मातरिभ्यश्च्योतिर्वर्णस्य
 तावदुपधाति यज्ञमागच्छन् ब्राह्मणो होतास्याग्नेर्होतुरवरो निपी-
 दन् होतृजपस्त्वनेत्रिर्वैश्वानरीयो भवति देव सवितरेतं त्वा वृण-
 तेऽग्निं होत्राय सह पित्रा वैश्वानरेणेतीममेवाग्निं सवितारमाह
 सर्वस्य प्रसवितारं मध्यमं वोत्तमं वा पितरं यस्तु सूक्तं भजते
 १० यस्मै हविर्निरूपतेऽयमेव सोऽग्निर्वैश्वानरो निपातमेवेते उत्तरे
 ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते भजेते ॥ ३१ ॥

- ‘यावन्मात्रमुपसो.’ । अत्र नकारः संप्रत्यर्थ एवोपमानासंभवात् ।
 लोकेऽपि च ‘वास्त्युपमानस्य संप्रत्यर्थे प्रयोगः इहेव निधेहीति यथा’ ।
 १५ इहे संप्रति निधेहीत्यर्थः । मातरिभ्यना कश्चित्पृष्ठो दैव्यस्य होतुः अग्नेः
 ज्ञाने होतासिर्वा- यद्विज्ञानं तत्किमय ब्राह्मणो मनुष्यहोता यज्ञमुपा-
 क्षणहोतुर्वरीयान् यन् विभर्तीति । स त प्रत्याह । हे मातरिभ्यन्
 यावन्मात्रम् उरसः प्रत्यक्तं प्रत्यक्षितं प्रातिगतं
 प्रकाशस्य एतैः सुपुण्यः रात्रयः सुपतना रात्रय
 २० श्वात्मन्यनुप्रविष्टं छादयन्ति । अभिभूय तमो वर्तते स्वयमेव । अथवा ।
 वसतिर्दर्शनार्थः । यावन्मात्रमुपसो रात्रिषु दृश्यते तावदिति । एवमपि
 स्वल्पम् । एतावन्मात्रमयं स्वल्पविज्ञान उपादन् यज्ञं ब्राह्मणो होतृत्वे वृत्तो

- १ छ त. द इहेव. २ क. ख छ ट स्वमग्निं. ३ व ख. ९ (३१) ।
 इति सप्तमाध्यायस्य सप्तमः पादः; छ. ४५. त. द. ९; ट. ३१ । इति निरुक्तो
 २५ वापट्टके प्रथमाध्यायः, ङ. ३१ । इति निरुक्तो वापट्टके प्रथमाध्यायः समाप्तः.
 ४ क. रा. प. झ. ट. ‘तमो न प्रतीकं’ । अत्र; ठ. ट. यावन्मात्रमिति.
 ५ म. ज. इहेव, च इहेव; हे. घ. ट. ठ. ड. इहेव नि. ६ म. ज. इहेव नि;
 घ. इहेव नि; ट मंगति. ७ ठ ड. ‘एताः’ नास्ति. ८ क. ख. ग. ज. घ झ.
 ट. वर्तन्ते. ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. दृश्यन्ते, ग. ज. दृश्यते । एवम्.
 १० १० क. रा. प. झ. ट. ठ. ड. १५-५मेः । ए; घ स्वल्पमे-तां व । ए.

होतृपदने निधीदन् दधाति धारयति । दैवस्याग्नेः परस्य भूयोविदः अवरो-
ऽन्योऽल्पविदिति अनुकरेत्सल्पमिति । मानुषो ह्यग्न्यनुग्रहदेवायमल्पवि-
ज्ञानोऽपि होता हैत्रं करोतीति पार्थिवोऽग्निर्विभेपतोऽभिष्टूयते ।

तदेतदेवं कृत्वा सूक्तमग्निप्रधानकर्मात्वाद्द्वैश्वानरीयम् । येऽत्र वैश्व.नरश-
ब्दास्तेऽग्निं भजन्ति विशेषणत्वेन । ' होतृजपस्त्वनग्निर्द्वैश्वानरीयो भवति ' । ५

एवमपि तु सत्ययम् अर्नाग्निर्वैश्वानरो होतृजपः ' देव सवितरेतं त्वा वृणोत-
किंतु होतृजपो ना-
ग्निर्वैश्वानरीयो यस्मा-
त्तत्र वैश्वानरोऽग्नेः
पितेत्युच्यते

ऽग्निं होत्राय सह पित्रा वैश्वानरेण ' (आश्व०
श्रौ० १।३) इति । एतमेवं जपं वर्णयन्ति ।
' इममेवाग्निं सवितारमाह ' पार्थिवं ' सर्गस्य प्रस-
वितरं ' यज्ञदारेण । ' मध्यमं नोत्तमं वा पितरम् ' १०
अस्य वैश्व नरमाह । ' सह ' तेन ' वैश्वानरेण पित्रा ' ।

एवं द्वौ पितापुत्राविति व्यपदेशात्पार्थिवादन्यो वैश्वानरः । स च पुनर्मध्य-
मौ चोत्तमो वेत्येवमेवमयमनग्निर्वैश्वानरो होतृजपः ।

अत्रापि ' यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरूपयतेऽयमेव सोऽग्निर्वैश्वा-
नरः ' । किं कारणम् । अनग्निर्वैश्वानर वेऽपि सति होतृजपस्यायमेव पार्थि- १५
वोऽग्निर्वैश्वानर इत्यवधिपते याज्ञिकपक्षे । आचार्यपक्षे चौयमेवैको मन्त्रो

व्यपदेशहेतुरग्नेर्वैश्व.नरत्वं ब्रवीति । संप्रति मन्त्रे-
णाम्नेर्थपदेशवत्तो वैश्व.नरत्ववाचिना ' आ दूतो
आग्निमभराद्विब्रह्मतो वैश्व.नरं मातरिश्वा परावतः ' १०
(ऋ. सं. ६।८।४) इत्यनेन शाकपूणिपक्षे-
णैव्यभिचारिणा सभोभवति । तद्विदितव्यपदेशां-

दयस्तु पार्थिवस्य वैश्व.नरस्तरसाधका विशेषदेतवः षडव्यभिचारिणोऽति-

१ ग. ज. ' सोऽज्ञोऽनर ' ; च. ' सोऽज्ञोऽल्प ' न्यो २ क. ख. घ. झ. ट. ठ.
ड. ' स्ने पार्थिवाग्निं भजन्ते वे ' . ३ क. ख. ग. घ. झ. ट. ठ. ड. ' नग्निर्वैश्वा ' ;
ट. ' स्नेनाग्निं स्त्वयमग्निरिति विवरु ए (पाठः. ४ क. ख. ग. ज. घ. झ. ट. ठ. ड. २५
' नग्निर्वैश्वा ' ; च. ' नग्निर्वैश्वा ' वे. ५ क. ख. ए. भेत्, ग. ज. ए. नदेवं. ६ ग. ज. परय.
७ ग. ज. ठ. ड. ' ध्यम वो ' ; च. ' धर्म वो ' मो ८ च. नग्निर्वैश्वा ' वे. ९ क. ख.
घ. झ. ट. ड. ' नरत्वेऽपि सति हो ' ; ट. ' नरत्वेऽपि सति हो ' ऐ. १० ग. ठ.
ड. ' नग्निर्वैश्वा ' . ११ ग. ज. वाय. १२ क. म. घ. झ. ट. ठ. ड. ' अग्निर्वैश्वा ' .
१३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ' सवता अग्निर्वैश्वा ' ; च. ' सवता वैश्वा ' ता अग्ने-
र्वै. १४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ' होम र्वेऽज्ञोऽग्नि ' ; च. ' सवता ' च स्तेना. १६

रित्यन्ते । तस्माद्विशेषहेतुत्राहुल्यादयमेव पार्थिवैः सूक्तभाग्यविर्भाक् च ।
 'निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषो' वैश्वानर इति 'एनेन नामधेयेन भजेते
 भजते' इति । द्विरम्यातोऽध्यायपरिसमाप्त्यर्थः ।
 इतरयोर्ज्योतिषो- तदेवमेतास्मिन्वैश्वानरपदविचारप्रसङ्गेन हवि-
 ५ द्वाश्वानर इत्यभिधानं प्यान्तीयं सूक्तमुपक्षिप्य सूर्यो वैश्वानरोऽग्निर्वैश्वान-
 गणम् नर इत्येकमेवेदं ज्योतिस्त्रिधा वर्तते इति मैत्र-
 स्वभावोपप्रदर्शनार्थमुपवर्णितम् । ईदृशेषु शब्दा-
 र्थन्यायसंकटेषु मन्त्रार्थघटनेषु दुरध्वोधेषु मतिमतां मतयो न प्रतिहन्यन्ते ।
 वयं त्वेतावदत्रावबुद्धयामह इति ॥ ३१ ॥

१०

इति ऋज्वर्थायां निरुक्तवृत्तौ

जम्बुमार्गाश्रमवासिने आचार्यभगवद्दुर्गस्य कृती
 द्वादशोऽध्यायैः समाप्तः ।

१५

× अर्थातोदैवतमिन्द्रोदिवःपरोक्षकृतास्तत्रेतिस्त्रोऽध्याकारचिन्त-
 नमपुरुषविधंतात्तिस्रैर्वदेवताइत्युक्तंपूर्वात्त्वाथैतानिन्द्रोभक्तान्यथैता-
 योदित्यभक्तीनिमन्त्रोपननाज्जमेतीगततममथातोऽनुक्रमिष्यामो-
 ऽग्निमौलेऽग्निपूर्वाभिरभिभवन्तेन्द्रमित्रंजातवेदीःकस्मात्प्रनूनंजातवेद-
 संवैश्वानरःकस्माद्द्वैश्वानरस्यप्रनूनमहित्वैकुण्ठानियानंहविष्यान्तमप्य-
 मूर्पस्थेमूर्धाभुवस्तोमेनेहियदेदेनयत्रावैदेतेयावन्मौत्रमेकात्रिंशत् ॥

२०

इति निरुक्ते उत्तरपट्टे प्रथमोऽध्यायः ।

१ क. ख. घ. झ. ट. ड. ङ. पाणिनाऽग्निर्वैश्वानरः सू; च पार्थिवः ७ सू
 अग्निर्वैश्वानरः. २ क. ख. घ. झ. ट. ड. ङ. 'सद्वे ६'. ३ क. ख. घ. झ. ट.
 ड. ड. म घस्य भा. ४ क. ख. १ (३१), ग. ४४; च. वर्जमितरेष्वद्भो नास्ति.
 २५ ५ ग. इति द्वादशाध्यायस्य सप्तमः पादः । इति कं; च. ज. द्वादशोऽध्यायः
 सप्तमः । इति कं; ट. ड. इति धी जम्बू. ६ ट. ड. 'वृत्तौ ऋज्वर्थायां निरुक्तवृ-
 क्तायां निवण्ट (ठ. निवण्ट) पञ्चध्यायेन सह द्वादशोऽध्याये आद्रितः सप्तमं उत्तर-
 पट्टकस्य प्रथमोऽध्याये एकत्रिंशत्तमः सण्ड. । ३१ । (ड. 'द्वादशाध्यायोत्तरपट्टके
 प्रथमोऽध्यायः समाप्तः). ७ ग. 'ध्यायः । सण्ड ४४ । पाद ७ । मंत्र ६५ । श्लोक-
 संख्या १५-०. × छ. त. द. अथात इत्यादि न वर्तते ८ छ निरुक्ते सप्तमोऽ
 ध्यायः, त इति सप्तमोऽध्यायः समाप्तः; द इति सप्तमोऽध्यायः संपूर्णः; ड. इति
 २२ निरुक्ते उत्तरपट्टे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः.

अथाष्टमाध्यायस्य

प्रथमः पादः ।

द्रविणोदाः कस्माद्धनं द्रविणमुच्यते यदेनर्दामिद्रवन्ति बलं वा द्रविणं यदेनेनाभिद्रवन्ति तस्य दाता द्रविणोदास्तस्यैषा भवति ॥ १ ॥

‘ द्रविणोदाः ’ (निघ० ५ । २ । १) इत्येतदेवतागदं निर्वाच्यम् ।

द्रविणं धनं बलं तदर्थमुपोद्घातः ‘ द्रविणोदाः कस्मात् ’ इति ।
वा तस्य दाता तत्र पूर्वपदमेव तावत्प्रथमं विगृह्य निराह । ‘ धनं द्रविणमुच्यते ’ इति । तत्कस्मात् । ‘ यदेनद-

भिद्रवन्ति ’ । कर्मकारकम् । यस्मादेतदाभिमुख्येन तदर्थिनोऽवस्थं द्रवन्ति । ‘ बलं वा द्रविणम् ’ । करणकारके । ‘ यदेनेनाभिद्रवन्ति ’ ।

यस्मादनेन संयुक्ताः सन्तः परानभिद्रवन्ति । ‘ तस्य ’ धनस्य बलस्य वा ‘ दाता ’ यो भवति-स द्रविणोदाः । ‘ तस्य ’ प्राधान्यस्तुतिपुक्ता ‘ एषा ’ ऋक् ‘ भवति ’ यां दृष्ट्वा देवतापदसाम्नायै समाह्नातः ॥ १ ॥

द्रविणोदा द्रविणसो ग्राव्हस्तासो अश्वरे । यज्ञेषु देवमी-
र्क्षते (ऋ० सं० १ । १५ । ७) ॥ द्रविणोदा यस्त्वं द्रविणस इति
द्रविणसादिन इति वा द्रविणसानिन इति वा द्रविणसस्तस्मा-
त्पिबत्विति वा । यज्ञेषु देवमीर्क्षते । याचन्ति स्तुवन्ति वर्धयन्ति
पूजयन्तीति वा तत्को द्रविणोदा इन्द्र इति क्लृप्तिकः स बलधन-
योर्दानृतमस्तस्य च सर्वा बलकृतिरोजसो जातमुतमन्य एनामिति
चाहाथाप्यमिं द्रविणोदसमार्हप पुनरेतस्माज्जायते । यो अश्मनो-
रन्तरमिं जजानेत्यपि निगमो भवत्यथाप्यृतुपात्रेषु द्राविणोदसाः
मवादा भवन्ति तेषां पुनः पात्रस्येन्द्रपानमिति भवत्यथाप्येनं
सोमपानेन स्तोत्र्यथाप्याह द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदस इत्य-

१ क. ख. छ ‘ देनमभि’; त. ‘ देनमभि’ द्. २ क. ख. प. स ट. ठ. ड.
‘ प्राये एष स’; च. ‘ प्राये’ म’ एष. ३ ठ. ट १ । इति निरुक्तः। कात्यायनमुताशुके
द्वितीयाध्याये प्रथमः सपठः. ४ क. ख. छ त द. ‘ म. छने. ५ क. ख. छ.
द. इति । २ . अ० .

- यमेवाग्निर्द्रविणोदा इति शाकपूणिराग्नेयेष्वेव हि सूक्तेषु द्राविणो-
दसाः प्रवादा भवन्ति । देवा अग्निं धारयन्द्रविणादामित्यपि
निगमो भवति यथो एतत्स बलधनयोर्दातृतम इति सर्वासु देव-
तास्वैश्वर्यं विद्यते यथो एतदोजसो जातमुत्तमन्य एनमिति चाहे-
त्ययमप्यग्निरोजसा बलेन मध्यमानो जायते तस्मादेनमाह सह-
सस्पुत्रं सहसः सूनुं सहसो यहुं यथो एतदाग्निं द्राविणोदसमाह-
त्यृत्वित्जोऽत्र द्रविणोदस उच्यन्ते हविषो दातारस्ते चैनं जन-
यन्ति । ऋषीणां पुत्रो अधिराज एष इत्यपि निगमो भवति
यथो एतत्तेषां पुनः पात्रस्येन्द्रपानमिति भवतीति भक्तिमात्रं
तद्भवति यथा वायव्यानीति सर्वेषां सोमपात्राणां यथो एतत्सो-
मपानेनैवं स्तोतीत्यस्मिन्नप्येतद्गुणपद्यते । सोमं पिव मन्दसानो
गणश्रिभिरिति यथो एतद् द्रविणोदाः पिवतु द्राविणोदस इत्यस्यैव
तद्भवति ॥ २ ॥

- १५ ' द्रविणोदा द्रविणसः ' इति । मेधातिथेराधर्मम् । ' द्रविणोदाः ' इत्येतस्य प्रथमैकवचनान्तस्य कर्तृत्वेन श्रुतस्य क्रियापदेन बहुवचनान्तेन ' ईळ्ते ' इत्यनेन वचनभेदादसामर्थमपेक्ष्य स्तोत्रत्वे चासंभवं द्रविणोदसो देवतात्वास्तुत्यत्वेन सामर्थ्यमुन्नीय द्रविणोदसो यद्ब्रह्ममध्याह्न्य द्रविणोदस्यैवपता-वभिसंबन्धास्तुतेरेकवाक्यतायां सामर्थ्यमुन्निनी-पस्तुत्ये द्रविणोदसि द्रविणोदशब्दं कर्मत्वेन नमयांचकार ' द्रविणो-दा यो ' देवस्तं द्रविणोदसमिति । इदानीं ' द्रविणसः ' इत्यस्य ' प्रावहस्तास ' इत्यनेन ऋत्विगिरप्येणासंदिग्धेन प्रथमाबहुवचनेन स्तुतिकर्तृत्वेन विशेषणविशेष्यभावेन सामाना-धिरण्ये सामर्थ्यमुन्नीय तथाभ्योपपत्तिमासर्था-देकवचनतयाभिमर्यानि । यं द्रविणोदसं देवम् अग्नेरे यज्ञे अग्निष्टोमादौ यज्ञेषु यजतिषु हविःसंप्रदानेषु मवनेषु वा यागस्थानेषु द्रविणस ऋत्विजः । ते हि द्रविजं उपयामह इति संदन्ति कर्मणि । अथवा ।

१ क. स. ङ. ध. प. ठ. २. त्तिवपि नि मो भवति यथो. ३ क. स. छ. त. द. ३. ३ ग. इति मे. ४ क. ख. ग. ज. घ. ईळते, च. इह. ५ च. द्रविणो. ६ ग. ज. ' द्रविणोदा यो देवसः ' नस्ति ७ ग. ज. ' इताह ' . १४ < ग. ज. यज्ञेषु मवनेषु द्रविणम कं.

‘ द्रविणसानिनो ’ धनस्य गवादर्हविषो वा देवतार्थस्य संभक्तारः ।
 प्रावहस्तासः इत्यभिप्रायमिप्रायम् । यमेते द्रविणसो प्रावहस्तास ऋत्वि-
 जोऽध्वरेषु यज्ञेषु द्रविणोदसं देवम् ईळते ‘ याचन्ति स्तुवन्ति वर्धयन्ति
 पूजयन्तीति वा ’ स द्रविणोदा देवोऽस्मभ्यं द्रविणानि ददात्वित्येतदाशास्महे ।
 आशिपमध्याहृत्य समाप्यते यमीडते स इति यत्तदोः परस्परपेक्षत्वात् । अथवा । ५
 एवमन्यथा निराकाङ्क्षतया परिस्मप्यते ‘ द्रविणसस्तस्मादिवत्विति ’ ।

अथवा ‘ द्रविणः ’ द्रविणोदा इत्यतः प्रथमैकवचननादत्रिपारिणतादेन
 द्रविणस इत्यस्य पञ्चम्येकवचनत्वेन सोमामिधा-
 पात्रं तस्मात्पित्रवत् इत्य- नन्वे सामर्ध्मुनीय पितृत्वित्याख्यातमध्याहृत्यात्रैव
 न्ययः समापयान्चकार भाष्यकार एवमप्यस्ति सामर्ध- १०
 मित्युपप्रदर्शनार्थम् । तत्कथमिति । यं देवं
 द्रविणोदसमध्वरेषु यज्ञेषु यजंतिषु प्रावहस्तो ऋत्विज ईळते स देवः
 द्रविणोदाः द्रविणसोऽस्मान्मोमाद् द्रविणैर्मभक्तुरादाय स्वमंशं पितृत्वित्येत-
 दाशास्महे ।

‘ तत्को द्रविणोदाः ’ इत्येवमादिविचारः । तत्र तावत् ‘ इन्द्र १५
 को द्रविणोदाः इति क्रोशकिः ’ एवमाचार्यो मन्यते । केन
 हेतुना । ‘ स बलधनयोः ’ अतिशयेन दाति । ‘ तस्य च सर्वा
 इन्द्रो यस्मात्स बल- बलकृतिः ’ । अभिधानविग्रहे हि बलं द्रविण-
 स्पदात्ता द्रविणं च बलं मित्युक्तम् । बलकृतिश्चेन्द्रस्य सर्वा । तस्मादिन्द्रः ।
 मन्त्रदृक् । अधिपतित्वकृत एवास्य बलेनाभिसंयन्धः । तस्म द्युक्तं यत्तस्य २०
 दाता स्यात् । कथमिति । यतो मन्त्र एव निर्बन्धते ।

‘ अन्धाद्रियायेति यद्बदन्व्योजसो जातमुत मन्य रनम् । मन्योरिंधाय
 हर्म्येषु तस्यै यतः प्रजज्ञ इन्द्रा अस्य वेदे ’ (ऋ० सं० १० । ७३ ।
 १०) ॥ यद्बदन्ति यदा यदन्ति अशनवतो मेघात् अयम् इन्द्रः आग- २५
 च्छतीति तत्र संनिधानमस्य प्रतीय । तच्चा-
 स्तेनास्य बलेन संबन्धः बदहं नै तथा मन्ये । कथं तर्हि ओजसो
 जातं बलराशेः कुतश्चिदातिनहतो जातम्
 अहम् एनं मन्ये यथायमतिबलान् लक्ष्यते । अपि वा । मन्योः

१ क. ख. ईडते; ग. घ. ङ. ईळते. २ प. झ. ट. ‘ हस्तस्य ऋ ’; ५.
 ‘ इस्ता-ऋ ’ झ. ३ ग. ज. द्रविणं सं. ४ ग. वेदे । ५. ५ घ. झ. ट. ट. ट.
 तथा न.

क्रोधान् दीप्तिर्ना अयम् इयाय यतो हर्म्येषु उदकाहरणाधिकारयुक्तेषु मेघ-
वधकर्म्येषु तस्थौ तिष्ठति । अंयंवां किं जानीमः कुतोऽप्ययमैश्वर्याजात
इति । यतो द्रूमः । यतः अयम् इन्द्रः प्रजङ्घः इन्द्र एव अस्य स्वजन्मन-
स्त्वत्त्वं वेद । नै कौऽप्यन्यो ज्ञास्यतीत्यभिप्रायः ।

- ५ ' अथापि ' अयमपरो हेतुरिन्द्रस्य द्रविणोदस्ये । ' अग्निं द्राविणोद-
समाह ' मन्त्रदृक् । स मन्त्रो मृग्यः । कोचित्तु ' द्रविणोदाः पिबतु
द्राविणोदस ' (ऋ० सं० २ । ३७ । ४)
अग्निर्द्रोविणोदस उच्यते इन्द्राच्चाग्निर्जा- इत्येतमेव मन्यन्ते । यस्यापत्यं द्राविणोदसोऽग्निः
तस्तस्मादिन्द्रो द्रवि- सौ द्रविणोदा इति । कस्य च पुनरयमं-
१० णोदाः पत्यमिति । अत आह । ' एष पुनः ' अग्निः
' एतस्माज्जायते ' इन्द्रात् । कुन एतत् ।
एन्द्रे हि । नगमे श्रूयते ' यो अश्मनोरन्तरग्निं
जजान ' इति ।

- १५ ' यो ह्वाहिर्मरिणात्सत सिन्धून्यो गा उदारजदपधा बलरप । यो
अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समासु स जनास इन्द्रः ' (ऋ० सं०
इन्द्रोऽग्निं जनया- २ । १२ । ३) ॥ तृतीयेऽहनि दशरात्रस्य
माम निष्केवल्ये विनियोग (आश्व० श्रौ० ७ ।
७) । गुत्समदो व्रगीति ऐन्द्रं रूपमास्थि-
तोऽमुर्हन्मगान । किं मा ह्य नाहग्नि-द्र
१० इति । कस्नर्होन्द्रः । यो हन्वा अहिं मेघम् अरिणत्सत सिन्धून् स्पन्दना
आकाशानदीः ' एषा च इत्या च' इत्येवमाद्याः यश्च । गाः अपः उदाजत्

- १ घ. झ. ठ. ड. हर्म्येषु तस्थौ तिष्ठति उदं; ट. हर्म्येषु तस्थौ तिष्ठति उदं. २ घ. झ. ठ. ड. 'मसु । अयं'; ट. 'र्मसु । अथ' तस्थौ तिष्ठति.
३ ग. ज. 'इति द्रूमः । यतो'. ४ क. ग. घ. झ. ट. ठ. ड. 'ज्ञे इति । इ';
घ. 'ज्ञे'. ५ इति इन्द्र. ५ ग. ज. 'देद सोऽन्यो ज्ञा'; घ. 'वेद न सोऽन्यो
ज्ञा' प्ये. ६ क. स. घ. झ. ट. ठ. ड. स एव द्रं. ७ क. ग. घ. झ. ट. ठ. ड.
'रयमाक्षरप'. ८ ग. 'ह्वाहि तृ'; घ. झ. ट. 'त्वाहिमरि इन्द्रः । तृ. ९ ग.
'नदीत्सदा च इत्या च'; ट. ठ. ड. 'नदीः एषा च इत्या च'; घ. ट. अथा बटुया
२१ पाठान्तरं. १० ग. ज. उदाजत्; घ. उद जत्.

उदगमयत् अपधा अपधानेन उदघाटनेन वलस्य मेघस्य शिराणा
छिद्राणाम् । यश्च अश्मनोः अशनवत्योः यावापृथिव्योः अन्तः मध्ये
अग्निं जजान जनयति । यश्च समस्तु संप्रामेषु शत्रूणां संवृक् संछेत्ता ।
हे अमुरजनाः स इन्द्रो नाहमिन्द्र इति ।

‘अथापि’ अयमपरो हेतुरेन्द्रस्य द्रविणोदस्त्वे । कृतम् इति । ५

‘ऋतुयाजेषु द्राविणोदसाः प्रनादा भवन्ति’ । ऋतवो यैर्मन्त्रैरिज्यन्ते
ते भवन्त्यृतुयाजाः । तेषु ऋतुयाजेषु द्राविणोदसा द्रविणोदःशब्दयुक्ताः
प्रनादा भवन्ति । तद्यथा ‘अपाद्धोत्राद्दुत पोत्रा-

ऋतुयाजेषु द्रवि-
णोदाः सोमं पित्रति
पात्रं चेन्द्रपानमिति

दमचोत नेष्टादजुपत प्रथो हितम् । तुरीयं पात्र-
ममृक्तममर्त्यं द्रविणोदाः पिबंतु द्रविणोदसः’ १०

प्रेषे उच्यते तस्मा-
दिन्द्रोद्रविणोदाः

(ऋ० सं० २ । ३७ । ४) ॥ तथो । ‘होता
यक्षदेव द्रविणोर्दामपाद्धोत्रादपात्रोत्रादपात्रेष्टु-
रीयं पात्रममृक्तममर्त्यमिन्द्रपानं देवो द्रविणोदा

द्रविणोदसः स्वयमायूया स्वयमभिगूर्यात्स्वयमभिगूर्तया होत्रय ऋतुभिः सोम-
स्य पिबत्वच्छाभाक यज’ (प्रेषः ५१) इति । ‘होता यक्षदेवं द्रवि- १५
णोदाम्’ इत्यच्छाभाकस्य संप्रैषः । भैत्रावरुणो - ब्रवीति अप्यर्धुणा
‘ऋतुभिः प्रेष्य’ इति प्रेषितः । होता यक्षत् यजतु । कथमिति । देवं
द्रविणोदसम् । स च पुनर्द्रविणोर्दा देवः पूर्णम् अपात् पीतवान् सोमम् ।
अपाद्धोत्रात् संप्रदानान् । अपाच्च पोत्रात्संप्रदानात् । अपाच्च

१२

१ क. ख. ग. च. ज. झ. ट. मलस्य. २ क. ख. ग. ज. घ. झ. ट. ठ. २०
ड. ‘भशन्नि । ततः किम् । तेषामृतुयाजाना यत्पान येन ते हृदये तस्येन्द्रपान-
मिति समाख्या भवति । तद्यथा’; च. ‘भवन्ति । ~ तद्यथा’ ततः किम् । तेषां
समाख्या भवति. ३ ग. ‘दोत्रात् । होता’; प. झ. ट. ‘दोत्राद्दुत’; च.
‘दोत्रात् । अगद्धोत्रा’; ४ क. ख. च. द्रवि’; ५ ग. ज. तथा । होता यथे
त्यादि यजेत्यन्त न विद्यते, च. पुस्तके पत्रपापस्तनभागे पठ्यते. ६ क. ख.
द्रविणोदसमपा’; झ द्रविणोदसपा’. ७ क. ख. ‘गोदा द्रविणतः स्वय’; प. झ.
ट. ‘गोदाद् द्रावि’; ८ च. द्रविण-देव’ डा. ९ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड.
‘अप त् ना सि, च अगात्

२८

नेष्ट्रात्संप्रदानात् । अथ पुनरिदं तुरीयं चतुर्थं संप्रदानम् अमृकम् अशु-
द्धम् । अपूर्णमित्यर्थः । अमर्त्यं यत्कीत्या न म्रियते । अथवा । अमनुष्ययो-
श्चम् । अमृकं चानुपमृदितमन्यया देवतया अपरिमुक्तम् । इन्द्रपानम् इन्द्रस्य
पातुं योग्यम् । तदेतत् द्रविणोदाः देवः इन्द्रः अस्माभिः प्रसंगादरेण
४ स्वयमाम्युयात् स्वयमाभिर्द्रव्यात् स्वयमभिगूर्वात् स्वयमभ्युद्यच्छेत् । ततः
पिबतु ऋतुना कालेन सह सोमस्य अभिगूर्तया अभिमतया होत्रया
स्तुत्या प्रदीयमानं स्वमंशम् । हे अच्छावाक त्वमध्येतदेवं ज्ञात्वा यज ।

एवमेतस्मिन्निन्द्रस्य द्रविणोदःप्रवादवति प्रैपे पात्रस्य इन्द्रपानम् इति
रुनाख्या । तस्मादिन्द्रस्तेन पिबतीति गम्यते । एवं चेत्प्राप्तमिन्द्रो द्रविणोदा
१० इति ।

अथापि अयमपरो हेतुरिन्द्रस्य द्रविणोदस्त्वे । यस्मात् ' एनं सोमपानेन
इन्द्र एव सोमपानेन स्तौति ' ऋतुयाजेष्वेव । ' होत्राः सोमं द्रविणोदः
स्तुषते यस्मात् इन्द्रा- पिव ऋतुभिः ' (ऋ० सं० २ । ३७ । १) इति ।
१५ यैव सोमः संस्क्रितेषु न ह्यन्यइन्द्रास्तोमपानेन स्तुयते तदर्थावास्तोम-
संस्कारस्य । भवति हि सोमाध्यायनं तत्संस्कारप्र-
धानो मन्त्रः । तद्यथा । अंशुरंशुष्टे देव सोमा-
ध्यायतामिन्द्राभैकधनविदे (मैत्रा० सं० १ । २ । ७ ॥ ३ । ८ । २)

- १ घ. झ. ट. ठ. ड. ' नात् । उतापि होत्रात्संप्रदानायदमत्त ह्यष्टवान् । उतापि
नेष्ट्रात्संप्रदानाद्द्रवत भीतवान् । एवमेतद्द्रवतानीयन प्रयोऽन्नं हितं । आत्मनो हितं
२० पथ्यमन्नम् । अथ° (च. पुस्तके इदं सर्वं पत्रस्योपरितनमाणे लिख्यते । °प्रयो
हितमात्मनो हिनं पथ्य । अथ° एव च पाठो वर्तते ।; ट. पुस्तके इदं सर्वं —
ईदृशीभिर्हैरपमृज्यते. २ घ. झ. ट. ड. ' शुद्ध देवेभ्यः अदत्तं दशापवित्रेणामृष्टं
वा । अपू°; च. ' शुद्धं अपू° देवेभ्यः अदत्तं दशापवित्रेणामृष्टं वा. ३ ग. ज.
' इन्द्रपान ' नास्ति. ४ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. ' मामिधीयात्; ग. ज.
२५ ' मासिभ्यात्; ख. ' नामिभ्यात् ' भीया. ५ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ततः स्वयं
पि°; च. ततः° पि° स्वय. ६ ग. च. ज. स्मिन्नेषे इन्द्र°. ७ ग. ज. ' देवं;
च. ' देव' नं. ८ ग. ज. ' श्वेव । सोममिन्द्रो देवः पिबतु ऋतुभिरिति; च; होत्रात्सोम-
मिन्द्रो देवः (मं द्रविणोदा) पिबतुं कं. ८ होत्रात्सोमं इन्द्रो देवः (द्रविणोदाः);
घ. ट. ड. होत्रात्सोममिन्द्रो देवः पिबतु ऋतु° - १ ग. ज. भ्रूयते. १० क. ख. प.
२० झ. ट. ठ. ड. ' यने च तत्सं°; च ' यने° तत्सं° च.

इति । तस्माद्यत्र यत्र सोमपानस्तुतिस्तत्र तत्रेन्द्र इति स्पष्टो न्यायः ।
प्रासिद्धतरं ह्येतत् । यदर्थमित्रं हविः संस्क्रियते तस्मा एव प्रतीयते ।

‘ अथाप्याह द्रविणोदाः पिवतु द्राविणोदसः इति ’ । यस्य द्रवि-
णोदमोऽमिरपस्यं स द्रविणोदाः इन्द्रः । पिवत्विति । अपाद्धोत्रात् इति

यस्मात् अग्नि
द्राविणोदसः तस्मात्
इन्द्रः द्रविणोदाः

तस्यैवाच्ञावाकप्रैरस्यैषा याज्या । अमत्तं दृष्ट-
वान् । उत अपि । अज्वत अजीवत । प्रयः
अन्नम् आत्मने हित 'पद्यम् । 'शेषस्तेनैव'
न्यास्यातः । समाप्ता पूर्वपक्षहेतवः क्रौष्टक्यमि-
मताः । ।

५

किमस्तु एतैर्हेतुभिरिन्द्रो द्रविणोदा इति । नेत्युच्यते । ‘ अयमेनाग्नि-
द्रविणोदाः इति शाकपूणिः ’ मन्वते । अयमेव
यस्य पृथिवीस्थाने समाम्नानम् । अपि च यदि
मध्यमोऽमविष्यत्ततो यान्येतानि माध्यमिकान्यै-

१०

न्द्राणि वा पार्जन्यानि वा वार्हस्पत्यानि वा तेषु द्राविणोदसाः प्रवादा अम-
विष्यन्मध्यमस्य कर्मणा चैनं रसानुप्रदानादिनास्तोष्यन् । न चैतद्भयमस्ति।

१५

किं तर्हि । ‘ आग्नेरेषेव हि सूक्तेषु द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति । ‘ हि ’

यस्मात् आग्नेये
षेव सूक्तेषु द्रविणो-
दशब्दः प्रयुज्यते

शब्दो हेत्वर्थः । यस्मादाग्नेरेषेव सूक्तेषु द्रावि-
णोदसाः प्रवादा विशेषणत्वेनाग्नेरेव भवन्ति ।
आग्निर्कर्मणा चैनं सूक्तेषु स्तौति नैन्द्रेण कर्मणा ।
तस्मादयमेनाग्निर्द्रविणोदाः । कथमिति । यत

२०

उपप्रदर्शयति । ‘ दिग् अग्निं धारयन् द्राविणोटाग्निमपि निगमो भवति ’ । अप्ययम-
ध्यन्वे बहव इत्यपिशब्दः । ‘ स प्रवैरा सहसा जायमानः सद्यः काव्यनि भव्यं
घत्त विश्वा । अपश्च मित्रं धिपर्णा च साधन्वेवा अग्निं धारयन् द्राविणो-

१ ग. इति । तस्यै; उ द. सर्वा अक् पठ्यते. २ य. तस्यैवाग्नेकं
रजाश. ३ फ. स. 'स्ताः । २ । किम'. ४ ग. 'व्यते । २ ।
अय'. ५ य. पुनरुक्ते ' देवा. ००० शब्दः ' एतय्यपस्तनभो लिख्यते. ६ ग.
न. ' अपि ' नास्ति. ७ ग प्रत्ययेति । कुस्त', य. स. ट. न. मत्तयेति ।
कुस्त', य. पत्तयेति । सदासा'. ८ द. म. बटपत्त, य. बटपत्त

दाम्' (क० सं० १ । १६ । १) ॥ कुत्सस्येयमार्यम् । गिनृयज्ञे

अस्यामृचि अग्नि- श्विष्टकृत्पुरोनुवाक्या (मैत्रा० सं० ४ ।
द्रविणोदाः १० । ६) । योऽग्निः अपां मित्रं तदुत्पत्तिगो-
गात् । धिपेणायाश्च वाचः साधन् साधयिता

५ तदधिदेवतायोगात् । यं च देवाः अग्निं धारयन् धृतवन्तः पूर्वे । द्रविणोदां
द्रविणानां हविषां देवेभ्यो दातारं वोढारम् । सोऽग्निः प्रत्नया । ' था '

इत्युपमाने (निरु० ३ । १६) । पुराण इव । सहसा बलेन जायमानो
जन्ममानः सद्यो जातमात्रः सन् कान्यानि गिनृदेवतानि हर्षिषि वैलवत्त।
' वैट् ' इति सत्यस्यै नाम । यथा अवितयेन न्यायेन धारयितव्यानि

१० दौतव्यानि वा पितृभ्यस्तथैव सद्यो जातोऽपि धारयति ददाति वा विश्वा
विश्वानि सर्वाणि । एवमेतस्मिन्नाधिकारे यं धर्तुं धृतवन्तो देवाः सोऽस्मा-

कमिदं नाम करोत्वित्याशिषैरुवाक्यता । अयमेवामिन्द्राविणोदा इति
स्थितः पक्षः । स पुनरयं परपक्षहेतुष्वनिराकृतेषु अनवरथित एव । यत-

स्तन्निराकरणाय ' यथो एतत् ' इत्येवमाशुच्यते ।
१५ यत्पुनरेतदुक्तं ' स बलधनयोर्दातृत्तमः ' इति अकारणमेतद्दिन्द्रस्य

द्रविणे दत्त्वे । कस्मात् । यस्मात् ' सर्वासु
ऐश्वर्यात् सर्वा एव देवता ऐश्वर्यं विद्यते ' । ता ऐश्वर्यात् सर्वा एव

बलधनयोर्दातृभ्यो भवन्ति । तस्मादवैशेषिकमेत-
दिन्द्रस्य कारणं द्रविणोदत्त्वे ।

२० ' यथो एतदोजसो जातमिति ' । यदप्युक्तं बलकृतिमधिकृत्य ' ओजसो
जातमुत जातम् उत मन्ये मन्य एनमिति ' तदप्यवैशेषिकमिन्द्रस्य । कस्मात् ।

यस्मात् ' अयमप्यग्निरोजमा बलेन मध्यमानो जायते
अग्निरपि ओजसा तस्मादेनम् ' अग्निम् ' आह ' मन्त्रदृक् ।
मध्यमानो जायते किमाह । ' सहस्रपुत्रं सहस्रः सूनूं सहस्रो

२५ यद्वम् ' । दून्नः सर्षिरामुतिरित्येवमादयः शेषाः ।

१ क. स्व. प. झ. ट. ठ. ड. धिपणा धिप; च. धिपणा - मा° धिपणा. २ क.
ग. बलधत्त; ग. ज. घ. झ. बलधत्त. ३ ग. ज. बल्. ४ क. स्व. घ. झ. ट.
ठ. ड. तन्मनाम. ५ क. स्व. घ. झ. ट. ट. ड. दापयितव्यानि, च. दा-त° कपि.
६ क. स्व. घ. झ. ट. ठ. ड. 'यति वा द्'; च. 'यति-द्' वा. ७ ग. झ. ट.
ठ. ड. यं धारन् धुं; च. धर्तुं धारयन् ८ क. स्व. एतमयं; ग. न. एतमग्नि-
११ मयमिन्द्रं. १ ठ. ड. 'जातमनमन्य एनमिति चदिति । यद्'.

‘ दृन्नः सर्पिरासुतिः प्रतो होता वरेण्यः । सहसस्पुत्रो अद्भुतः ’

‘ अग्निः सहसः पुत्र इत्युच्यते । (ऋ० सं० २ । ७ । ६) ॥ गृत्समदस्वार्पम् । अग्नी विनियोगः समिदाधाने (मैत्रा० सं० २ । ७ । ७ ॥ ३ । १ । ९) । दृ अन्नः दृन्नः द्रुमान्नः । सर्पिरासुतिः च सर्पिः आसवो यस्य । सर्पिर्वेदकमासूते य आहुतिद्वारेण । प्रत्तथ पुराणो होता वरेण्यो वरणीयः सहसर्थं बलस्य यः पुत्रः अद्भुतो महान् चित्रो वा । स ईदमस्माकं करोत्वित्याशीर्गितमाख्यातमध्याह्न्य समाप्यते ।

‘ त्वं ह यद्यविष्टय सहसः सूनवाद्भुत । ऋतावा यज्ञियो भुवः ’

सहसः सूनुः (ऋ० सं० ८ । ७५ । ३) ॥ विरू-
पस्यापम् । सामिधेनीष्वग्नेयेऽन्नायकामकर्मणि
धीप्या । हे यविष्टय युवतम सहसो बलस्य सूनो पुत्र यत् यस्मात्
आद्भुत अभिद्भुत ऋतावा उदकवान् यज्ञवान् वा यज्ञियः यज्ञसंपादो भुवो
भवसि तस्मात्त्वां वयमपि जुहुमः । स त्वमस्माकमप्येवं भवेत्येतदाश्रमहे ।

‘ अग्ने वाजस्य गोभर्तः ईशानः सहसो यहो । अस्मे धेहि जातषेदो

सहसो यहुः माहि श्रवः ’ (ऋ० सं० १ । ७९ । ४) ॥
उष्णिक् । गोतमस्वार्पम् । इष्टकोधानेऽर्पेण
विनियोगः (मैत्रा० सं० २ । १३ । ८) । हे भगवन्नग्ने सहसो यहो
बलस्य पुत्र जातषेदः यदेतद् वाजः अन्नं गोमत् गोभिस्तद्भुत् तस्य र्पम्

१ ग. ‘समुत्तिरिति । गृत्तं’; च. ज. घ. झ. ट. ‘समुत्तिरिति’ । गृत्तं. २ क.
ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘र्पम् । गायत्री । आग्नेयी । अग्नी’; च. ‘र्पम् । अग्नी’ । गायत्री । २०
आग्नेयी । ३ क. ख. घ. झ. ट. ड. ‘च’ नास्ति. च. च. ४ ट. बलस्य. ५ क.
ख. घ. झ. ट. ठ. ड. यः अद्भु’. ६ क. ख. घ. झ. ट. ड. इदं नामतमार्कं;
च. इदं नामा इदं नामा. ७ ग. ‘विष्टयेति’ । धोरस्यार्पम्; च. ज. ‘विष्टयेति ।
धोरस्यार्पम्; घ. झ. ट. ‘विष्टयेति । विरू’. ८ क. ख. घ. झ. ट. ‘र्पम् । आग्नेयी ।
गायत्री । सा’; च. ‘र्पम् । सा’ आग्नेयी । गायत्री । ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. २५
‘नीलाग्नेयेऽना’. १० क. ख. घ. झ. ट. ड. याज्य’; ट यौज्यां । हे’ पाठशा. ११ च.
ज. घ. झ. ट. ‘मत इति । उष्णिक्’; ग. ‘मत् इति । उष्णिक्’. १२ क. ख.
घ. झ. ट. ठ. ड. ‘र्पम् । आग्नेयी । इष्ट’; च. ‘र्पम् । इष्ट’ आग्नेयी । १३ क.
ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘अपे’ नस्ति १४ च. ‘दन्नेत्येति स्मित्’ इत्यतः; ट. ठ.
ड. तस्यैतेनैत्येव त.

अस्य ईशानः ईश्वरः । यतो ब्रूमः । अस्मै अस्मानु धेहि स्थापय । अन-
पायि कुरुः तत् महि श्रमः महदेतत् श्रमो गवादि इत्येतदाशास्महे ।

- ‘ यथो एतत् ’ यत्पुनरेतदुक्तम् ‘अग्निं द्राविणोदसमाहेति’ । नेदमने-
नाभिप्रायेण इन्द्रात् अपं द्रविणोदसो जायत इति । किं तर्हि । ‘ ऋत्विजोऽत्रा’
एतस्मिन् द्राविणोदसैवेऽग्नेः ‘ उच्यन्ते ’ । ते पुनः कस्मात् । ‘ हविरो
दातारः ’ । देवानां हि हविर्द्राविणम् । तदेते ददत इति द्रविणोदस
एते । ततः किम् । ‘ ते चैनं जनयन्ति । ’
‘ निगमोऽपि ’ हि ‘ भवति ’ ऋत्विजामवमग्निः
पुत्र इति । तद्यथा । ‘ ऋषीणां पुत्रो अधिराज
एव इति ’ । ‘ अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टं ऋषीणां
पुत्रो अधिराज एवः । तस्मै विधेम हविषा
वैर्यं मा देवानां यूयुषाम भागधेयम् ’ (मैत्रा०
सं० १ । २ । ७) ॥ अनेन निर्मथ्योऽग्निर-
मिहूयते (मान० श्रौ० १ । ७ । १ । ४७) ।

- १५ यः एवः अधिराजः अधिकदीप्तिः अग्नौ आहवनीये निर्मथ्यः प्रविष्टः
चरति अलम् ऋषीणाम् ऋत्विजां पुत्रः तैर्मथितस्तस्मै विधेम सं परिच-
रामहे वयम् अनेन आज्येन हविषा । किमिति । मा देवानां यूयुषाम
भागधेयम् इति । प्राप्तमेतदभिहोमात्स्यं भागधेयं ‘ सुवेणामिजुहोति ’
(मान० श्रौ० १ । ७ । १ । ४७) इति शास्त्रतोऽस्त्वग्नेः । तस्य
२० मा यूयुषाम मा लोहपामेन्दतो विधेम । अथवा । अस्मै अग्नये दमः ।
विधतिर्दानकर्मापि भवति ।

(१ क. स. प. म. ट. ठ. ड. ' इति ' नास्ति. २ ग. ज. ' दातार अग्नेः ;
घ. ' दमो-अग्नेः ' इत्येव. ३ ग. ' राज इति, घ. ' राज- इति' एव; ज. ' राज
इति. ४ ग. घ. ज. घ. म. ट. ' विष्ट इति । अत्र ' (घ. पुत्रके सर्वा ऋषी
पदस्यपारिणभामे ट. पुत्रके अपभ्रान्तभावे लिख्यते). ५ घ. ट. ठ. ड. पुत्रेन.
६ क. स. प. म. ट. ठ. ड. ' नीये अग्निर्निर्म' ; ग. ज. ' नीयनिर्म' ; घ.
नीये + नि० अग्निः. ७ क. म. घ. म. ट. ठ. ड. ' ताऽऽपान्याप्याप्य देवाय
मा' ; घ. ' तोऽप्याग्नेः श. य. एतत् देवाय. ८ क. म. घ. म. ट. ठ. ड.
६९ ' इवे इतिर्दमः ; घ. ' इये-दमः ' शविः.

‘ यत्पुनरेतदुक्तम् ऋतुयाजेषु द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति ’ ‘ तेषां
 पुनः पात्रस्येन्द्रपानमिति समाख्या भवति ’
 पात्रस्येन्द्रपानमिति इति । एतदप्यकारणम् । कस्मात् । यस्मात्
 सम.ख्या गौणी ‘ मक्तिमात्रं भवति तत् ’ । गुणतः संगदः ।
 दुर्वद्य हि समाख्या यतः असाकर्थाः कृतश्चित् गुणानुवादः ‘ यथा ५
 प्रायव्यानीति सर्वेषां सोमपात्राणां ’ नानादेवतानामपि सताम् (तै० सं०
 ६ । ४ । ७ ॥ मैत्रा० सं० १ । ५ । ८) ।

‘ यद्यो एतत्सोमपानेनैनं स्तोतीति ’ । इदमप्यकारणम् । कस्मात् ।
 यस्मात् ‘ अस्मिन्नप्येतदुपपद्यते ’ सोमपानम् । कथमिति । ‘ सोमं पित्र
 मन्दसानो गणाश्रमिरेति ’ । ‘ अग्रे मरुद्भिः शुभयद्भिर्मेकाभिः सोमं १०
 अग्रावपि सोम- । पित्र मन्दसानो गणाश्रमिः । पात्रकेभिर्विश्वमि-
 पानमुपपद्यते न्वेभिरायुभिर्विश्वानर प्रदिवां केतुनां सजूः ’
 (ऋ० सं० ५ । ६० । ८) ॥ हे भगवन्नग्रे

वैश्वानर स्वमेभिः मरुद्भिः मितरोचिभिः अर्चिभिः शुभयद्भिः भवन्तम्
 ऋकाभिः रसहर्तृभिः गैणशो भवन्तमाश्रयद्भिः पात्रकेभिः पायवितृभिः विश्व- १५
 मिन्वेभिः सर्वमिदमगच्छद्भिः यद्गधुम् आयुभिः अयनशीलैः प्रदिवा चितं-
 तनैः केतुना प्रह्वया कर्मणा वा सजू. संयुक्तो मन्दसानः मोदमानः सोमं
 पिबेत्येतदाहास्महे । अर्चिषोऽत्र मरुतः । अन्यथा हानुदाहरणमेवैव मन्त्रो-
 ऽग्रेः सोमपाने स्यादितरैर्मरुद्भिः संबन्धात् । अर्चिषो वा मरुतः ।

‘ यद्यो एतद् द्राविणोदाः पिबतु द्राविणोदस इति । अस्यैव तद्भवति ’ । २०
 यत्पुनरेतदुक्तम् ऋतुयाजेषु ‘ द्राविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः ’ इति अस्य एव
 अग्रेः तद्भवति अग्रेऽपि सोममामित्वाद्गु-
 ऋतुयाजेषु अग्नि- याजेषु । भवति हि तेषु ‘ वनस्पते ०० द्राविणोदः
 रपि सोमभाक् पिब ऋतुभिः ’ (ऋ० सं० २ । ३७ ।

३) इति । वनस्पतिशब्दसामानाधिकरण्या सोमपानार्थे संबोधने द्रवि- २५

१ ग. अ. स्याद्गो. २ ग. ‘ वरुद्भिः । हे भग ’, च. ज. घ. झ. ट. ‘ वरुद्भिः ।
 हे भग ’. ३ क. ख. प. स. उ. ङ. गणभिभिः गणदाः; च. ‘ तृभिः-गण-गण-
 भिभिः. ४ ग. ज. ‘ गच्छन्ति यः ’; उ. ङ. ‘ हरामिदमगच्छद्भिः ’ नास्ति.
 ५ क. ख. घ. झ. ट. उ. ङ. ‘ इतः । अर्चिषो वा मरुतः । अन्य ’; च.
 ‘ स्तो कर्त्विषो वा मरुतः न्य ’. ६ क. ख. घ. झ. ट. उ. ङ. ‘ कर्त्विषो वा
 मरुतः । नास्ति, घ. ‘ न्यात् । कर्त्विषो वा मरुतः । यथा ’.

णोदसो विशेषणविशेष्यभावसामर्थ्यान्नान्यो वनस्पतेर्द्रविणोदाः । वनस्प-
तिश्च पुनरसंशयमग्निः । ' वहा देवत्रा दिधिषो हवींषि ' (मैत्रा० सं०
४ । १३ । ७ ॥ काठकमं० १८ । २१) इति हविर्वहनकर्मसं-
योगात्स्विष्टकृत्स्विकारश्रुतेश्च वनस्पतेः । तस्माद्भिर्द्रविणोदा नेन्द्रः ।

- ५ यत्पुनरेतदुक्तमिन्द्रार्थं सोमः संस्क्रियते तस्मादिन्द्र एव केवलः पाता
नान्य इति । नैतदेवम् । सोमो ह्यन्यस्यै देवतायै मीयतेऽन्यस्यै संस्क-
यतेऽन्याम्यथ गृह्यते ह्यते च । तथा ।
यद्यपि सोम इन्द्रार्थं ' अभि त्वं देवम् ' इति सावित्र्यै मीयते
संस्क्रियते तथापि सोऽ- (मैत्रा० सं० १ । २ । ९ ॥ ३ । ७ । ४ ॥
न्याम्यो देवताभ्यो गृह्यते मान० श्री० २ । १ । ४ । ३) ।
१० ह्यते च ' अंशुरशुष्टे ' इतीन्द्राय संस्क्रियते (मैत्रा० सं०
१ । २ । ७ ॥ मान० श्री० २ । २ । १ । १२) । पुनरपि च
मीयते ' इन्द्रापाभिमातिष्ठे ' इत्येवमादिना (मैत्रा० सं० १ । ३ ।
३ ॥ ४ । ५ । ४ ॥ मान० श्री० २ । ३ । ३ । ४) । नाना-
१५ देवताभ्यो गृह्यते च मित्रारहगाद्याभ्यः (मैत्रा० सं० १ । ३ । ४-
३६) । तथा च ह्यते । (मैत्रा० सं० १ । ३ । ४-३६) ।
तदेवं विधिवशाद्भिचित्रा सोमतन्त्रगतिः । तत्रैवं सपशक्यं यक्तुं यत्र
यत्र सोमस्तत्र तत्रेन्द्रः पातेति । संभुद्धे चाग्निरेन्द्रेण सह प्रत्यक्षमेन्द्राग्रे
रेन्द्राग्रे प्रहे अग्नि- प्रहे ' इन्द्राग्री भागतम् ' (मैत्रा० सं०
२० रपि इन्द्रेण सह सोमं १ । ३ । १७) । इत्यत्र । भवति चाभ्य-
संभुद्धे र्धमपि पृथग्ग्रहणं यजुषा सोमस्य ' अग्नये
त्वा रायसोर्वादाय ' (मैत्रा० सं० १ । ३ ।
३ ॥ ४ । ५ । ४ ।) इति । तस्मात्प्रतिरपि सोमस्य पाता स्याद्यये-
ह क्रतुपात्रेषु ॥ २ ॥

२५ १ क. म. प. ट. द. वट, ट. वशीं द. २ क. म. प. द. ट. ट. द.,
रागप क ; अ. एव-के अत्य. ३ म. ज. त विष्णुविभक्ति, अ. सावित्र्या विधीयते;
प. म. ट. द. त. लक्ष्मिणा अत्यरत्वा मीयते. ४ म. ज. 'रपि साप्यादने; अ.
पुनरप्योपने' वि अमी, अ. म. साप्यादने; इ वा; ट. 'साप्यादने' क मी. ५ क.
म. क. म. ट. द. द. 'सादिभिः; म. ज. 'सादिना देवताभ्यो'; अ. 'सादिभिः'
भिः. ६ क. म. व. म. ट. द. द. 'वने, वाय रसा'; अ. 'इतो देवापति' वाय तथा
इ. ७ क. म. ३ (२), म. ३; ट. द. ३ (ट. ' ३ ' क्रमिक) । इति त्रिष्ट-
२९ शीकाचमुत्तरादिदिशि पश्यन्ते दिशि तत्र ३, अ. वनस्पतेरुत्तरे वासि,

मेघन्तु ते वह्नयो येभिरीयसेऽरिषण्यन्वीलेयस्त्रां वनस्पते ।
 आयूया धृष्णो अभिगूर्या त्वं नेष्ट्रात्सोमं द्रविणोदः, पिवं ऋतुभिः
 (ऋ० सं० २।३।७।३) ॥ मेघन्तु ते वह्नयो वोदारो यैर्यास्यरि-
 ष्यन् दैदीभवायूय धृष्णो अभिगूर्य त्वं नेष्ट्रीयाद्विष्याद्विष्णो
 धिषण्यो धिषणाभवो धिषणा वाग् धिषेर्द्रधात्यर्थे धीसादिनीति
 वा धीसानिनीति वा वनस्पत इत्येनमाहैष हि वनानां पाता वा
 पात्यिता वा वनं वनोतेः पिवर्तुभिः कालैः ॥ ३ ॥

‘ मेघन्तु ते वह्नयः ’ इति । गृहसमदस्यार्थम् । ‘ त्रिमिदा खेहने ?
 (धा० ४ । १३) । तस्य लोटि मेघन्तु इति । हे भगवन् वनस्पते
 अत्र वनस्पतिः द्रविणोदः स्निह्यन्तु एते पुष्यन्तु ते तत्र वह्नयः
 द्रविणोदाः । स ऋतुभिः वोदारः अरुनाः येभिः ईयसे यैर्नित्यं गच्छसि
 सोमं पातुमाहूयते अरिषण्यन् अहिंस्यमानः केनचिदपि । स त्वमेगि-
 र्श्वैरागम्यं अस्मद्यज्ञं धीळपश्च दृढमात्मानं कुरुष्व
 सोममस्मत्प्रत्तं पातुम् । कथं चैनं पिव । आयूय औमिष्ठय अहुल्या । स
 हि पानपानां स्वमानो यदहुल्या मन्थनम् । हे धृष्णो वनस्पतां धर्यथितः
 अभिगूर्य अभ्युद्यम् ततो नेष्ट्रीयात् विष्ण्यात् सोमं नेष्ट्रा वपट्कृतं पिव
 ऋतुभिः कालैः सहेत्येतद्गमहे ।

१ क. न. उ. त. द. वीलय०. २ छ. त. व. शोत्हारो. ३ छ. त. द. दृन्दी-
 भव. ४ य. य. ठ. ड. विपर्तुभिः. ५ छ. ४ । प्रथमः पादः; त. ४ । इति प्रथमः
 पादः; द. ४ । इति नेरुक्ते उच्यतेऽस्य प्रथमाभ्यावस्य प्रथमः पादः. ६ ग. ‘द्वय
 इति । गृ०. ७ क. त. प. स. ट. ठ. ड. ‘र्वम् । जगती । ऋतव्या । त्रि’;
 न. ‘र्वम् । - त्रि’ जगती । ऋतव्या । ८ क. न. प. स. ट. ठ. ड. इति भवति
 हे. ९ क. स. प. स. ट. ठ. ड. ‘र्यम्’; प. ‘गम्ये’ तत्र. १० क. न. ग. न.
 ज. प. स. धीष्यन्त. ११ क. स. प. स. ट. ठ. ड. आनिष्ठय विधीह्यपादगुणा,
 प. ‘सोमोविधीह्यन्त्या’ य आमिष्ठय विधीह्यन्त्या. १२ अ. निरुक्तिम्.
 १२

‘ धिष्णो धिष्ण्यः’ । ‘ धिष्णा वाक्’ । तदर्थमसौ सायते । तस्य पश्चा-
दुपविष्टो होता संसति । धिष्णा कस्मात् ।
धिष्ण्यशब्दस्य ‘ धिषेः’ धातोः ‘ दधात्यर्थे’ वर्तमानस्य । सा हि
व्युपत्तिः वागर्थं धारयति शब्दार्थयोः संबन्धनित्यत्वात् ।

५ अथवा । ‘ धीसादिनीति वा धीसानिनीति वा’ । धीः प्रज्ञा कर्म वा । सा एत-
स्यां सीदति सनोति वा । संभजते इयं वा । तयोः सीदति सनोति वा
तन्निमित्तत्वात् । एवं धीशब्दात्पूर्वपदं सदेः सनोतिर्बोत्तरपदं धिष्णाश-
ब्दस्य विकल्पेन । ‘ वनस्पत इत्येनमाह’ द्रविणोदसम् । तस्मादेगिरित्वाभि-

वनस्पतिरग्निः ।

प्रायः । अथ कथमग्निर्वनस्पतिः । ‘ एष हि
वनानां पाता वा पालयिता वा’ । ‘ हि’ शब्दो
हेत्वर्थः । यस्मादेव वनानां वृक्षाणामन्तर्गतोऽपि
समर्थोऽपि दग्धुं न तानि दहति तस्मात्सै तेषां
पाता रक्षिता पालयिता वेति । केवलं धात्व-
न्यःवं स एवार्थः । अथ ‘ वनं’ कस्मात् ।

१० तस्मात् द्रविणोदा
अप्यग्निरेव

कथमग्निर्वनस्पतिः

१५ ‘ वनोतेः’ संभजनार्थस्य । तद्धि दार्वीदिप्रयोजनार्थं सेव्यते । पितृ
ऋतुभिः कालैः सहेति वाक्यशेषः ।

एवमयमग्निर्द्रविणोदाः मूक्तभागधविर्भाक्च । निपातमेवैतन्मध्यमं

एवं पार्थिवोऽग्निर्द्रवि-
णोदाः सुक्तभाक्
हविर्भाक्च

ज्योतिरेतेन नामधेयेन भजेतेति ।

२०

एष देवतापदविचारन्यायः सर्वत्र देवतापदविचारार्थं यथासंभवमुपा-
देयः प्रज्ञाईदृश्ये शिष्यस्येति ॥ ३ ॥

त्रैविदशाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

१ अ. ‘ धी’ नास्ति. २ क. ए घ. झ. ट. ठ. ड. वृक्षादीनामन्त°. ३ क.
ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘ तस्माद्वयं ते’; च. तस्मात्सै दयं. ४ ठ. ड. विपत्तुभिः.
५ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ज्योतिरुत्तमं च ज्योतिरेते°; च. ज्योतिरे° इत्तमं च
ज्योति. ६ च. भजेतेति° त इति. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. रायोर्य°. ८ क.
ख. घ. झ. ट. ठ. ड. प्रज्ञाविकृ°; च. प्रज्ञावृ° वि. ९ क. ख. ४ (३); ग. ४;
च. वर्जमितरेष्वङ्गो नास्ति. १० ग. इति त्रयो°; ठ. ड. °स्येति । इति त्रयोदशा
ध्यायस्य प्रथमः पादः । इति उत्तरपट्टे द्विती (ड. इति द्विती) याध्यायस्य तृतीयः
३२ रुण्डः.

अथात आमिय आमियः कस्मादाप्तोते; श्रीणातेर्वाप्रीभिरामी-
णातीति च ब्राह्मणं तासामिध्मः प्रथमागामी भवतीध्मः सभि-
न्धनात्तस्यैषा भवति ॥ ४ ॥

‘अथात आमियः’ । आमियः इष्मादीनि (निरु० ५ । २) वैकल्यानि ।
तानि पुनरमूनि प्रैषिके आप्रसक्ते (प्रयाजपैषाः १-१३) पाठक्रम-
आमिय इष्मादीनि । नियमाद्विवक्षितक्रमाणीनि देवतापदसामान्यायेऽपि
तानि विरक्षित- गृह्यमाणत्वात्पाठक्रमप्रयोजनस्य विरक्षितक्रमा-
क्रमाणि ण्येव । तत्रैतद्भवति । इमान्यप्यग्निजातवेदोऽश्वान-
रप्रभृतीनि वि विरक्षितक्रमाणि उत युगप-
दभिधानासंभवादर्थत एषा क्रम इति । तत्र विरक्षितक्रमाणीति केचित् ।
कथमिति । इह तावत्स्थानानि भूर्भुवःस्वरिति पाठानुपूर्वैव निरपतनीति
अग्निजातवेदोऽश्वान तस्थानिनामप्यन्यादीना स एव क्रमो गृह्यते । स
रप्रभृतीन्यपि पदानि गृह्यमाणो न न्याय्य उत्सृष्टमिति । अपि च । सति
विरक्षितक्रमाणि क्रमप्रयोजनेऽग्निः पृथिवीस्थानो यस्मादतस्तं
प्रथमं व्याख्यास्याम इति वचनमुपपद्यते । उत्तरत्र
च ‘तासामिध्मः प्रथमागामी भवति’ ‘तेषामश्वः प्रथमागामी’ (निरु०
९।१) ‘तेषा रथः प्रथमागामी भवति’ (निरु० ९ । ११) इति तत्र
तत्र प्रथमागामीति वचनं यथाप्रधानमभिधानं पूर्वं समाह्वतमित्यस्य
न्यायस्योत्पत्तिर्नार्थमिति लक्ष्यते । इतरथा ह्यविरक्षितक्रमेण प्रथमागामिवच-
नमकृत्वेव यकित्त्वपदमुपादेय्यात् । तदेतत्पृथिवीस्थाने सर्वत्र क्रमप्रयो-
जनमुच्यते । पार्थिवस्य ज्योतिषो यथा अग्निराग्नेन प्रतिहृतमः संवन्धो न

५

१०

१५

२०

१ क. ख. १ (४), छ. ५, त. द. १. २ ठ. ड. आमिय इति. ३ घ.
आमिये प्रीषु, ट आमिय°. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. निर्विक°. ५ क. ख.
घ. झ. ट. ठ. ड. इति हेतुव°. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. भवतीति तेषा°.
७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. °गामी भवति तेषा, ट घ. ट. ठ. ड. ‘तत्र’
सङ्घेव. ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. °गामी भवतीति वच°. १० ग. ज. °दणच-
देव तत्प°.

तथा जातवेदःशब्देन यथा जातवेदःशब्देन न तथा वैश्वानरशब्देन यथा
 पृथिवीस्थाने सर्व- वैश्वानरशब्देन न तथा द्रविणोदःशब्देन । तान्ये-
 त्र विवक्षित एव क्रमः तानि गुणविप्रकर्षात्प्रसिद्धिविप्रकर्षाच्चौघिशब्दा-
 द्विप्रकृष्यन्ते । इष्मादीनां तु व्यवधानेनाभ्यभि-

५ धानत्वमित्यतितरां विप्रकर्षः । अश्वप्रभृतयस्तु स्थानमात्रमग्रेर्भजन्त इति
 इष्मप्रभृतिभ्योऽपि विप्रकृष्यन्ते । तेषामपि चोदितप्रौणवृत्तयोऽश्वः शकु-
 निर्भण्डूका इति प्रथमम् (निरु० ५ । ३ । १-३) । अनुदितप्रौण-
 वृत्तयस्त्वश्वादयस्ते पश्चादाद्वन्द्वेभ्यः (निरु० ५ । ३ । ४-२८) ।
 इत्येवं सर्वत्र क्रमप्रयोजनमुपेक्ष्यम् ।

१० इतरयोः स्थानयो- शाकपूणिस्तु पृथिवीनामभ्य एवोपक्रम्य स्वय-
 रपि क्रमो विवक्षित मेन सर्वत्र क्रमप्रयोजनमाह । तदुक्तं वार्ति-
 इति शाकपूणिः ककारेण ' क्रमप्रयोजनं नाम्नां शाकपूण्युपलक्षि-
 तम् । प्रकल्पयेदन्यदपि न ज्ञानमवस्तादयेत् ' ॥

प्रकृतमिदानीमुपवर्णयते । इष्मादीनां गुणाभिर्धौनसामान्यं किञ्चिदस्ति
 १५ यतस्तेनाधिकारवचनम् ' अथात आप्रियः ' इति । ' अथ ' इति विशेष-
 याधिकारे । ' अतः ' इत्यानन्तर्ये । आप्रियो वक्ष्यन्त इति वाक्यशेषः ।
 इह कारणादभिधेयेऽभिधाननियमो नेक्तानाम् । तदर्थमुपोदित्य ' आ-
 प्रियः कस्मादाप्तोते प्रीणातेर्वा ' इति निराह ।
 आप्रीशब्दव्युत्पत्तिः आप्रिय ऋचस्तःसंबन्धोद्भवता अपि । तथाहि दर्श-

२० यति ' आप्रीभिराप्रौणानि ' (ऐ० ब्रा० ६ । ४) । ' इतीमा आप्रीदि-
 वताः ' (निरु० ८ । २१) इति । ऋचस्ताव-
 आप्रीशब्देन ऋचो यस्तुभूतिः प्रीणन्ति वा देवता इत्याप्रियः । अथ
 देवताश्चाभिधीयन्ते पुनर्देवता आप्यन्ते आप्रीयन्ते वा इत्याप्रियः ।

' तासामिष्मः प्रथमागामी भवति ' । प्रथममागन्तुमस्याप्रिदेवतापद-
 समाप्तौपे शील्यमिति प्रथमागामी । कस्मात् । तत्पूर्ववादिज्याया अनित्य-

१ क. स. प. स. ट. उ. उ. यथा च वे. २ क. ७. 'षाच्योप्रि' वा. ३ क.
 स. स. 'दिनरमागृ' ; ट. 'दिनरेषेण' वा. ४ प. स. ट. उ. उ. 'धनं षा'.
 ५ क. स. प. स. ट. इति प. ६ क. स. प. स. ट. उ. तत्पूर्ववादि' ; च.
 १९ तत्पूर्ववादिज्याया' ज्या.

त्वञ्च ; तनूनपाजराशसयोरन्यतरस्य । ' तस्य ' इभस्य समि कृत्वापस्य
 ' एषा ' - प्राधान्यस्तुतिः ' भवति ' ॥ ४ ॥

समिद्धो अथ मनुषो दुरोणे देवो देवान्यजसि जातवेदः ।
 आ च वह मित्रमहश्चिकित्वांस्त्वं दूत कविरसि प्रचेताः (क० ५
 स० १० । ११० । १) ॥ समिद्धोऽथ मनुष्यस्य मनुष्यस्य गृहे
 देवो देवान्यजसि जातवेद आ च वह मित्रमहश्चिकित्वांश्चेतना-
 वांस्त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः प्रवृद्धचेता यज्ञेभ्य इति कार्त्थैकयोऽ-
 ग्निरिति शाकपूणिस्तनूनपादाज्यं भवति नपादित्यननन्तरायाः
 प्रजाया नामधेयं निर्णततमा भवति गौरत्र तनूरुच्यते तता १०
 अस्या भोगास्तस्या पयो जायते पयस आज्य जायतेऽग्निरिति
 शाकपूणिरपोऽत्र तन्व उच्यन्ते तता अन्तरिक्षे ताभ्य ओप-
 धिवनस्पतयो जायन्त ओपधिवनस्पतिभ्य एष जायते तस्यैषा
 भवति ॥ ५ ॥

१५

' समिद्धो अथ मनुषो दुरोणे ' इति । जमदग्नेर्यम् । सूक्तमेवाहीमिषं
 यास्कः । हे इभ यस्य समिद्ध सदीप्त, अथ एतस्मिन् निशिष्टे यजनीयेऽ-
 हनि मनुषो मनुष्यस्य मनुष्यस्य समानेऽहनि प्रनृत्तयार्गाना दुरोणे यज्ञ-
 इप्सोऽग्निमद्वर्ष्यते गृहे देवो दाता हविषा हेतुकर्तृत्वेन देवो दीप्तो
 वा द्यौननो वा देवान् दानादिगुणयुक्तान् एतान् २०
 हेतुकर्तृत्वेन द्यौगाङ्गमानमुपगच्छन् यजसि हे जातवेद । जातवेदस

१ क. ख. १ (४), ग. ५, उ ड. ' वनि । इने नि० कर्त्तृकायमुत्तरपदे द्वितीया-
 ध्याये चतुर्थे खण्डः । ४ । (उ ' ४ ' नास्ति), च वर्जमिनरेषद्भो नास्ति. २ क.
 ख उ. त द. ' दे० अप. उ उ द् काच्छदयो', त. काच्छदयो' घ. ४ उ.
 त. द. ' आज्य भवति ' नास्ति ५ क. ख. २ (५) उ. ६; त. द. २. ६ ग. २५
 इति' । जम'. ५ क. ख. व. झ. ट. ठ. ड. ' र्थम् । वेदुभम् । सू'; घ. र्थम् ।
 सू' श्रेष्ठम् । ८ ग. ज. ' आहोत्रेय पाररु ' नास्ति, घ. भेदे ' हे' बोहाप्रथ यास्क .
 १ ग. ज. ' मनुष्यस्य ' इच्छदव, घ. मनुष्यस्य - तमा' मनुष्यस्य १० क.
 ख. घ. झ. ट ठ. ड. ' गानां श्रेष्ठिकाना दुः' ; घ ' गाना - दु' श्रेष्ठिकानां.
 ११ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड योऽद्भ', घ. योऽद्भ' भेऽ.

२५

२०

आधार इति तदभिधानेन संबोध्यते । दृष्टा हि मञ्चस्थेषु क्रोशस्तु तदभिधान-
 नप्राप्तिः । अथवा । जातवेदा अपि त्वदृतेऽनभिष्यैक्तस्वशक्तिः । स्वदाधारत्वा-
 दशक्त एवायं यष्टुम् । तस्माज्जातवेदास्वदाधारो यजति यत्तत्त्वमेव यज-
 सीत्युच्यते । अस्माकमप्येतस्मिन्नहनि हे मित्रमहः मित्राणां पूजयितः
 ५ नित्यमभ्यैपेक्षमाण उपकारप्रवृत्तो यजमानानां विकित्वान् जानानः आ-
 च वह आह्वय च देवानाह्वय चैतान्यज तथास्मिन्कर्मणि उल्लङ्घनभाव-
 मुपोहि यथैतस्मिन्कर्मणि हविः प्रतिजिघृक्षन्तोऽङ्गभावमीयुर्देवाः । अपि च ।
 नैतदतिचित्रं यदेवमस्माकमस्मिन्कर्मणि वर्तेथाः । किं कारणम् । यतो
 १० ब्रूमः । तं दत्तः कविरसि प्रचेताः । अन्यावेशादग्निरदपेक्षोच्यसे । त्वमेव
 दत्तः सर्वयजमानानां त्वैपूर्वकत्वाद्देवतायागस्य कविः क्रान्तदर्शनः क्रान्त-
 प्रकाशः सर्वत्र प्रचेताः प्रकृष्टप्रज्ञानः । यस्मात्त्वमृत्विग्जमानानां
 सौफल्ये हेतुस्तस्य तत्र युक्तमस्माकमाह्वय देवान्यष्टुमियतो ब्रूमहे आह्वय
 चास्माकं देवान्यज च ।

‘ यज्ञेष्म इति कात्येकरः ’ । कैथरुस्य पुत्रः कैथक्य आचार्यः ।

१५

इष्मो यज्ञेष्म इति
कात्येकरः

स मन्यते । योऽयमिष्म आधीयते प्रतिप्रणवमिष्मो
यज्ञे स एवायमिति । नन्वेतस्मिन्मन्त्रे न तस्य
लिङ्गमस्ति । सयं नास्ति सङ्घात् । प्रिये तु

‘ समिद्धयः प्रेष्या ’ (मान० श्रौ० १ । ८ । ३ । १७) इति
श्रूयते । युक्तं च यदर्थमेव प्रेष्यते स एवेज्यते । तस्मात्समिधामेवेष्मभा-

- २० १ ग. ज व्यक्तस्य शक्तिः, च° व्यक्तस्य शक्तिः° स्व. २ ग. ज. °रत्वात् शक्तिं
 अशक्त°. ३ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. नित्यमभ्युपेक्षणं उप; ख. नित्यमभ्यु-
 क्षमाणोपहार° म्यु. ४ ग. ज. °वृषे जयया°; ख. जयया° यज. ५ ख. पुस्तके तत्पू-
 र्वेत्वादि यजमानानामित्यन्तपरस्परपरिवर्तनाद्ये लिख्ये. ६ ग. ज. मृगयज°. ७ क.
 ख. घ. ङ. ट. ठ. सापुत्र्ये, ट. सापुत्र्ये° कटे. ८ ख. यज्ञे इष्म°. ९ ग. घ. ट.
 काठक्यः; ख. काथक्यः° घ, ज. काथक्यः; छ. काठक्यः. १० ग. ख. ज.
 कथक्यस्य, घ. ङ. ट. काठक्य. ११ ग. ज. काथक्यः; काथक्यः° त्थ; घ. ङ.
 २७ ट. काठक्यः. १२ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. ‘उष्म, ’ नास्ति.

वमुपगतानां संदीतानां समुदायापेक्षंभिर्दं व्यवहितमभिधानमाप्रीगतं
 'समिद्धो अद्य' इति । समिध एव चेमा इत्यन्त इति स्फुटमैष्टिकं हौत्रे ।
 'समिधो यज' इति (मान० श्रौ० १ । ३ । २ । २) प्रेषितो
 होता 'समिधः समिधो अग्र आजवस्य व्यन्तु' (आश्व० श्रौ० १ । ५)
 इति वपट्करोति । तस्माद्युक्तं यत्कौत्थक्यो मन्यते यज्ञेष्म इति ।

५

अथ पुनरन्यः कथं मन्यते । यत आह 'अग्निरेति शाकपूणिः' । स
 पुनः कयोपपत्त्याग्निं मन्यते । आराद्रुपका-
 रिःत्वात्पैपस्य संनिपत्योपकारित्वाच्च यजतावाग्निं
 यदाप्रीरूपं तद्वृत्तवत् । किंच पुनराग्निं रूपम् ।
 अन्यर्थता । कथमिति । शृणु । 'समिद्धो

१०

यस्मात् आप्रियो-
 अन्यर्थाः
 देवान्यजति जातवेदो मित्रमहाश्विकिच्यौन्
 त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः' इति सर्वाण्ये-
 तानि अभिधानानि कर्माणि चागौगान्याग्निपक्षे गौणानीष्मपक्षे । 'गौण-
 मुख्ययोश्च मुख्ये संप्रत्ययः' इति न्यायः । तस्मादप्रच्युतस्वरूपाया
 आप्रियो यजतावुपकारत्वाद्बहुल्यादाग्नेयत्वाच्च प्रयाजानामग्निरेवायमनयाप्रिया
 इत्यत इति शाकपूणिर्मन्यते ।

१५

वास्वस्यापि चैतदेव मतम् । 'आग्नेर्या इति तु स्थितिः' इत्यधिक-
 शाकपूणिमतं या रणान्ते हि वक्ष्यति (निरु० ८ । २२) ।
 स्कस्य संमतम् एवं तर्ह्यग्निरेत्येतदेव समाभ्नातव्यमासीन्नेष्म
 इति । नैवम् । कस्मात् । समिद्धो अद्येतद-
 स्यामाप्रियामग्नेर्लिङ्गमस्ति न त्वग्निशब्दः । अतोऽस्यासामानो नम् । पौनर-
 क्त्यदोषाच्च । तंदिष्मशब्देऽपि समानमिति चेत्तेशपि ह्यपियां नास्तीति ।
 न । प्रैपिके सामान्तीनात्क्रियाविशेषितत्वाच्च । अगतस्तेनेष्माभिधानेनेत्यत
 इति इष्मशब्दः सामान्नातो नाग्निशब्द इति । सर्वत्र शाकपूणेरेवमाप्रीष्म-
 न्यर्थान्यभिधानानि ।

२०

१ क. ७. प. झ. ट. ठ. 'तानामग्निना सं; च. ताना ~ सं' अग्निना. २५
 २ ग. ज. 'दायोपेक्षामि'. ३ ग. ज. 'नेष्टिहीत्रे. ४ ग. च. ज. 'त्वापक्यो;
 ५. झ. ट. 'स्फुटप्रयो. ५ ग. च. ज. 'क्षिता त्व. ६ ग. ज. झ. यत्क'. ७ क.
 ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'देवाभिमतम्. ८ प. आग्नेय ~ तु' इति. ९ ग. ज. ठ.
 ड. 'न्यातं; च. ध्वतं पौन' जं. १० च. ट. तदिष्म'. ११ च. ट. तद्वि'.
 १२ ग. ज. 'न्यानात्. विशिपिन'. १३ क. ख. ग. ज. घ. झ. ट. ठ. ड.
 'त्वाश्च आहूय (ग. च. आहूय) चास्माकं देवान्यज वेति । स एवोऽग्निः स
 निष्कलापमिष्मशब्देनाभिधेयमस्तिदास्यतामुपगतस्तेना'; च. आग्नेतः 'आहूय
 मुपगतः ; अयं पादः एवस्वपरितनभान्ने लिख्यते.

शाकपूणिपक्षे मन्त्रयोजना । हे भगवन्नमो समिद्धः यस्त्वं संदीप्तः
 अथ अस्मिन्नहनि मैनुषो मनुष्यस्य दुरोणे यहगृहे देवो दाता दीपनः
 शाकपूणिपक्षे
 ५ मन्त्रार्थः, द्योतनो वा देवान् दानून् दीप्तान् वा यजसि
 जातपेदः हृदिषा यजमानाना जातप्रज्ञानः स
 त्वमस्माकमपि हे मित्रमर्हः मित्राणामुपकारप्रवृत्त
 चिन्तित्वान् जानानः स्वमधिकारमाह्वय देव न्यज चेति । किमित्येवं श्रुमहे ।
 यस्मात्प्रेमेन दत्तः सर्वयजमानाना भरसि कविः क्रान्तदर्शनः प्रचेताः
 प्रवृद्धप्रज्ञान इति ।

१० 'तनूनपात्' (निरु० ५ । २ । ३) इति निर्यक्तव्यम् । तत्पुन-
 रेनत् 'आग्यम्' इति कौत्थक्य । 'अग्निरिति शाकपूणिः' । यथा ताव-
 तानूनपात् आग्य-
 मिति काथक्यः दास्य तथा निर्ययते । 'नयादिति अननन्तरायाः
 प्रजायाः ' एतत् ' नामदेयम्' । या पितृन-
 न्तरा पुत्रारया र्त्ता । अननन्तरा पुत्रारयेत्यर्थः ।

१५ किं कारणम् । सा हि 'निर्गतत्वम्' भरति । पुत्रस्तावत्पितृनीचैर्नतो
 भवति । ततोऽपि नीचैर्नतत्वम्, पीत्रः । तन्नैतस्मिन्पक्षे यः 'तनु'शब्दः
 पूर्वपद तनूनपात्पठ्यस्य तेन 'गो'र्यने । 'क'स्मात् । 'सता अस्या
 भोगाः' क्षीरदद्यादय । तन- किम् । 'सस्य' पयो जायते । तस्याः
 पुत्रः । 'सस्य अत्रं जायते' । तस्मात्पयोः पीत्रः । एवं तै-द्वान्याया
 नयत् आग्यम् । तस्मात्तनूनपात् ।

२० अग्निरथे 'अपोऽत्र' अग्निर्नानेत्तनूनपात्ते 'त-त्र' उच्यते । ताः
 अग्निरिति शाकपूणि, पयसः । 'सता अग्निरथे' । सतः विम् ।
 'साम्य' अर्धधनस्यपयो जायते । ओषधि-
 वनस्यस्य र्त्ता जायते । तस्मात्पयसः पीत्रः । 'सस्य' तनूनपातः
 आग्यस्य अर्धधनं दद्यादस्यति 'स्य' भवति ॥ ५ ॥

तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान्मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व ।
 मन्मानि धीभिरुत यज्ञपुन्धन्देवचा चं कृणुह्यध्वरंनः (ऋ० सं०
 १०। ११०। २) ॥ तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान्यज्ञस्य यानान्म-
 धुना समञ्जन्त्स्वदय करयाणजिह्व मन्मानि च नो धीभिर्यज्ञं च
 समर्धय देवास्तौ यज्ञं गमय नैराशंसो यज्ञं इति कौत्थक्यो नरः ५
 अस्मिन्नासीनाः शंसन्त्यग्निरिति शारूपूणिर्नरैः मक्षस्यो भवति
 त्तस्यैषा भवति ॥ ६ ॥

‘तनूनपात्पथ ऋतस्य’ इति । हे तनूनपात् आश्व त्वमुष्यते ।
 एतान् पथो मार्गान् सरान् ऋतस्य यज्ञस्य यानान् । ह्योषि यज्ञे यान्ति ।
 अस्यामृचि तनून- उत्सर्षन्ति । मैत्रा मधुरेण स्वादेन समञ्जन् संर्ष-
 पात्संबोष्यते क्षयन् स्वदय स्वादुतामापादय हे सुजिह्व
 जिह्वया हित । एवं कुर्वन् मन्मानि धीभिः
 वेपं मन्यामहेऽर्धयस्तुनि धुनाष्येतानि नै सुरिति तानि तानि धीभिः
 र्वैः कर्मभिः अभिचरणादंकरणोपस्तरणादिभिः ऋन्धन् ससाधयन् १५
 स्वगुणैरुपकुर्वन् समर्धय । संपादयेन्नपि चेतं यज्ञं समर्धय संपादय । या
 कांचिदापदुत्पद्यते यज्ञस्य तां प्रायश्चित्तेनाङ्गमावमुपगच्छन् गमय देवत्रो
 देवान् मति । शिव्यमैरमस्याकं च कुरुध्वैर्यथैः । एतदाशास्महे त्वत्तः ।

१. उ. मन्मानि. २. उ. नात्. ३. उ. द काच्छक्यो, त. काच्छक्यो
 थ. ४. क. ख. १ (६), उ. ५; त. द. उ. ५ म. स्थिति । हे. २०
 ६ ग. झ. याति; घ. ठ. ड. ज. यानि; ट. यानि यानि. ७ क. ख.
 घ. झ. ट. उ. ड. तानि मन्मा; च. न्ति । मन्मा तानि. ८ क. ख.
 सरस; ग. ग. घ. झ. ट. ठ. ड. सप्रस. ९ च. ट मिश्रयो प्याय, ठ. ड.
 जिह्वाय. १० क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. एनदेव, घ. ए-वं तदे. ११ क. ख.
 घ. झ. ट. ठ. ड. मन्मानि मनन नि वा, च. मन्मानि वा मन्मानि. १२ क.
 ख. घ. झ. ट. ठ. ड. यानि ययय; च. यानि-यं घ. १३ क. ख. घ. झ. ट. ठ.
 न, च. नै इयुं तः. १४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. तानि स्वाभिः धीभि; च तानि
 तानि. १५ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. समर्धय संपादय । अवि. १६ क. ख.
 घ. झ. ट. ड. चैव कुचिन् यं, च. चै-तं व कुचिन्.
 १४

‘ अग्निरिति शाकपूणिः ’ । हे भगवन्मग्रे तनुनपात् त्वम् एतान्

शाकपूणिमते
मन्त्रार्थः

पथः ऋतस्य यज्ञस्य यानान् हवींषि मध्वा
मधुरेण पाककृतेन रसेन सम्भञ्जन् समभिञ्ज-
यन् स्वदय मृष्टीकुरु हे मुजिह्व स्वर्चिः अधवा हे

५ भुषाक । एनान्येषं कुर्वन्नस्मदभिमतान्यर्थस्तूनि नः संसाधयन् यज्ञम् ऋन्धन्
समर्धयन् स्वसामर्थ्याच्च देवत्र देवप्रविष्टं कुर्वित्येतदाशास्महे वयं त्वत्त इति ।

‘ नराशंसः (४) यज्ञ इति कात्थक्यः ’ । कस्मात् । ‘ नराः अस्मि-
न्नासीनाः शसन्ति ’ । नरशब्दः पूर्वपरम् ।

१० नर शंसो यज्ञ इति कात्थक्यः
आसेर्निष्ठान्तस्य मध्यम् । शंसतेरुत्तरपरम् । अध
काऽर्थः । नराः मनुष्याः अस्मिन्नासीना उप-

विष्टाः शंसन्ति इति नराशंसः । ‘ अग्निरिति शाकपूणिः ’ । स कस्मात् ।

अग्निरिति शाकपूणिः
‘ नरैः प्रशस्यः ’ स्तुभ्यो ‘ भवति ’ । ‘ तस्य ’
नराशंसस्य ‘ एषा भवति ’ प्राधान्यस्तुतिः ॥ ६ ॥

१५ नराशंसस्य महिमानमेवामुपुं स्तोपाम यजतस्य यज्ञैः । ये
सुकृतवः शुचयो धियन्थाः स्वदन्ति देवा उभयानि हव्या
(ऋ० सं० ७ । २ । २) ॥ नराशंसस्य महिमानमेवामुपस्तुमो
यज्ञियस्य यज्ञैर्षे सुकर्माणः शुचयो धियं धारयितारः स्वदपन्तु
देवा उभयानि हवींषि सांभं चेताराणि चेति वा तान्त्राणि
२० चात्रापिकानि चेति वेर्ले ईष्टेः स्तुतिकर्मण इन्धतेर्वा तस्यैषा
भवति ॥ ७ ॥

१ ग. ज. 'अग्निर्' । २ ग. ए. अ. वायक्यः, च. इ. ट. वायक्यः. ३ क. ल.
४ (६), ग. ७, ट. द. 'स्तुतिः' इति निरुद्धीकायामुत्तरपरद्वये द्वितीयाध्याये
(उ. रि०) ४४-४५. च. वज्रिन्धुना नास्ति. ४ क. ल. उ. त. द. वेत् ६.
५ क. ल. ४ (७), छ. ट. न. द. ४.

‘ नराशंसस्य महिमानमेवाम् ’ इति । वर्तमान एव कर्मणि व्रवीति ।
 यज्ञः इति मते योऽयमेवामभिमतफलदाता नराणां नराशंसो
 मन्त्रबोजना यज्ञो ब्रह्मदेवतत्यागत्मकः प्रयोगस्तस्याधिष्ठाता ।
 तद्व्यग्रीं देवताविशेषे जगद्गुत्पत्यनुग्रहवीजम् ।

नराशंसस्य वयम् उपस्तुमः उपगम्य चेतसा महिमानं माहाभायं
 विभृतिं स्तुमः अभिकीर्तयामः यजतस्य यज्ञियस्य यजनस्यै संपादयितुः
 प्रयोक्तुरभिमतफलसंपादयितुः यज्ञैः कर्मभिः युक्ता उपस्तुमः । तदेवमेत-
 स्मिन्नुपस्थितमहिम्नि नराशंसे यज्ञे किमप्यस्त्विवाशास्महे । ये मुकृतयः
 मुकृतकर्माणो जगदनुग्रहप्रवृत्ताः शुचयः निर्णिक्ततरपायाः धियंघाः
 स्वधिकारस्युक्तानां कर्मणाम् अनुविधारयितारः प्रज्ञानां वा । एवमादिमुर्णा

उभयानि हवींषि देवाः ईदन्ति आश्वाद्यन्तुं एतानि हवींषि
 सोमं चेताराणि च । उभयानि । यदि सौमिकः पशुस्ततः ‘ सामं
 अथवा ताब्राणि आ- चेताराणि ’ च पशुपुरोडाशधानापभृतीनि ।
 यापिकानि च अथ पृथक्सोमात् ‘ ताब्राणि प्रयाजाज्यभाग-
 हवींषि । इथेतदाशास्महे । स्विष्टकृत्प्रभृतीनि ‘ आवापिकानि च ’ प्रवान-

‘ अग्निरिति शाकपूणिः ’ । योऽयमेवामभिमतोपकारकारी नराणां
 अग्निरिति मते प्रशस्यो नराशंसोऽभिस्तस्य वयम् उपस्तुमः
 महिमानं यजतस्य यज्ञसंपादयितुः यज्ञैः कर्मभिः
 दैर्नैर्वा युक्ताः । तस्मिन्नुपस्तुतेमहिम्नि नराशंस्यग्रीं इतानि ये मुकृ-
 तयो देवाः शुचयो धियंघाः ते एतानि उभयानि हवींष्याश्वाद्यन्तिव-
 स्येतदाशास्महे ।

१ ग. इति । वर्त । २ ग. ज. चेतस्य; ठ. चेतसां चेतस्य. ३ ग. व. ज.
 सा महा. ४ न. ज. विभृती; च. विभृतिः स्तुं नि. ५ क. ल. प. झ. ट. ठ.
 ६ यजनसंघा; च. यजनस्य ६ च. ट. तदेव अत ए. ७ ग. ज. ‘ उपस्तुमः; २५
 च. ट. ‘ उपस्तुमः ’ स्तु. ८ क. ल. व. झ. ट. ठ. ड. ‘ उपस्तुमादेः ’ च. ‘ मुर्णा’
 गयुक्ता. ९ क. न. घ. झ. ट. ठ ड देवाते स्व; ग. ज. स्वदन्तिवासा; च.
 देवाः स्व ते. १० च. दधन्ति. ११ क. ल. ग. घ. झ. झ. ‘ च ’ नास्ति.
 १२ ग. ज. नरा; च. गीरा न. १३ क. ल. प. झ. ट. ठ. ड. उपस्तुमः
 उपस्तुमः; च उपस्तुमः स्वोपम उप. १४ क ल घ. झ. ट. ठ. ड. तदुक्ताः;
 च. ‘ तदुक्ताः ’ घं. १५ ग. ज. ‘ स्तुते म . .

‘ ईळः ’ (५) अग्निः । स पुनरयम् ‘ ईष्टेः स्तुतिकर्मणः ’ (घा० २ ।
 ईळसन्दस्य न्युत्पत्तिः ९) । स्तुयते ह्यसौ । ‘ इन्धतेर्वा ’ दीपना-
 र्थस्य (घा० ७ । ११) । तत्क्रियायुक्तो
 ह्यसौ । ‘ तस्यैवा ’ प्राधान्यस्तुतिः ‘ भवति ’ ॥ ७ ॥

५

आजुह्वान ईष्ट्यो वन्द्यश्चा यांस्तमे यमुंभिः सजोपाः । त्वं
 देवानामसि यद्द होता स एनान्यक्षीपितो यजीयान् (ऋ० सं०
 १० । ११० । ३) ॥ आहूयमान ईळितव्यो वन्दितव्यश्चायास्तमे
 वगुभिः सहजोपणस्त्वं देवानामसि यद्द होता -यद्द इति महतो
 १० नामधेयं यातश्च हूतश्च भवति । स एनान्यक्षीपितो यजीयान् ।
 इपितः भेषित इति चाधीष्ट इति वा यजीयान्यष्टृत्तरो बर्हिः पारि-
 र्धर्षणात्तस्यैवा भवति ॥ ८ ॥

आजुह्वान ईष्ट्यो वन्द्यभेति । हे भगवन्ममे यस्त्वम् ईष्ट्यो वन्द्यश्च
 १५ ईळः सर्वलोकस्य । ईष्ट्यो दीपनाहो हविर्भिराग्न्य
 दिभिः । वन्द्यः स्तुत्यः । स त्वम् आजुह्वानः
 आहूयमानः एतस्मिन्कर्मण्यसामभिः वगुभिः सहजोपणः समानप्रतिभूत्वा
 आयाहि । यस्मात्पुनरेवं मूमेहे । इतः यस्मात् हे यद्द महन् स्वमसि होता
 देवानाम् अह्नाता । सः त्वमग्नाभिः इपितः भेषितः अधीष्टे वा
 २० अधेषितो होतृभ्ये स्थित्वा अग्नाकम् ऐतान् देवान् पश्चि यर्ज । क्रिमिन्यं
 मूमेहे । यस्मात् यजीयान् अग्नि । यजीयान् यष्टृत्तरो मनुष्यहोतुरिति ।
 १६ ‘ इटः ’ इत्येकवचनप्रत्ययधामेन । तथैतस्मिन्मध्ये एकवच
 श्रुत्वात् । ऐष्टिके पुनर्हन्ति ‘ इटो अत्र
 २५ अग्नस्य व्यन्तु ’ (आश्व० श्रौ० १ । ५)
 इति बहुवचनयुक्तद्राघ्यानाद् ‘ व्यन्तु ’ इत्येतरमात्

१ क. ल. ग. च. ज. घ. ङ. इलोभ्रिः. २ क. ल. (७), ग. ८, उ.
 ट. ९ मि । इति निःकटीकायामुत्पत्तये विनीयाध्याये क्तवः लृटः (क.
 ‘ लृटे २ एते ७ लृटः); च. चर्मिर्वाण्डो नाभि. ३ क. ल. छ. ग. घ.
 इति. ४ क. ल. ५ (८), छ. १; ग. घ. ५ ग. ‘ भेति । टे ’; उ. ट.
 आशुत्वात् इति. ५ ग. ङ. ईपित्वाग्नाहविर्गादिभिः । ६; उ. ट. इतिनाहो-
 रिति. ७ क. ल. घ. ट. एतात्. ८ क. ल. घ. ट. ‘ दत्त इत्येव लृटे ।
 २२ वि; च. ‘ दत्त - इति ’ इति ३ ग.

‘इडः’ इत्येतस्यापि बहुवचनत्वमेव ‘इडो व्यन्तु’ इति । तत्र पुनरनाभिधानम् । अन्नं च पुनरोपधय एव । ताश्च पृथिवीस्थानाः इत्यग्निं भजन्ते । तदात्मनायमाग्निरिज्यत इति । तत्र बहुवचनं प्रति समाधानमोपध्यात्मनाग्नेर्व्यवधानात् । उक्तं च ‘योऽयमृचिसे पृथिव्यामग्निरेतरोपधिवनस्पतिष्वसु तमुचिन्विशुः सर्वगणं सर्वनामानम्’ (निरु० ६ । ३६) इति तस्मादुपपद्यत इति ।

‘वर्हिः’ (६) इति वैकल्प्यम् । तत्पुनरेतत्प्रसिद्धमेव कुशमयं यज्ञाङ्गम् । तत्कस्माद्बर्हिरित्युच्यते । ‘परिबर्हणात्’ परिच्छेदनात् । लूनं हि तद्भवति परिच्छेदं वा । ‘तस्यैवा’ बर्हिवः बर्हिःशब्दस्य व्युत्पत्तिः प्रावान्यस्तुतिः ‘भवति’ ॥ ८ ॥

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशां पृथिव्यां वस्तोरस्या वृज्यते अग्ने अङ्गाम् । ध्यु मयते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम् (ऋ० सं० १० । ११० । ४) ॥ प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वसनायास्याः प्रवृज्यतेऽग्नेऽङ्गं बर्हिः पूर्वाङ्गे तद्विप्रयते वितरं वितीर्णतरमिति वा विस्तीर्णतरमिति वा वरीयो वरतरमुक्ततरं वा देवेभ्यश्चादितये च स्योनं स्योनमिति सुखनाम स्यतेरवस्यन्त्येतत्सेवितव्यं भवतीति वा द्वारो जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वा तासामेवा भवति ॥ ९ ॥

प्राचीनं बर्हिरिति । प्राच्यां दिशि पदमितं गतं जातं प्रागग्रं वा यस्तीर्यते तद्भवति प्राचीनम् । किं पुनस्तत् । बर्हिः । प्रवृज्यते प्रच्छिद्यते द्युते । अथवा ।

प्रवृज्यते मस्तीर्यते । किं पुनरेव स्वमनीषिकया । नेत्युच्यते । प्रदिशा

१ क. ख. ग. घ. ङ. च. झ. इल इ°. २ च. ज. ट. ड. 'न्तरीर'.
३ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. निर्वृतव्यं. ४ क. ख. ५ (८), ग. १; ट. ठ.
'वति । इति निरुक्तटीकायामुत्तरवर्गके द्वितीयाध्याये अष्टमः खण्डः (न. उत्तराध्याय-
दि. ७ खण्डः), अ. वर्जितोत्पद्यो नास्ति. ५ क. ख. छ. त. 'ज्यते अग्ने
अङ्गः; ट. व. 'ज्योऽग्ने अङ्गः'. ६ क. ख. छ. त. द. विरिगं. ७ क. ख. ६
(०); छ. १०; त. द. ६. ८ ग. 'तिरे' । मा°. ९ क. ग. घ. ङ. ट.
'रेवमेव स', प 'रेव - स' मेव.

विधिवान्वयेन । ' प्रागुदम्बा बर्हिश्छिनत्ति ' । तस्सामर्थ्यात् । अथवा ।
प्रदिशा भन्त्रेण ' देवस्य त्वा ' (मैत्रा० सं० १ । १ । २) इत्यनेन ।
स्तरणपक्षेऽपि । ' प्राचीनं बर्हिः स्तृणाति ' इति विविधान्वयम् । ' ऊर्ण-
म्रदा वि प्रथस्य ' (ऋ० सं० ५ । ५ । ४) इति मन्त्रः । किमर्थं पुन-

- ५ स्तःप्रवृज्यते । पृथिव्याः वस्तोरस्याः । पृथिवी वेदिः । तस्याः यस्तोः वस-
नाय आच्छादनाय । कंडा पुनस्तःप्रवृज्यते । अग्रे अह्ना पूर्वाह्ने । तदा हि
प्रशास्यते दर्भस्तरणं लवनं वा । तत्प्रवृक्तं प्रस्तीयमाणं वा यथाकालं
विवेधं प्रथते । वितर विस्तीर्णादपि विस्तीर्णतरं वरीयो वरतरम् अन्येभ्यो
यज्ञाभ्यः श्रेष्ठतरं तदाधारत्वाद्भवियाम् । उरुतर बहुतरं वा । किमर्थं
१० पुनस्तःप्रवृज्यते विप्रथते वा । देयेभ्यश्च अदितये च कथं नाम स्येभ्यं
मुखं स्यादिति । बर्हिषा हि सगुणीकृतात्कर्मणो देवानां हविर्दानुणां
यजमानानामभीप्सितेन फलेन वा योगो भवति तःसुग्वम् । अदितये पृथिव्यै
बर्हिषा र्थां सगुणीकृता कर्मण आहुतिद्वारेण वृष्टिर्भवति, तत्र ओषधिप्ररोह-
स्तःसुग्वम् ।

- १५ नात्र ब्रवीत्यामि रिति । तेन यज्ञाङ्गमेव । अभिमनभेतद्विदमप्यस्याचार्यस्ये ।
बर्हिरिति यज्ञाङ्ग- तद्द्वारेणैव व्यवधानेनामि स्तृयते पृथिव्यायतन-
मेव नामिः स्वात्तारय । अपरे पुनरमिरदपि योजयन्ति मन्त्रा-
र्थद्वयः । तत्पक्षे बर्हिरित्यग्न्यभिधानम् । प्रार्थ-
ज्यते प्रणोयत इति प्राचीनम् । बर्हिः प्रवृद्धमाहवनीयास्य उयोतिः प्रवृ-

- १० फेयाचिन्मते बर्हि- ज्यते प्रणोयते । तत्पुनः प्रदिशा वचनेन
रित्यमिः । तदायं म- ' प्रायमुद्धरन्ति ' इति । पृथिव्या वस्तोर्वस-
त्तार्थः नाय । अग्निर्वह हि वेदिरनमेका भवति । अग्रे
अह्ना पूर्वाह्ने । तन्पृथिविधं प्रथते मामिधेनाप्रक्षे-
पात् । अग्न्यभागापारादिषु च विस्तीर्णतरं विक्षिप्ततरं प्रथते । वरीयो

वरतरमन्येभ्यो ज्योतिर्भ्यः । उरुतरं वा महत्तरं देवेभ्यो यजमानेभ्य इत-
रेभ्यो वा अदितेभ्ये पृथिव्यै कथं नाम स्योनं स्यादिति ।

स्योनमिति सुखनाम । 'स्यतेः' धाते रवपूर्वात् । तदेव हि 'अंस्यन्ति'
निवसन्ति प्राणिनः । 'सेवितव्यं भवतीति वा' । तद्धि सर्वभ्य सत्रनाहं
भवति । 'द्वारः' (७) इति निर्वक्तव्यम् । ताः पुनरेताः 'जरतेर्वा' ।

द्वारः इत्यस्य व्यु- जवन्ति हि ताभिः । 'द्रवतेर्वा' । घास्वन्त्य-
त्वंमर्षेकरम् । 'वारयतेर्वा' । वारणीया हि
त्यभिः द्वारादेव निवार्यन्ते । 'तासाभेवा' प्राधान्यस्तुतिः

'भवति' ॥ ९ ॥

व्यचंस्वतीरुर्विया विश्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुभ्रमानाः ।
देवीर्द्वारो बृहतीविश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुमायणाः (ऋ० सं०
१० । ११० । ५) व्यञ्जनवत्य उरुत्वेन विश्रयन्तां पतिभ्य
इव जाया ऊरु भैथुने धर्मे शुशोभिपमाणा वरतरमङ्ग मरु देव्यो
द्वारो बृहत्यो महत्यो विश्वमिन्वा विश्वमाभिरिति यज्ञे गृहद्वार
इति कस्त्विकयोऽग्निरिति शाकपुणिरूपासानक्तोपाश्च नक्ता चोपा
व्याख्याता नक्तति रात्रिनामानक्ति भूतान्यवदयायेनापि वा
नक्ताव्यक्तवर्णा तयोरेषा भवति ॥ १० ॥

व्यचस्वतीरिति । या एता विविधेनाञ्जनेन गमनेन युग्मन्ते व्यच-
यज्ञे गृहद्वार इति स्वतीः ताः । किं कुर्वन्तु । उर्विया उरुत्वेन
कात्यक्यः महत्त्वेन विश्रयन्ता विश्रयन्ताम् । कथम् ।
पतिभ्यो न जनयः । पतिभ्य इव जाया
ऊरु भैथुने धर्मे विद्वन्ति शोभयितुमिच्छन्नाः प्रहर्षन् । एवं

१ क. ल. प. झ ट. ठ. ड. 'वा' वस्ति. २ क. ल. प. झ. ट. ठ. ड.
'तां वा दे'. ३. 'ता' दे' वा. ३ क. झ. प. झ. ट. ठ. ड. 'तये च १'; च.
तये '१' च. ४ क. ल. अगमन्ति व्यचस्यन्ति निव'; च. निर्वक्तव्यं' एतस्य.
५ क. 'स्यम् । यज्ञे गृहद्वार इति कात्यक्यः । ता', च 'स्यम् । ताः' यज्ञे गृहद्वार
इति कात्यक्यः. ६ क. ल. ६ (५), ग. १ ; ठ. ड. 'वति । इति निन्दीक-
यामुत्तरपक्षे द्वितीयाप्याये नवमः १००. ७ छ. त. द. कात्यक्यो. ८ क.
ल. ७ (१०), छ. ११; त. द. ७. १ ग. 'ति' । पा. १० च. उ. दे-
विम' महत्त्वेन; झ. 'महत्त्वेन' नास्ति ११ ग. विश्रय'; ज. विमय'; झ. विमय;
ठ. 'अदन्तां विश्रयन्मिता भवन्तु । कथं', ड. विश्रयन्तां विश्रयन्मिता भव-
न्तु । कथं'. १२ क. ल. प. झ. ट. ठ. ड. जायाः । तथा पतिभ्यो मयाप ऊरु'; च.
जाया-ऊ' यथा पतिभ्यो जाया.

विश्रयन्ताम् । इदानीमुत्तरोऽर्धर्चः प्रत्यक्षकृतः । या ययं व्यञ्जनवत्य एरं
विश्रयध्वे तां वो व्रवीमि हे देव्यो दानक्रियाहेतुभूता द्वारो बृहत्यो महत्यो
विश्वमिन्वाः विश्वे सर्वम् आभिः एति यज्ञे उपकरणमिति विश्वमिन्वाः ।
ययमुच्यध्वे । एतेभ्यो देवेभ्यो हविर्दातृभ्यः ऋत्विग्भ्यो यजमानेभ्य इतः
५ रेभ्यो वा सुप्रायणाः सुप्रगमनाः भवतेत्येतदाशास्महे ।

‘ अग्निरेति शाकपूणिः ’ । तत्पक्षे योजना । अग्न्यर्चियो द्वारो
अग्निरेति शाक- जयनाद् द्रवगाद्वा । हविर्वा । ताभिर्जवति
पूणिः द्रैवति वारयन्ति वा रक्षःप्रभृतीनीति द्वारः ।
व्यचरतीः या एता विविधेनाञ्जनेन तद्वत्त्वः ।

१० अग्न्यर्चिपस्ता उरुत्वेन विश्रयन्ताम् । कथम् । पतिभ्य इय जाया ऊर्ध्वमै-
थुने धर्मे शोभयितुमिच्छमानाः । या ययं विविधेनाञ्जनेन तद्वत्त्वः याश्चैवं
विश्रयध्वे तां वो व्रवीमि हे देव्यो बृहत्यो विश्वमिन्वाः सर्वं हविर्वाभि-
र्जवति ता ययमस्य हविषः सुप्रायणाः सुप्रगमनाः भवतेति ।

‘ उपसात्तन्ता ’ (८) इत्येतत्पदम् । अस्य विग्रहः ‘ उपसत्तन्ता च ’ ।

१५ उपसात्तन्तस्य व्य- ‘ उपा व्याख्याता ’ ‘ उच्छतीति सत्याः ’
त्पत्तिः (निरु० २ । १८) इति । ‘ नक्तति ’ रात्रि-
भूतानि अवश्यमेव । अवश्यमेव आपन्तीत्यवश्यायाः पुत्राः । अनक्त-
रकारलोपे नक्ता । ‘ अपि वा नक्ता अव्यक्त-

२० नक्तान्तस्य च ‘ वर्णा ’ । तत्कारं प्रतिषेधं । न अक्तं न व्यक्तं
अनक्ता । तथा अहः सर्वममिव्यक्तम् भवति न तथा रात्रिः । ‘ तर्था-
रेया ’ प्राधान्यस्तुतिः ‘ भवति ’ ॥ १० ॥

१ क. ए. ग. ज. झ. ‘ धे ततो म ’, घ. ‘ यधः । ता ’, ट. ‘ ध्ये (धः) ततो
(ता वो), च. ‘ धे ततो म ’ ता वो; ठ. ट. पाप ततो म. २ ग. ज. ‘ यशस-
१५ र्णमिति; घ. ‘ यश उदशोत्पत्ति. ३ क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड. देव्य यतो यो
ह. ४ ग. ज. अर्चिषो. ५ क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड. प्रवति वा वार; च.
द्ववति - वार ’ वा. ६ क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड. ऊर्ध्वमे. ७ क. ल. घ.
ठ. ड. ततो म; च. ८. ततो म ता वो. ८ क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘ एतत् ’
नाग्नि. ९ क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘ येनति. १० च. महार म. ११ ग.
ज. झ. ‘ येन । अन्ता; च. ‘ येन । अन्ता । न अ. १२ क. ल. घ. (१०); ग.
११; ठ. ड. ‘ वति । इति निरुकीवादा (ठ. निरु.) सुप्रायणं द्वितीयाध्याये
१२ दन्तः १२४, च. १२५ वीथयः । नाग्नि.

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उपासानक्ता सदतां नियोनी ।
 दिव्ये योषणे बृहती सुरुवमे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने
 (ऋ० सं० १० । ११० । ६) ॥ सेष्मीयमाणे इति वा सुष्वा-
 पयन्त्याविति वा सीदतामिति वा न्यासीदतामिति वा यज्ञिये
 उपक्रान्ते दिव्ये योषणे बृहत्या महत्या सुरुवमे सुरोचने अधिद-
 धाने शुक्रपेशसं श्रियं शुक्रं शोचतेर्बलतिकर्मणः पेश इति
 रूपनाम पिशतेर्विपिशितं भवति । दैव्या होतारा दैव्यौ होतारा-
 चयं चाग्निरसौ च मध्यमस्तयोरेषा भवति ॥ ११ ॥

‘आसुष्वयन्ती’ इति । आसुष्वयन्ती सेष्मीयमाणे परस्परं स्मयमाने । १०

उपासानक्ता अथवा । ‘सुष्वापयन्त्यौ’ सुष्टु जनान् स्थापयन्त्यौ ।
 यजते हेतुकृत्वेन । यजते यज्ञिये पक्षसंपादादिभ्यौ ।

उपाके प्रसस्ये उपगर्भ्य इतरेतरं ज्ञान्ते । दिव्ये दिविज्ञे । योषणे
 सांमिध्रे परस्परतः । बृहती महत्या । सुरुवमे सुरोचने दीते । ये एते एव-
 मादिगुणयुक्ते उपासानक्ते अधिश्रियं श्रियम् अधिदधाने उपरि स्थापयन्त्यौ १५
 शुक्ररूपां श्रियम् आसीदताम् एतस्मिन् नियोनी । आकार उक्तार्थः ।
 उपसर्गस्य हि क्रियापदेन सामर्थ्यम् । न्यासीदताम् इति नियमेनासीदता-
 मिति ‘निः’ उत्तरपदार्थोऽप्यपकृष्यते तेनैव क्रियापदेन । निशब्दश्चो-
 र्त्तरपादपूरणः ।

१ क. ख. ८ (११); छ. १२; त. द. ८. २ ग. इति । आ. २०

२ घ. ट. सेष्मीय°. ४ ग. ज. °यन्त्यौ बृहत्या महत्या यजते°. ५ ष. प्रसस्ये.

६ ष. °गर्भ्ये इ° न्य. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. °विज्ञे योषणे यो°; ष. °विने°

यो° योतने. ८ घ. झ. ट. ठ. ड. सुष्टु रोचने. ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.

सुदीप्ते, ष. °चने° दीप्ते° सु. १० ग. ज. झ. ट. ठ. ड. °श्रियम्° नास्ति; ष. ट.

°श्रियं° अधि°; घियं. ११ ग. ज. टाए°. १२ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.

°स्मिन्स्ते योनी°; ष. °स्मिन्स्ते योनी° नये योनी. १३ क. ख. घ. झ. ट.

ठ. ड. उक्तृष्यते; ष. उक्तृष्ये° ष्यते. १४ क. ख. घ. झ. ट. °उत्तरपादो वा

न ब्रवीत्यग्निरिति येन द्वित्मानुपपत्तिरिति केचित् । अपरे पुनर्बर्णयन्ति ।
 तथा अग्नेर्दासिः । नक्ता आहुतिः । दीप्तिर्विधासयति तमः । आहुतिर्नक्ता-

उपासानक्ता अग्नि- ज्वेन । ते एते दीप्याहुती सुष्टु स्मयमाने ईव
 रिति केचित् यज्ञिये यज्ञसंपादयिष्यौ उपाके उक्तान्ते परस्प-
 रतः दिव्ये द्योतने परस्पराश्रयात् योषणे मिश्री-

भूरे बृहत्या महत्या सुरूक्मे रोचने अधिदधाने. शुक्रपेशसम् एतस्मिन्ज-
 माने श्रियम् आसीदताम् एतस्मिन्नग्नौ न्यासीदता नियमेनाधिकं वेत्येतदा-
 शास्महे ।

‘पेश इति रूपनाम पिशतेः’ धातोः । तद्धि ‘विपिशितं भवति’ ।
 १० विकसितं भवति यावदाश्रयभाविवात् । विनिहितमिति केचिद्व्याश्रि-
 त्वात् ।

‘दैव्या होत रा’ (५) इति वक्तव्यम् । ‘दैव्यौ होतारौ’ इति
 दैव्यौ होतारौ अयम- शब्दसमाधिः । ‘अयं चाग्निरसौ च मध्यमः’
 २५ अग्निरसौ च मध्यमः इत्यभिधेयवचनम् । तयोरेषा प्राधान्यस्तुतिः
 ‘भवति’ ॥ ११ ॥

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा भिमाना यज्ञं मनुषो यजन्ध्वै ।
 प्रचोदयन्ता विदथेषु कारु प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्तां (ऋ०
 सं० १०।११०।७) ॥ दैव्यौ होतारौ प्रथमौ सुवाचौ निर्मिमानौ यज्ञं
 २० मनुष्यस्य मनुष्यस्य यजनाय प्रचोदयमानौ यज्ञेषु कर्तारौ पूर्वस्यां
 दिशि यष्टव्यमिति प्रदिशन्तां तिस्रो देवीस्तिस्रा देव्यस्तासामेषा
 भवति ॥ १२ ॥

१ ष. झ. ट. ठ. ड. पुनर्बर्णयन्तरे. २ ष. . आहुतिरनक्याज्वेन; ष.
 २५ आहुति अग्नि नक्याज्वेन अग्नि ते एते; ष. आहुति नक्ताग्नेन एनक्याज्वेन
 अग्नि; २. आहुति नक्याज्वेन एनक्याज्वेन अग्नि; ठ. ड. आहुति अग्निमनक्या-
 ज्वेन. ३ ष. ल. ष. झ. ट. ठ. ड. इव यमने यं; ष. इव यं यमने. ४ ष.
 'यथा योदेषु नि' जी. ५ ष. झ. ट. शुक्रपिशम्, ष. शुक्रपिशम् मं स.
 ६ ष. ल. ८ (११), ग. १०; ठ. ड. 'वनि' इति निरुद्धटीकायामुत्तरप-
 टके दिनीयाध्याये एकादशः मण्डः (ऋ. २५याधे १२ मण्डः); ष. वर्जमितोष्यद्वौ
 २१ नाग्नि. ७ ष. ल. ९ (१२), उ. १३; त. ६-९.

दैव्या होतारोऽति । यावेतौ दैव्यौ होतारौ । देवेषु भवौ दैव्यौ । देवावेव वा

दैव्यौ होतारौ दैव्याविति स्मर्यै एव तद्धितः । मनुष्यहो-
तारौ होतृभैत्रावरुणात्रेष्य । दैव्यौ होताराविति

विशेषणम् । कौ पुनस्तौ । होतारौ आहातारौ देवानाम् । वाय्वग्नी ।

किंलक्षणौ । प्रथमौ मुख्यौ मनुष्यहोतारावेष्य सुवाचौ प्रशस्तवाचौ ५

सुस्तुती मिमाना यज्ञं यज्ञभिर्मातारो नित्यं मनुष्यो मनुष्यस्य यज्ञध्वै

यजनाय प्रचोदयन्तौ प्रचोदयमानौ विदधेनु यज्ञेषु कारु कर्तारौ

ऋत्विजौ । नान्प्रिको यज्ञोऽस्तात्यग्निर्निर्मिमीते । न चासावनुपप्मातो

वायुना ज्वलतीति वायुर्निर्मिमीते । विज्ञायते हि ' तस्मादेव ननुपध्मातो

ज्वलति ' (शत० ब्रा० ११।८।३।७) इति । स एव भैत्रावरुणो वायु- १०

स्नेहोतृवदधिपज्ञे वर्तमानस्य नित्यं चोदयिता तन्मूलत्वाच्च यज्ञकर्माणः ।

तावेव देवानामाहात राबुध्येते । यावेतावेवं प्रचोदयन्तौ विदधेयु यज्ञेषु

कारु कर्तारौ मनुष्यहोतुरनुग्रहस्य नित्यं स्वाधिकारकर्मानुग्रहसंनिधानत्

येत्प्राच्या दिशि ज्योतिरास्वनीयात्यं प्रणीयते प्रदिशा मन्त्रेण

' प्राचीमनु प्रदिशं प्रैहि ' इति । अनेन त्रिधिवक्त्रप्रदेशेन वा ' प्राञ्चमुद्- १५

रन्ति ' (भैत्रा० सं० १।६।५) इति । एतत्प्रणीय नित्यं यष्टव्यमित्ये-

वमर्थं प्रदिशन्तौ आज्ञापयन्ताविश्र यौ नित्यमवियोगेन स्मभावतो यज्ञो-

पकारे वर्तमानौ तौ मामध्येयं वर्ततामित्येवमाख्यातमव्याहृत्य समाप्यते

निराख्यातत्वाऽन्वयस्य ।

' तिस्रो देवीः ' (१०) इति प्रहसं ताः पुनरेताः ' तिस्रः एव ३०

१ च. दैव्यौ हो° व्या; ज. दैव्यो हो. २ ग. 'ताराविति' । या°; च. ज. 'ताराविति । या°. ३ च. दैव्यो. ४ क. स. च. सं. दैव्यौ. ५ ग. ज. 'होतारारपेय दैव्यौ होतारौ होतृभैत्रावरुणौ विशेषणम्, च. 'होतारावेष्य दैव्यौ होतारौ (इति) होतृभैत्रावरुणौ विशेषणम्. ६ ट. ड. सुष्टुती. ७ क. स. घ. सं. ट. ठ. ड. 'यन्ता. ८ ग. ज. 'प्रानात् आट्नी; ९. 'धानाधिदेवता'; १०. 'धावृद्धीत् । य°; ११. 'धाना - य° दानाती, ट. ड. 'धामा । य°. १ क. स. घ. ट. ठ. ड. यद्वन्ता; च. य - त्वा° देव. १० ग. ज. 'प्रैहि; च. 'प्रैहि° दे. ११ क. ख. घ. स. ट. ठ. ड. 'सेवानेन वा'; च. 'इति वा' नानेन.

देव्यः । प्रथमेया ताः निराह । तिस्र इति देवीशब्दस्य विशेषणम् ।
 ' तौसामेया भवति ' प्राधान्यस्तुतिः ॥ १२ ॥

- आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विळां मनुष्वदिह चेतयन्ती ।
 ५ तिस्रो देवीर्वहिरिदं स्योनं सरस्वती स्वपंसः सदन्तु (ऋ० सं०-
 १०।११०।८) ॥ ऐतु नो यज्ञं भारती क्षिप्रं भरत आदित्यस्तस्य
 भा इडां च मनुष्यवदिह चेतयमाना तिस्रो देव्यो वहिरिदं सुखं
 सरस्वती च सुकर्माण आसीदन्तु त्वष्टा तूर्णमश्रुत इति नैरुक्ता-
 स्त्विषेर्वा स्याद्दीक्षिकर्मणस्त्वैक्षवेर्वा स्यात्करोतिकर्मणस्तस्यैषा
 १० भवति ॥ १३ ॥

- ' आ नो यज्ञं भारती ' इति । आभिमुख्येनास्माकं यज्ञमागच्छतु । का
 पुनरसाविति । भारती । भरत आदित्यः सर्वभूतान्युदकेन विभर्तीति ।
 १५ तिस्रो देव्यः तस्य स्वभूता भाः दक्षिः । कथमेतु । तूयं
 क्षिप्रम् । इत्ये च पृथिवीस्थाना । ' इहेवेळ्या
 वसुमत्या ' (मैत्रा० सं० ४।११।८) इत्यनुयायेषु उक्तीसामर्ष्यापार्थिव-
 त्वम् । तूयं मनुष्यवत् इह कर्मणि चेतयन्ती । यथा मनुष्येण मनुष्य
 आहूतो भोक्तुमर्हन्मवान आगच्छेक्षिप्रमेवमागच्छतु सा ममेह कर्मणि

- १ अ मने नोतिं या ता निराह । तिस्र इ. २ ग ज ' तिस्र इति ' नास्ति.
 २० ३ अ. देवितां (बी) ४ अ. शब्दस्य । तासां विशेषणम्. ५ क. ख. ९
 (१२), ग. १२; ठ इति निम्न उ० द्वितीयां द्वाद्दशः सण्डः, ड. इति निरुक्त-
 भाष्ये १२ खण्डः, च. वर्ज्यमित्येव नस्ति. ६ क. ख. छ. त. द. इत्या. ७ छ.
 ' मण्डलं ' सत्; त. द. ' मण्डलं '. ८ क. ख. १० (१२), छ. १४; त.
 व १०. ९ ग. ' इति ' आं; ठ. ड. ' यमिति आभिं '. १० क. ख. घ. ङ.
 २. ठ. ड. ' इति ' नास्ति; ' भवति ' ति. ११ क. ख. ग. घ. ङ. इत्या.
 १२ क. ख. ग. घ. ङ. ' वेष्टवा. १३ क. ख. घ. ङ. उ. ' वत्वात्; २७
 ३७ अ. वदन्' एतत्

हविर्भोक्तव्यमित्येवमर्थं जानाना । सरस्वती च मध्यमस्थानैव चेतयन्ती-
भागच्छतु । ता एतास्तिस्त्रोऽपि देव्यः स्वपसः सुकर्माणः अस्मिन्कर्मणि
इदं बर्हिः स्योनं प्राप्य एतस्मिन् औसीदन्त्वित्येतदाशास्महे ।

‘ त्वष्टा ’ (११) इति वक्तव्यम् । अत्र तूर्णशब्दात्क्षिप्रवाचिनः पूर्वप-
श्रोतेरुत्तरपदम् । क्षिप्रं व्याप्नोति यदनेन ५
त्वष्टृशब्दस्य व्याप्तव्यं भवति । ‘ त्विषेर्वा ’ धातोर्द्वयर्थस्य ।
व्युत्पत्तिः वृद्ध एव नित्यमसौ देवतात्वात् । ‘ त्विक्षतेर्वा
स्यात् ’ क्रियासामान्यमात्रवाचिन उत्सृष्टतनुकरणस्वार्थस्य । ‘ तस्यैषा ’
प्राधान्यस्तुतिः ‘ भवति ’ ॥ १३ ॥

१०

य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिशञ्जुर्वनानि विश्वा ।
तमद्य होतारिपितो यजीयान्देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्
(ऋ० सं० १० । ११० । ९) ॥ य इमे द्यावापृथिव्यौ जन-
यिष्यौ रूपैरकरोद्भूतानि च सर्वाणि तमद्य होतारिपितो यजीयान्दे-
वं त्वष्टारमिह यज विद्वान्माध्यमिकस्त्वष्टेत्याहुर्मध्यमे च स्थाने १५
सामान्नातोऽदिरिति शकपूणिस्तस्यैषा परा भवति ॥ १४ ॥

‘ य इमे द्यावापृथिवी ’ इति । यः त्वष्टा इमे द्यावापृथिव्यौ
त्वष्टा सर्वेषां भूतानां जनयिष्यौ रूपैः नानाविधैः अक-
रोत् भूतानि च सर्वाणि । अथवा । रूपैरिति २०
कर्तृत्वानया तृतीयया लक्ष्यते । तत्तद्रूपमास्थाय यैः त्वष्टा द्यावापृथिव्यावक-

२०

१ ग. ज. ‘ भोक्तव्यं ’; च. ‘ भोक्तव्यं ’ न. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
मध्यस्थां ३ क. ख. ग. ज. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘ स्थानैवमेव; च. स्थानैव ’ वमेव.
४ ग. ज. ठ. ड. ‘ इदं ’ नास्ति, च. ‘ मणि ~ बर्हि ’ इदं. ५ ग. ज. सीदं; च.
‘ स्मिन्-सी ’ आ. ६ घ. ट. ड. तक्षते; झ. तत्वक्षते; ट. तक्षं त्व. ७ क. २५
ख. १० (१३); ग. ११; ठ. ड. इतिनिरुक्तटीकायामुत्तरपदके द्वितीयाध्याये त्रयो-
दशः खण्डः (ड. २ अध्याये १३ खण्डः). ८ छ. त. द. ‘ न्माध्यमकं ’. ९ क. ख.
११ (१४); छ. १५; त. द. ११. १० ग. ज. ‘ इमे ’ नास्ति; च. ‘ त्वष्टा ~ षा ’
इमे. ११ क. ख. घ. ठ. ड. ‘ नानाविधैरनेकप्रकारैरकं ’; ग. ज. ‘ नानाविधैरकं ’;
च. ‘ नानाविधैरकं ’ रनेकप्रकारै. १२ ग. ज. ‘ यः ’ नास्ति; च. ‘ स्थाप-
त्वष्टा ’ यः.

२१

रोञ्जतानि च सर्वाणि । किं तस्य त्वष्टः । तं देवम् इह अद्य एतस्मिन्नहनि
कर्मणि च हे होतः यस्मि यज विद्वान् जानानो मयेद्रमवश्यं कर्तव्यमिति ।

माध्यमिकस्त्वष्टेति विचारः । तत्र तावत् ' माध्यमिकस्त्वष्टेत्याहुः '

कस्त्वष्टा आचार्याः । केचिन्नैरुक्ता एवं गम्यन्ते । माध्य-

च स्थाने समाम्नातः ' (निघ० ५ । ४ । २१) इति । किंच ।

माध्यमिक इति एतस्मिन्नेव मन्त्रे व्यपदेशात् । कथम् । य इमे
नैरुक्ताः चावापृविष्यौ भूतानि च सर्वाण्यकरोत्तं देवं
स्त्वष्टार यजेति । त्वष्टुरन्यो यश्च । स एव पुनः

संबोध्यते हे होतारिति मनुष्यहोत्रा । न चान्यः पार्थिवादेशेर्होतास्ति ।
तस्माद्यो यश्च स पार्थिवो य इत्यते स मध्यमस्त्वष्टेति । सर्वशिल्पवता-

द्वादशानामादि- माचार्यो देववर्धकिर्दाक्षायणीपुत्रो द्वादशानामादि-
त्यानामन्यतम इत्यै- त्यानामन्यतम इतिहासिकाः । कोऽत्र निधयः ।

तिहासिकाः अयमेव ' अग्निरिति शाकपूणिः ' । कथम् ।
यत्तावत् ' मध्यमे च स्थाने समाम्नातः ' इत्यको-
रणम् । ' अयमप्यग्निर्मध्यमे स्थाने समाम्नात ' इति (निघ० ५ । ४ । २३)

अग्निरिति शाक- यपुनरेतत् ' व्यपदेशात् ' इति तदपि
पूणिः ममानभिन्देणापि त्वष्टव्यपदेश इति ' त्वैष्टा दध-
दिन्द्राय शुष्मम् ' (मैत्रा० सं० ३ । ११ ।

१) इति । अपि च । व्यपदेश दन्यधमियशक्यमध्यवसातुम् । अनन्य-
त्वेऽपि हि व्यपदेशो भवति । तद्यथा । ' अग्निमग्न आवह ' (तै०
ब्रा० ३ । ५ । ४) इति । हे भगवन्नग्रे अग्निमावहेति व्यपदेशे
सत्यनन्यत्वम् । न हि पार्थिवादन्यः सूक्तभागवभिर्भाग्याग्निरस्ति योऽनेन
प्रसिद्धहोतृत्वाभिधानेनाहूयतेऽप्येत यो । ' एवं महिमानमावह ' (तै० ब्रा०

२५ १ क. ख. घ. ङ. च. ट. ठ. ड. वा; च. षं वा. २ ग. ज. मध्यमक०; च.
माध्यमक०. ३ ग. च. ज. माध्यमक०. ४ ग. ज. 'द्विन्याना मन्य इत्यै'; च.
'द्विन्याना मन्य इ० तम. ५ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'कारणमेतत्; च.
'कारणम्' मेतत्. ६ ग. ज. मध्यमे. ७ च. त्वष्टा दशति' धदिन्द्राय शुष्ममि.
८ ग. ज. शुष्ममिन्द्रायिति. ९ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. अग्रे भगवन्. १० च.
'योऽग्निर्दधोऽष्टुमनेन'. ११ ग. ज. 'नहूयनेऽप्यते च; च. 'नाहूयते इत्यत; ङ.
'नाहूयते इत्यते, ट. 'न हूयते इत्यते' गे. १२ क. ख. ग. ज. घ. ङ. ट. ठ.
३२ ड. च; च. षं' च.

२ । ५ । ४) उति स्विष्टकृति विरोषट्ङ्गास्पभेर्वात्मन त्मानं विधिवशा-
दाहानेन संस्मृत्य द्वेषं त्रैधमनेकधा वा यजति । अन्यद्वाभिनिर्वर्तयति । तद्-
दिहापि कर्मात्मनः परो योऽस्य तैक्षणगुणयोग्यात्मा यदधिष्ठितः कर्मात्मा
सर्वरूपाणि पाकेन विकरोति तमाधिकृत्योच्यते ' त्वष्टा रूपाणि विकरोति '
इति । तदयमुच्यते मनुष्यहोत्रा ' यज त्वम् ' इति । एवं तावद्वयप- ५
देशः शक्यप्रतिसमाधानः । यत्पुनरुक्तं देवशिल्पीति तत्तद्गुणसामान्यादे-
वासावपि कौशलातिशयमपेक्षोच्यत इत्यदोषः । यथा चाग्निरेव नान्यस्तथा
विशिष्टतरङ्गिणा ' अपरा ' ऋक् ' भवति ' ॥ १४ ॥

आविष्टयो वर्धते चारुरासु जिह्वानामूर्ध्वः स्वयंशा उपस्थे । २०
उभे त्वष्टुर्विभ्यतुर्जायमानात्मतीची सिंहं प्रति जोपयेते (ऋ०
सं० १ । ९५ । ५) ॥ आविरावेदनात्तस्यो वर्धते चारुरासु
चारु चरतेजिह्वं जिहीतेरूर्ध्वं उच्छिन्नो भवति स्वयंशा आत्म-
यशा उपस्थ उपस्थाने उभे त्वष्टुर्विभ्यतुर्जायमानात्मतीची सिंहं २५
प्रतिजोपयेते । द्यावापृथिव्याविति वाहोरात्रे इति वारणी इति वा
प्रत्यक्ते सिंहं सहनं प्रत्यासेवेते ॥ १५ ॥

' आविष्टयो वर्धते ' इति । ' आविः ' प्रकाशः । स कस्मान् ।
' तस्यैव त्वष्टुरन्या ' आनेदनात् ' । सर्वस्य प्रकाशनात् । तस्मात्
ऋक् तस्य तनिता आविष्टयः । किलक्षणः । २०
चारु चरणशीलः अनवस्थितः । किं करोति ।
वर्धते । ऋ । असु क्रियासु प्रज्ञासु वा प्रसवाय । कस्य) जिह्वाना कुटि-
लनेतसामपि मनुष्याणामप्येणोर्ध्वमेव जलति । कुटिलानामपीन्धना-

१ ग. ज. ' त्वमेवात्मानात्मानः ; प. स. ट. ठ. ड. ' त्वमेवात्मानात्मानां ; २५
च. ' त्वमेवात्मानं यमा, २ क. ख. संस्मृत्य, ग. ज. संस्मृत्य; च. ट. संस्मृत्य'
रु. २ ग. तक्षणे; च. ट. तैक्षणगुणे' लक्षणक्रिया. ४ क. ख. १२ (१४);
ग. १५; ठ. ' वति । इति वि० ल० ५० दि० १४, रु. ' वति इति निरुक्टी-
कावापुत्रपटके २ भाषे १४ खण्डः; च वर्जमितरेष्वह्को नास्ति. ५ छ. त. द.
' प्रतीची सिंहं प्रतिजोपयेते ' नास्ति. ६ क. ख. १२ (१५), छ. १६ त्रितीयः
पादः, त. १२ अष्टमोऽध्यायद्वितीयः पादः; द. १२ । इति नेरुक्तस्य उत्पत्तयस्य
द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः, ७ ग. इति । आ०, ट. क. ख. घ. स. ट. ठ. ड.
तस्य; च. त्वष्टुर्' तस्यः

- नाभकुटिल ऊर्ध्वमेवेति केचित् । एवमेव वर्धते । स्वयशाः आत्मपशाः
परमाश्रित्य यशस्वी । उपस्थे उपस्थाने यत्रासावुपनतस्तिष्ठति आविष्टपुः ।
- उभे के योऽयमेवमादिगुणयुक्तस्त्वष्टा तस्य त्वष्टुः अग्नेः
जायमानादेव अपि विभ्यतुः । के पुनस्ते ।
- ५ धावापृथिव्यौ ' धावापृथिव्याविति ' । यथायमतिमहान् वर्धते
अवश्यमयमावा धक्ष्यतीति । ' अहोरात्रे इति वा ' ।
अहोरात्रे सकृदुपगच्छिते महत्प्रज्ञानुपशाम्यत्यहोरात्रयो-
रर्थवत्त्वाभावः । तस्मात्ते अपि विभ्यतुरपि
- १० अरणी वा नामायमेवमतिप्रवृद्ध आवाभैत्यन्तमुच्छिन्व्यौदिति । ' अरणी इति वा ' ।
अवश्यमयमावा जातो यदा तदा धक्ष्यतीत्यतोऽ-
रणी अपि विभ्यतुः । एवं विभ्यत्यौ किं कुरुतः
नाग्या गतिरस्तीति प्रतीची नाम तं प्रसञ्चिते अभिमुखे सिंहं सहनम्
अभिमवनं प्रतिजोषयेते प्रत्यासेवेते उपकारत्वेन कथं नामायमावा न
भस्मसात्कुर्यादिति । एवमयमेवाग्निरिह त्वष्टेति ॥ १५ ॥
- १५ त्रयोदशाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

तृतीयः पादः ॥

वनस्पतिर्व्याख्यातस्तस्यैषा भवति ॥ १६ ॥

- १० ' वनस्पतिः ' (१२) अवसरप्राप्तः । स पुनरयमभिधेयतोऽभि-
धानतश्च ' व्याख्यातः ' ' एष हि वनानां पाता वा पालयिता वा ' ।
(निरु० ८ । ३) इति । ' तस्यैषा भवति ' ॥ १६ ॥

१ व. 'नामाकुटि'. २ व. स्वयशाः च परं आत्मपशाः. ३ क. स्व. आशामन्यतमु'; ग. ज. घ. ट. ड. आशामन्यतमु'; च. ट. आशामन्य (न्य) तमु'. ४ क. (व. घ. झ. ट. ठ. ड. 'स्थित्याविति ५ क. स्व. घ. झ. ट. ठ. ड. जानो यनो यदा, च. जातो च यदा यनो ६ घ. ट. प्राची. नृपेन मय'; ग. ज. प्रतीची तमेन मय, ठ. ड. मार्शानमेन मय'. ७ क. स्व. घ. झ. ट. ठ. ड. 'कारकात्वेन. ८ क. स्व. १२ (१५), ग. १६; च. वर्ममहो नास्ति. ९ ठ. ड. इति ज्ञथे'. १० ट. २ पादः । इति नि० ८० उ० दि० १५ लण्डः; ड. इति १५ लण्ड. ११ क. स्व. १ (१६), छ. १७, त. द. १. १२ क. स्व. १ (१६); ग. १७; ठ. 'वनि । इति नि० ८० दि० १५ च्याये दोदशाः लण्डः । १२ १६, ड. 'वनि । इति नि० ८० दि० १५ च्याये दोदशाः लण्डः.

उपावसृज त्मन्या समञ्जन्देवानां पाथं क्रतुथा हवीषि । वन-
स्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन (ऋ०
सं० १०।११०।१०) ॥ उपावसृजात्मनात्मानं समञ्जन्देवाना-
मन्नमृतामृतौ हवीषि काले काले वनस्पतिः शमिता देवो अग्निरि-
त्येते त्रयः स्वदयन्तु हव्यं मधुना च घृतेन च । तत्को
वनस्पतिर्युप इति कार्त्थैकयोऽग्निरिति शाकपूणिस्तस्यैषापरा
भवति ॥ १७ ॥

‘ उपावसृज त्मन्या समञ्जन्ति ’ । उपाश्लिष्य अवसृज एतत्प्राप्त्यं
वनस्पतिः पाथः । अनाश्रितविशेषः । किमयमश्रिर्वा । युयो १०
बोध्यते उत वान्य एव कश्चिदिति । उपावसृज
वनस्पतिशब्दः प्रथमासवन्धात्परोक्ष इह पुनरुपावसृजेति मध्यमपुरुषश्लो-
गात्प्रत्यक्षः कोऽप्यभिधीयत इति सुतरामनाश्रितविशेष इति विश्वामश्लो-
कम्वितः परं विचारयिष्यति ‘ तत्को वनस्पतिः ’ इति । त्मन्या समञ्जन्
आत्मना आत्मानम् अस्य पशोः समञ्जन् समभिव्यञ्जदन् विशिष्टेन संस्का- १५
रेण स्वाधिकारसंबन्धिना देवानाम् एतत् पाथः अन्नम् एतत् अमुनैव
प्रकारेण क्रतुथा क्रताष्टौ काले काले षण्मासादौ हवीषि वैश्वान्यन्या-
प्याग्यप्रभृतीनि उपावसृज देवैभ्यो देहीति । किञ्च । वनस्पतिः शमिता
देवो अग्निरित्येते त्रयः । त्रिग्रहणोद्भवशब्दोऽग्निविशेषणमिति दर्शयति ।
वनस्पतिश्च शमिता चाप्रत्यक्षदेवते असदिग्धश्च देवोऽग्निरित्येते त्रयः २०
स्वदयन्तु स्वादुतामापादयन्तु । मधुना च उदकेन । प्रोक्षणाद्यभिप्रायम् ।
घृतेन च एतदस्माभिः संस्कृतं पाथ इत्येतदाशास्महे ।

१ छ. त. उपव. २ छ. त. द. 'त्मना मन्या स'. ३ छ. त. द. काष्ठ
को. ४ क. ख. २ (१७), छ. १, त. द. २. ५ ग. 'स्मिन्' 'उ';
ठ. द. उपावसृजेति. ६ ग. अ. घ. ट. ठ. ड. 'भियवावसृ'; घ. 'स्मिन्ना
वसृ' व्या. ७ क. ख. ग. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'वेन्दुष्यते. ८ ग. ज. 'मेतजा-
गितामुने'; घ. 'मेतमेमुने' द. ९ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'दिवते एव अ';
च. 'दिवते अ' एद. १० ग. त. 'घृतेन तदुपा'; घ. 'घृतेन तदु' वे. २८
१९

‘तस्यो वनस्पतिः’ इत्येवमादिविचारः । तत्र तावत् ‘यूपः इति कार्थक्यः’ । कस्मात् । यस्माद्यद्येतस्याम्ना-
को वनस्पतिः । विच्छ्रतोऽग्नेर्विशेष आभिया तथापीयम्
यूप इति काथक्यः ‘अपरा’ यूपजनीया ऋक् या संनिपत्य यूप-

५ ज्जने यूपमभिधानेन संस्करोति (आश्व० श्रौ० ३।१) । तथा ॥ १७ ॥

अज्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तो वनस्पते मधुना दैव्येन ।
यदूर्ध्वस्तिष्ठा द्रविणेह धत्तायद्वा सस्यो मातुरस्सा उपस्ये (मैत्रा०
सं० ३।८।१) ॥ अज्जन्ति त्वामध्वरे देवान्कामयमानाः ।
१० वनस्पते मधुना दैव्येन च घृतेन च यदूर्ध्वः स्थास्पसि द्रविणानि
च नो दास्यसि यद्वा ते कृतः सस्यो मातुरस्सा उपस्ये उपस्थानेऽ-
भिरिति श्राकपूणिस्तस्यैषा परा भवति ॥ १८ ॥

अज्जन्ति त्वामध्वर इति । विश्वामित्रस्यार्थम् । ‘देवेष्वो वनस्पते’
१५ वनस्पतिः (मैत्रा० सं० ४।११।७) इति च । हे
यूप अज्जन्ति त्वा प्रक्षपन्ति त्वाम् ऋत्विग्यज-
मानाः । कः एतस्मिन् ध्वरे यज्ञे । विप्रमिऽन्तः । देवान् यष्टुं क्रमप-
मानाः । केत - अज्जन्ति हे वनस्पते यूप । मधुना दैव्येन । संश्रतेन
घृतेनेत्यर्थः । देवानां यन्मधु । विश्वाश्रते हि ‘देवानां मधु यद्वृतम्’
२० (मैत्रा० सं० ३।९।३) इति । किमिव्यंजन्ति । यदूर्ध्वस्तिष्ठाः ।
यस्मात्कृतं यदूर्ध्वं । स्थास्पसि । अज्जनादनन्तरमुपस्थित्यन्ति त्वाम् ।
यस्माद्य ते ययः मत्तुः अस्याः पृथिव्या उपस्ये उपरि । शस्यो निवामः

१ म. च. न. काथक्य. २ य. र. काथक्य ३ क. ल. प. ट. ट. ह.
‘वाशन्’ नस्ति. च. दैव्येन ३ क. म. प. उ. उ. ह. ‘नश्वामभि-
१५ यामना’; च. त्वया- वना’ यामिना. ४ क. ल. प. ट. ट. ह. ‘आ यथा’
कस्ति; अंशिया. ५ क. ल. २ (१७), ग. १८, उ. ‘यथा’ इति निर० उ०
दि० अत्रदृष्टं. लच्छः; ह. इति निरुक्तोऽकाशमहात्परक २ ज्यायं क्रमदृशः लच्छः.
६ क. ल. उ. त. व. ‘च’ नस्ति. ७ उ. न. द. वाशन्ति ८ क. म.
३ (१८), उ. १९, ग. ट. ३. ९ ग. इति ‘‘वि’दृष्टं. ह. नेति १० क. ल.
२० य. ट. उ. ह. ‘यं’ इति ‘‘च’ देव’; च. ‘द्वि’ । ११ ‘‘य’ इति ।

स्थैर्यार्थमनटैः तस्मादवश्यपूर्वः स्थास्यसि । तथा स्थित्वा यशुधारणसमर्थः
प्रधामाक्रियापूर्वाङ्गं भावयित्वा तद्द्वारेण तत्कलानि द्रविणानि च अव-
श्यमस्मभ्यं दास्यसीत्यतः समञ्जन्ति । एवमस्मिन् समञ्जने यूपे वनस्प-
तिशब्दः प्रयुक्तः । तस्माद्यूपो वनस्पतिरिति ।

‘ अग्निरिति शाकपूणिः ’ । कस्मात् । इहापि ‘ उपावसुज ’ इत्य-

अग्निरिति शाक- स्नानाविष्कृतवनस्पतिशब्दार्थः तद्भवतु यूपपरः ।
पूणिः परोक्ष्य हविर्वहनलिङ्गलिङ्गिता पुरोत्पयजतो
संनिपत्याग्नेर्वनस्पतिशब्दनामिधायिका ऋग्म-
वति । तद्यथा ॥ १८ ॥

देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्णं प्रदिवस्ते अर्धम् । प्रद-
क्षिणिद्रंशनयां नियुयं ऋतस्थं वक्षि पथिभीरजिष्टैः (मैत्रा०
सं० ४ । १३ । ७) ॥ देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्णं
ऋतपर्णापि त्रौपमार्थे स्याद्विरण्यवर्णपर्णेति प्रदिवस्ते अर्थे पुरा-
णस्ते सोऽर्थो यं ते प्रब्रूमो यज्ञस्य वह पथिभीरजिष्टैर्ऋजुतमै-
रजस्वलतमैः प्रपिष्टतमैरिति वा तस्यैषापरा भवति ॥ १९ ॥

देवेभ्यो वनस्पते इति । हे वनस्पते अग्ने हिरण्योपमपर्णञ्च-
लित देवेभ्यो हवींषि वक्षि वह । कथमिति ।
अस्याग्राचि वन- प्रदक्षिणित् प्रदक्षिणं देवानां यो हविर्वहनधर्म-
स्पतिरग्निः स्तेन पितृधर्मविपरीतेन । कथं वह । रशनया
नियुय निव्रव्य मुनिपुणम् । यथा न किञ्चिदप्यत्र हविरनवेक्षितं प्रधदैये-

१ ग. ज मवर. २ ग. ज पूर्वाङ्गभावयित्वात् तदा, 'च. पूर्वाङ्गभावयित्वात्
दा'. ३ ग. ज. 'धत्वात्परो यूप'. ४ क. ख. ३ (१८), ग. १९, ट. 'यथा ।
इति निरु० दि० १८ खण्डः, ङ. 'यथा । इति निरुक्तटीकायामुत्तरपटके २ व्यापे २५
१९ खण्डः; च. पत्रं निरोष्वङ्गो नास्ति ५ ङ. ध. घ. ठ. ड. तनैरतपथि'. ६ क.
ख. ४ (१९), छ. ५०, त. द. ४, ७ ग. इति । दे; घ ट. ङ. छ. ड.
इति । वक्षिण्यार्थं । ७. ८ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'क्षिण धूमभूतेन घ'; घ.
'क्षित - प्र' धूमभूतेन. ९ ग. ज. ठ. ड. 'प्रदयेत तथो, च. 'प्रस्येयेत'; ट.
प्रस्येत' स्ये.

तथा । अपि च । ऋतस्य यज्ञस्य पथिभी रजिष्ठैः । य' एव प्रसिद्धाः
 पग्धानो यज्ञस्य हविर्वहनाय देवान्प्रति । ऋजुभ्योऽपि ऋजुतमैः । यैः
 कालोः नातिर्हायेत । रजस्वलतमैर्वा अत्यर्थमुदकवद्भिः । ते हि पथि-
 कानां सुस्यैः । प्रविष्टतमैरिति सुरूपतमैः प्रहततमस्कैर्यैः असंमोहः
 ५ स्याद्द्रष्टतस्तैः वह । न च पुनरविदिते कर्मणि त्वां नियुञ्जहे । यतो
 ब्रूमः । प्रदिवस्ते अर्थम् । चिरंतनमेतं ते अर्थं हविर्वहनाधिकारलक्षणं
 विद्यः । 'अयं यो होता' इत्येवमादिमन्त्रेभ्यः 'देवा दधिरे हव्यवा-
 इम्' (ऋ० सं० १०-५२-३) इति । अतो ब्रूमहे षहेति ।
 एवमेतस्मिन्मन्त्रे हविर्वहनैयोगाद्वनस्पतिराश्वस्याग्निरभिधेयः ।

३० अथ 'एया' । वनस्पतेरग्नेः 'एयापरा अर्चति' । सा पुनः किम्-
 धमिति । प्रायोवृत्त्युपदर्शनार्थं बहुषु मन्त्रेष्वग्निर्वनस्पतिरिति ॥ १९ ॥

वनस्पते रज्ञनयां नियुयं पिष्टनमया वयुनानि विद्वान् ।
 १५ वैह देवत्रा दिधिपो हवींषि म च दातारममृतेषु वोचः (मैत्रा०
 सं० ४ । १३ । ७) ॥ वनस्पते रज्ञनया नियुय सुरूपतमया
 वयुनानि विद्वान्प्रज्ञानानि मजानन्वह देवान्यग्ने दातुर्हवींषि
 मब्रूहि च दातारममृतेषु देवेषु स्वाहाकृतयः स्वाहेत्येतत्सु आहोति
 वा स्वा वागाहोति वा स्वं माहोति वा स्वाहून् हविर्जुहोतीति वा
 तासामेषा भवति ॥ २० ॥

२०

वनस्पते रज्ञनया नियुयति । वनस्पतेरेव हृयाग्या (मैत्रा० सं०

१ च. सुषो. सा. २ क. ल. प. ट. ठ. ड. विनियु; च. - नियुं वि.
 २ क. ल. प. ट. ठ. ड. 'वहनमयो', च. 'वहनया' स. ४ क. ल. प. ट.
 ड. ह. आग्रवति. ५ क. ल. ४ (१९), ग. २०; उ. 'रिति । इति निष्क-
 वीद्यापादुत्पत्तये २ 'एयाये १९ सप्यः; च. वर्मन्त्रिरेषाहो नास्ति. ६ क. ल. उ.
 म. व. वा. ७ क. ल. १ (२०); छ २१; त. २. ५. ८ म. 'दिति ।
 १७ १; व. २. 'राववेति.

४ । १३ । ७) । हे वनस्पते रंजनया पिष्टतमया सुख्यतमया अत्यर्बु इदया
 हविर्वहनात् वन- एवमादिगुणयुक्तया रशनया नियूय अप्रव्वस-
 स्पतिरग्निः नाय नियन्व्य वयुनानि स्वाधिकारयुक्तानि प्रहा-
 नानि अस्मदुपकाराय विद्वान् जानानो यद्
 एतानि अस्मत्प्रैतानि हवींषि अन्य दिधिपोः दातुः यजमानस्य अभिमत्- ५
 फलप्राप्तये देवत्रा देवान् प्रति । प्रदातारम् अमृतेषु योचः प्रयोचः ।
 कथयस्वैनं दातारम् अमृतेषु देवेषु अमुना यजमानेनेतानि हवींषि प्रत्तानि ।
 एवमाग्निर्वनस्पतिः ।

यापुनरेतदुक्तं यूप्राञ्जनीयायां 'यूपे वनस्पतिशब्दः' (निरु०
 ८ । १७) इति । अत्र ब्रूमः । अग्निरेषासौ यूपान्तर्गतौ यूपान्मना १०
 यूप्राञ्जनीयायामुचि वर्तमानो यूप्राञ्जनीयायां वनस्पतिशब्देनोच्यते ।
 अपि वनस्पतिरग्निरेव तदुक्तम् 'एष हि वनानां पाता पालयिता वा'
 (निरु० ८ । ३) इति । यस्मादन्तर्गतौ
 वनानां वनानि न दहति तस्मादेव वनस्पतिः । उक्तं च 'योऽयमृ-
 बीसे पृथिव्यामग्निरन्तरोषधिवनस्पतिष्वप्सु तमुन्निन्यथुः सर्वगणं सर्वना- १५
 मानम्' (निरु० ६ । ३६) इति । सोऽयमग्निरेवानेन वनस्पतिशब्देन
 यूप्राभिधानेन वनस्पतिरभिधेय इत्यदोषः ।

अपरे पुनः 'अञ्जन्ति त्वाम्' इत्यधिपज्ञात्पृथक्त्वेनाधिदैवतमुक्त्वाय
 शःकपूणिमतेनाग्निपरत्वमेव वर्णयन्ति । यदाप्यधिपज्ञेऽस्य यज्ञाङ्गाभिवाद-
 स्तथापि नाधिदैवतमग्निमभिधातुमस्याः परेहीयते सामर्थ्यं मन्त्रार्थे इति । २०
 तस्या ऋचोऽग्नि- तत्कथम् । अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तः । हे
 परत्वेनार्थयोजना भगवन्मग्ने अञ्जन्ति त्वाम् आचारायाभिरुह-
 तिभिः अध्वरे यज्ञे देवयन्तः देवाङ्कामयमानाः
 यस्मात्त्वमूर्ध्वः स्थास्यसि उज्जिष्यसि । यच्च ते क्षयो मातुः वेद्याः उपस्थे
 उपस्थाने उपरि उत्तरेवेद्याः क्षयो निरासः कृतभ्रत्रोपगण्डितः द्रविणानि २५
 धनानि यज्ञसिद्धौ यज्ञफलाभ्यस्माकमवश्यं दास्यतीत्यतस्त्वामाहुतिभि-
 रञ्जन्ति ।

१ प. ट. ट. ड. प्रदत्तानि; ख. 'त्वद्वृत्तानि, ग. ज. त्वद्वृत्तानि'. २ ग. ज.
 'द्वैवमुत्तम'. ३ ग. ज. 'यते विज्जामर्ध्वमिति. ४ ड. 'नारात्प्या इत्यस्यान्तर-
 मध्यमवना हि वावन् पत्राणि गच्छन्ति.

काथ्येक्यपक्षेऽपि ' देवेभ्यो वनस्पते ' ' वनस्पते रशनया नियुय ' ।

' देवेभ्यो वनस्पते '
' वनस्पते रशनया नि-
युय ' इत्यनयोर्भेदोः
यूपार्थे योजना

इत्यनयोरर्थयोजना । हे वनस्पते वानस्पत्य यूप
त्वमुष्पसे हिरण्यपर्णं ऋतपर्णं वह एतानि
हवींषि । अर्चयित्वा स्वयि नैतानि उह्यन्त इति
ऋग्वैवा वोद्वेति प्रतीमहे । कथं च पुनर्वह ।
प्रदक्षिणित् । यथैतानि वोढव्यान्वाविर्भ्यस्वन्ते तेन

विधिना रशनया एतया त्रिवृता नियुय परिधीय त्वमात्मानम् । ऋतस्य यज्ञस्य
ये पन्थानः रनिष्ठा । प्रदिशः चिरंतन एवायमर्थस्त्वया हवींषि वोढ-
व्यानीति । विज्ञायते च ' यूपेन वा आहुतयः ' स्वर्गं लोकं यति ' ।

१० (मैत्रा० सं० ४ । ८ । ८) इति । वनस्पते रशनया नियुय । हे
वानस्पत्य यूप रशनया पिष्टतमया सुरूपतमया त्रिवृता नियुय परिधीय
त्वमात्मानं वह एतानि - हवींषि स्वाधिकारप्रयुक्तानि प्रज्ञेयानि प्रजानन्
देवत्रा च देवान्प्रति दिधिषोः हविर्दातुः अर्थसिद्धये । प्रमूहि च एनं दातारम्
अमृनेषु देवेष्विति ।

१५ ' स्वाहाकृतयः ' (१३) वेक्तव्या । काः पुनस्ताः स्वाहाकृतयः ।
या यागार्थमाहूयोत्तमे प्रयाजे स्वाहाकारेण सत्क्रियन्ते ताः
स्वाहाकृतयः । ननु ' सद्यो जातः ' (ऋ० सं० १० । ११० ।
११) इत्यग्नेयो मन्त्रः । सत्यमाग्नेयः शौनकास्य । तथापि
स्वाहाकृतयः समाभ्राताः । किं कारणम् । ' सद्यो जातः ' ।

२० १ ग. अ. ज. काथ्यम्. २ ग. ज. हनपर्ण. ३ ग. ज. तमुच्यते. ४ क. स्व.
ग. ज. ' पर्यस्वभेतेन, च. ' पर्यस्वभेते ' स्थिते, ५ ग. ज. तृश्रुता, अ. त्रिवृता
त्रि. ६ क. स्व. प. ट. ठ. वनस्पते वानस्पत्य, अ. वानस्पत्य यूपे ते वानस्पत्य.
७ क. स्व. प. ट. ठ. प्रज्ञेयानि. ग. प. यज्ञेयानि, अ. प्रज्ञेयानि ज्ञाना. ८ क.
ख. प. ट. ठ. ' च ' नास्ति, अ. च. ९ क. ख. प. ट. ठ. निर्भक्त. अ. वेक्त
१०. निर्भ १० क. ख. प. ट. ठ. इ. ' भेयो मन्त्रः शौ', अ. ' भेय. - शौ' मन्त्रः.

यद्यपि 'सद्यो जात'
इति मन्त्र आग्नेयः
तथापि 'स्वाहाकृतं
हविरदन्तु देवा' इति
मन्त्रान्ते श्रवणात्
स्वाहाकृतयः समा-
ज्ञाता नामिः ।

इत्यनुदुव्याप्तेः स्तुतिमन्त्रे 'स्वाहाकृतं हवि-
रदन्तु देवा' इति सप्रदानम् । तत्र
देवता सप्रदानमिति स्वाहाकृतयः समा-
ज्ञाता नामि रिति ।

५

अथ स्वाहाकृतयः 'कस्मात् । स्वाहा स्वाहेत्यनुकीर्तनेनासामुत्तमस्य
प्रगाजस्य प्रैपसस्कारः क्रियते इति स्वाहाकृतयः । अथ 'स्वाहा'
इति कस्मात् । सुप्तु 'आह इति वा' । यदेव सप्रदानदेवतायै 'किञ्चि-
दाश्वस्य' इत्यनेन मन्त्रेणाह 'तुभ्यमिदम्' इति तदेव 'सु आह'
शोभनमाह । एतस्य 'सु' पूर्वपदम् 'आह' इत्युत्तरपदम् ।

'स्वाहा' शब्दस्य व्युत्पत्त्यः अथवा । इदमन्यद्वाहणानुगत निर्दिचनम् ।
'स्वा वागाहेति' । विज्ञायते हि । 'त स्वा
वागभ्यवदन्तुर्वाति' । तस्वाहाकारस्य जम्
(भैत्रा० सं० १ । ८ । १) इति । अत्र च स्वशब्द पूर्वपदमुत्तरपद
तथैव । अथ 'वा स्व प्राहेति' । सो विशेषेण पूर्वस्मात् । पूर्वपदस्य कार-
काग्यत्वम् । स्वा वागाहेति कर्त्तरि स्व प्राहेति कर्मणि । प्रपूर्वं चोत्तरपदं
प्रकर्षयित्वा । 'स्वाहृतं हविर्जुहोति इति' । यदनेनेव हविर्जुहोतीति
तदेव सुप्रापाद्य यथाभिधानमग्नौ जुहोति । हवि प्रधानोऽत्र निर्देशः ।
'तासांमिषा भजति' स्वाहाकृतानाम् ॥ २० ॥

१०

१५

२०

सद्यो जातो व्यंघिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः । अस्य
होतुः प्रदिश्यतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः (ऋ० सं०
१० । ११० । ११) ॥ सद्यो जायमानो निरग्निमीत यज्ञमग्निर्देवा-
नामभवत्पुरोगाम्यस्य होतुः प्रदिश्यतस्य वाच्यास्ये स्वाहाकृतं

२५

१ क. ए. घ. च. ड. ठ. स्तुतिमन्त्रे. २ घ. ठ. ठ. देवाः ग^१ १ ग. ऋ.
वागवदन्तु. ४ क. स. घ. ट. ठ. 'यदेस्य का'. ५ क. ए. घ. ट. ठ. जुहा
तीनि हविः. ६ क. ए. ५ (२७), ग. २१, ठ. 'तीनाम् । इति निरुक्तं उ०
दि० २० खण्ड, च.वर्तिनविशेषज्ञो नास्ति.

३०

हविरदन्तु देवा ईतीमा आप्रीदेवता अनुक्रान्ता अथ किं देवताः
मया जानुयाजा आम्रेया इत्येके ॥ २१ ॥

‘सद्यो जात.’ इति । योऽयमग्निः सद्यो जातो जायमानः अनन्तरमेव
व्यभिधीत यज्ञं निर्वर्तयति यज्ञम् । यश्च जातमात्र एव अग्निः देवानाम् अभ-
वत् पुरोगाः पुरोगाभी अप्रतोगाभी प्राधान्येन ।
स्वाहाकृतयः तस्य होतुः देवानामाहातुः प्रदिशि प्राच्यां

दिशि ऋतस्य गतस्य प्रणीतस्योत्तरवेदिकत्वेन वाचि आस्ये । वाचिः स्यास्य-
मेवापेक्ष्य । स्वाहाकृतं स्वाहा करवता मन्त्रेण प्रक्षिप्त हविः एतदाज्यम्

१० अदन्तु पिबन्तु देवाः स्वाहाकृतयः इति ।

इतिकरणोऽधिकारसमाप्यर्थः प्रदर्शनार्थो वा । एता एदैकादश,

एवमेता एकादश आप्रीदेवता अनुक्रान्ता इत्याद्याः । ननु द्वादश
आप्रीदेवताः यासांमनुकीर्तनम् । सत्यम् । अनुक्रान्ता द्वा-
दश । तास्तु एकादश यनस्पत्यन्तो यासामिह

१५ विचारः । न तु स्वाहाकृतिषु विचारोऽस्ति । तत्तद्देवतासंस्कारपरित्वादुत्त-
मस्य प्रयाजस्य यजतो एकादशग्रहणादेकादशप्रयाजत्रिय एवोत्तरो
विचार इत्याचार्याभिप्रायो गम्यते । ततः किम् । यद्यनुक्रान्तास्मान्
प्रति विचारो वर्तिष्यते । ननु विचारितमेव ‘यज्ञेऽम इति कार्थिक्योऽ-
ग्निरिति शाकपृणिः’ (निरु० ८ । ५) इत्येवमादि । सत्यम् । विचा-

२० रितमेतत् । स तु प्रत्येकमाप्रीदेवतापदेषु विचारः । अयं तु सामान्यप्रक-
रणगत औसाभेषु विचारोऽनिश्चितानां निश्चयावधारणार्थः । निश्चितेन हि

- १ ड. घ. ध. ट. ‘देवा यजन्तीतीमा’ २ क. ख. ६ (२१) ; छ. २१
त. व. ६. ३ ग. इति । यो. ४ क. ल. घ. ट. ट. तस्यास्य हो ; च. ताप
‘ हो’ अस्य. ५ ग. ज. तस्योत्तर. ६ घ. ट. ठ. द्वादशानामासामनु ; च.
२५ द्वादशायोऽसामानु नामा. ७ ग. ज. सत्यमनुक्रान्तानां ता एकादश च. सत्यं तु
अनुक्रान्तानां द्वादश यासांमनुकीर्तनं ता ; ८ च. ता ~ ए इति. ९ ग.
ज. ‘वनस्पत्यः । न तु. १० ग. ज. ‘पदस्वा. ११ ग. ज. यजते । ए. च.
यजते । ए. ती. १२ ग. ज. क्रान्ताः प्रति ; च. क्रान्तास्तान्. १३ ग. च. ज.
कायकम्. १४ क. ख. घ. ट. ठ. सामान्यं य, च. सामान्यं य. १५ क.
२० ख. च. ट. ठ. ‘गवध्यामा’, च. गव ध्यामा’ ध्या.

व्यवस्थितेन त्रिधिना भवितव्यम् । अधियज्ञे यजती देवताभ्यान्नुभ वध्र-
वणात्तदेतद्विषयमनिश्चितम् ।

‘ अथ ’ इति । विचाराधिकारवाचिना अथशब्देन विचारमधिकृत्यो-

किं देवताः पोद्धन्ति ‘ अथ किं देवताः प्रयाजाः ’ इति ।

प्रयाजाः का प्रयाजेषु देवतेति । प्रयाजा इति आधुता-

प्रयाजेषु हुयमानेष्विति प्रसिद्धत्वात् । कुतः संशयः । नानादेवता एव

प्रयाजप्रवादाः । आग्नीणां वषट्कारेण संबन्धात् सर्वस्य चान्यस्य समञ्जनो

विशेषाभावः । एवं सति विप्रतिपत्तिराचार्ययोः कार्थव्यशाकपण्योः ।

तस्माद् न्यवस्थाप्यत इति ।

कथं नानादेवताः प्रवादा इति । तत्र तावत् ‘ आग्नेया इत्येके ’ ।

आग्नेया इत्येके

कुतः । ‘ आग्नेया वै प्रयाजा आग्नेया अनुयाजाः ’

इति च ब्राह्मणम् । तत्र ये एतस्मिन्नर्थे सौची-

नेनाग्निना विश्वेषु देवैः परस्परसंवादे दृष्टे ऋचौ । स हि किल ‘ सौची कोऽ-

ग्निर्विश्वेदेवैः सह समूदे । ते तमुचुरेहि नो हवींषि बहेति । स तानुवाच

यज्ञे भागो मेऽस्विते । ते तं प्रत्यञ्चुर्वृणीष्वेति । सोऽनपर्चा वने ॥ २१ ॥

प्रयाजान्मे अनुयाजांश्च केवलानुर्जस्वन्तं हविषां दत्त भागम् ।

घृतं चापां पुरुषं चौपधीनामग्नेश्च दीर्घमायुरस्तु देवाः (ऋ० सं०

१० । ५१ । ८) ॥ तत्र प्रयाजा अनुयाजाश्च केवल ऊर्ज- १०

स्वन्तो हविषां सन्तु भागाः । तत्राग्ने यज्ञोभयमस्तु सर्व-

स्तुभ्यं नमन्तां मदिशथत्सः (ऋ० सं० १० । ५१ । ९)

आग्नेया वै प्रयाजा आग्नेया अनुयाजा इति च ब्राह्मणं छन्दो-

देवता इत्यपरं छन्दांसि वै प्रयाजाश्छन्दांस्यनुयाजा इति च

१ ग. ज. यजने. २ ग. ज. प्रयाजवादाः. ३ क. ख. ग. ज. प. ट. ठ. विरे-
वभावः. ४ ग. ख. कायक्य, च. ट. काण्डक्य. ५ क. ख. प. ट. ठ.
‘ देवाः प्रयाजपव दा’ . ६ घ. स. ट. च. ‘ एत स’ . ७ च निश्चदे; ठ. विश्वेभ
देव’ . ८ क. ख. ६ (२१), ग ६२, ठ. इति निरुक्तटीकायामुत्तरपट्के
द्वितीयाध्याये एकविंशतिः खण्ड’, च वर्जमिनेरेष्वहो मारित. ९ ट. २. २१

- ब्राह्मणमृतदेवता इत्यपरमृतवो वै प्रयाजाः पशवोऽनुयाजा इति
 च ब्राह्मणं प्राणदेवता इत्यपरं प्राणा वै प्रयाजा अपाना अनु-
 याजाः (शत० ब्रा० ११ । २ । ६ । २७ ॥ कौपी० ब्रा०
 ७ । १) इति च ब्राह्मणमात्मदेवता इत्यपरमात्मा वै प्रयाजाः
 ५ मैत्रा अनुयाजाः (तैत्ति० सं० ६ । १ । ५) इति च ब्राह्मण-
 याग्रेया इति तु स्थितिर्भक्तिमात्रमितरत्तिकमर्थं पुनरिदमुच्यते
 यस्यै देवतायै हविर्दृष्टीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वपट्टरिष्यन्निति इ
 विज्ञायते (ऐ० ब्रा० ११ । ८) । तान्येतान्येकादशाभी-
 १० सूक्तानि तेषां वासिष्ठमात्रेयं वाध्यश्चं गार्त्समदमिति नौराशंस-
 वन्ति मैधातिथं दीर्घतमसं प्रैपिकमित्युभयवन्त्यतोऽन्यानि तनून-
 पादवन्ति तनूनपात्वन्ति ॥ २२ ॥

- प्रयाजानुयाजा आग्ने- प्रयाजान् मे अनुयाजांश्चेति । हे विश्वेदेवाः
 या इत्यर्थे ऋचौ प्रयाजान् मम केवलान् अनन्यदेवतासंपृक्तान् ।
 १५ आग्निः प्रयाजानु- ऋषया । निरवशेषान् । ऊर्जस्वन्तं सुरसवन्तं
 याजादि देवान्यपात्रे सर्वस्य हविषः अवधार्य दत्त भागं
 पश्ये । घृतं चापां पिबेयमहं प्रथममाग्ने-
 भागे । पुरहं चोपधीनाम् औपधिमयानां च हविषां मम पुरहं पुरोडाशम् ।
 एवं नित्यं भोगः स्यात् । ममान्नेः हे देवाः दीर्घमायुरस्तु । यथा मम पूर्वे
 २० भ्रातरो हविर्वहन्तो वपट्टकारप्रवृक्णा ममूर्नाहं तथा मृषीपेलभिपायः ।
 तैत्र पूर्वेऽनयः प्रगम्यं देवेभ्यो वहन्तः तान् वपट्टकारः प्रैवृत्तेति ।
 एवमुक्तास्तेऽनयोत्तरयचांनुजशिरे तस्य तं भागम् । तव प्रथीजा अनु-

१ ङ. ध. घ. ठ. 'याजा पशवोऽनुयाजा इति च ब्राह्मणं पशुदेवता इत्यपरं
 पशवो वै प्रयाजाः पशवोऽनु' । २ ङ. ध. घ. ठ. प्राणा वा अनु' । ३ ङ. घ. ष.
 व्यत्या वा अनु' । ४ त. 'नै' ना; ध. 'नरा' । ५ क. ख. ङ (२२); त. द. ङ.
 ६ न. 'भो' । ७ च. 'जौर' । ८ क. ल. ष. ङ. ट. ठ. 'नित्यं मम
 भागः' । ९ क. ल. घणः; च. ट. तैत्रे वयः । १० ग. ज. 'माहृतभेनि, च. 'माह-
 १८ कति' भवे; ट. 'माहृतं' भदि. ११ ठ. 'प्रयाजा इति । यथा'.

याजाश्च केवल ऊर्जस्वन्तो हविषः सन्तु भागाः । यथा त्वयोक्तम् ।

ते याचितं सर्व- अपि च किं बहुना । तवान्ने यज्ञोऽयमस्तु
ममये ददुः सर्वः । त्वदर्धीन एवायं यज्ञः सर्वोऽस्तु ।
किञ्च । तुभ्यं नमन्ता प्रदिशश्चतलः । प्रदि-

शोऽन्तर्भूता दिक्ष्वेव । दिग्निवासीनि भूतानि भोग्यत्वेन कल्पन्तामित्यर्थः ।
एवं तावदाग्नेयाः ।

अथ नानादेवताः प्रवादा इति यदुक्तं तदनुप्रदर्शयते । ' छन्दोदे-
नानादेवता इत्यपरे वताः ' इत्येवमादि । तत्कोऽत्र निश्चयः ।
' आग्नेया इति तु स्थितिः ' । तुशन्दोऽप्य-
प्रवादनिवृत्त्यर्थः । केन विशेषहेतुनाग्नेयत्वमदर्शयते । ब्राह्मणं मन्त्रधोम-
आग्नेया इति तु यमाग्नेयत्वे । ब्राह्मणान्येव केवलान्यन्यदेवतात्वे ।
स्थितिः एतस्माद्विशेषहेतोरवादीधरौम आग्नेया इति ।

अथ किमन्यदनृतमवेति । ' भक्तिमात्रमितरत् ' छन्दोदेवता
इत्येवमादि । तदुक्तम् । ' बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति ' १

या देवतामुद्दिश्य
हविर्गृहीतं तां मनसा
प्रायेदिति ब्राह्मणानु-
शासनादयं देवतावि-
चारः

(निरु० ७ । २४) । ' किमर्थं पुनरिदमुच्यते ' ।
किं विचारार्थं प्रयोजनमिति । ' यस्यै देवतायै
हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा प्रायेदपट्टारिष्यन्निति
ह विज्ञायते ' । नानभिर्साहित हविर्देवतामुपे-
यात् । एवमर्थः सर्वत्र विचारः । तथाहि
दर्शितं ' यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुच्यते ' २०

(निरु० ७ । ११) इति । मनसेति किमर्थम् । केन वाऽन्येन प्रायेदिति ।

१ क. ल. घ. झ. ट. ठ.° दिङ्निचा°, ग. दिग् दिक्षिच सीनि; ज. दिग्
दिवासीनि. २ ग. ज. 'मवधुयते; च. 'मद्वधुयते' वधि, घ. झ. ठ. °यत्न मन्यते;
ट. °यत्नमन्ते° त्वमवधिय. ३ ग. घ. ज. झ. ट. ब्राह्मणमन्त्र°. ४ क. ल.
'वधाराधामः; घ. झ. ट. °वधरात आ°; च. °र्वी दीधरात° व. ५ घ. झ. ट.
ठ. °नृतमेव भवति, च. °नृतमेवेति° व भव ६ क. ल. घ. झ. ट. ट. भवन्तीनि.
७ क. ल. ग. ज. विचारणे. ८ ग. नामभिर्हित, ज. न म भेहिर्हितं, च. नाभि-
सं° न. ९ क. ल. घ. झ. ट. इ हविर्देवतायै वेस्ताम्, च हविर्देव° व ताये दे. १०

शृणु । सर्वेन्द्रियविषयप्रत्याहतेन मनसा यथाश्रुतगृहीतभावितानां देवतानां

ब्राह्मणवाक्ये मन- नानात्वैकस्वत्रिलेष्वात्मनो हृदये विज्ञानमधीमा-
सापदस्य प्रयोजनम् लक्ष्यप्रतिकृतिं लक्ष्यकृत्नानन्यमनास्तत्कालम-
धीत्य याग्या वपटूरिष्यस्तदनुचिन्तनसंस्कार-

- ५ 'संतानेकरसेन मनसा हविष्यभिसंघाय देवतां ध्यायेदित्यस्य विशेषस्य
द्योतनार्थं प्राप्तस्यापि मनसो ग्रहणं मनसा ध्यायेदिति । ब्राह्मणं चैतदर्ध-
मेत्रोक्तमाचार्येण । अथ हि विशेषतः पुरुषार्थोऽयमद्व इति । अतोऽन्यथा
हि देवताचिन्तनैशून्यं कर्मतस्मिन्प्रधानकाले विकलमित्यफलमेव स्यात् ।
एष एव ध्यानकालो यजमानस्याहुतिप्रक्षेपकालः । न तथान्येषामन्वयु-
१० मभूतीनामाहुतिप्रक्षेपव्यापृतानाम् । लक्षणं हि होति ।

' इतीमान्येकादशार्प्रसूक्तानि ' अनुक्रान्तानि । दशधा दशतयीषु ।

आप्रसूक्तान्येकादश तेषानेकादशं प्रैषिकमिति । इतीमानि । उपग्रद-
शानार्थं इतिकरणः । एष एव तेष्वपि निर्वचन-

विचारावधारणकल्पः । यस्तु तद्गतः कश्चिद्विशेषः स उच्यते । ' तेषां

- १५ तेषु कानिचिन्ना- वासिष्ठमात्रेयम् ' इत्येवमादि । वसिष्ठेन दृष्टं
राशंसवन्ति वासिष्ठम् । अत्रिणा दृष्टम् आत्रेयम् । वाधयश्वेन
दृष्टं वाधयश्वम् । गृत्समदेन दृष्टं गार्त्समदम् ।

कः पुनरसौ विशेषः । ' इति ' एतानि ' नाराशंसवन्ति ' । अथ पुनः
' मेधासिधेर्द्वैर्घतमसं प्रैषिकमिति ' । मेधातिथिना दृष्टं मेधातिथम् ।

- २० कानिचिद्बुभयवन्ति दीर्घतमसा दृष्टं दीर्घतमसम् । प्रैष इति ग्रन्थः ।
शेषाणि तनूनपात्वन्ति तेषु यत्तत्रैषिकमिति तदिहोपरिणीतम् । एतानि
' उभयवन्ति ' । ' अतोऽ-यानि ' यानि चत्वारि
अत्रशिष्यन्ते तानि ' तनूनपात्वन्ति ' । अत्र नाराशंसयाजिनो वसिष्ठा-

१ क. ल. म. ज. च. झ. ट. ठ. धोनायार्थं प्राप्तं च. दोतना-र्थं या.
२ च. इ. श. ग. च. ज. विन्-शून्यं. ४ क. स. प. झ. ट. ठ. एव च ध्यां ;
म. एष च ध्यां ; च. एष च ध्यां च. ५ क. रा. प. झ. ट. ठ. ' काले, च.
' काले. ' ले. ६ क. रा. प. झ. ट. ठ. ' मानीति. ७ क. रा. च. झ. ट. ठ.
१० ' नार्थं शिद'. ८ ग. ज. ' ए. ' नास्ति.

दयः । तेभ्योऽन्ये तन्नूनपाद्याजिनः । तान्येतान्यमुना विभागेनानस्थितानि एकादश एकनिर्वचनावधारणानि ।

अतोऽन्यानि दाशतयौदाप्रीसूक्तवर्गात् सौत्रामण्यां श्रीणि (मैत्रा० सं० ३ । ११ । १ ॥ ३ । ११ । ३ ॥ ३ । ११ । ११) अन्य-
श्वमेधयोरेकैकम् (मैत्रा० सं० २ । १२ । ६ ॥ ३ । १६ । २) ।

तत्र यानि सौत्रामण्यां तान्यनामैयानीति न परिसंख्यातानि प्रैषिकेऽनुक्त-

अन्येषामाप्रीसू- मणात्तेषाम् । आग्निकाश्वमेधिके तु कर्मान्त-
क्तानां यास्केन निर्दे- रेऽपि विनियुज्ये न केवलमाप्रीषु । इष्टकोपधा-
शो न वृत्तः । तस्य ने “ आग्निमुत्तमायां चितौ ‘ समास्वाद्ग
कारणानि ऋतवो वर्धयन्तु ’ (मैत्रा० सं० २ । १२ । ५) इति ” ‘ द्वादशाप्रीरस्येषु ’ इति । हस्त-

ग्रहणमाश्वमेधिकं यजमानस्य ‘ समिद्धो अञ्जकृदरं मतीनाम् ’ (मैत्रा० सं० ३ । १६ । २) इति ‘ आप्रीभिर्हस्तं गृह्णाति ’ इति । अत

आप्रीकार्ये प्रयोगव्यभिचारादाप्रीसूक्तवर्गमव्यपठिते अपि न परिसंख्याते
आचार्येण । सौत्रामण्यां तु प्रथमस्य पशोर्यां द्वितीया आप्री तस्याभेक-

स्यामेव च नराशंसुतन्नूनपातौ ‘ नराशंसः प्रति शूरोऽभिमानस्तन्नूनपा-
प्रति पशस्य धाम (मैत्रा० सं० ३ । ११ । १) इति । तत्र

नराशंसयाजिर्ना वसिष्ठप्रभृतीनां यागे निपातवत्तन्नूनपात्पदमनर्थकं पादपूर-
णमात्रेणोपकारं मन्त्रे करोति । तथा तन्नूनपाद्याजिनां नराशंसपदम् । एष

एवान्यत्रत्येवंविधे देवतापदे प्रयोगादन्यथामाविनि देवतापदेनिपातकल्पः ।
तद्यथा । अश्वहविष्यश्वप्रतिग्रहप्रायश्चित्ते (मैत्रा० सं० २ । ३ । ३ ॥
काठ० सं० १२ । ६) ‘ यद्य सूर्य ’ इति सौर्यावर्णानां

याज्यानुवक्तये (मैत्रा० सं० ४ । १२ । ११ ॥ ऋ० सं० ७ । ६० । १) ।
तथोर्भिन्नार्थम्णोर्वानि लिङ्गानि तानि निपातवद्भवन्ति । यथा

१ ग. ज. तेभ्योऽन्योद्यानेन तान्ये°; च. तेभ्योऽन्ये. २ ग. ‘तव्यादा. ३ च. ‘स्वेषेयैषि°. ४ ग. ज. अस्व°. ५ घ. झ. ठ. संसोमिना°; ट. संसोमिना° शूरो. ६ ग. ज. ‘याजिना नराशंसपदम् । एष एवान्यवत्तन्नूनपा°. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ‘पदानां निपा°; च. ‘पदानि° दाना. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. सौर्य- मित्रावर्णाना, ग. ज. ‘सौर्यावर्णाना, च. ‘सौर्यावर्णाना° भवित्रा. २९

‘प्र चित्रमङ्गं गृणते तुराय’ (ऋ० सं० ६ । ६६ । ९) इति । अत्र
संबोधनान्तमप्यग्निपदं नैपातिकं केवलमारुते हविषि (आश्व० श्रौ० ३ । ७) ।
चातुर्मास्येषु वैश्वदेवप्रयोगे पुनस्तदेवार्थवत् (आश्व० श्रौ० २ । १६) ।
‘आग्निमारुतो पृथ्निमालभेत वृष्टिनामः’ (मैत्रा० सं० २ । ५ । ७)

५ इत्यत्र षड्वैश्वदेवप्रयोगे । एष एव देवताः इति विचारः ।

यस्मिन् पक्षे सर्वे आग्नेयाः प्रयाजाः ‘ प्रयाजन्मे अनुपाजांश्च केव-

सर्वे प्रयाजा लान् ’ (ऋ० सं० १० । ५१ । ८) इति

आग्नेया इति पक्षे मन्त्रदर्शनात्तस्मिन्पक्षे ‘ तिस्रो देवीः ’ इत्यत्र

‘ तिस्रो देवीः ’ इत्यस्य भारती युस्थाना मपस्थाना सरस्वती पृथिवी-

स्थाना इडो इति च तदेवतात्रयं दुःप्रतिसमा-

धानम् । स्थानान्तरापत्तिस्तुत्या चाग्निरेवैता-

पती ‘ समिद्धो अग्निः समिधो’ इत्येता आग्नेयः (मैत्रा० सं० ३ । ११ ।

११) । तामु तनूनपादेकः ‘ तनूनपाच्छुचिमतः ’ इति (कठ० सं०

३८ । १०) । नास्येव नराशंसः । तत्र नरा-

शंसयाजिनां सौत्रामर्णाप्रयोगे कथं प्रयोगः । किं

तनूनपादेर्षं प्रयुग्मतामुत्तान्यतः कुतश्चिदधीःसू-

क्तदाहिषतां नराशंस इति न्यायविदो मेधाविनः

समनुगाद्यन्ते विशेषमिति ॥ २२ ॥

२०

इति निर्गन्तृनी प्रथोदशोऽध्यायः मेधासः ।

* द्रविणोदाः कस्माद्द्रविणोदाद्रविणसोमेद्यन्तुतेऽर्थोत्तभाप्रियः
सोमिद्धोअथतर्नूनपात्रराशिसस्याजुर्हानःप्रोचीनंग्यचैस्वतरासुध्वे-
यन्तीदैर्वाहोतारानोयैङ्गयर्मेआविष्टयोवनस्पर्तिरुपावसृजाजर्ज-
न्तिदेवेभ्योवनस्पतेवनस्पतेरशनयासद्योजीतःप्रयाजान्मेद्वाविंशतिः ॥

इति निरुक्त चत्तरपट्टे द्वितीयोऽध्यायः ॥

५

* छ. त द खण्डशुद्धता नास्ति.

१ छ. घ. नेरुक्ते, छ. इति निरुक्ते अष्टमोऽध्याय, त. घ इत्यष्टमोऽध्यायः
समाप्तः, म. अष्टमाध्यायस्य तृतीय पाद । इ यष्टमोऽध्याय समाप्त, उ 'इति०
ध्याय.' नास्ति.

१०

अथ नवमाध्यायस्य

प्रथमः पादः ।

ॐ । अथ यानि पृथिव्यायतनानि सत्त्वानि स्तुतिं लभन्ते
तान्यतोऽनुक्रमिष्यामस्तेषामश्वः प्रथमागामी भवत्यश्वो व्याख्या-
५ तस्तस्यैषा भवति ॥ १ ॥

अथ यानि पृथिव्यायतनानि सत्त्वानीत्येवमादि । ' अथ ' इति
पृथिव्यायतनानां विशेषाधिकारे । प्रकृतार्थादनन्तरमधिकरोति ।
१० सत्त्वानामनुक्रमणम् ' पृथिव्यायतनानि ' पृथिव्याश्रयाणि ' सत्त्वानि '
द्रव्याणि च तेषामप्यत्र विवक्षितत्वात् । ' स्तुतिं
लभन्ते इति, समाह्वयानि । ' तान्यतः ' परम् ' अनुक्रमिष्यामः ' ।
व्याख्येयैति शेषः । पूर्वस्मादाभीगणाद्विलक्षणोऽयमश्वः इति पृथग-
धिकारवचनम् । पृथिव्यायतनवाविशेषात्सर्पलाङ्गलवुमुंभकप्रभृतीनामप्य-
श्रेयान्तर्भावः । तान्यपि हि स्तुतिं लभन्ते लक्षणं वेदमिति । तेषां युगप-
१५ दभिधानासंभवात्कमोऽर्थादङ्गुष्ठिनो भवति । सति च क्रमे न मुद्रयातिक्रमो
स्यैव इत्यतो ब्रवीति । 'तेषां मध्यः प्रथमागामी भवति इति । स पुनः किमर्थः
तेषामध्यः प्रथमः प्रथमागामी । पुनरानन्तरैर्जन्मेति हि विशयते ।
' तस्या आह्वयाः पुरयोऽजायत द्वितीयामष्ट-
होततोऽश्वोऽजायत ' (मैत्रा० सं० १ । ८ । १) । विशिष्टे चार्धमे-
१० षलक्षणे कर्माणि विशिष्टोऽस्याङ्गभाव इति । स च पुनरप्यं ' व्याख्येयैः ' ।

१ क. ठ. द. हरिः भोम; उ. पुं; य. अं १ म, य. हरिः अं म. १ र.
न. यानि पृथि. १ न. म. 'तान्यतः' पं. ४ य. म. 'व्याख्याये'. ५ क.
न. य. म. द. ठ. द. दुष्टम्; ग. म. दुष्टम्. ६ क. ल. य. म. द. ठ. द.
पं. १. ७ ग. म. कर्मणः पुं; य. कर्मणः पुं. ८ ग. म. 'व्याख्येये तस्या आह्व-
याः'. ९ क. ल. विमप. १० क. ल. य. म. द. ठ. द. 'अथ लभन्ते'.

१५ ११ क. ल. य. म. द. ठ. द. 'स्तुतिं लभन्ते'.

‘ अश्रुते अर्ध्वानं महाशनो भवतीति वा ’ (निरु० २।२७) इत्यत्र ।
 ‘ तस्यैषा ’ प्राधान्यस्तुतिरश्वस्तोमीय एव ॥ १ ॥

अश्वो बोद्धां सुखं रथं हसनामुपमन्त्रिणः । शेषो रोमण्वन्तौ
 भेदौ वारिन्मण्डूकं इच्छतीन्द्रायेन्दो परिं स्रव (ऋ० सं० ९ ।
 ११२ । ४) ॥ अश्वो बोद्धां सुखं बोद्धां रथं बोद्धा सुख-
 मिति कल्याणनाम कल्याणं पुण्यं सुहितं भवति सुहितं गम्य-
 तीति वा हसैता वा पाता वा पालयिता वा शेषमृच्छतीति वारि
 वारयति मा नो व्याख्यातस्तस्यैषा भवति ॥ २ ॥

१०

मा नो मित्रो वरुणो अर्थमायुरिन्द्रं ऋभूक्षा मरुतः परिं
 ख्यन् । यद्वाजिनो देवजातस्य सप्तैः प्रवक्ष्यामो विदधे वीर्याणि
 (ऋ० सं० १।१६२।१) ॥ यद्वाजिनो देवजातस्य सप्तैः सरणस्य
 प्रवक्ष्यामो यज्ञे विदधे वीर्याणि मा नस्त्वं भिन्नश्च वरुणाश्चार्यमा
 चोयुश्च वायुरयनं इन्द्रश्चोरुक्षयणं ऋभूणां राजेति वा मरुतश्च
 परिख्यञ्छकुनिः शक्रोत्युन्नेतुमात्मानं शक्रोति नदितुमिति वा
 शक्रोति तक्तितुमिति वा सर्वतः शंक्रोऽस्त्विति वा शक्रोतेर्वा-
 तस्यैषा भवति ॥ ३ ॥

१५

मा नो मित्र इति । दीर्घतमस आर्षम् । अश्व एनाहूपतेऽनेन सूक्तेन ।

२०

अश्वः यद्वाजिन इति । यत् यानि वाजिनः अस्या-
 श्वस्य देवजातस्य देवैर्जनितस्य रथसुभिरादित्यात् ।

‘ सैरादशं वसवो निरतष्ट ’ (ऋ० सं० १।१६३।२) इति । अग्नेर्गो-

१ ग. २; च. ‘ रथे ’ । मा नो; ठ. ऋ. वति । इति उत्तरपदके तृतीये अप्यापे
 प्रथमः खण्डः । अश्वो बोद्धेति महाराष्ट्रपाठः । मा नो; छ. एव । इति उत्तरपदके
 २ ध्याये १ खण्डः । अश्वो बोद्धेति महाराष्ट्रवैदिकपाठः । २ । इति उत्तरपदके
 तृतीयेऽध्याये २ खण्डः समाप्तः । मा नो. २ क ख. छ. त. द. बोद्धा. ३ छ. त.
 द. ‘ रथं बोद्धा ’ नास्ति. ४ छ. त. द. सुहितं भवति मा नो न्यास्या; ठ. ऋ.
 सहितं. ५ ठ. ङ. ‘ २ ’ नास्ति. ६ छ. त. द. ‘ विदधे ’ नास्ति. ७ त. वायु.
 चा; ध. वायु. ८ ग. इति । वी. ९ ग. ज. ‘ नितस्य च सुभिरादि ’. १० ग.
 शैरां म्, च. ज. शूरां.

२५

२०

प्रज्जपतिता । 'द्वितीयामजुहोत्ततोऽथोऽजायत' (मैत्रा० सं० १।८।१)
इति । सतेः सरणस्य प्रवक्ष्यामः प्रकर्षेण वक्ष्यामः । विदये एतस्मिन्पञ्च
वीर्याणि गुणान् । किं तेषाम् । मा नः मयस्माकं तान्युच्यमानानि मित्रो
चरुणः अर्थमा वायुः इन्द्रो मरुतः परिह्वयन्मौ चक्षीरन् । किं तर्हि । अनु-
५ मन्वन्ताम् । 'आयुः' अत्र 'वायुः अयनो' वकारलोपेन । स कस्मात् ।
अयनात् । एति हासौ विश्वम् । इन्द्र ऋभुक्षाः । सै हि उरुक्षयणः । उरा-
धन्तरिक्षे क्षियति निगसति । अथवा । क्षियतिरैश्वर्यार्थः । कस्येष्टे ।
'ऋभुणां' देवानां 'राजसि' च तेषामीष्टे । एवमृभुशब्दात्पूर्वपदं क्षिय-
तैरैश्वर्यकर्मण उत्तरपदम् ।

१० 'शकुनिः' (निघ० ५।३।२) कस्मात् । स हि 'शक्रोऽत्युन्नेतुमत्मानम्' ।
उर्ध्वं नेतुं लघुत्वात् । शक्रोः पूर्वपदं नयतेरुत्पूर्वस्योत्तरपदम् । अथवा ।

शकुनिः कस्मात् नदतेस्तकतेर्वा शब्दार्थगत्यर्थयोर्वोत्तरपदं विक-
लेन । अथ 'वा' । 'सर्वतः शंकरः' अयम-

स्माकम् 'अस्त्रिति' सर्वेषु नित्यमाशासितव्यो भवति । एवं सति

१५ 'शम्' इति सुखनाम पूर्वपदं करोतेरुत्तरपदम् । 'शक्तोतेः' एव वैक-
स्मात् । किमसौ शक्तोति । यदस्य योग्यं शक्तितुम् । 'तस्थैषा' प्राधान्य-
स्तुतिः 'भवंति' ॥ ३ ॥

२० कनिःक्रदज्जनुपे प्रवृत्तौ इयति वाचमरितेव नावंम् । सुमङ्ग-
लंश्च शकुने भवसि मा त्वा काचिदभिभा विश्व्या विदत् (ऋ०
सं० २।४२ । १) ॥ न्यकन्दीज्जन्म प्रवृत्तौ यथास्य शब्दस्तथा
नामेरयति वाचमीरयितेव नावं सुमङ्गलंश्च शकुने भव कल्याण-
मङ्गलं मङ्गलं गिरतेर्भृणात्यर्थे गिरत्यनर्थानिति वाङ्मलमङ्ग-
चन्मज्जयति पापकामिति नैरुक्ता भां गच्छत्विति वा मा च त्वा
२५ काचिदभिभूतिः सर्वतो विदद्भूत्समदर्भमभ्युत्थितं कपिञ्जलोऽ-
भिववाशे तदभिवादिन्येपग्भवेति ॥ ४ ॥

१ म. ज. मा च परिचक्षीन्. २ ग. ज. 'भुक्षा स्म ह्युक्', च. 'भुक्षा स्म ह्युक्'
स ३ ग. ज. 'यतिरे'. ४ म. ज. 'यतिरे'. ५ ट. 'वति'. इति निरुक्तमुत्तरपदे
दि० तृतीयः सपङ्कः; ङ. 'वति'. इति निरुक्तटीकायामुत्तरपदे तृतीयपाद्यादे तृतीयः

कनिकदन्तनुपं प्रहुवण इति । गृहसमदस्यार्पम् । शकुनिरुतश्रवणे जफे
निनियोगः (आश्व० गृ० ३ । १० । ९) । कनिकदत् न्यक्रन्दीत् ।
पुनःपुनः भृशं वा क्रन्दसीति मध्यमपुरुषेण नुतिरुतरमर्धर्चमपेक्ष्य ।
जनुं प्रभ्रवाणः आमनोऽभिजातिं कथयन्निव इयति वाचम् इयति

शकुनिः वाचम् । कथमीरयति । नाविक इव पुनःपुनः ५

शुभङ्गलथ हे शकुने प्रशस्तमङ्गलः अस्माकं भव । वयमपि च तुभ्यम्भि-
त्याशास्महे । मा त्वा काचिदभिमा अभिभूतिः परोपद्रवः विश्व्या सर्वप्रकारः

‘ प्रायः शकुनिषु सर्वतो विदत् विदन्ति । ‘ यथास्य शब्द-
शब्दः मूल्यानि नामवे- स्तथा नाम ’ इति । तदिदं शकुनिषु १७
यानि बहुलमित्यत्रोक्तम् (निरु० ३ । १८) ।

‘ मङ्गलं कस्मात् । ‘ गिरतेः ’ धातोः ‘ गुणात्यये ’ वर्तमानस्य ।

‘ मङ्गलं कस्मात् स्तुत्यं हि तद्भवति । ‘ गिरत्यनर्थानिति वा ’ ।
अस्यैव वा गिलनार्थस्य । किमिदं गिलति ।

एतद्यमानमेवेदमनर्थान् गिलेति मक्षयति । वा ‘ अङ्गलम् ’ एतन्मका- १५
रोपजनेन मङ्गलम् । कोऽर्थः । ‘ मङ्गलम् ’ । अङ्गैरवयवैर्दधिमन्वश्चत्ता-

दिभिस्तद्भवत् । रो मन्वर्थे । व्यत्ययश्च रलोः । अथवा । मज्जयतेर्मङ्गलम् ।

किं ‘ मज्जयति । पापकमिति नेरुक्ताः । एतेषामानमेदेतन्मङ्गलिनः पुरुषस्य

मज्जयति नाशयति यदस्य किञ्चित्पातकं भवति । एतं मज्जयतेर्मङ्गलमिति

नेरुक्ता विदुः । ‘ मां गच्छत्विति वा ’ । गमेर्वा । सर्वे एतन्मन्वते २०
मामेतेद्रच्छत्विति । ‘ गृहसमदमर्धमभ्युत्थितम् ’ इति स्तुतिषामकारणम् ।

‘ गृहसमदं कपिञ्ज- स किल कंचिदर्थं भिसाधयिष्युत्तरथौ । तम-

लोऽभ्युत्थितमर्धं स्व- भ्युत्थितं ‘ कपिञ्जलः ’ शकुनः ‘ अभिद-

नेन दर्शयामास वाशे ’ तस्मिद्धिमावेदयत् । यथा चैतदेवं २५
‘ तद्भिवादिभ्येपरं वनि ’ ॥ ४ ॥

१ ग. इति गुं. २ ग. च. ‘ पुः ’ स्वरुद्धे इक. १. प. स. ट. ठ. ड. कथमे ।
ईरयिनेव । नां ; च. कथमीरयति तेव. ४ च. अन्वये. ५ च. द्विर्वाणि गिर.
६ क. ख. प. स. ट. ठ. ड. ‘ यति वा । अथवा । अङ्गलम् ; । च. ‘ यति वा । अङ्गलम् ’
अथवा. ७ क. ख. प. स. ट. ठ. ड. अङ्गलम्. ८ ग. ज. ‘ रलोः ’ नाति.
० ग. ज. एतद्यमान. १० ग. ज. ‘ यति । मं ; च. ‘ यति मं ’ तेव. ११ उ. ड.
मा. १२ उ. म. ‘ द्ययत्. प. ‘ द्ययत् ’ न. १३ उ. ड. ‘ यति । इति भिन्व-
दीकायाः प्रत्ययत्वे कृत्विष्येऽप्येव चतुर्थः २८८. (उ. निरु. उ. वि. २८८). २९

भद्रं वद दक्षिणतो भद्रमुत्तरतो वद । भद्रं पुरस्तांश्चो वद भद्रं
 पूर्वशात्कंपिञ्जल (खैलिके सूक्ते ३ । ?) ॥ इति सा निगदव्या-
 ख्याता गृत्समदो गृत्सो मदनो गृत्स इति मेधाविनाम गृणातेः
 स्तुतिकर्मणो मण्डूका मञ्जूका मञ्जनान्मदतेर्वा मोदतिकर्मणो
 मन्दतेर्वा तृप्तिकर्मणो मण्डयतेरिति वैयाकरणा मण्ड एषामोक
 इति वा मण्डो मदेर्वा मुदेर्वा तेषामेषा भवति ॥ ५ ॥

भद्रं वद दक्षिणत इति । इह शकृनिः किल कस्यांचिद्विशी साधुर्भ-
 वति । कस्यांचिदसाधुः । स एष ब्रवीति । दक्षि-
 कपिञ्जलः णतः उत्तरतः पश्चात् पुरस्ताच्च सर्वत एव
 १० तमस्माकं कपिञ्जल भद्रं वदेति । ' गृत्समदो गृत्सो मदनः ' । गृत्सश्चासौ
 मदनश्च गृत्समदनः । गृत्सो मेधावी मदनो हर्षाल्लेः ।

' मण्डूकाः ' (३) इत्येतत्पद वक्तव्यम् । य एते ' मण्डूकाः ' एते
 मण्डूकाः कस्मात् ' मञ्जूकाः ' । कस्मात् । ' मञ्जनात् ' ।
 नियमग्रा होत उदके । ' मन्दतेर्वा ' स्यात्
 २५ ' मोदतिकर्मणः ' । नियमप्रमुदिना हि ते । ' मन्दतेर्वा ' स्यात् तृप्ति-
 कर्मणः ' । नियतृप्ता हि ते प्रचुरोदक-वात् । ' मण्डयतेरिति वैमा-
 ऋणाः ' । ते हि भक्तिभिर्नानाचित्राभिर्विधात्रा मण्डिता भवन्ति ।
 ' मण्ड एष मोक इति वा ' । मण्ड उदके एषामोको निवास इति
 वा मण्डूकाः । ' तेषामेषा भवति ' ॥ ५ ॥

२०

संवत्सरं शिष्यानां ब्राह्मणा व्रतचारिणः । वाचं पर्जन्य-
 जिन्वितां च मण्डूका अवादिषुः (ऋ० सं० ७। १०३ । १) ॥
 संवत्सरं शिष्यानां ब्राह्मणा व्रतचारिणो ब्रूवाणा अत्रि वोपमार्थं
 स्याद्ब्राह्मणा इव व्रतचारिण इति वाचं पर्जन्यमीतां प्रावादिषु-
 २१ र्भण्डूका वसिष्ठो वर्षकामः पर्जन्यं तुष्टाव तं मण्डूका अन्वमोदन्त स
 मण्डूकाननुमोदमानान्दृष्ट्वा तुष्टाव तद्भिवादिन्येपर्यभभवति ॥६॥

१ ड. घ. प. पेशान्कपिञ्जल. २ क. ख. ड. थ. घ. ठ. ड. गृत्समदो.

३ ग. इति; घ. झ. ट. इति । इति सा निगदव्याख्याता । इह; घ. इति ।

इह इति सा निगदव्याख्याता, ठ. ड. णता वदेति. ४ ट. हर्षाल्लेः. ५ ग. अ.

मोदन्तः. ६ ट. ड. वति । इति निम्नटीकाय मुत्तरदृष्टे तृतीचिऽध्याये (ठ.

७ निःशुक्त उतः ८० ध्या०) पञ्चम. खण्डः.

३३

भवत्सर शशयाना इति । वसिष्ठस्यार्पणम् । संवत्सरं . शिशयानाः
 मण्डूकाः निर्वाचः मन्वत्सरं सुप्ता इव स्थि वा ब्राह्मणाः
 ब्रुवाणाः समर्थाः सन्तो वक्तुं व्रतचारिणः
 कृतमावर्त्तयमाः ततः प्रवृष्टकालं प्राप्याभिवृष्टाः पर्जन्येन तर्पिता वाचं
 प्रमण्डूका अथादिपुः प्रावादिपुर्मण्डूकाः । अथवा । न युक्तो रूढिपरि- ५
 चाधो ब्राह्मणशब्दस्येति लुप्तोपमः प्रकल्प्येते ' ब्राह्मणा इव व्रतचारिणः '
 इति । यथा ब्राह्मणा उपाकृत्य ग्राह्यपि पवित्रपाणयो मन्वलिनो निपत-
 काल्यैस्ता वैदिकी वाचं वदन्त्येवं प्रावादिपरिति ।

। ' वसिष्ठो वर्षकामः ' इति स्तुतित्याभनिमित्तम् । स किल वर्षन्तं

वसिष्ठो वर्षकामो पर्जन्यं नुष्टाय । त मण्डूका अन्वमोदन्त ३५
 मण्डूकास्तुष्टाय स्तुहि स्तुहीति । ' स ' तान् अनुमोदमानान्
 वाश्यमानान् दृष्ट्वा लब्धं वर्षनिमित्तमिति

परितुष्टस्मानेन ' तुष्टव ' । यथा चैतदेवं ' तदभिज्ञादिन्येपरम्वति ॥६॥
 । उप षुर्वद मण्डूकि वर्ष मा वेद तादुरि । मध्ये हृदस्थं प्रवस्व
 विगृह्य चतुरं पदः (खैलिकं सूक्तं १६) ॥ इति सा निगद- १५
 व्याख्याताक्षा अश्रुवत एनानिति वाम्यश्रुवत एभिरिति वा ।
 तेषामिषा भवति ॥ ७ ॥

। उप षुर्वद मण्डूकि मण्डूकाना मातः । अथवा । मण्डूकपते मण्डूकि ।
 वसिष्ठो मण्डूकी- माम् उप गम्य प्ररुपेग वद । कथ च प्रवद । २०
 मुत्तेजयति वर्षम् आभिमुख्येन वद । तादुरि . तरणशीले ।
 अथवा । तादुर्दुरि । यावच्छरीरं तावद्देवोदर
 तस्याः । ततो वृष्टे देवे अ. प्लुने उदकेनैतस्मिन्नेकजलीभूते मध्ये हृदस्थ
 उदकस्य बह्वनः प्रवस्व उपरि विगृह्य प्रमार्थं र्नाथतुरः पदः । पौदानि-
 त्यर्थः । पौदस्य पशद्रेणः क्रियते । २५

१ ग इनि । २ ग. च. ज. प्रकल्पते. ३ ग. ज. 'कालाभा वै'; क.
 'कालाभा वै' लाः ता. ४ ठ. ड. 'वति । इति निरुक्तमध्ये उत्तरपदस्य तुनीदा-
 ध्याये (इ. भाष्ये ३ प्याये) षष्ठ. ५ क. ख. त. प्रवद, ट. उपउपवद.
 ६ क. ख. घ. झ ट. ठ. ड. प्रवद, प. ज. झ. ट. सर्वा क्रियन्ते. ७ ग.
 मण्डूकि ० मण्डूकाना मां, च. मण्डूकिं मण्डू हे मण्डूके, ट. इ मण्डूकीति.
 ८ ग. च. ज. पतन्ते. ९ क. ख. पदां, च. पदां पा. १० क. ख. झ. ट.
 ठ. ड. वादस्य, च. पादस्य वा द.

‘ अक्षाः ’ इत्येवमादीनि लब्धवस्तुतिव्याप्त्युत्थिव्यायतनवत्त्वसामान्यादिह
 अक्षराक्षरस्य व्यु- वर्णो समाभ्नातानि । तेषां च यथाममाभ्नातमेव
 त्यतिः ‘ अक्षाः ’ (४) प्रथमं निर्वक्तव्याः । ते कस्मात् ।
 ‘ अश्रुवत एनानिति वा । दीव्यन्तः कितवा
 एतानक्षान्पाणिभिः अश्रुवते व्यापयन्ति । त एते अश्रोतेः कर्मणि
 कारके । अथवा । ‘ अभ्यश्रुवते ’ । अभिपूर्वस्य तस्यैवाश्रोतेः करणे कारके ।
 तैर्हि कितवाः प्रतिकितवं धनमभ्यश्रुवते । ‘ तेषामेवा भवति ’ स्तुतिः ॥ ७ ॥

प्राधेपा मां बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्धमानाः ।
 १० सोमस्येव मौजवतस्थं भक्षो विभीदको जायुर्विर्महामच्छान्
 (ऋ० सं० १० । ३४ । १) ॥ प्रवेपिणो मा महतो विभीद-
 कस्य फलानि मादयन्ति प्रवातेजाः प्रवणजा इरिणे वर्तमाना
 इरिणं निरुक्षणमृणानेरपार्णं भवत्यपरता अस्मादोपधय इति वा ।
 सोमस्येव मौजवतस्थं भक्षः । मौजवतो मूजवति जातो मूजवान्
 १५ पर्वतो मज्जवान् मुजो निमुच्यत इपीकयेपीकेपतेर्गतिकर्मण इयम-
 पीतरेपीकैतस्मादेव विभीदको विभेदनाज्जायुर्विर्जागरणान्महामच-
 च्छदत्प्रशंसत्येनान्प्रथमया निन्दत्युत्तराभिर्ऋषेरसपरिघूर्नेस्यैत-
 दार्पं वेदयन्ते प्राचाणो इन्तेर्वा गृणानेर्वा गृह्णानेर्वा तेषामेवा
 भवति ॥ ८ ॥

१०

प्राधेपा मेति । अश्रुपुत्रस्य मौजवत आर्षम् । प्राधेपाः प्रवेपिणः
 अक्षाः प्रवर्षेण वेपनशिल्पस्य वृक्षस्य जाता महतेषां मां मा-
 दयन्ति दर्पयन्ति वा तर्पयन्ति वा । प्रवातेजाः
 प्रचुरवान् स्थाने काले जाताः प्रावृत्काले । एकानां र्वा प्रचुरवाते काले
 पतनाभिप्रायं जग्म । विभीदक एक एव वा विशेष्यते । यः प्रवणे उद-
 यवदृष्टे देशे जातस्तस्य फलानि अक्षाः । इरिणे वर्धमानाः । निर्ग-

१ ग. घ. ज. अभ्यश्रु. ० ट. ट. श्रुतिः । इति निरुक्तीकायात्तरवर्द्धं
 तुनीदत्तमे (०. निरुक्ती ० उल्लेख ० १००००) एतत्तः (१०००) ३ छ त. प्रवेपिणो
 ४ छ. त. द. सुनस्ये. ५ ग. मेति । अ. ६ ग. ज. नां काले दाले. ७ म.
 १५ ५. ज. उ. विनी.

तैर्णे आस्करकस्थाने चर्तमानाः । न हि तत्र पुत्रपौत्रानुमृणं भवति ।
 'अपार्ण' वा । उपसर्गस्यान्यत्वमेव केवलम् । अथवा । अपार्णम् अपगतो-
 दकम् । 'अपरता औपधय इति वा' । अपेत्य तस्मादन्यत्र औपधय इति ।
 कथं मादयन्ति । सोमस्येव । यथा सोमस्य मौजवतस्य भक्षो यजमानं
 मादयति हर्षयति तर्पयति तथा । विभीदको विभेत्ता कोऽघस्य जागृतिः
 जागरणकर्ता । यो जयति स हर्षेण जागृतिं योऽपि जीयते स द्रु खेन
 जागृतिं । स एव विभीदक एवंप्रकारो मद्यम् अर्धच्छदत् । स्थेन कलश-
 न्देन सर्वार्थेषु पुनःपुनः भृशं वा मनश्छादयित्वा देवने एवैकस्मिन्मम
 मनः उत्साहयति ।

- मौजवतः सोमः । स कस्मात् । 'मूजवति जातः' । अथ 'मूज-
 वतः कथं सोमः मौज- वान्' कः । 'पर्वतः' । स कस्मात् ।
 'मुञ्जवान्' । मुञ्जस्तद्वान् । अथ 'मुञ्जः'
 कस्मात् । स हि 'विमुञ्चते इपीकया' ।
 अथ 'इपीका' कस्मात् । 'इपीक्यातिकर्मणः' । सा हि निर्गता
 भवति मुञ्जात् । 'इयमपीतरेपीकैस्म देव' । या हलेषा अन्या वा ।
 सापि हि निर्गता भवति ।

'प्राधाणः' कस्मात् । 'हन्तेर्वा' । तदर्थापपत्तेः । वर्णव्यापारधुप-
 प्राधाणः कस्मात् जनाभ्याम् । 'गृणातेर्वा' स्तुत्यर्थस्य । स्तुत्यन्ते
 हि ते । 'गृहातेर्वा' । गृह्यन्ते हि ते । 'तेषा-
 मेषा' स्तुतिः 'भवन्ति' ॥ ८ ॥

प्रैते वदन्तु प्र वयं वदामं प्राचम्यो वाचं चदता चर्दन्नयः ।
 यदद्वयः पचेताः साकमाशत्रः श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः
 (अ० सं० १०।९४।१) ॥ प्रवदन्वते भवद्दाम वयं प्राचम्यो वाचं

१ ग. अ. निरुक्त आस्कर'. २ घ. क. ट. ठ. ड. आस्कार'. ३. आस्कर'
 स्का. २ ग. अ. अ. विभी'. ४ ग. अ. अ. विभे'. ५ ग. अ. अ. विभे'. ६ ग. अ. अ. विभे'. ७ ट. ड.
 'वति । इति निरुक्तटीकायामुत्तरपदके तृतीयोऽध्याये (२. निरु. टी. उ० १०. १०
 ५५०) अर्थः '५५०', क. ल. अ. वर्यन्तिरेव इति नास्ति.

वदत वदद्भ्यो यदद्रयः पर्वता आदरणीयाः सह सोममाशवः
क्षिप्रकारिणः श्लोकः शृणोतेर्घोपो घुष्यतेः सोमिनो यूयं स्थिति
वा सोमिनो गृहेष्विति वा येन नराः प्रशस्यन्ते स नाराशंसो
मन्त्रस्तस्यैषा भवति ॥ ९ ॥

५

पैते वदन्विति । अर्बुदस्यैयमर्षम् । यस्मात्ते अद्रयः आदरणीया आद-
रणाहः पर्वतान्तः साकमाशवः सहभूताः सोम-
ग्रावाणः मश्रीथ अभिषुणुथ । तं चाभिषुण्वन्त इन्द्र. य श्लोकं

श्रवणीयं ह्यं घोषं शब्दं भरथ धारयथ निर्वर्तयथ । ये ते यूयम् क्षमुनां
१० प्रकारेण यस्मात् सोमिनो भवथ । अथवा । सोमिनः सोमेन तद्वतो यज-
मानस्य गृहेषु एवं कुरुष्वे तस्माद्युष्मानधिकृत्य ब्रवीमि पैते वदन्तु युष्म-
दर्थं स्तुतीरुदातारः । प्रवदार्थं वयं होतारः । अश्वर्यूनपि च ब्रूमहे ।
एभ्यो ग्रावभ्यो वाचं वदद्भ्यो वदत वाचं या वक्तव्या एतान्प्रतीति ।

' नाराशंसः ' (६) इति संमन्त्रात् । कः पुनरेषं नराशंसः ।

१५ ' येन नराः प्रशस्यन्ते स नाराशंसो मन्त्रः ' । किमत्र मन्त्रः स्तूपते । न
इत्युच्यते । लक्षणं मन्त्रः । नराः स्तूपन्ते ।

नाराशंसो मन्त्रः ।
तथापि न मन्त्रः एवं तर्हि नराणामेव समाम्नायं प्राप्तमासीत् । न ।
स्तूपते किंतु नराः । तेषा सामान्यस्तुत्यभावाद्वाज्ञा च स्तुत्युपपत्तेः ।
२० तेषापि च केचिद्रा- तेषामपि च सामान्या स्तुतिर्नास्ति । अस्ति
जान एव स्तूपन्ते तैकैकस्येन केवाचित् । यतो भावयव्यं लक्षणी-
कृत्य नाराशंसो मन्त्र उदाह्रियते । ' तस्य '

नाराशंसस्य मन्त्रस्योदाहरणम् । ' तस्य ' वा भावयव्यस्य प्राधान्यस्तुतिः

' एषा ' ऋग् ' भवति ' ॥ ९ ॥

२५ १ क. ल. क. थ. र्घ. ठ. ड. अद्र. २ ग. ' निशानि । अ. ३ क. ल.
ग. ज. अद्र. ४. अद्र. आ. ४ क. ल. घ. स. ट. ठ. ड. पर्वताः पर्वतान्तः;
घ. ' र्हाः ~ पर्व' पर्वताः. ५ क. ल. घ. स. ट. ठ. ड. ते तं; घ. ' णुथ । ~ तं'
ते. ६ क. ल. घ. स. ट. ठ. ड. ' दाम च व' ७ क. ल. ग. ज. ट. ड. नरा'.
८ ग. ल. ' प्रातः; घ. ' मन्तं ग' नं. ९ क. ल. ग. घ. ज. त्वे' १० ग. ज.
नरा'; घ. ' नरा' ना. ११ ठ. ड. ' वति । इति निरुद्धीकाशुतरादके तृतीये-
११ ध्याये (उ. निरुद्ध. ३० तृतीया पा०) नरमः १५८६.

अमन्दान्स्तोमान् प्रभरे मनीषा सिन्ध्यावधि क्षियतो भाव्यस्य ।
 यो मे सहस्रं भवेत् सवानतूर्तो राजा श्रवं इच्छमानः (ऋ०
 सं० १।१२६।१) अमन्दान्स्तोमान्वालिशाननल्पान्वा बालो
 बलध्वंती भवेत्स्यो भवत्यन्वास्मा अलं भवतीति वाग्वास्मं बलं
 भवतीति वा बलो वा प्रतिषेधव्यवहितः प्रभरे मनीषया मनस
 ईषया स्तुत्या प्रज्ञया वा सिन्ध्यावधि निवसतो भाव्यव्यस्य राज्ञो
 यो मे सहस्रं निरमिमीत सवानतूर्तो राजातूर्ण इति वात्वरमाण
 इति वा प्रशंसामिच्छमानः ॥ १० ॥

इति नवमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

१०

अमन्दान्स्तोमानिति । दानपरितुष्टः कक्षीवान् प्रवीति । अमन्दान्
 राज्ञो भाव्यस्य अवालिशान् अनल्पान्वा अवालिषये ग्यान् प्रभरे
 स्तुतिः उच्चारये मनीषा स्तुत्या प्रज्ञया वा । कस्य भाव्य-
 व्यस्य । भावेनैवासावाज्जैवेनैव सर्वार्थान् ययति
 मिश्रति अनुतिष्ठतीति भाव्यव्यसः । क निवसतः । सिन्ध्यावधि क्षियतः निव-
 सतः । यः किमकरोत् । यो मे सहस्रं बहून् सवान् यज्ञान् निरमिमीत निर्मि-
 तावान् । बहूना यशाना यागोपकरणं दत्तवान् । अतूर्तः अतूर्णः अच-
 प्लवः अवरमाणः । क्रमेण यो निरमिमीत सहस्रं मम सवान् प्रशंसामि-
 च्छमानः अमन्दान् स्तोमान् तस्मै भाव्यव्याय राज्ञे प्रभरेऽहमिति ॥ १० ॥

१५

अनुर्दजाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

१०

१ छ. त. द. षलभती. २ छ. य. घ. उ. त. द. राजातूर्ण. ३ छ. थ. घ.
 उ. त. व. ना त्व. ४ छ. थ. घ. 'इति पाद' नास्ति, छ. प्रथमः पादः ५ त.
 नवमेध्याये प्रथः ६ द. इति नैरुक्ते उत्तरार्धस्य प्रथमः पादः. ५ ग. 'निति । दा'.
 ६ ग. 'तुष्टवः क'; घ. तुष्टावः क' छः; ज. तुष्टावः. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ.
 ड. 'भरे महेरे उ'. ५. 'भरे - उ' महेरे. ८ घ. न्यव - ति य. ९ क. ल. घ.
 ट. ठ. ड. 'सवान् भवः प्रश'; च. सवान् प्र' भवः १० उ. ट. 'वति । इति
 अनुर्दजाध्यायस्य प्रथमः पादः । इति निरुक्तदीक्षायाप्तसत्सत्के भूर्विदेऽध्याये
 दशमः खण्डः, क. ल. घ. वर्गमिनेलक्यो नास्ति.

१५

११

‘तेषां रथः (७) प्रथमागामी भवति । स कस्मात् । तदाधा-
रत्वादितरेषां बुद्धोपकरणानाम् । ‘रथः’ कस्मात् । ‘रंहतेर्गतिकर्मणः’ ।
तस्य हि तदर्थं योर्वाचिः । ‘स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य’ । स्थिरः सन् रथ
इत्युक्तः । तत्र हि स्थिरसुप्रतिष्ठितो योद्धा भवति न तदाधादिषु ।
‘तस्यैषा भवति’ स्तुतिः ॥ ११ ॥

५

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः ।
गोभिः संनद्धो असि वीड्व्यस्त्रास्थाता ते जयतु जेत्वानि (ऋ०
सं० ६ । ४७ । २६) ॥ वनस्पते वीड्वङ्गो हि भवास्मत्सखा प्रत-
रणः सुवीरः कल्याणवीरो गोभिः संनद्धो असि वीड्व्यस्त्रेति १०
संस्तम्भस्वास्थाता ते जयतु जेतव्यानि दन्डुभिरिति शब्दानुकरणं
द्रुमो भिक्ष इति वा दन्डुभ्यतेर्वा स्याच्छब्दकर्मणस्तस्यैषा भवति
॥ १२ ॥

वनस्पते वीड्वङ्ग इति । गर्गस्यार्यम् । हे वनस्पते वानस्पत्य रथ
रथः त्वमुच्यसे । वीड्वङ्गो वृद्धो भव । ततश्च अस्म- १५
त्सखा अस्मिन्नित्र प्रतरणः प्रतरणः संप्रामाणा
पारं नेता सुवीरः कल्याणवीरः अविश्वेवानवखण्डिताधिष्ठाता भव । किञ्च ।
कृतप्रतीकारैस्त्वमस्माभिः गोभिः असि संनद्धः समन्ततो नद्धो वैद्वो
गव्येन चर्मणा श्लेष्मणा च । स त्वं कृतप्रतीकारमात्मानं मत्वा तेन
हेतुना सुतरामात्मानं वीड्व्यस्त्रं संस्तम्नुहि । संस्तम्ने च त्वय्यवस्थितः २०
आस्थाता ते अधिष्ठाता तत्र योद्धा यानि तेन जेतव्यानि अत्मनोऽर्भा-
प्सितानि तानि सर्वाणि जयतु ।

२०

१ व. 'वोपपत्तिः २ क. ख. २ (११), ठ. ड° स्तुतिः । इति नि (ड.
ने) वृत्तटीकायामुत्तरपदके तृतीयाध्याये (ठ. नि • उ० तु० ध्या०) एकादशः
खण्डः; ५. स. ट. ज. अद्धो नास्ति. ३ क. ख. छ. त. द. धीड्य°. ४ छ. त.
द. वृद्धाङ्गो. ५ छ. त. द. स्यादथकर्मण°. ६ क. ख. २ (१२), त. द. १.
७ ग. इति । ग°. ८ ग. ज. अस्मिन्नित्र. ९ ग. ज. अविश्वान्; ५. अस्मि-
न्नित्र° कृ. १० ग. ज. 'कारवम्'. ११ ग. च. ज. वृद्धः. १२ व. नद्धो ° ग°
पद्धो.

‘दुन्दुभिः’ (८) इत्यस्य योऽभिधेयस्तस्य ‘शब्दानुकरणम्’ आत्मनो

नामधेयप्रतिलम्भनिमित्तम् । यथेयासावभिहन्य-

मानः शब्दे करोति दुन्दुभिरिति तदेव तस्य नाम ।

‘दुग्धो भिन्न इति वा’ । द्रुमशब्दात्पूर्वपदं भिद्वरुत्तरपदम् । तत्संभवो ह्यपो

द्रुमैरुदेशो निष्कृपितधर्मणा पिनद्धः । ‘तस्यैवा भवति’ ॥ १२ ॥

१० उपश्वासय पृथिवीमुत यां पुरुत्रा ते मनुतां विष्टिं जगत् ।

स दुन्दुभे सज्जुरिन्द्रेण देवदूराद्वीयो अप सेध शत्रून् (ऋ० सं०

६ । ४७ । २९) ॥ उपश्वासय पृथिवीं च दिवं च बहुत्रा ते घोषं

मन्यतां विष्टितं स्थावरं जङ्गमं च यत्स दुन्दुभे सहजोपण इन्द्रेण

च देवैश्च दूराद्दूरतरमप सेध शत्रूनिपुधिरिपूगां निवानं तस्यैवा

भवति ॥ १३ ॥

११ उपश्वासय पृथिवीमिति । एत आरभ्य सर्वा एता युद्धोपकरणानि च ।

भौरद्विजस्यार्थम् । हे दुन्दुभे उपश्वासय उप-

शब्दय आपूरय शब्देन एतां चै पृथिवीं

शृङ्गम् । उत याम् । अपि चैकस्यापि सतस्तव पुरुत्रा बहुत्रे वर्तमानस्य

मनुतां मन्यता घोषं यच्चेदं विष्टितं जङ्गमं यच्चेदं स्थावर च । यस्यैवं

तत्र सामर्थ्यं यात्रापृथिव्यानापूरयितुं स त्वं दुन्दुभे सज्जुः सहजोपणः सह-

प्रीतिः इन्द्रेण चान्यै च देवैः दूराद् दूरतरम् अपमेव अपकालय अपुन-

रागमनायास्मच्छत्रूनित्येतदाशास्महे ।

१ क. स. २ (१२), ठ. ट. ‘वति । इति निरुद्धटीकायामुत्तरपदके तृतीय-

ध्याये (ठ. नि० उ० तृ०) दादशः षण्डः (ट. टण्डः । १२ ।) । प. स.

ट. अ. अष्टौ नास्ति २ क. ९. ३ (१३), त. द. ३. ३ ग. ‘मिति । अ’.

५ प. स. ट. ठ ड भर. ५ क. स. प. स. ट. ट. ड ‘च’ नास्ति.

६ घ स. विष्टिं ‘शशर यच्च जङ्गम च’, ट. विष्टिं वैजङ्गम, ठ. ट. विष्टिं

कलङ्गम. ७ च. व. ‘व’. ८ प. स. ड ड. २ यामय, च. ‘अपकालय’ नास्ति,

९ ट. ‘नेप अगमेदानु’ वाट. १ क. स. ५ स. ट. ड ड. ‘षण्डे एवः । ६’-

इषुधिः कस्मात्

‘इषुधि’ (९) इषुणा निधान तूण ।
तन्मिच्छिपरो निर्धीयन्ते । तस्यैषा भवति ॥ १३ ॥

बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्वाकृणोति समनाचगत्य ।
इषुभिः सङ्घाः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः (ऋ०
सं० ६ । ७५ । ५) ॥ बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्र इतीषूनभि-
भेत्य प्रस्मयत इवापात्रियमाणः शब्दानुकरणं वा सङ्घाः सचतेः
संपूर्वाद्वा किरतेः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूत इति व्याख्यातं
हस्तप्रो हस्ते इत्यते तस्यैषा भवति ॥ १४ ॥

बह्वीनां पितेति । योऽयमिषुधि बह्वीना बह्वनामिषूणा पाता रक्षिता
इषुधि तदर्थत्वात् । यस्य चेपुधे बह्व इषुक्ताप
पुत्र पुरुषो बह्वन पापात् प्राता । तदर्थं
ह्यसौ रक्षयत इत्येवं व्युत्पाद्यम् । यश्चाय चिश्वाकृणोति । प्रस्मयत इव अपा-
त्रियमाण । प्रकर्षेण स्मयत इव उद्घाटयमानश्चित्रपुङ्खत्वात् । अथवा । हस- १५
तीव शोभया पुङ्खदीप्या । अस्मि पक्षे चिश्वातिरपठितोऽपि धातुः
कल्पयत इति । ‘ विकारपक्षेषु तदर्थाऽन्यधातुपादानम् ’ इत्याचार्यपारि-
भाषा । अथ ‘ वा शब्दानुकरणम् ’ । चिक्षिदित्येव शब्द करोति ।
कदा । समना समामभवगत्य प्राप्य । स एव इषुधिः सङ्घा सक्तान्
सपृक्तान् वा सप्रामान् पृतनाश्च सर्वा याः स्पर्धमानैरेषव एव केवलमभि- १०
लक्ष्य क्षिप्यन्ते पताकारं तानेवविधानसप्रामान् पृष्ठे रयस्य मनुष्यस्य
या निबद्धो जयति प्रसूत क्षितो धनुष्मतेत्येतदाशास्महे ।

* १ क ख ३ (१३), ठ वति इति निरु० उ० वृ० ध्या० १३ खण्ड, द.
वति । इति निरुक्तीकाया १३ खण्ड । प्रयोद्दश खण्ड . २ क. ख. ड. य. घ
ठ. च. बह्वीनां. ३ छ. द. इवावधीयं, त इवावधीयं । प्रि ४ क. ख. (१५),
त. द. ५. ५ ग. ‘तेति १ यो’. ६ ग. ज. अपमिदं, च. आपमियं. ७ घ.
झ. ठ. ड. अस्मिभर्षे चिं; ग. ज. अस्मिपक्षेऽर्थे चिं. ८ ग. ज. सङ्घा सङ्घयन्
सप्तपात्रामान् इतं ९ च. लक्ष्य १० क. ख. घ. ह. ड. नि स्रो.

‘ हस्तप्रः ’ (१०) कलापीपट्टको गोधेति च यमाहुः । स क्रमात् ।
 हस्तप्रः क्रमात्
 ‘ हस्ते ’ ह्यवस्थितोऽसौ व्ययः ‘ हन्यते ’ ।
 ‘ तस्यैवा भवति ’ ॥ १४ ॥

५ अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुं ज्याया हेति परिवार्यमानः ।
 हस्तप्रो विश्वा वयुनानि विद्वान्पुमान्पुमांसं परि प. तु विश्वतः
 (ऋ० सं० ६ । ७५ । १४) ॥ अहिरिव भोगैः परिवेष्ट-
 यति बाहुं ज्याया वधात्परित्रायमाणो हस्तप्रः सर्वाणि प्रज्ञा-
 नानि प्रजानन् पुमान् पुरुमना भवति पुंसतेर्वाभीशवो व्याख्या-
 १० तास्तेषामेवा भवति ॥ १५ ॥

अहिरिव भोगैरिति । योऽयम् अहिरिव भोगैः सर्प इव कुटिलमाधैः
 हस्तप्रः सर्पप्राहकस्य बाहुं सर्पेणैव पर्येति परिवेष्टयति
 बाहुं धनुष्मतः पुरुषस्य । ज्याया हेति परिवार्य-
 १५ धमानः । ज्याया वधोत् सर्वतस्त्रायमाणस्तदर्थात्वात्तस्य । सोऽयमेवंधर्मा
 हस्तप्रः पुमानिव पुरुमना इव कश्चिदाप्तः प्रज्ञावद्बुद्धः पुमांसम् एतं धनु-
 ष्मन्तं परिपातु विश्वतः सर्वप्रकारं सर्वतः पानित्येतदाशात्महे । स्त्रियम-
 पेक्ष्यामनस्का पुरुषे बहुतरं मनः । ‘ पुंसतेर्वा ’ पौरुषार्थस्य पौंस्यमिति
 यस्य बलनाम भवति ।

२० ‘ अर्मीतावः ’ (११) इति यत्कन्यम् । ते पुनरर्मी ‘ व्याख्याताः ’ अमि-
 धानतोऽभिधेयतश्च ‘ अर्मीपरोऽभ्यश्रुवते ’ (निरु० ३ । ९) इति ।
 ‘ तेषामेवा भवति ’ ॥ १५ ॥

१ च. कलापीपट्टकः; स. कलापापट्टकः. २ क. ल. ४ (१४); उ. उ.
 ‘ बलि । इति निरुक्टीकाया मुक्तरपट्टके ३ ध्याये १४ सण्डः. ३ क. ल. ५ ।
 १५; त. व. ५. ४ ग. ‘ रिति । यो. ५ क. ल. घ. स. ट. उ. ट. वपत्
 ज्यायातात् बाहुं सं. ६ क. ल. घ. स. ट. उ. ट. प्रज्ञानं. ७ व. पुमांसं.
 ८ क. ल. घ. स. ट. उ. पु. १ क. ल. ५ (१५); उ. उ. ‘ बलि ।
 २१ इति निरुक्ताभ्यां (उ. ‘ भयो उ.) ३ ध्याये वददाः (उ. १५).

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्रयत्र कामयते सुपारथिः ।
 अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः
 (ऋ० सं० ६ । ७५ । ६) ॥ रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुर-
 स्तात्सतो यत्र यत्र कामयते सुपारथिः कल्याणसारथिरभीशूनां
 महिमानं पूजयामि मनः पश्चात्सन्तोऽनुयच्छन्ति रश्मयो धनुर्ध- ५
 न्वन्तेर्गतिकर्मणो वधकर्मणो वा धन्वन्त्यस्मादिपत्रस्तस्यैषा
 भवति ॥ १६ ॥

रथे तिष्ठन्नयति वाजिन इति । यदेतत् रथे तिष्ठन् वर्तमानः सुपारथिः

अभीशवः कल्याणः मुशिक्षितोऽपि सारथिः नेता रथस्य १०
 वाजिनः पुरस्तात् अग्रतः सतो रथयुक्तान्

रथस्य नीडे पश्चात्सनुपविष्टः । क । यत्र यत्र कामयते । यत्र यत्रेच्छति
 योद्धा तत्र तत्र नयति । तदेतत्किं सारथेर्माहाभाग्यम् । न इत्युच्यते । निर-
 भीशुः को हि सारथिः किं कुर्यात्सुशिक्षितोऽपि । एवम् अभीशूनाम् एतं
 महिमानं माहाभाग्यं पनायत पूजयामि । यन्मनोऽध्वानामतिप्रवृद्धजवाना- १५
 मपि तेष्वधेपूपनिबद्धाः रश्मयः गृहीताः सारथिना पश्चात्सन्तो मनोऽ-
 नुयच्छन्ति । तपरमयन्तीत्यर्थः । संबोध्याभावात्पनायतेत्यस्य पूजयामीति
 पुरुषवचनव्यत्ययः ।

‘धनुः’ (१२) धन्वतेः गत्यर्थस्य । तद्दलेन हीपवो गच्छन्ति ।

‘वधकर्मणो वा’ । शत्रुवधार्थं तद्दुर्धर्यते । १०

‘तस्यैषा भवति’ ॥ १६ ॥

१ छ. त. द. पूजयत. २ क. स. ६ (१६) ; त. द. ६. ३ म.
 ४ वतीति । ५ उ. ड. यतीति. ४ ग. सुलीरं वा; च. ज. सुखारं.
 ५ च. शिक्षितो ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. विद्विस्तिष्ठन् । कं. १५
 ७ च. धेमेहां. ८ घ. झ. ट. ठ. ड. निरभीशुको हिं. ९ च. मश.
 १० क. ख. येभ्यं; ट. तेष्वं ये. ११ गं. ज. च. ‘रश्मयः’ नास्ति. १२ क. स.
 घ. झ. ट. ठ. ड. पाय हि तं. १३ घ. झ. ट. ठ. ड. ‘वुपयते. १४ क.
 ख. ६ (१६), उ. द. ० वति । इति निरुक्टीकायामुत्तरश्लोके तृतीयाध्याये बौद्धशः
 (उ. निरुक्तभा० उ० ६० तु० ० ध्याये श्लो०) १०२२; १. झ. ट. ज. अशो नास्ति. ३५

धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम ।
 धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम (ऋ०
 सं० ६ । ७५ । २) ॥ इति सा निगदव्याख्याता समदः समदो वाचेः
 संमदो वा मदतेज्या जयतेर्वा जिनातेर्वा प्रजावयतीपूनिति वा
 तस्या एषा भवति ॥ १७ ॥

धन्वना गा इति । ताः गाः तावत् धन्वना धनुषा वयभारिभ्यो
 जयेम । अपि च । आजिम् । इतरेष्वयं स्पर्धया यत्र लक्ष्यवेधायैव केवल-
 मिवः क्षिप्यन्ते वैतकेण प्रतीपार्थं वा तम् आजिम् अज्वनं धनु-
 धनुः यैव वयं जयेम । या अपि तीव्रा दारुणाः समदः
 संग्रामाः अनेकशस्त्रस्रपातसंकटाः अनेकवीरपुरु-
 षाकीर्णाः ता अपि वयं जयेम धनुयैव । अपि च । किं बहुना । समासत एव
 नूनः । धनुः शत्रोरपकामं कृणोति । यत्र यत्र शत्रुरस्मान् जेतुकामः
 स्यात्ततस्ततोऽपगतकाममस्मत्तो धनुः करोतु । अपगतकामे च तस्मि-
 ष्टुत्रौ वयं धनुयैवैताः सर्वाः दिशः प्रदिशश्च जयेमत्येतदाशास्महे ।

‘समदः समदो वा समदो वा’ । संपूर्वस्य अच्चेः भक्षार्थस्य । भक्षत-

समदः कस्मात् इव हि तत्र परस्परतः । मदतेर्वा हर्षणार्थस्य
 द्वितीयम् । ‘संमदो वा’ इति । संदृष्टास्तत्र हि
 परस्परतो युज्यन्ति ।

२० ‘जया’ (१३) इति वक्तव्यम् । सा पुनरियं ‘जयतेर्वा जिनातेर्वा’ ।
 ज्या कस्मान् धावन्त्यर्थैर्मर्यादायम् । तद्धूत्रेण हि जीयते । स
 पुनरेव धनुर्गुणः । तस्यै एषा भवति ॥ १७ ॥

- १ क. म. ७ (१७), त. द. ७. २ ग इति । ता. ३ च वयभारिभ्यो.
 १५ ४ क. स. प. म. ट. ठ ड इतरेतरसार्धया. ५ ग. च. ज. वैतकेण; घ. ट.
 वैतकेण. ६ ट. प्रतीपार्थं एवार्थ. ७ घ. अज्वनं; ठ. ड. आज्वनं.
 ८ क. स. घ. म. ट. ट. ड. भक्षणार्थस्य. ९ ग. घ. परस्परतः; ज. परस्परतो.
 १० घ. मन्त्रसमर्थ. ११ ग. घ. ज. तस्मैवा. १२ क. स. ७ (१७),
 ठ. ड. इति । इति निरुक्तटीकायामुक्तपेट्टे तृतीयोऽध्यायः (३. कृष्णा० उ०
 २० ज्या०) समदग. २७४, घ. म. ट. म. अज्ञा नास्ति.

वक्ष्यन्तीवेदां गंनीगन्ति कर्णं प्रियं सखायं परिपस्वजाना ।
योपेव शिक्षे वितताधि भ्रन्वन् ज्या इयं समने पारयन्ती (क०
सं० ६ । ७५ । ३) ॥ वक्ष्यन्तीवांगच्छति कर्णं प्रियमिव सखा-
यमिषुं परिप्वजमाना योपेव शिक्षे शब्दं करोति वितताधि
धनुषि ज्येयं समने संग्रामे पारयन्ती पारं नयन्तीषुरिपतेर्गति-
कर्मणो वैभ्रकर्मणो वा तस्यैवा भवति ॥ १८ ॥

५

वक्ष्यन्तीवेति । येयं योपिदिवं काचित्कस्मैचिदिष्टाय पुरायय किञ्चि-
ज्या द्रहस्यं वक्ष्यन्तीव कथयिष्यन्तीव ज्या धनुष्मता
पुरयेण इयं चिक्षिप्तता सव्येन दक्षिणेन वा १०
पाणिना कृष्यमाणा सव्यं दक्षिणं वा कर्णं प्रत्यागन्तीगन्ति अमाच्छति । कथ-
मिति । प्रियं सखायं परिपस्वजाना । प्रियम् इष्टं काचित्कंचित् सखायं
समानरूपाभिर्म् उपज्जताप्रीतिं स्त्री पुरुयमिवेषुं परिप्वजमाना । संप्रत्यर्थे
एव सस्वजानेत्यभ्यासोऽर्थविशेषभावात् । यथा हि सा कर्णं प्रत्याकृष्यते
धनुष्मता तथा मध्यमारमनो निनीय इयं परिप्वजत इव । किमेतावदेव । १५
नेत्युच्यते । या ज्येयं योपेव शिक्षे योपिदिव विदग्धा काचित्कामिना
पुरयेणात्मानं प्रत्याकृष्यमाणोपजायमानपरितोषा कामिनः पुरुयस्य हर्ष-
मुत्पादयन्ती शिक्षे मुकुमारमव्यक्तशब्दं करोति । वितताधिध्रन्वन् धनुषि
अप्यारोपिता सेयमस्माकभवेमादिगुणयुक्ता ज्या समने संग्रामे पारयन्ती
अस्तु । पारम् अन्तं नयन्ती अस्तु शत्रूणामिष्येतदाशास्त्रे । २०

‘ इयुः ’ (१४) इत्येतत् ईपतेर्गतिकर्मणः । तदर्थमेवासाधुम्यादते !
यथार्थस्य वा । तदर्थमेव ह्यसौ गच्छति ।
इयुः कस्मात्
‘ तस्यैवा भवति ’ ॥ १८ ॥

१ उ. त. द. ‘ शिक्षे ’ नास्ति. २ क. ल. उ. त. द. ‘ न्तीपुषिष ’; त. ‘ न्तीपु- २५
षिष ’ ति. ३ क. ल. उ. त. द. ‘ वैभ्रकर्मणो वा ’ नास्ति. ४ क. ल. ८ (१८);
त. द. ८. ५ ग. ‘ वेति । ये ’. ६ ग. च. ज. वक्ष्यती कथं. ७ ग. ज. ‘ कंचित् ’
नास्ति. ८ ग. च. ज. ‘ स्वातम् ’. ९ ग. च. ज. विदग्धा; प. स. द. विदग्धा.
१० क. ल. ग. च. ज. ईपते. ११ क. ल. ८ (१८); उ. ‘ वति । इति उ०
१० १८ खण्डः; उ. ‘ वति । इति निरुक्तीच्छायामुपपत्तये २ पृथगे १८ खण्डः;
च. स. ट. ज. अशौ नास्ति.

सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः संनद्धा पतति प्रसूता ।
 यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन् (ऋ०
 सं० ६ । ७५। ११) ॥ सुपर्णं वस्त इति वाजानभिमेत्य मृगमः
 योऽस्या दन्तो मृगयतेर्वा गोभिः संनद्धा पतति प्रसूतेति व्या-
 ५ ख्यातं (निरु० २ । ५) यत्र नराः संद्रवन्ति च त्रिद्रवन्ति च
 तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म तच्छन्तु शरणं संग्रामेष्वश्वजनीं कशे-
 त्याहुः कशा प्रकाशयति भयमश्वाय कृष्यतेर्वाणुभावाद्वाक्
 पुनः प्रकाशयत्यर्थान् स्वशया क्रोशतेर्वाश्वकशाया एषा भ-
 वति ॥ १९ ॥

१०

सुपर्णं वस्त इति । ये एते सुपर्णं वस्ते वसते गार्धं वाजो इषवः ।
 इषुः येषां चैतेषां मृगमयो दन्तो यदि मार्गाणि
 फलानि । अमार्गेषु तु व्यधेनश्वभावान्मार्गयन्तीव

१५ किं तु तद्यद्वेद्व्यं स्यादर्हं विष्येयमिति । ये चेमे गोभिः संनद्धाः गव्येन
 स्नान्ना श्लेष्मणा च समन्ततो नद्धाः पतन्ति गच्छन्ति धनुष्मता प्रसूताः
 क्षिताः त एषमादिगुणयुक्ता इषवो यत्र यस्मिन् संग्रामे नराः मनुष्याः
 संद्रवन्ति गच्छन्ति च त्रिद्रवन्ति च पुनर्विगच्छन्ति तत्र अस्मभ्यं शर्म
 शरणं सुखं जयनिमित्तं यंसन् यच्छन्तु ददावित्येतदाशास्महे ।

‘ अश्वजनी ’ (१९) इत्येतत्पदम् । तां पुनरेतां ‘ कशेत्याहुः ’ ।

१० कशा कस्मात् अश्वजनीत्येतन्न निर्वक्तव्यं प्रत्यक्षवृत्तित्वादस्य ।
 अथ ‘ कशा ’ कस्मान् । सा हि ‘ प्रकाश-
 यति ’ प्रत्याशयति ‘ भयमश्वाय ’ । ‘ कृष्यतेर्वाणुभावात् ’ । अ-
 कृष्या हि सा भवति शर्मणोऽपि । ‘ वाक् ’ अपि कशेत्युच्यते । सा
 ‘ पुनः प्रकाशयत्यर्थान् ’ इति । अथवा । ‘ स्वशया ’ । वाक् स्वै मुखा-

१ उ. द कशाया; त. कशाया। ल. क. ल. १ (१९:) त द. १. ३ म.
 इति। य. ४ म. ल. च. वसतेर्गार्धं वा. ५ क. ल. घ. ष. ट. ठ द. व्ययन.

१७ ६ प. स. ट. ठ. ड. ‘ यद्वेद्व्यं विनि. ७ क. ल. घ. ष. ट. उ. द. संगच्छन्ति.

काशे शेते इति । 'श्रोशतेर्वा' शब्दार्थस्य । या त्वश्वकशा तस्या
'एषा भवति' स्तुते ॥ १९ ॥

आ जङ्घन्ति सान्वेषां जघनां उप जिघ्रते । अश्वजनि प्रचेत-
सोऽश्वान्तसमत्सु चोदय (ऋ० सं० ६ । ७५ । १३) ॥ ५

आघ्रांत सानूयेषां सरणानि सक्थीनि सवियः सचतेरासक्तोऽ-
स्मिन्कायो जघनानि चोपघ्नति जघनं. जङ्घन्तेरश्वजनि प्रचे-
तसः प्रवृद्धचेतसोऽश्वान्. समत्सु समरणेषु संग्रामेषु
चोदयोलूखलमुरुकरं वीर्करं वोर्ध्वखं चोरु मे कुर्वित्यमवीत्तदुलू-
खलमभवदुरुकरं वैतत्तदुलूखलमित्याचक्षते परोक्षेणेति च ब्राह्मणं १०
तस्यैषा भवति ॥ २० ॥

आजङ्घन्ति सान्वेषामिति । आजङ्घन्ति इति शतारि संबोधनम् ।
अश्वजनिः हे अश्वजनि आर्जङ्घन्ति सानूनि एषां
सरणानि समुच्छितानि सक्थीनि कटिप्रदेशान् १५
जघनान् उपजिघ्रते । जघनानि स्फिग्देशाः । तांश्च हे अश्वजनि उप-
जिघ्रति । इदमपि शतर्थेव । रथ्यानां कटिप्रदेशमश्वजन्यभिर्हन्ति पृष्ठानां
स्फिग्देशान् । हे अश्वजनि या स्वमेवमभिहंसि सा त्वमेतान् अश्वान्
प्रवृद्धचेतसः प्रकृष्टचेतसो गमनं प्रति समुत्सुकान् समत्सु समरणेषु
संग्रामेषु तथा चोदय यथा जयेयमित्येतदाशास्महे । २०

'सानूनि सक्थीनि' । तानि पुनः 'सरणानि' । तद्वत्त्वेन हि

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'स्तुते' नास्ति. २ क. ख. ९ (१९),
ट. 'वति' इति निरु० भा० उ० गृ० एको० १९ खण्डः; ङ. 'वति' इति
निरुक्तीकायामुत्तरखण्डके गृहीताप्याये एकोनविंशतिः खण्डः; घ. ङ. ट. न. अष्टौ
नास्ति. ३ क. ख. ङ. त. ड. आघ्रन्ति; ठ. आग्रन्ति. ४ क. ख. घ. त. २५
द. वोर्ध्वखं वोर्ध्वकं. ५ क. ख. 'चतत्तदुलू'; ङ. घ. ष. ठ. ड. 'चेतदु'. ६ क. ख.
१० (२०), त. द. १०. ७ ग. 'मित' । आ; ठ. ड. आग्रन्तिवन्ति.
८ ठ. ड. अग्रन्ति. ९ ग. न. 'देशान् । जघनानि स्फिग्'; घ. 'देशान् संबन्धे
जघनानि स्फिग्'. १० ग. घ. अ. जिघ्रन्ति. ११ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड.
रथ्यानां दि कं. १२ घ. 'भिर्' प्रति. १३ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. दयेतः. १४

स्त्रान्ति सर्तारः । ' सक्थिः ' कस्मात् । ' सचतेः ' । किमस्मिन्सक्तम् ।
' आसक्तोऽस्मिन् कायः ' कृत्स्नं शरीरम् । ' जघनं ' कस्मात् । तद्धि
भृशं हन्यते कनाया ।

' उरूखलम् ' (१६) इत्येतत्पदम् । तत्कस्मात् । तद्धि ' उरूकरं

५ । उरूखलं कस्मात् वा ' । उरूकरं बह्वनं करोति । उरुशब्दात्पूर्व-
पदं करोतेरुत्तरपदम् । ' ऊर्करं वा ' । ऊर्क-

शब्दात्पूर्वपदम् । ऊर्ज एव हि करणार्थं तदुपचते । ' ऊर्खलं वा ' ।
ऊर्खलशब्दात्पूर्वपदं सशब्दादुत्तरपदम् । ऊर्खले हि तस्य खलं भवति ।
अथवा । ' उरु मे कुर्वित्यत्रवीत्तदुरूखलमभवत् ' (शत० ब्रा० ७ । ५ ।

१० १ । २२) । तन्निल कियमाणमुरु मे खं कुर्वित्यत्रवीदिव तथागुणयुक्त-
त्वात्तस्य । तदुरूखलमभवत् । ब्राह्मणमपि च भवति । ' उरूकरं वे तदु-
रूखलमित्याचक्षतेऽपरोक्षेण ' (शत० ब्रा० ७ । ५ । १ । २२) ।

उरू करोतीत्युत्करमेतःप्रत्यक्षमव्यवहितगुणाभिधानम् । तद्युनरेतद्बलव्य-
वयेन व्यवहितगुणमुच्यते उरूखलमिति । ' तस्यैष ' स्तुतिः

१५ ' भवति ' ॥ २० ॥

यच्चिद्धि त्वं गृहेष्टुं उरूखलक युज्यसे । इह युमत्तं वद्
जर्पतामिव दुन्दुभिः (ऋ० सं० १ । २८ । ५) ॥ इति सा
निगदध्यास्याता ॥ २१ ॥

इति नवमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

यच्चिद्धि त्वं गृहेष्टुं इति । शुनःशोपस्यार्थम् । ' आयजी याजसा-

१ क. स. प. स. ट. ठ. ड. ' कस्मात्तदुत्तरं ' ; ग. घ. ज. उरूकं वा. २ ग.
घ. ज. उरूकरं वा. ३ स. ' पदम् । ऊर्ज एव ' . ४ क. स. पदम् । करोतेरु-
२५ चत्पदम् । ऊ. घ. स. ट. ठ. ड. ' पदं करोतेरुत्तरपदम् । ऊ. ५ घ. उरूकम् ' .
६ ग. ज. ' उरु करोतीति ' कस्ति. ७ क. स. १० (२०) ठ. ' कति । इति
निग० ब्रा० ७० तू० प्या० विंशः २० अष्टः ; (ट. ' वति । इति निगद-
डीकायात्रुवापट्टे १ प्या० विंशः अष्टः ; घ. स. ट. ज. अशो नास्ति. ८ क.
स. ११ (२१), त. द. ११. १ क. घ. घ. ' इति०० कदः ' नास्ति; छ. त.
द्वितीयः पदः ; द. इति अष्टे अष्टवर्षाय न०. १० ग. इति । शुं ; ड. क.
११ ' चिद्धि त्वमिति.

तमा' (श्र० सं० १।२८।७ । निरु० ९। ३६) इति च । सोमा-
मिपवे विनियोगः (ए० ब्रा० ३३ । ५) । अभिमन्त्र्य चोपवीय-
तेऽग्निचयने । हे उलूखलक युज्यसे । यद्यपि त्वमन्नसंस्कारार्थं गृहे गृहे
उलूखलम् युज्यसे तथापि त्वम् इह एव अस्मद्गृहे पुन-
चमं दीक्षिमन्तं गम्भीरम् अन्नैर्वद्भिः संस्क्रि- ५
यमाणैः शब्दं वद । कथम् । जयतामिव दुन्दुभिः । ये हि जयन्ति
तेषामेतदेव जयस्य पूर्वरूपं भवति गम्भीरस्वनो दुन्दुभिः । ये पुनर्जायन्ते
तेषां रक्षास्वर इति ॥ २१ ॥

चतुर्दशस्य द्वितीयैः पादः ।

१०

तृतीयः पादः ।

वृषभः प्रजां वर्षतीति वातिवृहति रेत इति वा तद्वृषकर्मा
वर्षणाद्वृषभस्तस्यैषा भवति ॥ २२ ॥

‘ वृषभः ’ (१७) कस्मात् । स हि ‘ प्रजां वर्षति ’ । प्रजो- १५
त्पत्तिकारणं रेतः सिञ्चति योनौ । ‘ अतिवृ-
हति रेत इति वा ’ । रेतः सेतुमतिशयेनासा-
धात्मानमुपसृष्टति । ‘ तद्वृषकर्मा वर्षणाद्वृषभः ’ । तेनैश्वर्यवृषकर्माणा
रेतोवर्षलक्षणेन नृगौरप्यतिशयेन यो युक्तोऽसावपि वर्षणात् रेतोवर्षणा-
द्धेतोः भकारमुज्जनीकृत्वा वृषभ इत्युच्यते । ‘ तस्य ’ गोवृषभस्य १०
‘ एषा ’ स्तुतिः ‘ भवति ’ ॥ २२ ॥

१ ग. च. ज. ‘ गृहे ’ सङ्क्षेप. २ क. ख. २२ (२२) ; ठ. ‘ इति । इति
निरु० उ० तू० एकविंशतिः खण्डः; ड. इति । इति निरु० २१ खण्डः; ए.
झ. १. ज. अद्भो नास्ति. ३ ठ. ‘ शस्यपावः; ड. ‘ इत्य पादः २. ४ क. १५
ख. १ (२२), त. द. १. ५ ग. च. ज. ह. ६ क. ख. ए. झ. ट. ड. ह.
तेनास्य वृष’. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘ गेन मी’; च. ‘ शणे मुमी’;
ग. ज. रेतोवर्षणेन गो’. ८ घ. झ. ट. वर्षणा’. ९ क. ख. १ (२२); ड.
‘ वति । इति नि० उ० तू० २२ खण्डः; ड. ‘ वनि । इति निरु० टीकापा०
२६ खण्डः; ए. झ. ट. अ. अद्भो नास्ति. १०

न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनमेहेयन्वृषभं मध्यं आज्ञेः । तेन
सूभर्वं स्रतवेत्सहस्रं गवां मुद्गलः प्रधने जिगाय (ऋ० सं०
१० । १०२ । ५) ॥ न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनमिति व्याख्या-
तममेहेयन्वृषभं मध्यं आज्ञेराजयनस्याजवनस्येति वा तेन तं
सूभर्वं राजानं भवतिरचित्कर्मा तद्वा सूभर्वं सहस्रं गवां मुद्गलः
प्रधने जिगाय प्रधन इति संग्रामनाम प्रकीर्णान्यस्मिन्धनानि
भवन्ति द्रुघणो द्रुममयो घनस्तत्रेतिहासमाचक्षते मुद्गलो भार्म्यन्व
ऋषिर्वृषभं च द्रुघणं च युत्तवा संग्रामे व्यवहृत्याजिं जिगाय तद्-
भिवादिन्येपग्भवति ॥ २३ ॥

१०

न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनमिमिति^१ । एवं तावत् व्याख्यातं प्रतिपदम् ।
एकवाक्यतया तु मन्स्य व्याख्येयमिति । मन्त्रद्वयवृत्ति । यत् वृषभं
वृषभः केनाजैषीक्ष्वमेतं राजानमिति तत्र मे शृणुत ।
यमेतम् आज्ञेः शरपथस्य मन्वे वर्तमानं वृषभं

१५

न्यक्रन्दयन् उपयन्ति न्यक्रन्दयन्तः एनं हे जनाः युक्ता रयन्त युक्ता
रयन्तेति उपयन्ति उपगच्छन्ति परिवृण्वन्ति । अमेहेयन्तश्च तं मुद्गलं
स्थीयतां यावदेयं संकल्पमत्रं करोति ततो लघु मुखं भविष्यतीति । स हि
गोभिनामाजिसृतां स्वभावः । तेन अमुना वृषभेण सूभर्वं मुभगं शोभ-
नभोगं राजानं धौ । तद्वा सुभगं सुयवसदेशसमृद्धं शतवत् शतैस्तद्वा संख्या-

२०

सहस्रं गवां दशसतालानि । यद्वा । असंख्यं बहु । किमिति । मुद्गलोऽहं
प्रधने धने प्रति स्पर्धया विजिगीषोराययोः प्रवृत्तयोर्वाहिकायां जिगाय
जितवामिति ।

१ उ. त. द. ' आज्ञेः ' नास्ति. २ क. ख. २ (२३); त. द. २. ३ ग.
'मिति । ९; व. ड. ' न्युपयन्ति. ४ क. ख. दद्रुषभकेजानेधी'; घ. यद्वा
२५ के; झ. ट. यद्वा वृषभे के; ड. ड. यद्वा के. ५ घ. झ. ट. मेये सु. ६ म.
न. न. ४९. ७ घ. झ. ट. जानाः. ८ घ. युक्ता ९; क. ख. कुक्कावन्तं
कारयतेति उप. ९ क. ख. घ. झ. ट. ड. अमेहेयन्नेद्रयन्तश्च. १० घ.
झ. ट. ड. ड. शङ्. ११ म. घ. न. मावि. १२ ग. घ. ज. युक्ता. १३ क.
ख. घ. झ. ट. ' वा ' नास्ति. १४ घ. कनि. १५ क. ख. घ. झ. ट. ड.
२० यधने संग्रामे धने; ग. घ. न. ययाने.

द्रुवगः कस्मात् 'द्रुवणः' (१८) इयेतत्तदम् । स पुनरेपः

'द्रुमयो घनः' द्रुप्रकृतिः । तःप्रकृतिवचने मयद्
(पाणि० ५ । ४ । २१) । द्रुशब्दात् पूर्वपदं घनशब्दाद्दुत्तरपदम् । मुद्र-
रोऽभिधेयः । ' तत्रेतिहासमाचक्षते ' इति स्तुतिलाभनिमित्तमुभयोरप्येक-

तत्रेतिहासः मेव वृषभद्रुवणयोः । 'मुद्रलो भौर्म्यश्व ऋषिः' इत्ये-
वमादि । स किल द्वितीयस्य गोरभानाद्राज्ञा सह

प्रतिस्पर्धमानः ऐश्वर्योदन्वादिश्य 'द्रुवणं' वृषभेण सह युक्तवौ राज्ञा
सहाजि ससर्प । स च तं 'जिगाय' जितवान् । यथा चैतदेवं तस्यार्थस्य
'अभिवादिन्येवर्भवति' ॥ २३ ॥

१०

इमं तं पश्य वृषभस्य युञ्जं काष्ठाया मध्ये द्रुवणं शयानम् ।
येन जिगार्थं शतवत्सहस्रं गवां मुद्रलः पृतनाज्येषु (ऋ० सं०
१० । १०२ । ९) ॥ इमं तं पश्य वृषभस्य सहयुञ्जं काष्ठाया मध्ये
द्रुवः शयानं येन जिगाय शतवत्सहस्रं गवां मुद्रलः पृतनाज्येषु
पृतनाज्यमिति संग्रायनाम पृतनानामजनाद्वा जयनाद्वा मुद्रलो
मुद्रवान् मुद्रगिलो वा मदं गिलतीति वा मदंगिलो वा मुद्रं-
गिलो वा भार्म्यश्वो भूम्यश्वस्य पुत्रो भूम्यश्वो भूमयोऽस्याश्वा
अश्वभरणाद्वा पितुरित्यन्ननाम पातेर्वा पिवतेर्वा प्यायतेर्वा
तस्यैषा भवति ॥ २४ ॥

१५

२०

इमं तं पश्य वृषभस्येति । जिगायामाजायमिति जिगरणमाजेन्त एवाप-

१ म. च. ज. 'इति; स. द्रुमप्रकृतिः. २ म. 'लो भौर्म्यश्व; च. 'ले भौर्म्यश्व.
ज. 'लोर्म्यश्व ऋ'. ३ म. च. ज. 'मादि'. ४ म. ज. एश्वर्यं दत्त्वा-
दिश्य द्रु'; च. ऐश्वर्यं दित्वादिश्य द्रु'. ५ म. च. ज. युक्ता. ६ क. स. २ (२२).
ठ. 'वति । इति नि० उ० २३ खण्डः; ड. 'वनि । इति निम्नटीकायामुप-
खण्डे ३ ध्याये २३ खण्डः; च. ऋ. २ ज. खण्डं गानि. ७ छ. द सप्तयुज;
त. सहयुजं यु. ८ छ. त. द. 'वा गानि; ९ क. स. ३ (२४). त. द. ३.
१० म. 'इति । जि', ठ. ड. पशंति. ११ म. च. म. ठ. ड. 'म. घ=१'; द.
'मानन्त' घ.

२९

विद्वमुद्रो मुद्रलः केनचित्पृष्टः केन सह युक्त्वा वृषभेणमं राजानमजै-
 धुषणः पीरिति । स तमुपदिशनेन द्रुघणमाज्यन्ते
 तस्मिन्नपविद्धमसावज्ञमिव कुन्सयन् राजानमन-
 यर्चा तस्मै प्रत्याचक्षे । इमं तं पश्य येनाजैवमिति । वृषभस्य सहयुजम् ।
 क वर्तमानम् । काष्ठायाः आज्यन्तस्य मध्ये द्रुघणं शयानम् अपविद्धम् ।
 येन जिगाय शतवःसहस्रम् इति व्याख्यातम् ।

‘ पृतनाज्यमिति संप्राप्तनाम ’ । तत्कस्मात् । ‘ पृतनानामजनाद्वा ’ ।

पृतनाः मनुष्याः । ते यस्मिन्नजन्ति गच्छन्ति ।
 पृतनाशब्दाः पूर्वपदमजतेरुत्तरपदम् । ‘ जय-

१० नाद्वा ’ । तत्रोत्तरपदे विकल्पयन्ति । ते हि तत्र जयन्ति । ‘ मुद्रलो मुद्र-
 वान् ’ । लो मत्वर्थे । अध ‘ वा भुद्रगिलो ’ मुद्रभोजनप्रायः । मुद्र-

मुद्रलश्च

शब्दः पूर्वपदं गिलशब्द उत्तरपदम् । ‘ मदनं
 गिलतीति वा ’ । मदनः कामः । तमसौ

१५ गिलति वशीकरोति । जितेन्द्रिय इत्यर्थः । मदनशब्दः पूर्वपदं गिलति-
 शब्द उत्तरपदम् । ‘ मर्दगिलो वा ’ । मुद्रगिलो वा । मद उद्रेकः ।
 तमसौ गिलति । उपशान्त इत्यर्थः । ‘ मुद्रगिलो वा ’ । हर्ममसौ गिलति ।

भार्मश्वश्च

निवृत्त इत्यर्थः । ‘ भार्मश्वो भृम्यश्वस्य पुत्रः ’ ।
 ‘ भृम्यश्वः ’ पुनः ‘ भृमयोऽस्याश्वाः ’ । अन-
 वस्थापिनः । ‘ अश्वमरणाद्वा ’ । विभर्ति वा असावश्वान् ।

२० ‘ पितुः ’ (१९) इत्येद्वक्तव्यम् । तत्पुनरेतत् ‘ अन्ननाम ’ । तत्क-
 स्मात् । ‘ पातेर्वा ’ रक्षणार्थस्य । ‘ पिवतेर्वा ’
 पानार्थस्य । ‘ तस्यैवा भवति ’ ॥ (२४) ॥

२५ पितुं नु स्तोत्रं महो धर्माणं तन्निधीम् । यस्य त्रितो व्योर्जसा
 इमं त्रिपूर्वमर्दयन्तु (ऋ० सं० १ । १८७ । १) । तं पितुं स्तौभि महतो

१ ग. घ. ज. ट. ड. ‘ मायन्ते. २ घ. मुद्रलो मुद्रवोत्तन°. ३ क. ख. घ.
 झ. ट. ठ. ड. शब्दान्. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. शब्दान्. ५ ख. लिंग-
 का°. ५ क. ख. १ (२४), ठ. ड. °वति । इति निरुच्छटीकाया (ठ. °रुक्-
 भाष्ये) मुद्रशब्दे तृतीयेऽध्याये अश्वविभर्तिः लघः; घ. झ. ट. ज. अश्वो

धारयितारं बलस्य तविपीति बलनाम तवतेर्वृद्धिर्कर्मणो यस्य
त्रित ओजसा बलेन त्रितास्त्रिस्थान इन्द्रो वृत्रं विपर्वाणं व्यर्द-
यति नद्यो व्याख्यातास्तासामेषा भवति ॥ २५ ॥

नितुं नु स्तोपमिति । अगस्त्यस्यार्थम् । यस्य पितोः ओजसा ५
बलेन बलाधिपतिरपीन्द्रः त्रिस्थानः त्रिषु स्थानेष्वप्रतिहतप्रमाद्यः वृत्रं
पितुम् मेघं विपर्वं विगतपर्वाणं विगतसन्धिवन्धनं
कृत्वा व्यर्दयत् विविधमर्दयति अपुनरावृत्ते
तं पितुम् अहम् अन्नं तविपीसंज्ञकस्य महती बलस्य धर्माणं धारयितारं
स्तौमि । को हि नाम तन्न स्तूयाद्यस्मादृते त्रिलोकाधिपतिरपीन्द्रः किंचिद- २०
प्यशक्तः कर्तुमित्यभिप्रायः । 'तविपी (निघ० २।९।१०) इति बल-
नाम' 'तु वृद्धौ' इत्यस्य । तद्धि सर्ववस्तुभ्यो ज्यायः ।

'नद्यः' (२०) अवसरमात्ताः । ताः पुनरेताः 'व्याख्याताः' 'नदना
भवन्ति शब्दबलः' (निरु० २।२४) इति । 'तासामेषा भवति' ॥२५॥

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या ।
असिक्त्रया मरुदृधे वितस्तयार्जाकीये नृणुषा सुपोमया (ऋ०
सं० १०।७५।५) ॥ इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि परुष्णि
स्तोममासेवध्वमासिकन्या च सह मरुदृधे वितस्तया चार्जाकीय २०
आशृणुहि सुपोमया चेति समस्तार्थोऽर्थरूपदानिरुक्तं गङ्गा गमनाद्य
मुना मयुवती गच्छतीति वा मयियुतं गच्छतीति वा सरस्वती सर
इत्युदकनाम सतेस्तद्वती शुतुद्रि शुद्राविणी क्षिप्रद्राविण्याशु तुषेव
द्रवतीति बेरावती परुष्णीत्याहुः पर्ववती कुटिलगामिन्यासिन्य-

१ क. स. ट. घ. ष. ठ. ड. तपतेर्वा वृद्धिः. २ छ. त. द. म्योज. ३ क.
स. ४ (२५). त. द. ४ घ. विपर्व वि. ५ क. स. घ. ङ. ट. ठ. ड. २५
असमर्द. ६ क. स. घ. ङ. ट. ठ. ड. नद्यो महती. ७ क. स. घ. ङ. ट. ड.
न तत्. ८ ग. घ. ङ. एवया. ९ घ. ङ. ट. ड. 'वसुधो; ट. वसुधो' सु.
१० क. स. ४ (२५), ठ. ड. 'वति । इति निघन्तुकीकाया—(ट.
'हंक्रभाष्ये) मुष्णदृके तृतीयेऽध्याये पद्यविन्दः सङ्घः, घ. स. ट. ङ. अहो
नास्ति. ११ क. स. ट. घ. ष. ठ. ड. 'वती भास्वती कुटि'. २०

शुक्लासिता सितमिति वर्णनाम तत्प्रतिपेधोऽसितं मरुद्वृधाः सर्वा
 नद्यो मरुत एना वर्धयन्ति वितस्ता विदग्धा विदग्धा महाकूलार्जा-
 कीयां विपाळित्याहुर्जुजीकैमभवा वर्जुगामिनी वा विपाड्विपाट-
 नाद्वा विपाशनाद्वा विमापणाद्वा पाशा अस्यां व्यप्राश्यन्त वसि-
 ष्यस्य । मुमूर्षतस्तस्माद्विपाळ्येच्यते पूर्वमासीदुरुञ्जिरा सुपोमा
 सिन्धुर्यदेनामभिप्रसुवन्ति नद्यः सिन्धुः स्पन्दनादापआम्रो-
 तेस्तासामेपा भवति ॥ २६ ॥

१० इमं मे गङ्गे यमुने इति । हे मरुद्वृधे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि
 ययम् इमं मे मम स्तोमम् आप्तेवध्वं परुष्या सह ।
 नद्यः मरुद्वृधे आर्जाकीये त्वमपि असिक्न्या वित-
 स्तया सुभोमया च सह आशृणुहि आभिमुख्येन स्थित्वा शृणुहीति सम-
 स्तार्थः । एवं सर्वत्र पूर्वं समस्तार्थो वक्तव्य इत्युपप्रदर्शनार्थम् ।

१५ 'अथैकपदनिरक्तम्' । 'गङ्गा गमनात्' । सा हि विशिष्टं स्थानं
 गच्छति । गमयति वा प्राणिनो विशिष्टं स्थान-
 मिति गङ्गा । 'यमुना प्रयुवती गच्छति' ।
 व्युत्पत्तिः प्रकर्षेण मिश्रयन्त्यन्याभिर्नदीभिः स्वान्युदकानि
 गच्छति । 'प्रविद्युतं गच्छतीति वा' । स्तिमितमिव तरङ्गैर्गच्छति ।
 २० 'सरस्वती सर इत्युदकनाम' । तत्कस्मात् । 'सर्तः' 'सृ गती'
 (धा० पा० १-९६० ॥ ३-१७) इत्यस्य । तेन सरसा विशिष्टेन
 'तद्वती' । विज्ञापते हि राजमूये सारस्वतीनामपामभिपेकार्थवादः । 'वर-
 णस्य वा अभिपिच्यमानस्येन्द्रियं वीर्यमत्राक्रामत्तत्रेधाभवद्गुस्तृतीयमभव-
 च्छयन्तीय तृतीयं सरस्वती तृतीयं प्राविशत्' (मैत्रा० सं० ४ । ३ ।
 ९) इति । 'शुतुद्रौ शुद्राविणी क्षिप्रद्राविणी' । शु इति क्षिप्रनाम ।
 २५ अथ 'वा आशु' क्षिप्रमसौ 'तुनेत्र' विदेव केनचित् 'द्रवति' ।
 आकारलोपः पूर्वपदे । 'इरावती परुषीत्याहुः' । येयमिरावतीति लोके
 प्रसिद्धा तामिमांशेतस्मिन्मन्त्रे मन्त्रार्थविदः परुषीत्याहुः । सा कस्मात् ।

१ छ. त. द. 'पालित्या'. २ ड. घ. ठ. ड. 'कंजूक'; घ. 'कंजुक'. ३ छ.
 त. द. 'पालुच्य'. ४ क. ख. ५ (२६) त. द. ५. ५ ग. इति । हे'; ठ. ड.
 २० 'यमुने सरस्वतीनि. ६ ग. ख. ज. सुनु'. ७ घ. सुतोम'.

‘पर्ववती’ । किमुक्तं भवति । ‘कुटिलगामिनी’ इति । तदस्याः
 पर्ववत्त्वं यानि कुटिलानि तानि पर्वीणांश्च तस्यास्तैस्तद्वतीति । ‘असिक्ती’
 कस्मात् । सा हि ‘अशुक्ला असिता’ । कथम् । ‘सितमिति वर्णनाम्’ ।
 स च पुनः शुक्ल इति प्रसिद्धो लोके । ‘सितासितौ यद् दृशौ’ इति
 यल्लक्षणादुद्वावधिकृत्योक्तम् । तस्य शुक्लस्य ‘प्रतिषेधोऽसितम्’ । ५
 कृष्णामिश्रार्थः । तस्मात्कृष्णोदका असिक्ती । ‘मरुद्बुधाः सर्वा नयः ।
 मरुतः एना वर्धयन्ति’ वर्षेण । तस्मात्प्रत्येकं नद्यभिधानमनुपगम्यते
 विशेषणत्वेन हे मरुद्बुधे गङ्गे हे मरुद्बुधे यमुने इति । ‘वितस्ता
 अत्रिदग्धा’ । ‘वैदेहको नामाग्निः । स किल नदीरन्या निर्देहाह न
 ताम्’ इति सामिधेयीश्रावणे विज्ञायते । अथवा । ‘त्रिवृद्धा महाकौल्या’ १०
 विस्तीर्णा । ‘आर्जाकायां लोके विपाळिन्याहुः’ । सा कस्मात् ।
 ‘ऋजीकप्रमवा’ । ऋजीको नाम पर्वतस्तस्मात्प्रभवतीति तद्वितेन । अथ
 ‘वा । ऋजुगामिनी’ सत्यार्जाकीया । ‘विपाट् विपाटनाद्वा’ । विपाट्प्रत्यसौ
 भूमिमतिवेगवैस्त्वादृच्छन्तीति । ‘विपाशनाद्वा’ । किमस्यां व्यापश्यन्त ।
 ‘पाशा अस्यां व्यापश्यन्त वसिष्ठस्य मुर्मूर्धतः’ । वसिष्ठः किल मम- १५
 जास्यां मुर्मूर्धुः पु-मरणशोकार्तः पाशैरात्मानं बद्ध्वा । तस्य किल ते पाशा
 अस्यां व्यापश्यन्त । व्यमुच्यन्तोदकेन । ततः प्रभृति सा विपाडभवत् ।
 ‘पूर्वमासीदुरुजिरा’ नाम सा । उरुजलेऽर्थः । ‘विपापणाद्वा’
 उदकानां विपाट् । ‘मुग्धेभिः सिन्धुः’ । सा कस्मात् । ‘यदेनामभिप्र-
 मुवन्ति’ अभिगच्छन्त्यन्याः प्रभूना । ‘नयः’ । ‘सिन्धुः’ कस्मात् । २०
 ‘स्यन्दनात्’ । सा ह्यविच्छेदेन विशेषतः स्यन्दत इति ।

‘आयः’ (२१) इत्येतत्पदम् । ताः पुनरेताः ‘आप्रोतेः’ । सर्वसा-
 मिरासिमिति । ‘तानामेवा भवति’ ॥ २६ ॥

१ ग. च. ज. ठ. ड. 'पपुने'. २ क. स. ग. च. ज. महाकुला. ३ क. स. २५
 'वाहितः'; ग. च. ज. घ. झ. ट 'वल्पिया'. ४ ग. च. ज. कर्जुदो; ठ.
 न. 'मनुष्यो'. ५ ग. च. ज. वेदन्ता. ६ क. च. ज. मुर्मूर्ध. ७ ग. च. ज.
 'पाश्यन्त. ८ ग. च. ज. मुग्धेभ'. ९ क. स. ५ (०६); ठ. ड. 'पनि ।
 इति निरुक्तं ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥
 अत्रो गामिनी.

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा । मनै नु वभ्रु-
णामहं शतं धामानि सप्त च (ऋ० सं० १० । ९७ । १) ॥
या ओषधयः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रीणि युगानि पुरा मन्ये नु
तद्बभ्रूणामहं वभ्रुवर्णानां हरणानां भरणानामिति वा । शतं
धामानि सप्त च । धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि ५
जन्मानीति जन्मान्यत्राभिप्रेतानि सप्त शतं पुरुषस्य मर्मणां
तेष्वेना दधतीति वा रात्रिव्याख्याता तस्या एषा भवति ॥ २८ ॥

या ओषधीः पूर्वा जाता इति । ओषधिसूक्ते प्रथमैव । अग्निचयने

ओषधयः क्षेत्रमनेन मन्त्रेण ग्राम्यारण्याभिरौषधीभिरुपयते
(मैत्रा० सं० २ । ७ । १३) । या एता १०

ओषधयः पूर्वाः प्रथमजाताः । कुतः । देवेभ्यः । न तावदेवा उत्पद्यन्ते ।
अयैता एव पूर्वमुत्पद्यन्ते । कियति कले । त्रियुगं पुरा । कालिद्धापरत्रे-
ताम्यः पूर्वम्-आदिकल्पे आद्ये कृतयुगे । देवानामपि ह्यन्नमनपेक्ष्य
जीवनहेतु स्थितिर्नास्तीति^१ पूर्वमन्नमुत्पद्यते पश्चाद्देवा इति । किं तासा-
मिति । मनै नु वभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च । तासाम् अहं १५
वभ्रूणा वभ्रुवर्णानाम् । ओषधयः स्वभागतः सर्वा एव पच्यमाना वभ्रु-
वर्णाः कापिलाः सपद्यन्ते । मनै जाने । शतं धामानि सप्त च । सप्ता-
धिकं शतमहं तासां यथाज्ञाने । अथवा । वभ्रूणामिति वर्णव्यापसया
'हरणानाम्' इति । ता हि क्षुदादि हरन्ति । 'भरणानामिति वा' ।

मर्त्यस्ताः सर्वस्य भूतग्रामस्य वा । 'स्थानानि नामानि जन्मानि २०
धामानि त्रयाणि भवन्ति' । इह तु 'जन्मान्यभिप्रेतानि' । सप्तशतमोष-

धामशब्दस्यार्थाः धिजातय एतस्मिन्मन्त्रे अभिप्रेताः । अथवा ।
'सप्तशत पुरुषस्य मर्मणां तेष्वेना दधतीति

वा' । अस्मिन् पक्षे धामानि स्थानानि ।

१ छ. त. द. 'भरणाना हरणामिति' । सायणभाष्ये निरुक्तपाठस्तथैव.

२ छ. थ. ध. ठ. ड. रेनि. १ छ. त. स्थानान्यं जन्मा. ४ क. ख.
७ (२८), त. द. ७. ५ ग. इति^{१५}. ओ^{१६}; ठ. ड. ओषधीमिति. ६ ग. च.
ज. 'स्थिति नास्ती'. ७ क. ख. घ. झ. ट. ड. धामानि त्रयाणि भवन्ति तथा-
नानि नामानि जन्मानि.

‘रात्रिः’ (२३) इत्येतत्पदम् । तत्पुनरभिधानतोऽभिधेयतश्च ज्ञ्या-
ख्यातं ‘ रातेर्दानकर्मणः ’ (निरु० २ । १८) इति । तस्या एषा
‘ भवति ’ ॥ २८ ॥

५ आ रात्रिं पार्थिवं रजः पितुरं प्रायि धामभिः । दिवः सदांसि
बृहती वितिष्ठस आ त्वेपं वर्तते तमः (खैलिकं सूक्तं २५) ॥
आपूपुरस्त्वं रात्रि पार्थिवं रजः स्थानैर्मध्यमस्य दिवः सदांसि
बृहती महती वितिष्ठस आ वर्तते त्वेपं तमो रजोऽरण्यान्यरण्यस्ये
पत्न्यरण्यमषार्णं ग्रामादरमणं भवतीति वा तस्या एषा भवति
१० ॥ २९ ॥

आ रात्रि पार्थिवं रज इति । कुशिकस्यापं रात्र्या वा । हे रात्रि या
त्वम् आपूपुरः पार्थिवं रजः । पृथिवीलोकमापूरयसि । किं केवलमेतदेव ।
१५ रात्रिः नेत्युच्यते । पिर्धामभिः । मध्यमस्य स्थानैः सह ।
सहान्तरिक्षेण । तदपि ह्यार्थ्यते तमसा । किमेता-
वदेव । नेत्युच्यते । किं तर्हि । दिवो शुलोकस्यापि यानि सदांसि सदनानि ।
येषु शुलोकवासिनः सदनेषु सीदन्ति तान्यपि । बृहती महती
यस्मात्त्वं तस्मद्दरेऽपि वर्तमाना वितिष्ठते । विष्टम्य तिष्ठसि । न केवलं
विष्टम्यैव तिष्ठसि । किं तर्हि । और्ध्वं शुलोकमपि तत्पूर्णातिशिष्टं तमः
२० त्वेपं महत्पुनरिममेव लोकं प्रत्यावर्तते यस्यास्तव सा त्वमस्माकं सर्वदा
शिवा भवेत्येतदाशास्महे ।

१ क. ख. घ. झ. ट. एषा स्तुतिर्भवति. २ क. ख. ७ (२८); न.
‘वति । इति निरुक्तभा. उत्तरपदके तू- ध्याये अष्टाविंशतिः खण्डः; ड. ‘वति ।
इति निरुक्तटीकायामुत्तरपदके ३ ध्याये २८ खण्डः; ग. घ. वर्धमितरेष्वहोनास्ति.
३ ड. घ. पितुरः प्रायु धा°; थ. विनुप्राय° यु; ड. पितृप्रायु धा°. ४ क. ख. ८
(२९); त. द. ८. ५ ग. इति° । कु°. ६ घ. ‘च्यते ° । किं तर्हि° विनुर्धा°
नेत्युच्यते. ७ क. ग. घ. झ. ट. ‘व्यने; ठ. ड. प्रपते. ८ क. ख. घ. झ. ट.
१० ट. ड. स्थानेषु सीदन्ति. १ ग. घ. ज. आयं.

‘अरण्यानी’ (२४) इत्येतत्पदम् । सा पुनः ‘अरण्यस्य पत्नी’
 अरण्यानीपदस्यार्थः पालयित्री देवता । अथ अरण्यं कस्मात् ।
 तद्धि ग्रामादपार्णमपगतं भवति । ‘ऋ गतौ’
 अरण्यं कस्मात् (धा० १-९६१ ॥ ३-१६) इत्यस्य ।
 ‘अरमण भवतीति वा’ । रणेः प्रतिषेधपूर्वस्य ।
 न ह्यरण्ये रतिर्भवति । ‘तस्या एषा भवति’ ॥ २९ ॥

५

अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि । कथा ग्रामं न
 पृच्छसि न त्वा भीर्विव विन्दती रे ॥ (ऋ० सं० १० । १४६ ।
 १) ॥ अरण्यानीत्येनामामन्त्रयते यासावरण्यानि वनानि परा-
 चीव नश्यसि कथं ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीर्विन्दतीवितीवः
 परिभयार्थे वा श्रद्धा श्रद्धानात्तस्या एषा भवति ॥ ३० ॥

१०

अरण्यान्यरण्यानीति । देवमनेरार्थम् । संबुद्धानेकवचनं पूर्वम् । द्वितीया-
 बहु वचनमुत्तरम् । उत्पन्नदिर्मोहो गन्धर्गरण्ये भीतोऽरण्याधिदेवतामर-
 ण्यानीं ब्रवीति । अहं तावदेतस्मिन्नरण्ये निरमणे भीतः । त्वं कथं
 न विभेदीति भीषयमाण इव । हे अरण्यानि कथं त्वम् अरण्या-
 न्येव वर्णानि प्रति केवलं प्रेव पराच्येव पराङ्मुखैव अनावर्तमाना
 नश्यसि । असौ असाविति दृश्यमानेव । यतो ब्रवीमि । कथं किमिति
 ग्रामं न पृच्छसि । न त्वा भीर्माभिव विन्दति । अथ ‘वा ईधः परिभयार्थे’ ।

१५

२०

१ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. कस्मात् । अरण्यमपार्णं ग्रामात् । तद्धि°.
 २ क. ख. ८ (२९), ठ. °वति । इति नि० भा० उ० तू० २९ खण्डः;
 ड. °वति । ‘इति निरुक्तटीकायामुत्तरपट्टे ३ प्याये २९ खण्डः; घ. झ. ट. ज.
 अहो नास्ति. ३ क. ख. ९ (३०), त. द. ९. ४ ग. ‘नीति°’ । ङे; क. ख. घ.
 झ. ट. ठ. ड. °नीति रे (ठ. ड. ९) रमदस्य दे° . ५ घ. पूर्व अरण्यमपार्णं ग्रामात् ।
 दि°. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘दिष्टमोहो. ७ ग. ज. भीतोऽरण्याधिदे°’;
 ‘रण्योधिदे°’ . ८ ग. घ. ज. वनानि. ९ ग. ज. प्रेव. १० ग. घ. ज. नश्यसि.
 ११ घ. झ. ट. ठ. ड. कथां ग्रामं न पृच्छसि । कथं°. १२ ग. घ. ज. इव व°.

न त्वमीपदपि विभेयीति परिरीपदर्थः । तद्यथा । परिमधुरं पर्याप्तमिति ।

‘ श्रद्धा ’ (२५) इत्येतत्पदम् । अत्र ‘ अत् ’ इति सत्यनाम

श्रद्धा कस्मात् पूर्वपदम् । तत्सत्यभैस्यां धीयत इति श्रद्धा ।

धर्मार्थकाममोक्षेष्वविपर्ययेणैवमेतदिति या बुद्धिरु-

- ५ त्ययते तदधिदेवता भावाख्या श्रद्धेत्युच्यते । सा पुनराग्नेयं सर्वं प्रकाश-
मित्यग्निरेव । ‘ तस्या एषा भवति ’ ॥ ३० ॥

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः । श्रद्धां भगस्य
मूर्धनि वचसा वेदयामसि (ऋ० सं० १० । १५१ । १-) ॥

- १० श्रद्धयाग्निः साधु समिध्यते श्रद्धया हविः साधु हूयते श्रद्धां
भगस्य भागधेयस्य मूर्धनि प्रधानाङ्गे वचनेनावेदयामः पृथिवी
व्याख्याता तस्या एषा भवति ॥ ३१ ॥

- १५ श्रद्धा श्रद्धयाग्निः समिष्यत इति । श्रद्धायाः कामार्थेणा आर्षम् । य एव
अग्निः श्रद्धया उपेतः श्रद्धयैवास्तिव्यबुद्धिमालम्ब्य
समिष्यते कर्मणि स एव साधु शोभनं समि-
ध्यते । इतरो हि समिद्धोऽप्यसमिद्ध एवाश्रद्धासमिद्धाग्निकर्मणः फलाभा-
वात् । एवमेव श्रद्धया हूयते हविः । यदेव श्रद्धया हूयते हविस्तदेव
साधु हूयतेऽन्यस्याफलत्वात् । उक्तं च । ‘ नाश्रद्धधानाय हविर्जुपन्ति देवाः ’
इति । एवं चेत् श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि । भगस्य भाग-
धेयस्य धर्मस्य मूर्धनि । मूर्धा शिरः । प्रधानमिदमङ्गं धर्मस्य या श्रद्धा ।
तदभावे धर्मानात् । अपि च । वचसा एव वचनेनैव मन्त्रगतेन

१ ग. पर्यन्तमिति । ३० । अ०; च. ज. पर्यन्तमिति. २ ग. च. ज. ‘ मस्या-
न्वीयतं. ३ क. स. १ (३०), ठ. ० वति । इति निरु० भा० उ० तृती०
३० खण्डः; ड. ० वति । इति निरुक्तभाष्ये तृतीयेऽध्याये ३० खण्डः; घ. स.
ट. ज. अशो नास्ति. ४ क. स. १० (३१), त. द. १०. ५ ग. इति. १ अ०.
६ प. स. ट. ठ. ड. वामाग्निः. ७ ग. च. ज. श्रद्धया. ८ च. ० च्यते त एव
२८ साधु शोभनं न इतं. ९ ग. च. ज. ‘ वचनेनैव ’ नास्ति.

‘ अश्रद्दामनृते दधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः ’ इत्यनेनैतदुद्वाच्य शिरः प्रका-
शमावेदयामः आघोपयामो नाश्रद्धानस्य धर्म इति ।

‘ पृथिवी (२६) व्याख्याता ’ । ‘ अथ वै दर्शनेन पृथः ’ इत्यत्र
(निरु० १ । १४) । ‘ तस्या एषा भवति ’ ॥ ३१ ॥

स्योना पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी । यच्छा नः शर्म
सप्रथः (ऋ० सं० १ । २२ । १५) ॥ सुखा नः पृथिवि
भवानृक्षरा निवेशन्यृक्षरः कण्टक ऋच्छतेः कण्टकः कन्तपो वा
कृन्ततेर्वा कण्टतेर्वा स्यादतिकर्मण उद्गततमो^३ भवति यच्छ नः
शर्म यच्छन्तु शरणं सर्वतः पृथ्वया व्याख्याता तस्या एषा १०
भवति ॥ ३२ ॥

स्योना पृथिवि भवेति । मेधातिथेराप्यम् । हिरण्यनाशप्रायश्चित्तेष्ट्यां
पृथिवी भौमस्यैककपालस्य पुरोऽनुवाक्या (मैत्रा० सं०
२ । २ । ७) । हे पृथिवि स्योना १५
सुखा त्वमस्माकं भव । कथम् । अंनृक्षरा निष्कण्टका निवेशनी निवास-
योग्या । निविष्टानां चास्माकं यच्छ देहि शर्म सुखं सर्वतः पृथु सर्वतो
विस्तीर्णमिति ।

‘ ऋक्षरः कण्टक ऋच्छतेः ’ । कमहं तापयामीत्येवमर्थमुद्गतः
कण्टकः । कण्टतेर्वा । स हि ‘ उद्गततमो भवति ’ वृक्षात् । १०

१ ग. इति । ३१ । ४° । २ क. स. १० (३१) ; ठ. °वति । इति निरु०
उ० वृ० ३१ खण्डः; ड. वति निरुक्तभाष्ये ३१ खण्डः; ग. ज. प. स. ट. अश्रो
नास्ति. ३ छ. त. द. °तरो. ४ क. स. १२ (३२) ; त. द. ११. ५ ग.
°वति । मे°. ६ ग. घ. ज. °मस्येक°. ७ ग. घ. ज. एषापृथिवि. ८ ड. स.
घ. स. ट. ठ. ड. अनुक्षरा निवेशनी । अत्र°. ९ क. स. घ. स. ट. ठ. ड.
ऋच्छतेः । कण्टकः कन्तपो वा कृन्ततेर्वा कण्टतेर्वा स्यादतिकर्मण उद्गततमो भवति ।
कर्म; ग. घ. ज. ऋच्छतेः.

‘ अथा ’ (२७) व्याख्याता । ‘ अथा यदेनया विद्वोऽपयते
व्याधिर्वा भयं या ’ इत्यत्र (निरु० ६ । १२) । ‘ तस्या एषा
भवति ’ ॥ ३२ ॥

- ५ अमीपां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गन्यध्वे परेहि । अभि
प्रेहि निर्देह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम् (ऋ० सं०
१० । १०३ । १२) ॥ अमीपां चित्तानि प्रज्ञानानि प्रति-
लोभयमाना गृहाणाङ्गन्यध्वे परेह्यभिप्रेहि निर्देहैपां हृदयानि
शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा संसेव्यन्तामग्नायग्नेः पत्नी तस्या
१० एषा भवति ॥ ३३ ॥

- अमीपां चित्तमित् । अप्रतिरथस्यार्यम् । हे अध्वे अमीपाम् अस्म-
अथा च्छृणुणां चित्तानि मनासि प्रतिलोभयन्ती प्रत्येकं
लोभयन्ती गृहाण अङ्गानि । सर्वगात्राण्या-
१५ विश । त्वयैते आधिष्ठसर्वगात्राः साग्नसिन उत्पन्नपथवः समूढा अप्र-
तिपक्षाः सन्तु । परेहि परागच्छ एतान् । अपि च । यावच्च प्रत्यय-
स्थितास्तावदेकैकं क्षिप्रम् अभिप्रेहि । अभिप्रगम्य च निर्देह एषां हृद-
यानि शोकैः । त्वयैते निर्दग्धहृदया अस्मदमित्रा अन्धेन तमसा संसेव्य-
न्तामित्येतदाशास्महे ।

- २० ‘ अगनायी ’ (२८) अग्नेः पत्नी । ‘ तस्या एषा भवति ’ ॥ ३३ ॥

- १ ग. च. ज. यदेतया. २ च. °पथीय°. ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. °त्यत्र
व्याख्याता । त°. ४ क. ख. ११ (३२) ; ठ. °वति । इति निरु० भाष्ये उ०
तृ० द्वाविंशः खण्डः ; ड. °वति । इति निरु० भाष्ये ३२ खण्डः ; घ. झ. ट. ज.
अङ्गो नास्ति. ५ छ. त. दू. ‘ पशानानि ’ नास्ति. ६ क. ख. १२ (३३),
त. द. १२. ७ ग. °मिनि । अ°. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. °यन्ती प्रत्येकं
लोभयमाना वृं- ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. सचन्ता संसे. १० क. ख. १२
(३३) ; ठ. °वति । इति निरु० भा० उ० तृतीयः ३३ खण्डः ; ड. °वति ।
२१ इति निरु० भाष्ये ३३ खण्डः ; घ. झ. ट. ज. अङ्गो नास्ति.

इहेन्द्राणीमुप ह्वये वरुणानीं स्वस्तये । अग्नार्यां सेर्मपेतये
(ऋ० सं० १ । २२ । १२) ॥ इति सा निर्गन्दीया-
रुयाता ॥ ३४ ॥

इति नवमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

५

इहेन्द्राणीमुपह्वय इति । इह कर्मणि अग्नाधीम् उपह्वये सोमपा-
नाय आत्मनश्च स्वस्तये । इन्द्राणीम् । अपि च ।
अग्नार्यां वरुणानीम् । असाधारण्येन । इन्द्राणीं च वरु-
णाणीं च अग्ना-नीं च इह कर्मण्युपह्वये सोमपानाय स्वस्तये चेत्येवं सति
' तस्या एषा भवति ' इति भाष्यवचनं नोपपद्यते । सोमपानसंबन्धा-
न्मध्यमेति चेन्नैतत् । अग्निरपि हि सोमपान-
संबन्धे उक्तः ' सोमं पिव मन्दसानो गण-
श्रिभिरिति ' तस्मात् ' उपपद्यते ' इति
अस्यामृचि इन्द्रा-
णीवरुणान्यौ स्तूयते ।
तेन ' तस्या एषा
भवति ' इति वचनं (निरु० ८६ । २) ॥ ३४ ॥
नोपपद्यते

१०

१५

चतुर्दशस्य तृतीयः पादः ।

चतुर्थः पादः ।

अथातोऽष्टौ द्वंद्वान्युलूखलमुसले ललूखलं व्याख्यातं मुसलं
मुहुः सरं तपोरेषा भवति ॥ ३५ ॥

२०

१ क. ख. १३ (३४), त. द. १३. २ क. घ. ष. ' इति० पादः ' नास्ति; छ. तृतीयः पादः; त. नवमस्य तृ०; द. इति निरुक्ते उत्तरार्धस्य नव०.
३ क. ख. घ. ष. ट. इति । इति सा निर्गन्दीयाख्याता । इति०; ग इति । इह०;
ठ. ड. इन्द्राणीमिति । इति सा निर्गन्दीयाख्याता । इह०. ४ क. ख. घ. ष. ट.
ठ. ड. भाष्यकारवचन. ५ क. ख. १३ (३४), ग. घ. वर्जितितरेष्वङ्गो नास्ति.
६ ठ. ड. इति चतुर्दशाध्यायस्य तृ०. ७ ठ० पादः । इति निरुक्तभाष्ये उ० तृ०
चतुस्त्रिंशः खण्डः; ६. ' ६१ द० ' इति निरुक्तभाष्ये ३४ गण्ड. ८ क. ख. १ (३५);
त. द. १.

‘ अथातोऽष्टौ द्वंद्वानि ’ इति । अश्वदेः पूर्वस्माद्दुर्गाद्विलक्षणोऽय-
मपरो द्वंद्ववर्ग इति पृथगधिकारवचनम् ।
अष्टौ द्वंद्वानि अथातःशब्दावुक्तार्थो (निर० ७ । १) ।

अष्टाविति निर्देशतोऽपि सिद्धे द्वित्वे नियमार्थमष्टग्रहणम् । ‘ उपासानक्ता
दैव्या होतारा ’ इति द्वंद्वदर्शनादयुक्तमिति चेन्न । तयोराप्रीत्वसामान्येन
तत्र प्रथमं समाह्नातत्वात् (निघ० ५ । २) । इह च पुनः समा-

५
१०
केपांचिदेव द्वंद्वानां प्रसङ्ग इति चेन्न । तेषां पृथगपि स्तुत्युपपत्तेः ।
सामान्ने कारणम् एवं सत्युल्लुखलमुसलयोर्यावापृथिव्योश्चेह समाम्ना-
नस्याप्रसङ्गः । केवलयोः स्तुत्युपपत्तेः । न । मुस-

लस्य दिवश्च पृथक्स्तुत्यभावात् । मित्रावरुणादीनां तु सर्वेषां पृथक्स्तुतयः
सन्ति । तस्मादसमाम्नानम् । अश्विनोरिह द्वंद्वसामान्यात्समाम्नानं प्राप्त-
मिति चेन्न । उपःप्रभृतीनामुपसः कालमध्ये । तेषां च समाम्नानेनेहाति-
संकेतप्रसङ्गात् । शुनासीरयोः स्थानान्यत्वादिहासमाम्नानमिति चेन्न । ‘ द्वंद्व-
सामान्यापृथिव्यर्थत्वाच्च संभोगाभिप्रायेण च तत्स्तुतेः ‘ तेनेमामुपसिञ्चतम् ’
(ऋ० सं० ४ । ५७ । ५) इति । यावापृथिव्योः प्रथमं समाम्नानं देव-
तामावादिह प्राप्तमिति चेन्न । दिवः पृथिव्यापतनत्याभावाद् द्वंद्वप्रसङ्गेन
चेह दिवः समाम्नानानात् । यावापृथिव्यो शुनासीरो इति देवता अपेक्ष्य
द्वंद्वमध्ये प्रथमागामित्वस्यावचनेम् । उल्लुखलमुसलयोर्द्वयत्वात्प्रथमं समा-
१०
म्नानम् । तयोः पृथिव्यापतनस्य निरुपचारप्रसिद्धेः । प्रचुरस्यार्धं तयोः ।

‘ उल्लुखलं ध्यात्वातम् ’ ‘ उरुकरम् ’ इत्येवमादिना (निर० ९ । २०) ।

मुसलं परमात् मुंसलं परमात् । तद्धि मुहृमुहृः सरति व्रीद्या-
दिषु । ‘ तयोगेना भवति ’ ॥ ३५ ॥

आयजी वाजसातमा ता ह्यु १ चा विजर्भृतः । हरीं इवा-
न्धांसि वप्सता (ऋ० सं० १।२८।७) ॥ आयष्टव्ये अन्नानां
संभक्ततमे ते ह्युच्चैर्विहिते हरी इवान्नानि भुञ्जाने हविर्धाने
हविषां निधाने तयोरेषा भवति ॥ ३६ ॥

५

आयजी वाजसातमेति । आभिमुख्येन मर्यादया वा यष्टव्ये पूज्ये
वाजसातमे अन्नानां संभक्ततमे उवा विजर्भृतः
उल्लुखलमुसले उच्चैर्विहिते । उल्लुखलमुच्छ्रीयते । अवहन-
नार्य मुसलेमुच्यते । एतदुच्चैर्विहरणम् । ते एते नित्यमस्माकं गृहे हरी-
अश्वविष नित्यमविच्छेदेन अन्नानि वप्सतां भुञ्जाने संस्कारकत्वेन स्याता- १०
मित्येतदाशास्महे ॥

‘ हविर्धाने (३३) हविषां निधाने ’ । सोमस्तपोर्निधीयन्ते । तपो-
रेषा भवति ॥ ३६ ॥

आ वांमुपस्यंमद्रुहा देवाः सीदन्तु यज्ञियाः । इहाद्य सोमपी- १५
तये (ऋ० सं० २।४१।२१) ॥ आसीदन्तु वामुपस्यंमुप-
स्वानमैद्रोग्धव्ये इति वा यज्ञिया देवा यज्ञसंपादिन इहाद्य
सोमपानाय घान्वापृथिव्यौ व्याख्याते तयोरेषा भवति ॥ ३७ ॥

१ छ. व. धु १ च्वा. २ क. ल. १ (३६); त. द. २. २ ग. 'मेति' । २०
आ. ४ ग. 'चम्यधाने, ज. 'चम्यने. ५ घ. झ. ट. वप्सतो. ६ ग. च. ज.
भुञ्जाने. ७ घ. झ. ट. ठ. ड. सोमस्त. ८ घ. झ. ट. व. ड. 'धीयते. ९ घ.
झ. ट. 'वति । तयोरेषा स्तुतिर्भवति, ठ. ड. स्तुतिर्भवति. १० क. ल. २ (३६);
ठ. 'वति । इति निरु. उ० तू० ३६ खण्डः; ड. 'वति । इति नेरुक्तभाष्ये ३६
खण्डः; घ. झ. ठ. ड. अहो नास्ति. ११ क. ल. छ. त. द. 'पथ उप'.
१२ छ. त. द. 'स्थानं यति'. १२ क. ल. ३ (३७), त. द. २. २६

आ वामुपस्थमद्ब्रुहेति । गृहसमदस्यार्पम् । द्यावा नः पृथिवी इति
 हविर्वाने च । हविर्वानेप्रवर्तने विनियोगः (मैत्रा० सं०
 ३ । ८ । ७) । हे हविर्वाने अद्ब्रुहा अद्ब्रो-
 भव्ये युवामुच्येये । यत्र युवामुपगम्य स्थिते तत् वाम् उपस्थानं यज्ञियाः
 यज्ञसंपादिनो देवा इह एतस्मिन्कर्मणि अद्य उपगम्य सीदन्तु निपीदन्तु
 सोमपानाद्येतदाशास्महे ।

‘ द्यावापृथिव्यौ (३१) व्याख्याते ’ । द्यौश्च पृथिवी चेत्येते ।
 पदे व्याख्याते (निरु० १ । १४) । ‘ तयोरेषा भवति ’ ॥ ३७ ॥

१० द्यावा नः पृथिवी इमं सिध्नमद्य दिविस्पृशम् । यज्ञं देवेषु
 यच्छताम् (ऋ० सं० २ । ४१ । २०) ॥ द्यावापृथिव्यौ न
 इमं साधनमद्य दिविस्पृशं यज्ञं देवेषु नियच्छतां विपाद्च्छतुद्रयी
 व्याख्याते तयोरेषा भवति ॥ ३८ ॥

१५ द्यावा नः पृथिवी इममिति । द्यावापृथिव्यौ अस्माकं सिध्नं
 साधनम् इमं यज्ञं योऽयमस्मान्साधयति अद्य
 एतस्मिन्नहनि वर्तमान दिविस्पृशं द्यां यः
 स्पृशति आपुरयति इमंमंगुणयत्त देवेषु नियच्छता देवेष्वो दत्तमित्ये-
 तदाशास्महे ।

२० ‘ विपाद्च्छतुद्रयी (३२) व्याख्याते ’ । ‘ विपाट विपाटनाद्वा ’
 इत्यत्र विपाट् (निरु० ० । २६) व्याख्याता । ‘ शुवुर्दी शुवुर्दिर्णा ’
 इत्यत्र शुवुर्दी (निरु० ० । २६) । ‘ नद्यद् द्विरद्वयपरिच्छात्तद्व्याख्या-
 रणामः ’ इत्येतन् (निरु० २ । २४) ॥ ३८ ॥

प्र पर्वतानामुशती उपस्थादभ्ये इव विपिते हासमाने । गावेव
 शुभ्रे मातरां रिहाणे विपाद्छुतुद्री पर्यसा जवेते (ऋ० सं०
 ३ । ३३ । १) ॥ पर्वतानामुपस्थादुपस्थानादुशत्यौ कामय-
 माने अभ्ये इव विमुक्ते इति वा विपण्णे इति वा हासमाने हासतिः
 स्पर्धायां हर्षमाणे वा गावाविव शुभ्रे शोभने मातरौ संरिहाणे
 विपाद्छुतुद्री पर्यसा प्रजवेते आर्त्ना अर्त्न्यौ वारण्यौ वारि-
 पण्यौ वा तयोरेषा भवति ॥ ३९ ॥

प्र पर्वतानामिति । विश्वामित्रो व्रयीति । ये चैते विपाद्छुतुद्री पर्यसा
 विपाद्छुतुद्री उदकेन पूर्णे प्रजवेते प्रकृष्टेन जवेन गच्छतः
 पर्वतानामुपस्थात् निर्धारणेषाना वा उशती
 उशत्यौ कामयमाने परस्परं समागमं समुद्रं वा । कथं प्रजवेते । अभ्ये इव
 विपिते विमुक्ते मन्दुरातः । सार्दिभ्यो वा । विपण्णे इति वा । विभागे वैकस्मि-
 न्युक्ते । कस्मिंश्चिदुक्ते युगादौ वा । हासमाने स्पर्धमाने परस्परेण वा हर्षमाणे
 हर्षमाणे । विपाद्छुतुद्री विमुक्ते गावाविव शुभ्रे शोभने कल्पण्यौ मातरौ
 संरिहाणे वासमेक प्रलेहमिच्छन्त्यौ य एवमेते प्रजवेते ते अस्माकं
 गाधे भवत इत्येतदाशास्महे ।

‘ आर्त्ना ’ (३३) धनुःप्रान्ते । ते कस्मात् । ‘ अर्त्न्यौ वा ’ ।

आर्त्ना कस्मात् ऋतेर्धातोर्गल्यर्थस्य । गमयतस्ते इपन् । ‘ रीण्यौ
 वा । रीणाहौ । ‘ रिपण्यौ वा । हन्त्यौ । ‘ तयो
 रेषा भवति ’ ॥ ३९ ॥

१ छ. त. द. संगतरी रिहाणे, २ क. ख. ५ (३९), त. द. ५. ३ ग.
 ०मित । वि० ४ च. वेते. ५ क. ख. य. झ. ट. ठ. ड. ०स्थात् उपस्थानात् नि०
 ६ घ. झ. ट. ठ. ड. निर्भरा. ७ च. ज. उशत्यौ. ८ ग. य. ज. सादिभ्यो; द.
 सादिभ्यो हि न्यौ. ९ क. ख. य. झ. ट. ठ. ह. ०भागेनेक. १० ग. च. ज.
 विपाद्छुतुद्री. ११ ग. ज. वारण्यौ; च. वारण्यौ. १२ ग. ज. वारण्यौ; च.
 वारण्यौ. १३ क. ख. ५ (३९); ठ. ०वति । इति निरु० भा० उ० वृ० ३९
 खण्डः; ड. ०वति । इति निरुक्तभाष्ये ३९ खण्डः; य. झ. ट. ज. अहो नास्ति. २९

ते आचरन्ती समनेव योषा मातेव पुत्रं विभृतामुपस्थे । अप
 शत्रून्विध्यतां संविदाने आर्त्नी इमे विष्फुरन्ती अमित्रान् (ऋ०
 सं० ६ । ७५ । ४) ॥ ते आचरन्त्यौ समनसाविव योषे
 मातेव पुत्रं विभृतामुपस्थ उपस्थानेऽपविध्यतां शत्रून्संविदाने
 १ आर्त्न्याविमे विघ्नत्यावमित्राच्छुनासीरौ शुनो वायुः शु एत्यन्त-
 रिक्षे सीर आदित्यः सरणात्तयोरेषा भवति ॥ ४० ॥

ते आचरन्ती समनेवेति । आर्त्न्यैरेवानुमन्त्रणमश्वमेधेऽनेन क्रियते
 २० आर्त्नी (भैत्रा० सं० ३ । १६ । ३) । समनेव
 योषा । समनसाविव एकभर्तृके योषिते यथैकं
 मतीरं प्रत्याचरन्त्यौ भवतः परिष्वक्तुम् एवमाक्रोष्टारं प्रति ये नित्यमाचरन्त्यौ
 भवतः आनमन्त्यौ । मातेव पुत्रं विभृतामुपस्थे । मातेव पुत्रं उपस्थे
 रक्षणार्थं ये विभृतामाक्रोष्टारम् । अमुना प्रकारेण ये विष्फुरन्त्यौ नित्यम-
 मित्रान् भवतः । ययोरेष स्वभावस्ते आर्त्नी नित्यमस्माकममुना प्रकारेण
 १५ संविदाने संवादमिव कुर्वाणे परस्परतः । आकर्षणाभिप्रायमेतत् । आकृ-
 प्यमाणयोस्तयोः संवाद इव परस्परतो भवति । शत्रून्पविध्यतामित्येत-
 दाशास्मदे ।

‘ शुनोसीरौ ’ (३४) इत्यत्र शुनो वायुः । स हि क्षिप्रमेत्यम-
 २० शुनासीरौ कस्मात् तिवध्यमानोऽन्तारिक्षे । ‘ सीर आदित्यः सर-
 णात् ’ । स हि नित्यं सरति गच्छति ।
 ‘ तयोरेषा भवति ’ ॥ ४० ॥

१ छ. त. द. 'स्थानेऽप शत्रून्विध्यतां संवि'. २ छ. र. ६ (४०); त. द. ६.
 ३ ग. 'बेनि। आ'; ठ. ड. 'वर्त्तानि. ४ प. स. ट. ठ. ड. 'माकष्टार'. ५ प.
 'वेनमाप'. ६ ग. ज. विष्फुर'; ख. विरफार'. ७ क. ल. प. स. ट. ठ. ड.
 शुनासीरौ शुनो वायुः शु एत्यन्तरिक्षे । शुना. ८ क. स. ६ (४०), ठ. 'बनि ।
 इनि नि० उ० तू० ४०; ड. 'बनि। इनि नि० उ० तू० ४० ट. 'बनि । इनि
 निष्कटी धापामुदापट्के तृतीयैः ध्याये एकचत्वारिंशः ४१ तत्पटः; प. स. ट. ज.
 १९ अशो मारिन्.

शुनासीराविमां वाचं जुपेयां यद्विवि चक्रथुः पयः । तेनेमा-
मुर्ष सिञ्चतम् (ऋ० सं० ४ । ५७ । ५) ॥ इति सा निग-
दव्याख्याता देवी जोष्टी देव्यौ जोषयिञ्च्यौ द्यावापृथिव्याविति
वाहोरात्रे इति वा सस्यं च समा चेति कात्यक्यस्तयोरेष संप्रैपो
भवति ॥ ४१ ॥

५

शुनासीराविति । वामदेवस्वार्पम् । शुनासीरौ विनियोगः (भाष्य०

शुनासीरौ

श्रौ० २ । २०) । हे शुनासीरौ युनां वाच-
मिमां मेम स्तुतिलक्षणां जुपेयां सेवेयाम् । केधं

पुनरासेवितेयं युवाभ्यां स्यात् । यद्विवि चक्रथुः पयः । यत् दिवि
द्युलोके चक्रथुः संभरथो युवां पयः उदकं तेन इमां पृथिवीम् उपसि-
ञ्चतम् । एवमनेनास्मद्वागासेविता युवाभ्यां भविष्यतीति ।

१०

‘ देवी जोष्टी (३५) देव्यौ जोषयिञ्च्यौ ’ । सर्वस्य तर्पयिञ्च्यौ ।

के देवी जोष्टी

के पुनरते इति । ‘ द्यावापृथिव्यौ जहोरात्रे वा
सस्यं च समा चेति कात्यक्यः ’ । सस्यं व्रीह्यादि

१५

समेति संवत्सरः । ‘ तयोरेष संप्रैपो भवति ’ ॥ ४१ ॥

देवी जोष्टी वसुधित्ती ययोरन्याघा द्वेषांसि वृषपदान्वाव-
सुदसु वार्याणि सजमानाद्य वसुधने वसुधेभ्यश्च वीर्यां सज

१ छ. द. काठक्यं; त. काठक्यं ध. २ क. ख. ७ (४१), त. द. ७. २०

३ क. ख. प. स. ट. उ. ड. विति । इति सा निगदव्याख्याता । वा; ग. विति ।

वा. ४ ग. च. ज. मा म स्तु. ५ क. ख. प. स. ट. उ. ड. कथं च पु.

६ प. स. ट. देवी जोष्टीत्यदि भवतीत्यन्तं निरुक्तमूलाभाषणं ततो देवी

जोष्टीत्यादि; उ. ड. देवी जोष्टी देव्यौ जोषयिञ्च्यविति । देवी. ७ प. स. ट.

उ. ड. जोष्टीति देव्यौ. ८ ग. प. स. ट. काठक्यः; च. कात्यक्यः कात्य; ज.

काथक्यः. ९ क. ख. ८ (४१), ट. वति । इति निरु. भाष्ये उ. तु. ४१

खण्डः; ड. वति । इति निरुक्तभाष्ये ४१ खण्डः; प. स. ट. ज. अहो नास्ति.

१० छ. त. द. जोष्टी. ११ ड. प. प. ट. ड. पुप. १२ छ. त. द. वीर्यां. १८

(भैत्रा० सं० ४ । १३ । ८ ॥ तै० ब्रा० ३ । ६ । १३) ॥
 देवी जोष्टी देव्या जोषयिष्यौ वसुधिति वसुधान्या ययोरन्या-
 घानि द्वेषास्यवयावयत्यात्रहृत्यन्या वसूनि वैरणीयानि यजमानाय
 वसुवननाय च वसुधानाय च धीतां पिवेतां कामयेतां वा
 यजेति संमैपो देवी ऊर्जाहुती देव्या ऊर्जाह्वान्यौ धावापृथिव्या-
 विति वाहोरात्रे इति वा सस्यं च समा चेति कात्यवयस्तयोरेप
 संमैपो भवति ॥ ४२ ॥

- १० देवी जोष्टी इति । देव्यो जोषयिष्यौ वसुनां निधानभूते ययोः देव्योः
 अन्या एका अघानि द्वेषासि र्गन्ति योन्वप्रियाण्य-
 र्माकं तानि धूयत् अयथैरयति अत्रनिश्रयमि
 नाशयत्यस्मत्तः । अन्या पुनः आवशत् आर्क्षन्ति वसु धार्याणि वैरणी-
 यानि यजमानाय यानि वसूनि वसुवने वसुधेयस्य वसुवननाय च संम-
 जनाय वैश्वभुक्तातिशयस्य विधानाय चेति । ते देव्यो जोषयिष्यौ
 अस्य पृथदाग्रस्य स्वमंतां धीतां पिवेतां कामयेतां वा । यजेति संमैपः ॥ ४२ ॥

देवी ऊर्जाहुती इषमूर्जमन्यायसन्मग्निं सपीनिमन्या नरेन
 पुरं दयमानैः स्यामं धूमणेन नरे नामूर्जमूर्जाहुती ऊर्जयमाने

अधातां वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज (मैत्रा० सं० ४ । १३ ।
 ८ ॥ तै० ब्रा० ३ । ६ । १३) ॥ देवी ऊर्जाहृती देव्या
 ऊर्जाह्वान्यावन्नं च रसं चावहत्यावहत्यान्या सहजैर्गन्धि च सहर्षी-
 ति चान्या नवेन पूर्व दयमानाः स्याम पुराणेन नवं तामूर्जमूर्जाहृती
 ऊर्जयमाने अधातां वसुवननाय च वसुधानाय च वीतां पिबेतां
 कामयेतां वा यजेति संप्रैपो यजेति संप्रैपः ॥ ४३ ॥

५

देवी ऊर्जाहृती देव्या ऊर्जाह्वान्या ऊर्जस्य अन्नस्य निष्पादपित्र्यौ ।

देवी ऊर्जाहृती द्यावापृथिव्यावूर्जाह्वान्यामुच्येते । इयमूर्जमन्या
 एकावक्षत् । इय च अन्नादि रस च तद्दुपसेचनं

१०

क्षीरादि । किंच । एका उपनीमितस्यान्नस्य सगुणस्य सग्धि संपीतमन्या
 सहभोजनं बन्धुभिरिति आवक्षत् । आभिमुख्येन यथा बन्धुभिः सह
 भुञ्जीमहि तथा करोतु । तथा च बहन्नमस्तु यथा नवेन पूर्वम् पुराणं देय-
 माना रक्षन्तः स्याम । पुराणेन नवं पुराणेन च नवम् । ताभेवदक्षणम् ऊर्जम्
 ऊर्जाहृती ऊर्जयमाने बलवतीमूर्जता च कुराणे अधातां दत्तां वसुवने
 वसुवननाय च वसुधेयस्य वसुधानाय च । वीता पिबेता कामयेता वा ।

१५

‘ यजेति संप्रैपो यजेति संप्रैपः ’ ॥ ४३ ॥

१ ड. अधाता, छ. त. अधीता, घ. अधाता. २ छ. त. द. ‘ आवहति सहृ-

देव. ३ छ. त. द. सहसग्धि. ४ छ. त. द. सहसपीति. ५ छ. घ. घ. माना
 स्याम. ६ क. ख. १० (४३), त. द. १०. ७ घ. झ. ट. मैत्रारुणो
 भवीति । हे होतस्त्वमेने देवी°; उ. ड. देवी ऊर्जाहृतीति । मैत्रा०
 देवी°. ८ ग. ‘व्याख्या’ । ऊ. ९ घ. झ. ट. ठ. ड. ऊर्जोऽन्नस्य. १० ग.
 च. ज. नि.पाव°. ११ ग. च. ज. ‘ तद् ’ नास्ति. १२ ग. च. ज. ‘ रात्रिकं
 च । एका°. १३ ग. च. ज. ठ ड. नाममि°. १४ ग. च. ज. सपीतीति (च. सपी-
 तीति) मन्या°. १५ ग. च. ज. सहभोज्यं सहभुजी°. १६ क. ख. घ. झ. ट. ठ.
 ड. चतुत्त्वं°. १७ ग. च. ज. पूर्व. १८ घ. ज. देय°. १९ ग. घ. ज. दक्ष°.
 २० क. ख. झ. नवं धान्य दयमानाः स्याम । ता°; घ. ट. नवं धन्यं दयमा
 रक्षन्तः नः स्याम । ता°, ठ. ड. नव धान्यं दयमानाः रक्षतः । नः स्याम ता°.
 २१ ग. च. ज. ‘ ऊर्जाहृती ’ नास्ति. २२ ग. च. ज. ‘ मूर्जिता च°. २३ क.
 ख. १० (४३), ठ. ड. ४३ (ठ. ‘ ४३ ’ नास्ति) । इति निरुक्तीकायामु-
 च्यते त्वयिऽप्याये चत्वारिंशः खण्डः ४३; ग. च. वर्जविनोपशो नास्ति.

२०

२५

३२

जम्बुमार्गाश्रमनिवासिनो मगवदुर्गाचार्यस्य कृतौ ऋज्वर्यायां
निरुक्तवृत्तौ चतुर्दशोऽध्यायः समाप्तः ।

* अर्थयान्यश्वो + वोह्वामानोमित्रः कानि क्रदद्भद्रैवदसर्वत्स-
रमुपै = पुवदप्रानपाभैतेवदन्वमेन्दान्यज्ञैसंयोगाद्भनेस्पतउपश्वैसयव-
५ क्षीर्नामहिरिवभोगैरथेतिष्ठन्धन्वनागावर्क्षन्तीवसुपर्णवस्तआजह्वेति
यच्चिद्धिस्वहृषभोभ्यऋन्देयाश्रिमतेपितुन्विमम औपोहिया औपधारा-
रोज्यरभ्यानिभञ्जयास्योनामीपांमिहेन्द्राणीमथाताष्टावायजीआवा-
भुपस्थंघावैनःप्रपर्वतानतिऑचरन्तीशुनौसीरादेवीजोष्टीदेवीऊर्जा-
हृतीत्रिचत्वारिंशत् ॥

१० इति निरुक्ते (उत्तरपट्टके) तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥



१ घ. ठ. द. इति जम्बु. २ घ. ग. घ. झ. ट. ठ. ड. 'मार्गाश्रमवासि';
ग. अ. ना. नेता. ३ ट. द. 'वज्रीहापी त्रिपटाप्यापदस्येव एव नेरुक्तवृ-
४ ग. 'ध्यायः । एतदः ग. पादु. १४ । मन्त्र इत् सं ४२५; घ. झ. ट. 'समाप्तः'
नभिः; ठ. मन्त्रिमाम्. * ठ. द. कथ एतदापुत्रमयी । अथ' (द. 'मन्-
त्रिवा). + घ. वेदा. = घ. ग. ट. द. 'पत्र'. ५ घ. म. द. 'एदद्भद्रावसि'.
५ द. इति 'वैभे'; घ. इति 'निके नरमोऽध्यायः, म. एतयोऽध्यायः समाप्तः'
१० द. इति 'वैभे' उत्तरपट्टके नरमोऽध्यायः अर्थः पादुः । इति नरमोऽध्यायः

अथ दशमाध्यायस्य

मथमः पादः ।

ॐ ॥ अथातो मध्यस्थाना देवतास्तासां वायुः प्रथमागामी भवति वायुर्वातेर्वेतेर्बा स्याद्भक्तिर्कर्मण एतेरिति स्थौलाष्टीविरन-
र्थको वकारस्तस्यैषा भवति ॥ १ ॥

५

वाख्यातानि पृथिवीस्थानदेवतापदानि । अधुना समाम्नायानुक्रमेणैव मध्यमस्थानदेवतापदानि वक्तव्यानि । तदर्धमिदमारम्यते । 'अथातो मध्यस्थाना देवताः' इति । 'अथ'शब्दो विशेषाधिकारार्थः । 'अतः'शब्द आबन्तर्यार्थः । मध्यं स्थानमेतासामिति मध्यस्थाना देवता वाख्यादाः । वक्ष्यन्ते इति वाक्यशेषः । देवता इति बहुवचनं भेदपक्षे । एकैव नैरुक्तामां देवता त्रित्वाभ्युपगमात् (निरु० ७ । ५) । एतस्यैव मध्यमस्य पर्णायवचनान्येतानि वाख्यादीनि रोदस्यन्तानि गुणविशेषतो भवन्ति यथैबोक्तमस्य ज्योतिषो दृश्यन्ते सवितृभगप्रभृतीनि । 'तासां वायुः (निघ० ५ । ४ । १) प्रथमागामी भवति' । नन्विन्द्र इति मध्यमस्य मुख्यमभिधानम् । तत्प्रथमं समान्नातव्यमासीत् । न ।

१०

१५

वायुः किमिति
प्रथमः

मध्यमस्य वर्षकर्मोपलक्षणत्वाद्वर्षकर्मणि च वायो-
रधिकारः प्रथमः स्यात् । कथमिति । वाख्यात्म-
नैव हि मध्यम ऊर्जान्मासात्परतः सार्वद्विमुद्रक-

२०

मुसंहरन्नोपधिवनश्चतिजलस्येव उदकमन्तारिक्षलोकस्य गर्भमुपचिनोति ।
स मासाष्टकेन संभृतोदकगर्भो विपक्वः प्रावृषं प्राप्य प्रसवाप्य प्रकल्पते ।
तदुक्तम् । 'वान्ति पर्णसुषो वातास्ततः पर्णमुचोऽपरे । ततः पर्णरहो वान्ति
ततो देवः प्रवर्षति' ॥ इति । तदेवं वर्षकर्मप्रारम्भे वाख्यात्मनैव मध्यमो

२५

१ ङ. ठ. ड. हरिः ओम्; थ. ओ ३ म्; ध. हरिः ॐ म्; छ. नु. २ ग.
ज. नुं नमः । व्या°; च. श्रीगणेशपनये नमः । व्या°; घ. ट. श्रीः । व्या°; झ.
ट. ड. श्रीगणेशपनमः । व्या°. ३ ग. च. ज. ठ. ड. मध्यस्था°. ४ ग. घ.
ज. ठ. ड. मध्यमस्था°. ५ ग. घ. ज. तृत्वा°. ६ क. ख. ङ. झ. ट. ठ. ड.
"मस्य स्थानस्य मु". ७ घ. "मुषहमी". ८ घ. "नित्तजडो".

वायोः सर्वस्थानतामपेक्ष्य विचारनागूर्ध्वं ततोऽवधारयति । सर्वस्थान-
त्वेऽपि सति 'कमन्यम्' इन्द्रात् 'मध्यमादेवमवश्येत्' मन्त्रदृक् ।
सोमा अरं कृतास्तेषां पिबेति प्रसिद्धं हीन्द्रस्य मध्यमस्य सोमपानं तदर्थ-
त्वास्तोमसंस्कारस्याप्रसाध्यमन्यस्य । तस्मादिन्द्र एव वायुः । 'तस्य'
इन्द्रस्य वायोरैन्द्रे एव सूक्ते यस्यामिन्द्रस्य विशेषणत्वेन वायुशब्दस्तथा ५
'एवापरा' ऋक् 'भवति' ॥ २ ॥

आसस्त्राणासः शवसानमच्छेन्द्रं सुचक्रे रथ्यासो अश्वाः ।
अभि श्रव ऋज्यन्तो बहेयुर्नू चित्तु वायोरमृतं विदस्येत् (ऋ० सं०
६ । ३७ । ३) ॥ आसस्रवांसोऽभिवलायमानमिन्द्रं कल्याण- १०
चक्रे रथे योगाय रथ्या अश्वा रथस्य वोढारं ऋज्यन्त ऋजुगा-
मिनोऽन्नमभिवहेयुर्नवं च पुराणं च श्रव इत्यन्ननाम श्रूयत इति
सतो वायोश्वास्य भक्षो यथा न विदस्येदितिन्द्रमधानेत्येके नैष-
ष्टुकं वायुकर्मोभयमधानेत्यपरं बरुणो वृणोतीति सतस्तस्यैषा
भवति ॥ २ ॥ १५

आसस्त्राणास इति । भरद्वाजस्यार्षम् । महाव्रते महदुक्थे शस्यते
वायुरिन्द्र एव । उत्तरे पक्षे (ऐ० आ० ५ । २ । २) ।
तस्य रथ्या अश्वाः सुचक्रे कल्याणचक्रे रथे योगा- २०
र्थम् इन्द्र शवसानम् अच्छे इन्द्रमभिवलायमान-
मधिकबलमात्मानं मन्यमानम् आसस्त्राणा आसस्रवांसः नित्यमासर्पिर्नृत् ।
एतान्युक्त्वा रथेऽस्माकमायाहि सोमपानाय यज्ञमिति । किमस्माकं ते कुर्व-
न्विति । अभि श्रव ऋज्यन्तो बहेयुः । ऋजुगामिनो भूया श्रवः अन्नं
सोमाह्वयमेतदस्मयज्ञे यत् नू चित् नवं पुराणं च तस्यानायैर्नभिन्द्रमभिव-
हेयुः । नु क्षिप्रम् । यथा अस्य इन्द्रस्य वायोरिदम् अमृतम् एष सोम- २५
भक्षो न विदस्येत् । अविदस्तेऽनुपक्षीणे एतस्मिन्सोमभक्षेऽभिवहेयुरथ्ये-
त्तदाशास्महे ।

१ ग. च. ज. वसत्. २ ग. र्थ. ज. मध्यमन्यस्य. ३ ट. ड. 'वति' इति
चतुर्थ्याप्याये २ षष्ठः, घ. झ. ट. ज. अशो नास्ति. ४ छ. त. द. 'बोत्वा' .
५ ग. इति^३. म^०. ६ च. भार. ७ क. स. ग. ज. द. झ. ट. ड. 'नित्' ।
ये तान्पु^०.

‘ श्रव इति ’ एतत् ‘ अन्ननाम ’ । तस्मिन् सर्वत्र ‘ श्रूयते ’ ।
 ‘ नूचित् ’ इति नवपुराणाभिधायकौ निपातौ (निरु० ४ । १७) ।
 नवं यः सोमो गृहीत्वा तत्कालमेव हूयते । पुराणं पुनर्यः प्रातःसवने
 गृहीत्वा माष्यंदिने सवने हूयते तृतीयसवने वा । तद्यथा । अतिप्राह्याः
 (मैत्रा० सं० ४ । ७ । ३) । ध्रुवः (मैत्रा० सं० ४ । ६ । ६) ।

५

एवमेतस्मिन्मन्त्रे ऐन्द्रसूक्तमध्यपातिव्यादिन्द्रप्रधाने यद्वाश्वभिधानं तत्
 ‘ नैघण्टुकम् ’ इन्द्रस्यैव विशेषणार्थं व्यञ्जन-
 मात्रम् । ‘ इत्येके ’ । ‘ अपरे ’ पुनः ‘ उभ-
 यप्रधाना ’ इयमूक् ‘ इति ’ मन्यन्ते भेदपक्ष-
 वादिनः । तत्पुनरयुक्तं निष्केवल्ये विनि-
 यागात् ।

१०

अस्यामृचि वायु-
 नैघण्टुक इन्द्रः प्रधा-
 नमित्येकं मतम् । उभौ
 प्रधाने इत्यपरम् ।

‘ वरुणः ’ (२) कस्मात् । ‘ वृणोतीति सतः ’ । स हि
 वियेद्वृणोति मेघजालेन । ‘ तस्यैषा
 वरुणः कस्मात्
 भवति ’ ॥ ३ ॥

१५

नीचीनवारं वरुणः कवन्धं प्र संसर्ज रोदसी अन्तरिक्षम् ।
 तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनक्ति भूमिं (ऋ० सं०
 ५ । ८५ । ३) ॥ नीचीनद्वारं वरुणः कवन्धं मेघं कवनमुदकं
 भवति तदस्मिन्धीयत उदकमपि कवन्धमुच्यते वन्धिरनिभृतत्वे
 १० कमनिभृतं च प्रसृजति आषाषृथिव्यौ चान्तरिक्षं च महत्त्वेन तेन
 सर्वस्य भुवनस्य राजा यवमिष वृष्टिर्व्युनक्ति भूमिं तस्यैपापरा
 भवति ॥ ४ ॥

नीचीनवारमिति । अत्रेवार्थम् । न्यक् अच्यते द्वारं यस्य स भवति
 १५ वरुणः नीचीनद्वारः अधोद्वारः । तं नीचद्वारम्
 अधोक्षिणं कृत्वा कवन्धं मेघं वरुणो मय्यमः
 अत एव मेघसंक्रमात् कवनम् उदकं प्रमसर्ज प्रसृजति महत्त्वेन ।

१ ठ ड. ‘ वति । इति निरुक्तभाष्ये चतुर्थाध्याये तृतीयः (ठ. ३) (७७६) ;
 प. झ. ट. ज. अङ्गी नारिन. २ क. ल. ड. ध. घ. कवन्धं. ३ क. ल. ड.
 कवन्धं. ४ ग. ‘ विनि ’ । अं ; ड. ‘ नीनवारं ’. ५ क. ल. घ. झ. ट. नीचीन
 ११ वारं. ६ क. ल. झ. ट. कवन्धं.

न हर्महानेतच्छकनुयात्कर्तुम् । रोदसी अन्तरीक्षम् । द्यावापृथिव्यौ च अन्त
रिक्षं च महत्त्वेन सर्वमापूरिष्यन्ति । ततोऽतिप्रभूतेनोदकेन त्रिसृष्टेन
विश्वस्य भुवनस्य भूतजातस्योदकस्य वा राजा ईश्वरः यत्र न यत्रमिव
काश्चित्सत्कर्षा स्वहा वृष्टया व्युनक्ति चिद्विधमुनक्ति छेदयति भूमिं
शृत्स्ना यः सोऽन्माकनिद नाम करोतु ।

५

अथैतन्मन्यथा योज्यम् । प्रसृजति द्यावापृथिव्यौ चान्तरीक्षं च
प्रकर्षेण सृजत्युत्पादयति । महत्त्वेन यस्माच्चो-
क्तचोऽन्योऽर्थः उत्पादयति स तस्माद्भुवनस्य राजा विश्वस्य भुवनस्य
भूतजातस्य । तेन हेतुना तदनुग्रहाय नीचीनद्वारमधोविलं मेघ कृत्वा
यत्रमिव शृष्टेर्व्युनक्ति भूमिमिति समानं पूर्वेण ।

१०

‘ कवन्धैः ’ इति मेघ उच्यते । कस्मात्सैः । ‘ कचनमुदकं ’ कचनेर्ग-
त्यर्थस्य । ‘ तदस्मिन्धीयते ’ इति कचन्धो
कवन्धः । ‘ उदकमपि कचन्धमुच्यते ’ । तत्क-
स्मात् । अत्रोत्तरं पदं प्रथमं निराह । ‘ वन्धिः ’ धातुः ‘ अनिभूतत्वे ’ ।
निभूतस्तानदचपलः । तद्विपरीतार्थजाची वैन्धिः । क च तदपलं चेति
कवन्धम् । सुखं चाननस्यायि चेत्यर्थः ।

१५

‘ तस्य ’ वरुणस्य मध्यमत्वे ‘ एषापरा भवति ’ । सा पुनः
किमर्थम् । वर्षकर्म वरुणाभिधानं च सूत्रेऽपि दृष्टम् । उन्तरस्यां तु
शब्दत एव मन्यमो वरुण इति विशेषहेतुनोपपादयति ॥ ४ ॥

१०

तस्य पु संमना गिरा पितृणां च मन्यभिः । नाभाकस्य प्रश-
स्तिभिर्यः सिन्धूनामुपोदपे सप्तस्वसा स मध्यमो नर्मन्तामन्यके
संमे (ऋ० सं० ८ । ४१ । २) ॥ तं स्वभिष्टौमि समानेया
गिरा गीत्या स्तुत्या पितृणां च मननीयैः स्तोमैर्नाभाकस्य प्रश-

१ ग. च. ज. ‘ महानेत ’. २ क. ख. व. झ. ट. ठ. ड. ‘ भूतोदकेन. ३ क. २५
ख. ग. च. अथ चैव ’, ज. अथ त्वेव. ४ क. ख. व. झ. ट. ठ. ड. तस्मात्स एव
भूतं. ५ क. ख. घ. ट. कवन्धं. ६ क. ख. व. झ. ट. कस्मात् । कं, घ. कस्मात्स
न. १ कं. ७ क. ख. घ. झ. ट. कवन्धो. ८ ग. च. ज. कवन्ध उच्यते. ९ घ.
च. ज. झ. वन्धि. १० घ. च. वन्धि. ११ क. ख. व. झ. ट. ठ. ड. मन्म-
वति. १२ व. ‘ स्या उद शं. १३ ठ. ड. ‘ वति । इति निरुक्तभाष्ये ४ खण्डः,
घ. झ. ट. ज. अत्रो नास्ति. १४ छ. त. द. मग्न्या.

२२

स्तिभिर्ऋषिर्नाभाको वभूष यः स्यन्दमानानामासामपामुपोदये
सप्तस्यसारमेनमाह वाग्भिः स मध्यम इति निरुच्यतेऽर्थे एव
भवति । नभन्तामन्यके समे । मा भूवन्नन्यके सर्वे ये नो
द्विपन्ति दुर्धियः पापधियः पापसंकल्पा रुद्रो रौंतीति सतो
५ रोरूयमाणो द्रवतीति वा रोदयतेर्वा यदरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्व-
मिति काठकं यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकं तस्यैषा
भवति ॥ ५ ॥

तम् पु समनेति । नाभाकस्यार्थम् । ' सु ' इत्येतस्योपसर्गस्य
१० स एव वरुणः संबन्धि क्रियापदं नास्तीति ' तं स्वभिद्यौभि' इत्य-
भिपूर्व क्रियापदमव्याह्रियते । मुष्टु तमभिद्यौमि ।
केन । समना । तत्समानया तथोग्यया गिरा स्तुत्या । पितृणां च मन्मभिः ।
ये च पितृणां मननीया मननार्हा बहुमानाः स्तोमास्तैश्चोहमभिद्यौमि ।
नाभाकस्य प्रशस्तिभिः । याश्च मम नाभाकस्य पशस्तयः स्तुतयो योग्या-
१५ स्तं वरुणं प्रति ताभिरभिद्यौमि । किञ्चक्षणो यो वरुणः । यः सिन्धुनमु-
पोदये स्यन्दमानानाम् अपाम् उपोदये उपोद्गमे अन्तरिक्षलोके वर्षस्य
सप्तस्यसा संपद्यते मन्वमाभिरश्वाद्याभिः सप्तभिः वाग्भिः । ' स मध्यमः ' इति
वरुणो निरुच्यते शब्दत एवैतस्मिन्मन्त्रे । तदनुप्रहादस्माकं नभन्तामन्यके
२० समे । मा भूवन्नन्यके सर्वे । अन्ये एव अन्यके । शत्रवः । ते मा भूवन्न-
स्माकमिति ।

१ ' रुद्रः ' (३) कस्मात् । ' रौंतीति सतः ' । स हि स्तनयित्नुशब्दं
रुद्रः कस्मात् करोति । ' रोरूयमाणो द्रवतीति वा ' । शब्दं
कुर्वाणो मेघोदरस्थो द्रवतीति । ' रोदयतेर्वा ' ।
शत्रुनसौ रोदयति दुःखयति । ब्राह्मणमपि चै भवति । ' यदरुदत्तद्रुद्रस्य
२५ रुद्रत्वमिति काठकम् । कठानां प्रचनम् । ऐतिहासिकैरेतत्समवैति । ' स किञ्च
पितरं प्रजापतिभिद्युणा विध्यन्तमनुशोचन्नरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम् ' । ' यद-
रोदीदिति हारिद्राधिकम् ' । स एवार्थः । केवलं तु शाखान्तरमन्यत् ।
एवं शाखान्तरेभ्योऽपि देवताभिवाननिर्वचनान्तराण्युपेक्ष्याणीत्युपप्रदर्शना-
र्थम् । हारिद्रो नाम भैत्रायणीयानां शाखाभेदः । तस्यैषा भवति ॥ ५ ॥

१ ग. नेति । ना०. २ ग. च. ज. ' स्तीः स्वाह ' . ३ क. ए. व. झ. ट. ठ.
ड. चैतस्मिन्नर्थे भ'. ४ ठ. ड. ' वति । इति निरुक्तभाष्ये ५ खण्डः; घ. झ. ट.
३२ अ. अत्रो नास्ति.

इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रैषवे देवाय न्वधोत्रं ।
 अपाह्ल्याय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः
 (ऋ० सं० ७।४६।१) ॥ इमा रुद्राय दृढधन्वने गिरः क्षिप्रैषवे
 देवायान्नवतेऽपाह्ल्यायान्यैः सहमानाय विधात्रे तिग्मायुधाय भरत
 शृणोतु नस्तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मण आयुधमायोधनात्तस्यैपापरा ५
 भवति ॥ ६ ॥

इमा रुद्रायेति । वसिष्ठस्वार्थम् । उत्तरा च । शूलगधे विनियोगः

रुद्रः (आश्व० गृ० २।९।२१) । हे स्तोतारो १०
 यूथमुच्यधे । इमा गिरः स्तुतीः भरत रुद्राय ।

किंलक्षणाय । स्थिरधन्वने दृढधनुषे क्षिप्रैषवे शीघ्रैषवे देवाय दानादिगुण-
 युक्ताय स्वधात्रे स्वधावते अन्नवते अन्नह्ल्याय अनभिभृताय केनचित्
 सहमानाय नित्यमभिभवते शत्रून् वेधसे विधात्रे तिग्मायुधाय तीक्ष्णा-
 युधाय । स चेमा गिर उच्यमानाः शृणोतु अस्माकमिष्येतदाशास्महे ।

‘सहमानाय’ इति बलकृतेर्मध्यमः । ‘तस्यैपापरा भवति’ । सा १५

रुद्रो मध्यमो बलकृतेः पुनः किमर्थम् । ‘विधात्रे’ इत्युक्तं पूर्वस्यामृचि ।
 तत्रैतद्भवति किमसौ विधत्त इति । यतः परया
 निर्ब्रवीति रक्षःपिशाचानिति ॥ ६ ॥

०

या ते दिद्युर्द्वयसृष्टा दिवस्परि क्षमया चरति परि सा वृणक्तु २०
 नः । सहस्रं ते स्वपिशात भेषजा मा नस्तोकेषु तर्नयेषु रीरिपः
 (ऋ० सं० ७।४६।३) ॥ या ते दिद्युद्वयसृष्टा दिवस्परि दिवोऽ-
 धि दिद्युद्द्वयतेर्वाद्युतेर्वाद्युतेर्वा क्षमया चरति क्ष्मा पृथिवी तस्यां

१ छ. त. द. अयाह्ल्याय. २ छ. त. द. दृढध०. ३ क. ख. 'वाद्याः भेः सह';
 छ. त. द. 'वाह्याः भेः सह'; घ. 'वाह्याः भेः. ४ ग. 'धति । व'. ५ ग.
 च. ज. घ. अयाह्ल्याय. ६ ठ. ड. 'निनि । इति निरुक्तम् एते पठ' लण्डः; ७. झ.
 ट. म. शब्दो नास्ति. ७ छ. ट. द. 'योऽतेर्वा' नास्ति.

चरति तथा चरति विक्ष्मापयन्ती चरतीति वा परिवृणक्तु नः
सा सहस्रं ते स्वाप्तवचन भेषज्यानि मा नस्त्वं पुत्रेषु च पौत्रेषु च
रीरिपस्तोकं तुद्यतेस्तनयं तनोतेरग्निरपि रुद्र उच्यते तस्यैषा
भवति ॥ ७ ॥

५

या ते दिद्युदवसृष्टेति । हे भगवन् रुद्र या ते तव दिद्युत् आयुधं ज्वरा-

तस्यैव रुद्रस्य तीसारादिरोगास्यं येन प्राणिनो हंसि दिवस्प-

रिं शुलोकादपि त्वया अवसृष्टा चरति । सर्वे हि

• देवता द्युस्थानेति गम्यते दिवस्परीति लिङ्गात् । कर्माधिकारस्थानानि तु

गिशिष्टानीति तिसृणा श्रीणि कर्माधिकारस्थानानि नियतानि भवन्ति ।

अत एवोक्तमग्न्यधिकारे ' द्युस्थानो भवति ' (निरु० ७ । १५)

इति । कथं या चरति दिद्युत् । क्षमया पृथिव्या ब्रह्मादिभावमुपगताया ।

तस्या वा ब्रह्मादिभावमुपगताया पृथिव्यामनुप्रविश्य चरत्यन्नपानसमुद्भूता

तत्प्रभवत्वात्सर्वरोगाणाम् । तदुक्तम् । ' नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये के च

१५ पृथिव्यां येषामन्नमिषव । ' (य० वा० सं० १६ । ६६) इति । तस्याः

किं दिद्युत् । सा प्रती प्राणिनः अस्मान् परिवृणक्तु परिवर्जयतु नः ।

किमग्न्यदस्तु त्वत्तोऽस्माकम् । सहस्रं ते स्वपिवात भेषजा । हे स्वपिवात

स्वाप्तवचन कस्पचिदप्यनतिक्रमणीयाङ्ग यानि तव सहस्रं भेषजानि

यैर्बहुभिः बहुप्रकारम् भेषजं करोषि भक्तानां तान्यस्मान् प्रति सन्तु ।

२० किञ्च । मा नः अस्माकं तोक्येषु पुत्रेषु तनयेषु पौत्रेषु च रीरिपः ।

न्द्रस्येन्द्रत्वं ब्राह्मण उच्यते । 'यदेनं' मव्यतोऽवस्थितं शरीरस्य प्राणभा-
 नेन विष्टभ्येतरान् प्राणान् वागादीनितरप्राणवृत्तिर्माहाभाग्यसंप्रदानेन
 'यदहं वैसिष्टोऽस्मि त्वं तद्वैसिष्टोऽसि' (छान्दो० उप० ५।१।१३)
 इत्येवमादिना प्राणाधिदेवताः 'सैन्यत्वं' समन्वीपयन् संतानार्थं 'तदि-
 न्द्रस्येन्द्रत्वमिति विज्ञायते' । इन्धे भूतानीति कर्तरि प्राणैरेनं समै-
 न्यतेति कर्मणि । 'इदं करणादित्याप्रायणः' । इदंशब्दात्पूर्वपदं करोतेरुत्तरप-
 दम् । इदमसौ सर्वमकरोदिति । सोऽयम् इदंकरः सन्निन्द्रः । 'इदं दर्श-
 नादित्यापमन्यवः' । इदं पूर्वपदं दृशिरुत्तरपदम् । इदमसावद्दक्षीत्सर्वमिति ।
 सोऽयम् इदंदर्शी इन्द्रः । 'इन्दतेनेश्वर्यकर्मणः' । इन्देः पूर्वपदं व्रतते-
 द्रावयतेर्वोत्तरपदम् । किमसौ द्रवति दारयति वेति । 'शत्रूणां दारयिता द्राव-
 यिता वा' । किमुक्तं भवति । ईश्वरश्चासौ द्रावयिता च शत्रूणाम् ।
 अथवा । ईश्वरश्चासौ दारयिता च शत्रूणामितीन्द्रः । अथवा । ईश्वरश्चासौ
 औदारयिता च यज्यनाम् । आदरकर्ता यज्वनामुपरि । 'तस्यैषा
 भवति' ॥ ८ ॥

५

१०

१५

अर्द्धरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्णवान्वद्भ्रधानं अरम्णाः ।
 महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद्भः सुजो वि धारा अर्ध दानवं ईन्
 (ऋ० सं० ५ । ३२ । १) ॥ अहणा उत्समुत्स उत्स-
 दनाद्दोत्स्यन्दनाद्दोनेत्तेर्वा व्यसृजोऽस्य खानि त्वमर्णवानर्णस्वत
 एतान्माध्यमिकान्संस्त्यायान्वावध्यमानानरम्णा रम्णातिः संय-
 मनकर्मा विसर्जनकर्मा वा महान्तमिन्द्र पर्वतं मेघं यद्दृघवृणोर्व्यसृ-
 जोऽस्य धारा अर्धहेत्वेनं दानवं दानकर्माणं तस्यैपापरा भवति ॥९॥

२०

१ ग. च. ज. महा०. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'दृद. विशिष्टो'; च.
 यद्विदं च वसिष्टो. ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड तद्विशिष्टो. ४ क. ख. घ. झ. ट. २५
 ठ. ड. 'मैन्धन् त'. ५ ट. 'न्धानिति. ६ च. इदेः; ट. इन्दतेः. ७ घ. झ. ट.
 द्रवतेर्वोत्'. ८ ग. च. ज. वेति. ९ च. 'ईश्वरश्च० शत्रूणाम्'. अथवा ग्रासि.
 १० ग. घ. ज. 'आसौवादर'. ११ ठ. 'वति. इति निरुक्तभाष्ये चतुर्थाध्याये
 अष्टमः खण्डः; ट. 'वति. इति निरुक्तभाष्ये ८ खण्डः; घ. झ. ट. ज. अश्री
 नास्ति. १२ क. ख. घ. य. ष. ठ. ड. उत्तरणाद्दोत्स्यन्दना'. १३ छ. त. द.
 'क्षेत्रयनाशा व्यम्'. १४ छ. त. द. माध्यमका'. १५ छ. ल. द. अवाह'. ३१

जनास इन्द्रः (ऋ० सं० २ । १२ । १ ॥) यो जायमान एव
प्रथमो मनस्वी देवो देवान् क्रतुना कर्मणा पर्यभवत्पर्यगृह्णात्पर्य-
रक्षदस्यक्रामदिति वा यस्य बलाद् द्यावापृथिव्यावप्यविभीतां
नृम्णस्य मन्ना बलस्य महस्त्वेन स जनार्त्स इन्द्र इत्यृषेर्दृष्टार्थस्य
प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता पर्जन्यस्तृपेराद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिता
जन्यः परो जेता वा जनयिता वा प्रार्जयिता वा रसानां तस्यैषा
भवति ॥ १० ॥

यो जात एव प्रथमो मनस्वानिति । गृत्समदस्पर्यम् । इन्द्राय
मनस्वते पुरोडाशस्य याज्या (मै० सं० १० । २ । १२) गृत्समदमि-
न्द्रवरप्रदानाद्रेन्द्रं रूपं विश्वतमिन्द्रोऽयमिति मन्यमाना जिघातवोऽसुराः
क्लिं गुरुणैर्विनाकृतोऽयमिदानीमेकः शत्रवो हन्तुमिति परिवाधेरे । स
क्लिं भीतोऽनेन सूक्तेनेन्द्रं तुष्टव । आत्मानं च ब्राह्मणं परम्यः प्रतिवेदया-
चकार ।

यो जात एव जातमात्र एव प्रथमो मुख्यः सर्वभूतानां प्रीति मुख्यत्वां
संपेदे । मनस्वी मेधावी । अन्ये हि कालेन
स एव मुख्याः संपचन्ते मेधाविनश्च । देवो देवान्
क्रतुना पर्यभूयत् । सत्यपि देवत्वाविशेषे इतरान् देवान् क्रतुना कर्मणा पर्यभूयत्
पर्यगृह्णात् परिगृहीतवान् स्वामित्वेन । पर्यरक्षद्वा मुख्यत्वात् । अत्रकामद्वा
प्रभावेन । यस्य शुष्मात् बलात् रोदसी अम्पसेताम् अविभीतां । नृम्णस्य
मन्ना बलस्य सेनालक्षणस्य महस्त्वेन । अतिमहदसहमेव बलमव-
श्यमयमायां सादयिष्यतीत्येवमतिमहत्यावेते द्यावापृथिव्यावप्यविभीतां यस्य

१ ङ. त. द. जात एव°. २ ठ. ड. एवेति. ३ ग. 'निति' । गृ°. ४ क. स.
प. स. द. ठ. ड. 'डाशस्तरप. ५ ग. च. ज. क्लिं. ६ ग. च. ज. विभीतो°.
७ ग. च. ज. 'नेन्द्रं च तु°. ८ च. 'पर्यभु° नि. ९ क. स. प. स. द. ठ. ड.
मनस्वी च मे°. १० च. देव°. ११ क. स. प. स. द. वाप च उ°. १२ क.
स. प. स. द. ठ. ड. द्यावापृथिव्यात्. १३ ग. च. ज. 'सेनालक्षणस्य' नास्ति.
१४ ग. ज. 'नस्यात्सहस्रमवयवतां'; च. 'नस्या — — मदनां'.
१०५

शुष्मात् हे असुरजनाः, स इन्द्रो नाहमिन्द्रो ब्राह्मणोऽहं नत्पसादादेवावाप्त-
तद्रूप इति । ' ऋषेर्दृष्टार्थस्य ' अनुभूतेन्द्रमैत्रस्येन्द्रवयस्यस्य गृप्तमद्रस्येन्द्रं
प्रति ' प्रीतिः ' तुष्टिः ' भवत्याख्यानसंबद्धा ' । अतश्च दर्शयति मन्त्राणा-
मैतिहासिकोऽप्यर्थ उपेक्षितव्योऽसाद्यपि तेषां विषय इति । अथवा ।
५. ' दृष्टार्थस्य ' इति देवतार्थं सतत्वतो दृष्टवतो भौवितान्तःकरणस्य
तत्रोपजातप्रतिः अतिहर्षात् ' आख्यानयुक्ता ' अन्येभ्यः- । कथनसं-
युक्तैत्यर्थः ।

' पर्जन्यः ' (५) तृपेराद्यन्तविपरीतस्य ' । ' तृप तृप्तौ '

पर्जन्यः करमात् (धा० पा० ६ । २७) इत्यस्य धातोः ।
१० स कथं भवति । आद्यन्तविपर्ययेण । यतस्त-

माद्यन्तविपर्ययं स्वयमेव दर्शयति । ' तर्पयिता ' स एव भवति । किमैक-
देशिकः । न्येस्यते । ' जन्यः ' सर्वजनपदतर्पयिता । अथैवमन्यथा
स्यात् । ' परो जेता वा ' । परः प्रकृष्टो जेता पर्जन्यः । परशब्दात्पूर्व-
पदं जनयतेरुत्तरपदम् । ' परो जनयिता वा ' । प्रकृष्टो जनयिता ।

१५ सदेव पूर्वपदं जनयतेरुत्तरपदम् । ' प्रार्जयिता वा ' । कस्य । ' रसा-
नाम् ' । प्रपूर्वस्वार्जयतेः पर्जन्यः । स हि रसान् प्रकटीकरोति । ' तस्यैषा
भवति ' ॥ १० ॥

१० वि वृक्षान् हन्त्युत हन्ति रक्षसो विभ्रं विभाय भुधनं महा-
बंधात् । उतानांगा ईपते वृष्णपावतो यत्पर्जन्यः स्तनयन्हन्ति
दुष्कृतः (श्र० सं० ५ । ८३ । २) ॥ विहन्ति वृक्षान् विहन्ति
च रक्षांसि सर्वाणि चास्माद्भूतानि विभ्रयति महावधान्महान्
क्षस्य बधोऽप्यनपराधो भीतः पलायते वर्षकर्मवतो यत्पर्जन्यः
स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः पापकृतो बृहस्पतिर्वृहतः पाता वा पाल-
२५ यिता वा तस्यैषा भवति ॥ ११ ॥

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'बन्धात्' ; ग. ख. ज. 'बंधा. २ ग. घ. ज.
भरि'. ३ ग. घ. न. वा. ४ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'स्थानांतयु'. ५ ठ.
ड. 'वदि । ६। निम्कोलपट्टीक पा (क. ने०) चतुर्थां गये दशमः ११८ ;

वि वृक्षान्हेतीति । अत्रैरार्थम् । कारीर्यं दिगुत्स्थाने विनियोगः

पर्जन्यः (आश्व० धौ० २ । १३) । वि वृक्षान्
हन्ति विहन्ति वृक्षान् पर्जन्यः अशनिपातैः ।

कदा । यदा तस्करादीनाकालप्रमगान् पापकृतो वर्षेणौषधीरभिनिष्पादयन्
स्तनयन् हन्ति उपेतमपाति सुभिस्सं कुर्वन्तदा । विहन्ति च रक्षसि । विविधं
हन्ति करकर्मणः । विश्वं विभाय सर्वाणि चास्माद्भूतानि त्रिम्यति महाव-
धात् पर्जन्यात् । कथम् । उतानागा ईपते । एवं नाम महावधादस्मात्स-
र्वाणि भूतानि त्रिम्यत्रि देनानागा अपि अनपराधोऽपि सन् सर्व एव
अस्माद्दर्पकर्मवतः स्तनयिनुञ्चैरशनिं मुञ्चत ईपते पठायते मामयं
हन्तीति मन्यमानः । योऽयमेवमतिमहानुभावो मगान् पर्जन्यः स वर्ष-
ररसाकर्मिति ।

‘ वृहस्पतिः ’ (६) कस्मात् । ‘ वृहतः पाता वा पालयिता वा ’ ।

वृहस्पतिः कस्मात् वृहती महतोऽस्य जगत उदकस्य वा पाता र-
क्षिता । पालयितापि रक्षितैव । धात्वन्वयमर्थक-
त्वम् । ‘ तस्य एवा भवति ’ ॥ ११ ॥

अश्रापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम् ।
निष्टृज्जंभार चमसं न वृक्षाद्बृहस्पतिर्विरवेण । विकृत्यं (ऋ० सं०
१० । ६८ । ८) ॥ अशनयता भेदेनापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्म-
त्स्यमिव दीन उदके निवसन्तं निर्जहार तच्चमसमिव वृक्षाच्चमसः
कस्माच्चमन्त्यस्मिन्निति वृहस्पतिर्विरवेण शब्देन विकृत्यं ब्रह्मण-
स्पतिर्ब्रह्मणः पाता वा पालयिता वा तस्यैवा भवति ॥ १२ ॥

अश्रापिनद्धमिति । अयास्यस्याङ्गिसस्यार्थम् । अशनयता व्यापनयता

भेदेनापिनद्धम् आत्मनो मत्स्यमतिनीय नद्धं र्वद्धं

वृहस्पतिः विवृतं व्यय हिनमदृश्यमन्यैः नृहस्पतिः मधु उदकं

पर्यपश्यत् मर्थतोऽपश्यत् । कथम् । मस्यं न दीन उदनि क्षियन्तम् ।

मत्स्यमिव दीने उदके उपक्षीयमाणे उदकेः क्षीणप्राये क्षियन्तं निवसन्तम् ।
 यथा, मत्स्यबन्धोऽस्ये उदके जिवृक्षुर्भस्त्रं परिपरयेच्छवयो ग्रहीतुमयमित्येवं
 पर्यपश्यत् । निष्टज्जभार चमसं न वृक्षात् । तच्च मधु दृष्ट्वा निर्जभार
 निर्हृतवान् । कथम् । चमसं न वृक्षात् । यथा कश्चित्कुशाब्जः शिल्पी वृक्षम-
 ष्यात् चमसं यज्ञपात्रं निर्हेरेन्निष्पादयेदेवं निर्जहार बृहस्पतिः । अत एवोदक-
 निर्हरणान्मध्यमः । कथमसौ निर्जहार । विरवेणा विकृत्य भीषणेन अतिमहता
 रवेण शब्देन संक्षोभ्य मेघं स्वस्तसर्वाङ्गसंधिवन्धनं कृत्वा विक्रमं तत एव
 विद्वलीभूतं विकृत्य समन्ततो विनाकलीकृत्य एवं निर्जहार मधु यो वृह-
 स्पतिः सोऽस्माकमपीदं करोत्विति ।

१० ' चमसः ' चमेर्भक्षणार्थस्य । तत्र हि सोमध्वस्यते ।

' ब्रह्मणस्पतिः ' (७) कस्मात् । ' ब्रह्मणः पाता वा पातयिता वा ' ।

ब्रह्मणस्पतिः क- ब्रह्म अन्नमृगादि वा । तस्योभयस्यसौ वर्षेणौष-
 स्मात् धीरभिनिष्पादय-पाता संपद्ये । वर्षाभावे ह्येतद्-
 भयमुन्मीदति । ' तस्यैवा भवति ' ॥ १२ ॥

अदमास्यगवतं ब्रह्मणस्पतिर्भधुधारमभि यमोजसातृणत् ।
 तमेव विश्वे पपिरे खर्षदो दृष्टु साकं सिंसिचुस्तसमुद्रिणम्
 (ऋ० सं० २ । २४ । ४) ॥ अज्ञानवन्तमास्यन्दनवन्तमवा-
 तितं ब्रह्मणस्पतिर्भधुधारमभि यमोजसा बलेनाभ्यतृणत्तमेव सर्वे
 २० पिवन्ति इष्टमयः सूर्यदृशो बह्वेन सह सिञ्चन्त्युत्समुद्रिणमुदक-
 वन्तम् ॥ १३ ॥

इति दशगाव्यायस्य प्रथमः पादः ॥

अदमास्यमवतमिते । गृहसमदस्यार्थम् । अदमशब्दात् ' अज्ञानवन्तम् '

ब्रह्मणस्पतिः इति आस्यशब्दात् ' आस्यन्दनवन्तम् ' इति
 भाष्यकारश्चकार तथा सामर्थ्यमपेक्ष । किमुक्तं

२५ भवति । उदकव्यापनक्रियया तद्वन्तम् अस्यन्दनक्रियया चोदकप्रक्षरण-

१ क. र. प. झ. ट. ठ. ड 'माणगाय सिं'. २ क. र. प. झ. ट. ठ. ड.
 'मसः कस्मात् । चमे'. ३ ठ. 'पति'. इति निष्कटीकाय मुतरपटके चतुर्थेऽध्याये
 द दशः सप्तः; ट. 'वति'. इति १२ सप्तः; घ. झ. ट. ज. अदो नास्ति. ४ घ.
 प्रथम- पादः, त. इति दशमस्य प्रथः, द इति निष्क उतगर्भस्य दशमा°. ५ म.
 २० 'भित्ति'. १°.

क्रियया तद्वन्तम् । अश्मास्यमवर्तं मेघं मधुधारम् उदकं धारणितारं गृ
 ओजसा बलेन अम्यतृणत् अम्पहन् ब्रह्मगस्पतिः तम् अत्रतम् अवाति-
 तम् अत्रागैतितं भूमिमुदकभावेन गत पुनरादानकालमुदकस्य प्राप्य
 तमेव त्रिंशे परिरे पित्रन्ति । तदुदकमाददते । के पुनस्ते । स्वर्दशः
 सूर्यस्य रश्मयः । स्वरेण ये दृश्यन्ते । ते सूर्यसमानदर्शनाः । स्वर्भावेन वा
 सूर्यभावेन ये मण्डलीभूता दृश्यन्ते । ते पित्रन्ति । पुनश्च प्राप्य तदुत्सर्ग-
 कलं बहु साकं बहु तदुदकं सहभूता मण्डलात् अर्वाद्य आश्रय
 एनम् अन्तरीक्षे उत्स मेघम् उद्विणम् उदकान्तं कुर्मन्तः सिद्ध्यन्ति तं च
 पुनरेवं मेघं यो ब्रह्मणस्पतिर्लोकानुग्रहाय प्रातिसंवेत्सरं तृणोदि सोऽस्माक-
 भिर्दं नाम करोत्विति ॥ १३ ॥

५

१०

पृथ्वदशाध्यायस्य, प्रथमः पादः ॥
 द्वितीयः पादः ॥

क्षेत्रस्य पतिः क्षेत्रं क्षियतेर्निवासकर्मणस्तस्य पाता वा पाल-
 यिता वा तस्यैवा भवति ॥ १४ ॥

१५

क्षेत्रस्य पतिः (८) कस्मात् । ' क्षेत्रं ' तात् ' क्षियतेर्निवा-
 क्षेत्र कस्मात् सकर्मगः ' । तदपाश्रयेण हि प्राप्ते क्षियन्ति
 पतिः कस्मात् मन्थिनः । ' तस्य पाता वा पालयिता वा ' २०
 मन्थमः । तत्कर्मोपपत्तौ हि क्षेत्रस्य क्षेत्रत्वसा-
 फलम् । यदा हि मन्थमेन दृष्टं भवत्यथ
 क्षेत्रं सफलं भवति । विगृहीतमेव समन्नातम् । निगमे तथा दृष्ट्वात् ।
 ' तस्यैवा भवति ' ॥ १४ ॥

१ ट. ड. उद्धार°. २ क. स. प. स. ट. ठ. ड अम्पहन्. ३ क. स. २५
 प. स. ट. ठ. ड. 'वादि'. ४ क. स. प. स. ट. ठ. ड. साधं स्व°. ५ ग.
 च. ज. 'अर्वाद्य'. ६ ट. इति निरु. टी. १३ स्वण्ड; ७ इति निरु. टी. पा-
 मुत्तरपदके चतुर्थोऽध्याये प्रथोदशः खण्डः । इति निरु. पञ्चमोऽध्यायेन सप्तैक-
 पञ्चदशोऽध्यायि इयं . ७ क. स. १ (१४), त. ड. १. ८ क. म. प. स.
 ट. ठ. ड. 'यन्ति निरु. म्नि कु'. ९ क. स. (१४), ठ. 'वन्ति । इति निरु. टी.
 पायावुत्तरपदके चतुर्थोऽध्याये १३ खण्ड, ड. 'वन्ति । इति निरु. म्नि १४ खण्ड,
 प. स. ट. म. अहा नारिक.

क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि । गामश्वं
पोपयित्वा स नो मृच्छतीदृशे (ऋ० सं० ४ । ५७ । १) ॥
क्षेत्रस्य पतिना वयं सुहितेनेव जयामो गामश्वं पुष्टं पोपयितु
चाहरेति । स नो मृच्छतीदृशे । वलेन वा धनेन वा मृच्छतिर्दान-
कर्मा तस्यैपापरा भवति ॥ १५ ॥

क्षेत्रस्य पतिना वयमिति । वामदेवस्यार्पम् । क्षेत्रस्य, पतये चरोः
क्षेत्रस्य पतिः पुरोनुवाक्या (मैत्रा० सं० २ । १ । १) ।
क्षेत्रस्य पतिना सुष्टु हितेन केनचिदात्तेन मित्रेण
२० संयुक्ताः सन्तो वयं जयम गवाश्वादीनि धनानि पुष्टानि बलवन्ति
पोपयितुणि पोषणाय समर्थानि । उपनामितद्रव्याणां चास्माकं क्षेत्रस्य
पतिना तत्प्रसादादेव तानि भोक्तुं शक्तिरस्तु । कथमिति । ' आ '
इत्यस्योपसर्गस्य संबन्धि क्रियापदमभ्याजहार भाष्यकारः । आहरेति ।
कोऽर्थः । उपजातशक्तयो वयमेवमाज्ञापयन्तः परिचारकानिदम.हरतेति
१५ सर्वद्रव्याणि यथाश्रुतीमहि तथा क्षेत्रस्य पतिरस्मान् मृडेतु । ' मृच्छति-
र्दानकर्मा ' । ईदृशे धनलाभाय भोगाय चास्मान् ददातु धारयतु ।
निरं स्थिरान् करोमित्येतदाशास्महे ।

' तस्यैपापरा भवति ' । सा पुनः किमर्थम् । यस्य चरोः एष
पुरोनुवाक्या तत्र ब्राह्मणं भवति । ' इयं वै क्षेत्रं पृथिव्यस्यामर्दनीयां
२० प्रतितिष्ठति ' इति । यनाः परया वर्षेच्छिद्योपपादयति मन्वस्थानः क्षेत्रस्य
पतिरिति । भक्तिमात्रं ब्राह्मणमिति ॥ १५ ॥

१ छ. त. द. मृच्छती. २ छ. त. द. मृच्छतिरादुवाक्यां पूजाकर्मा
या तस्यै. ३ क. ग. २ (१५), त. द. २. ४ ग. 'मिति' । ५.
५ क. ग. च. झ. ट. ठ. ड. 'नेवेश त'. ६ क. ए. ग. ज. घ. झ. ट.
ठ. ड. जयामः ७ क. ए. ग. ज. घ. झ. ट. ठ. ड. त्वत्प्र. ८ ग. घ. ज. यथा
स्तुती. ९ क. ए. प. झ. ट. ठ. ड. मृडयतु. १० क. ए. घ. झ. मृच्छति; ग.
घ. ज. ठ. ड. इहनि. ११ घ. झ. *ट. ठ. ड. ड. 'दीप्तान्. १२ क. ए.
१२ (१०), ट. ड. मिति । इति भाष्ये ११० पङ्क; घ. ए. ट. ज. अथै

क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्ध्नि धेनुरिव पयो अस्मासु धुस्व ।
 मधुश्चतं घृतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मृळ्यन्तु (ऋ० सं०
 ४ । ५७ । २) ॥ क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्ध्नि धेनुरिव
 पयोऽस्मासु धुस्वेति मधुश्चतं घृतमिवोदकं सुपूतमृतस्य नः पातारो
 वा पालयितारो वा मृळ्यन्तु मृळ्यतिरूपदयार्कमा पूजार्कमा वा ५
 तद्यत्समान्यामृचि समानाभिष्याहारं भवति तज्जामि भवतीत्येकं
 मधुमन्तं मधुश्चतमिति यथा यदेव समाने पादे समानाभिष्याहारं
 भवति तज्जामि भवतीत्यपरं हिरण्यरूपः स हिरण्यसंहगिति यथा
 यथाकथाच विशेपोऽजामि भवतीत्यपरं मण्डूका इवोदकान्मण्डूका
 उदकादिष्वेति यथा । वास्तोष्पतिर्वास्तुर्धसतेर्निवासकर्मणस्तस्य १०
 पाता वा पालयिता वा तस्यैवा भवति ॥ १६ ॥

क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमिति । आपं यदेव पूर्वस्याः । विनियोगो
 महाव्रते । अदित्यै चतुरूपशतुःस्तनग्रहः । तस्य तृतीयमनयर्चा गृह्यते ।
 हे क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्ध्नि मधुरस्तादम् उदकसघातं धेनुर्यथा पयो १५

क्षेत्रस्य पतिः दोग्धि एवमस्मासु धुस्व प्रक्षर । किञ्च । मधुधुनं
 घृतमिव सुपूतम् । मधुधुनं यन्मुहुर्मुहुः स्तोतति ।

घृतमिव सुपूतम् उदकमकलुषम् । तस्य दानेन ऋतस्य नः पतयो मृळ्य-
 यन्तु । ऋतस्य उदकस्य पतयः पातारो माष्यमिक्ता देवाः क्षेत्रस्य-
 प्रतिप्रसुताः मृळ्यन्तु । निष्प्रसुताश्च रक्षन्तु पूजयन्तु वा । २०

अत एव मन्त्रात्प्रसक्तमतः परं सर्वमन्त्रेषु जाम्यजामिता पदानां

जाम्यजामिता- चिन्त्यते । जामीनि पुनरुक्तसज्ञा । सा पुनरियं
 विचारः निगमत एव । विज्ञायते हि । 'जामि वा
 एतद्यज्ञे क्रियते यन्मरत्वतीयो ग्रहो गृह्यते मर-

१ क. ख. छ. त. द. मृळ्यं. २ क. ख. छ. त. द. मृळ्यं. ३ क. ख.
 मृळ्यं, छ. त. द. मृळ्यं. ४ क. ख. ३ (१६), त. द. ३. ५ ग. 'मिति'.
 आ. ६ ग. च. ज. ठ. ड. 'तीयर्चा गृ'. ७ घ. ख. ड. ठ. ड. स्वाट्टम्. ८ ग.
 च. 'दक स'. ९ च. मधुश्च्युत. १० ग. च. ज. मधेव. ११ क. ख. घ. ख.
 ट. ठ. ड. 'श्वेत. १२ ग. घ. ज. इ. मृळ्यं.

त्वतीयं शस्यते ' (मैत्रा० सं० ४ । ६ । ८) इति । तदेतत्पुनरुक्तं

' द्विविधं जामि - तत्र समानशब्दार्थं नाम यदेकमेव पदमेकार्थ-

समानशब्दार्थं जामि - मेकार्थमेव वाक्याधिकारे पुनरुच्यते । तथा ।
' मन्म रेजंति रक्षोहा मन्म रेजंति ' (ऋ०

सं० १ । १२९ । ६) । तदधिकृत्यान्यथाप्रतिसमाधानाशक्तौ वक्ष्यति
' अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते ' (निरु० १० । ४२) इति । यत्पुनर-

असमानशब्दं स- समानार्थं पदमभ्यस्यते तदपुनरुक्तमेव । यद-
मानार्थं च समानशब्दं समानार्थं च तदसुखप्रतिसमाधानं-

इति । ' तत् इति ' वाक्योपादाने । ' यसमान्यामृचि ' । एकस्यामृचि । ' समा-

एकस्यामपि ऋचि - नाभिव्याहारं ' पदं ' भवति ' । समानमर्थमभि-
वर्तमाना पुनरुक्तिर्जा- व्याहरति । पदान्तरेण यः कश्चित्पूर्वोऽर्थचैऽभिहि-

मिदोपाहृत्यैकं मतम् - तोऽर्थस्तमेवोत्तरेऽर्थचैऽभिदधज्जामि भवति । त-
व्या ' मधुमन्तं मधुधृतमिति ' । यो हि मधु-

इत्थैतु अवश्यमसौ मधुमान् । ' एकं ' तानदाचार्यमतम् ।

' यदेव समाने पादे समानाभिव्याहारं भवति तज्जामि भवतीत्यपरम् ' ।

समानपादे एव वर्त- नानार्थभेदगतयोः समानार्थयोरपि पदयोरसमान-

माना दोषाहृत्यपरम् - पदान्तरव्यवधानात्प्रकृतार्थानुष्मृतये पुनरनुकीर्त-

पदान्तरेण व्यवहितं पदं समानार्थं पुनरुच्यते अविच्छिन्नप्रसक्तानुष्मृति
तदेव जाभीत्यपरम् । ' हिरण्यरूपः स हिरण्यसंहृत् (ऋ० सं० २ ।

३५ । १०) इति यथा ' । यो हिरण्यरूपः सोऽनर्थं हिरण्यसंहृत् ।

तर्हि पीनरत्नं ये न तद्योगं पदं तन्मयोगाद्वा तदमाधु मध्नाक्यम् ।

एतल्लेऽपि विशेषे - नेत्युच्यते ' यथाकथाच विशेषोऽज्जामि भवतीत्य-

अज्जामि भवतीति मत्तं - परम् ' । यथाकथंचिन् यः कश्चित् एततोऽपि
यास्कसमगतम् - हि तत्र विशेषो यच्छब्दः । दृष्टानुविधानात् उ-

नापि विशेषेण तदज्जामि भवतीत्यपरम् । अपरे पुनः एतन्नाक्यार्थपरिग-

१ ग. च. ज. मधुधृतम्. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. मधुधृतम्. ३ घ. पादा; ज. द्वा. पादान्तरेण व्यवहितमिति वा. ४ क. ख. घ. झ. ट. यत्नेनम्. ५ र. यो; ग. न. यत्नेन; च. यत्नेन येन; ट. यत्नेना येन; ड. यत्नेन येन.

मास्थतिरिक्तं पदं पुनरस्यस्यमानं निपातवत्पादपूर्णत्वेनार्थवदिति प्रति-
समादधते । तदेतदवगतं भवति । इदमेव त्वभीष्टमाचार्यस्य ' यथाक्याच
विशेषः ' इति । तदर्थमुदाहरति । ' मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदका-
दिवं (ऋ० सं० १० । १६६ । ५) इति यथा ' । एवमादिषु यथा

| | |
|--|--|
| <p>पुनरुक्तौ कश्चि- द्विशेषो वर्तते एव</p> <p>हं भूयासमुच्चम आ वां मूर्धानमक्कमीम् । अक्षस्पदान्म उद्ददत् मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिवं' (ऋ० सं० १० । १६६ । ५) इति ॥</p> <p>अप्रमस्यार्थम् । कामतो देवता कैल्या । त्रिद्विष उप्यन्ते । योगक्षेमं व आदार्ये । योगो नाम लिखितस्योर्थस्य प्राप्तिः । क्षेमो नाम तत्परिपालनम् । हे त्रिद्विषः एतदुग्रथं भवन्मयः आदाय यदधीनसर्वयोगक्षेमान् युष्मान् कृत्वा सर्वार्थेषु अहं भूयासमुच्चमः उच्छ्रेयो युष्माकम् । आ वो मूर्धानमक्कमीम् । उपारि युष्मान्प्रधितिष्टेयम् । ते यूयमाक्रान्तमूर्धानो मया मम अक्षस्पदात् पाद- योरधो वर्तमानाः मन्मुखप्रेक्षा अस्वाधीनसर्वार्थदृष्टतो भूत्वा नक्तिं मां वदत । कथम् । मण्डूका इवोदकात् । यथा मण्डूका उदकादृते नित्यमस्वाधी- नवागृह्यतो निर्वेचनाः संपद्यन्ते एवं महते यूयं भूयार्त । मण्डूका उद- कादिव । यथा चोदकादृते मण्डूकाः सर्वात्मनैव न भवन्त्येवं महते यूयं मा भूत । एवमत्रैकत्र विद्विषां निर्वाक्ये मण्डूका उपमानम् । अन्यत्रोद- कामावे यथा मण्डूका न भवन्त्येवं मदमावे स्यमियुदकमुपमानम् । एष पूर्वत्रापि तथा विशेषः । पूर्वयोश्चपि मन्त्रयोर्भेदति कश्चिन्मधु- माज तु मध्यविरतं मुहुर्मुहुश्चोत्ततीति । तथा हिर- ण्यरूपः स हिरण्यसंहगित्यत्रभवति कश्चिद्विरण्यरूपो न तु हिरण्य-</p> | <p>५</p> <p>१०</p> <p>१५</p> <p>२०</p> |
|--|--|

१ सर्वेषु पुस्तकेषु ' यथा समान' । २ क. ख. ग. घ. ज. व. झ. ट. आ- २१
च्येति । ऋषः ठ. ड. येति । ऋगभिचक्षे । ' योगक्षेमं व' । ३ क. ख. ग. घ.
न. घ. झ. ट. ठ. ड. कल्याः । ४ क. ख. सर्वा कवपउयने. ५ क. ख. घ. झ. ट.
ठ. ड. 'धिनार्थ' । ६ ग. घ. ज. सन्तु । ७ ग. घ. ज. ना. ट ग. न. 'याथ.
९ य. च. न. निर्वाक्ये; घ. झ. ट. निर्वाक्ये; ठ. ड निर्वाक्ये. १० क. ख. घ. झ.
ट. ठ. ड. मण्डूका यथा. ११ क. ख. घ. झ. ट. विशेषः वृत्. १२ क. ख. घ.
झ. ट. ठ. ड. भवति । कश्चि. १३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. यथा. २६

भिव दृश्यमानः प्रिय इति विशेषः ।

‘ वास्तोष्पतिः ’ (९) वक्तव्यः । स पुनरेव रुद्रात्मना मध्यमो वास्तो-

ष्पतिः । विज्ञायते हि वास्तोष्पतीये यायावर्थ-
को वास्तोष्पतिः प्रतिपत्तौ गृहगमनमधिकृत्य ‘ न हीनमन्वाहरेयू

५ रुद्राय हि तद्धीयते यद्धीनमन्वाहरेयू रुद्रं भूतमन्वाहरेयुः ’ (मैत्रा० सं० १
५।१३) इति । स एव गृहाधिदेवता रुद्रो वास्तोष्पतिः । स पुनः

‘ अभीवहा ’ इति वलकृतिलिङ्गान्मध्यमः । तस्य पूर्वपदं विगृह्य निराह ।

‘ वास्तुर्वसतोर्निवासकर्मणः ’ । ‘ वास्तुं ’ इति गृह-
वास्तुः कस्मात् मुच्यते । उच्यते हि तस्मिन् । ‘ तस्य पाता ’

१० रक्षिता । तदधिदेवताभावेन रुद्रात्मना च तत्कृतेनोपकारेण रक्षिता मध्यमः ।
इतरथा ह्युत्सीदेयुर्गृहाः । ‘ तस्यैषा भवति ’ ॥ १६ ॥

अभीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन् । सर्वा सुशेव

एधि नः (ऋ० सं० ७।५५।१) ॥ अम्यमनहा वास्तोष्पते

१५ सर्वाणि रूपाण्याविशन्त्सखा नः सुसुखो भव शेव इति सुख-

नाम शिष्यतेर्वकारो नामकरणोऽन्नस्थान्तरोपलिङ्गी विभाषित-

गुणः शिवमित्यप्यस्य भवति यश्द्रूपं कामयते तत्तद्देवता भवति ।

रूपं रूपं मघवा बोभवीतीत्यपि निगमो भवति । वाचस्पतिर्वाचः

पाता वा पालयिता वा तस्यैषा भवति ॥ १७ ॥

१०

अभीवहा वास्तोष्पत इति । वसिष्ठस्वार्थम् । गृहकारिकास्थालीगके

वास्तोष्पतिः (मान० गृ० १।६।१९) यायावर्थप्रति-

पत्तौ च वास्तोष्पतीयहोमे (मान० श्रौ० १

६।३) विनिधोगः । हे भगवन् वास्तोष्पते त्वमस्माकम् अभीवहा भव ।

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. सप्त पु०, २ ठ. ड. उपपत्ते ३ घ. ‘ व ’
नास्ति. ४ ठ. ड. °ण इतिर्भवति. ५ क. ख. ३ (१६), ठ. °वति । इति निर-
कटीकाप्र.मुद्रापेठके भाष्ये चतुर्थेऽध्याये षोडशः खण्डः; ड. °वति । इति भाष्ये
१६ खण्डः; घ. न. ट. ङ. अशो गारि. ६ क. ख. ७ (१), त. द. ४-
२९ ७ म. इति । व०.

अमीना रोगस्तस्य हन्ता । कथम् । सर्वाणि रूपाणि आपिशन् । यस्या-
 रमदुःखहेतोर्यः प्रतिपक्षः सर्पादिर्नकुटादिस्तस्य तस्य रूपमापिशन् तं तम-
 स्माकममीवानं जहि । अमुना प्रकारेण घ्नन्नस्मदुपद्रवान् सखा मित्रं सुभेनः
 सुष्टु सुखो भव । 'शेष इति सुखनाम' । तत्कस्मात् । 'शिष्यतेः । वकारो
 नामकरणः' । शिषिर्धातुः वकारः प्रत्ययः शिष इत्यस्य । स पुनः ५
 'अन्तस्थान्तरोपलिङ्गी' । अन्ते तिष्ठति धातोर्यो वर्णः सोऽन्तस्थः । न संज्ञा
 यथा अन्तस्था यरल्लवाः । कश्च पुनरसौ । पकारः । तस्यान्तरमत्रकाशस्थानम्
 उपलिङ्गयति उपगच्छति यः स भवत्यन्तस्थान्तरोपलिङ्गी । कश्च पुनरसौ ।
 वैकारः । स पकारस्य स्थानमुपगच्छति । ततो गुणे कृते शेष इति
 भवति । स च पुनरेव धातुः ' विभाषितगुणः ' इति ' शिवमिष्यप्स्य १०
 भवति ' अगुणपक्षे ।

' सर्वाणि रूपाण्यपिशन् ' इत्यतः प्रसक्तमुच्यते । शक्नोति पुनर्वा-
 स्तोष्यतिः सर्वाणि रूपाण्यवेष्टुमिच्छते । ' यद्यद्रूपं कामयते तत्तद्देवता
 भवति ' । अस्येतदैश्वर्यं देवतायाः । यद्यदिच्छति रूपं तत्तत्करोति । निग-
 १
 ऐश्वर्यदेवता इष्टं मोऽपि हि भगव्यैश्वर्यप्रख्यापकः । ' रूपं रूपं १५
 रूपं स्वीकरोति यथा- मघरां बोभवीति मायाः कृष्णानस्तन्वं १ परि
 स्वामृचि इन्द्रः रमात् । त्रिर्धदिवः परि मुहूर्तमागात्स्वैर्मन्त्रैर्नृ-

तुपा ऋतां । (ऋ० सं० ३ । ५३ । ८) इति ॥ विश्वामित्रस्या-
 र्पम् । यावन्ति कानिचिद्रूपाणि भवता इन्द्रो भवितुमिच्छति तानि सर्वा-
 ण्यप्रतिबन्धेन बोभवीतीति पुनः पुनर्भवतीति । कथम् । मायाः कृष्णानः । २०
 इदं भवामीदं भवामीत्येवं तन्वं परि स्वा स्वा तनु तत्तद्राज्यानेकविधां त्रिकु-
 र्वाणः । त्रिर्धदिवः परि मुहूर्तमागात् । दिनः परि दिनः अधि सुखोक्तात्
 मुहूर्तकालं प्रति यस्त्रिरागात् आगच्छति । स्वैर्मन्त्रैः ह्यमानो वा स्तूयमानो
 वा युगयज्ञमानाना यज्ञेषु । अनृतुपाः अनियतसोमयानकालः सर्वदा
 यागोपपत्तेः । ऋतासा ऋतवान् यज्ञवान् । येनासावेवमात्मानं विकरोत्येवं
 च दिवो मुहूर्तं त्रिरागच्छति तेनासावचिन्त्यप्रभाववाच्यकरोति तत्तद्रूप-

१ ग. च. ज. 'मीवरो'. २ क. ख. ठ. ड. सिपिधातु°. ३ ठ. व. दणोऽ-
 न्तस्था°. ४ ग. च. ज. 'न्तरोपलि'. ५ ग. च. ज. पडा°. ६ ग. र्व°. ७ ग.
 च. ज. घ. क्ष. ट. 'दीतीनि । विश्वा°. ८ ग. घ. ज. 'तनु र्व'°.

मावेष्टुम् । एवं च सुष्टु यदेतदुच्यते सर्वाणि रूपाण्याविशन्मौवहा भवा-
स्मार्कं त्वमिति ।

‘ वाचस्पतिः ’ (१०) वक्तव्यः । स पुनरेव ‘ वाचः पाता
वा पालयिता वा ’ प्राणामनेन्द्रः । ‘ तस्यैष
वाचस्पतिः कस्मात् भवति ’ ॥ १७ ॥

पुनरोहे वाचस्पते देवेन मनसा सह । वसोऽप्यते निरामय
मध्यैव तन्त्रं १ मम ॥ इति सा निगदव्याख्यातापार्निपात्तनूनप्रा
व्याख्यातस्तरैषा भवति ॥ १८ ॥

३०

पुनरोहे वाचस्पत इति । अपगतप्राणमिवात्मानं मन्यमानः पापक-
वाचस्पतिः त्पापसंबन्धाकुतश्चित्कृतनिर्णेजनः सन् प्राणं
मन्तीति । हे प्राण पुनरोहे त्वं मा प्रति इति । किं
पुनरेकाकी । नेत्युच्यते । देवेन मनसा सह । सर्वेन्द्रियवृत्तिदीपकेन मनसा
सह । एव च दे वसोऽप्यते हे धनस्य अन्नस्य च पते निरामय नियमेन
रमय । मध्येव एतां तन्त्रं मम । मा यासीर्भित्त इति प्राणाव्युत्थमृतमात्मानं
पश्यन् स्तोता ऋतीति ।

१५

‘ अपार्निभात् (११) तनूनप्रा व्याख्यातः ’ शब्दनिर्वचनतः
(निर० ८ । ५) । अभिधेयैस्तु मध्यमः । अद्भय आदिस्यस्ततो
मध्यमः । एवमपां पौत्रः । ‘ तस्यैषा भवति ’ ॥ १८ ॥

२०

यो अनिध्मो दीर्घपदसुं १ तय विमांस ३ ईळति अच्च
रेषु । अपार्निषान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृषे वीपीय
(ऋ० सं० १० । ३० । ४) ॥ योऽनिध्मो दीर्घपदीष्यतेऽभ्य-

२५

१ क. स. ४ (१७), ट. ड; ' इति । इति निष्कभाधे १७ सङ्घः; घ.
स. ट. ज. अशो नस्ति. २ क. ल. घ. ' ताराजम'. ३ क. ल. ५ (१८);
त. द. ५. ४ ग. इति । अ. ५ क. ल. ग. घ. ज. अपाजपा', ६ क. ल.
घ. झ. ट. ड. ड. ' यन्मु'. ७ क. स. ५ (१८), ट. ड. ' इति । इति निष्
कभाधे ४ प्याये १८ सङ्घः; घ. झ. ट. ज. अशो नस्ति. ८ क. स. ट. ल.
२० द. ईडेने. ९ क. ल. घ. अराजपा'. १० ट. त. द. ' दीर्घप' नास्ति.

३०

न्तरमप्सु यं मेधाविनः स्तुवन्ति यज्ञेषु सोऽपानं पानमधुमतीरपो
देहाभिपवाय याभिरिन्द्रो वर्धते वीर्याय वीरकर्मणे यमो यच्छतीति
सतस्तस्यैषा भवति ॥ १९ ॥

यो अनिष्मो दीदयादिति । कउपत्यापम् । सर्व एव प्रत्यक्षकृतत्वेन
अपानपात् गम्यते । हे अपानपात् यस्त्वम् अनिष्मो अनि-
न्धनोऽपि दीप्यसे अभ्यन्तरप्रदेशं प्रति अप्सु
वर्तमानः यं च त्वाम् अश्वरेषु यज्ञेषु विप्रा मेधाविन ईच्छते स्तुवते स
त्वमपानपात् मधुमतीः मधुरसाः मधुरस्वादाः अपो देहि अभिपवाय ।
याभिः त्वमेव इन्द्रः ईश्वरः सोमपानद्वारेण वर्धेयाः वीर्याय वीरकर्मणे
इत्येतत्प्रार्थयामहे ।

‘ यमो ’ (१२) वक्तव्यः । स पुनरेव ‘ यच्छति ’ उपरमयति
जीवितात्सर्वं भूतग्राममिति यमः । अत एव
यमः कस्मात्
बलवानिति मय्यमः । ‘ तस्यैषा भवति ’ ॥ १९ ॥

परेयिर्वासं प्रवतो महीरनुं बहुभ्यः पन्यामनुपस्पज्ञानम् ।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य (ऋ० सं०
१० । १४ । १) ॥ परेयिर्वासं पर्यागतवन्तं प्रवत उद्वतो
निवत इत्यवतिर्गतिकर्मा षडुभ्यः पन्यामनुपस्पाञ्चयमोनं वैव-
स्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्येति दुवस्यती
राष्ट्रीतिकर्माभिरपि यम उच्यते तमेता ऋचोऽनुप्रवदन्ति ॥ २० ॥

१ क. ख. घ. ङ. सोऽपानपा°. २ क. ख. ६ (१९); त. द. ६. ३ म.
“दिति । क°. ४ क. ख. ग. घ. ज. घ. ङ. ईलो. ५ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड.
स्तुवन्ति. ६ क. ख. ६ (१९), ठ. ड. “वति । इति निरुक्तटीकायां ४ प्याये
१९ खण्ड ; घ. ङ. ट. ज. अङ्गे नास्ति. ७ ट. छ. त. द. पन्यामनु°. ८ छ.
त. द. “पामोति”. ९ क. ख. ७ (२०), त. द. ७.

परेयिवांसमिति । यमस्यांपम् । याम्ये पशी , वपायां विनियोगः
 यमः (मैत्रा० सं० २ । ५ । ११) । परेयिवांसं
 पर्यागतवन्तं सर्वतः प्राप्तवन्तम् । कान् पुनः ।

प्रवत उद्धता निवतश्च भूतसंघातान् । ' प्रवतः ' इति मन्त्रे ' उद्धतो
 निवतः ' इति भाष्यकारोऽध्याजहार तथा सामर्थ्यात् । प्रवतो मनुष्या
 उद्धतो देवा निवतस्तिर्यञ्चः तथा गतुपपत्तेः । तमेतमेवं महीः महतीः
 भूतजातीः परेयिवांसं वेद्म्यः पुण्यकृद्भयः पापकृद्भयश्च पन्थानम् अनुप-
 स्थाशयमानम् । अमुना मार्गेणायं प्राणी जीवनाद्दुत्सर्पति तमेव तस्य
 स्वाशयित्वा वद्धा तस्कर इव तत्रैव सर्पश्चरादिरूपो भूत्वा जीवितादुपप-
 १० स्यामीत्येवमनुपस्थाशयमानं तमेतमेवंकर्मणं वैवस्वतं विवस्वतः पुत्रं संग-
 मनं जनानां सममेव चक्षुः कृत्वा योऽस्माल्लोकादमुं लोकं यथाकृतकर्मफ-
 लोपभोगवशेन जनान् गमयति तमेतमेवं यमं राजानम् ईश्वरं सर्वप्राग-
 भूतां हे यजमान हविषा अनेन पशुलक्षणेन दुवस्य । राप्नुहीत्यर्थः ।
 परिचास्वेत्यर्थः ।

१५ ' अवतिर्गतिर्कर्म ' इत्येतदत्र निर्घचनं कथं संबध्यत इति विज्ञात-
 व्यम् । अथवा । प्रवत इत्यवतिरेवापमादिलुप्तः प्रपूर्वं इति भाष्यकारा-
 भिप्रायः ।

तत्प्रसंगाद्वा शब्दसारूप्याद्वा निराह । ' अग्निरपि यम उच्यते ' इति
 विचारोपप्रदर्शनाय । ' तमेता ऋचोऽनुप्रवदन्ति ' इति प्रतिज्ञातार्थोप-
 २० पादनाय । यथाग्निरपि यमशब्देनोच्यते तथेता ऋचोऽनुप्रवदन्ति ॥ २० ॥

सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिष्टुस्त्रेपर्मतीका । यमो ह जातो
 यमो जनित्रं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम् (ऋ० सं० १ ।
 ६६ । ४) ॥ तं वंश्राराथां वयं वसन्त्यास्तं न गात्रो नक्षन्त इद्धम्
 २० (ऋ० सं० १ । ६६ । ५) ॥ इति द्विपदाः सेनेव सृष्टा भयं

१ ग. 'मिति । रविर्द्धनार्थम्. च. ज. 'मिति । रविर्द्धनार्थम्. २ ग. च.
 ज. ' वेद्म्यः पुण्यकृद्भयः पापकृद्भयश्च ' नास्ति. ३ च. 'पद्याश'. ४ प. ह.
 २. ठ. ड. 'पद्याश'; च. 'पद्याश'. ५ प. ह. ट. ठ. ड. 'गानामयति. ६ क.
 ख. च. ह. ट. ठ. ड. तमेतं. ७ क. ख. ७ (२०), ठ. ड. 'दन्ति'. इति
 नेरुक्तभाष्ये चतुर्थेऽध्याये (ड. ४ प्याये) २० खण्डः; च. ह. ट. ज. अष्टौ
 २१ नारिः.

वा बलं वा दधात्यस्तुरिव दिद्युत्त्वेपप्रतीका भयप्रतीका बलप्र-
तीका यशःप्रतीका महाप्रतीका दीप्तप्रतीका वा । यमो ह जात
इन्द्रेण सह संगतः । यमाविहेह मातरेत्यपि निगमो भवति ।
यम इव जातो यमो जनिष्यमाणो जारः कर्नीनां जरयिता
कन्यानां पतिर्जनीनां पालयिता जायानां तत्प्रधाना हि यज्ञसं- ५
योगेन भवन्ति । तृतीयो अग्निष्टे पतिरित्यपि निगमो भवति । तं
वश्वराथा चरन्त्वा पश्चाद्हुत्वा घसत्वा च निवसन्त्यौपधाहुत्वास्तं
यथा गाव आमुवन्ति तथाप्नुयामेद्धं-समिद्धं भोगैर्मित्रः प्रमीते-
स्त्रायते संभिन्वानो द्रवतीति वा मेदयेतेर्वा तस्यैषा भवति ॥ २१ ॥

१०

सेनेव सृष्टयेनमाद्योः । पराशरस्यार्यम् । एता द्विपेदा विराजः ।
अग्निरत्र यमः प्रातरनुनाकाश्विनयोर्विनियोगः । सेनेव सृष्ट्या
निश्चिता । अथरा । सेनापतिना विसृष्ट्या प्रेरिता ।
अमं दधाति भयं वा बलं वा दधाति । भयं परेम्यो बलं स्वैम्यः । अथवा ।
अतर्किता भय ददाति अतर्किता बलं ददाति प्रणेतुः । अस्तुर्न दिद्युत् । १५
अस्तुरिव क्षेप्तुर्थथा दिद्युत् आयुधम् । महाप्रतीका । महती या दृश्यते । प्रतीकं
दर्शनम् । भयप्रतीका दर्शनादेव भयानका । दीप्तप्रतीका वा दीप्तदर्शना ।
भयं वा बलं वा ददाति । स्वैम्यः परैम्यश्चेति वर्तते । का पुनरसाविति ।
अग्नेरर्चिः । रक्षोम्यो भयं ददाति स्वैम्यो बलम् । यमो ह जातो यमो
जनित्वम् । यस्येदमेवंलक्षणमर्चिः स एव यमः अग्निः सर्वमिदं जातं २०
जनिष्यमाणं च ।

कथमेतद्भवत्यते पार्थिवोऽग्निर्महाशब्देनोच्यते न मध्यमे नोत्तमो वेति ।
तावपि हि यमानुच्येते । यतो निगमान्तरेण विभज्य दर्शयति । ' यमा-
विहेह मातरेत्यपि निगमो भवति ' । यत्रैव पादस्तस्मिन्मन्त्रे शक्यते यम-
शब्देनाग्निरुच्यते इति विभानयितुं व्यपदेशः । तद्यथा । ' बलं ग

१ छ. त. द. ' बलप्रतीका यम प्रतीका ' नास्ति. २ छ. घ. ठ. ड. पश्चाद् ;
घ. पश्चाद् स्वा. ३ छ. घ. प. ठ. ड. समुद्धं. ४ क. ख. ८ (२१), त. द.
८. ५ ग. ' माद्योः । प. ६ ग. ज आक्षिप्ता, च अक्षिप्ता, ट. प्रेरिता आ
क्षिप्ता. ७ घ. ट. ठ. ड. ददातु. ८ ग. ' पश्चिन्ध, च ज. प. झ. वक्षित्य. २९

महिमा वोमिन्द्राग्नी पानिष्ठ आ । समानो वा जनिता भ्रातरा युवं यमा-

अस्यामृचि इन्द्राग्नी
द्वावपि यमौ

विहेहमातरौ ' (ऋ० सं० ६ । ५९ ।
२) ॥ भरद्वाजस्यार्पम् । ' बळ् ' इति सत्य-
नाम (निच० ३ । १० । १) । हे इन्द्राग्नी

५ इत्था सत्यम् धमुना प्रकारेण । यः सूक्ते माहाभाग्यप्रकारोऽधिकृतस्त-
मित्येभ्यभिनयेनोपदिशन् ब्रवीति । महिमा माहाभाग्यं वां युवयोः आ
पनिष्ठः सर्वतोऽतिशयेन स्तुत्यः । यौ युवामेवमतिमहानुभावौ तथोः
समानो वां जनिता जनयिता सूर्यः । तौ युवामेवं कृत्वा एकपितृकौ एक-

३० लोके इह चान्तरिक्षलोकेऽप्यस्थितौ मातारौ सर्वस्य लोकस्य निर्मातारौ ।
एवमिह मन्त्रे पितृत्वेन सूर्यो व्यवदिष्टः । इन्द्राग्नी यमाविति यमशब्दो
मध्यमस्थानपृथिवीस्थापयोः । एत्रापि द्वयोर्यमयोरिह चेह च निर्मातारा-
विति प्रथमेन ' इह ' शब्देन कसिर्थम् इति लक्ष्यते । तस्मादिहापि
' यमो ह जातो यमो धमिन्द्रम् ' इति युक्तं यदग्निरेवोच्यते । जरः

१५ कनीनां पतिर्जनीनाम् । स एवाग्निः जारो जरयिता कन्याभावस्य ।
यदा ह्यग्निसंनिधाद्बुद्धा भवन्त्यप तासां कन्याभावो जीर्णो भवति । पतिर्ज-
नीनां पाळयिता जायानाम् । कथम् । ताप्रधानाः संपचन्तेऽग्नौ व्रतेऽर्पण-
मनादाव्रतविमोकादग्निपारतन्त्र्यात् ।

२० यथा वै तासां यथाधिकृतो यमो ह जातो यमो जन्तित्वमित्यग्निरेव यमो
ह जातः पतिर्वेन कन्याभावस्य जरयिता तथायमपरो निगमः स्फुटतरः ।
' तृतीयो अग्निष्टे पतिरेत्यपि निगमो भवति ' । ' सोमः प्रथमो विविदे

कन्यानामग्निस्तु- गन्ववो विविद उचरतः । तृतीयो अग्निष्टे पति-
रीयः पतिः स्तुरीर्यस्ते मनुष्यजाः ' (ऋ० सं० १० । ४५ ।
४०) ॥ सूर्याया आर्पम् । विवाहे विविदोमः ।
हे कन्थे त्वमुच्यते । सोमः त्वां प्रथमो विविदे विन्नवान् प्राप्तवान् संस्ये

१ ग. च. ज. प. स. ट. कामिति । भरद्वा०. २ क. स. प. स. ट. 'र्धम् ।
बुद्धी । क०. ३ क. स. ' बर् ' इति, ग. च. ज. प. स. ट. बळ्. ४ सवेदु
पुस्तकेषु ' महा ' . ५ ग. ज. ट. ह. मातारौ. ६ ग. ज. ' पायना ' ; ट. ' पयना ' .
६९ पाय. ७ च. न. प. स. ट. ' विद इति । सूर्या ' ; ग. ' विद इति । सूर्य ' .

प्रथमक्रीमारके । गन्धर्वो विप्रिद् उत्तरः । उपजायमानश्चारुताङ्ग-
प्रविभागस्वेरत्तौष्ट्रवामीपदनङ्गाङ्गसमाहितहृदया गन्धर्वो विश्वायमुः त्वां
विप्रिद्रे विजवान् । अथ पुनरिदानीं वैवाहिके उपगतायाः कर्मणि तृतीयः
अग्निष्ठे पतिः । नृतीयस्तवायमग्निः । अत उद्धहनात्परं तुरीयः चतुर्थः
सत्वार्यं मनुष्यजाः पतिरित्येयमेतेनापि मङ्गल समवैति जारत्वं पतित्वं
चाग्नेः । एवं चेत् यमो ह जातो यमो जनित्वम् इति यदधिकृतं
सोऽग्निरेवेति सिद्धम् ।

अग्निर्मह्यमथो इमामिति च केचिदधीयते निगममुपचयहेतुर्थम् ।
स निरुच्यते । 'सोमो ददद्गन्धर्वाय गन्धर्वो
तस्मिन्नेवार्थे ददद्गन्धर्वे । रयिं च पुत्रार्थादादग्निर्मह्यमथो
अन्या ऋरू इमाम्' (ऋ० सं० १० । ८५ । ४१)

इति ॥ स एव विनियोगः (मान० गू० १ । १० । १०) । आर्षं च ।
सोम एता प्रथमं कौमारोदम्युह्य गन्धर्वाय ददत् अदात् । अथ गन्धर्वोऽ-
प्येनामम्युह्य स्वयैवनाधिकारात् अग्नये ददत् । अथाग्निरप्येनामस्मिन्
विवाहे संस्कृत्य रयिं धनं च पुत्राश्च मह्यमदात् इति । अथो अपि च
धनेन च पुत्रैश्च सह मह्यमदात् मह्यं ददाविति ।

तमग्निं यमम् । 'वः ? इत्यनर्थकः । अथवा । यजमाना ऋत्वि-
ग्भिस्त्वयन्ते । चराथा चरन्त्या जंगमया पैश्वाहुदया वसत्या च निवसन्त्या
औपधाहुः । जगमेन स्थारेण च हाविषा । अस्तं न गावो नक्षन्ते । अस्त
यथा गृहं गावः अवश्यं नक्षन्ते अमुन्ति स्वेनोपकारेण सायंवासाय
तथेममग्निमुमयलक्षणेन हविषा वयमाप्नुयाम इदं सभिर्द्धं भोगैः सर्भो-
गानामीश्वरं प्रदातारमिति ।

' मित्रः ' (१३) कस्मात् । स हि ' प्रमीतेस्त्रायते ' । प्रमीतिः
प्रमरणं ततः सर्गलोकं प्रायते वर्षद्वारेण ।
मित्रः कस्मात् ' समिन्वानो द्रवतीति वा' । समन्ततो मिन्वानः
उदकेन द्रवत्यन्तरिक्षलोके । ' मेदयतेर्वा ? जेहनार्थस्य (धा० पा०

१ घ. ट ठ. ड. स्वरे सौ°. २ ग. 'षयिते' । स एव°, च. ज. घ. झ. ठ.
°षयिते । स एव°, ३ ड. पश्वाहुत्या.

१० । ८) । सर्वं ह्यसावुदकेन स्नेहयति । ' तस्यैषा भवति ' ॥२१॥

मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुत ग्राम् ।
मित्रः कृष्टीरनिमिषाभिचष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत (ऋ० सं०
३ । ५९ । १) ॥ मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणः शब्दं कुर्वन्
मित्र एव धारयति पृथिवीं च दिवं मित्रः कृष्टीरनिमिषन्नभिविष-
श्यतीति कृष्टय इति मनुष्यनाम कर्मवन्तो भवन्ति विकृष्टदेहा
वा मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोतेति व्याख्यातं जुहोतिर्दानकर्मा ऋः
कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा तस्यैषा भवति ॥ २२ ॥

१०

मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाण इति । विश्वामित्रस्यार्यम् । अवष्टुहोमे
मित्रः प्रायश्चित्तम् । अग्निहोत्रे पूर्वस्थामाहुतौ विनि-
योगः (मान० श्रौ० ३ । २ । ८) । मित्रो

जनान्यातयति ब्रुवाणः । आयातयति कृष्यादिषु प्रवर्तयति तत्कर्मपूर्वक-
१५ स्वाकृष्यौदिककर्मणाम् । न ह्यवृष्टे कृष्यादीन्यायात्यन्ते । आयातनमारम्भः ।
तद्यथा । भोजनमायातितमनेनेति । यथमायातयति । प्रब्रुवाणः स्तनयितुं
कुर्वन् । एवं प्रवर्तयन् कर्मसु ओषधीरुपादयत्यङ्गद्वारेण स एव
मित्रो दाधार धारयति पृथिवीं पृथिवीत्येकनिवासिनः सर्वान् । उत
यां धारयति । अमुना प्रकारेण अनुगृह्यन् स मित्रः कृष्टीः मनुष्यान् अति-
२० मियन्नभिविषयति उपकारद्वारेण । यो हि यस्मा उपकरोति स तेन
सम्यक् दष्टो भवति । योऽयमेवमुपकारप्रवृत्तः कृत्स्न यत्सोकस्य तस्मै मित्राय
हव्यं घृतवत् घृतोन्मिश्रं जुहोत जुहुत हे मनुष्याः ।

१ क. ए. घ. च. झ. ट. ठ. ड. गेइने. ५ क. ए. ८ (१७) ; ठ.
भवति । इति तिङ्शतशतभाष्ये ४ ध्याये २१ खण्डः ; ड °वति । इति निरुक्त-
भाष्ये २१ खण्डः ; २. झ. ट. ज. भ्रुवो नाम्न १ ह. घ ध. ठ. ड. °नि
ब्रुवां. ४ क. ख. ९ (२७) त. द. ९. ५ ग. इति । वि° ; ठ. ड.
यातयतीति । नि°. ६ ग. च. ज. ' धोन. । आयातयति'. ७ क. ख. घ. झ. ट.
२८ ठ. ड. अनिदिगभिषेष्ट अनिदिग°. ८ ग. च. ज. झ. ' जुहुत ' नादि.

मयो गर्भोऽस्येति वा गर्भो गृभेर्गुणात्यर्थे गिरत्यनर्यानिति वा
 यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्णन्तेऽथ गर्भो भवति
 समभवदग्रे भूतस्य जातः पतिरेको बभूव स धारयति पृथिवीं च
 दिवं च कस्मै देवाय हविषा विधेमोति व्याख्यातं विधतिर्दान-
 ५ कर्मा सरस्वान् व्याख्यातस्तस्यैषा भवति ॥ २२ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे इति । हिरण्यगर्भस्यैवार्थम् । सर्वात्मक-
 चात्तदार्पणेऽपि मन्त्रस्य प्रथमपुरुषयोगोऽभिप्रतिषिद्धः । अथवा । परस्य

१० कः ब्रह्मणो वा हिरण्यगर्भावस्था प्रतिकल्पमाविर्भाव-
 तिरोभाववर्मिणी बुद्धिपूर्विका नित्या तस्यां च

नित्यो मन्त्रोऽविवक्षिताभिधानाभिधातृक आश्रयमात्रेणाभिधातारमुदाय
 प्रवर्तमानोऽनुवक्तृत्वविवक्षितः पुरुषयोगः । कृतकवे हि नियमत
 एवोत्तमपुरुषयोगो मन्त्रस्याभविष्यत् । भूतस्य अस्य उत्पन्नस्य स्थावरजं-
 गमस्य जगतो हिरण्यगर्भः एव अग्रे समवर्तत समभवत् उदपद्यत ।

१५ तमुत्पन्नमन्विदं सर्वभुषेदे । स च पुनरग्रे जातः संस्तस्य पञ्च द्रुतस्य
 एकः असपन्नः अद्वितीयः पतिः पाता रक्षिता ईश्वरः स्वतन्त्र

आसीत् । कथमिति । म द ध र । यतः पतिः अतः स एव दाधार स एव
 धारयत्यस्येऽपि । किमिति । पृथिवीमुत द्याम् । पृथिवीम् अन्तरिक्षम्
 अपि च द्यां द्युलोकम् । अपि च इमा भूमिम् अन्तरमनुप्रविष्टो
 १० वहिध वर्षाद्युत्तरेण । योऽयमेवभारैः अतिमहानुभावः कः तस्मादस्मै

कस्मै काय देवाय हविषा विधेम हविर्दद्याः । अथवा । अनेन चरुलक्षणेना-
 ज्वलक्षणेन वा हविषा त वय परिवरेम । ' विधतिर्दानकर्मा ' इति ।
 तस्माद्द्वि. शब्दन्तिरेव ज्यायमी । शनकृष्णार्जस्य पुरोनुवाक्या (मैत्रा०
 व० २ । २ । २) । अथरथ प्राजापत्ये परावनेने मन्त्रेण (मैत्रा०
 २५ स० ३ । १२ । १६) ॥

अथ हिरण्यगर्भः कस्मत् । स हि ' हिरण्यमयो ' विज्ञानमयो
 ' गर्भः ' सर्वभूतानां तत्कृत रत्नप्रकृतस्य । हिरण्यमयधन्वी

१ क म १० (२३), त ट. १०. २ ग डंति । हिं. ३ क. म. घ.
 च. ह. २. 'मान अ', ग. ज. 'वपय अ'. ४ च. ठ. ह. 'एतस्य'. ५ ग.
 ३०. 'वधेदे', च. 'वडा अनेन. ६ ग. च. ज. 'हि' नास्ति.

गर्भवेति समनाधिकरणः । ' हिरण्यमयो गर्भोऽस्येति वा ' ।
 शरीरोद्भियमनोबुद्धिभवेनैतमपेक्ष्य परमात्मानं च ' विज्ञानप्रज्ञाशमात्रसत्त्वं
 सर्वविशेषहारित्वाद्विरण्यमपेक्ष्य ' तदप्रकृतित्वं च क्षेत्रज्ञस्यापेक्ष्य सोऽस्य
 हिरण्ययो हिरण्यप्रकृतित्वं इति हिरण्यगर्भः । अथ ' गर्भः ' कस्मात् ।
 ' गर्भः ' धातोः गृणात्यर्थे वर्तमानस्य । स्तुत्यो हि गर्भः । ' गिरत्यन-
 र्थानिति वा ' । सर्वाननर्थानसौ गिरति नाशयति । अथ पुनरयं स्त्रीगर्भः

स्त्रीगर्भस्य भीमांसा कस्मादिति । यत आह । ' यदा हि स्त्री गुणान्
 गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्तेऽथ गर्भो भवति ' ।
 स्रवयवः स्त्रीरक्तम् । तद्यदासौ पुरुषान्छुक्त्वावस्थान् गुणान् गृह्णाति
 आत्मानं संपृणक्ति अस्थिस्रायुमज्जनः । गुणाश्चास्या रक्तावस्थाः त्वङ्मांस-
 सशोणितानि पौरुषेण शुक्रण गृह्यन्ते । तथैवमितरेतरकोशग्रहणव्यति-
 पन्ने रक्तशुक्रयोः स्त्रीगर्भो भवति । अथवा । यदा हि स्त्री गुणान्
 गृह्णाति पुरुषस्य प्रेम्णा गुणाश्चास्याः प्रेम्णा पुरुषेण गृह्यन्ते तदितरेतरा-
 नुरागात् प्रमोदः । प्रमुदितयोः संपर्काद्गर्भग्रहणं च । तदेवं गर्भग्रहणहे-
 तुकोऽयमिति प्रहेर्गर्भः ।

' सरस्वान् (१५) व्याख्यातः ' (निरु० २ । २४) सर-
 खया । केवलं लिङ्गकृतो विदोषः । ' तस्मैवा भवति ' ॥ २३ ॥

ये ते सरस्व ऊर्ध्वयो मधुमन्तो घृतश्रुतः । तेभिर्नोऽविता भव
 (ऋ० सं० ७ । ९६ । ५) ॥ इति सा निगदव्याख्याता ॥ २४ ॥

दशमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

सरस्वान् ये ते सरस्व ऊर्ध्व इति । वसिष्ठस्यार्थम् । सरस्वते
 हविषि विनिगोमः (आश्व० श्रौ० ३ । ८) । हे

१ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'रण्यगर्भमे' । २ ग. ज. 'गृहेर्वातोऽविता' । २५
 ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. सर्वस्य स्तुत्यो. ४ क. ख. १० (२०) ; ड. 'वति ।
 इति निरुक्तटीकावस्तुषाध्याये २३ खण्डः ; ड. 'वति । इति निरुक्तटीकायामुत्तरपटके
 २४ (?) खण्डः ; घ. झ. ट. ज. ऊँको नास्ति. ५ क. ख. ११ (२०) ; त.
 द. ११. ६ ड. थ. थ. 'दशः पदः' नास्ति; छ न. 'दशमाध्यायस्य'
 नास्ति, द. इति नेदके उत्तरार्धस्य दशमा. ७ ग इति ' १ ' । २०

भगवन् सरस्वन् ये ते तत्र ऊर्मयो वैरुणोऽपि नभो मेघैश्छादयसि मधु-
मन्त उदकवन्तो घृतश्रुतो घृतवन्तः उदकप्रक्षराः तेभिः तैः त्वमभारुम्
अविता तर्पयिता भवेत्येतदाशास्महे ॥ २४ ॥

पञ्चदशस्य द्वितीयः पादः ।

५

तृतीयः पादः ।

विश्वकर्मा सर्वस्य कर्ता तस्यैषा भवति ॥ २५ ॥

- ‘ विद्वकर्मा ’ (१६) इत्यर्थः । स कस्मात् । ‘ सर्वस्य कर्ता ’ ।
 १० विश्वकर्मा कस्मात् य वदिद किञ्चिद्धर्त कार्ष्णमार्ण क्रियमाणं चै
 तस्य सर्वस्य कर्ता । वाय्ना मकारसर्वचेष्टानां
 मध्यमः । स कथं सर्वं करोति । पार्थिवान् धृत् तेजसा परिपच्यमानौ
 वायु-र्युहेन विचरन् सर्पभानानुप्रवेशी सर्वमवमत्यद्भुतमचित्यमकृतात्मभि-
 २५ स कथं मध्यमः र्जगत्करोतीति मध्यमः । विद्वकर्माद्विद्वकर्मा ।
 विज्ञायते हि वैश्वकर्मेण हविरधिकृत्य साक-
 भेषु । ‘ अत्रैव वैश्वकर्मागो विद्वानि मे कर्माणि कृताभ्यासन्निति विद्व-
 कर्मा रि सोऽभवत् ’ (मेत्रा० स० १ । १० । १६) इति ।
 भवति चोदकसम्पन्न मयमल्लिङ्ग विद्वकर्माणमधिकृत्य वैश्वकर्मेण सूक्ते
 ‘ तमिद्वानं प्रथम दध्न र्जोपः ’ (ऋ० स० १० । ८२ । ६) इति ।
 ३० विपुत्रेति च वैश्वकर्मेण प्रथमविकृत्य विज्ञायते हि ‘ इन्द्रो वै वृत्रम-
 हन्त द्धम ले कमम्भजयदम् ३३ ३३० नाम्भजस्त विश्वकर्मा भूताभ्य-

जयत्' (मैत्रा० सं० ४ । ८ । १०) इति । तस्यैव ग्रहस्य पुरोरुच-
मधिकृत्य विज्ञायते ' यद्यैन्द्रो वैश्वकर्माणो विद्यात्तत्रैव गृहीयात् ' इति ।
स एष एवमादिभ्यो लक्षणेभ्यः सर्वस्थानानुभाविचेऽपि सति विशेषतो
मध्यम इति मध्यमस्थाने समात्रातः । ' तस्यैवा भवति ' ॥ २५ ॥

५

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत्त संदृक् ।
तेषामिष्टानि समिपा मंदन्ति यत्रां सप्तऋषीन्पर एकमाहुः (ऋ०
सं० १० । ८२ । २) ॥ विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च
विधाता च परमश्च संदृष्टा भूतानां तेषामिष्टानि वा
क्रान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा १०
नतानि वाद्भिः सह संमोदन्ते यत्रेतानि सप्तऋषीणानि
ज्योतीषि तेभ्यः पर आदित्यस्तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यादिदै-
वतमथाध्यात्मं विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च विधाता
च परमश्च संदर्शयितेन्द्रियाणामेषामिष्टानि वा क्रान्तानि वा
क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वाद्भिः सह संमो- १५
दन्ते यत्रेमानि सप्तऋषीणानीन्द्रियाण्येभ्यः पर आत्मा तान्येत-
स्मिन्नेकं भवन्तीत्यात्मगतिमाचष्टे तत्रेतिहासमाचक्षते विश्वकर्मा
भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवांचकार स आत्मानमप्य-
न्ततो जुहवांचकार तदभिवादिन्येपरम्वति । य इमा विश्वा
भुक्तानि, चुद्धित्ति, वस्त्रपेज्जर, भूयस्ते, निर्तन्नात् ॥ २६ ॥ २०

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया इति । भौवनस्य विश्वकर्माणः प्रजापते-
रार्षम् । अग्नौ वैश्वकर्माणाम्नां सुक्ताम्नां 'घोडग-
गृहीतं हृषते तत्र विनियोगः (मैत्रा० सं० ३ ।

१ क. ख. घ. ङ. ट. ड. ढ. 'यते हि. २ क. ख. १ (२५); ठ. ड.
'वति । इति निरुक्तभाष्ये ४ ध्याये २५ खण्डः. २ द. सप्तऋणानि. ४ द. 'तीष्ये-
तेभ्यः. ५ छ. त. द. तान्यास्मि'. ६ क. ल. २(२६); त. द. २. ७ ग. इति'.
भी'; ठ. ड. विमना इति । भी'.

३।७॥ २।१०।२) । विश्वकर्मा विमनाः विभूतमनाः विभूतप्र-
 ज्ञानः । सर्वत्राप्रतिहतमस्य प्रेक्षणम् । किं प्रज्ञान-
 मन्त्रस्याधिदैवतं व्याख्यानम् । मेव केवलम् । नेत्युच्यते । आदिहायाः । अप्य-
 सात्रात्मना विहायाः । अत्मानापि सर्वप्रकारं

५ महान् । महत्त्वाच्च व्याप्तौ एवं सर्वप्रकारं सर्वस्य जगतः । यत एव च महान्
 अत एव धाता उत्पादयिता सर्वभूतानाम् । उत्पाय च विधाता जीवनस्य ।
 जीवतां च साध्वसाधुषु कर्मसु प्रवर्तमानानां परमोत्तमं संदृक् परमः प्रकृष्टः
 अव्यवधानेन संद्रेष्टा सम्यक् प्रविभागेन द्रष्टा । साध्वसाधुप्रविभागदृष्टानां

१० तेषां च भूतानां यानि इष्टानि प्रियाणि तस्य विश्वकर्मणो दैवी संपदमभि-
 संपन्नानि । काम्बर्धयो वा इपिः । यान्यभीष्टितानि तस्य विश्वकर्मणः ।
 मत्तानि वा अभिमत्तानि वा । तस्य विश्वकर्मणः नत्तानि

वा प्रह्वीभूतानि तं विश्वकर्माणं प्रति । तत्परिज्ञानश्रद्धोपासना-
 भावनाप्रक्षपितदुरितानि तेन सहैकीभूतानि विश्वकर्मणा आधिदैविकमा-
 त्मानमभिसंपन्नानि । समिषा मदन्ति । इषा उदकेन अद्भिः परियुताभिः

१५ सुसूक्ष्माभिः सह तेन कर्मणा समानम् अविशेषेण मादन्ते । क । यत्रा
 सततः सततः सततः एकमाहुः । यत्रैतानि सर्वैककर्मणानि रसानामाकर्षणानि
 द्रष्टृणि वा रदमीन् ज्योतीषि एकं भवन्ति अविभागमुपगच्छन्ति । मण्डले
 ह्येतेषामविभागः । किं तत्रैव । नेत्युच्यते । यत्र पर एकमाहुः । क च पुनः
 पर एकमाहुः । मण्डलाधिष्ठातारि योऽसौ यज्ञज्ञानतपसां भोक्ता 'हिर-

२० ष्यश्मश्रुहिरण्यकेश आ प्रणखात्सर्व एव सुवर्णः' (छा० उ० १।६
 ६) इति विज्ञायते । एकमेव यमाहुर्देवतासतत्त्वविदः । ' इत्यविदैवतम् ' ।
 देवतामधिकृत्य मन्त्रस्य व्याख्यानमधिदैवतम् ।

' अधाध्यात्मम् ' । आत्मानमधिकृत्य विश्वकर्मणो व्याख्यानमधाध्यात्मम् ।
 कः पुनरयमात्मा । विज्ञानसतत्त्वमात्रं सविद्येपविज्ञानप्रसवधीजं यद्रेकदेवाः

१ ग. च. ज. ज्ञानं. २ ग. ज. व्याप्नोति. ३ क. ख. घ. झ. ट. 'च' नास्ति।
 च. 'एव—'। ४ ग. ज. संद्रेष्टा. ५ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. यानि यानि°.
 ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. कान्तवर्धो. ७ क. ख. घ. ट. सतर्षणा°. ८ ग.
 ९ ज. 'ज्ञानि इ वा; घ. दृष्टि. १ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. सर्ववि°.

अभ्युत्ता इव सन्तस्ततः कथमप्यविद्याव्यवधानादन्यत्रमिव विभ्रत. प्रतिश-
 रीरं शास्त्रेण साद्गुणं यावच्छिष्यते । सोऽय-
 भ्रमन एवत्नेऽपि तस्याधिदैवाभ्यामे इति द्वे रूपे
 त्तपाधिकौम्नुभन्न् हिरण्यगर्भात्स्थामधिदैमि-
 त्युच्यते । अथ पुनरन्यः शरीरावस्थामु वर्तमान-
 स्तदाधिदैवतमनपेक्ष्य प्रतिशरीरं^२ बद्धिश्चकर्मभावमनुभवन् मन्त्रेण व्याह्या-
 यते तदध्यात्ममस्य ।

विश्वकर्मा सर्वस्य कर्ता परमात्मा प्रतिशरीरं क्षेत्रज्ञत्वेन वर्तमानस्त-
 मन्त्रस्याध्यात्मं चकृतवत्त्वाद्योः क्रियापरिहरद्वेष । न केवलं
 ज्याह्यात्मन् सर्वक्रियाशक्तिमान् । किं तर्हि । धिमन्तश्च
 विभूतमनाः सर्वप्रज्ञातः सर्वतोमुखाभिः विशेष-
 विज्ञानशक्तिभिः । आद्विहायाः । अपि च विहाया महान् । विज्ञायते
 द्वि 'स वा एव महानात्मा खञ्जस्ये वसुदानः' (बृह० उ० ४ ।
 ४ । २४) इति । न केवलं महान् । किं तर्हि । धाता स्रष्टा स्वशक्तिधि-
 क्षेपस्य । विधाता च तद्योग्याना विषयाणास् । विक्षितविहिताना च
 तेपा परमः प्रकृष्टः इन्द्रियाणा संदर्शयित्वा त इत्यन्वादिपप्रतिपयित्वंभ-
 स्वेन्द्रियाणा च तदधिष्ठित्वा प्रतिविषयमालोकसामर्थ्योपजनात् । तस्य
 विश्वकर्मणः परमात्मनः तेष्व स्वशक्तिविक्षेपी क्षेत्रज्ञविभूतानां यानि
 इष्टानि पूर्वन्तरमात्मज्ञानप्रदोपासनाध्यायनाप्रकृषितद्वुरितानि तानि इषा
 अजेव सह भोदन्वे तृष्यन्ति । क । यत्र सत्तत्तत्परीन्तरेमानि सत्तत्तत्परी-
 णानि इन्द्रियाणि द्रष्टृणि इन्द्रियाणि अयोर्तापि एकमाहुः । क । बुद्धौ ।
 तस्यमपि ह्येतेषामेकत्वमस्ति । किं तत्रैव । जेत्युच्यते । पर एकमाहुः ।
 न यतः परस्परमस्ति तस्मिन्परे विश्वकर्मणि यदन्नं शक्तिमानं यदुपवि-
 ष्ठमात्परमात्मा निव्यतृप्तस्तेनात्मेन परमात्मनि तद्विज्ञानोपासनाच्चाद्वाव्यमु-

१ क. ख. ग. अ. घ. ङ. च. छ. ड. ढ. 'विशेषेण विशा', च 'विक्षेपविज्ञा' २ ।
 षेण २ क. ख. च. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'विष्कारमनु'. ३ क. ख. घ. ङ. ट. ठ.
 ड. 'शरीर क्षेत्रज्ञत्वेन य'. ४ ग. च. ज. विभूतप्रज्ञात. ५ क. ख. घ. ङ.
 ट. ठ. ड. उक्तृष्टः. ६ ग. च. ज. 'क्षेपक्षेप'. ७ ग. च. ज. 'तानि' चादि.
 ८ ग. अ. 'स्मरिष्यन्ति, च. सत्तत्तत्परीणानि' रि, ट. सत्तत्तत्परीणानि' रि, घ. ङ.
 सत्तत्तत्परीणानि. ९ ग. च. ज. द्रष्टृणि, ठ ड द्रष्टृणि. १० क. ख. घ. ङ. ट. ठ.
 ड. 'विष्कारमनु'. ११ क. ख. च. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'विष्कारमनु'.

पुगतास्तेन सहभूता भोदस्ते ; निरक्षनापिपासा नित्यतृप्ता अतीतशोकमो-
हजरासृथव आःमिद इत्येवमाहुः सतस्त्रदशो ब्राह्मणाः । यथा चानुपक्षी-
णस्वधांशक्तिः नित्यतृप्तं सर्वभावपरं तत्परं ब्रह्म यदात्मविदः प्रतिपद्यन्ते तथा
पुराणसूक्तेऽपि परमेष्ठिन आर्षं मन्त्रो दर्शयति । ' स्वधर्या तदेकं तस्मा-
द्भान्यन्न परः किं चनासं ' (ऋ० सं० १० । १२९ । २ ॥ निरु०
७ । ३) इति । एवं सर्वत्र संभवो यावद्विषयो मन्त्राणां योऽय
इत्युपप्रदर्शनायोभयथा मन्त्रो वर्णितः ।

' इत्यात्मगतिमाचष्टे ' । अमुना प्रकारेण वर्णमान् । एष मन्त्र आत्म-
गतिमाचष्टे प्रख्यापयति । यथा चैयम.त्मगतिवाचिका ऋक् ' तत्र '

१० विश्वकर्मण आत्म- एतस्मिन्नर्थे ' इतिहासमाचक्षते ' आत्मविद
यागे इतिहासः इतिवृत्तं परकृत्यर्थवादरूपेण । यः कश्चिदाध्या-
त्मिक अधिदैविक आधिभौतिको वार्थ आख्या-

यते दिष्टवैदितार्थावभासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते । स पुनरयमिति-
हासः सर्वप्रकारेण नित्यमभिवक्षितवर्धस्तदर्थप्रतिपत्तृगामुपदेशपरत्वात् ।

१५ ' विश्वकर्मा ह्ये भोवनः ' । यथोदितमिदं वैदिकं कर्म संबन्धदर्शनेन यः
सर्वं करोति सर्वात्मकावात्सर्वस्य वैश्वकर्मणीमवस्थामात्मन्युत्तरीय स यज-
मानो विश्वकर्मा भुवनानां भूतानामात्मनि होता भूतेषु चामानम् ।
तथाहि विज्ञायते ' हन्ताहं भूतेष्वामानं जुह्वानि भूतानि चामानि '

२० विदुषो दर्शनकृता सर्वमेधसंपत्सर्वकर्मणु । विज्ञायते ह्यग्निहोत्रम-

विदुषः सर्वकर्मणु धिक्त्वा ' स यन्सायं जुहोत्यग्निमेव तदनेन
सर्वमेधः सम्पश्यनेन सर्वेणादित्ये जुहोत्यग्निमेवदं सर्वमनु सर्वं
संपश्यते तद्यथानेन सकृत्सर्वं तेनेष्ट्वा लोकं जयते
तापदु ह प्रातराहुत्या लोकं जयते यस्पैते आहुती

२५ ' नै वदं पाषण्डिधमाप्नोति स हि वहनि च नै वद्वान्येतयोर्देवतयोरन्यतरा-
मनु ' इति । नै वदमि-यनन्तमुच्यते । तदर्थं यस्मिन् कस्मिन्-

१ ग. च. ज. संभयो. २ ठ. ट. ' भौतिकमेवार्थं आख्यापयते '. ३ ग. च. ज.
दिष्णुदि. ४ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. ' कारो हि नि '. ५ ठ. ड. ' इ '
नास्ति. ६ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. ' इतः. ७ ग. च. ज. नवर्द्धया जीर्ण
३० नामोति. ८ ग. च. ज. ' च निवद्धा '. ९ ग. च. ज. न निवद्धं.

धिमेधे कर्मणि अग्निहोत्रादौ सर्वः सर्वेण सर्वस्मिन् सर्वस्य सर्वाथं
दुःखात्मानं सर्वमेव भवतीति समासार्थः । स एव सर्वस्य विदुषः सर्वः सर्व-
दुःखज्ञः सर्वमावाप संपद्यते दर्शनतः । यो हीतरः सर्वमेधो निरुद्धसंज्ञोऽ-
हीनस्तद्यथा श्रीण्याश्वमेधिकानि पञ्च पौरुषमेधिकानिवाजयेयातीर्थानौ चेति

निरुद्धसंज्ञासर्वमे-
धादयं सर्वमेधो भिन्नः

तत्र 'स आत्मानमप्यन्ततो जुह्वांचकार' इत्ये-
तदात्महोमस्यैविधानान्नोपपद्यते । दर्शनतस्तु
सर्वमुपपद्यते । 'सर्वभूतानि विशेषान् सामान्या-

त्मनि जुहाव पश्यन् सामान्यं चात्मानं विशेषे जुहाव पश्यन् सर्वकर्मसु
स्वयमेव । अयमात्मयार्जात्युच्यते । यमधिकृत्य पृष्ठं 'तदाहुः । अम-
यार्जाश्रेया ३ न् देवयार्जा ३ (शत० ब्रा० ११ । २ । २ । १३) इति । १०

यथा चैतदेवमधिदेवविदे आत्मवित् श्रेयान्यमधिकृत्य 'विश्वकर्मा विमना
आदिहायाः' इतीयमृगात्मगत्या निरुक्ता तस्यैवार्थेयेतिहासोक्तस्याभिवा-
दिना अभिमुख्येन वादिनी 'एषा ऋमंवाति' । यर्था । 'य इमा'

विदुषः सर्वमेध-
संपदस्य प्रपृचि दृश्यते

विश्वा भुवनानि जुह्वापिहता न्यसोर्दिधितानि ।
स आशिषा द्रावणमिच्छमानः प्रथमं उदेवरी
आ विश्वे (ऋ० स० १० । ८१ । १) ॥ १५

अनेकेषां समानप्रयोगदर्शनेनाधिकारतया यो नामं कथितं किमिति । एवं
न्यसोर्दत्त्वं एवं कर्मण्यद्गमार्थमुपजगाम । कथम् । ऋषित्वेन होता द्रव्यगुण-
कर्मदेवतायाथार्थद्रष्टृत्वेन । विश्वा भुवनानि जुह्वात् सर्वभूतान्यमुना सर्व-
मेधसंपदर्शनप्रक्रमेण जुह्वात् हावयन् । तस्य किमिति । स आशिषा । २०
आशीः प्रार्थना कामः प्रयोगदर्शनहेतुः सर्वमिदमहं स्यामिति । येन प्रथ-
माणः सर्वकर्मसु सर्वमेधं सर्वप्राप्तये प्रायुङ्क्त द्रविणमिच्छमानः प्रयोगजे-
नितापूर्वकं सर्वभावमिच्छन् । तत्किं नोप । नैत्युच्यते । आप । कथमिति ।

१ ग. ज. भित्तर्वे कं; च. भित्तिले. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'मेवं
भं. ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. इति । स एवदा. ४ क. ख. घ. च. झ.
ट. ठ. ड. 'मस्य वि'. ५ ग. ज. 'यते । भूना'. ६ ग. यथा. ७ क. ख.
घ. ज. घ. झ. ट. जु ददिति । अने; ग. जु ददिति । अने. ८ ग. च. ज.
'भव्यमु'. ९ क. ख. घ. ट. ठ. ड. अहावयत्; ग. ज. हावयत्; झ. 'हावयन्'
नास्ति. १० ग. च. झ. 'तिक्रमाप.

प्रथमच्छत् । प्रथमोऽप्रजत्वात् । प्रजापतिभावेन मुख्यस्थै द्यादपिता यतः
संपिदे तथा सन् अवरान् पश्चादुत्पन्नानस्मदादीन् विशेषान् आविवेश
व्याप्तवान् व्याप । यस्यैवं प्रयोगफलयोर्गुत्तिः स नः पिता जनिता
सोऽस्माकं पिता पाता रक्षिता चेत्येवं विजानीमः । अतस्ताद्भाव्यमभ्यु-
धीमहीति ।

यथा चैतदेवं नान्यथेति तथेयम् ' उत्तरा ऋगभ्यसे ' बहुतराय
' निर्वचनाय ' ॥ २६ ॥

विश्वकर्मन्द्दविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम् ।
१० मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु (ऋ० सं०
१० । ८१ । ६) ॥ विश्वकर्मन्द्दविषा वर्धयमानः स्वयं यजस्व
पृथिवीं च दिवं च मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनाः सपत्ना इहास्माकं
मघवा सूरिरस्तु श्रद्धाता तार्क्ष्यस्त्वष्ट्रा व्याख्यातस्तीर्णोऽन्तरिक्षे
क्षियति तूर्णमर्थं रक्षस्वश्रोतेषां तस्यैषा भवति ॥ २७ ॥

विश्वकर्मन्द्दविषा वावृधान इति । प्रयोगावस्थां फलवस्थां च विश्व-
विश्वकर्मदेवता कर्मणः प्रतीत्योच्यते । हे विश्वकर्मन् प्रयोगाव-
अन्या ऋक् स्थित त्वमुत्पसे । अनेन इविषा सर्वमेधदर्शन-
संपदारियुक्तेन त्वं वर्धमानो विश्वकर्मत्वमापय-
१० मानस्तत्कालविपरिणामकाले स्वयं यजस्व स्वयं संगच्छस्व व्याप्नुहि
पृथिवीं च दिवं च । सर्वव्यापी भव । अपि च । तथैव तस्मिन् दर्शनकृते
गहिम्नि मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनासः । मोहमुपगच्छन्तु अभितः सर्वतस्ते
जना ये त्वदुपासनापराङ्मुखास्तत्र सपत्नाः समानं पतित्वमिच्छन्ति ।

२ म् च. ज. मुख्यत्वाद्. ५ क. स. प. स. ट. न. द. पाता जनपिता ९.
३ क. स. २ (२६); ठ. द. नाय । इति निष्कमाधे चतुर्थाध्याये ५ इति-
तिः (ठ. २६) तत्पदः; इत्येवञ्चो नास्ति. ४ छ. त. द. जनासः. ५ क. स.
छ. त. द. तीर्णे अन्त. ६ क. स. ३ (२७); त. द. ३. ७ ट. द. इति १ ।
१० म. इति । १० क. स. प. स. ट. तथेनस्मिन्. १० ग. च. क.
११ ' वापय ' ११ क. म. प. स. ट. द. द. नाः सन्तराय.

अथ पुनः इह त्वदर्शनोपासनाकर्मणि वर्तमानानां भवेत् मघवा सर्वघने-
शानः । सूरः मेघावा सर्वत्राप्रतिहतप्रज्ञानः प्रहाता विशेषतोऽस्माकम-
स्त्रिव्येतदाशास्महे ।

त्वष्टा विश्वकर्मेत्यधिभूतप्रधानाः पुराणविदः । तथापि कलाकौ-
शल्लादिसर्वज्ञानहेतुको नामपतियम् इत्यविप्रतिपिद्धम् । एवं, सर्वास्तु
देवतास्तु ।

‘ तार्क्ष्यः ’ (१७) इति वक्तव्यम् । स पुनरेव ‘ त्वष्टा व्याख्यातः ’ ।

तार्क्ष्यः कस्मात् तद्यथा । ‘ तूर्णमश्रुते ’ इत्येवमादि (निरु०
८ । १३) । अथवा ‘ तूर्णे अन्तरिक्षे ’

सर्वतो गते ‘ क्षियति ’ निवसति । अथवा । ‘ तूर्णम् ’ उदकालयं
‘ रक्षत्यश्रुते वा ’ । अर्थविकल्पेन तूर्णशब्दात्पूर्वपदं रक्षतेरश्रोतेर्नोत्तरपदम् ।
‘ तस्मैवा भवति ’ ॥ २७ ॥

त्यस्य पु वाजिनं देवजुतं सहावानं तरुतारं रयानाम् । अरिष्ट-
नेभिं पृतनार्जमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम (ऋ० सं० १० ।
१७८ । १) ॥ सं भृशमन्नवन्तं जूतिर्गतिः प्रीतिर्वा देवजुतं देव-
गंतं देवप्रीतिं वा सहस्वन्तं तारयितारं रयानामरिष्टनेभिं पृतनाजि-
तमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिह ह्ययेमेति कमन्यं मध्यामादेवमवश्यैत्त-
स्यैवापरा भवति ॥ २८ ॥

स्यम् पु वाजिनमिति । अरिष्टनेभोर्यन् । विपुवति निष्केवलने
तार्क्ष्यः तस्यते । ‘ सद्यधित् ’ (ऋ० सं० १० ।
१७८ । ३) इति च । यस्तार्क्ष्यो वाजी धेज-
नयान् मयदाता वा पेश्यो बलवान् वा सं देवजुतं देवैर्गतं परत्येन
ज्ञातं वा परोऽयमस्माकमिति । देवप्रीतं देवैर्वा समानप्रीतम् । सहावानं सहे

१ ग. घ. ज. भंश. २ क. ख. ३ (२७); ठ. ड. ० ति । इति निरुक्तभाष्ये
उत्तरपदके अतुर्थाप्याये (ठ. ४ प्याये) २७ खण्डः; ग. घ. वर्जमितोऽप्यहो
नास्ति. ३ उ. द. ० बक्षत्. ४ क. ख. ४ (२८); त. द. ४. ५ ग. ० मिति ।
अ. ६ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. ‘ वा ’ नास्ति.

बलं तेन तद्वन्तम् । एतदेव मध्यमलिङ्गम् । तरुतारं तारयितारं रथानां
रंहितृणां भूतानाम् । गतिमतां गमयितारमित्यर्थो बलहेतुकत्वाद्गमनस्य ।
तमेवमादिगुणयुक्तम् अरिष्टनेभिं केनचिदध्यप्रतिहतवज्रप्रहरणम् ।
नेमिशिखि वज्रनाम । पृतनानां जेतारम् । आशुं शीघ्रं स्वस्तये आत्मनः
५ स्वरस्ययनाय सुष्ठु वयमेतस्मिन्कर्मण्यवाह्यामहे ।

‘ तस्यैवा परा भवति ’ । सा पुनः किमर्थम् । बलकृतिरूपप्रदर्शिता ।
वर्षकर्मोपप्रदर्शयतेऽनया । सत्यामपि हि बलकृतौ पक्षिराजे गरुत्मनि
संदेहोऽसावपि बलवांश्च तार्क्ष्यनामा च । वर्षकर्म त्वसमानं तेनास्य । अत-
थोक्तमेतदेव विचारास्पदमपेक्ष्य ‘ कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्येत् ’ इति ॥ २८ ॥

१०

सद्यश्चिद्यः शवसा पञ्च कृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषापस्ततानं ।
सहस्रसाः शतसा अस्य रहिर्न स्मां वरन्ते युवति न शर्याम्
(ऋ० सं० १.० । १.७८ । ३.) ॥ सद्योऽपि यः शवसा बलेन
तनोत्यपः सूर्य इव ज्योतिषा पञ्च मनुष्यजातानि सहस्रसानिनीं
१५ शतसानिन्यस्य सा गतिर्न स्मैनां वारयन्ति प्रयुवतीमिव शरमयी-
भिर्धु मनुष्यमन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वैधकर्मणो वा मन्व-
न्त्यस्मादिषवस्तस्यैवा भवति ॥ २९ ॥

सद्यश्चिद्यः शवसा पञ्च कृष्टीरिति । सद्योऽपि यस्ताक्ष्यो बलेन तनोत्यपो
२० तार्क्ष्य एव वर्षभावेन । ‘ सद्यः ’ शब्दो लक्षणायांऽय इवः
परस्मैः परस्परपरि चोति । ‘ चित् ’ इत्यप्यर्थे ।
न कदाचिदप्यन्यः सर्षदा तार्क्ष्य एवेति ! कं प्रत्यस्तनोति । पञ्च कृष्टीः

१ ग. व. ज. °वक्षत्. २ क. ख. ४ (२८); ड. इति । इति निरु-
क्तभाष्ये ३ ध्याये २८ खण्डः; ड. °इति । इति निरुक्तटीकायामुत्तरखण्डे चतुर्था-
ध्याये ६८ खण्डः, ग. च वर्जमितरेष्वद्वौ नास्ति. ३ छ. त. द. ‘वधकर्मणो’
नास्ति. ४ क. ख. मन्वु त्वस्मां; छ. त. द. ड. ह. मन्वुत्यस्मां. ५ क. ख.
५ (२२); त. द. ५. ६ ड. ह. °श्चिय इति. ७ ग. ‘रिति । स. ८ ग. ज.
९८ श्वः वयः श्वः पत्यां; च. श्वः वयपत्यां. ९ क. ख. च. ड. ह. किं.

पञ्च मनुष्यजातानि प्रति ब्राह्मणप्रमुखाः नृपादपञ्चमान्त्राणि प्रति । तदनुग्रहपूर्वकत्वात्सर्गलोकांशुग्रहस्य कृष्टिग्रहणेन तद्विवक्षा । कथम् । सूर्य इव ज्योतिषा । यथा सूर्यो ज्योतिः प्रकाशं लोकानुग्रहाय तनोति तथा तार्क्ष्यो अपस्तनोति । यथा हरिषा त्रिधेमेति नम्यते तत्र कश्चै देवायेति संप्रदानश्रुतेः संप्रदानवैधुर्षाय (निरु० १० । २३) एवमिहाप्युपमानो प्रभेदकारकसम्प्रापैधुर्षाय ज्योतिरिति नम्यते । कस्मात्पुनरयमपस्ततानेति । इतो यस्मत् सहस्रंसाः शतस्रा अस्य राहौ । बहूश्च बहुवराश्च प्रकारान्मेघविदारणाय भजते अस्य तार्क्ष्यस्य राहौः गतिः । अपि च । एवमसह्यास्य गतिः न स्मा वरन्ते नैव एताम् अस्य वारयन्ति न प्रति बद्धं शक्नुवन्ति क्रेचनान्तिवेगवरात् । कथम् । युगतिं न शयाम् । अतिबलवत्या धनुष्मता मुक्तां शरमयीभित्तुम् । अन्वेन वैन्वेन वैकाशप्रदेशेन प्रतिगिभ्रयन्तीमात्मानम् । य एवमादिगुणयुक्तस्तार्क्ष्यः स इदं नामास्माकं करोत्विति ।

‘ मनुः (१८) मनुष्येः ’ क्रोधार्थस्य दीप्त्यर्थस्य वा ।

मनुः कस्मात् उभयमनुपपद्यते बलवत्त्वान्मध्यमस्य । तस्मैवा भवति ॥ २९ ॥

१ त्वया मन्थो सरथमारुजन्तो हर्षमाणासोऽधृषिता मरुत्वः । तिग्मेपत्र आयुधा संशिशाना अभि प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः (ऋ० सं० १० । ८४ । १) ॥ त्वया मन्थो सरथमारुज रुजन्तो हर्षमाणासोऽधृषिता मरुत्वस्तिग्मेपत्र आयुधानि संशिशयमाना अभिप्रयन्तु नरो अग्निरूपा अग्निकूर्माणः संनद्धाः करचिन इति वा दधिक्रा व्याख्यातस्तस्यैवा भवति ॥ ३० ॥

१ अ. 'भिलक्षेपत्र'. २ ग. अ. चान्धि. ३ ग. अ. पाश. ४ प. अ. ट. ठ. ड. पयिष. ५ क. ख. ५ (१९), ठ. ड. 'वति । इति निरुक्तं काण्डपुत्रसूत्रे । चतुर्थाध्याये (ठ. ४ अध्याये) १९ ल० ४१ । ग. अ. १ मेमितेत्पञ्चो नास्ति. ६ क. ख. ६ (१०), त. ६. ६.

द्वया मन्यो सरथमारुजन्त इति । तपमः पुत्रो मन्वुर्नाम तस्वार्पन् ।

मन्युः श्वेनाजिरादिषु निष्केवल्ये त्रितियोगः (आश्व०
श्रौ० ९।८) । हे भगवन् मन्यो त्वया सरथ-

मेकमेव त्वया सह रथं समाह्वय रुजन्तः परान् रैजन्तः अभिभवन्तः हर्ष-
माणासः तवाश्रयाद्विकला हृष्यन्तः अधृषिताः अनाघर्षिताः परैः अपि
न हे मरुत्वः तिम्रमेव एते अस्मद्योधा आयुधा आयुधानि संशिक्षमानाः
तीक्ष्णानामिषूणामायुधाना च योऽर्थस्तमनुतिष्ठन्तः । भन्दन्त इषुभि-
श्छिन्दन्त आसुधैः । अमुना प्रकारेणैते नरा अस्मन्मुष्या योधा अग्नि-
रूपा भद्रिकर्माणः अग्र्य इवैते सेनामभिभवन्तो यन्त्रिति ।

१० ' दधिक्राः ' (१९) इति वक्तव्यम् । स ' व्याख्यातः ' (निरु० २।२७) । ' दधत्कामति ' इत्येवमादि सर्थं मन्वमे योजयम् ।
' तस्मेपा भवति ॥ ३० ॥

१५ आ दधिक्राः शवसा पञ्च कृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान ।
सहस्रसाः शतसा घ्राज्यर्था पृणक्तु मध्वा समिपा वचांसि (ऋ०
सं० ४।३८।१०) ॥ आतनोति दधिक्राः शवसा वले-
नापः सूर्य इव ज्योतिषा पञ्च मनुष्यजातानि सहस्रसाः शतसा
घात्री वैजनावानर्वरणवान्संपृणक्तु नो मधुनोदकेन वचनानीमा-
नीति मधु धर्मतेधिपरीतस्य सविता सर्वस्य प्रसविता तस्मेपा
१० भवति ॥ ३१ ॥

आ दधिक्राः शवसा पञ्च कृष्टीरिति । वामदेवस्वार्थम् । आतनोति
दधिक्राः सर्वतस्तनोति । कोऽसाविति । दधिक्राः किंन ।
शवसा वलेन । किमातनोति । अपः । क ।
२० पद वृद्धेः पञ्च मनुष्यजातानि पाते । यथम् । सूर्य इव ज्योतिषा ।

१ ठ. ड. मन्यो इति. २ ग. इति । त°. ३ ग. ज. भजन्तः हर्षः । च. ठ.
रु. रुजन्तः हर्षः. ४ म. च. अ. तवाश्रया. ५ क. स. ६ (३०) ड. ' वति ।
इति निरुक्तीकायामुत्तरपदके ४ ध्याये २० २०४. १ ड. ' वति । इति निरुक्-
भाष्ये २० मण्डः. ६ क. रा. ७ (३१) ; त. द. ५. ५ ठ. ड. दधिक्रा इति
२० ८ ग. ' इति ' । पा°.

सहस्रसाः शतसाः बहूनां बहुतराणां चोदकानां समक्ता चाजी वेजनवान्
अर्वा ईरणवान् उदकेरणक्रियायोगी । य एवमादिगुणयुक्तो दधिकाः
सोऽस्माकम् इमानि स्तुतिवक्ष्यानि स्तुतिलक्षणानि वचासि संपृणक्तु मध्वा
मधुना उदकेन । ' मधु धमतेः ' आद्यन्त' विपरीतस्य ' । उदकं
स्तुत्यनन्तरमेव ददात्वित्यर्थः । बलकृतिर्वर्षकर्म चोभयमप्यस्ति तस्मान्मध्यमः ।

‘ सविता (२०) व्याख्यातः ’ ‘ इममेवाग्निं सवितारमाह ’
(निरु० ७ । ३१) इत्यत्र । स पुनरिह वर्षकर्मयोगन्मध्यमः । तस्यैषा
भवति ॥ ३१ ॥

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने संविता चामदंहत् । १०
अश्वमिवाधुक्षुद्धनिमन्तरिक्षमतूर्तं बद्धं संविता समुद्रम् (ऋ० स०
१० । १४९ । १) ॥ सविता यन्त्रैः पृथिवीमरमयदनारम्भणेऽ-
न्तरिक्षे सविता चामदंहदश्वमिवाधुक्षुद्धनिमन्तरिक्षे भेयं बद्धमतूर्तं
चद्धमतूर्णं इति वा तत्ररमाण इति वा सविता समुद्रितारामिति
कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्येदादित्योऽपि सवितोच्यते तथा च ह्यै- १५
ष्यस्तूपे स्तुतोऽर्चन्दिश्यस्तूप ऋषिरिदं मूक्तं प्रोवाच तदभिवा-
दिन्येपरमभवति ॥ ३२ ॥

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादिति । अर्चनामा ह्यैष्यस्तूप ऋषिरुतरा-

याश्च । सविता मध्यमः सर्वबलेशानः । किमिति । २०

यन्त्रैः पृथिवीमरम्णात् । यावद्विक्रिचिद्यन्त्र्यते तत्सर्वं

चलेनैव । यन्त्रिता चेयं पृथिवी निश्चला । न चान्य इन्द्रा-
ङ्गलवान्यन्त्रयितास्ति । तस्मादिन्द्र एवेमां संयच्छन् स्विरामकरोत् ।

‘ रम्णातिः संयमनकर्मा ’ (निरु० १० । ९) इत्युक्तम् । अथवा ।

वर्षेणोपकारेण पृथिवीलोकनिवासिनो धारयति । तदभ्याः संयमनम् । किम- २५

तावदेव । नैत्युच्यते । अस्कम्भने सविता चामदंहत् । एवमप्येतस्मिन्

१ क. ख. ७ (२१), ट. ड. ० वति । इति निरुक्तभाष्ये चतुर्थाध्या० (४.४
ध्याये) ३१ खण्डः; प. ज. वर्जमिनेष्वङ्को वासि. १ छ. त. ० बालम्भनेऽन्तं,
६. ० बालम्भनेऽन्तं. २ छ. त. ट. 'वक्षदा'. ४. क. ख. ८ (३२), त. द.
८. ५ ट. ड. यन्त्रैरिति. ६ ग. ० दिवि । अ. ७ ग. प. ज. आङ्गिम ऋ.
८ ग. च. ज. ० यम्पते. ९ य. ट. कर्षे; ट. ड. कर्षणे.

अस्कम्भने अनारम्भणे अमूर्तेऽन्तारिक्षे यत्र पर्णमपि नाळमवस्थानाय तत्रै-
वमप्यतिगुर्वी सौयणीं चां सविता एव अदंहत स्थिरामकरोत आभूतसंघवात् ।
को हि नाम मध्यमात्सवितुरन्य एतदतिद्वेषकरं कुर्यात् । अपि च ।
अश्वमिवाधुक्षत् । यथाश्वबन्धोऽश्व धनुयादुपावृत्तमनायासेन रजस्तस्माद-
पनेष्यन्नेवं धुनि समुद्रम् उदकवन्धितारं मेघम् अधुक्षत् सविता अर्धुनोत्
अकम्पयत् उदकप्रक्षरणाय । क्व बद्धम् । अतूर्ते एतस्मिन्नन्तरिक्षे अहि-
सिते । अत्ररमाणे वा सर्वगतत्वात् । आकाशे गमनायायोग्ये वा ।
चाश्यात्मनैव विष्टम्य निश्चेष्टं बद्धमिवाधुक्षयः सविता सोऽस्माकमिदं नाम
करोत्विति । समुदिता समुद्रो मेघः ।

१० 'कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्येत्' मेघमधूनोदिति । कुतः संशयः ।

अथ सविता म- अन्योऽपि यस्मान्मध्यमात्सवितोच्यते । यत आह ।
प्यम एव 'आदित्योऽपि सवितोच्यते' इति । यथा
चैतदेव 'तथा' एतस्मिन्नेव 'हिरण्यस्तूपे'

सूक्ते स्तवः हिरण्यस्तूपमिदं सूक्तमिति । कुत एतत् । अत आह ।

१५ इदं हिरण्यस्तूपे 'अर्चन् हिरण्यस्तूप ऋषिरेदं सूक्तं प्रोवाच'
सूक्ते स्पष्टम् इति । अर्चन्ना हिरण्यस्तूपस्तद्रूप तद्व्रतो वा ।
स यथैतत्सूक्तं प्रोवाच 'तदभिवादिन्येपरर्ध्व-

ति' अस्मिन्नेव सूक्ते ॥ ३२ ॥

२० हिरण्यस्तूपः सवितर्यथा त्वाङ्गिरसो जुह्वे वाजे अस्मिन् ।

एवा त्वार्चन्नवसे वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रति जागराहम्
(ऋ० सं० १० । १४९ । ५) ॥ हिरण्यस्तूपो हिरण्यमयः स्तूपो
हिरण्यमयः स्तूपोऽस्येति वा स्तूपः स्त्यायतेः संघातः सवितर्यथा
त्वाङ्गिरसो जुह्वे वाजेऽन्नेऽस्मिन्नेवं त्वार्चन्नवनाय वन्दमानः

२५ सोमस्येवांशुं प्रतिजागर्ष्येदं त्वष्टा व्याख्यातस्तस्यैवा भवति ॥ ३३ ॥

१ क. ख. ग. च. ज. ठ. ड. 'प्लवान् २ ग. च. ज. 'दुःकरं. ३ च.
'दक तारं. ४ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'अनो'; च. 'अधुनाइ'. ५ ग. घ.
ज. 'वक्षन्मे'. ६ ग. ज. स्तुतः. ७ ग. ज. 'न्येव ऋग्भ', च. 'न्येवा ऋग्भ'.
८ क. ख. ८ (३२), ठ. ड. 'सूक्ते'. इति निरुक्तभाष्ये ४ घ्याये ३२ अ० ६६;
घ. ख. वन्दमितरेष्वो नास्ति. ९ क. ख. छ. त. द. वा ने अने अग्नि'. १० क.
३२ ख. ९ (३३), त. द. ९.

हिरण्यस्तूर्पः सवितर्यथा त्वेति । हे सवितः यथा अन्यकौत्सीनो हिरण्यस्तूर्पः त्वामाजुहाय कर्मण्याहृतवान् एवम् अहमप्येतस्मिन्कल्पे हिरण्यस्तूर्पतामापन्नः अर्चन्नामा अवनाय वाजे अस्मिन् अन्ने संस्कृते हविषि त्वामाहूय वन्दमानः स्तुवन् सोमस्येवांशुं सोममिव क्रीत्वा आदृतः प्रति जागर्मिअनन्यमनास्वामायागादुगास इति । ' स्वै संघाते ' (धा० १ । १३५) तस्य स्तूर्प इति ।

' त्वष्टा (२१) व्याख्यातः ' (निह० ८ । १३) । तस्यैषा भवति ॥ ३३ ॥

१०

देवस्त्वष्टां सविता विश्वरूपः पुषोपं प्रजाः पुंशुधा जंजान । इमा च विश्वा भुवंनान्यस्य महद्देवानामसुरत्वमेकम् (ऋ० सं० ३ । ५५ । १९) ॥ देवस्त्वष्टा सविता सर्वरूपः पोषति प्रजा रसानुप्रदानेन बहुधा चेमां जनयतीमानि च सर्वाणि भूतान्युदकान्यस्य महत्त्वास्मै देवानामसुरत्वमेकं प्रज्ञावस्वं वानवच्च वापि वासुरिति प्रज्ञानामास्ययनर्थानस्ताश्चास्यामर्था असुरत्वमादिलुतं वातो वातीति सतस्तस्यैषा भवति ॥ ३४ ॥

१५

देवस्त्वष्टेति । वैश्वामित्रस्य प्रजापतेरार्षम् । वैश्वदेवे विनियोगः । त्वष्टा देवो मध्यमः सविता सर्वस्य मूलप्रामस्य प्रसविता उत्पादयितोदकसंप्रदानद्वारेण । किमुत्पादयितैव । नेत्युच्यते । पुषोप प्रजाः पुष्पाति रैसानुत्पाद्य । न केवलं

२०

१ ङ. ड. 'स्तूर्प इति. २ ग. 'त्वेनि'. ३ हे. ३ क. ख. घ. झ. ठ. ड. 'न्यका-
लीनो; ड. 'न्यकौलीनो' कल्पो. ४ क. ख ९ (३३); ड. ड. 'वति । इति
निरुक्तभाष्ये ४ ध्याये ३३ खण्डः; ग. च. वर्जमितरेष्वङ्गो नास्ति. ५ छ. त. द.
चेमा. ६ छ. 'मेकत्वं प्र'; त. द. 'मे कत्वं प्र'. ७ छ. त. 'मनर्था. ८ क. ख.
१० (३४), त. द. १०. ९ ग. 'ष्टेति'. १०. १० क. ख. घ. झ. ट. ठ.
ड. 'ति चालानुत्पाद्य.

१८

पुष्पाति । किं तर्हि । पुरुषा जजानेति । बहुधा चैनौ जनयति वर्धयति ।
केन पुनरसौ जनयति पुष्पाति वर्धयति च । यत आह । इमा च विश्वौ
भुवनान्यस्य । इमानि विश्वानि भुवनानि उदकानि अस्य यतः स्वतायां
वर्तन्ते तस्माज्जनयति पुष्पाति वर्धयति च । अनथ सर्वमिदं शक्तः
कर्तुं यतो महद्देवानाममुरत्वमेकम् । महदसुरत्वम् । असुरिति प्रज्ञानाम् । तथा
तद्वत्त्वम् । तथा महत्या प्रज्ञया उदकेन सावनेन सर्वमिदं जनयति पुष्पाति

वर्धयति च । अप्रज्ञो हि साधनसंपत्तावपि किं
असुरत्वमित्य-
स्यार्थाः कुर्यात् । अथवा । ' अनवत्वम् ' । असुः
प्राणस्तेन तद्वत्त्वम् । एवमपि सति प्राणेनैव

१० शक्यत एतत्सर्वं कर्तुम् । अप्राणो हि किं कुर्यात् । ' अनवत्वम् ' इति
कोचिन् । तेषामब्रह्मेतुनोदकेन तद्वत्त्वम् । तथापि योज्यम् ।

‘ असुरिति प्रज्ञानाम् ’ । तदस्मात् । ‘ अस्यति अनर्थान् ’ । प्रज्ञैव
हि प्रज्ञावतोऽस्यति क्षिपन्मनर्थान्नाशयति । ‘ अस्ताश्चास्यामर्थ्याः ’ । न
हि तदस्ति व्यक्तैर्यत्सर्वं प्रज्ञावतां प्रज्ञायां नास्ति । एतावांस्तु विशेषोऽभि-
व्यक्तमनभिव्यक्तमिति । अथवा । यदेतदसुरत्वं वसुमतो भावो वसुरत्वम्
एतत् । रो मत्वर्थे । वकारलोपश्च । वसुना उदकेन तद्वानसौ त्वथा ।

‘ वातः ’ (२२) कस्मात् । ‘ वातीति सतः ’ । ‘ वा गतिगन्ध-
नयोः ’ (धा० २ । ४०) इत्यस्य । सत
वातः कस्मात् इति धातुकारकावधारणम् । वायुशब्दो हि
२० त्रयाणां धातूनां विकल्पेन (निरु० १० । १) । अयं तु वातरेवेति
विशेषः । ‘ तस्यैवा भवति ’ ३४ ॥

वात आ वातु भेषजं शंभु भंयोभु नो हृदे । म ण आर्युषि
तारिपत् (ऋ० सं० १० । १८६ । १) ॥ वात आवातु भेष-

१ ग. च. ज. चैनो; ठ. ड. चेमा. २ ग. च. ज. ' च ' नास्ति. ३ घ. ट.
ठ. ड. विश्वा० न्यस्य. ४ च. विश्वा विश्वानि. ५ घ. ट. ठ. ड. ' देवाना० नेहम्.
६ ग. च. ज. ' मनर्थाः. ७ ज. व्यक्तमनभिव्यक्तमिति. ८ ग. ' प्रज्ञावतां '
नास्ति. ९ क. ख. १० (३४); ट. ड. ' वनि । इति नैहकभावे धातुर्वाप्यादे
६१ (४ ध्याये) ३४ खण्डः, ग. च. धर्मितरेषांश्चो नास्ति.

ज्यानि शंभु मयोभु च नो हृदयाय प्रवर्धयं च न आयुरग्निर्व्या-
रुयातस्तस्यैषा भवति ॥ ३५ ॥

वात आवातु भेषजमिति । उलस्य वातायनस्यार्थम् । वातः अस्मा-
नाभिमुख्येन भेषजं यद्यत्स्वप्नस्माकं तत्तद्गृही-
त्वा आवातु । तच्चास्माकं शंभु अस्तु । शमिति
सुखनाम । तद्भावकमस्तु तद्रात्रे । आयतौ च परिणामे मयोभु अस्तु ।
मय इति सुखनाम । हृदयाय मुञ्जमस्तु । स्तूयमाः प्रत्यक्षीभूत इव मनसि ।
यतः प्रत्यक्षमुच्यते । प्र ण आर्यभि तारिषत् । हे भगवन् वायो प्रवर्धय
त्वमस्माकमार्यभि सपुत्रपौत्रादिवर्गाणां भेषज्यं च त्वमस्माकं नित्यमावैहल्ये-
तदाशास्महे ।

‘ अग्निः (२३) व्याख्यातः (निह० ७ । १४) । ‘ तस्यैषा
भवति ’ ॥ ३५ ॥

प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीधाय प्र हूयसे । मरुद्भिरग्न आ
गाहि (ऋ० सं० १ । १९ । १) ॥ तं प्रति चारुमध्वरं सोम-
पानाय प्रहूयसे सोऽग्ने मरुद्भिः सहागच्छेति कमन्यं मध्यमादेव-
मवक्ष्येत्तस्यैषापरा भवति ॥ ३६ ॥

प्रति त्यम् । भेषातिथिः ऋद्धये । त्यं तम् अह्नवैकल्परहितम् अक्षरं
अग्निः प्रति हे भगवन्मग्ने त्वमस्माभिः गोपीधाय सोम-
पानाय प्रहूयसे आहूयसे । स त्वमेतज्ज्ञात्वा
मरुद्भिः सह आगाहि आगच्छेत्स्मिन्नरमत्कर्मणि सोमं पातुमित्येतदाशास्महे ।

१ क. ख. छ. ध. घ. ठ. ड. प्रवर्धयतु. २ क. ख. ११ (३५), त. द. १५
११. ३ ग. 'मिति' । उ. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'तदात्रे च आयतौ
परि'. ५ ग. ज. हृदयमुस्त्यं, च. हृदयमुखं. ६ ग. च. ज. 'स्वप्ने. ७ ग. ख.
ज. 'मावाहीत्ये'. ८ क. ख. ११ (३५), ठ. 'वति । इति निरुक्तभाष्ये उच्यते खण्डे
चतुर्थाध्याये ३५ खण्डः; ड. 'वति । इति निरुक्तभाष्ये ३५ खण्डः; ग. ख. वर्ज-
मितोऽह्नो नास्ति. ९ छ. त. द. 'वक्ष्ये'. १० क. ख. १२ (३६), त. द.
१२. ११ ग. 'त्यं' । भे; ठ. ड. त्यमिति. १२ ग. ख. ज. तमक्षरं यं. १३ ग.
ख. ज. 'प्रहूयसे' नास्ति. १४ ग. ख. ज. 'सो त्वं' नास्ति.

गोपीथाय मरुद्भिः सहेति मध्यमं लिङ्गम् । ' तस्यैपापरा भवति ।
सा पुनः किमर्थम् । गोपीथायैव्यक्तं सोमपानम् । व्यक्तसोमपानलिङ्गेचरा ।
तद्यथा ॥ ३६ ॥

५ अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु । मरुद्भिरेव आ
गृहि (ऋ० सं० १ । १९ । ९) ॥ अभिसृजामि त्वा पूर्व-
पीतये पूर्वपानाय सोम्यं मधु सोममयं सोऽग्रे मरुद्भिः सहा-
गच्छेति ॥ ३७ ॥

दशमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

१० अभि त्वा पूर्वपीतय इति । हे भगवन्नग्रे पूर्वकाले प्रवृत्ताय पानाय
अग्निरेव त्वाम् अभिसृजामि षडे । किमिति । इदं सोम्यं
मधु सोममयं तन्मधु । स ध्रुवागध्रौ तस्मिन्क-
र्मण्येतत्पातुमिष्येतदाशास्महे ॥ ३७ ॥

१५

पञ्चदशस्य तृतीयः पादः ।

चतुर्थः पादः ।

१० धेनो वेनतेः कान्तिरुर्मणस्तस्यैवा भवति ॥ ३८ ॥

२०

१ ग. अ. ज. मध्यमलिङ्ग. २ क. ख. १२ (३६), ड. 'तपया । इति नि-
रुक्तभाष्ये चतु० ३६ सपटः; ग. अ. वर्गनितरंण्डो नास्ति. ३ क. ख. १३
(३७), त. द. १३. ४ ड. य. घ. 'दश ०० पादः' नास्ति; त. दशमे वृत्ती०।
छ. द. तृतीयः. ५ ग. इति' । हे'. ६ ग. अ. ज. 'अग्र त्वामभिसु'. ७ ग. अ.
ज. 'वदे इव'. ८ ग. ज. स एवमस्मादाग'; अ. तस्वमस्मादाग'. ९ ग. अ. ज.
'मणि तत्पा'. १० क. ख. १३ (२७), ड. द. 'मो इति पञ्चदशस्य (ठ.
पञ्चमाध्यायस्य) तृतीयः पादः । इति निरुक्तभाष्ये ३७ सपटः; ग. अ. वर्ग-
१८ निरंण्डो नास्ति. ११ क. ख. १ (३८), त. द. १.

‘वेनः’ (२४) इति यक्तव्यम् । स एव ‘वेनतेः कान्तिकर्मणः’ ।
 वेनः कस्मात् सर्वलोककान्तो हि मध्यमः सर्वस्योपकारित्वात् ।
 ‘तस्यैषा भवति’ ॥ ३८ ॥

अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायु रजसो विमाने । इममपां
 संगमे सूर्यस्य शिशुं न विमां मतिभीं रिहन्ति (क० सं० १०। १२३।
 १) ॥ अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भाः प्राष्टवर्णगर्भा आप इति वा
 ज्योतिर्जरायुज्योतिरस्य जरार्युस्थानीयं भवति जरार्युर्जरया
 गर्भस्य जरया यूयत इति येनमपां च संगमने सूर्यस्य च शिशु-
 मिव विमा मतिभीं रिहन्ति लिहन्ति स्तुवन्ति वर्धयन्ति पूजय-
 न्तीति वा शिशुः शंसनीयो भवति शिक्षीतेर्वा स्वादानकर्मणाश्चि-
 रलब्धो गर्भो भवत्यसुनीतिरसूत्रयति तस्यैषा भवति ॥ ३९ ॥

अयं वेन इति । भार्गवस्य वेनस्वार्थम् । शुक्रोऽनया गृह्यते (मैत्रा०
 सं० १। ३। १०) । अन्तर्भाषितप्रज्ञानस्तास्मिन्मनासि प्रत्यक्षीभूतमभि-
 नेयन् दर्शयन्निव कस्मैचिद्भवीति अयं वेन इति ।
 वेनः किं करोति । चोदयति पृश्निगर्भाः । पृश्निरादित्यः
 प्राष्टवर्णः । प्रकृष्टो ह्यनेन वर्णः अष्टः आप्तः । यास्तस्य गर्भत्वमुर्पागतां
 रश्म्यन्तर्गताः परेपका आपो मासाष्टकेन संभृतास्ता वेनश्चोदयति प्राशुषि
 वर्षमावेन प्रेरयति । निःलक्षणः । ज्योतिर्जरायुः । ज्योतिरस्य विद्युदाख्यं
 कर्मात्मलक्षणं जरार्युस्थानीयं प्रज्ञावतस्तदधिष्ठ तुर्भ्यमस्य गर्भस्यैव परे-
 वेष्टनं भवति । क्वाश्चिद्यतश्चोदयति । रजसो विमाने । रज उदकं तद्यत्र

१ क. ख. १ (३८), ट. ० वति । इति निरुक्तभाष्ये उत्तरपट्टके चतुर्थाध्याये
 ३८ खण्डः, ड. ० वति । इति निरुक्तभाष्ये ३८ खण्डः; ग. च. वर्णमित्येव
 नास्ति. २ त. य. ध. ‘रायुः स्था’ . ३ ड. य. द. ‘रायुजर’ ४ छ. त. द. रिहन्ति
 रिहन्ति डि. ५ क. ख. उ. त. द. गर्भ इ-यु. ६ व. ल. २ (३९);
 त. द. २. ७ क. ख. घ. ङ. ट. ड. ह. आप्त; ड. दीप्त. मा. ८ क. ख. घ.
 ङ. ट. ड. ह. ‘सुपा’ . ९ च. ‘रायुः स्था’ .

निर्मायते तत्रावस्थितः । अन्तरिक्षलोक इत्यर्थः । योऽयमेवमादिगुण-
युक्तो वेनस्तमिमं वेनम् अपां च संगमे सूर्यस्य च संगमे समागमन-
स्थाने यत्र सूर्यस्य रश्मिभिरापः संगच्छन्ते तत्र वर्तमानं मध्यस्थाने
विप्रा मेधाविनः स्तोतारो मतिभिः स्तुतिभिः प्रज्ञापूर्विकाभिः शिशुमित्र
रिहन्ति । यथा शिशुर्नित्यं स्तूयत एवं स्तूयते । यदेतत् ' रिहन्ति '
इति एतत् ' लिहन्ति ' लिहेर्घातोः । वर्धयन्ति पूजयन्ति वेत्यर्थवचनम् ।

' जरायुः ' कस्मात् । तद्धि ' जरया गर्भस्य ' भवति । यथा

जरायुः कस्मात् यथा गर्भो भवति तथा तथा तदुत्पद्यते ।
' जस्मा यूयत इति वा ' । यच्चैतज्जरोति प्रसिद्धं

१० प्रसूताया गोः स्त्रिया वा पश्चात्पठति सा जरेत्युच्यते तथा यद्युदते मिश्रयते

शिशुः कस्मात् तज्जरायिन्युच्यते । ' शिशुः ' कस्मात् । स हि
' शसनीयो भवति ' । प्रयोजने वाप्रयोजने

वर्चयन्ति यत्कृत्वनप्रलापेषु । ' शिशोतिर्वा स्यात् ' धातोर्दानार्थस्य । दीयते
हि स पुरुषेण स्त्रियै धारणाय । भवति च वादः स्त्रीणामभिनवगृहीत-

१५ गर्भाणाम् ' अचिरलक्ष्यो मे गर्भः ' इति ।

' अमुनीति, ' (२७) इत्येतदेवतापदम् । स पुनरयमिन्द्रो मध्यमः प्राणः ।

अमुनीतिः कस्मात् स पुनर्थेदेतस्मान्ठरीरादुक्कामन्यधेतुरान्प्राणांन्
' अमुन् ' अन्यत्र ' नयति ' । विज्ञायते हि

' प्रणमनूक्कामन्तं सर्वे प्राणा अनूक्कामन्ति ' (बृहदा० उप० ४ ।

२० ४ । २) इति । ' तस्यैवा भवति ' ॥ ३० ॥

' अमुनीति मनो अस्मायु धारय जीवातवे नु प्र तिरा न आयुः ।

रारन्नि नः सूर्यस्य संदर्शितं घृतेम त्वं तन्वं वर्धयस्व (ऋ० सं०

१० । ५९ । ५) ॥ अमुनीति मनोऽस्मायु धारय चिरं जीवनाय

२५ मवर्धय च न आयु रन्धय च नः सूर्यस्य संदर्शनाय रथ्यतिर्दशग-

१ क. ख. ग. ज. निर्माय°, ठ. ड. 'तद्यन्तर्निधीय°'. २ ठ. ड. मध्यम-

स्थाने. ३ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. यथा हि रि. ४ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड.

'त्यर्थः'. ज°. ५ ग. ख. ज. ' वा ' नास्ति. ६ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड.

'विज्ञायते'. ७ क. घ. ङ. न नेतानाम्ठरीर एव धारय मा त्वमुक्काम्नीः । त्वदन्वय

मपानि°. ८ क. ख. २ (३१) ; ठ. ड. 'यानि । इति निष्ठाभाषे. ९ लक्ष्मण

११ ग. ख. वर्धयित्वेन्द्रो नाग्नि. १ छ. त. द. मनो अस्मा°.

मनेऽपि दृश्यते । मा रधाष द्विपते सोम राजन्नित्यापि निगमो
 अथर्वे । घृतेन त्वमात्मानं तन्नं वर्धयस्वतो व्याख्यातस्वस्वै-
 ष्या भवति ॥ ४० ॥

अमुनीते मनो अस्मानु धारयेति । श्रुतञ्चोरापर्म । हे अपुनीते

अमुनीतिः प्राण मदः अस्मानु धारय । मनःप्रभृतीनेतन्नि
 प्राणाचक्ष्मचोऽवस्थानेन हृदयं ठरीरय्य धारय । अ

स्वमुक्तेषां हृदयं क्रमेणावस्थास्फुत्त इति । जीवातये चिरम् अस्मानं
 जंविनाय मनो धारय । मु प्रोतिरा व आयुः । अमुना प्रकारेण मुष्टु
 प्रतिर प्रकरणेण वर्धयास्माकमायुः । किंच । शरन्वि नः संसाधय । अस्माकं
 त्पानुगृह्याय यथा स्तूय्ये सैदाश्री संदर्शनायाळे स्वाम ६ दिव्ये नः चक्षुः-
 स्पादय येन सम्पक्मूर्धं पश्येम । सर्वं चैतदज्ञप्राप्तये सति भवति । अस्ते
 ब्रूमः । घृतेन त्वं तन्नं वर्धयस्व । घृतेन उदकेन त्वमात्मानं यथाकालं
 वर्धयस्व । स्वपुदकं ददति सर्वमिदं भवति । अहनिर्भोक्त्वादमुनीतेर्धृतिमि-
 द्पुदकनाभेयत्रोपपद्यते ।

‘ रथ्यतिर्वैशामनेऽपि दृश्यते ’ । तद्यथा ३ ‘ मा रधाम द्विपते ’ इत्यत्र ।

रथ्यतिर्वैशामनेऽ-
 स्पायुचि देवीः फल्लोर्हृत् नः घृणोते विश्वं देवास इह
 धीरपश्वस् । मा होरमहि प्रजया मा तनुभिर्भ
 रंधाम द्विपते सोम राजन् १ (ऋ० सं०

१० । १२८ । ५) इति ॥ वैश्वदेवो । विहव्यस्यार्पम् । वैहवे सुक्तम् ।
 दत्रेया दर्शपूर्णमासादिषु हविषानभिमर्शने विनिपुज्यते । देवीः ९८ यं थ
 प्रुथिथी च अद्भ्य रात्रिश्च आदर्शं पश्यथेति । ता उप्यथे । हे देव्यः
 सर्व्यः षट् सर्वमिदम् ऊर्णुवत्यो य् मुष्यथे । उरु बहू यद्यद्वं युष्माभि-
 र्वहू क्रियमाणामिच्छामस्तत्तत् उरु बहू कुरुष्वे । हे विश्वे देशे यूपमपि इह
 एतस्मिन् कर्मण्यस्माकमद्भमां मुष्मताः सन्तो धीरपश्वं धीरान् पुरम्

१ क. ल ३ (४०) ; स. द् ३. २८ इ. कते इति. ३ ग. थिते ।
 अ. ४ ग. च. ज. सुष्कमी. ५ ग. च. म. स्व इति. ६ ग. च. ज. द्
 क. पत्रुर्मी. ७ म. ०तेति । देव्यः, व. ज. घ. स र. ‘पोतेति’ । विष्. ०
 ८ ग. च. ज. बहू बहू.

इच्छत दातुम् । अपि च । जातपुत्राः सन्तः मा हस्महि प्रजया ।
 मास्मान् प्रजा कदाचिदपि ह सीत् । कष्टं हि पुत्रमरणम् । मा त्नुभिर्वैष्यं
 स्वाभिर्हास्महि । मास्माकमायुपच्छेदो भूद्युष्मदनुव्यानात् । अपि च ।
 मा रघाम द्विषते सोम रजन् । हे मगयन् सोम राजन् विशेषतः त्वमु-
 ष्यसे । सर्वस्या अस्या आशिपस्त्रदनुव्यानान्मा रघ.म । मा वशं गच्छेम
 द्विषते । द्विषन्त एवास्माकमर्थसंप्रदानादिना वश्यतामुपयान्तु यतोऽनिष्टं
 हि द्विषतो विवेकत्वमिति । सामर्थ्यादिह ' र यतिर्वशगमने ' ।

१० ' ऋतः ' (१६) इत्येतत्पदम् । तदेतत् ' व्याख्यातं ' निर्बचनतः
 ऋतमियुद्धकनाम प्रवृत्तिं भवति ' (नि० २ । २५) इति । इह
 मिधेयो मध्यमः । ' तस्यैषा भवति ' ॥ ४० ॥

१५ ऋतस्य हि शुरुषः सन्ति पूर्वाऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति ।
 ऋतस्य श्लोको वधिरा तैर्द्ध कर्णो बुधानः शुचिमान् आयोः
 (ऋ० सं० ४ । २३ । ८) ॥ ऋतस्य हि शुरुषः सन्ति
 पूर्वाऋतस्य मज्ञा वैजनीयानि हन्ति ऋतस्य श्लोको वधिर-
 स्यापि कर्णावातृणत्ति वधिरौ यद्बभ्रौत्रः कर्णो बोधयन्दीप्यमान-
 थोयोरयनस्य मनुष्यस्य ज्योतिषो बौद्धस्य वेन्दुरिन्नेहनत्तैर्वा
 तस्यैषा भवति ॥ ४१ ॥

२० ऋतस्य हि शुम्भ इति । धामदेवस्यार्यम् । संपातसुक्ते निधेयस्ये
 वृष्ट्याभिप्लव्येः शस्यते (अश्व० श्रौ० ० । ७) । ऋतस्य मध्यमस्य ।
 ऋतः किमिति । शुम्भः अ.प. सन्ति विद्यन्ते । किल-
 क्षणाः । पूर्वोः अनेककालमभूताः । यतथा-
 सी इत्येऽऋतस्य ऋतस्य उदयप्रदानद्वारेण नाकाष्ठं नाशयन्ती धीतिः

१ ग. घ. ज. ठ. ड. पृष्ठं २ क. ख. ३ (४०) ; ठ. ड. इति । इति
 निरुक्तभाष्ये ४० ६७४ ; ग. च. न. ज. निती (वृद्धो नास्ति. ३ त. ' प्रज्ञो वैष्यं (मं)
 नी' ; द. ' पतावर्षनी'. ४ क. ख. छ. त. द. इत्युत्. ५ छ. त. द. ' भाव-
 १८ तस्य. ६ क. ख. ५ (४१) ; न. द. ४. ५ ग. इति. ६ ५०.

प्रज्ञा सर्वलोकस्य वृजिनानि वर्जनीयानि अयसांसि हन्ति नाशयति ।
 अनाकाळे हि क्षुत्परिगृहीतानामयगस्करेषु जिह्वादिषु प्रवृत्तिर्भवति ।
 ददतश्चोदकं सर्वलोकवृजिनापर्वताय तस्य ऋनस्य एवमतिमहान् श्लोकः
 शब्दः स्तन्यकिन्नुद्धरणो भवति यो यधिरस्यापि वद्धश्रोत्रस्य विधांश्चपि
 निसर्गतोऽपिहितश्रेत्रस्य आयोः अयनस्य मनुष्यस्य बोधयज्ञस्मृत इति ।
 कर्णो भतिद्रुर्भेदोऽआतृणति आभिनाचिर्गुः शुचमानो दीप्यमानो उभोत्रि-
 पश्चेदस्य च श्लोकः । एतं सतत्त्वो ह्यसाहृत इति ।

‘ इन्दुः ’ (२७) इत्येतत्पदम् । स कस्मात् । ‘ इ धेः ’ दीप्यर्थस्य ।
 इन्दुः कस्मात् । ‘ उनत्तेर्वा ’ क्लेदनार्थस्य । उभयसपीन्द्रावु-
 पपश्यते चन्द्रमसि । ‘ तस्यैष भवति ’ ॥ ४१ ॥

अ तद्दोषेषु भव्यायेन्द्रे ह्यो न य इषवान्मन्त्र रेजति
 रक्षोहा मन्म रेजति । स्वयं सौ अस्मद्भानिद्री वर्षैरेजेत दुर्मतिम् ।
 अवं स्रवेद्यशैसोऽवतरमवं क्षुद्रमिव स्रवेत् (ऋ० सं० १।१२०
 ६) ॥ मन्त्रवीभि तद्भव्यायेन्द्रे इवनार्ह इव य इषवान्मन्त्रान्का-
 मवान्मन्त्र मननानि च नो रेजयति रक्षोहा च क्लेन रेजयति
 स्वयं सौ अस्मद्भिनिन्दितारम् । वर्षैरेजेत दुर्मतिम् । अवस्रवेद-
 यशंसस्ततश्चावतरं क्षुद्रमिवावस्रवेदभ्यासे भूयांसमर्थ मन्यन्ते
 यथाहो दर्शनीयाहो दर्शनीयेति तत्परुच्छेषस्य शीलं परुच्छेष
 ऋषिः परुषच्छेषः परुषि परुषि शेषोऽस्येति वेतीमानि सप्तवि-
 द्वातिर्देवतानामश्रेयान्यनुक्रान्तानि सूक्तभाञ्जि हविर्भाञ्जि तेषामे-
 तन्न्यद्यविर्भाञ्जि चेनोऽप्सुनीतिर्कृत इन्दुः मजापतिः मज्यानां
 पाता वा पाशयिता वा तस्यैषा भवति ॥ ४२ ॥

१ क. ल. च. ‘पाता’. २ क. ल. ४ (४१) ; उ. ‘वति । इति नेरुह-
 भाष्ये ४१ ६०८; ड. ‘वति । इति निरुक्तभाष्ये ४ । खण्डः, ग. च. ‘वर्षमिनेत्यहो
 नास्ति. २ क. ल. छ. त द से अस्मन्. ४ छ. त. द. ‘वर्षच्छेषः’
 नास्ति. ५ क. ग. ५ (४२) ; त. द. ५.

प्र तद्वैच्यमिति । अतिच्छन्दाः । पारच्छेर्षा । पष्टेऽहनि मख्वतीकि
 शस्यने (अ.श.० श्रौ.० ८ । १) । यद्यदिष्टं
 इन्दुः तस्मिन्दोहनत्तदहं प्रवर्षामि अमै इन्दुके प्रीत्यर्थम् ।

किलक्षणैः यः इन्दुः । भव्यो भवनार्ह आत्तवान् । अभिप्रेतानां पात्रभूत
 इत्यर्थः । भव्यो भावनार्ह इव । यो हविषा भावनमर्हति न च भाव्योऽहवि-
 र्भावतात्वा हव्यो न हव्यगाह इव यो यज्ञेन च पुनरार्हयतेऽहविर्भाक्त्वादेव ।
 इयान् निलम् अन्नवन् । कामवान् वा । कामिना स्तोत्रैणा नित्यमभिमत्-
 फलसंप्रदानोन्मुखः । तत्संप्रदानोन्मुखतया च न्द्रियमस्माकं मन्म रेजति मन्-
 नाकि प्रज्ञानानि रेजयति आकम्पयति । अकम्पितहृदयान् उपकारितयः
 नित्यममन् करोति कर्षं नामैतं नित्यं स्तुयामोति । अफि च । स्वोहः
 रक्षासि बलेन धनं सुतरामस्माकं मन्म रेजति । निच । स्वर्कं सो अस्म-
 दानिदः । स्वयमादस्वान् भूत्वा स इन्दुः अस्मदानिदः अस्मदभिनिन्दितार्ह
 वज्रप्रहारैरितिदुःसहैः अजेत जयेत् क्षिपेद्वा दुर्भारं पापमतिं योऽस्मान्
 प्रति । तेन वातिबलवतेन्दुना हन्यमानोऽस्मद् अवर्षसः अस्माकं यः
 पामाना शोसिता कथयिता स्वस्नानामपि श्मश्रुतिकर्ता जनपदे
 अमो अत्रम्वेत् । अयोमतिः स्यात् । अवतरमत्र क्षुद्रमिव स्वयैत् । याम्च
 पथमं भूत । अधोगतस्ततोऽवनरं ततोऽध्वरस्तस्मिति ताकस्त्रोक्षुद्रमिरे
 श्व्यं किञ्चिद्याद्रामुलतो नष्टमियेतदाशासमहे । कष्टकृतेर्मध्यम इति ।

इदमप्यासत्र हृत्पदं दृष्ट्वा ' रेजति रेजति म्वेत् स्वरेत् ' इति प्रतिसम्भ-
 वत्ते ' अम्यामं भुवानमयं मयन्ने ' इति । शब्दाभ्यामे यत्रान्यो
 अम्यासे भुवानर्थः निशम्ये नास्ति तत्रैरे विसेषमाचार्या मन्त्रार्थस-
 त्तत्रविदो मयन्ते ' यदुत्तार्थमयस्त्वम् ' इति ।
 मं हासस्मान् एव शब्द. पुनरभ्यम्यने । त्येकेऽपि चैतद् दृष्टं शब्दाभ्यासेऽ-

१ ग. 'मिनि' । अ. २ ग. 'धनाय इ दु'. ३ ग. च. ज. भव्याय भव-
 नार्ह. ४ क. म. घ. झ. ट. 'राह्य'. ५ ग. च. ज. स्तोत्रीयां. ६ ग. च.
 ज. 'कृत्स्नामस' । ट. 'फो' काम. ७ ग. च. ज. ठ. ड. धुनः. ८ क.
 । घ. झ. ट. ठ. ड. 'प्यवरा'. ९ क. म. घ. झ. ट. ठ. ड. त्रिषं. १० ग.
 च. ज. इति । संरे (ग. ज. मरे, च. वे) द्विनि प्रथमं सुनातनोऽवरे (च.
 'वन्त') ततोऽध्वरतामिति तासत्सरोक्षुद्रमिरे इ-पि निश्चिद्याद्रामुलतो मयन्ति
 ३० त्येरे (ग. ज. 'मिनि एव) । ३०.

धंभूयम्बामिति ' यथाहो दर्शनीयाहो दर्शनीयेति ' । गुणातिगये हि
स्त्रियाः शब्दाभ्यासः । तस्मान्मन्त्रेष्वपि तद्वदेवेति न्य.२५म् । ' तत् ' १

अभ्यासः परुच्छे- च पुनरेतत् ' परुच्छेःस्य ' मन्त्रद्वयः
पस्य शीलम् ' शीलम् ' । स हि नित्यमभ्यस्तैः शब्दैः
दर्शनायेदमुक्तम् । अथ पुनः ' परुच्छेः ' कस्मात् । ' परुच्छेः ऋषिः ' । ४

परुच्छेपः कस्मात् तस्य हि ' पूर्ववत् ' महान् ' शेषः ' प्रजननम् ।
' परुषि परुषि शेषोऽस्येति वा ' । सर्वाङ्गसन्निवृ
शेषः कुतो योगमुखात्किल । तस्य शेषोऽयेति वा ।

' इतीमानि सप्तविंशतिर्देवतानामधेयान्यनुक्रान्तानि ' । इतिकारणः प्रका- १०
रवचनः । एवमेतानि यथासम.घातानि
सप्तविंशतिः सप्ताधिका विंशतिः । देवतानामधे-
यानि ' वायुः ' इत्यत आरभ्य यावत् ' इन्दुः '
इति । तेषां पुनः किमर्थमनुकीर्तनम् । विशेष-
विवक्षया । कः पुनरसाविति । तेषां कानिचित् १५

' मूक्तमाञ्जि हविर्माञ्जि ' च । सूक्तं च हविश्चोभयं भजन्ते । कानिचि-
त्सूक्तमेव न हविः । ' तेषामेतान्यहविर्माञ्जि ' । तद्यथा । ' वेनोऽनुनी-
तिर्कृत इन्दुः ' इति । एष्वो यान्यन्यानि
त्रयोविंशतिस्तान्युभयं भजन्ते सूक्तं हविश्च । २०

कानिचित्सूक्त- देवनास्वभावोपप्रदर्शनार्थमिदमुक्तम् । घृतेन
माञ्जि एव उदकेन तदम.त्मानं वर्धयस्वैधेवमाद्यभिधानार्थं विशेषप्रविभागप्रज्ञेयस्य-
हविर्माक्तु दुदकमत्र घृतमित्येवमादि तद्वत्तेषु मन्त्रेषु विशेष उपेक्ष्य इति ।

प्रजापतिः कस्मान् ' प्रजापतिः ' (२८) प्रजानां पाता वा पाळ-
यिता वा । ' तस्यैवा भवति ' ॥ ४२ ॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वां जातानि परि ता धंभूव ।

यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम परयो रथीणाम्

१ ग. च. ज. ' अहो ' नास्ति. २ ग. च. ज. ' हि ' नास्ति. ३ च. प. ४ क. स. ५ स. ६. शेषवृत्तौ योगः सु; च. ' सन्निशेषः कृत्वा योगशुभा ' . ५ ग. ज. ' शप्ताय हवि ' ; च. ' प्रजापत्ययवि ' . ६ ग. च. ज. देवत इ. ७ क. स. ५ (४२) ; ट. ट. ' वति । इति निरुक्तभाष्ये ४३ खण्डः ; ग. च. वर्जयि-
तरेणहो नास्ति.

(ऋ० सं० १०। १२१। १०) ॥ प्रजापते न हि त्वदेतान्यन्यः
सर्वाणि जातानि तानि परिवभूव यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु
वयं स्याम पतयो रथीणामित्याशीरहिव्याख्यातस्तस्यैषा
भवति ॥ ४३ ॥

५

प्रजापते न त्वदेतानीति^३ । प्राजापत्यस्य हिरण्यगर्भस्यायम् । पितृयज्ञ
उपस्थाने विनियुक्ता (मैत्रा० सं० १। १०। १९) । राजसूये च
विनियोगो होमे (मैत्रा० सं० २। ६। १२) । हे प्रजापते न
त्वदन्यो न काश्चिदपि एतानि सर्वदेवतारूपाणि परिवभूव परिगृह्य
भवति । त्वमेतानि सर्वाणि सर्वतः परिगृह्य

१०

प्रजापतिः

सर्वतो भवति । यत एव तैः वयं सर्वतो विभूतं

पश्यामः सर्वस्वेतानमतो ब्रूमः । यत्कामास्ते येन येन युक्ताः सन्तो वयं
तुभ्यं जुहुमस्तन्नो अस्तु । स कामोऽस्माकं त्वदनुव्यानात्सभृष्यताम् । नित्यमेव
च वयं स्याम पतयो रथीणाम् । रथीणां धनानां पतयः । ' इति '

१५

इयमपरा ' आशीः ' द्वितीया । यत्कामा इति प्रथमा । अथवा । ' आशीः '
इत्याचार्यो दर्शयति । इयं मन्त्रगतैव यत्रापि न स्यात्तत्राप्यथाहायेति
स्तुत्याभिपोर्नित्यसंबन्धादिति ।

' अहिः (२९) व्याख्यातो ' निर्वचनतः ' अहिरयनात् '
(निरु० २। १७) इति । इह त्वभिधेयो मध्यमः । ' तस्यैषा

२०

भवति ' ॥ ४३ ॥

अञ्जामुक्थैरहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजःसु पीदंन्
(ऋ० सं० ७। ३४। १६) ॥ अप्सुजेमुक्थैरहिं गृणीषे बुध्ने
नदीनां रजःसूदकेषु सीदन्बुध्नमन्तरिक्षं वैज्जा अस्मिन्धृता धौप

२५

१ छ त. द. जानानि परि तानि बभूव. २ क. स्व. ६ (४३); त. द. ६.
३ ग. ' नीति । पजा°; च. ज. ' नीति । पजा°; ठ. ड. ' तान्यन्य इति. ४ ग.
च. ज. भवति. ५ ग. च. ज. त्वा. ६ ग. च. ज. ' भूतं वयं प°. ७ ग.
च. ज. ' स्तमुपतां. ८ क. स्व. ६ (४३); ठ. ड. ' वति । इति निरुक्तभाष्ये
स्त्वुक्थैरहिं ४३ रुण्डः; ग. च. वर्णितरेष्वङ्गे नास्ति. ९ छ. त. द. अप्सुत्ताम्°.

३०

१० छ. त. द. ' जः सु पीदं. ११ छ. त. द. बुद्धा. १२ छ. त. द. आपइद°.

इति वेदमपीतरद् बुध्नमेतस्मादेव वद्धा अस्मिन्धृताः प्राणा इति
योऽहिः स बुध्न्यो बुध्नमन्तरिक्षं तन्निवासात्तस्यैवा भवति ॥४४॥

अञ्जामुक्थैरिति । वैसिप्रस्यार्यम् । दशरत्रस्य चतुर्थेऽहनि
अहिः वैश्वदेवे त्रिनियोगः (आश्व० श्रौ० ८।८) ।
हे स्तोतस्त्वमेतम् अहिम् अप्सुजम् उदकज-
म्भानम् उक्थैर्गृणीषे स्तौषि बुध्ने नदीनां नदनानाम् अपां बन्धने एतद्दिन-
मन्तरिक्षे वर्तमानं रजःसु सीदन् उदकेषु लम्बन्धेषु निमित्तभूतेषु एत-
स्मिन्कर्मण्यङ्गभावमुपगच्छन् ।

‘ बुध्नमन्तरिक्षं वद्धा अहिम् धृता आपः इति । इदमपीतरत् ’
बुध्नं कस्मात् शरीरं बुध्नमित्युच्यते । ‘ वद्धा अहिम् धृताः
प्राणाः इति । योऽहिः स बुध्न्यः ’ । एतावा-
स्तु त्रिनियोगः । ‘ बुध्नमन्तरिक्षं तन्निवासात् ’ अहि-
र्बुध्न्यः (३०) । ‘ तस्यैवा भवति ॥ ४४ ॥

मा नोऽहिर्बुध्न्यो रिपे धान्मा यज्ञो अस्य स्त्रिवहनायोः
(ऋ० सं० ७ । ३४ । १७) ॥ मा च नोऽहिर्बुध्न्यो रेपगाय
धान्मास्य यज्ञोस्ता च स्त्रियज्ञकामस्य सुपर्णो व्याख्यातस्त-
स्यैवा भवति ॥ ४५ ॥

मा नोऽहिर्बुध्न्य इति । पूर्वया समानं सर्वमिति । मा अस्मान्
अहिर्बुध्न्यो रिपे धात् रेपगाय हिंसनाय कस्मै-
चित् । किंच । मा यज्ञो अस्य स्त्रिवहनायोः ।
मा यज्ञोऽस्य ऋतायोः अन्य यज्ञमानस्य यज्ञकामस्य मा स्त्रिवत् मा
सुखवत् । नित्यमविनाशेन वर्ततामिति ।

१ छ. त. द. बुद्धा. २ क. ख. ७ (१५) त. द. ७. ३ ग. ‘रिति । वाम’.
४ ग. च. ज. वासिप्रस्य पराशरस्यार्य. ५ ग. ज. ‘तरद्बुध्नगरी’.
(४४), ठ. द. ‘नि । इति निरुक्तमध्ये ४४ खण्डः; ग. च. वर्जमिनेष्वज्ञो
नास्ति. ७ क. ख. ८ (४५), त. द. ८. ८ ग इने । पू. ९ क. ख. च.
झ. ट ठ. यात् मारे. १० क. ख. प झ ट ‘चित् धात् किं’. ११ क. ख.
ग. च. ज. ‘सुध’. १२ ग. च. ज. सुध. १३ ग. च. ज. धा विस्र (स!) वतु.

‘ सुपर्णो (३१) व्याख्यातः ’ ‘ सुपतनः ’ (निरु० ३ । १२ ॥
४ । ३) इति । इह स्वभिधेयो मध्यमः । ‘ तस्यैषा भवति ’ ॥ ४५ ॥

एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं चि चष्टे ।
तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं माता रेह्ळिं स उ रेह्ळिं मात-
रम् (ऋ० सं० १० । ११४ । ४) ॥ एकः सुपर्णः न समुद्रमावि-
शति स इमानि सर्वाणि भूतान्यभिविपशयति तं पाकेन मनसा-
पश्यमन्तित इत्यृपेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता तं माता
रेह्ळिं वागेवा माध्यमिका स उ मातरं रेह्ळिं पुरुरवा बहुधा
१० रोरूपते तस्यैषा भवति ॥ ४६ ॥

एकः सुपर्ण इति । सध्वे र्भस्य वेयमार्यम् । एक एतद्वितीयः । यस्य

सुपर्णः पतने गमने प्रतिर्मानन्वाङ्गीर्यं नास्ति । न
सुपर्णः सुपतनो वायुः समुद्रम् अन्तरीक्षं

१५ निरुम् आविशति । न कटाचिदप्यनाविष्टस्तत्र । स च पुनः सर्व-
भूतानुप्रवेशी तदादिदं विश्वं भुवनं सर्वाणि इमानि भूतानि अभिविपशयति
यथा द्रष्टव्यानि । तमेव वर्तम नमहं पाकेन मनसा विपक्षप्रज्ञानेन सर्वगत-
मपि सन्तम् अन्निकम् इव अपश्यम् । ऋषिर्दृष्टदेवतासतस्रः कस्मै-
चिदाचक्षौणो ब्रवीति । तं माता रेह्ळिं स उ रेह्ळिं मातरम् । माता
२० माध्यमिकौ वाक् तम् उपजीवति परम्परश्रय वाचयोर्दृष्टेरध्यात्मवदिति ।

‘ पुरुरवाः ’ (३२) मध्यमः । विज्ञायते हि ‘ प्राण एव हि
पुरुरवाः कस्मात् पुरुरवाः ’ इति । न ‘ बहुधा रोरूपते ’ स्तन-
यति । तेन पुरुरवाः । ‘ तस्यैषा भवति ’ ॥ ४६ ॥

२१ १ क ख. ८ (४५), ठ. ड. ‘ वनि । इति निरुभाष्ये चतुर्थाध्याये ४५
खण्डः ; ग. च. वर्तमानेनवाङ्गी नास्ति. २ क ख. ठ. ड. रेदि, छ. त. द. रेदि.
३ क. ख. ९ (४६), त. द. ९ ४ ग. इति । स. ७ ग. ७. ज. ‘ र्भ्रगंनदे-
वस्य वे. ६ क ख. प. स. ट. प्रनिवाशानम्. ७ ग. च. ज. ‘ वक्ष्यामी. ८ ग.
ख. ज. च. स. रेदि. ९ ग. च. ज. ‘ वक्षु ’ नस्ति. १० क. ख. ० (४६); ड.
३० ड. ‘ वनि । इति निरुभाष्ये चतुर्थाध्याये ४६ खण्डः ; ग. च. वर्तमानेनवाङ्गी नास्ति.

समस्मिञ्जायमान आसत् या उतेमवर्धयन्नयः ? स्वगूर्ताः ।
 महे यत्त्वा पुरुरवो रणायवर्धयन्त्स्युस्तयाय देवाः (ऋ० सं०
 १० । ९५ । ७) ॥ समासतास्मिञ्जायमाने या गमना-
 टापो देवपत्न्यो चापि चैनमवर्धयन्नयः स्वगूर्ताः स्वयंगामिन्यो
 महते च यत्त्वा पुरुरवो रणाय रमणीयाय संग्रामायावर्धयन्त्स्यु- ५
 हत्याय च देवा देवाः ॥ ४७ ॥

समस्मिञ्जायमान इति । उतेत्या आर्षम् । एतस्मिन् पुरुरवसि
 जायमाने वर्षकर्मण्यात्मानं प्रनिलभमान प्रावृष्ट-
 फाले । ' कर्मजन्मान ' (निरु० ७ । ५) १०
 इति हुक्तम् । समासत श्रेः । आपः समागम्य तं परित्यज्य तद्विधेयतामुप-
 गम्य आसते निष्ठन्ति । एत अपि च यथार्थैवैवष्टतुवशाद्वर्षासु नर
 आरोहति तथातथैतं एव नयः नदना आपः स्वगूर्ताः स्वयंगामिन्यो
 भूत्वा मुत्स्रं तद्विधेयतामुपगच्छन्त्यस्तदधिकारोद्भवेन ईम एनम्
 वर्धयन्ति । अतः परं स्तूयमानः प्रपक्षीभूत् । प्रत्यक्षकृत उत्तरोऽर्धवर्चः । ११
 हे पुरुरवः श्रुत्वा महे रणाय यस्मात्त्वा महते रणाय भवेन सह रमणी-
 याय संग्रामाय अवर्धयन् वर्धयन्ति गम्यमिक्का देवाः ट्स्युहत्याय च मेव-
 च गय चेति तस्मात्सामन्तं प्राः ममागन्त्यावते वर्धयन्ति च नयः । सर्व-
 थापि महानुभावास्व सममेव त्वन्नुपपन्न इति ।

' देवपत्न्यो वा ' इति पृथक्त्वेन दर्शयति । तथापि योष्यते । सम ग- १०
 म्यैतस्मिन्नेडे पुरुरवसि आसत् प्राः सर्वा देवपत्न्यः । स हि स्त्रीणां
 रमणायो यत्प्रनायमर्माना स्त्रिय परिवार्योसने । उतेमवर्धयन् । अति चैनमव-
 र्धयन् । नदनास्ताः स्तुतिपरास्तस्य । स्वगूर्ताः स्वयंगामिन्यः अपरैर्रणेषु
 ईश्वराः । अपि च । सममेतद्गमयो पुरुरवस्तपि यस्मात्समान्महते रणाय

१ उ त. द 'स्वगूर्ताः' नास्ति २ क ख. १० (४७), त द १, २ ठ.
 ड. 'मिभिनि. ४ ग. इति' उ. ५ ग. ज. 'त्र. तस्मात्समस्मिन् वृत्तमणय
 आप.' ६ ग च ज. 'वधेतम्'. ७ क. ख. घ म ट. ठ. ड 'च' नास्ति.
 ८ ट. 'मानो' खि° न वि. ९ क ख. घ झ. ट ना प्राः स्तु' १० घ. ङ.
 'रमाहता', च. 'पहेया', ट. 'रणेषु' हे.

रमणीयाय संप्रामाय असुरैः सह दस्युहत्याय शत्रुवधाय अवर्धयन् । स्वैर्म-
हिमभिरत्वं नोऽसुरान् जेष्यसीति पुरथ्वकुर्वेवा इति । द्विरभ्यासोऽयायप-
रिसमाप्तौ यस्मोत्तल्लक्ष्यते समौत्तम् ॥ ४७ ॥



५

श्लेषार्थायां निरुक्तपद्धतौ पञ्चदशोऽध्यायः समाप्तः ।



* अथातोमध्यस्थानाचार्यवायाह्लासस्त्रौणासोनीचीनवारंतंभू
ध्विमारुद्राययातांदिद्युञ्जराबोधददयोजातोविद्वैक्षानक्षैपिनद्धमश्मा-
स्थंभवतंभेन्नस्थेपातिःक्षेत्रस्थेपातिनाक्षेत्रस्थेपतेऽभीवहापुनरहियोअनि
+धमपरोचवांसंसेनवसृष्टामित्रोजनोन्दिहरेयगभोयेतेसेस्वोविश्वक-
र्मासर्वस्यविश्वकर्माविमनाविश्वकर्मन्हाविपात्यमूपुसद्यैश्चित्त्वयाम-
न्योआदधिक्राश्रवितोहिरस्तूपोदेवस्तेषावातंआवातुर्भितित्यम-
भित्वावेनोवेनतेरयवेनोऽसुनीतक्रतैस्यहिप्रतदोचेयंभ्रजापतेऽजामु-
यथैभोनोहिरैकःसुपर्णाःसर्भस्मिन्त्सप्तचत्वारिंशत् = ॥

१५

इति निरुक्त उत्तरपट्टके चतुर्थोऽध्यायः ॥



१ क. ख. घ. ङ. ट. °स्माहृय°, ट. ड. °माप्ती । असमाहृय°
२ ट. ड. °समाप्त° नास्ति. ३ क. ख. १० (४७), ट. ड. °लक्ष्यते । इति
निरुक्तटीकायामुत्तरपट्टके चतुर्थोऽध्याये ४७ खण्डः । समाप्तभूतार्थोऽध्यायः. ४ क.
१० ख. घ. ङ. ट. ठ. इति धी (ट. ड. ° धी ' नास्ति) जन्ममार्गाधमवा (ट. ड.
विश्र) तिन आचार्यममपद्भुर्गृतावृज्वर्थाया निरुक्तपद्धतौ (ट. ड. निरुक्तटीकायां
नियमोऽध्यायपञ्चकेन सह निरुक्त) पञ्च. * छ. त द. अथातो इ यादिना रूपदृष्टल
नास्ति. + क. ख. घ. °निष्पे.प°. × ट. ड. सर्वस्य कर्ता विश्व. = ट. ड. °दत् ।
इति बालशौचार्थवेदिश्र (ट. ङा) प्रशयानुसारी रूपदृष्टक्राणी समाप्ता, ' इति
ध्यायः ' नास्ति ५ छ. इति निरुक्ते दशमेऽध्याये, त. दशमोऽध्यायः समाप्तः ;
१६ द. इति दशमोऽध्यायः, व. इति निरुक्ते ६°. २ क. ख. ड. °धयः समाप्तः.

एकादशाध्यायस्य

प्रथमः पादः ।

ॐ । श्येनो व्याख्यातस्तस्यैवा भवति ॥ १ ॥

श्येनो (निघ० ५ । ५ । १) व्याख्यातः 'श्येनः शंसनीयं गच्छति'
(निरु० ४ । २४) इति । इह त्वमित्रेयो मध्यमः । तस्यैवा भवति ॥ १ ॥

आदायं श्येनो अमरत्सोमं सहस्रं सवां अयुतं च साकम् । अत्रा
पुरन्धिरजहादरातीर्मिदे सोमस्य मूरा अमूरः (ऋ० सं० ४ । २६ । १०
७) ॥ आदाय श्येनोऽहरत्सोमं सहस्रं सवानयुतं च सह सहस्रं सह-
स्रसाव्यमभिप्रेत्य तत्रायुतं सोमभक्षास्तत्संवन्धेनायुतं दक्षिणा
इति वा तत्र पुरन्धिरजहादमिप्रानदानानिति वा । मदे सोमस्य मूरा
अमूर इत्यैन्द्रे च सूक्ते सोमपानेन च स्तुतस्तस्मादिन्द्रं मन्यन्त
ओषधिः सोमः सुनोतेर्यदेनमभिपुण्वन्ति बहुलमस्य नैघण्टुकं १५
वृत्तमाश्रयमिव प्राधान्येन तस्य पावमानीषु निदर्शनायोदाहरि-
ष्यामः ॥ २ ॥

आदाय श्येन इति । वामदेवस्यार्थम् । श्येनाजिरादिषु षष्ठ्यतीये शस्यते
(आश्व० श्रौ० ९ । ७) । ऋत्विग्भिर्विवानतः प्रेतं श्येनः इन्द्रः सोमम् २०
श्येनः आदाय अमरत् अपिबत् । क । सहस्रं सवान्
सहस्रं मुखाना यत्र कुर्वन्ति अयुतं च दक्षिणाः
प्राप्नुवन्ति न तु दीयन्ते सत्रयात् । पृष्ठयशमनाभिर्भ्राथं वा दक्षिणादानं

१ ङ. ड. हरि. ओम् । श्ये०; थ. 'ओ ३ म् । श्ये०; छ. तुं । श्ये०; घ. हरिः ॥
ॐम् ॥ श्ये०; त. द. 'ॐ' नास्ति. २ ग. ज. तुं । श्ये०; च. पुस्तके श्येन
इत्यादि सोमस्य तृप्ताभिरन्तं नास्ति. ३ ङ. ड. इति निरुक्तेतरपट्कभाष्ये षष्-
माध्यये प्रथमः खगडः; क. ख. ग. च. वर्जमितरेष्वशो नास्ति. ४ छ. त. द.
'नानीनि. ५ क. ख. छ. त. द. '१: । ऐन्द्रे. ६ ग. इति । वा०. ७ ग. घ. ज.
ठ. ड. प्रत्वं, ट. प्रत्वं श्ये० सं. ८ ग. ज. 'प्राधेण.

स्यात्सहस्रसाव्ये सत्रे तेषां तत्संबन्धात् । अत्रा पुराण्विः अत्र अस्मिन् सह-
स्रसाव्ये सत्रे स श्येनः पुराण्विः बहुनो धनस्य दाता मदे सोमस्य तृप्ती सोमस्य
प्राप्तायाम् अजहादरातीः अमुरानमित्रान् पृथक्पक्षेऽभ्यजयत् प्राणैर्मृदाव्
अप्रतिषत्तिकान् कृत्वा विपादमुपनीय अमृदो निःसाञ्चतः । त्रिवपत्रे तु
१ 'अदानानिति वा' इति । रातिर्दानार्थः । तत्प्रातिपेवेनार तिः । प्राक्सोमपान-
मदप्राप्तेः अदाननिति न दास्यामीत्येवंधियो मृद्वनतयः कर्षैर्पयसंयुक्ता ये
स तान् प्रति सोमस्य मदे प्राप्ते अमृदः अकृपणो भूत्वा अजहात्
अजयत् । दाताः सपेदे ।

‘सहस्रसाव्यमभिप्रेत्य तत्संबन्धेनायुतं दक्षिणा इति वा ।’ इति वा ।

१० सहस्रसाव्यसंबन्धेन वा अयुतं दक्षिणा शब्देन किं विरुल्लयते । सहस्रमाव्यं वा सत्रं यत्पठन्ति याज्ञिकः । तद्यथा । अतिशत्रुयोर्मध्ये सहस्रसहानि शतकृदो दशरात्रस्याकृत्तरिमेः सहस्रसाव्यामात (आश्व०श्रौ० १२।५) । तदह्यं सहस्रं दशभिधमत्तैर्गुणितं चमसपरिसंख्ययोपलक्ष्यमाणमयुतं सोमभक्षणां संपद्ये । सोमभक्षनिष्क-
२५ र्दश्रुतिश्च दक्षिणादानमस्ति । ‘या सदस्येभ्यो ददाति सोमययं तथा निष्कान्-
र्षाते’ (मैत्रा० सं० ४।८।३) इति । न चासति प्रक्षेत्रे रुडिवाचो न्याय्य इति । असत्यपि दक्षिणादानसंबन्धे सहस्रसाव्यमेव सत्रणाम् ।

३० अथवा अयुतशब्देन प्रासर्पकाद्योच्यन्ते प्रासर्पकाभिप्रायं वा अयुतम् । अथवा । सहस्रमिति

अथवा बहुयं सहस्रायुतशब्दे बहुनाम । सहस्रं सत्रम् । अभिप्राय बहुयः प्रतिसवनमभिप्रायमभिप्रेत्य । यस्मिन् कारिमाधेदक्षिणावति सोमे अयुतं च दक्षिणाः बहुय इत्यर्थः । अस्ति हि प्राप्तिः । विशेषशब्दाः स्वमान्येभ्यु भवन्तीति । तद्यथा । हिमेनो-
२५ दकेनेति (निर० ६ । ३६) । अदक्षिणात्स सत्राणामेकं वेद्यभिप्रायं ‘वा’ शब्दं चकार ।

१ ग. घ. ज. तुल्यं. २ ग. ज. 'वान्ति, घ. 'वान्ति' नि. ३ ग. ज. कारिमाधमिति, घ. वेद्यभिप्रायं चोपपत्. ४ क. ख. घ. ट. ड. 'अयुतम्'. ५ ग. ज. 'पीठम्. ६ ग. ज. निःक्रीत, इति' घ. नि. क्री'; घ. ट. नि. क्री' ७ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'निःक्रीतम्', घ. 'निःक्री' अतिम्.

- ‘ सोमः ’ (२) इति वक्तव्यम् । स पुनरेव ‘ ओषधिः ’ सोमः ।
 हैमवतो मौजवतो वा । स कस्मात् । ‘ सुनोरोः ’ ।
 सोमः कंस्मात् ‘ पुञ् अग्निपत्रे ’ (धा० ५ । १) इत्यस्य ।
 अभिपूषते ह्यसौ यज्ञे । ‘ यदेनमभिपुष्वन्ति ’ इति कर्मकारकं दर्शयति ।
 स कथं मध्यमस्थानः । भवति हि तमधिकृत्य ‘ यत्ते सोम दिवि ज्योतिः ’ ५
 स कथं मध्यमः (मैत्रा० सं० १ । ३ । ३) इति । ‘ सोमो
 वै वाजस्तस्य चन्द्रमास्तृतीयमयं यः पवते स
 तृतीयमिति स तनूकरणे सं सन्नं स्वैतनूभूतमाध्याययति ’ (मैत्रा० सं०
 ४ । ५ । ४) इति । तस्मादस्यैवैव स्त्रीं तनूर्यच्चन्द्रमा रसात्मकत्वात् ।
 वायुर्वा सोमभेषमात्मानमापाद्यामिपूयत इति भवति स मध्यमः । १०
 ‘ बहुलमस्य नेघण्टुकं वृत्तम् ’ । अस्वार्था स्तुतिः परार्था । तद्यथा ।
 सूक्तेषु गौणवृत्त्या प्रायः पावमानं मण्डलम् । ‘ आश्वर्थमिव प्राधा-
 स स्तूयते । प्राधान्येन न्येन ’ । स्वपधाना स्तुतिः क्वचिदाश्वर्थं चित्रतः
 क्वचिदेव स्तुतिः स्यात् । ‘ तस्य पावमानीषु ’ ऋशु ‘ निद- १५
 र्शनाय ’ उभयम् ‘ उदाहरिष्यामः ’ परार्थत्वं
 स्तुतेः स्वार्थत्वं च । परार्थं तावदुदाह्रियते । तद्यथा ॥ २ ॥

स्वादिष्टया मदिष्टया पवस्व सोम धारया । इन्द्राय पातवे
 सुतः (ऋ० सं० १९ । १ । १) ॥ इति सा निगदव्याख्या-
 तार्थपापरा भवति चन्द्रमसो वैतस्य वा ॥ ३ ॥ २०

स्वादिष्टया मदिष्टयेति । मबुच्छन्दस आर्षम् । प्रावस्तीत्रे (आश्व०
 सोमः श्रौ० ५ । १२) । हे सोम स्वादिष्टया स्वादु-
 तमया मदिष्टया मद्यित्तमया त्वं धारया पवस्व
 प्रक्षर । किमर्थम् । इन्द्राय इन्द्रार्थं पातवे पानाय सुतः अभिपुनः । २०
 इन्द्रार्थं पवस्वेत्यस्वार्थता लक्ष्यते ।

१ ग. ज. घ. ट. ठ. ड. मध्यस्या०. २ ग. च. ज. ड. दिव ज्यो. ३ ग.
 च. ज. सुनू. ४ ग. ज. सतेनू; ठ. ड. स तनू च. सितनू स्वात. ५ क.
 स. घ. ट. ठ. ड. साऽयमे; ग. ज. सोममेतना; च. सोममेऽय. ६ ट. ड.
 वथा इति निरुक्तमध्ये पञ्चमाध्याये द्वितीयः खण्डः; स. स. ग. च. वर्गमित्ये-
 ष्वशो नास्ति. ७ ग. वेति । म. ८ क. स. प. ट. ठ. ड. स्तीत्रेपिनियोग ।
 ९, च. स्तीत्रे हे विनियोग..

स्यात्सहस्रसाव्ये सत्रे तेषां तत्संबन्धात् । अत्र पुरन्धिः अत्र अस्मिन् सह-
स्रसान्धे सत्रे स श्वेनः पुरन्धिः बहुनो धनस्य दाता मदे सोमस्य तृप्तौ सोमस्य
प्राप्तायम् अजहादरातीः असुरानमित्रान् पृथक्पक्षेऽम्यजयत् प्राणैर्मृदन्
अप्रतिषत्तिकान् कृत्वा विपादमुपनीय अमहो नि.स.ध्वस्तः । त्रित्वपक्षे तु
१ 'अदानानिति वा' इति । रातिदोनार्थः । तत्प्रतिषेधेनार तिः । प्राक्सोमपान-
मदप्राप्तेः अदाननिति न दास्यामीत्येवंधियो मृदन्नयः कर्षणसंयुक्त्य ये
स तान् प्रति सोमस्य मदे प्राप्ते अमृदः अकृपणो भूत्वा अजहात्
अत्यजत् । दाताः सपेदे ।

‘सहस्रजाव्यमभिप्रेत्य तत्संबन्धेनायुतं दक्षिण्य इति वा’ । ‘इति वा’-

- १० सहस्रजाव्यसंब- शब्देन किं विरूपयते । सहस्रजाव्यं वा सत्रं
न्धेन वा आयुतं दक्षिण्य यः पठन्ति याज्ञिकः । तद्यथा । अतिसत्रयोर्मध्ये
सहस्रसह्यानि शतकृत्रो दशरात्रस्याकृत्तरात्रैः सह-
स्रस्तव्यामात् (आश्व०श्रौ० १२ । ५) । तदह्यं सहस्रं दशभिधमत्तेर्गुणितं
चमसपरिसंख्ययोपलक्ष्यमाणमयुतं सोमभक्षणा संपद्यते । सोमभक्ष्यनिष्क-
१५ र्श्रुतिश्च दक्षिण्यजामासित । ‘यां सदस्येभ्यो दद्याति सोमपीयं तथा निष्क-
र्षाते’ (नेत्रा० सं० ४ । ८ । ३) इति । न चासति प्रक्षेत्रे रुद्धिः शो-
न्याय्य इति । असत्यपि दक्षिण्यदानसंबन्धे सहस्रजाव्यमेव सत्रणम् ।

- अथवा अयुतश-
२० ध्देन प्राप्तयेना शोसन्ते प्रसर्पकाभिप्रायं वा अयुतम् । अथवा । सहस्रमिति

अथवा बहुने सह- बहुनात् । महस्यं मशन् । अभिवरा वरवः प्रतिम-
स्ययुतशब्दे वनमभिपयमभिप्रेय । यस्मिन् कस्मिंश्चिदक्षिणा-
वति सोमे अयुतं च दक्षिणाः बहुष इत्यर्थः ।
२५ शक्तिश्च शक्तिः । यिदं पदं दशः स्यात्-पशु भवन्तीति । तद्यथा । हिमेनो-
दरेनेने (नित्रा० ६ । ३६) । अदक्षिण्यया सत्राग्रामेकं वेत्यभिप्रेय
‘वा’ शब्दं चरत् ।

‘ सोमः ’ (२) इति वक्तव्यम् । स पुनरेव ‘ ओपधिः ’ सोमः ।
 सोमः कस्मात् हैमव्रतो मौजवतो वा । स कस्मात् । ‘ सुनोतेः ’ ।
 ‘ पुञ् अभिपद्ये ’ (धा० ५ । १) इत्यस्य ।
 अभिपूयते ह्यसौ यज्ञे । ‘ यदेनमभिपुण्वन्ति ’ इति कर्मकारकं दर्शयति ।
 स कथं मध्यमस्थानः । भवति हि तमधिकृत्य ‘ यत्ते सोम दिवि उद्योतिः ’
 ‘ स कथं मध्यमः ’ (मैत्रा० सं० १ । ३ । ३) इति । ‘ सोमो
 वै वाजस्तस्य चन्द्रमास्तृतीयमयं यः पवते स
 तृतीयमिति स तनूकरणे तं सर्वं स्वैतनूभूतमाश्राययति ’ (मैत्रा० सं०
 ४ । ५ । ४) इति । तस्मादस्यैव स्त्री तनूर्ध्वचन्द्रमा रसात्मकचात् ।
 वायुर्वा सोममेवमात्मानमापाद्यामिपूयत इति भवति स मध्यमः ।
 ‘ बहुलमस्य नैघण्टुकं वृत्तम् ’ । अस्वार्थां स्तुतिः परार्था । तद्यथा ।
 सूक्तेषु गौणवृत्त्या प्रायः पावमानं मण्डलम् । ‘ आश्वर्धमिव प्राधा-
 स स्तूयते । प्राधान्येन न्येन ’ । स्वप्राधाना स्तुतिः कचिदाश्वर्धं चित्रतः
 कचिदेव स्तुतिः स्यात् । ‘ तस्य पावमानीपु’ ऋक्षु ‘ निद-
 र्शनाय ’ उभयम् ‘ उदाहारीष्यामः ’ परार्थतः
 स्तुतेः स्वार्थत्वं च । परार्थं तावदुदाह्रियते । तद्यथा ॥ २ ॥

स्वादिष्टया मदिष्टया पवस्व सोम धारया । इन्द्राय पातवे
 सुतः (ऋ० सं० १९ । १ । १) ॥ इति सा निगदव्याख्या-
 ताथैपापरा भवति चन्द्रमसो वैतस्य वा ॥ ३ ॥

स्वादिष्टया मदिष्टयेति । मवुच्छन्दस आर्षम् । प्रावस्तीत्रे (आश्व०
 श्री० ५ । १२) । हे सोम स्वादिष्टया स्वादु-
 संमः तमया मदिष्टया मद्यिततमया त्वं धरया पवस्व
 प्रश्नर । किमर्थम् । इन्द्राय इन्द्रार्थं पातवे पानाय सुतः अभिपूतः ।
 इन्द्रार्थं पवस्वेत्यस्वार्थता लक्ष्यते ।

१ ग. ज. घ. ट. ठ. ड. मध्यस्था०. २ ग. च. ज. ङ. ड. दिव ज्यो. ३ ग.
 च. ज. सुवर्. ४ ग. ज. स्वतेवृ. ठ. ड. स्व तवृ. च. स्वैतन् स्वात. ५ क.
 रा. घ. ट. ठ. ड. साऽयमे. ग. ज. सोममेतना. च. सोममेऽय. ६ ट. ङ.
 यथा । इति निरुक्तमध्ये पञ्चमाध्याये द्वितीयः खण्डः; क. रा. ग. च. वर्गमितरे-
 ष्वङ्गो नास्ति. ७ ग. येति । म. ८ क. रा. घ. ट. ठ. ड. स्तोत्रे विनिर्गो. ९
 हे; च. स्तोत्रे । हे विनिर्गो.

‘अथैवापरा भवति चन्द्रमसो वैतस्य वा’ इति । ‘अथ’ शब्देन विशेष-

एवापरा ऋक् चन्द्र-
मस एतस्य वा

पाधिकारवाचिना सप्रधानतां स्तुतेरधिकरोति ।
चन्द्रमसो वेति चन्द्रत्वमापन्नस्यार्थोपाधिसो-
मस्यै । यथोक्तं ‘स तन्नुकरणे’ (निरु०

११ । २) । इतरथा ह्यप्राकृतप्रक्रिया स्यादनाधिकारादास्मिन् प्रक्रमे
चन्द्रमसः । चन्द्रमसो वाधिदैवमापन्नस्य । औपविशोमस्य वाधियज्ञमाप-
न्नस्य । तदेतदुभयथा दर्शयति ॥ ३ ॥

सोमं मन्यते पपिवान्यत्संपिपन्त्योपधिम् । सोमं यं ब्रह्माणो
१० विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन (ऋ० सं० १० । ८५ । ३) ॥
सोमं मन्यते पपिवान्यत्संपिपन्त्योपधिमिति वृथासुतमसोममाह
सोमं यं ब्रह्माणो विदुरिति न तस्याश्नाति कश्चनायज्वेत्यधियज्ञ-
मथाधिदैवतं सोमं मन्यते पपिवान्यत्संपिपन्त्योपधिमिति यजुः-
सुतमसोममाह सोमं यं ब्रह्माणो विदुश्चन्द्रमसं न तस्याश्नाति
१५ कश्नादेव इत्यथैवापरा भवति चन्द्रमसो वैतस्य वा ॥ ४ ॥

सोमं मन्यते पपिवानिति सूर्याया आर्षम् । विवाहे विनियोगः

अधियज्ञे सोमः (अश्व० गू० १ । ८ । १३) ।
यत्संपिपन्ति संचूर्गयन्ति अभियुज्य पिबन्ति

२० सोममोपधिं केचिद्रासायनिकाः । ते मन्यन्ते सोमं पपिवांसः सोममपार्षम्
इति । न च पुनस्ते सोमपाः । वृथासोमः स इति । अनेन तावदर्धच-
नायं मन्त्र एव ‘वृथासुतमसोममाह’ पातृध । अथ कः सोमः के च
सोमपाः । यतो ब्रवीति । सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन । यं
ब्राह्मणाः सोमं विदुः अधियज्ञे अङ्गभूतं न तस्याश्नाति कश्चन अपयज्वा
२५ अनधिकृतो यजमानत्वेन । ‘इयधियज्ञम्’ इति विवस्वमुपदर्शयति ।

१ ग. ज. ‘स्याप्योव’ । २ क. ल. प. ट. ‘मस्य वा । प’; च. ‘मस्यो’ ।
प’ वा. ३ ग. ज. ओष’ । ४ क. ल. प. ट. प्रदर्श’; च. ‘थाद’ प्र; ठ. ड.
प्रदर्शयति । इति निरुक्तभाष्ये पञ्चमाध्याये उत्तरपटके गृहीतः स्रष्टः; क. ल. ग.
च. बर्धनिनोत्पद्यते नास्ति. ५ ग. ‘मिति’ । हू’. ६ ग. ज. किञ्चि’; च. किञ्चि’
के. ७ क. ल. ‘वात्पमिति, प. ट. ट. इ. ‘वात्प इति. ८ ग. ज. इति च,

‘ अथाधिदैवतम् ’ इति विषयान्तरमाधिकरोति । उक्तं हि ‘ चन्द्र-
मसो वा ’ (निरु० ११ । ३) इति । तदुपप्रदर्शनार्थमाह । सोमं
मप्यते पपिवान्यत्संपिपन्त्योपधिमिति ‘ यजुःसुतम् ’ अधियज्ञं चन्द्रमसम-

अधिदैवते
चन्द्रमाः

पेक्ष्य ‘ असोममाह ’ । यथा पूर्वस्मिन् रासाय-
निकसोमस्यासोमत्वमाधियज्ञमपेक्ष्यैवमिहाप्यधियज्ञ-
सोमस्यासोमत्वमधिदैवसोमं चन्द्रमसमपेक्ष्य । एवं

कृत्वा सोमं यं ब्रह्माणो विदुश्चन्द्रमसं न तस्याश्राति कश्चन अदेव इति ।
देवानां हि भक्षत्वेन विपारिणतश्चन्द्रमाः । ‘ सोमो नूनमेव तद्देवानामन्नम् ’
इति ह विज्ञायते । एवमस्य स्वप्रधाना सोमस्यै स्तुतिः ॥

‘ अथैवापरा भवति चन्द्रमसो वैतस्य वा ’ । सा किमर्थम् । ‘ अथ- १०
यमिष प्राधान्येन ’ इत्युक्तम् (निरु० ११ । २) । तथा चेषमपरा
अन्या प्रौधान्यस्तुतिरप्यस्ति सोमस्येत्युपप्रदर्शनार्थमाह ॥ ४ ॥

यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनः । वायुः सोमस्य
रक्षिता समाना मास आकृतिः (ऋ० सं० १० । ८५ । ५) ॥ १५
यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनरिति नाराशंसानभिप्रेत्य
पूर्वपक्षापरपक्षाविति वा वायुः सोमस्य रक्षिता वायुमस्य रक्षिता-
रमाह साइचर्याद्रसहरणाद्वा समानां संघत्सराणां मास आकृतिः
सोमो रूपविशेषैरोपधिश्चन्द्रमा वा चन्द्रमाश्चायन्द्रमति चन्द्रो
माता चान्द्रं मानमस्येति वा चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मणश्चन्दनमि- २०
त्यप्यस्य भवति चारु द्रमति चिरं द्रमति चमेर्वा पूर्वं चारु रुचे-
र्विपरीतस्य तस्यैवा भवति ॥ ५ ॥

१ क. ख. घ. ट. ठ. ड. भक्ष्यत्ये°; च. भक्षे°ह्य. २ ग. ज. सोमस्तु°. ३ क.
ख. घ. ट. ठ. ड. °न्या स्वार्थगा°; ग. ज. पथानस्तु°. ४ ठ. ड. °मह । इति
नैरुक्तभाष्ये उदरपट्टके चतुर्थाध्याये चतुर्थः खण्डः, क. ख. ग. च. वर्णमितरेष्वडो
पास्ति.

यस्या देव प्रपिबन्तीति । यदा त्वां हे देव सोम प्रपिबन्ति प्रारभन्ते

अस्यामपि सोम-
चन्द्रमा वा । अधिपञ्चे
सोमः

पातुमृत्विम्यजमानाः त्रिषु सवनमुखेषु । तदा
किमिति । तत आप्यायसे पुनः । ततः अनन्तरं
पुनः आप्यायसे । तदुक्तमधियज्ञे “ आप्याय-
नमाप्यार्यैस्व ‘सं ते पयासि’ (ऋ० सं० १ ।

९१ । १८) भक्षशेषान् ” (मान० श्रौ० २ । ४ । १ । ४६)
इति । वायुः सोमस्य रक्षितेति । वायव्येष्वसौ पात्रेषु गृहीतो रक्षत

वायुः कथं सोमस्य
रक्षिता

इति ‘ वायुमस्य रक्षितारमाह ’ मन्त्रकृ ।
‘ साहचर्योद्रसहरणाद्वा ’ । वायुसहचरितो
ह्यसौ । तेन नित्यं सहचरणादविनाभावार्क-

र्मणः । रसहरणाद्वा सर्वरसापहारी वायुः समर्थः सन्यन्न शोषयति
तेन सोमो रक्षितो भवति । समानां संबन्धराणां मासो माता निर्माता

सोम ओपधिः । सर्वस्य किलैपधिसोमस्य चन्द्रमसः कठोपचयमनु प्रस-
हमेकैरुद्देशेन कला इव चन्द्रमसः पर्णा-युपचीयन्ते । स पौर्णमास्यां

१५ पञ्चदशपर्णाः संपद्यते । पौर्णमास्याः पुनः परतः कलाहानौ चन्द्रमस
इव एकैकं पर्णमपचीयते इति ओपधिः सोमस्य चन्द्रमसः संपद्यते । तदा-

युर्वेदनिदः सोमलक्षणं रमार्यनतन्त्रे स्मरन्ति । अमुना प्रकारेणोपचया-
पचयाभ्यां पर्णानां मासोपलक्षणद्वारेण समानां संबन्धराणाम् आकृतिः

१० आकर्ता भवति सोमो ‘ रूपविशेषैः ’ । तदेवं पर्णानामुपचयापचयाभ्यां
मन्यन्त्यद्वयं प्रतिपद्यते । एवमधियज्ञेऽपि स एव ओपधिः सोमः ।

अथाधिदेरे । यस्या देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनरित्यारपञ्चे

अधिदेरे चन्द्रमाः पीयते रदिमभिः । तदुक्तम् ‘ यमाक्षतिमक्षिणयः
पिबन्तीति ’ (निग० ५ । ११) । तत

आप्यायसे पुनः । तं पूर्वपक्ष आप्याययन्तीति । तदुक्तम् । ‘ यथा देवा

अंशुमाध्याययन्तीति ' (निरु० ५ । ११) । वायुं सीमस्य चन्द्रस्यो रक्षितारमाह । एष ह्येनं सूक्ष्मया रश्मिनाड्या सुपुन्नाख्यया पुनर्यथाकाल-
मापूरयति । समानां संवत्सराणां मासः । चन्द्रमाः सोमो(पः)लक्षणत्वान्मासः ।
द्वादशकृत्वो मासभूतमात्मानमावर्तयन् संवत्सराणां कर्ता भवति । ' रूप-
विशेषैः ' इति कालानामुपचयापचयविशेषान्यां रूपाविशेषाश्चन्द्रमसः
प्रतिितिधि भवन्ति ।

' स्वादिष्टया मदिष्टया ' इत्यस्यामपि केचिदधिदैवमर्थं व्याचक्षते ।
'स्वादिष्टया मदि- तन्मतेनोच्यते । हे भगवन् सोम चन्द्र स्वादि-
ष्टया ' इत्येतस्याम- ष्टया अतिशयेन स्वादुत्तमया मदिष्टया अतिश-
प्यृचिअधिदैवे चन्द्र- येन मदयितृत्तमया परस्त्र प्रेक्षर धारया प्रत्यह-
मा इति केचित् मेकैकया कलय इन्द्राय सूर्याय पातवे मुतः
आपूरितः सुपुत्रेन रश्मिना ।

' चन्द्रमाः ' (३) कस्मात् । स हि ' चायन् ' पश्यन् सर्वभू-
तानि उपर्यवस्थितो ' द्रमति ' गच्छति । चायतेः
चन्द्रमाः कस्मात् पूर्वपदं द्रमतेरुत्तरपदम् । अथवा । ' चन्द्रो
माता ' । चन्द्रश्चासौ माता च निर्माता सर्वस्येति चन्द्रमाः । चन्द्रः
पूर्वपदं मातोत्तरपदम् । ' चान्द्रं मानमस्येति वाँ ' । तदेवोत्तरपदम् ।
केवलं तु समानाधिकरणः पूर्वो बहुव्रीहिरुत्तरः । अथ ' चन्द्रः '

चन्द्रः कस्मात् कस्मात् । ' चन्दतेः कान्तिकर्मणः ' । निव्य-
चन्दनं च कान्तो ह्यसौ । ' चन्दनमित्यपस्यैव ' चन्दतेः
' भवति ' । तदपि हि कान्तम् । अथवा ।
' चारु द्रमति ' । चारुशब्दोत्तरपदं द्रमतेरुत्तरपदम् । चार्थिति द्रमति-
क्रियाविशेषणम् । अथवा । ' चिरं द्रमति ' । तदेवोत्तरपदं चिरशब्दा-
त्पूर्वपदम् । ' चमेवां पृ ' द्रमतेरेवोत्तरपदम् । केऽर्थः । चम्यमानो

चारु कस्मात् मक्षपमाणो देवैरसौ द्रमतीति चन्द्रमाः । अथ
' चारु ' कस्मात् । ' रुचः ' अत्यन्तं विप-
र्युतस्य ' दीप्तिकर्मणः । ' तस्यैवा भवति ' ॥ ५ ॥

१ ग. ख. ज. 'देवतमर्थ' । २ ग. ज. क्षरस्व. ३ ग. ज. सुपु पश्यन् रश्मिना;
ख. सुपु पश्यन् रश्मिना. ४ क. ख. घ. ट. पश्यन् ५ क. ख. व. ट. ठ. ड. वा
चन्द्रमाः । च-द्रः पूर्वपदं तदे; ख. वा-ग तदे चन्द्रमाः । चन्द्रः पूर्वपद. ६ ट.
ड. व. ति । इति नेरुक्तभाष्ये पञ्चमाध्याये पञ्चमः खण्डः; क. ख. ग. चतुर्थमिने.
षडो नास्ति.

नवोनवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरूपसामेत्यग्रम् । भागं
 देवेभ्यो विदधात्यायन् चन्द्रमास्तिरन्तं दीर्घमायुः (ऋ० सं०
 १० । ८५ । १९) ॥ नवो नवो भवति जायमान इति पूर्वप-
 ५ क्षादिमभिप्रेत्याह्नां केतुरूपसामेत्यग्रमित्यपरपक्षान्तमभिप्रेत्यादि-
 त्पदैवतो द्वितीयः पाद इत्येके भागं देवेभ्यो विदधात्याय-
 भित्यर्धमासेज्यामभिप्रेत्य प्रवर्धयते चन्द्रमा दीर्घमायुर्मत्सुमीरय-
 तीति सप्तो मृतं च्याषयतीति चो ज्ञतबलाक्षो मौद्गल्यस्तस्यैषा
 भवति ॥ ६ ॥

- १० नवोनवो भवति जायमान इति । सूर्याया आर्षम् । दृणाशे चान्द्रमसे
 चन्द्रमा. चरं विनियोगो (आश्व० श्रै० ९ । ८)
 राजपक्षमगृहतिष्ठौ च (मान० श्रौ० २ । २ ।
 ७) । नवो नवो भवति जायमानः । चन्द्रवाः प्रतीच्या दिशि पूर्वपक्षा-
 लुपक्रमोऽक्तं नृहृदिरन्तं गते अदिले पश्चादादित्यस्य प्रतिम सं जायमानो
 १५ नवो नवो भवति । ' अह्ना केतुरूपसामेत्यपरपक्षान्तमभिप्रेत्य ' । अपर-
 पक्षान्तेषु प्राप्त्वा दिशि प्रक्षीणः कलामात्राशेषः अह्ना केतुः लक्षणम् ।
 तत्कलेपचयापचयार्थं प्रतिपक्षमृत्निष्पहानि लक्ष्यन्ते । अथवा । अह्ना
 केतुः कर्ता स्वगतिमिशेषः । उपसिभेत्प्रमिति । उपसो यः प्रज्ञाशस्त-
 स्यान्ते पुरस्तादुद्यतः सूर्यस्य दृश्यते । स पुनरेव एवं वर्षायेण प्रतीची-
 २० प्राप्त्वा दिशौ आयुर्ध्रुवपक्षापरपक्षविभागेन र्धधाविभगं देवेभ्यो विदधा-
 तीति । एकमेवऽपि पूर्वपक्षात्पूर्णासाप्येमायास्ययोः स्वगत्या काले तिथि
 विमर्शः देवेभ्यो ददाति । विभक्त्यादाने हेतुर्भवति । ' पूर्णं चन्द्रमस्तुपचये

पौर्णमास्यदर्शनेऽमावास्यायाम्' (मान० श्रौ० ४ । १ । १) इति ह विज्ञायते ।
य एतत्करोति चन्द्रमाः स प्रतिरते प्रवर्धयते ईजानाना दीर्घमायुः । वयमपि
च यजामहे तगनेन हविषा । अतः सोऽस्माकमप्येतत्करोत्वियेतदाशास्महे ।

‘आदित्यदैवतो द्वितीयः पाद इत्येके’ । ‘पूर्वोपरं चरतो माययैतौ’

आदित्यदैवतो (ऋ० सं० १० । ८५ । १८) इत्य- ५
द्वितीयः पाद इत्येके तोऽनन्तरमेवेयम् । मैत्रायण्ये समाने हविषे
विनियोगः (मैत्रा० सं० २ । २ । ७ ॥ ४ ।

१२ । २) इत्यपेक्षेयमपि सौर्याचन्द्रमसीत्यहां केतुरित्यतो विशेषलि-
ङ्ग इतीति ‘आदित्यदैवतो द्वितीयः पादः’ इति । तदर्थयोजना ।

यश्चन्द्रमा नवो नवो भवति जायमानो यश्च भागं देवेभ्यो विदधात्यायन् १०
यश्च प्रतिरते दीर्घमायुः सोऽस्माकमप्येतत्करोतु । अयं पश्यं सूर्योऽहां केतुः

कर्ता उदयास्तमयाम्याम् उपसां चाप्रमेति मुख्यश्चमगच्छति तत्कृतत्या-
दुपज्ञो जन्मनः । तदश्मिप्रान्तप्रोत्सार्यमाणे हि तमस्युपसो जायन्ते । स तासां
जनयितेति मुख्यः । अतः सोऽस्माकमेतदेवं करोत्वियेतदाशास्महे ।

इहं तु कथं चन्द्रमा मध्यस्थानः । ननु सूर्यात्परतः शतसहस्रे योजनानां १५

चन्द्रमाः कथं म- चन्द्रमतः स्थानमिति पौराणिकाः स्मरन्ति
मध्यस्थानः (ब्रह्मपुराणं २३ । ५) । सर्वं स्मरन्ति । कर्म-
संयोगेन तु सुस्थान्त्वे सति सर्वदेवतानां विशेषै-

स्थाननियमो विवक्षितः । तदेतदेन्द्रं कर्म रसानुप्रदानं वृत्तयो बलकृति-
रिति । तथा बाहुल्येनैन्द्रेषु दृष्टत्वात् । बलकृतिर्ध्वं च द्रे दृष्ट । यथा । २०

‘वधैरंजेत दुर्भक्तिम्’ (निरु० १० । ४२) । प्रसिद्धं चेदभिन्दु-
श्चन्द्रमा इति । रसात्मकत्वाच्चन्द्रमसो रसानुप्रदानसंबन्धः । एवं चेदिन्द्र-

श्चन्द्रमाः । तस्य मेघवधाधिकारसंबन्धात्कर्तुरेन सूर्यादवगिति युक्तं मध्य-
स्थानश्चन्द्रमाः । अपि च । ओषविसोमश्चन्द्रमा भवत्यधिपज्ञमापन्नः ।

स चन्द्रस्यास्रम् । अर्जं चान्नादस्यात्सोद्भवत्यद्यमानस्यानन्यत्वेनावस्था- २५

१ ठ. ड. सर्वा ऋद् पठयते २ क. ए. ए. ट. ठ. ड. यश्च; च. पश्यं यश्च.
३ क. म. च. ट. ठ. ड. °न्तेऽपः स’; च. °न्तेऽ स° अतः. ४ क. ल. च. ट.
ठ. ड. ‘सु’ मारित. ५ क. ख. प. ट. ठ. ड. ‘क्षेत्रतः रया’. ६ ग. ज.
°तिश्चन्द्रे; च. ‘तिश्चन्द्रे’ ख. ७ ग. च. ज. तथा. ८ ग. ज.. ‘विमिनि । ष’;
च. ‘ति मने । ष’ ति. ९ क. ख. प. ट. ‘चन्यः वतुं’; च. ‘वन्धात्क’ ना.क. १०

नात् । इत्यतो युक्तं मध्यस्थान इति । यथा च सर्वगतो वायुर्विशेषतो
मध्यस्थान इति । एवम् । इत्यतोऽदोषः ।

- ‘ मृत्युः ’ (४) इति दक्तव्यम् । स कस्मात् । ‘ मारयतीति
सतः ’ । मध्यमो हि प्राणो मृत्युः । उत्कामञ्छ-
५ मृत्युः कस्मात् शीरदितैः प्राणैः प्राणिनो विगोजयति । एवं
मारयति । विज्ञायते हि । ‘ प्राणमनुत्कामन्तं सर्वे प्राणा अनुत्कामन्ति ’
(वृ० उप० ४ । ४ । २) इति । अथवा । ‘ मृतं च्यावयति ’ ।
ये एषोपक्षीगायुर्भवत्युपक्षीणकर्मा तमेवासावपगमनेन प्रच्यावयति । ‘ शत-
बलाक्षो मौद्गल्यः ’ आचार्यो मन्यते । बहुबलानि अक्षाणि इन्द्रियाणि
१० यस्य स शतबलाक्षः बह्विन्द्रियः । मुद्गलस्यापत्यं मौद्गल्यः । ‘ तस्य ’
मृत्योः । ‘ एषा भवात् ’ ॥ ६ ॥

- परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात् ।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मानं प्रजां शीरिषो मोत वीरान्
१५ (ऋ० सं० १० । १८ । १) ॥ परं मृत्यो ध्रुवं मृत्यो ध्रुवं
परेहि मृत्यो कथितं तेन मृत्यो मृतं च्यावयते भवति मृत्यो मदेर्वा
मुदेर्वा तेषामेषा भवति ॥ ७ ॥

- परं मृत्यो अनु परेहि पन्थामितं । सङ्कुमुको नाम । तस्पर्यम् ।
२० मृत्युः आग्रहोमः । पुत्रकामके कर्मणि स्थार्त्तापाकवि-
धाने पडाहनिः (मान० गृ० २ । १८ ।
२) । हे मृत्यो परम् अन्यम् अनुपरेहि अनुपरागच्छत्वं पन्थानं यः ते
सः । कतमः सः । इतरो देवयानात् । यस्मादेवयाने पथि वयं स्थिता
अनाध्व्यास्तत्र पितृदानं पन्थानमनुपरेहि त्वम् । अपि च । चक्षुष्मने
२५ शृण्वते च ते तुभ्यं ब्रवीमि । मा त्रमस्माकं प्रजा पुत्रान् पौत्राश्च शीरिषो
हिंसीः । मा एत वीरान् अन्यानपि येऽस्मदाश्रयाः पुत्रास्तानपि मा
हिंसीरिति ॥ ७ ॥

- १ ठ. ह. ‘ वनि । इति निष्कभाष्ये पञ्चम. ष्याये षष्ठः खण्डः; क. ख. ग.
च. वर्धमिनेष्वङ्गो नास्ति. २ ठ. ह. मृत्यो इति. ३ ग. ‘ मिति । मं. ४ ग. ज.
पुत्रांश्च शीः; च पुत्रांश्च शीः दान् पौत्रांश्च. ५ ठ. ह. ‘ रिति । इति ७ खण्डः;
२२ नदधर्मिनेष्वङ्गो नास्ति.

त्वेषमित्यो समरंशं शिमीवतो रिन्द्राविष्णू सुतपा वास्युरुष्यति ।
या मर्त्याय प्रतिधीयमानमित्कृशानोरस्तुरसनामुरुष्यथः (ऋ०
सं० १ । १५५ । २) ॥ इति सा निगदव्याख्याता । विश्वान-
नरो व्याख्यातस्तस्यैषा भवति ॥ ८ ॥

‘ विश्वानर व्याख्यातः ’ अभिवानतोऽभिधेयतथ (निरु०
७ । २१) । ‘ तस्यैषा भवति ’ ॥ ८ ॥

प्र वो महे मन्दमानायान्धसोऽर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे ।
इन्द्रस्य यस्य सुमखं सहो महि श्रवो नृम्णं च रोदसी सपर्यतः १०
(ऋ० सं० १० । ५० । १) ॥ प्रार्चत यूयं स्तुतिं महतेऽन्ध-
सोऽन्नस्य दात्रे मन्दमानाय मोदमानाय स्तूयमानाय शब्दाद्यै-
मानायेति वा विश्वानराय सर्वं विभूतायेन्द्रस्य यस्य प्रीतौ सुम-
द्वलं महश्च श्रवणीय यशो नृम्णं च बलं नृन्नतं द्यावापृथिव्यौ वः
परिचरत इति कमन्यं मध्यमादेवमवर्ष्यत्तस्यैषापरा भवति ॥९॥ १५

प्र वो मह इति । वैकुण्ठस्यार्पम् । जगती । महाव्रते विनियोगः (ऐ०
आ० ५ । ३ । १) । हे स्तोतारः प्रार्चत प्रोच्चा-
निश्चानरः रयत स्तुतिम् उच्चार्यमाणा चान्द्रैः प्रपूजयत ।
कस्मिन् । विश्वानराय । किलक्षणाय निश्चानराय । महे महते अन्धसः अन्नस्य २०
दात्रे मन्दमानाय दृष्यमाणाय । अयमा । शब्दाद्यमानाय स्तोतृभिः । विश्व-
भुवे सर्वप्रकारविभूतियुक्ताय । इन्द्रस्य ईश्वरस्य यस्य विश्वानरस्य सुमखं

१ ठ. त्वेषमित्येति मङ्गाराग्रुर्गर्भेदिकपाठ । त्वेषमि था० (सर्वा क्रमपठयते) ।
इति सा निगदव्याख्याता । विश्वानरो व्याख्यानस्तस्यैषा भवति । इति निरुक्तभाष्ये
उत्तरपङ्के पञ्चमाध्याये अष्टम. खण्डः, ठ. त्वेष मित्येने मङ्गाराग्रुर्गर्भेदिकपाठः ।
इति सा निगदव्याख्याता ॥ ८ ॥ इति निरुक्तभाष्ये ८ खण्ड. । विश्वानरो १. २ घ.
ट. ज. अहो नास्ति. ३ क. स छ त द. शब्दाद्यमा. ४ छ त. द. 'वक्षत'.
५ ग. इति । ६०.

सहः सुमहद्वलं महि महव श्रमणीयं यशो बलमायतिर्भहणी नृम्यां
च नृन् मनुष्यन् प्रनि यद्विशेषतो नतं बलं तच्च यस्य महत् । अपि चैता
वः स्तुतिं यस्य विश्वानरस्य प्रोच्यमाना यावापृथिव्यौ परचरतः पूजयतः
अभिनन्दतः । सर्वभूतानामियमभिमता स्तुतिरस्त्रित्यभिप्रायः ।

- ६ ' तस्यैषा परा भवति ' । सा पुनः किमर्थम् । सुस्थानोऽपि हि विश्वानरः समाज्ञातः (निघ० ५ । ६ । १२) । अस्या तु परस्यां व्यपदेशादुत्तमेन ज्योतिषा विश्वानरस्यासंशयं मध्यमत्वंमित्येवमुदाह्रियते ॥ ९ ॥

- उद्गु ज्योतिरमृतं विश्वजन्यं, विश्वानरः सविता देवो अश्रेत्
१० (ऋ० सं० ७ । ७६ । १) ॥ उदशिश्रियञ्ज्योतिरमृतं सर्वजन्यं
विश्वानरः सविता देव इति धाता सर्वस्य विधाता तस्यैषा
भवति ॥ १० ॥

- उद्गु ज्योतिरिति । वसिष्ठार्यम् । प्रातरनुवाकं विनियोगः (आश्व०
१५ स एव श्री० ४ । १४) । उदश्रेत् उच्छ्रयति ऊर्ध्वमुप-
नयति विश्वानरो मध्यमो वायुः । किम् । एतत्
ज्योतिः अमृतं सूर्यालयम् । सर्वगन्तृणा वायुपूर्वकं ध्यात्मान्म्योपपद्यते । विश्व-
जन्यं सर्वलोकहितम् ।

- एतन्म विश्वानरो ज्योतिरुत्थयतीति व्यपदेशान्मध्यमो विश्वानरः । एवं
२० चाभिप्रायोक्त ' कर्मण्यं मध्यमादेवमवश्यत् ' (निर० ११ । ९) इति ।

ओषस्पोऽर्धं उत्तर इति भाष्यकारो नाधिजगे । प्रसङ्गतस्तु निर्धुमः ।
यदा तज्ज्योतिरुत्थानेमुत्तरीयते विश्वानरेण्यत् तदा क्र सा तत्कर्मणा

१ ग. ज. स्तुतिमय, च. स्तुतिर्मय^० त्तं य. २ ठ. ह. 'वति । निरुक्तभाष्ये
पञ्चमाध्याये नवमः खण्डः. ३ ग. ज. 'स्थानेऽपि'. ४ क. ल. म. च. वरुणिते-
स्वज्ञो नास्ति. ५ छ. ल. द. 'सिमय'. ६ ग. 'गिति व'. ७ क. ल. प. ट. न.
द. वायुः सविता । किं च वायुः । किं तस्मिन्. ८ ग. म. 'पूर्वत्वा'. ९ क.
१० ज. 'स्थानमुदयमुत्तरीयते'.

देवानां रश्मीनां चक्षुः ख्यातं प्रकाशः अजनिष्ट जायते उपाः । सा च पुनर्जाता व्याविरकः भुवन द्विष्वं सर्वमावि.करोति भूतजातमित्यर्थः ।

‘घाता’ (६) कस्मात् । स हि ‘सर्वस्य विधाता’ सद्यः । उदक-
धाता कस्मात् पूर्वकत्वाःसर्वविधानस्य मध्यमः । ‘तस्यैषा
भवति’ ॥ १० ॥

धाता ददातु दाशुपे प्राचीं जीवातुमक्षिताम् । वयं देवस्य
धीमहि सुमतिं सत्यधर्मणः (अथ० सं० ७ । १७ । २ ॥ मैत्रा०
सं० ४ । १२ । ६) ॥ धाता ददातु दत्तवते प्रवृद्धां जीविकामनुप-
क्षीणां वयं देवस्य धीमहि सुमतिं कैल्याणीं मतिं सत्यधर्मणो
विधाता धाम्ना व्याख्यातस्तस्यैव निपातो भवति बहुदेवताया-
मृचि ॥ ११ ॥

धाता ददातु दाशुप इति । वामदेवस्वार्पम् । देनिकामु धात्रे हविषि
विनियोगः (मैत्रा० सं० ४ । ३ । ५) ।
धाता य एव कश्चिद्वात्रे दत्तवान् हविर्भवति तस्मै
दाशुपे स ददाति । किं ददाति । प्राचीं जीवातुमक्षिताम् । प्राचीं प्रवृद्धां
महतीं जीवातुं जीविकाम् अक्षिताम् अक्षीणाम् । यत एवमनो ब्रूमः ।
वयं देवस्य धातुः धीमहि धारयामहे सुमतिं कल्याणीं मतिं नित्य हवि-
र्दानयुक्तां सत्यधर्मणः नित्यमवित्तवार्थकारिणः ।

‘विधाता (७) धा । व्याख्यातः’ (निरु० ११ । १०) ।
धातैव विधाता । ‘तस्यैव निपातो भवति’ स्तुतिसाधारणेन ‘बहुदेव-
तायामृचि’ ॥ ११ ॥

१ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ख्यानं, च ख्यानं ० न. ० ठ. ड. ‘वति । इति
निरुक्तभाष्ये पञ्चमाध्याये १० ० ००६; क. ख. ग. घ. वर्जमिनेष्वङ्गो नास्ति.
२ छ. त. द. कल्याणीं मतिं कृमतिं. ५ इति । वा. ५ ग. ज. सत्यमं, च.
सत्यं नि. ० ठ. ड. ० मृचि । इति निरुक्तभाष्ये पञ्चमाध्याये ११ एण्डः, क. ख.
ग. घ. वर्जमिनेष्वङ्गो नास्ति.

सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि बृहस्पतेरनुमत्या उ शर्मणि।
 तवाहमद्य मघवन्नुपस्तुतौ धातविधातः कलशां अभक्षयम् (ऋ०
 सं० १० । १६७ । ३) ॥ इत्येताभिर्देवताभिरभिप्रमूतः सोम-
 कलशानभक्षयमिति कलशः कस्मात्कला अस्मिञ्छेरते मात्राः
 कलिश्च कलाश्च किरतेर्विकीर्णा मात्राः ॥ १२ ॥

इत्येकादशाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

- सोमस्य राज्ञः इति । विश्वामित्रस्यार्यम् । सोमस्य राज्ञो धर्मणि कर्मणि यत्र
 १० विधाता सोम इज्यते तस्योपस्तुतौ वर्तमानस्तेन प्रसूतः
 सोमकलशान् अभक्षयम् । वरुणस्य चैवमेव ।
 बृहस्पतेश्च अनुमत्याश्च शर्मणि शरणे आश्रये वर्तमानस्ताभ्यामभि-
 प्रसूतः । तवाहनद्ये मघवन् उपस्तुतौ युवयोश्च हे धातः विधातः
 सर्वैर्भवेन्निरनुशात एतान् सोमकलशान् अभक्षयमिति ।
 ' कलशः कस्मात् । कला अस्मिन् शेरते मात्राः ' । कला
 १५ कलशः कस्मात् अवयवाः सोमसमुदायात्केचिद्वृथकहनाः । ते
 शेरते आसते अस्मिन् । कलाशब्दात्पूर्व-
 पदं शीङ् उत्तरपदम् । अथ कलः कस्मात् । अत्र आह कानि-
 २० कलाः कस्मात् कलिश्च कलाश्च किरतेर्विकीर्णा
 कलिश्च मात्राः । ' क्व विक्षेप ' (धा० ६ । १२८)
 इत्यस्य । कली वचासि परस्परं विक्षिपन्ते ।
 कला अपि विक्षिप्ता भवन्ति कुतश्चिःसमुदायादिति ॥ १२ ॥
 एकादशाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

- १ छ. त. व. 'कलशः कला'. २ छ. प्रथ'; त. एकादशे प्रथ'; ड. थं ध. ठ.
 ड. 'ध्रुवे० पादः' नास्ति ३ ग. इति। वि० ४ क. ख. घ. ङ. ठ. ड प्रवर्त'; च.
 २५ 'वर्त' प्र. ५ क. ख. घ. ट. ठ. ड. तवाहं हे मघवमद्य उप'; च. तवाह [हे हे] मघ-
 वन्नु न् उप उ', ६ क. ख. व. ट. ठ. ड. 'धानः हे वि'; च. 'धातः वि'
 हे. ७ ग. ज. 'भक्षयि'. ८ ग. ज. शर्मते. ९ क. ख. घ. ट. 'चमानिर्वचनवत';
 च. 'चर्मो क' नानिर्वचनप्रसङ्गे । १० ठ. व. 'इति । इति वे हहाप्यान्त
 प्रथमः पादः । इति निहकभाष्ये उत्तरपदहे पञ्चमः पादः (१९ एतद्); क. ख. ग.
 ३० च. 'वर्तित्वेरेण' नास्ति.

द्वितीयः पादः ॥

अथातो मध्यस्थाना देवगणास्तेषां मरुतः प्रथमागामिनो भवन्ति
मरुतो मितराविणो वा मितरोचिनो वा महद्द्रवन्तीति वा तेषा-
मेषां भवति ॥ १३ ॥

५

‘अथातो मध्यस्थाना देवगणौः’ । अथातः शब्दांबुक्तयोः । तयोः
पुनरुपस्थासो बहुवचनेविशिष्टोऽयमपरोऽविकार इति । मध्यस्थाना देव-
गणा इतीदमपि प्रसिद्धमेव । ‘तेषां मरुतः (८) प्रथमागामिनो भवन्ति’ ।
कस्मात् । वायुरेव हि भेदेनापेक्षमाणो मरुदभिधानो बहुवचनभा-
भवति । तेषां पाथम्यं वायुना व्याख्यातम् । एतावान्मुनिशेषः । १०
बहुसाध्ये कर्मणि बहुधा मध्यमो भवति । पृथक्त्वेन तु विज्ञाता मरुतः
शुक्लयजुर्वेदे चित्रश्रुतिश्चैवेवमादयः सप्तसप्तका देवगणा मरुतेषु
गणेषु सप्तत्रयाण्येव । अग्नौ पुराणे चैते एव प्रतिष्ठाः सप्तसप्तकायुविचा-
रिणो मारीचाकदम्पादिभ्यो ये जज्ञिरे । निरुक्तमयस्तु सर्वे एव गणा
मरुतः । उक्तं च वार्तिके । ‘मध्यमा वाक्स्त्रियः सर्वाः पुमान्सर्वश्च १५
मध्यमः । गणाश्च सर्वे मरुतो गणनेदाः पृथक्त्वोः’ (बृहदे० ५ । ४८) ॥

१०

१५

अथ ‘मरुतः’ (८) कस्मात् । ‘मितराविणो वा’ । मितं नाम
मरुतः कस्मात् सुश्लिष्टम् । यथा तेषां यैष्यं रवितुं तथा स्रज्जितं
स्रज्जयन्ति । अथवा । ‘मितरोचिनः’ । तथैव ।
सुश्लिष्टं रोचन्ते । ‘अमितराविणः’ इति केचिद्व्यञ्जन्ति ‘मरुतोमितरा- २०
विणः’ इति समाससंहितयाद्वा परस्य तेषाम् । बहुप्रकारं च ते मरु-
त्यर्थः । ‘मितरोचिनः’ इत्यत्राप्येवम् । ‘महद्द्रवन्तीति वा’ ।

२०

१ क. ख. घ. मरुत्त्रयं. २ क. ख. १ (१३), त. द. १ ३ ट. ड. १ गणा
इति । अथा. ४ म. च. ज. येन ए. ५ क. ख. ग. ट. ६. सप्तसा पुनरावि-
च. सप्तसप्तकायुवि. ७ धा पुनरा; ट. सप्तसा युवि वि स्तत्रगणु. ६ क. ख. घ. २५
ट. ठ. ड. १ पाठोऽप्येव, च पाठोऽप्येव. ७ ट. ‘मध्यमा०’ अस्य पाठान्तरे
माने लिखन्ते ‘सर्वा स्त्री मध्यमस्थाना पुनरागणुश्च सर्वगः । गणाश्च सर्वे मरुत
इति बृहदानुशासनम् ॥ इति, इदं पाठः-त. ट. ड. पुनरागणुश्च सर्वगः;
ख. पुनरागणुश्च सर्वगः. ८ क. ग. ग. ट. ड. अमितं. ९ म. ज.
मरुत्त्रयं.

२५

इह शब्दमहत्ताभिप्रेता । पूर्वत्र बाहुल्यं बहुपकारता च । 'तेषामेषा भवति ॥ १३ ॥

- आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्के रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपणैः ।
 ५ आ वरिष्ठया न इषा वयो न पत्तता सुमायाः (ऋ० सं० १ ।
 ८८ । १) ॥ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्केः स्वञ्जनोरिति वा स्वर्चनै-
 रिति वा स्वर्चिभिरिति वा रथैरायात ऋष्टिमद्भिरश्वपणैरश्वपत-
 नैर्वरिष्ठेन च नोऽन्नेन वय इषापतत सुमायाः कल्याणकर्माणो
 वा कल्याणप्रज्ञा वा रद्रा व्याख्यातारतेषामेषा भवति ॥ १४ ॥

१०

- आ विद्युन्मद्भिरिति । गोतमस्वर्षिम् । आस्तारपङ्क्तिः । हे मरुतः
 मरुतः आयात यूयम् । केन कीदृशेन वा । विद्यु-
 न्मद्भिः रथैः रथेभिः रंहणैर्भेषैः स्वञ्जनैः
 मुगधनैः । यद्वा । स्वर्चनैः शोभनमर्चनं देषां तैः । मुमु षुजितैः ।
 १५ अथवा । स्वर्चिभिः अनुपरतविद्युसंपातैः । ऋष्टिमद्भिः रेपणवद्भिः अना-
 काळस्य नाशनैः । पृथक्त्वे । विद्युन्मद्भिरेव ऋष्टिमद्भिः आयुधोपेतैः ।
 अज्ञानपतनैः व्याप्तुवतो येऽन्तरिक्षे भेषाः पतन्ति । पृथक्त्वे । समं
 समेता अश्वसुभिरिति । अग्नि च । किमेवमेव यथाकथंचिदागच्छनेत्यग-
 मनमात्रे वयमर्थिनः । नेत्युच्यते । आ वरिष्ठया न इषा वयो न पत्तता
 २० सुमायाः । हे सुमायाः सुकर्माणः सुप्रज्ञा वा आपतत । कथम् । वरिष्ठया
 इषा अन्नेन अस्म प्रदेयेन नष्टताः । किं शनर्धरापतत । नेत्युच्यते । वयो
 न वय इव पाक्षिण इव शीघ्रनपततेत्येतदाश्रयमेहे ।

१ क. ए. १ (१३), ट. इ. १३ । इति निरुक्तभाष्ये च एषद्वेके पक्षमाश्रये
 १३ एण्डः; क. ख. ग. घ. वर्णमिरेण्यद्वौ नास्ति. २ क. ए. - (१४); त. इ.
 ०. ३ ग. 'सिद्धिः' । शो ४ क. ए. घ. ट. ट. इ. 'मद्भिः विद्युत्पतनं विद्युत्
 विद्युत्पतितपुनः स्वर्केः, घ. 'मद्भिः' । एषं विद्युत्पतनं विद्युत् विद्युत्पतितपुनः
 ५ क. ख. घ. ट. ट. इ. आपतत आपतत । व्याख्यातारर्थः । इयम्; १. क.
 १८ आत्तत; घ. अपतन् आत्तत.

‘ रुद्राः (९) व्याख्याताः (निरु० १० । ५) । तेषामेवा भवति ’ ॥ १४ ॥

आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोपसो हिरण्यरथाः सुविताय गन्तन । इयं वो अस्मत्प्रति हर्षते मतिस्तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे (ऋ० सं० ५ । ५७ । १) ॥ आगच्छत रुद्रा इन्द्रेण सहजोपणाः सुविताय कर्मण इयं वोऽस्मदपि प्रतिकामयते मतिस्तृष्णज इव दिव उत्सा उदन्यवे इति तृष्णकृतृष्णतेरुदन्युरुदन्यतेः ऋभव उह भान्तीति वर्तेन भान्तीति वर्तेन भवन्तीति वा तेषामेवा भवति ॥ १५ ॥

• वा रुद्रास इति । इयान् श्वन्यार्पम् । जगती । आग्निमारुते शस्यते ।
 रुद्राः हे रुद्राः आगच्छत यूयम् । इन्द्रवन्तः । ‘ इदि परमेश्वर्ये (धा० १ । ६३) ’ । सजोपनः परमेश्वर्येण नियमासेविताः । पृथक् वपक्षे तूपयज्ञ एव इन्द्रेण सह प्रीयमाना इति । हिरण्यरथाः उदकहरणार्थं रंहणाः । पृथक् वपजे तु हिरण्यविकृतरथाः । सुविताय एतस्मै कर्मणे सुष्टु सर्गुगाय यथाशास्त्रं क्रियमाणाय प्राप्स्यर्थम् । किमिति आगच्छत । वः युवान् इयमस्मत्प्रतिः प्रतिहर्षते प्रतिकामयते । युष्मद्विवाकृतमिदं कर्म गुणवदप्येतेरज्ञैर्मा भूद्विगुणमित्येवमर्थं प्रतिहर्षते । अपि च । हविः पूः देवताः प्रेक्षन्ति ब्राह्मण इवोपनिमन्त्रणम् । ततो यजमानः संस्कृते हविषि तदव्यापत्तये यागकालानतिक्रमणाय चाक्षपतिरिवात्रे संस्थते तदव्यापत्तये भोजनकालानतिक्रमणाय च देवताः प्रतिप्रेक्षन्ति । विज्ञायते हि । ‘ देवता वै सर्वा आसन्ति ग्रहे गृह्णामणे महां ग्रहं गृह्णाति ’ (भैरा० सं० ४ । ८ । ७) इति । अत इदमुक्तम् ‘ इयं वो अस्मत्प्रति हर्षते मतिः ’ इति ।

१ क. ख. २ (१४) । ट. ड. ० नि । इति निरुक्तभाष्ये उत्तरपटके पञ्चमाध्याये षण्दशः खण्डः । क. ल. ग. च. वर्जितरेष्वङ्गो नास्ति. १ क. ख. छ. त. द. न. वो अस्मत्. २ क. ल. ३ (१५), त. द. ३. ४ ग. इति । इयां. ५ ग. ज. तस्मिन्मणि, (स्मै) च. तस्मिन्मणि (जे) ६ ग. ट. सगणाय; ट. ड. सुगणनाय. जो. ७ ग. ज. दप्यनैर.

कथं पुनः प्रतिहर्षते । तृष्णजे न तृष्णजे इव । तृष्टुपजायते यस्मिन्
विशेषतः काले स तृष्टुपजः कालो घर्मान्तः । तस्मिन् यथा दिव उस्तां
शुलं कादस्ताः उस्तप्रभवा भेद्या आपः उदन्वये उदकमिच्छते लोकाप
आगच्छन्ति प्राशुषि तथास्मन्त्या प्रतिहर्षमाणा आगच्छतेति । उदन्वु-
५ धातक इति केचित् । तस्य प्रेमतो यथा दिव उस्ता मेघा आगच्छन्ति
तथास्माकमागच्छतेत्येवं तेषां याजना ।

‘ ऋभवः ’ (१०) करमात् । ‘ उरु भान्तीति वा ’ । ते हि
बहु भान्ति दीधने । उरुशब्दात्पूर्वपदं भातेरुत्-
१० ऋभः करमात् । ‘ ऋनेन भान्तीति वा ’ । यज्ञेन

सत्येन वा भान्ति । तदेवोत्तरपदम् । पूर्वपदे विकल्पः । ‘ ऋतेन भव-
न्तीति वा ’ । भवतेवोत्तरपदम् । ते हि ऋतेन सत्येन वा भवन्ति यज्ञेन
वा भवन्ति । भूत्या देवत्वेन सर्वे युज्यन्ते । ‘ तेषामेवा भवति ’ ॥ १५ ॥

विष्टीं शमीं तरणित्वेन वाचतो मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः
१५ सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः संवत्सरे सभंपृच्यन्त धीतिभिः
(ऋ० सं० १ । ११० । ४) ॥ कृत्वा कर्माणि क्षिप्तत्वेन
वोढारो भेषाविनो वा मर्तासः सन्तोऽमृतत्वमानश्विरे सौधन्वना
ऋभवः सूरख्याना वा सूरप्रज्ञा वा संवत्सरे समभृच्यन्त धीतिभिः
२० कर्मभिर्केशुर्विभवा वाज इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रयः पुत्रा
बभूवुस्तेषां प्रथमोत्तमान्यां बहुवृत्तिगमा भवन्ति न मध्यमेन
तदेतद्वभोश्च बहुवचनेन चमसस्य च संस्तवेन वृशूनि दशत-
थीपु सूक्तानि भवन्त्वादित्यरश्मयोऽप्युभव उच्यन्ते । अगोशस्य
यदक्षस्तना गृहे तदश्वेदधृभवो नानुं गच्छथः । अगोश आदि-
त्योऽगृहनीयस्नस्य यदम्यपथ गृहे यावत्तत्र भवथ न तावदिह
२५ भवथेत्याङ्गिरसो व्याख्यातान्तेषामेषा भवति ॥ १६ ॥

१ क. ख. ३ (१५) ट. ड. १ वनि । इति निरुक्तमध्ये पञ्चमाध्याये पञ्च-
दशः उपपद्यते च. वर्जमितरेऽङ्गे नस्मि २ छ. त. ड. गोरामो ३ क. ख.
१९ छ त द. वन्तां अम्. ४ क. ख. ४ (१३), न. द. ४.

विष्टो शमीति । कुत्तरस्येवमर्षन् । आर्भवे विनियोगः (आश्व० श्रौ०
 ऋभ्वः ७ । ७) । ' विष्टी शमी ' इति द्वे अपि
 कर्मनामनी (निघ० २ । १) । यतोऽजामि-
 त्तौ वै भाष्यकारः पृ० तावन्निराह ' वृत्वा ' इति । किं कृत्वा । शनी
 कर्माणि । कथम् । तरणित्वेन क्षिप्रत्वेन क्षिप्रकारित्वेन सर्वयज्ञसंपदत्तनेन ।
 वाघतो वेद.रो यज्ञस्वानुश्रुतारो मेधाविनो वा । न ह्यमेवाविनः संवत्सरेण
 सकलं कर्म सम.परितुं शक्तः । ते तु संवत्सरेऽखिलं कृत्वा मर्तासः
 मनुष्याः सन्तः अमृतत्वम् अमृतभावं देवत्वम् आनगिरे प्रातवन्तः । के
 पुनस्ते । सोधवन्ताः सुधन्वनः पुत्राः ऋभवः सूरचक्षसः सूर्भविस्थार्ताः
 सूर्यसमानदर्शनाः सूर्यसमानप्रज्ञाः वा । यत ईदृशास्तेऽतः संवत्सरै
 समपृषन्त समयुज्यन्त धीतिभिः कर्मभिः । अतश्च देवा अगवन्निति ।

' ऋभुर्विभ्या वाज इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रयः पुत्रा बभूवुः '
 इति । आर्भवाणा मघ्राणां स्वभावोऽप्रदर्शनार्थ-
 माह । 'तेषा प्रथमोत्तमाभ्याम्' ऋभुणा वाजेन
 च बहुवन्निगमा भवन्ति न मय्यमेन विभ्या ।
 स ह्यार्भवाणां मन्त्राणा स्वभावः । ' तदेतत् '
 उच्यते ' ऋभोश्च बहुवचनेन चमसस्य च संस्त-
 पेन बहूनि दशतयीषु सूक्तानि भवन्ति' । तद्यथा ।
 ' इदं तृतीयं सवनं कवीनामृतेन ये चमसभै-
 रवन्त ' (तै० सं० ३ । १९.) इति ।

' आदित्यरश्मयेऽप्यृभव उच्यन्ते ' इत्यभिवेद्यन्यभिचारमुपप्रदर्श-
 यति । क च पुनस्त उच्यन्ते । यतः पठति । ' उद्वत्स्रंश्मा अरुणो-

१ ग. 'मीति । कु०. २ व. ट. ठ. ड. 'मित्वापै; च. 'मित्वापै' त्वा. ३ ग.
 ज. 'ल्यानाः; च. 'ल्यानाः' ताः. ४ ग. ज. 'मानप्रज्ञा. ५ क. ख. घ. ट. ठ ड.
 'त्सरे संवत्सरावयवे वसन्तादिकाले स'. ६ क. ख. घ. ट. 'ति । अगोह्यस्य यदुस-
 न्नेनेति । उद'; च. 'ति । उद' अगोह्यस्य यदुसन्नेने; ठ. ड. 'ति । अगो-
 ह्यस्येति । ऋक् । उद १५'.

तेना तृणं निवत्स्वपः स्वपस्यया नरः । अगोहास्य यदसस्तना गृहे तद्-
 वेदमृभवो न.नु गच्छथ ' (ऋ० सं० १ । १६१ । ११) ॥

अस्यामृचि आदि दीर्घतमस आर्षम् । जगती । उद्वत्सु ये उन्नताः
 प्रदेशाः भुवः अङ्गिरनाक्रान्तास्तेषु अस्मै लोकाय
 उपरिष्वस्तो यूयमभयः अङ्गणोत्तन प्रतिस्व-
 त्सरं कुरुष्वे तृणं कुशादि वर्षणादित्यमण्डलादौ वर्तमानाः । निवत्सु
 पुनर्निम्नेषु भुवः प्रदेशेषु अपः उदकं कुरुष्वे स्वपस्यया लोकानुग्रहप्र-
 श्रुत्तया वर्षक्रियया हे नरः । किञ्च । अगोहास्य योऽयम् अगोहाः
 आदित्यः अगूहनीयः न गृहेतुं शक्यः केनचिदपि अस्य यदसस्तना
 १० गृहे यावदस्य मण्डले मुक्ता इव निर्गूढा भवथ । तद्वेदमृभवो नानुग-
 च्छथ । हे ऋभवो यद्यत्तत्र निर्गूढा भवथ रात्रौ न तावदिह भवथ ।
 ततश्च शुष्मद्विनामावे निरालोकौऽयं लोकः संपयो । एतद्वो मूर्हाभाम्य-
 महमनुकीर्तयामि । ते यमिदं नामास्मानं कुरुतेति ।

' अङ्गिरसो (११) व्याख्याता ' एकवचनेन ' अङ्गारेष्वङ्गिराः '
 १५ (निरु० ३ । १७) इति । ' तेषामपा भवति ' ॥ १६ ॥

विरूपास इदमयस्त इहम्भीरवेपसः । ते अङ्गिरसः मूनवस्ते
 अग्नेः परि जङ्गिरे (ऋ० सं० १० । ६२ । ५) ॥ बहुरूपा ऋपयस्ते
 गम्भीरकर्माणो वा गम्भीरप्रज्ञा वा तैऽङ्गिरसः पुत्रास्तेऽग्नेरधिज-
 २० ङ्गिर इत्यग्निजन्म पितरो व्याख्यातास्तेषामेषा भवति ॥ १७ ॥

* १ ग. 'तनेति । दी' ; प. ट. व. ज. 'तनेति । दी' . २ ग. 'प्रवत्तया ; व.
 'प्रवत्तया व. म. प्रवत्तया, ट. प्रवत्तया' इति. ३ ग. ज. गृह' ; व. 'गृह' अ.
 ४ व. निगू' न ; ज. निगू' ५ ग. ज. निगू' ; व. निगू' गू. ६ ग. व. अ.
 मता'. ७ क. म. ४ (१६) ; ट. व. १६ । इति निरुक्त्याम्, पञ्चमाध्याये
 सोऽयः सपः, ग. व. वर्णमिनेष्वदो गरित. < व. म. त. व. ते आङ्गि-
 १७ १ क. म. उ. न. उ. 'सो अग्ने'. १० क. म. ५ (१७), न. उ. ५.

विरूपासः इति । नामानेदिष्टस्यार्थम् । अनुष्टुप् । पार्थिके पत्रेऽहनि
विनियोगः (आश्व० श्रौ० ८ । १) । विरूपाः नानारूपाः । के

अङ्गिरसः पुनस्त इति । ऋषयः अदित्यस्य ब्रह्मणो
द्रष्टारः । न केवलं पश्यन्ति । अपि च ।

गम्भीरवेपसः अप्रमेयकर्माणः । अप्रमेयबुद्धयो वा । ऋष्यनेकत्र
कतमास्त इति । अङ्गिरसः सूनवः । येऽङ्गिरसः सूनवस्त
एते विवक्षिताः । कदा पुनस्ते अङ्गिरसो जज्ञिरे । अत आह । ते अग्नेः
पारि जज्ञिरे इति । अग्निवमापन्नस्याङ्गिरसोऽधि सकागाये जज्ञिरे ते एते
विरूपा गम्भीरवेपसश्च मभेदं नाम कुर्वन्तिवति ।

‘पितरो (१२) व्याख्याताः’ ‘द्यौर्मैपिना’ (निरु० ४ । २१) १०
इत्यत्र । ‘तेषामेवा भवति’ ॥ १७ ॥

उदीरतामवर उत्परांस उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।
असुं य ईयुरंबृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवंपु (ऋ० सं०
१० । १५ । १) ॥ उदीरतामवर उदीरतां पर उदीरतां मध्यमाः १५
पितरः सोम्याः सोमसंपादिनस्तेऽसुं ये प्राणधन्वीपुरवृका अन-
मित्राः सत्यज्ञा वा यज्ञज्ञा वा ते न आगच्छन्तु पितरो हानेषु
माध्यमिको यम इत्याहुस्तस्मान्माध्यमिकान् पितृन्मन्दन्तेऽङ्गिरसो
व्याख्याताः पितरो व्याख्याता भृगवो व्याख्याता अथर्थाणोऽ
थनवन्तस्यर्धतिथरतिकर्मा तत्प्रतिषेधस्तेषामेवा साधारणा २०
भवति ॥ १८ ॥

उदीरतामवर इति । शङ्खस्यार्थम् । पितृमेवे विनियोग (आश्व०
श्रौ० २ । १९) । ये तावत् अवरे पितरः २५
पितरः पृथिवीमाश्रितास्ते तावत् उदीरताम् ऊर्ध्वं
गच्छन्तु । अथ पुनर्धे परे शुद्धोकमाधिताः तेऽप्युदीरताम् । तेष मयप्रभ्यु-

१ ग. इति । ना. २ क. ए. घ ट. ते अ. ३ ग. ज. यत. ४ ट.
सोऽयं मि. ५ ग. ज. कुरुष्वनिनि; च. कुरुष्वमिति' वनि-व. ६ क. ख. ५
(१७); ठ ड णिनि । इति निरुक्तभाष्ये षड्माध्यमि तत्र दशः रूपदः; ग. च.
वर्धमानरेष्वही नस्ति. छ. त द. 'पृथुर्वीयु'. ८ छ त. द. 'पृथमको'. ९ छ.
त. द. 'प्यमर्ण'. १ क ख. ६ (१८), त. द. ९. ११ ग. इति । इति. ११

तिरस्तु मुच्यन्तां वा तदधिकारप्रक्षये । उन्मथ्यमाः पितरो येऽपि मन्थमा
मध्यस्थानाश्रयास्तेऽप्युदीरताम् उत्तमं लोकमाश्रयन्ताम् । सोम्यसः सोम-
संपादिनः कर्मव्यङ्गभावपुण्यगच्छन्तो ये सोमं संपादयन्ति । निप्रकाराः ।
असुं य ईशुः प्राणमात्रमूर्धन्यः अस्थूलविप्रहाः । अवृक्ता अनमित्राः परं
साम्प्रमुपगताः । ऋतज्ञाः यथावत्सत्यस्य वेदितारो यज्ञस्य वा । य एवमा-
दिगुणयुक्ताः पितरस्ते अस्माकं अवन्तु नित्यम् आगच्छन्तु हृदेषु अहाने-
ष्वित्येतदाशास्महे ।

पितृणां कथं
माध्यमिकत्वम्

‘माध्यमिको यम इत्याहुः’ नैरुक्ताः । ‘तस्मा-
त्पितृन्माध्यमिकान्मन्थन्ते’ सैह तेन राजेति ।

- १० अत उत्तरे ‘अथर्वाणो (१३) भृगवः’ (१४) इत्येते परे
सामान्ताते । न चैतयोः समस्तयोः प्रत्येकं वा स्तुति-
रस्ति । अस्ति तु पित्रङ्गिरोभृगुभिः साधरणा स्तुतिः । यतस्तद्वृत्ति-
वचनाय प्रमद्वृत्तिमाणाभिप्रेत्याथर्वाण्यन्वयेचनप्रसङ्ग इतीति । ‘अङ्गि-
रसो व्याख्याताः’ (निरु० ३ । १७) येऽस्यामृचि वक्ष्यमाणः ।
१५ ‘पितरो व्याख्याताः’ (निरु० ४ । २१) । ‘भृगवो व्याख्याताः’
अथर्वाणः कस्मात् (निरु० ३ । १७) । ‘अथर्वाणः’ कस्मात् ।
ते ह्येते ‘अथनवन्तः’ । किमिदमथनं येन ते
तद्वन्तः । यत आह । ‘अथनिश्चरतिकर्मा’ गच्छत्यर्थः । ततः किम् ।
‘तत्प्रतिभेधः’ । पुरस्तादकारः । न अथन्तीत्यथर्वाणः । स्थिरप्रवृत्तयो हि
२० ते । ‘तेषामेषा साधारणा भवति’ अङ्गिर प्रभृतीनाम् ॥ १८ ॥

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्र्या अथर्वाणो भृगवः सोऽन्यासः ।
तेषां ययं भूमती यन्निर्यानामपि भद्रे सामनने स्वाम (ऋ० मं०
१० । १४ । ६) ॥ अङ्गिरसो नः पितरो नवग्रतयो नवनीत-

गतयो वाथर्वाणो भृगवः सोम्याः सोमसंपादिनस्तेषां वयं सुमतौ
कल्याण्यां मतौ यज्ञियानामपि चैषां भद्रे भन्दनीये भाजनवति
चा कल्याणे मनसि स्यामेति माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः
पितर इत्याख्यानमथाप्युपयः स्तूपन्ते ॥ १९ ॥

५

अङ्घ्रिसो नः पितर इति । यमस्यार्पणे । अङ्घ्रिसः अस्माकं सोमसं-
पादिनः नित्यं कल्याण्यां मतौ वर्तन्ते । पित-
रथ नवग्वाः नवगतयः पितृपन्नानागन्तुं येषां
प्रतिमासं नवा गतिर्भवति । ' नवनीतगतयो वा ' । नवनीतं प्रति येषां
मनसो गतिरिदमस्माकमिति ते नवग्वाः । विज्ञाने हि । ' स्वयं विधीनं
पितृणाम् ' (भैत्रा० सं० ३ । ६ । ९) इति । पितरश्चैवंलक्षणाः अथर्वा-
णश्च भृगवश्च एते सोमसंपादिनः । अस्माकं कल्याण्यां मतौ वयमपि तेषां
सुमतौ कल्याण्यां मतौ उपकारप्रवृत्तायां यज्ञियानां यज्ञसंपादिनां स्याम ।
अपि च । तेषां भद्रे भन्दनीये स्तुत्ये सौमनसे कल्याणे मनसि स्याम ।
' भाजनवति वा ' । येन मनसा भाजन्यभिमतेरर्थः स्तोतृन्तस्मिन् शोभने
च संकल्पे शोभने वा अव्यवसाये स्यामेत्यर्थः ।

१०

११

‘ माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः ’ । ऋभवोऽङ्घ्रिसो भृगवोऽथ-
र्वाण इति स्तुत्युपपत्तेर्देवतापदमध्ये समानाना-
देकैर्क एषां देवगण इति नैरुक्ता मन्यन्ते ।
‘ पितर इत्याख्यानम् ’ । को विशेषः । अग्न्या-
दिदेवताविपर्ययस्तद्धर्मदेवताप्रकार एवायं य एते
पितरो नाम । त एव ऋमुमनकुमारादय इत्या-
ख्यानविदः स्मरन्ति । असावपि मन्त्राणां विषय
इत्युपेक्ष्यः । अपि च । देवगणा एत उत पितरः

२०

अथर्वादयो मा-
ध्यमिको देवगण इति
नैरुक्ताः

पितर इत्याख्या-
नम्

१ छ. त. द. कल्याण्यां मनो सुमती. २ छ. त. द. 'ध्यमिको. ३ क. ख.
७ (१९), त. द. ७. ४ ग. इति । य°; ठ. ड. न इति. ५ क. ख. घ. ट. ठ.
ड. 'धम् । विष्टम् । अ°; च. 'धम् । अ° विष्टम्. ६ क. ख. घ. ट. ठ. ड.
'कैश ए'. ७ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'वत पदविप'.

२०

अथवा एते ऋष-
यः स्युर्यस्मादप्य ऋ-
ग्वेदे स्तूयन्ते

इति कुतो विचारः । ऋभवोऽङ्घ्रिसो भृगव
इत्यवमादीनामभिधानानामृषिषु प्रसिद्धेः ।
'अथापि' इदमपरं कारणमप्य एतैत इति
यतोऽन्येऽपि 'ऋषयो' हि 'स्तूयन्ते' ।

५ तद्यथा । वसिष्ठाः ॥ १९ ॥

सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेपां समुद्रस्येव महिमा गभीरः ।
वातस्येव प्रजवो नान्येन स्तोमो वसिष्ठा अन्येतवे वः (ऋ० सं०
७ । २३ । ८) ॥ इति यथा आप्त्या आमोतेस्तेषामेष निपातो
१० भवत्येन्द्रामृचि ॥ २० ॥

सूर्यस्येव वक्षथ इति । इन्द्रस्यार्पम् । यथा सूर्यस्य दौसिरवभासिका
अर्थानाम् एवम् एषां वसिष्ठानां वक्षथो
अस्यामृचि वसिष्ठाः वचनस्य दौसिरभिदेवादिगतानामर्थानामसंदेहे-
स्तूयन्ते नावभासिका वाच्येऽर्थे । अपि च । न केवल-
१५ मेरामसंदिग्धानि यच्चासि गम्भीराणि च महार्थवन्ति गम्भीरार्थतय
दुरवगाहानि । यत आह । समुद्रस्येव महिमा गभीरः । यद्योदकमपरिमं
समुद्रे एवमपारिनेषार्थानि । सत्यपि च महार्थत्वे नैते विलम्बितस्तुतयः ।
किं तर्हि । वातस्येव प्रजवः । प्रकृष्टो ज्व आशुप्रतिपत्तिः । तुष्टुपतां
२० वर्णऽदव वयेषु निर्भलमनोवावृती शशार्थोवसङ्गेन प्रतिपद्येते । अपि च ।
एवमतिमहानुभावा एते नैतेषामन्यः स्तोता वचनपदधीमनुगन्तुं शक्तः ।
यतो व्रवीमि । नान्येन केनचिस्तोत्रा हे वसिष्ठाः । प्रत्यक्षीकृ योत्तरेण
पादेन व्रवीति । एष स्तोम इयं स्तुतिर्भावकी असन्दिग्धार्थी गम्भीरा विल-
म्बिता च नान्येनान्येतवे नानुगन्तुमन्येन शक्या । क एनामनुकरिष्यतीति
स्तुतिपरितुष्ट इन्द्रे, वसिष्ठानमोत् ।

१ क. ग. ७ (१९), ट. ड. 'मेष्ठाः । इति निरुक्तभाष्ये पञ्चमाख्याये १९
खण्डः ग. च. वर्जमिषेवङ्के नादिन. २ क. ६० ८ (२०); त. व. ८. १ ग.
इति । इ; उ. ट. सूर्येवेति. ४ ग. च. ज. 'नापेपां. ५ ग. ज. 'विदेवा'. ६ ग.
१९ ट. ड. ड. वासि'. ७ ग. च. ज. 'भीरवी.

एवमृपयोऽपि स्तूयन्त इति प्रदर्शयत्ययमप्यस्तीति मन्त्राणां विषय इति ।

अपरे पुनः । सूर्यस्येव वक्षथः सूर्यतेजःसमानशीतरेस एने वसि-
अन्येषामते ऋचो- ष्टास्तेजस्विनः समुद्रोपमगम्भीरस्वभावाश्च शीघ्र-
ऽन्योऽर्थः गतयश्च सर्वत्राप्रतिहनजयाः । नैनेवामन्येन गति-
स्तुगन्तु शक्येति वर्णयन्ति ।

‘ अ.प्यः ’ (१५) अपीन्द्रसहचारिण ऋषय एरुतद्वितरिताः ।
‘ ते इन्द्रेण सह चेरुः ’ इति विज्ञायते (शत०
अ.प्याः कस्मात् ब्रा० १ । २ । ३ । २) । ऋग्वेदोऽप्ये-
तस्मादेव दर्शनाद्यपिपक्षे मध्यस्थान्तः । ते कस्मात् । ‘ आम्रोतेः ’ ।
आमुवन्ति हि ते स्तुतिभिः स्तुत्यान् । तेषामेव निपात्तो भवत्येन्द्रधामृचि ।
इन्द्रे यस्यां स्तूयते तस्यामृचि ॥ २० ॥

स्तुपेथ्यं पुरुवर्षसमृभ्वमिनतममाप्यमाप्यानाम् । आ
दर्धते शवसा सप्त दानुन्म साक्षते प्रतिमानानि भूरिं (ऋ० सं०
१० । १२० । ६) ॥ स्तोत्रं बहुरूपमुरुभूतमीश्वरतममाप्त्य-
माप्त्यानामादृणाति यः शवसा बलेन सप्त दातृनिति वा सप्त
दानवानिति वा प्रसाक्षते प्रतिमानानि बहूनि साक्षतिरामोति-
कर्मा ॥ २१ ॥

एकादशाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

स्तुपेथ्यं पुरुवर्षसमिति । बृहदिवस्वार्पम् । महाव्रते विनियोगः (ऐ०
आ० ५ । १ । ६) । स्तुपेथ्य स्तोत्रव्यम् अहं
आप्याः स्तौर्मा-द्रम् । किलक्षणम् । पुरवर्षसं बहुरूपम्
ऋभ्वम् उरुभूतम् इततमम् ईश्वरतमम् आप्यम् आप्यानामृचीणां स्तुति-

१ क. ख. ८ (२०), उ. ड. ‘ मृचि । इति निरुक्तभाष्ये पञ्चमाध्याये
विंशतिः खण्डः; ग. च. वर्जितोऽप्यस्यो नास्ति. २ क. ख. ९ (२१), त. द.
९. ३ छ. द्विती, त. इति एकादशमोऽध्याये द्वि; द. एकादशमाध्याय; ड. घ.
घ. उ. ड. ‘ एका० पादः ’ नास्ति ४ ग. ‘ मिति । वृ’.

- भिरतिशयेन आसन्नव्यम् । आदर्पणे आदृणाति यः शवसा बलेन आदार-
यति । किम् । सैत दानून् सप्त दातृन् मेघान् । अशुरान् दानवान् ।
नमुचिप्रभृत्पृथक्त्वपक्षे । केन । शवसा बलेन । प्रसाक्षते च य
आप्तोत्थभिभवति च प्रतिमानानि भूरि बहूयपि । तदुक्तम् । ' यैरेनं
प्रतिमिमते नैनं तानि दम्भुरन्ति ' (निरु० ५ । १२) इति ।
५ ' साक्षतिरामोतिकर्मा ' ॥ २१ ॥

षोडशस्य द्वितीयः पादः ।

तृतीयः पादः ।

- ३० अथातो मध्यस्थानाः द्वियस्तासामदितिः प्रथमामामिनी
भवत्यदितिर्व्याख्याता तस्या एषा भवति ॥ २२ ॥

- २५ ' अथातो मध्यस्थानाः द्वियः ' । बहुवचनविशिष्टस्य मध्यमस्य
मध्यस्थानाः द्वियः गणशोडशस्थितस्य विभक्तौ व्याख्यातः । लिङ्ग-
विशिष्टस्येदानीं यथासम म्नायमेव व्याख्यातव्यः ।
तदर्थं पुनर्विशेषो ऽधिकारवचनग ' अथातोः ' इति । मध्यमं आसां
स्थानमिति ' मध्यस्थाना ' इति । काः पुनस्ताः । द्वियः इति ।
वक्ष्यन्त इति शेषः । ' तासामदितिः (१६) प्रथमामामिनी भवति ' ।
सा कस्मात् । उक्तं हि ' अदीना देवमाता ' (निरु० ४ । २२)
२० इति । ' तस्या एषा भवति ' ॥ २२ ॥

१ ग. ज. सप्तदा उदकं सप्तं. २ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'रान्ना दां.
३ च. 'न बाम्' ग्वा. ४ क. ख. १ (२१); ठ. ड. 'कर्मा । इति निरुक्त-
भाष्ये षडमाध्याये एकविंशतिः सप्तः; ग. च. वर्धनित्तरेष्वङ्गो नास्ति. ५ घ. ट.
षोडशाध्यायस्य द्वि', ठ. ड. इति निरुक्तभाष्ये निरण्डुराध्यायस्य सप्त षोडशा-
ध्यायस्य द्वितीयः पादः. ६ क. ख. १ (२०), त. द. १. ७ च. मध्यमा' ग.
८ क. ख. १ (२०), ठ. ड. 'दिति । इति निरुक्तभाष्ये द्वाविंशतिः सप्तः; ग.
९ च. वर्धनित्तरेष्वङ्गो नास्ति.

दक्षस्य वादिते जन्मानि व्रते राजाना मित्रावरुणा विवाससि ।
 अतूर्तपन्थाः पुरुरथो अर्धमा सप्तहोता विपुरुषेषु जन्मसु (ऋ०
 सं० १० । ६४ । ५) ॥ दक्षस्य वादिते जन्मानि व्रते कर्मणि
 राजानौ मित्रावरुणौ परिचरसि विवासतिः परिचर्यायां हविष्मो
 आधिवासतीत्याशास्तेर्वातूर्तपन्था अत्वरमाणपन्था बहुरथोऽर्धमा- ५
 दित्योऽरीन्निग्रच्छति सप्तहोता सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसंनाम-
 यन्ति सप्तैनमृपयः स्तुवन्तीति वा विपमरूपेषु जन्मसु कर्मसुदये-
 ष्वादित्यो दक्ष इत्याहुरादित्यमध्ये च स्तुतोऽदितिर्दाक्षायणी ।
 अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्ददितिः परीति च । तत्कथमुपपद्येत
 समानजन्मानौ स्यातामित्यपि वादेवधर्मेणेतरैतरजन्मानौ स्याता- १६
 मितरेतरप्रकृती अग्रिस्प्यदितिरुच्यते तस्यैषा भवति ॥ २३ ॥

दक्षस्य वादित इति^३ । गयस्यार्धम् । वैश्वदेवे शस्यते । अहोरात्रे
 मित्रावरुणौ । तथोर्या सन्धिब्रेला तस्यां प्रथममव- १५
 दितिः श्यायरसानुप्रदानसंबन्धात्तौ मध्यमामदितिमभि-
 प्रेत्योच्यते । दक्षस्य वादिते इति । ' वा'शब्दः किमर्थः । यदा
 आदित्यस्त्वत्तो जातस्त्वं वा आदित्यात् । मन्वित्रेऽनन्तरं ह्यादित्यस्योदयो
 जन्म । तदेवास्य व्रतं कर्म । तदुक्तम् । ' कर्मजन्म.नः ? (निरु० ७ । ५) इति ।
 अथ तदेवं दक्षस्य जन्मानि उदये चार्धवर्तिन्यादित्ये यतो वा लब्धात्मिका २०
 त्वम् अपि अहोरात्रे उभे विवाससि परिचरसि सर्वतो व्याप्तोपि । अर्धेनाह-
 र्यामोपि मित्रम् अर्धेन च रात्रिं वरुणम् । राजानौ सर्वलोकेश्वरौ
 स्वाधिकारयुक्तास्त्वितिकर्तव्यतासु तदधीनत्वात्प्रवृत्तेरिति । किञ्चक्षणो यो
 दक्षस्तस्य जन्मनीति । यत आह । अतूर्तपन्थाः योऽयमादित्यः अत्वर-
 माणपन्थाः अत्वरमाणः पथि वर्तते नियतगतिः प्रतिमुहूर्तं प्रत्यहं च । पुरु- २५
 रथः बहुरंहणः अर्धमा अरीणा तमसा नियन्ता । सप्तहोता । सप्तास्मै रश्मयो
 रसानभिसंनामयन्ति । तदस्य सप्तहोतृत्वम् । ' सप्तैनमृपय आह्वयन्ति '

१ छ. त. द. कर्मणि व्रते. २ क. ख. ६ (२३); त. द. २. ३ ग. इति । ग.
 ४ ग. ज. तस्याः प्रथमस्यायत्ता । ५ च. ड. न्यानां. ६ क. ख. ग. न. ६.
 ट. ट. ह. यदा दक्ष आदिः; च. यदा अदित्यं दक्ष आ.

नमन्ति स्तुयन्ति विभिष्टाद्यास्तद्वास्य सप्तहेतुत्वम् । विषमरूपेषु जन्मसु ।
विषमरूपेषु । अन्यस्मिन्धान्यस्मिन् नभसः प्रदेशे अयमुदेति मण्डलान्तरं
हित्वा दक्षिणोत्तरायणयोः । तदस्य विषमरूपत्वं विषमजन्मता । ततो
लब्धात्मिका तं वा जनयन्ती या स्वमेतौ मित्रावरुणौ परिचरसि सा
त्वमिदं नामास्माकं कुरुष्वेत्येतदाशास्मह इति समस्तार्थः । -

अथवा । दक्षस्य वा । यदा दक्षस्वत्तो जातो व्रते च कर्मणि प्रवृत्तः

ऋचोऽन्योऽर्थः स्वाधिकारयुक्तोऽयम् अनूर्तपन्थाः पुररथो अर्थ-

मा सप्तहोता विषुरूपेषु जन्मसु । य एष

वर्तते भगवानादित्योऽथ तदा मित्रावरुणो विवासस्याशास्ते ममैतावपि पुत्रत्वे

१० लोकोपकारत्वेन सम्पद्यतेयार्ता यथैष दक्ष इत्यैतिहासिकपक्षे योजना ।

‘ विवासतिः परिचर्यायाम् ’ इत्यत्र निगमः । ‘ हविष्यां आवि-
वांसति ? ।

‘ यो अग्निं देवकीतये हविष्यां आविवांसति । तस्मै पावकमूर्च्छय ’

१५ अस्यामृचि विवा- (ऋ० सं० १ । १२ । ९) ॥ मेधातिथेरा-
सतिः परिचर्यायाम् पम् । गार्हपत्यानुगमने पूर्णाहुतिरनया हुयते
(आश्व० श्रौ० ३ । १३) । हे पावक
अग्ने देवकीतये देवभोजनाय हविष्मान् हविःसंपयुक्तो यस्वाम् आविवा-
सति परिचरति तस्मै मूर्च्छय उपदद्या रक्षा कुर्वित्येतदाशास्महे ।

‘ आदित्यो दक्ष इत्याहुः ’ देवतासतरविदः । केन दर्शनेन ।

२० दक्ष ३ । दित्यो य- ‘ आदित्यमध्ये च स्तुतः ’ । चशब्दो हेत्वर्थः ।
स्मादादित्याना मध्ये यस्मादादित्यमध्ये स्तुतः । स्तुतिप्रामाणिका हि
स्तुतः ते देवतामन्त्रचिन्ता प्रणि । ऋथमादित्यमध्ये
स्तुत इति । ‘ इमा गिरः ’ (ऋ० सं० २ ।

२७ । १) इत्युपक्रम्य ब्रवीति ‘ तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः ’
२५ (ऋ० सं० २ । २७ । १) इति आदित्यमध्ये स्तुतेरादित्य एवा-
साविति ।

१ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ‘विपुर्’; घ. ‘विदेम’ पु. २ क. ख. घ. ट. ठ.
ड. ‘नरं मण्डलान्तरं हि’; घ. ‘नर-दि’ मण्डलान्तरं. ३ क. ख. घ. ट. ठ.
ड. ‘रथो जन्मसु. ४ ग. ज. विषमन्’. ५ ग. यो अग्निं देवकीतये मूलप;
घ. घ. को अग्निं मूलप, ट. यो अग्निं मूलप, ६ ज मूलप, ७ ग घ. ग.
२१ मूलप, ८ घ. ‘स्तुतिर्यस्य’ प्रा.

यथेवं नन्विदमपरं विरूपते अदितिहासिका आहुः 'अदितिर्दाक्षायणी'
इति । उभयमपि चैतन्निगमे श्रुयत आदित्यो दक्षो दाक्षायण्यदितिरिति ।
तद्यथा । 'अदिनेर्दक्षो अजायत दक्षाद्दितिः परि । भूर्जज्ञ उत्तानपदो
भुव आशा अजायन्त ' (ऋ० सं० १० । ७२ । ४) ॥ अदिनेर्दा-
क्षायण्या आर्षम् । उत्तानपद्मराजा कश्चिः पुराणेऽपि स्मर्यते । ततस्तावद्भू-
र्नाम कश्चिज्जज्ञे । ततोऽपि भुव आशा दिशः अजायन्त । द्विजजन-
नभावमसौ कथमपि विभर्ति देवताजन्मप्रतिक्रियया वा । अदिनेर्दक्षो अजायत
प्रादुर्बभूव । दक्षाच्चै परि अधि सकाशात् अदितिः प्रादुर्बभूव ।

'तत्' इतरेतरविरुद्धं 'कथमुपपद्यते' । यतः प्रतिसमाधानं त्रयी-
ति । 'समानजन्मानौ स्यातामिति' । समनन्तरजन्मानौ समानजन्मानौ यथोपवर्णितं
यत दक्षाच्चादितिरिति कथमुपपद्यते । 'दक्षस्य वादिते' इत्यत्र । 'अपि वा
देवधर्मेण' । महदात्मनादितिमपेक्ष्य तस्याः
कारणत्वं च कार्यत्वं च दक्षस्य । अथवा । महदात्मना दक्षमपे-
क्ष्यादिनेः कार्यत्वम् । एवं कृत्वा 'इतरेतरजन्मानावितरेतरप्र-
कृती' इति ।

अधुना व्यभिचारं दर्शयति । 'अग्निरप्यदितिरूपते' इति ।
'तस्य' अग्निरदितिश्चदवाच्यत्वे 'एष भवति' ॥ २३ ॥

यस्मै त्वं सुद्रविणो ददांशोऽनागास्त्वमदिते सर्वताता । यं भ-
द्रेण शशंसा चोदयांसि प्रजावंता राधंसा ते स्याम (ऋ० सं०
१ । ९४ । १५) ॥ यस्मै त्वं सुद्रविणो ददार्ष्यनागास्त्वमनप-
राधेत्वमदिते सर्वासु कर्मतत्पत्राग आहूपूर्वाङ्गमेरेन एतः किलियपं
क्विलिभदं सुकृतकर्मणो भयं कीर्तितस्य भिनत्तीति वा यं भद्रेण

१ ग. ज. तदे°. २ क. रा घ. ट चेनस्मेभिः ३ च. °था । अदिते-
र्दाक्षा० अदिनेर्दक्ष इत्यादि, ठ. ड. 'भूर्जज्ञे' इति पूर्वार्धे यथा सहितायाम्. ४ ग.
परि ॥ भू. ५ ग. ज. दक्षादुपरि°. ६ ग. ष ज. °कृती त इति ७ क. ख. २
(२३), ठ ड 'वि । इति निरुक्तभाष्ये उत्तरपट्टके पञ्चमाध्याये त्रयोविंशतिः
खण्डः; ग. च. वर्जमितरेऽप्यज्ञो नाम्न. / छ. त. द 'दक्षोना'; क. दाक्ष्यना°.
९ छ. त. द. °ताधि'°. १० छ. 'वर्माणो'.

शवसा बलेन चोदयसि प्रजावता च राधसा धनेन ते वयमिह
स्यामेति सरमा सरणात्तस्या एषा भवति ॥ २४ ॥

यस्मै त्वं मुद्रविण इति । कुत्सस्यार्पम् । प्रातरनुवाके विनियोगः
५ अस्यामृचि अ- (आश्व० श्रौ० ४ । १३) । हे मुद्रविणः
मिरदितिः मुधन अदिते अग्ने यस्मै त्वं ददाशः ददासि ।
किमिति । अनागास्त्वम् अनपराधत्वं सर्वताता
सर्वामु कर्मततिषु इष्टिपशुसोमलक्षणामु अवैगुण्यं करोषि । यं भद्रेण शवसा
बलेन एषजात्यविरोधिना प्रजावता च राधसा प्रजासंयुक्तेन च धनेन त्वं
१० चोदयसि अनुगृह्णासि । ते वयमेवानुगृह्णास्तव स्यामेत्येतदाशास्महे ।
' आगः आङ्पूर्वाद्भ्रमेः ' । अवश्यमेवैतदागच्छति कर्तारभिन्यागः ।
प्रसङ्गादाह । ' एन एन ' । तदप्यन्वेयावदननेवैति । ' यदेतत् ' फिलि-
पम् ' एतत् ' कीर्तिं भिनत्ति ' ।

' सरमा ' (१७) देवशुनीत्यैतिहासिरूपक्षेण । माध्वमिकां वाङ्-
१५ सरमा कस्मात् नैरुक्तपक्षेण । सा कस्मात् । ' सरणात् ' गम-
नात् । ' तस्या एषा भवति ' ॥ २४ ॥

किमिच्छन्तीं सरमा प्रेदमानद् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः ।
कास्मोहतिः का परितवम्यासीत्कथं रसाया अतरः पर्यासि
२० (ऋ० सं० १० । १०८ । १) ॥ किमिच्छन्तीं सरमेदं प्रानर्द
दूरे ह्यध्वा जगुरिर्जङ्गम्यनेः पराध्वनैरगचिनः का तेऽस्मास्वर्षाष्टि-
तिरासीत्किं परितकनं परितवम्या गात्रिः परित एनां तरम
तवमेत्युष्णनाम इति मतः कथं रसाया अतरः पर्यामीनि रसा
नदी रसतेः शब्दप्रमाणः कथंरमानि तान्युदकानीनि या

१ ए. त. व. 'पमा ते. २ क. म. ३ (२४) : त. ट. २. ३ ग. इति । कुं ;
उ. ट. यस्मै त्वमिति. ४ क. ल. घ. ट. ठ. ड. य. ष. भं. ५ ग. ज. घं. षां ;
६. 'न-ओ' एवं. ६ ग. ल. तद् ; ७. तद् ; य. उ. ङ. ल. ८ (२४), ठ.
८. 'वनि । इति निम्नभाष्ये पद्यमाध्याय २४ ग २४ ; ग. ष. वनेभित्तेश्चो
२६ नादि. ८ ए. नानह ; ९. द. शान्त्.

‘देवशुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरैः समूढ इत्याख्यानां सर-
स्वती व्याख्याता तस्या एषा भवति ॥ २५ ॥

किमिच्छन्तीति । देवपगयः किलामुराः देवगरीरपजहः । ततः
सरमा किलेन्द्रस्तदन्वेषणाय तदालयं सरमा प्राहिणोत् । ५
ते च देवगणयस्ता दृष्ट्वा पप्रच्छुरनयर्चा ‘किमि-
च्छन्ती सरमा’ इति । इदमस्मान्निवासस्थानं सरमा किमिच्छन्ती
किमस्मत्तः प्रार्थयन्ती प्रानद् प्रामयती कदाचिदस्मत्प्रान्तवर्षेति । अपि च ।
दूरे ह्येषा । महदेतद्स्थानं न गच्छतां शक्यमाग तुम् । य एव जगुरि-
स्यात् भृंगमन्ता स एव शक्त आगन्तुम् । पराच. पराञ्चनैरचित. पराट्मुलैः १०
अञ्चनैर्गमनैः अचितां गतो विप्रकृष्टो देवनिवासत् । यतो ब्रूमः । हे सरमे
कास्मे हेतिः । का तव अस्मादर्थहेतिः अर्थस्वार्थानम् । कोऽस्मत्तोऽर्थ-
स्तव प्राप्तोऽभिप्रेत आसीयेनायमतिमह नष्वा व्यसित आगन्तुम् । कौ
परितकर्म्योतीत् । किं परितकम् । अपि सुखा रात्रिः अन्तरा तवासीत् ।
परितकर्म्यो रात्रिः । ‘तकमेयुष्मनाम्’ तकतेर्गन्त्यर्थेषु । सर्वेनो हि तत्र
भवति । तदेनामुभयतः परेगृह्य वर्तने इति परितकर्म्यो रात्रिः । अपि च ।
कथं रसाथा अवरः पशासि । रमा नाम नदी अव्यर्थयोजनविम्बारा । तस्याः
पयास्यतिदुस्तराणि कथमवरः कथं लीर्गमयसि । अथवा । कथमस्मानि
तायुक्कनि । अपि नाम स्नादनि । अपि श्रान्तायास्त्वान्तरा वासाः
केष्वासन्निति । २०

‘देवशुनीन्द्रेण प्रहिता’ इति निदानप्रत्यासन्न मन्त्रार्थाभिव्यक्तये ।
समूदे संवाद कृतप्रतीत्यम् । । इत्याख्यानांविद् एव मन्यन्ते ।

वाक्यक्षे तु चिरकालीनवृष्ट्युपरने कदाचिदमितप्रमेयम ये महसेव

व. कपक्षे
अचोऽर्थः

र नपि नुमुपश्रुत्य कुत इयं माध्यमिका प्राकचिरे-
णागतोति निमित्तस्नाममृयन्निर व्रजति ‘किमि-
च्छन्ती सरमा’ इति । इदमस्मच्छेत्रे चिरमनागम्य २५

१ छ. र्मु सु २ क म ४ (२५), त. ड. २५. ३ ग °निति । दे.
४ क. ख. व ट. ३. ड. °स्यमि. ५. क. ख. घ. ट. ड. ट. अपि च ।
का, घ. - २१° अपि च २ च. तस्मा° कदा. ३ क. ४. ५. ६ ट. ड.
अपि नान गु°, घ अपि - सु° नाम. ८ क म. न ट. ड. ड. अन्तप, ९,
अन्त° न. १ ५. °रमा.

सरमा माध्यमिका वाक् किमिच्छन्ती प्राणट् प्राप्तवती । अपि च । देर ह्यन्वा ।
 चिरकालश्रुतं यमस्माभिः । जगु र् भूशं यो गन्ता स्यात्सा चिरविच्छिन्नमेतद्-
 र्घत्रयं पुनरागच्छेत् । पतनुयात्सर चैः परे ड्मुचैः एतदचिन्त्यम् । चिरानष्ट-
 मिन्मर्थः । अपि च । करं हितिः । किमस्मै स्वर्थं मिधानं मासीत्पूर्वं तत्र हे
 ५ सरमे येनागमः । किं वा न जातं येनापुनरागमः । अपि च । चिरप्रो-
 पितायास्तव किं परितरुनमासीत् । अन्तरिक्षनद्या अपि महत्या रसायाः
 कथमतरः पर्यासि । कथमतिबहून्पुदकानि संक्षोभ्यात्मानं प्रतिलम्बव-
 त्यसि । 'वाग्नै सरमा' (भैत्रा० सं० ४ । ६ । ४) इति हि विज्ञायते ।
 सरस्वती (१-८) व्याख्याता नदीवत् (निरु० २ । २३) इति ।
 २० ' तथेदेवतावत् ' इयुक्तमिदं तत् । ' तस्या एषा भवति ' ॥ २५ ॥

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती । यज्ञं वष्टु धिया-
 दंसुः (ऋ० सं० १ । ३ । १०) ॥ पावका नः सरस्वत्यङ्गैरन्नवती
 यज्ञं वष्टु धियावमुः कर्मवसुस्तस्या एषापरा भवति ॥ २६ ॥

२५

पावका नः सरस्वतीति । मधुच्छन्दस आर्यम् । प्रदग्ने विनियोगः
 सरस्वती (अश्व० श्रौ० २ । १८) । सारस्वतं हविर्नि च
 (भैत्रा० सं० २ । १ । ७ ॥ २ । ५ । २ ॥

२० २ । ५ । ४ ॥ ४ । ७ । ८) । पावका प्रक्षारयन्पुदकेन । का पुनरासाविति ।
 सरस्वती माध्यमिका वाक् । वाजेभिर्वाजिनीवती । अन्नेन हृत्पिपे दकेन वा
 तद्वती । यज्ञमेतन्माकां वाजेभिः अजैः युक्तं वष्टु कामयतम् । अथवा ।
 ऋगादिभावमापन्ना देवप्रणि बहनु । वक्ष्यति हि ' ता विश्वरूपाः
 पशवो वदन्ति ' (निरु० १ । २९) इति । धियावमुः कर्मधना ।
 ' तस्या एषा अपरा भवति ' स्फुटनरोदकशिक्षा ॥ २६ ॥

२५

१०. न प्राणट्मुं. २ ग ज. 'मम्मन्वर्था'; च. 'मस्मैस्वर्था' स्मात्.
 ३ क ख. घ. ट. ठ. ड च. 'वत्यसीति वा । व. ५ ग. ख. ६५ क. ख. ४
 (२५). ठ. ड. 'वा' इति निरुक्तमध्ये ५ ध्याये ६५ खण्डः; ग. ख. दर्जमितरे
 ष्यदो नास्ति. ५ ग. १. ५. २). त. द. ५. ६ ग इति । घः; ठ ड. पावका
 न इति ७ क. ख. घ. ट. ठ. सारस्वते च हविषि च. 'सर्वते-ट्' च. ८ क.
 ख. ५ (२६), ठ. ड. 'वति' इति निरुक्तमध्ये ५ ध्याये ६६ खण्डः; ग. ख.
 २२ कर्मवितरेष्यदो नास्ति.

महो अर्णः सरस्वतीं प्रचेतयति केतुना । धियो विश्वा विशां-
जति (ऋ० सं० १ । ३ । १२) ॥ महदर्णः सरस्वतीं प्रचेत-
यति प्रज्ञापयति केतुना कर्मणा प्रज्ञया वमानि च सर्वाणि प्रज्ञा-
नान्यभिविराजति वागर्थेषु विधीयते तस्मान्माध्यमिकां वाचं
मन्यन्ते वाग्वाख्याता तस्या एषा भवति ॥ २७ ॥

५

महो अर्णः सरस्वतीति । पूर्ववदायं विनियोगश्च । महो अर्णो मह-
सैव सरस्वती दुदकं सरस्वती माध्यमिका वाक् । किं करोति ।
प्रचेतयति प्रज्ञापयति भाविः करोति वर्षभावेन ।
केन पुनराविः करोति । केतुना स्वेन कर्मणा प्रज्ञया वा । न ह्यप्रज्ञानव-
ल्यबलिष्ठा चैतच्छक्ता कर्तुम् । एवं चोदकभाविः कुर्वती धियो विश्वा वि-
राजति । सर्वाणि प्रज्ञानान्यभिविराजति । कथम् । उदकादन्नमत्रात्प्रज्ञान-
मित्येवं सर्वप्रज्ञानानामसाचीष्ट इति ।

१०

‘ वागर्थेषु विधीयते ’ इत्युपपत्तिवचनम् । के पुनर्वाचोऽर्थाः ।
सरस्वती माध्य- ‘ चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि ’ (निरु० ११ । १५
मिका वाक् २८) इत्येवमादय उदकविकारलक्षणाः ।
तोऽप्ययमपि सरस्वती विधीयते ‘ महो अर्णः ’
इत्येवमादिषु । ‘ तस्मान्माध्यमिकां वाचं मन्यते ’ नेरुक्ताः ।
‘ वाक् ’ (१९) वक्तव्या । सा पुनः ‘ व्याख्याता ’ ‘ वचेः ’
(निरु० २ । २३) इति । ‘ तस्या एषा भवति ’ ॥ २७ ॥

२०

यद्वाग्बदन्त्यविचेतनानि राष्ट्रीं देवानां निपसाद् मन्द्रा ।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि कं रिचदस्याः परमं जंगाम (ऋ० सं०
८ । १०० । १०) ॥ यद्वाग्बदन्त्यविचेतनान्यविज्ञातानि राष्ट्री
देवानां निपसाद् मन्द्रा मदना चतस्रोऽनु दिश ऊर्जं दुदुहे पया-

१ छ. त. द. °गि मृतान्यभि'. २क. ल. ६(६) त. द. ६. ३ ग. °तीति ।
५. ४ क. ल. ६ (-५); ठ. ड. °बनि इति निरुक्तभाष्ये ५ पाठ्ये २७ खण्डः;
ग. च. ३३मिनोरेवशो न. लि.

सि क स्विदस्याः परमं जगामेति यत्पृथ्वीं गच्छतीति वा यदा-
दित्यरश्मयो हरन्तीति वा तस्या एवापरा भवति ॥ २८ ॥

यद्वाग्दन्ति । नेमस्त्यार्यम् । सारस्वते पशौ विनियोगः (आश्व०
वाक ५ श्री० ३ । ८) । यदा माध्यमिका वाग्दन्ती
निर्दिशन्ती । कानि । अविचेतनानि अविज्ञाता-
र्थानि शब्दरूपाणि स्तनयिनुलक्षणानि । रष्ट्रं ईश्वरं माध्यमिकानां देव-
तानाम् । निपमाद निर्धीयति व्यापृणोति आत्मानं वर्षकर्मणि मन्त्रा मरना
र्षकरी तर्पयित्री वा लोःकम्य । अथ तदा । किमिति । चतस्र ऊर्जं दुदुहे
१० पयांसि । चतस्रो दिशः प्रति अनुदिशश्च दृदुहे दुग्धे प्रक्षरति ऊर्जम् अन्नं
पयांसि उदकानि । तेषां च पयसां क स्विदस्याः परमं जगाम । कैता
निष्पाद्यौपधीर्गच्छन्ति कुतो वा प्रतिसंवरं पुनरागच्छन्तीति कस्तत्त्वं
र्जगाम जानाति यानि पृथग्यामननिष्ठन्ते यानि वैदित्यरश्मयो हरन्तीति
ग्वमनुपशीणपयश्केयमिति श्रुत्ये ।

१५ ' तस्या प्यापेरौ भवति ' । मा पुनः किमर्थम् । इयमेव वाक्स-
र्वप्रणयन्तर्गता माध्यमिकी सर्वार्थभिवादिनी भवतीति विभूत्युपप्रदर्श-
नार्थम् ॥ २८ ॥

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विद्वस्त्वाः पशवो वदन्ति ।
२ सा नो मन्त्रेषुमूर्जं दुहांना धेनुर्वाग्स्मानुष सुष्टुतेतु (ऋ० सं०
८ । १०० । ११) ॥ देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां सर्वरूपाः

१. ऋ. ११. ७ (२८), न. द. ७ २ ग. 'न्तीति' । वे. ३ क. ल. प. द.
'वयन्ती; च. 'वन्ती य; उ. ड. पशुपयन्ती. ४ ग. ज. 'रा या माध्य'; घ.
'ग + माध्य' या; उ. द. 'स्वी माध्य'. ५ ग. ज. 'यिदु, च. 'यिदु' श्री. ६ ग.
ज. 'गनि पशं; च. 'रनिपया' ऊर्जमभं. ७ क. ल. प. ट. ठ. द. हेत नि
नि'. ८ ग. ज. जानाति जगाम; घ. ट. उ. द. जगाम जनान । यानि'; च.
जानेति. जगाम ९ क. ल. घ. ट. ठ. द. चादि'; च. वादि' या. १० ग. ज.
'मिति निष्टये. ११ क. ११. ७ (२८); उ. द. 'नार्थम् । इति निष्टभाष्ये
१२ ११ २८ लुण्ठः, ग. घ. वर्जमित्येत्त्वो नास्ति.

पशवो वदन्ति व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च सा नो मर्देनाश्रं च
 रसं च द्रुहाना धेनुर्वागस्मानुभैतु सुष्टुनानुमती राकेति देवपत्न्या-
 विति नैरुक्ताः पौर्णमास्याविति याज्ञिकी या पूर्वा पौर्णमासी
 साऽनुमतिर्योत्तरा सा राकेति विज्ञायतेऽनुमतिरनुमननात्तस्या
 एषा भवति ॥ २९ ॥

५

देवी वाचमजनयन्तेति । तदेवार्पम् । देवीं दात्रीमुद्रकानां या वाचम्
 अजनयन्त मध्यमिका देवास्तामैतां यथा-
 वागेव भिमत र्थाभिवायिका विद्वरूपाः सर्वरूपाः

पशवो वदन्ति व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च । व्यक्तवाचो मनुष्यादयोऽव्य-
 क्तवाचो गवादयः । यैवं सर्पपशुभिरुच्यते सा नः सास्माकं मन्त्रा मदना
 ईषं चोर्जं च द्रुहाना प्रक्षरन्ती धेनुः तर्पित्री वागस्मानुभैतु सुष्टुते-
 ल्येनदाशास्महे ।

१०

‘ अनुमती राकेति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः ’ । सह पदयोर्हन्व्यासस्तु-

अनुमतिः राका
 च देवपत्नी इति
 नैरुक्ताः
 पौर्णमास्यौ इति
 याज्ञिकीः

ल्योऽनपे रभिधेयविचार इति । मध्यस्थाने देव-
 पत्न्याविति निर्ज्ञेते तदभिधाने इति नैरुक्ताः ।
 पौर्णमास्याविति याज्ञिकीः । ते च ब्राह्मण-
 मुदाहरन्ति ‘ या पूर्वा पौर्णमासी ’ (ऐ०
 ब्रा० ३२ । ९) इत्येवमादि । कात्यायिनैरेते
 चन्द्रमहचारिण्याविति मध्यस्थाने । पौर्णमास्य-

२५

२०

मावास्पयोर्नक्षत्रेष्टकामध्य उपवानात् (तै० सं० ३ । ५ । १ ॥ ४ ।
 ४ । १०) नक्षत्रत्वम् । अतश्च प्रदर्शनासर्व एरायं ज्योतिर्गणो ग्रह-
 नक्षत्रतारकाख्यो रसप्रायो मूर्तिमाधुवन्मध्यस्थान एवेति लक्ष्यते ।

‘ अनुमतिः (२०) अनुमननात् ’ । अनुमता किलेवमृषिभिर्देवै-

१ छ. त. द. मननां. २ क. ख. < (२९); त. द. ९. ७ ग. न्तेति ।
 तं; उ. ड. वाचमिनि. ४ ग. ज. दातुं; च. दातुं; औ. ५ क. ख. प.
 ट. ठ. ड. न्नि तत्पूर्वकन्वादात्प्रवृत्तेः ६ क. ख. ७. ट. ठ. ड. इषम् अनेपयो-
 षुत्रादिकर्षं एष च ऊं; च. इषं-रां ऊच पयोपुत्रादिस्यं एष. ७ क. ख. प. ट.
 ड. द. मुष्टु स्तुने; च. मुष्टुने; दृ स्तु < ग. ज. वदमुं.

अनुमतिः कस्मत् आतुदमेके पक्षेऽखियं पर्णमाप्तीति । 'तस्या
एषा भवति' ॥ २९ ॥

अन्विदनुमते त्वं मन्यासौ शं चं नस्कृधि । क्रत्वे दत्ताय नो
हिनु प्र ण आयूऽपि तारिपः (तै० सं० ३ । ३ । ११) ॥
अनुमन्यस्वानुमते त्वं सुखं च नः कुर्वन्नं च नोऽपत्याय धेहि
प्रवर्धय च न आयू राकां रातेर्दानकर्मणस्तस्या एषा
भवति ॥ ३० ॥

१० अन्विदनुमत इति । वामदेवस्यार्पम् । देविकासु विनियोगः (मैत्रा०
अनुमतिः सं० १ । ६ । ४) । हे अनुमते त्वम् अनु-
मन्यासौ अनुमन्यस्व अस्माकं यदनुमन्तव्यं
त्वया । श च नस्कृधि । सुखं चारमाकं कुरु । इयम् अन्नं चारमाकं तांकाय
अपत्याय धेहि । आयूषि च नः प्रतारिपः प्रतीर्णानि कुर्वन्त्येतदा-
१५ शारमहे ।

सैष पौर्णमासी पञ्च.शके पक्षे 'राका' (२१) इत्युच्यते । सा
रका कस्मात् पुनः कस्मात् । 'रातेर्दानकर्मणः' । हविर्दान-
निमित्तं हि सा भवति । 'सत्या एषा
भवति ॥ ३० ॥

९०

राकामर्दं मुद्वं सुष्टनी हृषे सुणोत् नः सुभगा यौधतु स्मना ।
भीष्मस्वपः सूच्यान्निष्ठयमानया ददौतु वीरं नूतदायमुत्थवत्
(ऋ० सं० २ । ३२ । ४) ॥ राकामर्दं सुष्ठानां सुष्टयाह्वये

१ क. म. ८ (२१), ट. द. 'वति । इति निरुक्तमर्थे १ इत्ये ११
मत्तः, म. च. वर्धमानोप्यहो नन्वि. १ क. म. ५ (३०) त. क. ५
२ म. इति । वा ; उ. क. मते स्थितिः । ४ क. म. प. ट. द. ह. कुत पर्वण्ये' ;
१५ क. इति' । क. म. १ (३१), ट. द. 'वति । इति निरुक्तमर्थे

शृणोतु नः सुभगा बोधत्वात्मना सीव्यत्वपः प्रजननकर्म सूच्या-
च्छिद्यमानया सूची सीव्यतेर्ददातु वीरं शतप्रदमुक्थं वक्तव्यम-
शंसं सिनीवाली कुहूगिति देवपल्याविति नैरुक्ता अमावास्थे
इति याज्ञिका या पूर्वाभावास्था सा सिनीवाली योत्तरा सा
कुहूरिति विज्ञायते सिनीवाली सिनमन्नं भवति सिनाति भूतानि
चालं पर्व वृणीतेस्तस्मिन्नवती वालिनी वा वालेनेवास्यामणु-
त्वाच्चन्द्रमाः सेतव्यो भवतीति वा तस्या एषा भवति ॥ ३१ ॥

रकामहं सुहवाभिति । गृममदर्यार्थम् । देविकासु विनियोगः
(मैत्रा० सं० २ । ६ । ४) । राकामहं सुहवा स्वाहाना यस्याः

शोभनमाह्वानं ता मुष्ट्या शोभनया स्तुतः आह्वये । सौ पुनः सुमगा
सुधनास्माभिरहूयमाना शृणोतु । श्रुवा च
बोधु । कर्तव्यतया तदवगच्छतु । यदपि च न
ब्रूहे तदपि आत्मना एव बुधताम् । अपि चेदमुच्यते । एव सीव्यतु अपः ।
सतनोतु प्रजननकर्म अस्माकम् । सूच्या अच्छिद्यमानया अविच्छिन्नेन प्रजा-
संतनेन । न च पुनः प्रजामात्रमर्थयामहे । किं तर्हि । ददातु वीरं पुत्रम् ।
किल्क्षणम् । शतदायं बहुप्रदम् । उक्थ्यम् वक्तव्यप्रदास च अपरिसमाप्त-
स्तुतिम् ।

‘ सिनीवाली कुहू. ’ इति पूर्वबहुपन्यासः । ‘ अमावास्थे इति
य द्विकः ’ । तथैव ब्राह्मणमपि चेदाहरन्ति । ‘ तथैव पूर्वा सिनीवाली
उत्तरा कुहूः ’ (ऐ० ब्रा० ३२ । ९ ॥ मैत्र० सं० ४ । ३ । ५) ।

‘ सिनीवाली ’ (२२) कस्मत् । ‘ सिनमन्नं भवति ’ । तस्मात् ।

सिनीवाली कस्मात् ‘ सिनाति ’ बभूवति ‘ भूतानि ’ रत्नादिभि-
सिनम् ‘ धातुभिः । ‘ वाल ’ किमुच्यते । ‘ पर्व ’ ।
वाटम् तस्मात् । ‘ वृणीतेः ’ । वृण्वन्ति देवस्तत्र
हवीषि । ‘ तस्मिन् ’ पर्वण्यलौ सिनिनी ‘ अन्न-
वती ’ इति सिनीवाली । अधवोत्तरपदे विनय्य । ‘ वालिनी ’ वीर-
वती ।

१०

१५

२०

२५

१ क. म्. ट. थ. ध. ट. ड. लोहितं. २ फ. रा १० (३१), त. द. १०.
३ म. ‘ भिति ’ गृ, ट. ड. ‘ यज्ञमिति. ४ क. ख. द. ट. ठ. ड. सा च पुं;
च. सा पुं च. ५ क. ख. द. ट. ड. ‘ चः नाति, च. य. ६ च. क.
ड. ‘ वाले’.

स्तद्वनी । भिनिनी च सा वालिनं चेति निनीवाली । औपमिक या ।
 कथमिति । ' वालेनवास्यामणु राक्षन्द्रमाः सेतव्यो ' वैद्वयो ' भवति ' ।
 एवम्णुरसौ चन्द्रमा भवत्यस्या येन ज्ञायने वालेनाप्यय सीयेत वध्येतेति ।
 ' तस्या एषा भवति ' ॥ ३१ ॥

५

— — —

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा । जुषस्व हव्य-
 माहुतं प्रजां देवि दिदिद्दि नः (ऋ० सं० २ । २२ । ६) ॥
 सिनीवालि पृथुजघने स्तुकस्त्यायतेः संघातः पृथुकेशस्तुके
 पृथुष्टुते वा या त्वं देवानामसि स्वसा स्वसा सु अमा
 १० स्वेषु सीदतीति वा जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां च देवि दिश नः
 वृहूर्गृहतेः काभूदिति वा क सती हूयत इति वा काहुतं हविर्जु-
 होतीति वा तस्या एषा भवति ॥ ३२ ॥

— — —

सिनीवालि पृथुष्टुके इति । गृत्समदस्य र्पम् । देविकामु विनियोगः
 १५ सिनीवली (भेत्त्रा० सं० २ । ६ । ४) । हे सिनी-
 वालि पृथुष्टुके सिनीर्णजघने । अथवा । पृथुष्टुके
 पृथुकेशस्तुके पृथुकेशरूपाये । अथवा । पृथुष्टुते । या त्वं देवानां स्वसा
 भगिनी माव्यमकाना सा त्वं जुषस्व आमेवस्व एतत् हव्यम् अहुतं
 मर्धादया निधानतो हुतमस्मभि । आसेभ्यै च प्रजामस्माक दिश अति-
 २० सृज देहीत्याशास्महे ।

‘ कुहूः (२३) गूहतेः ’ । निगूहयती चन्द्रमसम् । ‘ काभूदिति वा ’ । तस्यामप्रत्यक्षत्वादित्कर्षश्चन्द्रमा भवति ।
 कुहूः कस्मात् कासावभूद्येति । ‘ क सती ह्यते इति वा ’ ।
 सैवात्मना देवताभावात्प्रत्यक्षं न ज्ञायते कापि सत्याहूपत इति । अतो वितर्क्या भवति । ‘ तस्या एषा भवति ’ ॥ ३२ ॥

५

कुडूमहं सुकृतं विद्वानापसमस्मिन्यज्ञे सुहवां जोहवीमि । सा नो ददातु श्रवणं पितृणां तस्यै ते देवि हविषां विधेम (मैत्रा० सं० ४ । १२ ॥ ६) ॥ कुडूमहं सुकृतं विदितकर्माणमस्मिन्यज्ञे सुहवानामाह्वये सा नो ददातु श्रवणं पितृणां पित्र्यं धनामिति वा पित्र्यं यज्ञ इति वा तस्यै ते देवि हविषां विधेम इति व्याख्यातं यमी व्याख्याता तस्या एषा भवति ॥ ३३ ॥

१०

कुडूमहं सुकृतमिति । देविकासु त्रिनिर्योगः (मैत्रा० सं० २ । ६ । ४) । कुडूमहं सुकृतं शोभनानां कर्मणां कर्त्रो विद्वानापसं सर्वत्र प्रत्यक्षकर्माणम् अस्मिन्यज्ञे सुहवां स्वाह्वानां शोभनमाह्वानं यस्यास्तां जोहवीमि अह्वयामि । सा अस्माभिराहूतास्मिन्यज्ञ एव हविर्भुक्त्वा अस्माकं ददातु श्रवणं पितृणां ‘ पित्र्यं धनामिति वा पित्र्यं धीं यज्ञः ’ । कुलोचितमित्यर्थः । प्रत्यक्षीकृत्योत्तरेण पादेनास्तौत् । या एवमस्माकमेतत्करोषि तस्यै तुभ्यं हे देवि कुडु हविषा विधेम । दक्षे इत्यर्थः । अथवा । त्वीं हविषा परिचरेमेति ।

१५

२०

१ च. कौशां का २ क. ख. ग. ज. घ. ठ. ड. दस्येति; च. ट. ‘दस्ये’
 से. ३ ग. च. ज. ‘क्षान्न ज्ञा’; ठ. ड. ‘क्षान्त ज्ञा’ ४ क. ख. ११ (३२); न.
 ड. ‘वति । इति निरुक्तभाष्ये पञ्चमाध्याये ३२ खण्डः; ग. च. वर्जमित्तरण्डो
 नास्ति. ५ क. ख. छ. थ. घ. ठ. ड. सुकृतं. ६ क. ख. पितृणां. ७ क. ए. १२
 (३३); त. द. १०. ८ क. ख. घ. ट. सुकृतं; ग. सुकृतमिति । दे; ठ ड.
 ‘अहमिति. ९ ग. ड सुकृतं. १० ग. ज. पित्र्यं यज्ञ; च. पित्र्यं यज्ञे वा ११ ग.
 ज. ‘मर्द्धेयैः यथ’; च. द्वैत्रैत्यर्थः ‘हावर्द्धे १२ क. ए. घ. ट. ठ. ड. ता त्वां;
 च. ‘त्वां’ तां. १३ क. ए. घ. ट. ठ. ड. ‘स्वरात् इति; च. ‘वैम १० रा.

२५

‘यमी (२४) व्याख्याता’ यमेन (निरु० १०।१९) ।
लिङ्गमात्रविशेषः । “ तस्या एषा भवति ” ॥ ३३ ॥

५ अन्यमुपु त्वं यम्यन्य उ त्वां परिं प्वजाते लिवुजेव वृक्षम् ।
तस्य वा त्वं मनं इच्छा म वा तदाधा कृणुष्व संविदं
सुभद्राम् (ऋ० सं १० । १० । १४) ॥ अन्यमेव हि
त्वं यम्यन्यस्त्वां परिप्वङ्गघने लिवुजेव वृक्षं तस्य वा त्वं मन
इच्छं स वा तदाधानेन कुरुष्व संविदं सुभद्रां कल्याणभद्रां यमी
यमं चकमे तां प्रत्याचक्षेत्याख्यानम् ॥ ३४ ॥

१० एकादशाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

अन्यमुपु त्वं यम्यन्य इति । यमी किल यमं चकमे भ्रातरम् ।
ता किल यमोऽन्यर्चा प्रत्याचक्षे । कथम् ।
यमी हे यमि अन्यमुपु त्वम् अन्यमेव त्वं परिष्वजस्व

१५ धैयुनाभिप्रायेण । लिवुजेव वृक्षं बह्वृष काचिद्रष्टं समीपजं वृक्षम् । अन्य
एव त्वा परिष्वजतां यस्य योग्या त्वरुनेनाभिप्रायेण परिष्वक्तुम् । तस्य
वा त्वं मन इच्छा । तस्य च त्वं मनः प्रवेष्टुमिच्छ । स वा तव । अथैक-
मैकचित्यमुपगम्यमानेन समानेन सह वृणुष्व संविदं सकल्पादिधैयुनका-
र्थम् । सुभद्रा कल्याणभद्रा सविदमुभयलोकाविरोचिनीमित्याभिप्रायः ।

२० त्रित्वपक्षे तु माध्यमिको यमो माध्यमिका वाचमुपसमात्मनः प्रविभक्ता-
माध्यमिकपक्षे मिय कृत्योभयस्थानांतां ब्रवीति । हे यमि अती-
यमी उवाः तस्तेऽम परिष्वङ्गसमयः । प्रभातमिदानीम् ।
लिवुजेव वृक्षं सुस्थानं परिष्वक्तुमिच्छं । तस्य च
त्वं मनः प्रकाशमनुप्रवेष्टुमिच्छ । स च तव प्रकाशमनुपैविशतु । अथै-

२५ १ क. र. १० (३३) ; उ. ड. ० वनि । इति निरुक्तभाष्ये पञ्चमध्याये ३२
राणहः ; ग. ख. वर्जमितेरेष्वङ्को नास्ति. २ छ. इच्छा, त. इच्छां स° छ ३ छ.
त. द. “स्यभेत्तय” ४ क. ए. १३ (३४), त. द. १३. ५ छ. द. तृतीः
त. एकादशाध्याये तृ; ड. थ. ध. ड. ड. “एकाः पादः” नास्ति. ६ ग इति
य° ; उ. ड. अन्तम् भवति. ७ क. ख. संजगत्तः ; ग. ड. संजगत्त्वां. ८ ग. ज.
“पक्षे मा. ९ क. ए. माध्यमिको. १० ग. ज. “मिच्छति ता व मनः प्रकाशम-
नुपैविशतु तस्य”, च. “मिच्छति ता व मनः प्रकाशमनुपैविशतु तस्य”. १० घ. ड. ठ.
११ ड. “तुमि”.

धमितरेतरसंपर्कात्तेन सहैकीभूता लोकोपकाराय कुरुष्व परस्परसंविदं
संविस्साधनं प्रकाशमिति ॥ ३४ ॥

पेडशाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

चतुर्थः पादः ।

५

उर्वशी व्याख्याता तस्या एषा भवति ॥ ३५ ॥

‘ उर्वशी व्याख्याता ’ । ‘ उर्वशी ’ (२५) वक्तव्या । सा पुनः
‘ व्याख्याता ’ । तदिहापि देवतायां योज्यम् । ‘ उर्वश्वश्रुते ’ । बहू-
‘ दकं व्याप्नोति । ‘ उरुर्वा बशोऽस्याः ’ । महानस्याः काम उदके
(निरु० ५ । १३) । ‘ तस्या एषा भवति ’ ॥ ३५ ॥

१०

विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती मे अप्या काम्यानि ।
जनिष्ठो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशीं तिरत दीर्घमायुः (ऋ० सं०
१० । ९५ । १०) ॥ विद्युदिव या पतन्त्यद्योतत हरन्ती मे
अप्या काम्यान्युदकान्यन्तरिक्षलोकस्य यदा नूनमयं जायेता-
द्भयोऽध्यप इति नैर्धो मनुष्यो नृभ्यो हितो नरापत्यामिति वा
सुजातः सुजाततरोऽथोर्वशीं प्रवर्धयते दीर्घमायुः पृथिवी
व्याख्याता तस्या एषा भवति ॥ ३६ ॥

१५

विद्युन्न या पतन्तीति । मध्यमः पुरुरवाः त्रिसपक्षे श्रीर्गति । आत्मनो

२०

उर्वशीं ज्योतिषः शब्दस्य च विभागभिर कृत्वा ।

विद्युन्न विद्युदिव । संप्रत्यये वा नकारः ।

किमिति । या पतन्ती गच्छत्यन्तरिक्षे मेघोदरेषु दविद्योत् पुनःपुनर्घोतते
पुनःपुनरात्मानं प्रतिष्ठते । कथम् । भरन्ती हरन्ती मे मम स्वभूतानि

१ क. ख १३ (३४), ठ ड. 'मिति । १३ ध्यायस्य ३ पादः । ३४; ९५
ग. च. वर्जितरेष्वङ्गो नास्ति. ६ क. ख. १ (३५); त व. १. ३ क. ख.
घ. ट. ठ. ड. ' उर्वशी व्याख्याता ' नास्ति; च. उर्वशी व्याख्याता. ४ क. ख.
१- (३५); ठ. ड. 'वनि' । इति निरुक्तभाष्ये ५ ध्याये ३५ खण्डः; ग. च.
वर्जितरेष्वङ्गो नास्ति. ५ छ मर्गे. ६ क. ख. २ (३०), न. द. १. ७ ग.
'पतन्तीति । म'

अप्या अप्यानि काम्यानि उदकानि अन्तरिक्षरमाणानि अन्तरिक्षलोकस्य अधिपत्नी योर्वशी सा यदैवमुदकानि हरन्ती मेघेभ्यः पतन्ती भृशं स्वयं विद्योतते नूनं निश्चयेन तदा जनिष्ठो आः अंधपः अविक्त उदकोर्मिर्जायते यः सर्वभिदमाच्छादयति नर्यो नृभ्यो हितः पंथः सस्यसंपत्करः ।

५

‘नरापत्यमिति वा’ इत्यैतिहासिकपक्षं द्योतयति । मुजातः मुजाततरः शोभनादपि शोभनतरः उदकोर्मिः । अथ तेन महतोदकोर्मिणा सस्यमभिनिष्पाद्य लोकस्यान्नसंप्रदानद्वारेण प्रोर्वशी तिरैते प्रतिरते प्रवर्धयते दीर्घमायुः ।

ऐतिहासिकपक्षे त्रैलोक्यैः पुरुर्वाः उर्वश्या अप्सरसा त्रियुक्तो ब्रवीति ।

१०

ऐतिहासिकपक्षे विद्युदिव या पतन्ती अद्योतत भृशं वपुष्मत्तया भरन्ती धरयन्ती अनेकानि स्त्रीगतानि हारभावादीनि काम्यानि वस्तुनि मे मम अस्या

नित्यमाप्तव्या प्रिया । सा च पुनराहितगर्भा यतोऽनो ब्रवीमि । जनिष्ठो अप. निश्चयेन जनिष्यते अंधपः अधिककर्मा नर्यः नृभ्यो हितः सस्य-

१५

करिपालयिता नराणाम् । अथरा । मम नरस्यापत्यमायुर्नाम राजा यं पुराणविदः कथयन्ति । मुजातो मच्छुक्रात् वर्धयतो जातो विशेषत उर्वश्याः क्षेत्रगुणाः मुजाततरः । तस्य वावश्यमुर्वशसमदसानिष्येऽपि प्रवर्धयते तद्योग्यैः कर्मभिर्दीर्घमायुरिति ।

‘पृथिवी(३६)भ्याख्याता’ । ‘अथ वै दर्शनेन पृथुः’(निरु० १।

२०

१४) इत्यत्र । इह तु माध्यमिका । ‘तस्या एषा भवति’ ॥ ३६ ॥

वाञ्छित्या पर्वतानां खिद्रं विभर्षि पृथिवि । प्र या भूमिं प्रवत्सति मह्यं जिनोपि महिनि (ऋ० सं० ५।८४। १) ॥ सत्यं त्वं पर्वतानां मेघानां खेदनं छेदनं भेदनं चलममुत्र धारयसि पृथिवि

२५

१ क. ख. घ. ट. ठ ड अश्रमणा°; ख. अन्तरिक्ष°. २ क. ख. घ. ट. ड. ड. हिनः सस्य°, च. पंथः. ३ ग. ज. प्रोर्वशी प्रः च प्रोर्वशी प्र° तिरते. ४ ट. ठ. ड. स्वेत्. ५ ग. ज. पुगोचराः, ख. पुर्वोर्वशाः° ख. ६ घ. ट. ठ. ड. नरपत्या°; च. नरपत्या° प. ७ क. ख. २ (३६), ठ. ड. हनि । इति निरुक्तोदात्तपक्षे ५ अध्याये ३६ खण्ड., ग. च वर्जमिरेष्वशो नास्ति. ८ क. ख. घ. न. द. न चलित्या.

३०

प्रजिन्वसि या भूमिं प्रवेणवति महत्त्वेन महतीत्युदकवतीति
वेन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी तस्या एषा भवति ॥ ३७ ॥

वल्किथा पर्वतानामिति । अत्रैरार्षम् । वल्के इति सत्यस्य नाम (निब०
पृथिवी ३।१०।१) । इत्येति अमुत्रैत्यर्थः । हे

पृथिवी मात्पमिके सत्यं यथाभूतम् अभुञ्ज अमु-
ष्मिन्नन्तरिक्षल्लोके वर्तमाना खिद्रं खेदनं छेदनं येन पर्वताः भेदाच्छेत्तुं
शक्यन्ते तद् वलं विभर्षि धारयसि । हे प्रवत्यति प्रवेणवति गमनवति या
त्वं भूमिं प्रजिन्वसि वर्षमुत्सृजन्ती मङ्गा महरेण हे महिनि महति ।
अथवा । उदकवति । या त्वमेवं भूमिं प्रजिन्वसि सा कथं न भेषानां
पर्वतानां छेदनसमर्थं बलं धारयसीत्यभिप्रायः ।

१०

पृथिवी एव भूमिं प्रजिन्वतीति व्यपदेशान्मव्यस्थाना । हिरण्यनाशेषया
यास्कम्याभिप्रायो भौमस्यैकरूपाब्जस्थेयं याज्या (मैत्रा० सं० ४
१२।२) । तत्र विज्ञायते । 'अथ यद्भौमोऽस्या
मैत्रायणीसंहितायां द-
त्तविनियोगेन विरुद्धः
इति । तेन तत्रैवं भूमिरिष्यते । न च भूमिरस्या-
मृच्चि प्रधानत्वेन वर्तते । यथा चायमाचार्यो निराह तदपमस्योदाहरणा-
'भिप्रायः । स च विनियोग इति विरोधः । अविरोधमेतयोर्भेषाविनेः
समनुगम्यन्ते ।

१५

'इन्द्राणी (२७) इन्द्रस्य पत्नी' । इन्द्रस्य विभूतिः पृथक्त्वे वा
इन्द्राणी कस्मात् निर्दिष्टा पौराणिकैः । 'तस्या एषा भवति' ॥ ३७ ॥

२०

१ छ. ड. पणवति, त. प्रवेणवति, ट. पवति. २ क. ख. ३ (३७); त. द.
३. ३ क. ख. ग. च. ज. व. वल्किथा. ४ म. ० मिति । अ. ५ ठ. ड. वट.
६ क. ख. घ. ट. ठ. ड. सप्तपदा. ७ ग. न त्वमुत्र; च. त्वमुत्र. ८ व. प्र-
वति ० व. ९ क. ख. घ. ट. न. ड. धारयिष्यति । अवश्यं धारयं; च. धारयं
यिष्यति । अवश्यं धार. १० क. ख. घ. इत्यविरोधोऽनयो; च. इत्यविरोधः ।
अभिप्रायः; च. विरोधमेतं अंघममानार्थो मे, ट. इत्यविरोधः अवशो असमाना-
र्थो म इति पाठः । इति निरोधः असाध्यंति विरोधमेतयोर्भेषाविनः समनुगम्यन्ते
इति वा पाठः; ठ. ड. इत्यविरोधः । इति विरोधः असाध्यंति विरोधमेतयोर्भेषाविनः
समनुगम्यन्ते इति वा पाठः. ११ क. ख. घ. ट. ० निना सं. १२ क. ख. घ. ट.
नुगम्यन्ते; ग. च. ज. ० गम्यन्ते. १३ क. ख. ३ (३७); ठ. ड. ० वति । इति निरु-
क्तभाष्ये उत्तरपटके ५ भाष्ये ३७ खण्डः; ग. घ. वर्जमिरेण्डो नास्ति.

२५

३२

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम् । न ह्यस्या अपरं च न
 जरसा मरंते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः (ऋ० सं० १० । ८६ ।
 ११) ॥ इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवणं न ह्यस्या अपरामपि
 समा जरया म्रियते पतिः सर्वस्पाद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद्द्रुपस्तस्या
 ५ एषापरा भवति ॥ ३८ ॥

इन्द्राणीमासु नारिष्विति । वृषाकपेरापर्म । पृष्ठस्य पष्ठेऽहनि ब्राह्मणा-
 च्छंसिनः शस्त्रे विनियोगः (अश्व० श्रौ०
 इन्द्राणी ८ । ३) । निर्धार्यं ब्रवीति । सर्वस्वेव आमु

- १० नारिषु इन्द्राणीषु एव अहं सुभगा सौभाग्ययुक्तां लक्षणवतीं अश्रवम्
 अश्रवणम । केन हेतुना । यत आह । न ह्यस्या अपरं च न । 'हि'शब्दो
 हेत्वर्थः । चनेयत्पर्ये । यस्मादस्या अपरामपि समा संरक्षरं प्रति न कदा-
 चिदपि पति म्रियते नापि जीर्यते यथान्वासां प्राकृतानां नारिणाम् ।
 कतमः पतिः । विश्वस्मात्सर्वमात् जगतो य इन्द्रः उत्तरः । योऽपमिन्द्र
 १५ उग्रतरः । तमेतम् इन्द्रमधिकृत्य म्म इत्याचार्यो ब्रवीति ।

' तस्या एषापरा भवति ' । सा पुनः किमर्थम् । ऋषिर्दृषाकपिः प्रसिद्धः ।
 स पुनरादित्योऽभिषेतो नैरक्तानाम् । तदुपप्रदर्शनायापरा माह ॥ ३८ ॥

- नाहमिन्द्राणि रारण सगुर्धृषाकपेर्कृते । यस्येदमप्यं हविः
 २० म्रियं देवेषु गच्छन्ति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः (ऋ० सं० १० ।
 ८६ । १२) ॥ नाहमिन्द्राणि रमे मरुर्धृषाकपेर्कृते यस्येदमप्यं
 हविःसु श्रुतमिन्द्रं संस्कृतमिति वा म्रियं देवेषु निगच्छति सर्व-
 स्पाद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद्द्रुपो गौरी रोचनेर्ब्रह्मनिर्कर्मणोऽयमपी-

तरो गौरो वर्ण एतस्मादेव प्रशस्यो भवति तस्या एषा भवति
॥ ३९ ॥

नाहमिन्द्राणीति । समानो विनियोगः पूर्ववैप्यं च । इन्द्रो ब्रवीति ।
इन्द्रोऽप्येव विभक्तामिन्द्राणी मात्मनः कृ वाह । नाहमिन्द्राणि
ररण । न रमे अहम् । सद्युर्वृपाकभेदेते । य एष
मम सखा वृपाकपिस्तस्मादृते । किं थोऽयमपिर्मनुष्येषु प्रसिद्धः । नेत्यु-
च्यते । यस्येदमप्यं हृदिः । अप्सु शतं चैरुपुरे ङाशादि वा । 'अङ्गिः
संस्कृतमिति वा । सोऽस्य मे प्रिय इष्टः सर्वेष्वपि देवेषु । निर्धार्योच्यते ।
यस्य विशेषतो गच्छति । विश्वस्मात् सर्वस्मात् अपि जगतो योऽहम्
इन्द्र उत्तरः उद्गततरः सोऽप्यहमेवं ब्रवीतीति ।

'गौरीः (२८) रोचतेः' ज्वलत्यर्थस्य । माष्यमिका वाक् । सा पुनर्दीप्ति-
मती । 'अयमपीतरो' यो 'गौरो वर्णः'
गौरीः कस्मात् सोऽपि 'एतस्मादेव' रोचतेः । स दीप्तिरूप-
त्वात्कृष्णादीनपेक्ष्य 'प्रशस्यो भवति' । 'तस्या एषा भवति' ॥ ३९ ॥

गौरीर्निर्माय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभ्रुवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् (ऋ० सं०
१ । १६४ । ४१) ॥ गौरीर्निर्माय सलिलानि तक्षती कुर्वत्ये-
कपदी मध्यमेन द्विपदी मध्यमेन चादित्येन च चतुष्पदी दिग्भि-
रष्टापदी दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्च नवपदी दिग्भिश्चावान्तरादीग्भि-
श्चादित्येन च सहस्राक्षरा बहुवृक्ता परमे व्यवने तस्या एषापरा
भवति ॥ ४० ॥

१ क. स. ५ (३९) ; त. द. ५. २ ग. °णीति । स°. ३ क. ख. °या
आर्षं च । इन्द्रो° ; घ. ट. °याः आर्षं तु इन्द्रो° , त. ड. °या अर्षं तु इन्द्रो° .
४ ग. ज. चरु च पु°. ५ क. स. ५ (३९) ; उ. ड. °वति । इति निरुक्तभाष्ये
५ ध्याये ३९ खण्डः ; ग. च. वर्धमितरेष्वङ्गो नास्ति. ६ क. ख. ६ (४०) ;
त. द. ६.

गौरीर्निर्मायेति । अस्यवामीये दीर्घतमस आर्षम् । गौरी सर्वमिदं
निर्मिमीते । कथम् । सलिलानि तक्षती कुर्वती ।
गौरीः उदकपूर्वकत्वाःसर्वनिर्माणस्य । कथमुदकानि

कुर्वती । एकपदी बभ्रुवुपी एकपदी भवती मध्यमेन सहैकत्वमपत्ना ।
द्विपदी मध्यमेन चादित्येन च । चतुष्पदी दिग्भिः अनपेक्षेन्द्रादित्यो ।
अष्टापदी दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्च । नवपदी दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्च सह
आदित्येन च । सहस्राक्षरा बहुदका परमे ब्रह्मणे । विभक्तानां भूतानां
यत्परममवनमेकं सर्वभावानामविभक्त एक आत्मा यस्तदात्मनैवंभूता सलि-
लनिर्माणद्वारेण सर्वमिदं निर्मिमीते ।

१० ' तस्या एवापरा भवति ' । सा पुनः किमर्थमिति । गौरीति गुणा-
भिधानमप्रसिद्धाभिधेयं छन्दसि देवतायाम् । यतः परया समर्थयति ॥४०॥

तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशथर्वस्रः ।

ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुप जीवति (ऋ० सं० १ । १६४ ।

१५ ४२) ॥ तस्याः समुद्रा अधिविक्षरन्ति वर्पन्ति मेघास्तेन
जीवन्ति दिगाश्रयाणि भूतानि ततः क्षरत्यक्षरमुदकं तत्सर्वाणि
भूतान्युपजीवन्ति गौर्यार्याख्याता तस्या एवा भवति ॥ ४१ ॥

तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्तीति । अलिङ्गो मघ्न इति चेतस्या

२० गौरी एव इत्येवमेव लिङ्गमन्वादिशने संबन्धादयोः ।
तन्मात्रालिङ्गः । तस्याः गौर्याः अधि मकादान्
समुद्राः मेघाः अधिविक्षरन्ति वर्पन्ति । तेन उदकेन जीवन्ति प्रदिशथर्वस्रः ।

दिकप्रतिदिमिमासीनि ' भूतानि ' तेन जीवन्ति । ततः क्षर-
त्यक्षरम् । पुनःपुनः प्रतिसंस्तरं तत एव क्षरत्युदकं मेघद्वारेण । तद्विश्वं
भूतजातम् उज्जीवति । एवं सैत्र सर्वोदकेशाना गौरीत्यभिप्रायः ।

' उदकम् अक्षरम् ' इत्युच्यते । तत्कस्मात् । तद्वि सर्वमिदमभिव्य-
ज्यत् ' क्षरति ' । सर्वमिदं संस्तरति । ' गौः व्याख्याता ' (निरु०
२ । ५) । ' तस्या एषा भवति ' ॥ ४१ ॥

गौरमीमेदन्तु वत्सं मिपन्तं मूर्धानं हिङ्ङ्कृणोन्मातृषा चं ।
सृक्काणं धर्ममभि चावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः (ऋ०
सं० १ । १६४ । २८) ॥ गौरन्वमीमेदत्सं निमिपन्तमनिमि- १०
पन्तमादित्यमिति वा मूर्धानमस्याभिहिङ्ङ्करोन्मननाय सृक्काणं
सरणं धर्मं हरणमभिव्यावशाना मिमाति मायुं प्रव्यायते पयोभिर्मा-
यमिवादित्यमिति वा पागेषा माध्यमिका धर्मधूमिमिति योजिका
धेनुर्धयतेर्वा धिनोतेर्वा तस्या एषा भवति ॥ ४२ ॥

गौरमीमेदिति । दीर्घतमस आर्यम् । महाव्रते त्रिनिर्योगः (ऐ०
गौः आ० ५ । ३ । २) । गौः माध्यमिका
वान् पुत्रम् अन्वमीमेत् अनुसन्दयति महद्भिः ।

स्तनपिलुशन्दैः आदित्यम् । स हि तस्या रसहरणाद्वत्सः । मिपन्तम्
अनिमिपन्तम् अव्यवहितदर्शनं सर्वदा । अपि च । मर्जितं शिरोर्मन् २५
अस्य मध्वस्थानप्राप्तं प्राप्य हिङ्ङ्कृणोत् द्विकारंणापगन्दयति । मातरे
सर्वलोकज्ञानाय उदकानां सृक्काणं सरणम् अनवस्थायिनमादित्य धर्मं हरणं
रसानाम् । अभिव्यावशाना पुनः पुनर्विश्वमाना प्रतिसंस्तरमेव मिमाति
मायुं दान्दं करोति प्रव्यायते च प्रकर्षेण वर्जते पयोभिः उदकैः ।

१ क. ख. घ. ट. 'द्विनिर्घ' । २ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'मिदं सचराचरं ।
सं० घ. 'मिदं' सचराचर. ३ क. ख. घ. (४१), ठ. ड. 'वति । इति
निरुक्तप्रत्यये ५ ध्याये ४१ खण्डः; ग. ख. वर्जमिरोन्वद्रे नास्ति. ४ क. ख.
८ (४२), त. द. ८. ० ग. द्विति । की०. ६ ग. च. ज. 'रमोन्. ७ ग.
ख. ज पुनर्विश्व'. ८ क. ख. ग. ट. ठ. ड. 'शाना पशन्ती पति'. ११

धर्मधुकपक्षे । गौरेण गौः अन्वमीमित् अनुशब्दयति वसमेव धत्स
धर्मधुकपक्षे अर्थः । मियन्तं तमेयोमुखे पश्यन्तम् । ऐयमपि च
प्राप्य गूर्धानम् अस्य उपप्राय हिङ्ङित्येव शब्दं

करोति । स हि गेः स्वभाव । मातवै कथं नाम य मा जानीयाग्माता
मभेःमिति । भूकृणं त मेव पत्यभिमुखं सरणं ह्यरणं पथसाम अभिवा-
शाना पुनः पुनर्वाद्यमाना प्रत्यहमेव शब्द करोति प्रप्रायते च पयोभिः
वत्सम् । अस्माश्च या वर्धयति सा नित्यमेवमस्त्विति ।

‘ धेनुः (१०) धयनेर्वा ’ । धीःतेऽसौ वत्सेनेति । ‘ धिनोते-
र्वा ’ । तर्पयत्यसाबुदकेन पयसा वा । ‘ तस्या
एषा भवति ’ ॥ ४२ ॥

५ उप द्वये सुदुघां धेनुमेता मुहस्तौ गोधुगुत दोहदेनाम् । श्रेष्ठं
सर्वं सविता साविपन्नोऽभीदो धर्मस्तदु पु प्रवेचम् (ऋ० सं०
१ । १६३ । २०) ॥ उपद्वये सुदोहनां धेनुमेतां कल्याणहस्तो
१५ गोधुगपि च दोहधेनां श्रेष्ठं सर्वं सविता सुनोतु न इत्येप हि
श्रेष्ठः सर्वेषां सवानां यदुदकं यद्वा पयो यजुश्चदभीदो धर्मस्तं
प्रवर्षीमि वागेषा माध्यमिका धर्मधुगिति याज्ञिका अघ्नयाहन्तव्या
भवत्यघ्नतीति वा तस्या एषा भवति ॥ ४३ ॥

२० उप द्वये सुदुघामिति । पूर्वधेय समानमांशं विनियोगश्च । उपगम्य
धेनुः मनसा व्याह्वयेऽह स्तुतिभिः सुदुघा कल्याण-
मुदकं या दुग्धे ता धेनु तर्पयित्री सर्वलोकस्य
एतां माध्यमिका वाचम् । अपि च । मथैतामुहन्ता मुहस्तः कल्याण-
हस्तो गोधुक् इन्द्रो दोगु प्रक्षारयतुदकानि । अमुना प्रकारेण श्रेष्ठम्
२५ अतिशयेन प्रसस्यमेत सत्रम् उदकं योऽयम् अभीदो धर्मो मध्वरवानो
विशुदाह्वयः असीनित् स सनोतु निय ददातिविति त मुष्टु प्रन्मम् ।

१ क. ए घ. ट. ठ. ड. अपि च शः; च ईईमि° अपि च २ क ख. घ.
ट. ठ. ड. धर्न हर्, च. °रण-हर धर्म २ ग. अ. गुर्वावः, च पुनर्वावः.
४ क. ख. ट. (४०), उ. ड. °पनि । इति निरुक्तभाष्ये ५० अध्याये ४०
खण्डः, ग. च. वज्रमेवोष्यशी नास्ति. ५ क. ख. ट. ध. घ. ठ. ड. वज्रमेवो;
७. त. दोहनेना. ६ क. (१. १ (४३)); त. द. १. ७ ठ. ड. इत्य इति.
८ ग. °मिति । ९. १ क ख. घ. ट. ठ. ड. °माना. १० क. ग. घ. ७ः
११ सापे°, च. अ. °, न. १०. १०° अ.

धर्मधुक्पक्षे । धेनुर्व धेनुः । तामुपह्वये मुदुवा सुरोहा धेनुमेनाम्
 धर्मधुक्पक्षे अर्थः अश्विन्युक्मण्यपङ्गमात्रमुपगताम् । होता ऋषीति ।
 मया चैवमुपह्वानं सुहस्तः गोधुक् अश्वरुररिपि
 च दोग्धेनाम् । श्रेष्ठम् अनिशनेन प्रशस्यमेव सवम् एतत् यजुष्मन्पव.
 सावित्र् मुनोतु अश्वनुजानातु सविता । यद्वि सवित्रा प्रसूत क्रियते ५
 तदेव साधु भवति । अर्धोद्धः एष घर्मो रुचितो महावीरः । स्तमधिकृत्य
 प्रभ्रमः । आहरैर्तास्मिन् पय आसेचनायेति ।

‘अध्या’ (३१) कस्मात् । सा हि सर्वस्यैव ‘अहन्तध्या भवति’ ।
 अध्या कस्मात् ‘अघर्षीति वा’ । सा हि पाप हन्ति यद्वि
 वाप्यदि गौः । ‘तस्या एव भवति’ ॥ ४३ ॥ २०

सुयवमात्रगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम । अद्धि
 तृणमध्ये विश्वदानो पिबं शुद्धमुदकमाचरन्ती (ऋ० सं० १ ।
 १६४ । ४०) ॥ सुयवसादिनी भगवती हि भवायेदानीं वयं
 भगवन्तः स्यामाद्धि तृणमध्ये सर्वदा पिब च शुद्धमुदकमाचरन्ती ११
 तस्या एवापरा भवति ॥ ४४ ॥

सुयवमादिति । पूर्ववदार्थम् । माय्यमिका दागुव्ये । शोभन यव-
 अध्या समुदकमव्यात्मिकृत्य सूर्यात् तेन भगवती धन-
 यती उदकेनोदकवती भव । अर्थे इदानीमेव २०
 त्वपि भगवत्यां वयमपि स्वदुस्तेनोदकेन भगवन्तो धनवन्तः स्याम ।
 सा च पुनरेवं प्रीतिसंवत्सरम् अद्धि तृण भेषम् । तृद्योऽसाविति तृण ।
 तमद्धि संचूर्गप । विश्वदानो सर्वदा यथाकाष्ठं पिब च सूर्यरस्मिपुपहतम्
 उदकम् आचरन्ती आसेरन्ती शुद्धम् अकलत्रं सर्वतो मय्यस्थाने चरन्ती ।

१ ग. अ. दोषेण, च. दोषेणो' अथे २ क. ए. १ (४४), ठ. ड. 'बनि
 इति निरुक्तभाष्ये पञ्चमाध्याये ४२ मण्ड. म च धर्मि-र-र-हो नास्ति. २ क.
 ए. १० (४४) ; त. द. १०. ४ ग. 'द्विनि . ए' ५ क. ए. प. ड. ठ. ड.
 अथ पुन. इदा' ३ ग. अ. अथवा इदा' ; च. मयपौ इदा' पुनः. ६ ग. अ. संवत्सरे
 प्रतिवा साद्धि' ; च. संवत्सरे' इति अद्धि'.

धर्मधुक्क्षे । यवसमेव यवसम् । तज्जग्ध्वा पयस्विनी भव ।

धर्मधुक्क्षे अर्थ. यवमपि चै त्वप्रत्तेन पयसा धनवन्तः स्याम ।
या त्वमस्माकमेवमुपकारिणी सा त्व नित्यमद्वि

तज्जग्ध्वा । विश्वज्ञानी नित्यकालं पिव च शुद्धमकल्पमुदकमाचरन्ती औ-
५ सेवन्ती आ सर्वतो यथाकाममरण्ये चरन्ती ।

‘ तस्या एपापरा भवति ’ । सा पुनः किमर्थम् । रूपतो हि पूर्व-
स्मिन्मन्त्रे धर्मधुक् सुतरामुपपद्यते । यतः परया वसुभिर्देवैः संकन्धान्माध्य-
मिकैव देवतेषुपपादयति ॥ ४४ ॥

१० हिंक्षुष्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात् ।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्नयेयं सा वर्धतां महते सौभगाय (क०
१ । १६४ । २७) ॥ इति सा निगदव्याख्याता पथ्या स्वस्तिः
पन्था अन्तरिक्षं तन्निवासात्तस्या एपा भवति ॥ ४५ ॥

१५ हिंक्षुष्वतीनि । पूर्ववर्दादि । हिङ् इत्येवंप्रकारं शब्दं स्तनयित्से
अध्या एव कुर्वती वसुपत्नी वसूनामुदकानामीश्वरा । वसूना
वा आदित्यरश्मीना मरुता वा । वत्स आदित्यः ।
य यस्थानो वा रसहरण इत्स । तम् इच्छन्ती मनसया माध्यमिका वाक्
नित्यम् अभ्यागात् सेयम् अश्विभ्यां यावावृथित्रीम्या सूर्याचन्द्राम्या वा
१० वर्षाय दुहा दुग्धा प्रक्षरता पयः उदकम् । वसुना प्रकारेण प्रतिसंस्तरं
वर्धताम् उदकेनास्माकं महते सौभगाय । यथा महासौभाग्यं धनेवत्वं
स्यात्तथा वर्धतामिति ।

१ क. म. प. उ. च तनः त्वं, च. च-त्वं तत, उ. उ. च तत. स्वत्पता-
देन पयं. २ ग. ज. ‘न्ती सेव’, च. रन्ती से आ. ३ क. स. १० (४४),
उ. उ. ‘वनि । इति निरुक्तभाष्ये षष्ठमाध्याये ४४ खण्ड ३ ग. च. कर्मितोपपत्तो
वास्ति. ४ क. स. ११ (४५), त. द. ११. ५ ग. ‘तीनि । पूं- ६ ग. ज.
‘दावै । दिहि’; च. दावै । दिहि’ वा. ७ ग. ज. कुर्वती, च. कुर्वती’ वं. ८ ग.
ल. ‘म्या वं’, च. म्या-वं वा. ९ उ. ‘धन’ इ पनन्तग्न्यादयम् पन्मणि नष्टानि

११ १० ग. ‘विति वनीवायेनि, च. ‘विति वनीवायेनि’

‘ पथ्या (३२) स्वस्तिः ’ (३३) इति वक्तव्यम् । अत्र पूर्वपदं
पथ्या फस्मान् पन्था अन्तरिक्षम् । तन्निवासात् पथ्या । स्वस्ति-
रित्युक्तं निर्वचनम् (निरु० ३ । २१) ।
यथा प्रायणीयाया यजतिप्रयोगो दृष्टस्तथा समाह्वतः ‘ पथ्या स्वस्ति
पूर्वा यजति ’ इति । ‘ तस्या एषा भवति ’ ॥ ४५ ॥

५

स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेवणस्वत्यभि या वाममेति । सा
नो अमा सो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपा (ऋ०
सं० १० । ६३ । १६) ॥ स्वस्तिरेव हि प्रपथे श्रेष्ठा रेवणस्वती
धनवत्यभ्येति या वसूनि वननीयानि सा नोऽमा गृहे सा निर- १०
यणे सा निर्गमने पातु स्वावेशा भवतु देवी गोप्त्री देवान्गोपा-
यत्विति देवा एनां गोपायन्त्विति वोपा व्याख्याता तस्या
एषा भवति ॥ ४६ ॥

स्वस्तिरिद्धिरिति । वमुकर्णस्वार्पम् । ‘ इत् ’ इत्यवधारणार्थे । १५
स्वस्तिः । स्वस्तिरेव हि प्रपथे अन्तरिक्षे श्रेष्ठा प्रशस्या
मर्धदेवताम्य । रेवणस्वती धनवती उदकेन । अभि
या वाममेति । या वननीयानि उदकानि अभ्येति । तस्याः किमिति ।
सा न सा अस्मान् अमा । अमेति गृहनाम (निघ० ३ । ४ । ११) ।
गृहे वसतः अरणे अरण्ये च निर्गमने च महिर्गृहात् पातु रक्षतु । २०
स्वावेशा सुचरणा भवतु अस्माकम् । देवगोपा देवी चासौ गोप्त्री चेति
देवगोपा । देवान् दातृन्माम् गोपायत्विति वा । हविषो गोपायतु ।
अथवा । देवा माध्यमिका शुस्थाना वा रश्मय एना गोपायन्त्विति वा ।

१ ग. ज. पूर्वदि, च. पूर्वदि य ० वा. २ क. ल. ११ (४५); ड. वनि ।
इति निरुक्तभाष्ये ५ प्याये ४५ खण्ड ; ग. च वर्गमितरेष्वङ्गो नास्ति. ३ क. २५
ल. १२ (४६), त. द. १२. ४ ग. ‘रिति । व. ५ क. ल. प. ट. ठ. ड.
‘कानि निव्यमप्येति, च. ‘कान्येभ्ये’नाय. ६ ग. ज. ‘मते, च. ‘मते च’ ने.
७ क. ल. प. ट. ड. देवान्गोपायत्विति वा । दातृन्माम् । किम् । सर्व-
स्माद्विक्रो गोपायतु । अथ ; च. देवान् गोपा- दातृ० यत्विति वा. ८ च.
‘नस्मान् दात्विति वा. ९ च. ‘ इति’ किं इवस्मान्. १० च इति गोपा’ पो. १०

‘ उपा (३४) व्याख्याता ’ (निरु० २ । १८) । ‘ तस्या
एषा भवति ’ ॥ ४६ ॥

अपोषा अनसः सरत्संपिष्टादहं विभ्युषी । नि यत्सीं शिश्र-
यद्दृषां (ऋ० सं० ४ । ३० । १०) ॥ अपासरदुषा अनसः
संपिष्टान्मेघाद्विभ्युष्यनो वायुरनितेरपि बोपमार्थे स्यादनस इव
शकटादिवानः शकटमानद्दमस्मिश्चीवरमानितेर्वा स्याज्जीवनकर्मण
उपजीवन्त्येनन्मेघोऽप्यन एतस्मादेव यन्निरशिश्रयद्दृषां वर्षिता
मध्यमस्नस्या एषापरा भवति ॥ ४७ ॥

१०

अपोषा अनसः सरदिति । वामदेवस्वार्थम् । परा च । अपासरदुषाः ।

उपाः अपासर्गत् । कुनः । अनसो वायोः ।

यदा संपिनष्टि वायुर्मेघं तदा सनिवासिन्धुषा
मामप्ययं हनिष्यतीति विम्वल्यरसरति । नि यत्सीं शिश्रयत् । यदा निर-
शिश्रयत् निर्ज्वान निर्हृष्टि दृषा वर्षिता वायुः तदा अपासरदुषाः ।

२५

‘ अनो वायुरनितेः ’ घातोः प्राणनार्थस्य । ‘ अपि बोपमार्थे
स्यात् । अनस इव शकटान् । यथा शाकटिकः शकटात्केनचित्संपिष्य-
माणादपसर्पेदेवं वायुना संपिष्यमाणान्मेघादपासरदुषा इति द्वितीया
कथयता ।

२०

‘ तस्या एषापरा भवति ’ । सा पुनः किमर्थम् । उत्तमापि ह्युषा
आदित्यसंश्रयाद्भवति । इयं तु मध्यमा भेषसंश्रया वायोरेव संस्तवादिति
मध्यमाश्चभावप्रायोऽस्त्युपप्रदर्शनार्थम् ॥ ४७ ॥

एतदस्या अनः श्रये सुसंपिष्टं विपाश्या । ससारं सीं
परावतः (ऋ० सं० ४ । ३० । ११) ॥ एतदस्या अन आश्रये

१ क. ख. १२ (४६), ड. ‘ वति । इति निरुक्तभाष्ये ॥ ११ ॥ ४६
सण्टः; ग. ख. वर्जमितोष्यहो नास्ति. २ क. ख. १२ (४७); त. द. १२.

३ ग. ‘ दिति । वाः; ड. अपोषा । इति. ४ ख. ‘ वानार्थे. ५ क. ख. १२ (४५),

२१. २. ‘ तदुपपन्नार्थम् । ४७ । ’ इति नास्ति; ग. ख. वर्जमितोष्यहो नास्ति.

सुसंपिष्टमितरदिव विपाशि विमुक्तपाशि ससारोपाः परावतः
पेरित्वतः परागताद्वेळा व्याख्याता तस्या एषा भवति ॥ ४८ ॥

एतदस्या अनः शय इति । विशीर्णमुदकभावेन पृथिवीं संलय
अवस्थितं दर्शयन् ब्रवीति मेघम् । एतदस्याः
उषा एव उपसः अनो मेघाख्यमाश्रयभूतं सुसंपिष्टं सुष्टु
संचूर्णितं वायुना इतरदिव शकटानः विपाशि छिन्नसर्वपाशबन्धनम्
आशेते आतन्य पृथिवीं शेते आस्ते यतः संपिष्यमाणात् रुसार माध्य-
मिका उषाः परावतः दूराद्दूरतरं ननाशेति ।

‘इळो (३५) व्याख्याता ’ इष्टेः स्तुतिकर्मणः ’ (निरु० ८।७) १०
इति । ‘ तस्या एषा भवति ’ ॥ ४८ ॥

अभिर्न इळो यूथस्य माता स्मद्गदीभिर्बुर्वशी वा गृणातु ।
उर्वशी वा बृहद्दिवा गृणानाभ्यूर्णाना प्रभूयस्यायोः (ऋ० सं०
५ । ४१ । १९) ॥ सिपंक्तु नः ऊर्जव्यस्य पुष्टेः (ऋ० सं० १५
५ । ४१ । २०) ॥ अभिगृणातु न इळा यूथस्य मातां स्मद्भि
नदीभिर्बुर्वशी वा गृणातूर्बुर्वशी वा बृहद्दिवा महद्दिवा गृणानाभ्य-
ूर्णाना प्रभूयस्य प्रभूतस्यायोः र्यर्नस्य ज्योतिषो घोदकस्य वा
सेवतां नोऽधस्य पुष्टे रोदसी रुद्रस्य पत्नी तस्या एषा
भवति ॥ ४९ ॥

१०

१ क. ख. छ. त. दे. बोला. २ क. ख. १४ (४८), त. द. १४. ३ ग.
इति । वि; ड. एतदस्या इति. ४ क. ख. ग. घ. ष. ज. इला. ५ क. ख. १४
(४८), ड. इति । इति भागे ५ एषाये ४८ खण्ड; ग. च. वर्जितोऽप्यडा
नास्ति. ६ क. ख. छ. त. द. इला. ७ क. ख. ड. घ. ङ. माता सर्वस्य
माता स्म. ८ क. ख. छ. घ. ङ. इ. नस्य मनुष्यस्य ज्यो. ९ क. ख. १५
(४९), त. द. १५.

- अभि न इडेति । अत्रेरापम् । शकरी । अभिगृणांतु अभिशब्द-
यत्वस्मान् । कासी । इळा । किलक्षणा । यूथस्य माता मेघयूथस्य निर्मात्री
मघ्यमा । केनाभिगृणातु । नदीभिः नर्देनाभिरद्भिः । उर्वशी वा । उर्वशीति
वा योष्यते इडेति वा सा गृणातु नः अस्मानिति अभिस्तनयतु । उर्वशी
५ वा बृहद्विद्या गृणाना । उर्पमार्थे वा 'व'शब्दो भेदापेक्षया । उर्वशीव
बृहत् महत् गृणातु दिवा द्योतनवता विद्युसहितेनोदकसमूहेन अम्य-
र्षाना सर्वमिदमभिप्रच्छादयन्ती प्रभृतस्य प्रकर्षेण संभृतस्य आयोः
अयनस्य गमनशीलस्य उदरस्य समूहेन सिपक्तु सेवताम् अस्मान् ऊर्ज-
व्यस्य पुष्टे. यवादे. अन्नस्य पोषणाय ।

- १० रोदसी कस्मात् 'रोदसी (३६) रदस्य पत्नी' रदस्य विभूतिः ।
'तस्या एया भवति' ॥ ४९ ॥

- रथं नु मारुतं वयं श्रवस्युमा हुवामहे । आ यस्मिन्तस्थौ
सुरगानि विभ्रती सचा मरुत्सु रोदसी (ऋ० सं० ५।५६।८) ॥
१५ रथं क्षिप्रं मारुतं मेघं वयं श्रवणीयमाह्वयामहे आ यस्मिन्तस्थौ
सुरमणीयान्युदकानि विभ्रती सचा मरुद्भिः सह रोदसी रो-
दसी ॥ ५० ॥

१ क. ख. ग. घ. च. ज. ट. इलेति । अ०. २ ग. ज. 'ग्रातु इति अभि';
२० घ. 'ग्रातु इति अभि'. ३ क. ख. ग. घ. च. ज. इला. ४ ग. ज. 'मदाभि'; घ.
'नदीभि' इना. ५ ग. ज. उर्वशयर्थे; च. उर्वशयर्थे० पमा. ६ क. ख. घ. ट. ७.
'हेन गृणाना शब्दयन्ती अ०, घ. 'हेम-अ० गृणाना शब्दयन्ती ७ क. ख. १५
(४९), ड. 'वति । इति नेरुकोत्तरवृत्ते भाष्ये ५० ध्याये ४९ ए०४, ग. घ.
वर्जमित्येवञ्चो नास्ति. ८ छ त. घ. 'मय' नास्ति. ९ क. ए. १९ (५०) त.
१५- क. १६; ड. ५० इति नेरुकोत्तरवृत्ते पञ्चमाध्याय. समाप्तः.

रथं नु मारुतमिति । श्यावाश्वस्यार्थम् । अग्निमारुते विनियोगः ।
 स्तोता ब्रवीति । नु क्षिप्रं वयं रथम् आह्वयामहे अह्वयामहे मारुते
 रोदसी मरुतसंयुक्तं अश्वस्युं अश्वणीयं यशस्विनम् ।
 किमिति । आ यस्मिन् सश्वौ । यस्मिन्नातिष्ठति
 रंहेणे रोदसी सह मरुद्भिः सहिता मरुद्भिः । रोदसी किमिति । सुरणानि
 सुष्ठु रमणीयानि उदकानि विभ्रती धारयन्ती आतिष्ठति । तं वयं मेवं
 रथम् आह्वयामहे वपार्थमिति ॥ ५० ॥

इति श्रीजम्बूवर्षनिवासिनो भगवद्गुर्माचार्यस्य कृतो ऋग्मर्थ्यायां
 निरुक्तचतौ पौडशोऽध्यायः ।

१०

+ श्येन आदौ यस्वादिष्ठयासोमं न्यते यत्त्वादेव नवोर्नवोपरं सृष्टो
 त्वेर्षमित्याप्रवोमह उदुर्जो विर्भति ददातु सोमं स्परान्नोधातोमभ्यस्था-
 नौ देवगणा आनिर्द्युन्मद्रिरारुद्रासो विष्टीशमी विरूपासवदी रतामिर्द्विर-
 सोनः सूर्यस्येवस्तुपेद्यमथातोमभ्यस्थानाः स्त्रियोदसस्यैवाथस्यैस्त्र्योकि- ११
 मिच्छन्ती पार्वी कानोमदो अगोपद्वीर्ग्वदन्ती देवी वाचमन्विदं नुमतेरा-
 काभिर्दसिनी वीलि कुर्दुमहमन्यमूपूवशी विद्युन्नवळिरथेन्द्रैर्जीनाइमि-

१ ग. 'मिर्नौ' इग. २ ग. ज. मारुत श म, च मारुतं वा म. ३ क. ख. घ.
 ट. ड. यस्मिन् किमिति; च. ~ किं यस्मिन्. ४ च. छ. ड. 'स्यौ यस्मिन्नासश्वौ
 यस्मि' ; च. 'स्यौ + य' यस्मिन्नासश्वौ. ५ क. ख. घ. छ. ड. 'गे गमने रो' ; च. २०
 'ये + रो' गमने. ६ क. ख. घ. ट. ड. कषा सह, च. 'सह' कषा. ७ क. छ.
 १६ (५६); ड. 'मिर्नौ' इति श्रीशाम्भूः ग. घ. वर्जोमितेरेष्वहो नास्ति. ८ ग. घ.
 ज. जम्बू. ९ ड. निरुक्त-शिकायां निषण्णत्वात्तत्राश्वकेन सह मेरुफणोडशो, १० क.
 ख. च. छ. ड. 'ध्यायः समाप्तः. + छ. त. इ. एषा स्वगृहसूक्तशाम्भूति. ११ छ.
 श्येनो ष्यास्वात् आदा'. १२ छ. ड. 'त मरोद्वि'. १३ घ. यद्देवी.
 १४ घ. रागासिनी. १५ घ. कुहव= हू. १६ घ. विद्युन्वळि. १७ घ.
 नाहं नौरी.

न्द्राणिगौरीमिमायतस्याःसमुद्रागौरिमीमेदुपेदयेसूयैवसाद्धिकृष्व-
तीस्वस्तिरिद्धैघपोषै एतदेस्याअमिनइल्लारथंनुं पञ्चाशत् ।

इति निरुक्त उत्तरपदके पञ्चमोऽध्यायः ।

अथ द्वादशाध्यायस्य

प्रथमः पादः ।

ॐ ॥ अथातो शुस्थाना देवतास्तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतोऽश्विनौ यध्यश्रुवाते सर्वे रसेनान्यो ज्योतिषान्योऽश्वैरश्विना- वित्यौर्णवामस्तत्कावश्विनौ धावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रावित्येके ५
सूर्याचन्द्रमसावित्येके राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकास्तयोः काल ऊर्ध्वमर्धरात्रात्प्रकाशीभावस्यानुविष्टम्भमनु तमोभागो हि मध्यमो ज्योतिर्भाग आदित्यस्तयोरैषा भवति ॥ १ ॥

व्याख्याता मध्यस्थाना देवताः सवचनच्छिन्नविशेषाः । अधुना तेनैव १०
सप्तान्नापानुक्रमेण शुस्थाना व्याख्येयाः । तदर्थं विशेषतः पुनरधिकार-
वचनम् । ' अथातो शुस्थाना देवताः ' इति । बहुवचन पक्षेऽर्धवत् ।
द्यौस्तेषा स्थानमिति शुस्थानाः । देवता व्याख्यास्यन्त इति शेषः । ' तासा-
मश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतः ' । तौ कस्मात् । कालतो हि शुस्थानानां

अश्विनौ किमर्थं देवताना विशेषो विवक्षितः । आश्विने च १५
प्रथमं कथ्येते स्तुतशस्त्रके कर्मणि प्रथममश्विनोः कालः संधौ ।
एकश्चाश्वी मध्यस्थान एको शुस्थानो नैवकान-
नाम् । अतो शुस्थानमध्येस्थानत्वात्तयोरश्विनोरुपन्यासः । यथेवमेकस्य मध्य-
स्थाने एकस्य शुस्थाने उपदेशः प्राप्नोति । न । एकैकस्य तयोरश्विशब्दस्य

द्वयोरैकत्र कथने किं पृथग्भावेन स्तुत्यभावादभिद्वन्द्वस्य चाल्पन्तमवि- २०
कारणम् यो गान्नासत्याविति च पृथक्स्तुत्यभावात् । सत्यर्थ-
विद्योगे प्राथम्यात्प्रथमस्य समाम्नां युक्तमिति
चेन्न तात्कालेन मध्यस्थानस्य हीयमानरूपत्वाद् शुस्थानस्य च वर्धमानरूप-
त्वात् अतोऽनन्तरं च शुस्थानदेवतारूपान्तरसंस्थानादिति ।

१ छ. ड. हरिः ओम्, छ. जु, घ. ओ३म्, घ. ॐम्. २ छ. त. व. ड.
'सुक्तमो. ३ ग. च. ज. तु व्या'; घ. ठ. धीगणेशाय नमः । व्या' ४ ग. ज.
'चतुस्रं'. ५ घ. मध्यस्थान' म. ६ च. ड. 'कस्य तयोरश्वि' ७ ग. ज.
'अपि' नास्ति ८ ग. ज. 'मातं.

‘अश्विनौ’ (निघ० ५ । ६ । १) कस्मात् । ‘यस्यश्रुवाते सर्वम्’ । केन ।

अश्विनौ कस्मात् ‘रसेनान्यः’ । रसेनोदकेन सर्वम् व्यश्रुते व्या-
प्राप्ति । ज्योतिषैकः । ‘अश्वरश्विनाविश्वौर्णागभः’ ।

अश्वैस्तद्वन्तौ तावित्यौर्णवाम आचार्यो मन्यते ।

५ ‘तत्का अश्विनौ’ इति विचारः । तदिति वाक्योपादाने । कौवे-

ताश्विनाविति विचारार्थः प्रश्नः । ‘द्यावापृथि-
व्यावित्येके’ । विज्ञायते हि ‘तौ यौ प्रयङ्-

दैवतमश्विनाविमे एत ते द्यावापृथिव्यौ’ इति । ‘तौ ज्योतिषा व्याप्ति-
पृथिव्यन्नेन । ‘अहोरात्रावित्येके’ । अहंज्योतिषा व्यश्रुते रात्रिरवदयायैः ।

१० ‘सूर्याक्षद्रमसावित्येके’ । सूर्यो ज्योतिषा व्यश्रुते रसेन चन्द्रमाः ।

‘राजानौ पुण्यकृतावित्येतिहासिकाः’ । ‘अश्वरश्विनौ’ इत्येतन्निर्वचन-
मथास्मिन्पञ्चे इतिहासे सम्भवति ।

‘तयोः काठ ऊर्ध्वमर्धरात्रप्रकाशीभाषस्यानुविष्टममम्’ । ज्योतिषा

१५ तयोः काठः व्यतिभिद्यमानमूर्ध्वमर्धरात्रात्तमे यदा ज्योतिषानु-
विष्टधाति सोऽश्विनोः काठः । ततः प्रभृति

संधिस्तोत्रं पुरोदशोदाश्विनम् । उदिते सौर्याणि । तत्र यत्तमेऽ-

नुप्रविष्टं ज्योतिषि तद्भागो मध्यमस्य रूपम् । यज्ज्योतिस्तमस्यनु-

प्रविष्टः तद्भागं तद्रूपम् ‘आदित्यः’ । तावेतौ मध्यमोत्तमाविति स्वमतगा-
चार्यस्य । यतः समर्धनायोदाहरति । ‘तयोरेषा भवति’ ॥ १ ॥

२०

यसांतिपु स्म घरयोऽसिंतौ पेट्वाविय । कदेदमश्विना युवमभि
देवो अंगच्छतम् ॥ इति सा निगदन्त्याख्यातां तयोः समान-
कालयोः समानकर्मणोः संस्तुतशाययोरसंस्त्वेनैपोऽर्धचो भवति

१ क. ख. घ. ट. ड. ‘केन कर्षण्य’; च. ‘केन व्य’ हरे. २ ग. ङ.
२५ यावाश्वि; च. ‘श्याश्वि वा. ३ क. ख. घ. ट. ड. उ. ङ. मध्यमः ।
तन्मध्यमस्य, च. ‘मोमन्व’ प्यमः । तन्व. ४ ट. वति। इति नि. निघण्टवे
१ मण्डः, ट. ‘वति । इति निरुक्तटीकायां निघण्टवप्रश्नेन एव कृतदश्याधि-
प्यमः मण्डः; क. ग. ख. च. वसंतिनेष्वहो नास्ति. ५ ट. ख. घ. ट. ड.
‘इत्याता वनातिषु स्म च रयो वजानयो रानयो वजने स्म इत्येता तयो वदेवां वदे-
२० वानिचो ये वविर । अरे व वृषदा मुगदवोस्त.।’

वासात्यो अन्य उच्यते उपःपुत्रस्तवान्य इति तयोरेपापरा भवति ॥ २ ॥

वसातिषु रमेति । उपजातदेवतादर्शनचक्षुरक्षीतेषु रात्रिपर्यायेषु संघौ अश्विनौ प्राप्ते सहसैवाश्विनौ दृष्ट्वा मन्त्रद्वयं वीति । वसातिषु रात्रिषु । तामु हि प्राणिनो वैतन्ति । किं तास्विति । चरथो युवाम् । कथम् । असिताग्निष पेत्तौ । कृष्णाग्निष भेषौ समानरूपौ । उपसि कथमपि मया उक्षितौ । यतो ब्रवीमि । कदेदमश्विना युवम् । कदेदमस्मत्कर्म प्रति ये देवा आगतास्तान्प्रति हे युवामश्विनौ आगच्छतम् आगतवन्तौ स्थः ।

५

१०

‘ तयोः । अश्विनोः ‘ समानकालयोः ’ । उभयोरपि हि तयोर्कर्म-

तयोः कालः कर्म च समाने सूक्तानि ऋचक्ष प्राय. स्तुति-रूपाणि असंस्तयन्तु पोऽर्चः

मर्धरात्राकाल इति समानकालः । ‘ समानकर्मणो. ’ । उभयोरपि तयोरेकं कर्म । तिस्रोऽह्याः सोमा आश्विनश्च द्विकपाल. । ‘ संस्तुतप्राययोः ’ । प्रायेण हि तयोर्बाहुल्येन सस्तव एव । तयोः पुनः ‘ असंस्तवनेपोऽर्धर्चो भवति ’ ।

१५

नैवस्यामृचि वसातिषु स्म चरथ इति वसातयो हि जनपदा अपि प्रसिद्धाः । तदभिपत्तौ राजानो पुण्यकृता अश्विनस्तद्वन्तायिति शक्यते कल्पयितुम् । तद्यथा । वासात्यो तदशाधिपती कौचिद्राजानो बह्वस्वौ पुण्यकृतौ यज्ञकर्मणि देवान्प्रति गतौ केनचिदुच्येते । यौ युवा वसातिषु जनपदेषु नित्यमसिताग्निष पेत्तौ समानभेषौ चरथस्तौ युवामिदं देवस्थानं प्रति ये देवा वर्तन्ते तान्प्रति कदा हे अश्विनौ युवामागच्छतमागतवन्तानिति । मा भूदेवा मन्त्रार्थयोजनेत्यत आह । ‘ वासात्यो अन्य उच्यते उप.-

३०

१ ग. धेति । उ०; ज. धेति । उ०. २ क. ल. प. ट. ठ. ड निव०. ३ क. ख. प. ट. ठ. ड. ‘ वीनि. ४ ग. ज. ‘मानः का०. ५ ग. ज. ‘ ननु ’ नारिन. ६ ग. ज. ‘ तिस्रु ध्व च’, ‘ तिस्रु ध्वि च ’ इति १ म. ७ क. ख. प. ट. ठ. ड. पुण्य-इति राजानो. ८ क. ल. प. ट. ठ. ड. युवामागतव०. ९ क. ख. प. ट. ठ. ड. ‘ तयोऽन्य०.

अग्निपरोऽर्थः पुत्रस्तवान्य इति । एको वासास उपसत
 एकश्च उपसतः पुत्र इति । एवमेतस्मिन् भिन्न-
 स्तुतावर्धर्चे उपसतः पुत्रेण सूर्येण सह समानद्वैधानादसंशयं मध्यमो
 वासास्यो रात्रिः पुत्र इति ।

५ 'तपोरेषापरा भवति' । सा पुनः किमर्थम् । मध्यमोत्तमावदिवना-
 वित्यस्यैवार्थस्य दृढतायै स्फुटं यदेतस्यामेतत्परस्यामृचि ॥ २ ॥

इहेह जाता समवावशीतामरेपसां तन्वा^१र्नामाभिः स्वैः ।
 जिष्णुर्वा^२मन्यः सुमखस्य सूरिर्दि^३वो अन्यः सुभगः पुत्र ऊहे
 १० (ऋ० सं० १ । १८१ । ४) ॥ इह चेह च जातौ संस्तुयेते
 पापेनालिप्यमानया तन्त्रा नामभिश्च स्वैर्जिष्णुर्वा^४मन्यः सुमहतो
 बलस्येरयिता मध्यमो दिवोऽन्यः सुभगः पुत्र उद्यत आदित्यस्तः
 योरेषापरा भवति ॥ ३ ॥

१५ इहेह जातेति । अगहयस्वार्थम् । प्रातरनुवाकादिवनयोर्विनिवोगः
 (भाष्य० श्रौ० ४ । १५) । हे अदिवनौ युवामुच्येथे । इहेह जातो

अग्निनौ इह च मध्यस्थाने इह च सुस्थाने जातो समवा-
 वशीतां संस्तुयेथे । केन अरेपसा तन्वा अपापया

२० तन्वा यथासंकर्यर्हत्तया नामाभिः स्वैः । परमनाश्रित्य यानि स्वैर्निमित्तानि तेः ।
 किच । जिष्णुर्वा^५मन्यः । नियमेव जिता युवयोरन्यः । सुमखस्य सूरिः
 सुमहतो बलस्येरयिता शशुद्रु । स च नान्यो मध्यस्थानादिति मध्यस्थानः ।
 दिवो अन्यः सुभगः पुत्रः सुभगः सुधनः ऊहे उद्यते वायुना निपम् ।
 स च नान्यः सूर्यादिपेवमत्रापि मध्यमोत्तमाविति ।

१ क. स. घ. ट. ठ. द. 'मान्यास्या' । २ ट. द. 'मधि' । इति निरुक्तभाष्ये
 ३ पापे २ सप्तः; क. स. ग. घ. वर्गभिनोरेष्यद्वौ नास्ति. ४ छ. त. सुमहतो
 महतो बल'. ५ क. स. छ. त. द. दिवो अन्य'. ६ क. स. द. प. घ. ट. द.
 ऊद्य. ७ ग. 'तेति'. अ'. ८ क. स. प. ट. ठ. द. 'नन्या;'. ९ 'सुईत'.
 १० क. स. प. ट. ठ. द. सप्तुतिनि; घ. सप्तुति' स्तुति. ११ क. स. घ. ट.
 १२ ट. द. उद्य'.

‘ तयोरेषांपरा भवति ’ । सा पुनः किमर्थम् । संस्तुतप्रायावेतौ
समानकालौ समानकर्माणावित्युक्तं तदुपप्रदर्शनार्थम् ॥ ३ ॥

प्रातर्युजा विबोधयाश्विनावेह गच्छताम् । अस्य सोमस्य
पीतये (ऋ० सं० १ । २२ । १) ॥ प्रातर्योगिनौ विबोधया- ५
श्विनाविहागच्छतामस्य सोमस्य पानार्थं तयोरेषांपरा भवति ॥ ४ ॥

प्रातर्युजिति । मेधातिथेरार्षम् । प्रातरनुवाके विनियोगः (आश्व०
श्रौ० ४ । १५) । हे स्तोतः यावेतौ प्रातर्युज्येते
तौ एव हविषा स्तुत्या च । तावेतौ अश्विनौ विस्प-

ष्टाभिः स्तुतिमिरस्मदर्थं विबोधय । विबोधितौ च त्वया इह कर्मणि १०
आगच्छताम् आत्माकम् अय सोमस्य पीतये पानाय ॥

‘ तयोरेषांपरा भवति ’ । सा पुनः किमर्थम् । नैवानयोरन्यस्मिन्
काले इत्यस्ति । यद्यपि क्रियेतानिष्यैव सेति सुतरां परया संस्तवं कालं
चोपप्रदर्शयति ॥ ४ ॥

प्रातर्यजध्वमश्विनां हिनोत न सायमस्ति देवया अजुष्टम् ।
उतान्यो अस्मदर्थजते वि चावः पूर्वः पूर्वा यजमानो वनीयान्
(ऋ० सं० ५ । ७७ । २) ॥ प्रातर्यजध्वमश्विनौ प्रहिणुत न
सायमस्ति देवेज्या अजुष्टमेतदर्थ्यन्योऽस्मदर्थजते वि चावः पूर्वः
पूर्वा यजमानो वनीयान्वनयितृतमस्तयोः कालः सूर्योदयपर्यन्त- २०
स्तस्मिन्नया देवता औष्यन्त तथा धष्टेः कान्तिकर्मण उच्छते-
रितरा माध्यमिका तस्या एषा भवति ॥ ५ ॥

१ उ उ. 'नाथम् । इति निरुक्तभाष्ये पञ्चाध्याये तृतीयः खण्डः' क ल. ग.
५. 'वर्जितोरेष्वङ्गो नस्ति २ ग. 'मेति । मे'. ३ उ उ. 'यति । इति निरुक्त-
भाष्ये ६ अध्याये ४ खण्डः, क. ल. ग. च 'वर्जितोरेष्वङ्गो नास्ति. ४ क. ल. छ. त.
६. 'प्यन्यो अस्म'. ५ छ. न. द. उ. न'.

प्रातर्देवजघ्नमिति । अत्रैरार्थम् । प्रातरनुवाके विनियोगः (आश्व०

तौ एव

श्रौ० ४ । १५) आश्विने च (अ.श्व०
श्रौ० ६ । ५) । हे स्तोतारो यूयमुच्यध्वे ।

तौ अश्विनौ प्रातः एव यजघ्नम् । कथमिति । यतो ब्रवीमि । प्रहिणोत

५

प्रकर्षेण तौ प्रति स्तुतीर्हवीषि च गमयतेति । किमित्येवं ब्रवीति प्रात-

र्यजघ्नमिति । इतो यस्मात् न सायमस्ति देवयाः । अनयोर्देवयोर्न साय-

मस्ति इत्या । येषां कथंचिःस्यात् अजुष्टम् अनासेवितं च तदश्विभ्यां

कर्म । उतान्यो अस्मद्यजते । अपि च अनादृते त्रयि अन्यैः अस्मत्त

एतावदश्विनौ यजते । वि च आवः । व्यावयति च तर्पयति हविर्भिः । पूर्वः पूर्वा

१०

यजमानः प्रथमः प्रथमो यजमानो वनीयान् वनयितृतमः संभक्तृतमः

आदृतवोत् । नस्यैव हविरासेवेतै अश्विनौ नेतरस्येति ।

‘तथोः कालः सूर्योदयपर्यन्तः’ । ‘प्रकाशीभावस्यानु विष्टम्भम्’ (निर०

आश्विने काले

१२।१) इत्यतः कालः प्रभृति सूर्योदयपर्यन्तस्तथोः

अन्यासां देवतानामा-

कालः । ततः परं यागकालः । ततः किम् । ‘तस्मि-

१५

यापः

न्वा देवताः’ । तस्मिन् स्तुतिकालेऽन्या

‘अप्यन्ते’ तासामावापस्तःकालस्तुतिप्रतिलम्भे इति । तत्र तावदुषाः

तासु उषाः प्रथमा

प्रथममोष्यते । तद्देवतानि सूक्तानि शस्यन्ते ।

२०

कान्तौ’ (धा० २ । ७०) इत्यस्य । यच्चोक्तम् ‘उच्छतीति सत्याः’

(निर० २ । १८) इति तद्वदं विकल्येन

उषाः कस्मात्

सुस्थानायाः । या पुनः ‘इतरा माश्विनिका’

उषा न तस्या विकल्यः । किं तर्हि । ‘उच्छतेः’ एव सा विवासना-

र्थस्य । उदकानि विवासयति विद्यास्यते वा भेषान्मध्यमेनेति । ‘तस्या

२५

एषा भवति’ ॥ ५ ॥

१ ग. ज. प्रातरेतःश्विनौ य°; अ. प्रातरेतौश्विनौ य°. २ क. ल. घ. ट.
ठ ड. ‘अ’ नास्ति. ३ ग. ज. ‘न्योऽप्यस्य’°. ४ घ. ङ. ‘तत्त्वत्. ५ ग. ज.
‘सेविनी श्विनो, अ. सेविनीऽश्वि’ ते अ. ६ ग. क. उष्य°; अ. उष्य° ओ. ७ ग.
अ. क. ‘थमोष्य’°. ८ ठ. ड. ‘शानि । इति निरुक्तभाष्ये ६ अध्याये ५ (२४); क.
११ ल. ग. ग. वर्गेनितरेष्वङ्गा नास्ति.

उपस्तच्चित्रमा भंरास्मभ्यं चाजिनीवति । येन तोके च तेनयं च
घामहे (ऋ० सं० १ । ९५ । १३) ॥ उपस्तच्चित्रं चायनीयं
मंहनीयं धनमाहरास्मभ्यमन्नवति । येन पुत्रांश्च पौत्रांश्च दधीमहि
सस्या एपापरा भवति ॥ ६ ॥

उपस्तच्चित्रमा भरोति । गीतमस्यार्थम् । प्रातरनुवाकं (आश्व० श्रौ०
४ । १५) आश्विने (अ.श्व० श्रौ० ६ । ५)
उपाः च विनियोगः । हे उपाः सदर्शमाकं चित्रं चाय-
नीयं धनम् आहर त्वं येन त्वत्पत्नेन वयं पुत्रांश्च पौत्रांश्च अविच्छेदेन
तृप्तान् दधीमहि ।

' तस्या एपपरा भवति ' । सा पुनः किमर्थम् । पूर्वस्यामुषि चित्रं
धनमाहरेत्युक्तम् । तच्च पुनरुभयोरप्युपसोरविशिष्टम् । विशिष्टं तु पर-
स्मामुत्तमलिङ्गं ' पूर्वं अर्थे रजसो भानुमञ्जते ' इति । अतः परोदा-
हियते ॥ ६ ॥

एता उ तया उपसंतः फेतुमकृत पूर्वं अर्थे रजसो भानुमञ्जते ।
निष्कृष्वाना आयुधानीव धृष्णवः मति गात्रोऽरुधीर्यन्ति मातरः
(ऋ० सं० १ । १२ । १) ॥ एतास्ता उपसतः फेतुमकृतपत
भज्ञानमेरुस्या एव धूमनार्थे यहुवचने स्याःपूर्वेऽर्थेऽन्तरिक्षलोकस्य
समञ्जते भानुना । निष्कृष्वाना आयुधानीव धृष्णवः । निरि-
त्येष समित्येतस्य स्यान्न एमीदेषां निष्कृतं जारिणीवेत्पपि
निगमो भवति । मतिर्यन्ति गात्रो गमनादरुपीरारोचनान्मातरो

१ छ. त द. 'इष्यायनीयं धनं'. २ ग. 'रोति । गो'. ३ ग. ज. 'वाके
वि'; घ. 'वाके वि' आश्विने च. ४ क. ल घ. ट. ड. उपाः चाजिनीवति
त'; च. उपाः त' चाजिनीवति. ५ ट. ड. 'यने । इति निरुक्तभाष्ये ६ प्याये ६
खण्डः; क. ल. ग. ज. वर्तमितीत्येते नास्ति. ६ क. ल. द. 'पूर्वं अर्थे अन्त';
त. 'पूर्वं अन्त'. ७ क. ल. छ. ग. इ. एतान् । एमी'.

भासो निर्माञ्ज्यः सूर्या सूर्यस्य पत्न्येपैवाभिःसृष्टकाल्यतमा तस्या
एषा भवति ॥ ७ ॥

५ एता उ स्या इति । पूर्ववदापि विनियोगश्च । याः पूर्वोऽर्धे अन्तरि-
क्षलोकस्य समञ्जते भानुना भासा अत्मान
सैव सैमभिःपञ्चयन्ति । एतास्ता उपसः । किमिति ।
केतुमकृत अकृत कुरुन्ति लोकस्य प्रज्ञानम् । कथं ताः प्रज्ञानं
लोकस्य कुरुन्ति । अत आह । निःकृष्णाना आयुधानीव धृष्णवः ।
‘ निःश्लेष समित्येतस्य स्थाने ’ । यथा संस्कुर्वाणाः नित्यं निर्मृञ्जन्-
१० अ युध नि निर्मलानि कृष्णन्ति धृष्णवः धर्षयितारः ते आयुधिनस्तज्जी-
वना एव भानुना स्थेन भासा तमोमलमपनीय निर्मलानि प्रज्ञानानि
श्लोकस्येपसः सन्तुर्वग्नि । ततश्च प्रति गावोऽरुपीर्यति मातरः । यत्
एषोदितश्चमेव सूर्यं प्रति यन्ति तत्रैवान्तेर्धीयन्ते । सूर्यस्यैव हि रश्मिप्रा-
न्तप्रोत्सार्यमाणे तमस्यपरत्रे जाते प्रकाश उपजायते । ता उपस इत्याच-
१५ क्षणे । स एष परमार्थः । सूर्य एव छिन्निःकृष्णविशिष्टो भवति सूर्यकार्यत्वा-
द्यज्ञाशस्य ।

‘ एरुस्या एव पूजनार्थे बहुवचनम् ’ इति वचनभेदप्रतिसमाधानम् ।
निरित्येप भिन्ने- ‘ निरित्येप समित्येतस्य स्थाने ’ सामर्थ्यादित्य-
२० तस्य स्थाने सत्क्रियमाणानि ह्यायुधान्यतिनिर्मलानि
भवन्ति ।

यथा श्वे पश्यते उपनर्गन्त्यन्यस्तथा निगममुदाजहार । ‘ एमीदेषाम् ’
इति । ‘ यदादीधे न दधिर्गमेभिः परायद्गोऽर्धहीये सखिम्पः । न्युत्साथ
तस्योदाहरणम् बभ्रवो वाचकैर्न एमीदेवा निःकृत जा र्णीयैः ’
(ऋ० म० १० । ३४ । ५) ॥ वयस्य
वाक्षस्य वार्ष्णे । वृंगनिःश्रुतिर्देवनादशकृतज्ञानं धरयितुं व्रतीति ।

यदा दौष्ये भृशमभिधायामि निधयेन न दविपाणि न देविध्यामि एभिः
 अक्षैरिति अथ तदा सखिम्पः समानख्यानेभ्यः क्रि।नेभ्यः परावद्भरः
 परागच्छद्भयो देवनस्थानम् अहमेभ्यः अरणीये भृशं होनोऽस्मीनि । यद्य
 च पुनस्ते प्रप्य अरुकरं निवपन्ति अज्ञान् अ । पुनरादा तैर्नुनाथ ते
 बभ्रवः बभ्रुवर्णा, अक्षा वाचमकत शब्दमकृपय । अथ तदा निवृत्तिनविग-
 ण्य एभित् आगच्छम्भेर एषाम् अयेत्रम् अयेत्रं निवृत्तं संस्कृतमस्त-
 स्थानम् आरुकरं संस्कृतं जागिणीद् व्यभिचारिणीव काचिर्ब्रवी च्छेस्त्र-
 मत्समनोऽविगणयैति ।

‘सूर्या’ (३) इति वक्तव्यम् । सा पुनारियं ‘सूर्यस्य पत्नी
 का सूर्या’ ‘एवैव’ उवा ‘अभिसृष्टकालतमा’ । यथा २०
 सूर्यस्योदयकालं प्रत्यभिसृष्टतमा भवति गतनमा
 भवति तथा तथा सैषा उवाः सूर्या संपद्ये । ‘तस्या एषा भवति’
 ॥ ७ ॥

सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवर्तं सुचक्रम् । १५
 आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये बहत्तुं कृणुष्व (ऋ०
 सं० १० । ८५ । २०) ॥ सुकाशनं शल्मलं सर्वरूपमपि
 वोपमार्थे स्यात्सुकिंशुकमिव शल्मलिमिति किंशुकं क्रंशतेः
 प्रकाशयतिकर्मणः शल्मलिः सुशरो भवति शरवान्वारोह सूर्ये
 अमृतस्य लोऽरुमुदकस्य सुखं पत्ये बहत्तुं कुरुष्व सविता सूर्या २०
 प्रायच्छत्सोमाय राज्ञे प्रजापतये वेति च ब्राह्मणं वृषाकपायी
 वृषाकपेः पत्येपैवाभिसृष्टकालतमा तस्या एषा भवति ॥ ८ ॥

सुकिंशुकं शल्मलिमिति । सूर्याया आर्यम् । निवाहे विनियोगः

सूर्या (आश्व० गू० १ । ८ । १३) । त्रिने २५
 तावदुच्यते । यैनेव विनियुज्य प्रभामाप्सो

१ ग. अ. ‘ध्याप्येभिः’; च. ‘ध्याप्येभिः’ म्; ट. ‘ध्याप्येभिः’ ०ये, ड. द.
 ‘ध्याप्येभिः’ २ ग. ‘प्यस्करं, ज. ‘प्यस्करं’ ३ न. स. घ. ट. ठ. ड. ‘चिद्वुः-
 स्ती’; च. ‘चित् स्ती’ इदुः ४ ट. ड. ‘वति’ इति निरुक्तमप्ये उच्यते ५ घा-
 ध्याये सप्तमः खण्डः; क. स. ग. च. वर्जितोऽप्युक्तो नास्ति. ५ ग. ‘मिति । सू’;
 ट. स. मूर्तिशुकमिति. ६ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ‘च्यते प्रभा’, ग. अ. ‘या प्रभा’ २१

विभजते तदधिदेवतां व्रथाति । सुकिंशुकं सुमु कानानं दीपनं-लोकानां
 शस्मलिं शन्नमलं व्यपगतमलं विश्वरूपं सर्वरूपं हिरण्यवर्णं हिरण्योपमवर्णं
 हिरण्यमिव वैरणीयं सुवृत सुवर्तनं शोभनैर्वा रश्मिभिरुतं सुचक्रं सुचक्रं
 सुदीप्तम् । एतमेवंलक्षणं मण्डलं रथम् अरोह त्वं हे सूर्ये अमृतस्य
 ५ उदकस्य लोकं स्थानम् । तत एवमधिरुद्धा रयोर्न सुखम् एतस्यै पत्ये मण्ड-
 लाधिप्राप्ते वहतुं कृणुष्व कुरुध्वेति ।

पृथक्त्वपक्षे तु रथ एव रथः सूर्यं वांटी कन्या सूर्योच्यते । एवं
 लक्षणं रथमारोहेति ।

‘अपि खोपमार्थे स्यात् । सुकिंशुकमिव शस्मलिमिति । किंशुकमिति

३०

सुकिंशुकमिव्यादि पञ्चशपुष्ये प्रसिद्धिः । इह तु रक्तपुष्पत्वसागन्धा-
 र्थविशेषणम् । अथवा सुपुष्पितमिव शस्मलिमिति तामर्थ्यात् तेनोप-
 उपमार्थे स्यात् गर्भयोग आदित्यस्य पुष्टतर इति किंशुकशब्दः
 पुष्पिते शस्मली गौण इति भाष्यकाराभिप्रायः ।

‘किंशुकं मंसतेः’ शब्तोः प्रकाशनार्थस्य । तदि दीप्तिमद्भवति ।

३५

‘शस्मलिः मुशरो भवति’ । ‘शू हिसायाम्’ (धा० ९ । १६)
 इत्यस्य भातोः । त दि मृदुत्वा-सुहृियो भवति । ‘अरवान् वा’ ।
 ब्रह्मणवचनस्य ५. ष्टकेरसौ द्विः रित हिसायाम् । ‘सविता
 नैरुक्तपक्षेऽर्थः सूर्यं प्रायस्त्-सोमाय शशे प्रजापतये वेति च
 ब्रह्मणम्’ । नैरुक्तपक्षे उच्येतां सोमस्य ददाति ।

३०

पदुक्तम् । ‘आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवति’ (निरु० २ । ६) इति ।
 ‘प्रजापतये वेति’ । उपसर्ग वा सप्तस्थानाप प्रजापतये ददाति । केचि-
 स्त्वैतिहासकपक्षे इच्छन्ति । तेषामितिहासं शैथु कृपमेतदिति ।

१ क. ल. प. ट. ठ. ड विभज्ये; ग. अ. विभज्यते. २ ग. ल. वा; च.
 बोलनीं विभ, ट. ह उपमार्थे. ३ ग. ल. अ. ‘पदे वरतुं अरुहापिहाये क’.
 ४ क. ल. प. ट. ठ. ड. ‘इति’ नास्ति. ५ ठ. व. ‘होहा । पत्ये सोवायेता
 दि । वरुश’ (ट. ल. पुष्पके इदं शब्दे लिखितम्). ६ प. ट. ठ. ‘वसायोग
 ५ क. ल. प. ट. ‘वात्या । हिसायाम् । क’. ८ क. ल. च. ट. ट. ड. दि; च.
 तिनदी. ९ क. ल. प. ट. ठ. ड. निरु’. १० ग. ‘शाली मुशर्य; च. ‘दाहं होह
 ११ नि. सु. अ. ‘शाली मुशर्य’.

३१

‘ वृषाकपायी (४) वृषाकपेः पत्नी ’ । वृषाकपिरादित्यः । तस्य
 का वृष कपायी पत्नी तद्विभूतिः उपकले यद्वदयायान् वर्षनि
 कम्पयति च तद्गुणयोगात् । सा पुनः ‘ एषैव ’
 सूर्या ‘ अभिसृष्टकालतमा ’ वृषाकपायीत्युच्यते । ‘ तस्या एषा
 भवति ’ ॥ ८ ॥

५

वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्तुषे । घसत्त इन्द्र उक्षणः
 प्रियं काचित्करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः (ऋ० सं० १० ।
 ८६ । १३) ॥ वृषाकपायि रेवति सुपुत्रे मध्यमेन सुस्तुषे माध्य-
 मिकया वाचा स्नुषा साधुसादिनीति वा साधुसानिनीति वा
 स्वपत्यं तत्सनोतीति वा प्राश्नातु त इन्द्र उक्षण एतान्माध्यमिका-
 न्तसंस्तयायानुक्षण उक्षतेर्बृद्धिर्भूषण उक्षन्त्युदकेनेति वा प्रियं कुरु-
 ष्व सुखाचयकरं हविः सुखकरं हविः सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमे-
 तद् ब्रूम आदित्यं सरण्युः सरणात्तस्या एषा भवति ॥ ९ ॥

१०

१५

वृषाकपायि रेवतीति । इन्द्रस्वार्थम् । पष्ठे पृष्ठपादनि वृषाकपौ विनि-
 वृषाकपायी योगः (अथ० श्रौ० ८ । ३) । हे वृषाक-
 पायि रेवति रयिमति धनवति । सुपुत्रे मयमेन
 इन्द्रेण रसहरणसामान्यात्सहस्थानसामान्यात् । सुस्तुषे माध्यमिकया वाचा
 मिथुनसामान्यात् । किमिति । घसत्त इन्द्र उक्षणः । प्राश्नु ते इन्द्रः तव
 स्मृतान् एतान्माध्यमिकान् उक्षणः अवश्यायसंस्तयायान् एष इन्द्र आदित्यः ।
 स हि तानुचन पिबति । प्रियम् इष्टम् एतत्काचित्करं हविः । कमिति सुख-
 नाम । तस्य यत् आचितम् आचयनं करोति तद्भवति काचित्करम् । किं
 पुनस्तत् । हविः उदकम् । तत्कुरुष्ववावश्यायलक्षणं हविः । अन्नमव-
 श्यायैरभिनिष्पादय । किमर्थम् । विश्वस्मात् य एष इन्द्र आदित्यः उत्तरः
 तदर्थमिति ।

१०

१५

१ ग. ज. ‘पत्नी न्वकाले’; च. तद्विभूति. २ घ. ट. ठ. ड. कम्पति. ३ ठ.
 ड. ‘वति’ इति निरुक्तभाष्ये ६ ध्याये ८ खण्डः; क. ख. ग. च. वर्णमितरेषांशो
 नास्ति. ४ छ. त. द. ‘हविः सुखकरं’ नास्ति. ५ ग. ‘तीनि’ । इ. ६ क.
 ख. घ. ट. ठ. ड. धनवति रयिमति. ७ ग. ज. तदर्थमिति उत्तरः; च. ‘तदर्थमिणे
 उत्तरः’ इतरः.

३३

‘स्रुया साधुमादिर्नाति वा साधुसानिर्नाति वा’ । संतानलक्षणे

स्रुया कस्मात् । भीदति अङ्गभावमुपैति स्रुया । स धु सनोति सतानि
संभजतीति वा स्रुया । ‘स्रपत्यं तत्सन्नोतीति वा’

५ सु इत्यपत्यनाम प्रपूयते हि तदिति । तदियं श्वशुरस्य सन्नोनि संभजतीति
वा स्रुया । उक्षणः उक्षतेः वृद्धपर्यस्य । वर्धयति हि ओषधीरवर्धयायाः । त
एव वा बहुवाङ्मूढा भवन्ति । उक्षतेर्था सेचनार्थस्य । ‘उदकेन’ दान-
न्यायाः सौमित्रं निश्चयि ।

‘सरण्युः’ (५) इति वक्तव्यम् । सैर यदा सूर्यं प्रति अग्निभागेन

१० सरण्युः कस्मत् प्रसूता भवति तदा ‘सरणात्’ सरण्युरित्यु-
च्यते । ‘तस्या एया भवति’ ॥ ९ ॥

अर्षागृहहृन्मृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामददुर्विवस्वते । उता-
भिनावभरघत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्युः (ऋ० सं० १०।
१७।२) ॥ अप्यगृहहृन्मृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामददुर्विवस्वतेऽ-
१५ प्यभिनावभरघत्तदासीदजहाद् द्वौ मिथुनौ सरण्यूर्मध्यमं च माध्य-
मिकां च वाचमिति नैरुक्ता यमं च यमी चेत्यैतिहासिवास्तत्रेतिहा-
समाचक्षते त्वाष्टी सरण्यूर्विवस्वत आद्रित्याद्यर्षा मिथुनौ जन-
यांचकार सा सवर्णामन्या प्रतिनिधायाश्च रूपं कृत्वा प्रदुद्राव
२० स विवस्वानादित्य आश्वमेव ऋं कृत्वा तामनुसृ य संवभूव
तनोऽश्विनो जज्ञाने मवर्णायामनुस्तटभिरवादिन्येपर्यभवति ॥ १० ॥

१ ऋ. सं. प. ट. ट. द. १०।१।२। २ ऋ. सं. प. ट. ट. द. १०।१।२। ३ ऋ. सं. प. ट. ट. द. १०।१।२। ४ ऋ. सं. प. ट. ट. द. १०।१।२। ५ ऋ. सं. प. ट. ट. द. १०।१।२। ६ ऋ. सं. प. ट. ट. द. १०।१।२। ७ ऋ. सं. प. ट. ट. द. १०।१।२। ८ ऋ. सं. प. ट. ट. द. १०।१।२। ९ ऋ. सं. प. ट. ट. द. १०।१।२। १० ऋ. सं. प. ट. ट. द. १०।१।२।

अपगृह्णिति । देवश्रवस अपमम् । अपागृह्णन् अमृताम् एतामुपसं-
 सरण्युः । वृषादेपश्चञ्ज्यायां मर्त्येभ्यो मनुष्येभ्यम् ।
 के ते । रश्मयः । वृष्यी सवर्णामददुर्विवस्वते ।
 सभरणमितो कृवा सरण्यम् अददुः विवस्वते आदित्याय । उताश्वि-
 श्वाभरत् स्तुतिभिः सा उवाः । स द्वाश्विनोः स्तुतिकालः । अथवा । सर-
 ण्यभरत्स्त्वेषा । स द्वाश्विनोर्यागकालः । यत्तदासीत् उपसो-रूपं
 सरण्यवा वा अजहात् अत्यजत् द्वा द्वौ मिथुना मिथुनौ सरण्युः । 'मध्यमं
 नैरुक्तमते मिथु- च माध्यमिकां च वाचमिति नैरुक्तः' । यदा हि
 नौ मध्यमो माध्यमिका सरण्युरादित्यस्य सकाशं मण्डलमनुप्रविष्टा भव-
 च वाक् त्यप्रभागेन तदोदिते आदित्ये विच्छिद्यते मध्य-
 मस्य माध्यमिकायाश्च वाचः काल इत्येष तयो-
 स्त्यागः ।

'यमं च यमीं चेत्येतिहासिकाः' । तन्मतेन मन्त्रार्थस्य योजना । त एव
 रश्मयः प्राणाधिदेवताभावमापन्नास्तेषु द्वैस्तं
 दमो यमीं चेत्ये- रूपं चेत्येतिहासिको व्यवहारः । तात्वाष्टीं सर-
 तिहासिकाः ण्यमश्वा कृत्वा तथा सत्यश्विनोर्जन्म भविष्यं
 पश्यन्तोःलोकहिताय अमृताम् अमरणधर्मिणीं देवीमपागृह्णन् अन्तर्हिता चक्रुः
 मर्त्येभ्यो मनुष्येभ्यम् । उत्तरान् कुरुन् प्रति निन्युः । ततश्चान्यां तःसव-
 णां छयाप्रभवा कृत्वा तामददुर्विवस्वते । उताश्विनावभरत् । यैश्च अश्वं
 तदा रूपमसीत्तेन सा सरण्युरश्वनावभरत् अजनयत् अपुष्पात् उत्त-
 रेण कुरुषु । अजहादु द्वा मिथुना सरण्युः । द्वावनौ मिथुनौ यमं च यमीं
 चेति विवस्वतः सकाशादजहात् द्वित्वा ननाशेति ' तत्रेतिहासमाचक्षते ' ।
 ऋजुरितिहासार्थः । यथा त्वाष्टीं सरण्युर्विवस्वतोदा सा च तस्मान्ननाग ।
 ' तदभिवादिन्येपरमवति ' ॥ १० ॥

१ ग. 'मिति' । दे० । २ क. ख. घ. 'स्तेष्वन्यत्तद्वृषं' ; ग. ज. 'स्तेष्वन्यद्वृषं' ;
 ख. 'स्तेष्वन्यद्वृषं व्यसं रूपं' (तद्वृ) ट. 'स्तेष्वन्यत्तद्वृषं' व्यसं रु. ठ. ड. स्तेष्व-
 न्यस्तद्वृषं तद्वृषं । ३ क. ख. घ. ट. ठ. ड. भविष्यत् ; व. भविष्यं व्यत्.
 ४ ग. च. ज. 'भरयन् । आश्व' ५ ठ. ड. 'वति । इति निरुक्तभाष्ये ३ ध्याये
 १० खण्डः ; क. ख. ग. व. वर्त्मनिरेषद्वौ नैरुक्ता ।

त्वष्टां दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति । यमस्य
माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश (ऋ० सं० १०
। १७ । १) ॥ त्वष्टा दुहितुर्वहनं करोतीतीदं विश्वं भुवनं समे-
लीमानि च सर्वाणि भूतान्यभिसमागच्छन्ति यमस्य माता पर्यु-
ह्यमाना महतो जाया विवस्वतो ननाश रात्रिरादित्यस्यादित्यो-
दयेऽन्तर्धीयते ॥ ११ ॥

इति द्वादशाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

१० त्वष्टा दुहित्रे इति । पूर्वैव समानार्थं विनियोगश्च । त्वष्टा देवो
सैव विश्वकर्मा यं पुरागविदो वदन्ति स दुहितुः
वहतुं वहनं विग्रहं करोतीति इदं विश्वं भुवनं
भूतजातं विवाहदर्शनप्रेप्सया समेति । स हि विव हाना स्वभावः । यमस्य
माता । भविष्यता योगेनोच्यते । पर्युह्यमाना पर्युह्या यमं च यमो च जन-
यित्वा ततो महो महतो जाया विवस्वतो देवस्य जाया भार्या हित्वा अपत्ये
१५ त्रिधुनौ आश्वं रूपं कृत्वा ननाशेति ।

नैरुक्तपक्षे तु त्वष्टा मध्यमस्तमोभागस्योपसो दुहितुः दूरे हितायाः

नैरुक्तपक्षेऽर्थः प्रकाशरूपाया वहतु वहनं विवस्वतः करोति ।
इदं विश्वं भुवनं समेति । प्रभानमिति मया

२० सर्वाणि भूतानि स्वोश्वतिकर्तव्यतामु अभिसमागच्छन्ति । यमस्य माता
पर्युह्यमाना । यमस्य मध्यमस्य माता देवधर्मेण । अधवा । पुत्रानस्य
यैव जाया सा मतेति । जायतेऽस्यां पुत्रेण पतिः जाया भार्या । महतो
विवस्वतः प्रकाशेन प्रोत्सार्थमाणा ननाश नश्यति । संश्लेषतो भाष्यस्य-
रोऽर्थं निराह । ' रात्रिरादित्यस्य ' उवा जाया । सा ' आदित्यस्योदयेऽन्त-
र्धीयते ' ॥ ११ ॥

२५

सप्तदशाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

१ छ. त. द. ' इति इदं विश्वं भुवनं समेति ' नास्ति. २ छ. प्रथमः पादः ।
त. इति द्वादशमोऽध्यायस्य प्रथमः; द. इति प्रथमः, ड. ध. घ. 'इति पादः' नास्ति.
३ ग. इति. ४ पू. ५ क. ल. ट. ठ. ड. व्यामुस्ता; च. ५ वा. स्तामु. ५ क.
ल. ड. 'यत इति, च. 'यते' त इति, ठ. ड. 'यत इति. इति निरु-
क्तोपपत्त्यभावे षडाभ्यये एकादशः १.७६ । इति निरुक्तपक्षकेन सह समदृशा',
१२ क. ल. ग. च. वर्जितोऽर्थो नास्ति.

द्वितीयः पादः ।

‘ सविता व्याख्यातस्तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्काकीर्ण-
रश्मिर्भवति तस्यैषा भवति ॥ १२ ॥’

‘ सविता ’ (७) इति षक्तव्यम् । स पुनरेष ‘ व्याख्यातः ’
अभिधानतः (निरु० ७ । ३१ ॥ १० । ३१) । इह पुनरादित्यः ।
‘ तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्काकीर्णरश्मिर्भवति ’ । यदा यस्मिन् काले
द्यौरनापहततमस्का भवति न पृथिवी । पृथिव्या तमो भवति । दिव्यपहते
तमसि विकसिता अस्यां रश्मयो भवन्ति । स सावित्रः कालः । तस्मिन्
काले आदित्यः सवितोच्यते । ‘ तस्य ’ सवितुस्तत्कालोपलक्षितस्य
‘ एषा ’ प्राधान्यस्तुतिः ‘ भवति ’ ॥ १२ ॥

विश्वां रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीन्द्रं द्विपदे चतु-
ष्पदे । वि नार्कमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुपसो वि राजति
(ऋ० सं० ५ । ८१ । २) ॥ सर्वाणि प्रज्ञानानि प्रतिमुञ्चते
मेधावी कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा मसुवति भद्रं द्विपा-
द्भ्यश्च चतुष्पाद्भ्यश्च व्यचिख्यपद्माकं सविता वरणीयः प्रया-
णमनूपसो विराजत्यधोरामः सावित्र इति पशुसमाम्नाये विज्ञा-
यते कस्मात्सामान्यादित्यधस्तात्तद्रेळोर्वा तमो भवत्येतस्मा-
त्सामान्यादधस्ताद्गामोऽप्रस्तात्कृष्णः कस्मात्सामान्यादित्यधि-
चित्वा न रामामुपेयाद्रामा रमणायोपेयते न धर्माय कृष्णजाती-
यैतस्मात्सामान्यात्कृकवाकुः सावित्र इति पशुसमाम्नाये विज्ञा-
यते कस्मात्सामान्यादिति कालानुवादे परीत्य कृकवाकोः पूर्वं
शब्दानुकरणं चचेरुत्तरं भगो व्याख्यातस्तस्य कालः प्रागु-
त्सर्पणात्तस्यैषा भवति ॥ १३ ॥

१ क. ख. १ (१२), त द् १. २ क. ख. घ. ट. न. ड. ‘ वा क्रुष्वा ’.
३ क. ख. १ (१२), ट. ड. ‘ वनि । इति निरुक्तभाष्ये ६ ध्याये १९ खण्डः ;
ग. ख. वर्जमितरेष्वहो नास्ति ४ छ त. व्यख्यपद्मा ; द् व्यख्यना . ५ ड. घ.
ट. ड. ‘ द्वेयाण ६ क. ख. २ (१३) त द् २.

विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविरिति । स्यादास्वस्यार्धम् । आभिप्लु-

सविता विके प्रथमेऽहनि विनियोगः (आश्व० श्रौ०

७ । ५) शिष्यपाशप्रतिमोके च यजमान-

स्यामौ (भैत्रा० सं० ३ । २ । १) । विश्वानि सर्वाणि रूपाणि

५ रूपवत्सु अर्थेषु प्रतिमुञ्चते आवघ्नार्ते तमोऽपघ्नन् रूपाण्याविःकुर्वन्

कविः क्रान्तदर्शनः । अथवा । कवतेः धातोर्गन्धस्य कविः । गच्छ-

त्यसौ नित्यम् । किंच । कवित्वादेव प्रासानीत् प्रसुवति जन-

यति अभ्यनुजानाति च भद्रं द्विपदे चतुष्पदे द्विपद्गन्ध मनुष्यादिभ्यः

चतुष्पाद्गन्ध गवादिभ्यः । यद्यत्तेषां भद्रं कल्प्याणं तत्तत्प्रसुवति । किंच ।

१० वि नाकमाह्वयत् । विरूपापयति नाकं या च विदर्शयति । तदा हि तस्यां

विकीर्णा रश्मयो भवन्ति । किंच अनुपयाणमुपसो विराजति । उपसः

प्रयाणमसु विराजति प्रकाशते । सोऽस्माकं नामेदं वरोत्विष्याशिवा स्तुति-

निरीकाक्षा ।

‘ वि नावमह्वयत् ’ इति सवितुः कालोपलक्षक मन्त्रलिङ्गं तत्पशुगु-

१५ णसामान्येन समर्पयन्नाह । ‘ अधोरामः सावित्रः (काठकसं० ५ ।

८ । २ । तै० सं० ५ । ५ । २ । वाज० सं० २९ । ५८)

इति पशुसामान्याये विज्ञायते ’ । ‘ कस्मात् ’ गुण ‘ सामान्यादिनि ’ ।

अधोरामः किमिति ‘ अधस्तात्तद्वेर्लाया तमो भवति ’ । उपरिष्ठाच्च

२० सावित्र इत्युच्यते ज्योतिः । शुक्र तदा दिवि भवति कीर्णरादिभ-

वात्तस्याः । अधस्तात्तु भूया तदा तमो भवति ।

एतस्मात् कालदेवतागुणसामान्यात् पशुरपि तधारूप एव भवति

सावित्रः ।

आह ‘ अधोरामः ’ इति किमुक्तं भवति । उप्यने । ‘ अधस्ता-

अधोरामः कस्मात् वृष्णः ’ इति यदुक्तं स्यात्तदुक्तं भवत्यधोराम

इति ।

१ ठ. ड. रूपाणीति इयात् । २ ग. रिति । इरा । ३ म. च. ज. *जानीति.

४ क. स. घ. ट. ठ. ड. क्वनि गच्छते. - ५ क. स्व. घ. ट. ठ. ड. *लक्ष्यत्कं.

९८ ६ ट. ठ. ड. *वेद्याया.

आह । कृष्णः ' कस्मात्सामान्यात् ' राम इत्युच्यते । शृणु । विज्ञायते
 रामशब्दस्य कथं हि ' अग्निं चित्वा प्रथमं चित्वा न रामामुपेयात् '
 कृष्ण इत्यर्थः (काठकसं० २१ । ७) इति । ' रामा '
 इति शूद्रोच्यते । सा हि ' रमणाय ' एव
 ' उपेयते न धर्माय ' (वासिष्ठधर्मशास्त्रम् । १८ । १८) । रमणा-
 र्थमेव सा । ' कृष्णजातीया ' । इत्येकार्यौ शब्दौ । अधुनोत्सृज्य रामां
 द्वियं प्रवीणादिशब्दवत्पशावयं रामशब्दो वृत्तः कृष्णसामान्यमात्रेण ।

' कृकवाकुः सावित्रः (मैत्रा० सं० ३ । १४ । १५) इति
 कृकवाकुः किमर्थं पशुसामान्याये विज्ञायते ' । स ' कस्मात्सामान्यात् '
 सावित्र इत्युच्यते इति । उच्यते । ' कालानुवादं परीत्य ' ।
 सावितुः कालमसौ वक्तव्येन परीत्य परिज्ञाय
 सामान्याये तस्य सावित्रत्वम् । कृकवाकुशब्दमधुना निर्बन्धि । ' कृकवाकोः
 पूर्व शब्दानुकरणम् ' । कृकवाकुशब्दस्य पूर्व-
 पदं शब्दानुकरणम् । ' कृकः ' इत्येवमसौ शब्दं
 करोति । ' वचेरुत्तरं ' वाकुरित्येतन् । कृक इत्येनं वक्तव्येति कृकवाकुः ।
 ' भगो ' (८) वक्तव्यः । स पुनरेव ' व्याख्यातः ' (निरु०
 ३ । १६) स्त्रीभंगेन शब्दव्युत्पत्तितः । तस्मात्सावित्रात्कालात्परत एत-
 दुत्तमं ज्योतिर्भगारुधं भवति । ' तस्यैवा भवति ' ॥ १३ ॥

प्रातर्जितं भगमुग्रं ह्येव वयं पुत्रमदितेयो विधर्ता । आध्र-
 श्वियं मन्यमानस्तुरश्विद्राजां चिद्यं भगं भक्षीत्याहं (ऋ० सं०
 ७ । ४१ । २) ॥ प्रातर्जितं भगमुग्रं ह्येव वयं पुत्रमदितेयो
 विधारयिता सर्वस्याध्रश्वियं मन्यमान आह्वयालुर्दरिद्रस्तुरश्वितुर
 इति यमनाम तरतेर्वा त्वरतेर्वा त्वरया तूर्णमतिर्धमो राजा चिद्यं
 भगं भक्षीत्याहान्धो भग इत्याहुरनुत्सृप्तो न दृश्यते प्राशित्रमस्या-
 क्षिणी निर्जघानेति च ब्राह्मणं जनं भगो गच्छतीति वा जनें
 मच्छत्यादित्य उदयेन सूर्यः सर्वेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा तस्यैवा
 भवति ॥ १४ ॥

१ ठ. क. ख. २ (१२); ० वति । इति निरुक्तभाष्ये ६ ध्याये १२ खण्डः
 (इ. पुत्रके इहं नास्ति); ग. च. वर्जमितेरेवञ्चो नास्ति. २ ड. य. ' ह्यालुर्द'.
 २ क. ख. छ. त. द. वा चित्वायो अ० ४ क. ख. २ (१४), त. द. ३. १२

प्रातर्जितं भगमिति । वसिष्ठस्वार्थम् । प्रातः प्रातः तमांसि यो

भगः

न्यति स भवति प्रातर्जित् । तं प्रातर्जितं भगं
सूर्धम् उग्रम् उर्ध्वम् अभ्युद्यतमुदयाय इवेम

आह्वयामहे वयं पुत्रमदितेः यो विधर्ता विधारयिता सर्वस्य जगतः खेना-
नुग्रहेण । किंच । आध्वश्चिद्यं मन्यमानः । आढ्य छुः आढ्यानां । स्पृहयिता
दरिद्रः । स यं मन्यमान आकाङ्क्षन् हवन्यहानि पूजन् आस्तेऽपि नमोदिया-
द्भगस्ततो वार्तार्थं पर्यट्यमिति । तुरश्चित् । तुरोऽपि यमस्तूर्णप्रतिः । सर्वान्
प्राणिन आभिमुख्येनोपसंहासय तूर्णगतिस्त्वरितगतिः । यं मन्यमान आस्ते
प्रेताधिपतिः । तदुदयादि कालातिक्रमेणासाक्षुपसंहरति प्राणिनः । राज्ञ
चित् । राज्ञपि चार्थिना कार्यचिकीर्षया यं भगं भक्षि उदयं भज्जनेव-
माह । तं वयं भगम ह्वयामहे ।

आह । ' अण्डो भगः (कौषी० ब्रा० ६ । १३ ॥ शत० ब्रा०

भगोऽन्ध इति किम् १ । ७ । ४ । ६) इत्याहुः ' । तस्य कौर्ध
धमुच्यते इति । उच्यते । स हि सूर्धभावम् ' अनुस्मृतो
न दृश्यते ' । नास्मिन् द्रष्टृणां ध्यानं दर्शनम-

स्तौत्यन्धः । न पुनरसावेन न पश्यतीति । " ' प्राशित्रमस्याक्षिणी निर्ज-
घान ' इति च " (कौषी० ब्रा० ६ । १३) इत्यैतिहासिकपक्षाभिप्रायोऽ-
यमर्थवादः प्राशित्रस्यै मायस्यानन्वीक्षणस्तुत्यर्थम् । ' जनं भगो
गच्छति ' (मैत्रा० सं० १ । ६ । १२) इति । तदेतावतिद्धमेव ।

यदा तदात्मना जनमादित्यो गच्छति ।

' सूर्यः ' (९) इति वक्तव्यम् । स पुनरयं भगकात्प्रत्युतः सूर्यो
भवति । ' सर्वेर्वा ' सूर्यः । ' सुवतेर्वा ' प्रसवार्थस्य । स एव हीदं सर्वं प्रमुवति ।

जनयतीत्यर्थः । ' स्वार्थनेर्वा ' । सुसूर्धस्य वा ईर्यतेर्गत्यर्थस्य । वायुना
वयं सुष्टु ईर्यते । प्रेर्यते इत्यर्थः । ' दस्येया भवति ' प्राधान्य-
स्तुतिः ॥ १४ ॥

१ ग. 'मिनि' । २ क. ल. घ. ट. ठ. ड. ' इति ' नास्ति. ३ क. ल.
घ. ट. ठ. ड. ' शिष्यभा ' . ४ क. रा. २ (१४), ठ. ड. ' स्तुतिः ' इति नेत्र-
२१' कल्पये ६ प्याये २४ खण्डः, ग. ज. वर्णमिनेरेवहो नास्ति.

उदु त्वं जातवेदसं देवं ब्रह्मन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम्
(ऋ० सं० १ । ५० । १) ॥ उद्वहन्ति तं जातवेदसं
रश्मयः केतवः सर्षपां भूतानां दर्शनाय सूर्यमिति तस्यैपापरा
भवति ॥ १५ ॥

उदु त्वं जातवेदसमिति । प्ररुण्यस्यार्धम् । आदिवने विनियोगः
(आश्व० श्रौ० ६ । ५) । यम् उद्वहन्ति
उदयमुपनयन्ति जातवेदसम् इति सूर्यं केतवः
रश्मयः अज्ञा ना यमुद्वहन्ति सर्षपां भूतानां दृशे दर्शनाय सूर्यं तं वप-
मभिप्रेतार्थनिद्वेऽभिप्रेतः ।

‘ तस्यैपा अपरा भवति ’ । सा पुनः किमर्थम् । जातवेदसं सूर्य-
मिति श्रवणासंदेहः ‘ किमिदं जातवेदस्युत सौरीति । परा त्वसंशयमेव
सौरीति परा निजगाद ॥ १५ ॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्भित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आत्मा
द्यावापृथिवी अन्तरिक्षे सूर्यं आत्मा जंगमस्तस्युपश्च (ऋ० सं०
१ । ११५ । १) ॥ चायनीयं देवानामुदगमदनीकं ख्यानं मित्रस्य
वरुणस्याग्नेश्चापूपुरद् द्यावापृथिव्यौ चान्तरिक्षं महत्त्वेन सूर्यं
आत्मा जंगमस्य च स्थावरस्य चाथ यद्रश्मिपोषं पुष्यति तत्पूपा
भवति तस्यैपा भवति ॥ १६ ॥

चित्रं देवानामिति । कुत्सस्यार्धम् । आदिवने विनियोगः (आश्व०
श्रौ० ६ । ५) । चित्रं चायनीयं पूजनीयम् ।
त एव किं पुनस्तत् । देवाना रश्मिना यदेतत् उदगात्
अनोकं समूहः । किमर्थम् । चक्षुर्भित्रस्य वरुणस्याग्नेः । एतस्मिन् मित्र-

१ क. ल. ड. थ. घ. ठ. ड. 'मिति कमन्पमादित्यादेवपरश्चस्ये'. २ क.
ख. ४ (१५); ल. द. ५. ३ ठ. ड. त्यमिति । प्ररुण. ४ ग. 'मिति । प्र'.
५ ग. ज. 'न्ति य इडाः स', च. 'न्ति ये इयोः स'. ६ क. ख. ४ (१५); ठ.
ड. 'गाद । इति निरुक्तभाष्ये ६ प्याये १५ खण्डः; ग. थ. वर्गमितरेणो नास्ति.
७ क. ख. ड. थ. घ. ठ. ड. 'त्वेन तेन म'. ८ क. ख. ५ (१६); ल. द. ५. २०

स्य वरणस्याग्नेश्चक्षुः । ह्यानम् इत्यर्थः । य एष सूर्य आत्मा जङ्गमस्य च
स्थावरस्य च सर्वभूतानुपवेशी आप्राः आपूपुस्त आपूरयति द्वाघापृथिव्यौ
च अन्तरिक्षं च । महत्त्वेन सूर्य आत्मा । एतस्मिन् मित्रवरुणांभ्यांदीनां
देवतानां ह्यानम् । अनेन सूर्यात्मना य एतान् मित्रप्रभृतीन् पश्यति स
साधु पश्यतीत्यभिप्रायः । विज्ञायते हि रहस्यब्राह्मणे ' य एष सूर्य
आत्मा जगतस्तस्थुपश्च ' (ऐ० आ० २ । २ । ४) इति । एतदिहै-
वोपेक्ष्यमिति ।

भेदपक्षे तु मित्रप्रभृतीनामेतच्चक्षुरिति । याज्ञिकपक्षे चक्षुया ते पश्य-
तीति । तत्रापि विज्ञायते हि । ' एष वै विश्वेषां देवानां चक्षुः ' इति ।

१० ' अथ यत् ' यदा ' रश्मिपोषम् ' आपूर्णस्तेजसा रश्मीन् सूर्यः
' पुष्यति ' विभर्ति ' तत् ' तदैव ' पूषा (१०)
पूषा कारमात्
भवति । ' तस्यैषा भवति ' ॥ १६ ॥

२५ शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्विपुरुषे अहनी द्यौरिवासि । विश्वा
हि माया अर्वासि स्वधावो भद्रा ते पूषान्निह रातिरस्तु (ऋ० सं०
६ । ५८ । १) ॥ शुक्रं ते अन्यद्विहितं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्य-
ज्ञियं ते अन्यद्विपमरूपे ते अहनी कर्म द्यौरिव चासि सर्वाणि प्रज्ञा-
नान्यवस्यन्नवन् भाजनवती ते पूषान्निह दक्षिरस्तु तस्यैषापरा
भवति ॥ १७ ॥

२०

शुक्रं ते अन्यदिति । भरद्वाजस्यार्षम् । चातुर्मास्येषु त्रिभिनियोगः षोष्णे
हविषि (मैत्रा० सं० १ । १० । १ ॥ ४ । १०
३) । हे पूषन् शुक्रम् अन्यत् तव रूपम् यद्वि-
हितम् अन्यत्तत्र रूपम् । शुक्लेन व्यपदेशात्सामर्थ्याद्विहित्वादि । यजतं

२५ यज्ञियं यज्ञार्हम् अन्यत् । अयज्ञियमप्यज्ञार्हमन्यत् । भर्गाक्षरूपेण हि
नायमिज्यते । विज्ञायते हि ' तस्मादेतौ भर्गाशौ यज्ञे नै यजन्ते ' (मैत्रा०
सं १ । ६ । १६) इति । किंच । विपुरुषो भवतः । एते शुक्रद्वयो

१ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ' भेष्व चक्षुः ; च. ' भेष्व-क्षुः ' च. २ ग. ज. ' वा
पश्यती ' ; च. ' वा पश्यतीति ' ; ते पश्यन्ती. ३ क. ख. ५ (१६) ; ट. ड. ' वति ।
इति निरुक्तभाष्ये ६ अध्याये १६ उपलब्धः ; ग. च. वर्जमिन्नेष्वहो नास्ति. ४ क. ख.

२१ ६ (१७), त. द. ६. ५ ग. ज. ' शौ न यज्ञेन य ' ; च. ' शौ न यज्ञेन य ' .

रूपे । अहनी अहोरात्रे । कर्मणा उदयेन शुक्लमहः करोषि अस्तमयेन
 कृष्णम् । यौरिवासि । यथा यौराष्ट्रस्य सन्नं वर्तत एतं त्वमपि । विश्वा
 हि मायाः सर्वाः प्रज्ञाः प्रज्ञावतां त्वम् अयासि पाळयित्वा पाळयसि उद्य-
 ननुगृह्णासि । हे स्वधार्मः पूषन् यं त्वाभेवमादिगुणयुक्तमद्राक्ष्म तव तस्य
 भद्रा भन्दनीया स्तुत्या रातिः दानम् इह अस्मिन् कर्मणि अस्मान् प्रति
 अस्तु इत्येतदाशास्महे ।

‘तस्यैषा अपरा भवति’ । सा पुनः किमर्थमिति । पथि रक्षितृत्वे
 पूषोऽधिकारः । तत्परिग्रह्यापनार्थम् । अथवा । इयं वै पूषा (मैत्रा०
 सं० २।५।५) इति विज्ञायते । तद्ब्रुवदार्थम् ॥ १७ ॥

१०

पथस्पथः परिपतिं वचस्या कामेन कृतो अभ्यानर्कर्म । स
 नो रासच्छरुधश्चन्द्राग्रा धियं धियं सीपधाति प्र पूषा (ऋ० सं०
 ६।४९।८) ॥ पथस्पथोऽविपतिं वचनेन कामेन कृतोऽभ्यानर्क-
 र्कमभ्यापन्नोऽर्कमिति वा स नो ददातु चायनीयाग्राणि धनानि
 कर्म कर्म च नः प्रसाधयतु पूषेत्यथ यद्विपितो भवति तद्विष्णुर्भ-
 वति विष्णुर्विशतेर्वा च्यश्नोतेर्वा तस्यैषा भवति ॥ १८ ॥

१५

पथस्पथः परिपतिमिति । ऋजिश्चन आर्षम् । पौष्णे हविषि पञ्चमेऽ-
 हनि व्युद्धे विनियोगः । पथस्पथः । सर्वमार्गा-
 णामित्यर्थः । किमिति । परिपतिम् अधिपतिं

२०

वचस्या वचनेन स्तुत्या कामेन स्वेन पूषणं कामेनैव प्रत्यभिमुखीकृत्य
 अर्कम् अहम् अभ्यानत् । स्तुत्या कामप्राप्त्यर्थमभिव्याप्तोमि । सोऽभि-
 व्याप्तः सन् नोऽस्मभ्यं रासत् ददातु । किम् । शुरुधश्चन्द्राग्राः । शुचं
 संरुन्धन्ति यानि धनानि चायनीयाग्राणि अभिपूजितागमानि । धर्म्य
 आगमो येषाम् । किंच । तैर्धनेर्धर्मलुब्धैः विर्यं विर्यं सीपधाति साध-

२५

१ क. ख. घ. ट. ठ. ड. किंच । विश्वाः. २ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ‘वितृ-
 त्वात्पाळ’; च. ‘वित्तो पा’ तृत्वापा. ३ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ‘यावः अन्नश्च
 पू’; च. ‘यावः पू’ अचवम्. ४ क. ख. ६ (१७); ठ. ड. ‘सार्थम् । इति निरु-
 क्तभाष्ये ६ ध्याये १७ खण्डः; ग. च. वर्जमितरेष्वङ्गो नास्ति. ५ छ. त. ट.
 ‘नर्क’; ६ क. ख. ७ (१८); त. द. ७. ७ क. ख. ग. च. न. ‘मोदि. २०

यति प्र पूषा । कर्म कर्म अस्माकम् इष्टिपशुसोमादिलक्षणं प्रसाधयतु
पूषा । यागायाविघ्ननोपनामयत्वित्यर्थः ।

‘ अथ यत् यदा ‘ विपितो ’ व्याप्तोऽयमेव सूर्यो रश्मिभिः ‘ भवति ’

विष्णुः कस्मात् तदा ‘ विष्णुः (११) भवति ’ । ‘ विश-
तेर्वा ’ । यदाविष्टः प्रविष्टः सर्वतो रश्मिभिर्भ-

वति तदा विष्णुर्भवति । ‘ व्यश्रोतेर्वा ’ । विपूर्वस्य वाश्रोतेः । यदा
रश्मिभिरतिशयेनायं व्याप्तो भवति व्याप्नोति वा रश्मिभिरयं सर्वं तदा
विष्णुरादित्यो भवति । ‘ तस्यैवा भवति ’ ॥ १८ ॥

१० इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम् । समूहल्लमस्य पांसुरे
(ऋ० सं० १ । २२ । १७) ॥ यदिदं किंच तद्विक्रमते
विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदं पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः
समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः समूहल्लमस्य पांसुरे
१५ प्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यतेऽपि वोपमार्ये स्यात्समूहल्लमस्य
पांसुल इव पदं न दृश्यत इति पांसवः पादैः सृपन्त इति वा
पद्माः शेरत इति वा पिशनीया भवन्तीति वा ॥ १९ ॥

इति द्वादशाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

इदं विष्णुरिति । मेधातिथेरार्षम् । प्रायश्चित्ते (आश्व० श्रौ० ३ ।-

१० विष्णुः १० ॥ मेत्रा० मं० १ । ८ । ९) आग्ना-
सादने (मेत्रा० सं० ४ । १ । १२) च
विनियोगः । यदिदं किञ्चिद्विभागेनावस्थितं तद्विक्रमते विष्णुरादित्यः ।
कथमिति । यत् आह । त्रेधा निदधे पदं निधत्ते पदम् । निधानं पदैः
२५ फ । तत्र तावत् ‘ पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः ’ । पार्थिवोऽग्नि-
भूत्वा पृथिव्यां यत्किञ्चिदस्ति तद्विक्रमते सद्यवितिष्ठसि । अन्तरिक्षे यिद्यदा-

१ क. ख. ७ (१८). उ. ड. ० वनि । इति निरुक्तभाष्ये ६ ध्याये १७
खण्ड, ग. च. कर्मभिनरेष्वहो नास्ति २ क. ए. छ. त. द. ‘ मूलमं. १ क.
ख. ड. घ. ङ. च. ड. ढ. पद् मेधाभाषाय पृ. ४ छ. त. द. ‘ पांसुरे ’ नास्ति.
५ ड. घ. च. छ. ड. पत्नी. ६ क. ख. ८ (१९), त. द. ८. ७ छ.
रिती; त. द्वादशाध्याये दि; द इति दि; ड. घ. ङ. च. ड. ‘ इति०
११ पादः ’ नास्ति.

तन्मा दिवि सूर्याम्ना । पदुक्तम् । ५ तम् अकृण्वन् त्रैग भुने कम् ।
 (ऋ० से० १० । ८८ । १०) इति । 'समारोहणे' उदयगिरिबु-
 धन् पदमेकं निषत्ते । 'विष्णुपदे' मध्यन्दिनेऽन्तरिक्षे । 'मथशिरसि'
 अस्तगिरी । 'इत्यैर्णवाम.' आचार्य एवं मन्यते । समूह्यस्य पासुरे ।
 अस्मिन् स्याशने एतस्मिन् अन्तरिक्षे सर्वभूतवृद्धिहेतौ यन्मध्यन्दिनं पद
 विद्युदास्य तत् समूह्यम् अन्तर्हितम् । न नियं दृश्यते । तदुक्तम् । इन्द्र-
 मेतन्मध्यमे उपोत्तिरनित्यदर्शनम् ' इति (निरु० ५ । ३) । 'अपि बोध-
 मार्षे स्थाःसमूह्यमिव पासुले पद न दृश्यते इति' । यथा पासुले
 प्रदेशे पदं न्यस्तमुखेषणसमनन्तरमेव पासुभिराकीर्णत्वान् दृश्यते एतस्य
 मध्यमे विद्युदात्मकं पदमाविर्भूतिस्रमकाच्छेद्यं व्यरधीयते । चान- १०
 तिष्ठत इत्यर्थः ।

'पासुरे' इति रो मन्वरेः । अथ 'पासनः' अस्तमत्त्वं ते हि
 'पादैः सृजन्ते' । जन्यन्त इत्यर्थः । अथवा । 'पन्नाः शेते इति' ।
 अथवा । 'पिशाणीया' ध्वंसवीया ध्वसनार्हास्ते 'अनन्ति' कदाकी-
 र्णस्य दृष्टेः शोकात्वात् ॥ १९ ॥ ११

सप्तदशस्य द्वितीयः पादः ।

वृत्तीयः पादः ।

विश्वानरो व्याख्यातस्तस्यैष निपातो भद्रतयन्द्रधा-
 मृचि ॥ २० ॥ २०

विश्वानरो (१२) मन्वरे । स पुनरेव 'व्याख्यातः' अभिधा-
 नव्युत्पत्तितः 'प्रत्युनः सर्वाणि धृतमिनि' (निरु० ७ । २१)

१ क ख. घ. ट. ठ. ड. मन्वन एवम्. २ क ख. घ. च. ज. 'भृत्'.
 ३ ट विप्रम' स्वपन, ठ. ड स्वपनमे'. ४ ग. च. ज. 'मि. इ'. ५ ग. ज.
 'इनि । पिशाणीयाः दुर्गे'; च. 'इनि च डि' अथवा. ६ क. ख. ८ (१९), ठ.
 ड. 'कत्वात्'. इति नैरुक्तम' ६ ७ गये १२ सण्डः, ग. च. वर्जयितोरेवशो नास्ति.
 ७ ठ. ड. इति निरुक्तम' ६ ७ गये १२ सण्डः, ग. च. वर्जयितोरेवशो नास्ति.
 समाप्तः १ क. ख. १ (२०), त. ६. १.

इति । इह तु नियमतो शुस्थानः । ' तस्यैव निपातो भवत्यैन्द्रवा-
मृचि ' ॥ २० ॥

५ विश्वानरस्य वस्पतिमनानतस्य शवसः । एवैश्च चर्पणीना-
मूती हुवे रथानाम् (ऋ० सं० ८ । ६८ । ४) ॥ विश्वानर-
स्यादित्यस्यानानतस्य शवसो महतो बलस्यैवैश्च कामैरयनरव-
नैर्वा चर्पणीनां मनुष्याणामृत्या च पथा रथानामिन्द्रमस्मिन्यज्ञे
हयामि वरुणो व्याख्यातस्तस्यैवा भवति ॥ २१ ॥

२० विश्वानरस्य वस्पतिमिति । ' आ त्वा रथं यथोतये ' (ऋ० सं०

विश्वानरः ८ । ६ । ८) इत्येतस्मिन्नैन्द्रे सुक्ते, प्रियमेधेन
दृष्टे । निष्केवल्ये विनियोगः । विश्वानरस्य

आदित्यस्य अनानतस्य शवसः अनानतज्योतिर्वैलस्य अनभिभूतप्रकाश-
स्याथैज्योतिर्मिः बलपतिं पातारं रक्षितारमिन्द्रम् अस्मिन्यज्ञे शुष्माक-
१५ मर्थसिद्धये आह्वयामः । केनेति । एवैश्च कामैरयनैः चर्पणीनां मनुष्या-
णाम् अवनैः गमनैः तं प्रति निमित्तभूतैः ऊया च पथा येन मार्गेण
रंहणा रश्मय इमं लोकमागच्छन्ति तेन पथा भवतामहमिन्द्रमाह-
यामि ।

२० ' विश्वानरस्य वस्पतिम् ' इति पनिशब्देनेन्द्रवाचिना व्यपदेशात्प-
ृथगन्तस्य विश्वानरशब्दस्य शुस्थानवाचिवे सामर्थ्यमुपपद्यते ।

' वरुणो । (१३) व्याख्यातः ' निर्वचनतः (निरु० १० । ३) ।
इह त्यादित्यः । ' तस्यैवा भवति ' ॥ २१ ॥

१ क. ए. १ (२०), ठ. ड. 'मृचि । इति निरुक्तभाष्ये ६ प्यायि २०
खण्डः; ग. च. वर्जमितोष्यहो नास्ति. २ घ. यत्स्यै. ३ ड. थ. घ. छ. २१.
४ ग. 'मिति । आ'. ५ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'ज्ञे वाः सु'; च. 'ज्ञे - सु' वाः.
६ क. ख. २ (२१); ठ. ड. 'वति । इति निरुक्तभाष्ये उत्तरखण्डे ६ प्यायि
२१ खण्डः; ग. च. वर्जमितोष्यहो नास्ति.

येनां पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनां अनुं । त्वं वरुण
पश्यसि (ऋ० सं० १ । ५० । ६) ॥ भुरण्युरिति क्षिप्रनाम
भुरण्युः शकुनिर्भूरिमध्वानं नयति स्वर्गस्य लोकस्यापि षोडश्यां
तत्संपाती भुरण्युरनेन पावकरुयानेन । भुरण्यन्तं जनां अनुं ।
त्वं वरुण पश्यसि । तत्ते वयं स्तुम इति वाक्यशेषोऽपि वीत्त- ५
रस्याम् ॥ २२ ॥

येनां पावक चक्षसेति । प्रस्कण्वस्यैताः सर्वा अर्पम् । आदिवने
वरुणः विनियोगः (आश्व० श्रौ० ६ । ५) । १०
'भुरण्युरिति क्षिप्रनाम' (निब० २ । १५ । १४) ।
'भुरण्युः' क्षिप्रगामी 'शकुनिः' । स पुनरयमेव योऽधियज्ञे अग्निधी-
यते । स मुपर्णः । विज्ञायते हि 'स्वर्गाय वै लोक्याग्निधीयते
(मैत्रा० सं० ३ । ४ । ८) इति । 'तत्संपाती' तेन युक्तोऽग्निचित्
उपात्तापूर्वसंमारः स्वर्गं लोकं प्रति तदैव शीघ्रं यः पतति गन्तुमिच्छति
स भुरण्यति । हे भगवन् वरुण पावक पावप्रितः येन ह्यनेन दर्शनेन १५
अनुग्राहकेण त्वं पुण्यकृतो जनाननु भुरण्यन्तं पूर्वेणा पुण्यकृतां मार्गेण
देवयानेन क्षिप्रं गच्छतमनुपश्यसि । किं तस्य दर्शनस्थेति । अपारि-
'तत्ते वयं स्तुमः' समाप्त वाक्यमिति यद्वृत्तमपेक्ष्य तद्वृत्तमन्याजहार।
इत्यध्याहृत्य वाक्यस- 'तत्ते' दर्शनमनुग्राहकं 'वयं स्तुमः' इति
मातिः वाक्यशेषः । २०

'अपि वीत्तरस्याम्' । अपि चैवं यथोक्तमपि चैवमन्यथा स्यात् ।
कथमिति । यथोत्तरा ऋक् । तथापि सहैकवाक्यतोपेक्षया । कथमिति । यतः
पुनः पठति ॥ २२ ॥

२५

१ छ. त. द. षोडश्या, ठ. ड. 'स्वामि षोडश्या. २ 'मुत्तरयामन्ययत्नेन
ध्येति' इति सायणभाष्ये निरुक्तमूलम् ३ क. ख. ३ (२२), त. द. २.
४ ग. 'इति । प्र'; ठ. ड. पावकेति प्र. ५ ग. ज. तदं शी'. ६ च. 'वै' ७
धे. ७ क. ख. ३ (२२), ठ. ड. 'ठनि । इति निरुक्तभाष्ये ६ ष्याये २१
खण्डः, ग. च. वर्जमिनेत्यङ्गो नास्ति.

२०

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनां अनु । त्वं वरुण
 पश्यसि (ऋ० सं० १ । ५० । ६) ॥ विद्यामेपि रजस्पृथ्वहा
 भिमनो अक्तुभिः । पश्यन्जन्मानि सूर्य (ऋ० सं० १ । ५० । ७) ॥
 न्येपि द्यां रजश्च पृथु महान्तं लोकमहानि च भिमनो अक्तुभिः
 रात्रिभिः सह पश्यन् जन्मानि जातानि सूर्यापि वा पूर्व-
 स्याम् ॥ २३ ॥

येना पावकोति । येन हे पावक वरुण स्वार्नेन जनां अनु भुर-
 ण्यन्तं पश्यसि तेनैव स्वानेन तथैव स्वत्याप
 अथवा उत्तरस्यां पश्यन् प्रज्ञया युक्तस्यं विद्यामेपि विविधमेपि । अतिश-
 वाक्यशेषः येन वा एषि । किमेपि । तुलोकम् । रजश्च
 पृथु महान्तं लोकम् अन्तरिक्षम् । किं कुर्वाणः । बहानि च भिमानः
 कुर्वन् अक्तुभिः रात्रिभिः सह पश्यन् जन्मानि जातानि सर्वभूताभ्यनुप्रा-
 हकत्वेन सूर्य ।

२५ अपि वोत्तरस्यामेकवाक्यता स्यात् । ' अपि ' तर्हि ' पूर्वस्याम् '
 अन्वेषेया । कयमिति । यतः पठति ॥ २३ ॥

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनां अनु । त्वं वरुण
 पश्यसि (ऋ० सं० १ । ५० । ६) ॥ मत्पद् देवानां विश्वे
 २० मत्पद्भुङ्क्ष्वपि मानुषान् । मत्पद् विश्वं स्वर्द्वये (ऋ० सं० १ ।
 ५० । ५) ॥ मत्पद्भुङ्क्ष्विदं सर्वमुदेपि मत्पद्भुङ्क्ष्विदं ज्योतिरुच्यते
 मत्पद्भुङ्क्ष्विदं सर्वमभिपश्यसीत्यपि वैतस्यामेव ॥ २४ ॥

१ क. ल. ४ (२३), त. द. ४. २ ग. ' कोति ' । ये. ३ क. ल. ३
 (२३), ट. ड. ' ठति । इति निरुक्तभाष्ये ६ ध्याये २३ लण्ड-३ ग. च. वर्गमिते-
 षडो माप्रित. ४ क. ल. छ त. द. ' ज्योतिरुच्यते मत्पद्भुङ्क्ष्विदं ' अति. ५ क.

२७ ल. छ त. द. सर्वविदमभि. ६ क. ग. ५ (२४), त. ट. ५.

येना पावकोति । हे वरुण पावक येन ह्यानेन ययैवानुग्रहबुद्ध्या जना-
ननु भुरण्यन्तं पश्यसि तदैव रयात्या प्रज्ञया युक्तः प्रत्यङ् देवाना या
मिशः ताः कृत्वा पुरस्तात्तामाम् उदेपि । मानुषाश्चैत्रमेव प्रत्यङ् कृत्वा तेषामपि
पुरस्तादेनेदेपि । किं बहुना । हे सः आदित्य प्रत्यङ् इदं नर्वम् आत्मनः
कृत्वा पुरस्ताद्बुधन् सर्वमभिविपश्यसि ।

५

न चेत्पूर्वस्यामुत्तरस्यां वा एकवाक्यता स्यात् 'अपि' तर्हि
'एतस्यामेव' । कथमिति । यतः पुनः पठति ॥ २४ ॥

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनां अनु । त्वं वरुण
पश्यसि । तेन नो जनानभिविपश्यसि केशी केशा रश्म- १०
यस्तैस्तद्वान् भवति काशनाद्वा तस्यैवा भवति ॥ २५ ॥

येना पावकोति । हे पावक वरुण येन ह्यानेन ययैवानुग्रह-
प्रज्ञया जनाननु भुरण्यन्तं पश्यसि त्वं पुण्यका-
अथवा ऋषेव रिणः तेनैव ह्यानेन तयैवानुग्रहकारकबुद्ध्या १५
वाक्यसमाप्तिः अस्माक जनानभिविपश्येति ।

को विशेषः प्रथमादध्याहारात् । प्रथमे हि तत्ते वयं स्तुम इति स्तुत्या
परिसमापितम् । इह पुनराशिषा 'तेन नो जनानभिविपश्य' इति । स्तुत्या-
शिषोः संबन्धनित्यत्वाद्वाक्यस्य । एष साकाङ्क्षाणा मन्त्राणामेकवाक्यता-
प्रकार उपप्रदर्शितः ।

२०

'केशी' (१४) इति वक्तव्यम् । अत्र 'केशा रश्मयस्तैस्तद्वान्'

केशी कस्मात् आदित्यो यो मन्त्रदिने भवति । 'काशनाद्वा' ।
प्रकाशनादित्यर्थः । रश्मयोऽपि केशाः काशना-

देव । 'तस्यैवा भवति' ॥ २५ ॥

२५

१ ग. 'केनि' । हे' । २ ग. ज. 'वाना विशः या', च. 'वाना विशः याः' ।
३ क. ख. ५ (२४), ग. च. वर्गमिनेरेष्यङ्को नास्ति. ४ क. ख. ड. 'नादा
प्रकाशन दा त' । ५ क. ख. ६ (२५), त. व. ६ ६ ग. 'केति । हे' । ७ ग.
ज. 'भिविपश्ये', च. 'भिविपश्ये'. ८ क. ख. ५ (२५), व. ड. 'वनि । इति
निरुक्तभाष्ये ६ ध्याये २१ खण्ड, ग. च. वर्गमिनेरेष्यङ्को नास्ति' ।

केश्यमिं केशी विषं केशी विभर्ति रोदसी । केशी विश्वं
 स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते (ऋ० सं० १० । १३६ । १) ॥
 केश्यमिं च विषं च विषमित्युदकनाम विष्णातेर्विपूर्वस्य स्नातेः
 शुद्धयर्थस्य विपूर्वस्य वा सचतेर्द्यावापृथिव्यौ च धारयति केशीदं
 सर्वमिदमभिविपश्यति केशीदं ज्योतिरुच्यत इत्यादित्यमाहाथा-
 प्येते इतरे ज्योतिषी केशिनी उच्येते धूमेनाग्नी रजसा च मध्यम
 स्तंपामेषा साधारणा भवति ॥ २६ ॥

केश्यमिमिति । जूतेरार्थम् । केश्यमिं विभर्ति वर्षेणोदकेनौपधीरभिनि-
 १० केशी ष्यादयन् । आहुतिद्वारेण केशी विषं विभर्ति ।
 ' विषमुदकं विष्णातेर्विपूर्वस्य स्नातेः शुद्धयर्थस्य ।
 विपूर्वस्य वा सचतेः ' । सर्वत्र ह्यतिशयेन यत्सक्तमिति तदपि केशी
 विभर्ति । रोदसी अपि च केश्येव विभर्ति । तन्निवासीनि भूतान्यनुगृ-
 ह्णाति । अपि चायं स्वरादित्यः केशी विश्वमिदं सर्वमिदम् अभिविप-
 १५ श्यति यथाभिद्रष्टव्यम् । कोऽयं केशीति । यत् आह दर्शयन्नेवादिसं
 केशीदं ज्योतिरुच्यत इति ।

अतः परं विचारः । ' अथाप्येते इतरे ज्योतिषी ' प्रथममाध्यमिके
 इतरे ज्योतिषी ' केशिनी (१५) उच्येते ' । तत्र तावत् ' धूमे-
 २० अपि केशिनी उच्येते नाग्निः ' केशी । स हि तस्य प्रकाशनाय निगू-
 ढस्यापि भवति । ' रजसा च मध्यमः ' ।
 असावप्यमूर्त्वाद्प्रकाशः सन् रजसोद्भूतेन प्रकाशतेऽसौ वायुरागच्छतीति ।
 उदकेन च वैशुतः । ' तेषां ' त्रयाणामपि केशिनाम् ' एषा ' साधः
 रण्येन प्रधानस्तुतिः ' भवति ' ॥ २६ ॥

१ छ. त. द. 'स्य वा सचने'. २ क. ल. छ. त. द. 'ध्यमस्तयोरेण भवति.
 ३ क. ल. ७ (२६); त. द. ७. ४ ग. 'मिति । जु'. ५ ग. च. ज. तु.
 ६ क. ल. ७ (२६); ठ. ड. 'वति । इति निरुक्तभाष्ये ६ ध्याये २६ स्रष्टः;
 २८ ग. च. बर्भक्तिरेव्यो गार्हित.

त्रयः केशिनं ऋतुया वि चक्षते संवत्सरे वपत एक ए-
 षाम् । विश्वमेकां अभि चष्टे शचीभिर्भ्राजिरेकस्य ददृशे न
 रूपम् (ऋ० सं० ? । १६४ । ४४) ॥ त्रयः
 केशिन ऋतुया विचक्षते काले कालेऽभिविपश्यन्ति संवत्सरे
 वपत एक एषामित्याग्निः पृथिवीं ददति सर्वमेकोऽभिविपश्यति ५
 कर्मभिरादित्यो गतिरेकस्य दृश्यते न रूपं मध्यमस्याथ यद्रश्मि-
 भिरभिप्रकम्पयन्नेति तद्रूपाकपिर्भवाति वृपाकम्पनस्तस्यैषा
 भवति ॥ २७ ॥

त्रयः केशिन इति । दीर्घतमस आर्यम् । महाप्रते वैश्वदेवे शरपते १०
 अग्निवायुसूर्यान्त्र- (ऐ० आ० ५ । ३ । २) । य एते त्रयः
 वोऽपि केशिनः केशिनः अग्निवायुसूर्याः ऋतुया कालेकाले वि-
 चक्षते । पूर्वकालम् अभिविपश्यन्ति । स्वकर्माधि-
 कारयुक्तेनानुग्रहेण लोकमनुगृह्णन्ति । तेषाम् एकः पृथिवीस्थानः अग्निः संव-
 त्सरे पृथिवीं वपते । ददतीत्यर्थः । तथा हि सा कर्मण्या संपद्यते । विश्व- १५
 मेको अभि चष्टे । स्वाधिकारयुक्तैः कर्मभिः अविभिपश्यति अनुगृह्णाति आदि-
 लः । प्राजिरेकस्य ददृशे । गतिरेकस्य रजतोद्भूतेन पार्थिवेनोदकेन वा
 दृश्यते न रूपं मध्यमस्य ।

‘अथ यद्रश्मिभिराभिप्रकम्पयन्नेति’ । यदा रश्मिभिः उपलंङ्घितरूपतं-
 वृपाकपिः कम्पयन्ते भूतानि अभिप्रकम्पयन्नेति तदा ‘वृपाकपिः १०
 (१६) भवति’ । वर्षिता चावश्यायानां कम्प-
 नश्च भूतानाम् । सर्वो हि भगवत्पदस्ये तद्रूपाकम्पते । तस्यैषा
 भवति ॥ २७ ॥

१ क. ख. ८ (२७); त. द. ८ २ ग. इति । दी०. ३ ग. ज. ठ. ड.
 ‘मिवायुः सूर्याः ४ ग. ज. ‘या काले विच. च. ट. वैरे’ यथा; ठ. ड. यथा-
 कालम्. ६ ग. ज. वपति; च. वपति’ द. ते. ७ क. ए. घ. ङ. अथ एत यदा-
 दित्यो रश्मि”, ८ क. ख. ८ (२७); ठ. ड. ‘वति । इति निपण्यवर्षितेन सद्
 निरुक्तमपद्राध्यायमाध्ये सप्तविंशतिः अध्यायः; ग. च. वर्णमन्तरेऽप्यहो नास्ति. २१,

पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै । य एष स्वमनंशनोऽ-
स्तमेपि पथा पुनर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः (ऋ० सं० १० । ८६
२१) ॥ पुनरेहि वृषाकपे सुप्रसूतानि वः कर्माणि कल्पयावहै य
एष स्वमनंशनः स्वमात्राशयस्यौदित्य उदयेन सोऽस्तमेपि पथा
पुनः सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यं यमो व्याख्यात-
स्तस्यैषा भवति ॥ २८ ॥

पुनरेहि वृषाकपे इति । वृषाकोरार्षम् । पृथग्यस्य पथेऽहनि ब्राह्मणा-
च्छसिनः शस्त्रे विनियुक्ता (आश्व० श्रौ०
८ । ३) । हे वृषाकपे भगवन् य एष त्वं स्वम-
नाशनः स्वमन् उदयेन नाशयसि सोऽस्तमेपि पथा पुनः । यद्य त्वं
निश्वस्मात्सर्वस्मात् जगत इन्द्रः ईश्वरः उत्तरः उद्धततरः स त्वं पुनः एव
हि उदयं प्राप्नुहि । तत आवा सुविता सुप्रसूतानि सुप्रवृत्तानि शोभन-
मर्धमुद्दिश्य जगतोऽनुग्रहमेतानि शोभनानि कर्माणि प्रवृत्तानि कल्पयावहै
सगुणानि कुर्वः त्वमुदयेनाहमनुष्ठ नेनेने ।

‘ यमो (१७) वक्तव्यः । स पुनः ‘ व्याख्यातो ’ निर्ध्वञ्चनतः (निरु०
१० । १०) । इह त्वादित्योऽभिधेयः । ‘ तस्यैषा भवति ’ ॥ २८ ॥

यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः । अत्रां नो विप्रतिः
पिता पुराणां अनुं धेनति (ऋ० सं० १० । १३५ । १) ॥ यस्मिन् वृक्षे
सुपलाशे स्थाने वृत्तः क्षये वापि योपमार्थे स्याद्ब्रह्म इव सुपलाश
इति वृक्षो ब्रह्मनात्पलाशं पलाशनादेवैः संगच्छते यमो रश्मिभिरा-
दित्यस्तत्र नः सर्वस्य पाना वा पलायिता वा पुराणाननुकामयेताज

१ क. र. छ. त. व. ‘ यथादि ’. २ क. र. १ (२८), त. व. १. ३ ग.
इति । वृ. ४ क. म. प. ट. ठ. ड. पुनरावादि उदयं; अ. पुनरेव सुं रावा.
५ ग. ज. तं दुद्; अ. तं दुः उ. ६ क. म. १ (२८), ट. ड. वने । इति
२५ विष्णुसूत्रे ६ अ. ३ १८ अ. ३, ग. वा. दर्शनयोगेऽपि नो नो.

एकपादजन एकः पाद एकेन पादेन पातीति वैकेन पादेन पिवतीति
वैकोऽस्य पाद इति वा । एकं पादं नोत्खिदतीत्यपि निगमो भवति
सस्यैप निपातो भवति वैश्वदेव्यामृचि ॥ २९ ॥

यस्मिन्वृक्षे सुख्यश्च इति । कुमारस्य यामायनस्यार्पम् । यस्मिन्वृक्षे
आदित्ये । स हि स्वगत्या कालमतिक्रामयन् सर्व-
यमः भूतानामायुषि क्षपयति । ' वृक्षतीति वृक्ष । वृत्तः
अये वा ' । पुण्यवृद्धिर्भूतो निवास इत्यर्थः । सुपलाशे सुष्टु पराशीर्णमळे
'सुपलाशे' 'वृक्षे'
इत्यस्य विशेषणम् दीप्तिमति देवैः सह रश्मिभिः संपिबते-संगच्छे-
अस्तं गच्छन्नादित्यः । तत्र किमिति । अत्रै नः
अस्मान् पुण्येन कर्मणा विद्यया च तत्राग्निकया
गततग्नः पुराणान् इव तन्निवासिनः अनुभेनत् कामयतु । संप्रोणयता-
मित्यर्थः ।

' वृक्षे इव सुपलाशे इति ' ऐतिहासिकपत्रे । स्वगृहमुपगतानस्मान्
' अथवा वृक्षे इव सुपलाशवृक्षप्रख्यं मुखनिवासं पिन्द्राजो यमः
सुपलाशे इत्युपमा पुराणान् इव तल्लोकनिवासिनः पितॄन् अनु-
कामयतु । अस्मिन् पत्रे देवैः संपिबत- इति
तदनुचारिणो गृह्यन्ते देश इति ।

' अज एकपात् ' (१८) इति धत्तव्यम् । स पुनरयमादित्यो
नित्यम् ' अजनो ' गमनः । ' एकः ' च
क. अजपात् कस्माच्च ' पादो ' इत्यणः । विज्ञायते हि ' अग्निः पादो
चायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद ' (अ० उप० ३ । १८ । २)
इति । ' एकेन पादेन पातीति वा ' । सर्वमिदं जगदेकेनाशेनानुपविश्यं

१ क. ख १० (२९), त द. १०. २ ठ ड वृत्त इति. ३ ग इति ।
कुं ४ क. ख. घ. ट. ठ. ड वृत्तस्ये. ५ क. ख. घ. ट. ठ. ड. वृत्ते; घ.
'वृत्ते' से. ६ क. ख घ विवासे, ट. निवासं यस्मिन्स्थाने, ठ. ड. निवासे
यस्मिन्स्थाने इ-वर्धेः. ७ ग. ज. अत्रा, च अत्रै नः अ. टक. ख. घ. ट. ठ.
ड. 'यति व'. ९ क. ख. घ. ट. ठ ड 'सुपाश'. १० क. ख. घ. ट. ठ. ड.
'मह्ययु', च. 'मह्ये' एय. ११ क. ख. घ. ट. ठ. 'वासे' घ. 'वासे' से. ' ।

पाति, रक्षति स्वापकाळे प्राणत्मनाऽन्नं पचन् । अजनधेत्यज एकपात् ।
 ' एकेन पादेन पिबतीति वा ' । एकेनाशेनोदकं सर्वस्माज्जगतः पिबत्य-
 जनधेत्यज एकपात् । अथ ' वा ' । अजनो गमनः ' एकोऽस्य पाद
 इति' अज एकपात् । जीवभृतोऽस्य कृत्स्नं जगति एकः पादाऽनुप्रविष्टः ।

' निगमोऽपि हि भवति ' एवास्मिन्नर्थे । " एकं पादं नोऽखिदति

जीवोऽस्य ब्रह्मण
 एकः पाद इत्यर्थे नि-
 गमः

सखिलाद्धंस उच्चरन् । स चेत्तमुद्धरेदङ्ग न
 मृत्युर्नामृतं भवेत् " । एकमात्मनः पादमर्शो
 नोऽखिदति नोद्धरति आदित्यो हंसः महत्तस्तमसो
 व, घ्नो वा हन्ता । कुतः पुनर्नोऽखिदति ।

१० सखिलात् सन्मात्रे ब्रह्मणि लीनादेतस्माज्जगत उच्चरन् । अहम्यहनि
 लक्षान्तिवर्थः । स श्वेत्तं जीवभृतमात्मनः पादमेतस्माज्जगतः उद्धरेन्
 ततस्तदुद्धरणसमकालमेव अङ्ग क्षिप्रं न मृत्युर्नामृतं भवेत् । सर्वमिदमन्यप-
 देश्यं सदेश्यं स्यादित्यर्थः ।

' तस्यैव निपातो भवति ' साधारण्येन ' वैश्वदेव्यामृचि ' ॥ २९ ॥

११

पावीरवी तन्यतुरेकपादजी द्विवो धर्ता सिन्धुरापः समुद्रियः ।
 विश्वे देवासंः शृण्वन्वचांसि मे सरस्वती सह धीभिः पुरन्ध्या
 (ऋ० सं० १० । ६५ । १३) ॥ पविः शल्यो भवति यद्विपु-

१०

नाति कायं तद्वन्पवीरमायुधं तद्वानिन्द्रः पवीरवान् । अतितस्थो
 पवीरवानित्यपि निगमो भवति । तद्वैवता वावपावीरवी पावीरवी
 च द्विव्या वावतन्यतुस्तनित्री वाचोऽन्यस्या अजश्रैकपादिवो
 धारयिता च सिन्धुश्चापश्च समुद्रियार्थे सर्वे च देवाः सरस्वती च
 सह पुरन्ध्या स्तुत्या मयुक्तानि धीभिः कर्मभिर्युक्तानि शृण्वन्तु
 यघनानीमानीति पृथिवी व्याख्याता तस्या एव निपातो भवत्यै-

१५ न्द्राग्न्यामृचि ॥ ३० ॥

१ अ. 'को अस्य. २ ग ज. जीवोऽस्य च जीवोऽस्य भृतो. ३ अ. 'मंदा-
 नो'. ४ क ख. (१०) -९; उ द. 'मृचि । इति निरुक्तमध्ये १५ पद्ये २०
 स्रष्टः, ग. अ. वर्धमिनोस्त्वष्टो नारि ५, ७, त. द. ' अ ' नास्ति. ६ क. प.
 १० ११ (२०); त. द. ११.

पावीरवो तन्वत्तरिति । वसुकर्णस्यार्षम् । वैश्वदेवे शस्त्री विभिभोगः ।
पावीरवो वस्मात् ' पविः शस्त्रो भवति ' । कस्मान् । ' यद्विपु-
नाति ' निदारयति ' कायम् ' । तेन शस्त्रेण
' तद्वत्पावीरमायुधम् ' । रो मनर्थे । तेन शस्त्रयतायुधेन ' तद्वानिन्द्रः
पावीरवान् ' ।

यथा चैव मन्त्रेणाह ' अनितरस्यौ पावीरवानिति ' । ' यो जनान्प-
पावीरवाम् इन्द्रः ' इति ' इवातितस्यौ पावीरवान् । तनापावीरवाम्पुत्रा '
(ऋ० सं० १० । ६० । ३) ॥ विप्रय-
न्धोरार्षम् । ' यः इन्द्रो महिरान् अतिमहतोऽप्यसुरजनान् युधा युद्धेन
अतीय तस्यो तिष्ठति पावीरवान् आयुधवान् । अपि च अपपावीरवान् । १०
अनायुध इत्यर्थः । सायुधो निरायुधश्च नित्यमसुरजनान् महतोऽपि अनि-
तिष्ठति यः स इदं नामास्माकं करोयिति ।

' तदेवता वाक् पावीरवो ' । स इन्द्रो यस्या वाचो माध्यमिकाया
देवता सा ऐन्द्रो वाक् पावीरवो । तस्यतुः तानेन्द्रो वाचोऽन्यस्याः । तदु-
क्तम् । ' ता विश्वरूपाः पशवो वदन्ति ' (ऋ० सं० ८ । १०० । ११ ॥ १५
निरु० ११ । २९) । सा च दिव्या वाक् अजस्रैकपात् दिवो
अज एरुपात् धारयिता । एतन्न दुरधानाश्च अजस्रैकैर्पदः ।
सिन्धुश्च नदः आपश्च समुद्रिणाः । विश्वे च देवाः
सृणुन्तु शृण्वन्तु इमानि वचनानि स्तुतिपक्षणानि । किं वचनान्येव ।
न । किं तर्हि । सह धौभि कर्मभिः हरिर्दानयुक्तै सहितानि । सरस्वती २०
च शृणोतु पुरन्ध्या सह बहुधाऽथा माध्यमिकया वाचेत्येतदाशास्महे ।

निर्बचनस्यास्य मृच्युत्तरे पादे सम्यक्पाठोऽन्वेष्ट्य ।

' पृथिवी (१९) व्याख्याता (निरु० १ । १४) । तस्या ' एव

१ ग. 'रिति । व' । २ क. ख. घ. ट. ठ. ड. चेतदेव तथैव निगमः
अति', च. 'येव मन्त्रेणाह' तदेव तथैव निगमः. ३ घ. ट. 'पौ इव । निगम'.
४ क. ख. घ. ट. ठ. ड. माध्यमिकाया वाचो, च. माध्यमिकार्यो वाचो. ५ क.
ख. घ. ट. ठ. ड. 'स्तनयित्री. ६ ग. ज. 'जस्यैकपदः, व. ठ. ड. 'जस्यैक'; ट.
'जस्यैक' इत्ये ७ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'देवाः ह्ये' घ. 'देवाः'. ८ ग. ज. निर्ब-
चनस्यात्युत्तरे'.

निपातो भवति ? दिवः पृथिव्या ' ऐद्रान्यामृचि ' न स्तु-यत्वेन । किं
सहि । नैघण्टुकत्वेन केवलम् ॥ ३० ॥

-यदिन्द्राग्नीं परमस्यां पृथिव्या मध्यमस्यामवमस्यामुत स्थः ।

१ अतः परि वृषणावा हि यातमथा सोमस्य पिवतं सुतस्ये (ऋ०
सं० १ । १०८ । १०) ॥ इति सा निगदव्याख्याता समुद्रो
व्याख्यातस्तस्यैष निपातो भवति पावमान्यामृचि ॥ ३१ ॥

२० यादृन्द्राग्नीं परमस्यामिति । कुत्सस्यार्थम् । हे इन्द्राग्नी यदि युवा
पृथिवी परमस्या पृथिव्याः शुलक्षणाया यदि मन्वमायाम्
अन्तरिक्षे यदि अवमस्थोभिव भूम्याम् । उत
स्थः तथापि पर्यायातम् अस्मान् प्रति । पर्येत्य अथ सोमस्य पिवतम्
अभिप्लुतस्य स्वमंशमिति ।

२५ ' समुद्रो (२०) व्याख्यातः ' (निह० २ । १०) । इह
आदिस इति विशेषः । अत्रापि ' समुद्रान्नयस्मादापः ' इत्येवमादि
सदेन निर्वचनम् । ' तस्यैषः ' समुद्रस्य ' निपातो भवति पावमान्या-
मृचि ' ॥ ३१ ॥

२० पवित्रवन्तः परि वाचमासते पितृषां प्रत्नो अभि रक्षति व्रतम् ।
महः समुद्रं वरुणस्तिरो दंष्ट्रं धीरा इच्छेत्कुर्धरुणेष्वारभम् (ऋ०
सं० ९ । ७३ । ३) ॥ पवित्रवन्तो रश्मिवन्तो माध्यमिका देव-
गणाः पर्यासन्ते माध्यमिकां वाचं पितृषां प्रत्नः पुराणोऽभिरक्षति
व्रतं कर्म महः समुद्रं वरुणस्तिरोऽन्तर्द्वात्यथ धीराः शत्रुवन्ति

१ क. र. ११ (३०), ठ. ट. 'दलम् । इति निरुक्तभाष्ये ६ ध्याये ३०
सङ्घ', म. च. पत्रमितरेष्वद्भो नास्ति. २ क. ल. १२ (३१), त. द. १२.
३ ग. 'मिति । कु'. ४ क. ल. प. ट. ठ. ड. 'प्रवृत्तयो व', च. 'ग्नी' य
'वृत्तयो'. ५ क. र. व. ट. ठ. ड. 'वस्यामस्यामेव'. ६ क. ल. प. ट. ठ. ड.
इह तु आ', च. इह - आ' तु. ७ क. ल. १२ (३१), ट. ड. 'मृचि । इति
निरुक्तभाष्ये ६ ध्याये ३१ सङ्घ., म. च. पत्रमितरेष्वद्भो नास्ति. ८ उ. त. द.
२१ माध्यमिका. ९ उ. त. द. 'स्त्री मन्वमाः स्ति'.

धरुणेपुद्गकेषु कर्मण आरम्भमारब्धुमज एकपाद्द्वयाख्यातः पृथिवी
व्याख्याता समुद्रो व्याख्यातस्तेषामेष निपातो भवत्वपरस्यां
वहुदेवतायामृचि ॥ ३२ ॥

। पवित्रवन्तैः परि वाचमिति । पवित्रस्यार्थम् । प्रवर्षेविनियोगः (आश्व०

५

समुद्रः

श्रौ० ४ । ६) । रश्मयः पवित्रवन्तः ; अमु-
ष्मादादित्यमण्डलात्प्रसृता मध्यस्थाने मरुत्प्रभृ-

तिभिर्देवगणैः संयुज्यन्ते । तत्संयोगात् माध्यमिका देवगणाः पवित्रवन्तो
भवन्ति । ते च पर्युपासते । ते च परिर्वार्य माध्यमिका वाचम् आसते
विद्युदाख्याम् । स वरुणो विद्युदाख्यो मध्यमः पिता पाता रक्षिता तेषां
मरुत्प्रभृतीनां प्रानः पुराणः व्रतं कर्म तदाधिकारयुक्तम् अभिरक्षति ।
कर्था मिति । तद्वच्यते । महः महान् वरुणो मध्यमः महान्तं वा समुद्रम्
आदित्यं भेवजालेन यदा तिरोदधाति द्वादशं कृत्वा वर्धति योपवीष्ट
अर्थे धीरा धीमन्तः धरुणेषु उदकेषु शेकुः शक्नुवन्ति कर्मणः कृष्यादे-
वैदिकस्य वा आरम्भं प्रारम्भम् इत्येवमभिरक्षति तेषां माध्यमिकानां
व्रतम् । यदि ह्यसाध्यांशुणोति मेघैस्ततस्तेषामधिकारप्रतिष्ठम्भो भवति ।

१०

१५

‘ अज एकपाद् (१८) व्याख्यातः ’ (निरु० १२ । २९) । इह
तूत्तमः । ‘ पृथिवी (१९) व्याख्याता ’ (निरु० १ । १४) । ‘ समुद्रो
(२०) व्याख्यातः ’ (निरु० २ । १०) । ‘ तेषामेष निपातो
भवति ’ स्तुतिसाधारण्येन ‘ अपरस्यां बहुदेवतायामृचि ’ ॥ ३२ ॥

२०

१ छ. स. १२५५. २ क. ख. १३ (३२); त. दं. १३. ३ ठ. ड.
‘ वन्त इति । पवि. ४ ग. ‘ मिति ’ । ५. ५ क. ख. घ. ट. ठ. ड. पवित्र
तेऽमु; च. पवित्रवन्तोऽमुं व्रं तेऽ. ६ क. ख. घ. ट. ठ. ड. माध्यमिकां माध्यं
परिवार्य; घ. परिवार्यं माध्यमिकां वाचं. ७ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ‘ विपु-
दाख्यां ’ नास्ति; घ. विद्युदाख्यां. ८ ग. ज. ‘ धीष्टु धीरा; घ. ‘ धिपु-
र्धिताः ’ अय. ९ क. ख. घ. ट. ठ. आरम्भं; घ. ज. आरम्भं भं. १० ग. ज. यदि धीनि वेऽं;
घ. ह्यो वृं सायावृ. ११ क. ख. १३ (३२), ठ. ड. मृचि । इति निरु-
भाष्ये ६. ५ पापे ३२ खण्ड; ग. घ. वर्जितरेष्वहो नास्ति.

उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वज एकपात्पृथिवी समुद्रः । विश्वे देवा
 ऋतावृथो हुवानाः स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवन्तु (ऋ० सं०
 ६ । ५० । १४) ॥ अपि च नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वजश्वैकपात्पृ-
 थिवी च समुद्रश्च सर्वे च देवाः सत्यवृथो वा यज्ञवृथो वा ह्यु-
 माना मन्त्रैः स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवन्तु मेधाविशस्ता
 दध्यङ्प्रत्यक्तो ध्यानमिति वा प्रत्यक्तमस्मिन् ध्यानमिति
 वाथर्वा व्याख्यातो मनुर्मननात्तेषामेव निपातो भवत्येन्द्रया-
 मृचि ॥ ३३ ॥

- १० उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्विति । ऋजिश्चन आर्यम् । आभिमारुते
 धिनियोगः (आश्व० श्रौ० ५ । २०) ।
 अज एकपात् पृ-
 थिवी समुद्रः अस्यामृ-
 चि नैघण्टुकाः ।
 अप्यस्माकम् अहिर्बुध्न्यः शृणोतु । अपि अज
 एकपाद् अपि च पृथिवी अपि च समुद्रः
 विश्वे देवाः सर्वे एते एवमादयो देशाः ऋतावृथोः
 १५ सत्यवृथो यज्ञवृथः उदकवृथो वा हुवाना आहूयमानाः मन्त्रैर्जुनेषुः
 स्तुताश्च स्तोत्रैः सामभिः कविः शस्ताः कविभिश्च नैघण्टुं कत्वेन मेधाविभिः
 शस्त्रैश्च शस्ताः स्तुतास्तेऽस्मानवन्वित्येतदाशास्महे ।

‘ दध्यङ् मनुः अथर्वा ’ इति त्रिवपक्षे आदित्य एवैते सद्गुणयोगा-
 द्भवन्ति युस्थाने समाभ्यानात् । पृथक्त्वे पुनर्द्युस्यानास्तत्सहचारिण एते
 ऋषयः ।

‘ दध्यङ् (२१) प्रत्यक्तो ध्यानं ’ प्रतिगतो ध्यानमिति । ध्यानारम्भणे
 एव युक्तः स्वमधिकारमनुतिष्ठति । अथवा ।
 दध्यङ् कस्मात् ‘ प्रत्यक्तमस्मिन् ध्यानमिति वा ’ । अधिकरणं
 कारकम् । तथा हि तस्मिन् ध्यानकार्यं सफलं लक्ष्यत इति ।

- १ ऋ. 'कपादिषो पातयिता सिन्धुभापध समु'. २ छ. न. द. 'त्यान'. ३ क.
 ख. १४ (३३) ; तद- १४. ४ ग. 'तिवति । ऋ' ; ठ. ड. 'दुष्य इति । ऋ'.
 ५ ग. ज. 'वृथः उदकवृथो यज्ञवृथो वा हु' ; घ. 'वृथः उदकवृथो यज्ञवृथो
 वाहु' इत्यवृथः. ६ ग. ज. 'सामभिः कत्वेन मेधा' ; घ. 'सामभिः कत्वेन मेधा' ७ वि
 १९ शस्ता एकविभिश्च नैघण्टु. ७ ग. ज. शरीः श्रुताः ; घ. शरीः श्रुताः ; ख. शस्ता.

‘अथर्वा (२०) व्याख्यातो ’ निर्वचननः (निद० ११ । १८) ।
न ह्ययं स्वस्मादधिकारात् धर्त्तति । न कदाचित्स्वमधिकारं मुञ्चति

मनुर्भननात् ‘ मनुः ’ (२२) ‘ अयं मननात् ’ । न हि
तदस्ति यदयं न मनुते । ‘ तेषामेव निपातो
मशान्द्रयामृचि ’ ॥ ३३ ॥

५

यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमन्तत । तस्मिन्ब्रह्माणि पूर्व-
येन्द्र उक्त्वा सममतार्चन्तु स्वराज्यम् (ऋ० सं० १ । ८० ।
१६) ॥ यामथर्वा च मनुश्च पिता मानवानां दध्यङ् च धियमतनिपत
तस्मिन्ब्रह्माणि कर्माणि पूर्वैन्द्र उक्त्वानि च संगच्छन्तामर्चन्त्योऽ-
नूपास्ते स्वराज्यम् ॥ ३४ ॥

१०

द्वादशस्य तृतीयः पादः ।

‘ यामथर्वा ’ । गोतमस्यार्पम् । पाठिके पञ्चमेऽहनि विनियोगः (आ०
श्रौ० ७ । १२) । ऐन्द्रे सूक्ते यम् अथर्वा
अथर्वा दध्यङ् मनुः मनुश्च पिता मानवानां दध्यङ् च धियम् अनत
अतनिपत । एतद्वृणविशिष्टो य आदित्यः यैस्तत्कर्मोर्निर्वृत्त्यादिलक्षणं
तनोति तस्मिन्सति ब्रह्माणि अर्चन्ति उक्त्वानि च शस्त्राणि पूर्वथा
पूर्ववत् इन्द्रे सममत समागच्छन्ति यज्ञेषु । विलक्षणे इन्द्रे इति । मत
आह । अर्चन् । यः इन्द्रमभिपूजयते स्वराज्यम् अनु उपास्ते ।
यथाशास्त्रमनुतिष्ठनीत्यर्थः ।

१५

२०

१ क. ए. १५ (३३) ; ठ. ड. ‘ मृचि । इति निरुक्तभाष्ये ६ ध्याये ३३
खण्डः ; ग. च. वर्जमितरेष्वशे नास्ति. २ छ. त. ‘ बौ-मनु ’ च ; द. वधि मनुः.
३ छ. मनुष्पिता ; त. मनुश्च ध्य ; द. मनुष्पिता ; च. ४ छ. त. कर्माणि ब्रह्मा-
णीन्द्र उक्त्वा ; व. कर्माणि ब्रह्माणीन्द्र उक्त्वा. ५ क. ए. १५ (३४), त. द.
१५. ६ छ द. तृती ; त. इति द्वादशोऽध्याये तृ. ७ ग. वेति ; शो. ८ क. १.
घ. ट. ठ. ड. दत्तकं च. दत्तकं. ९ ग. ज. ‘ त्वर्माभिर्भुः ’ ; च. ‘ त्वर्माभि-
र्भुः ’ होवे. १० ग. न. अम्मानि ; च. अर्चन्ति ; पा. १२ क. ए. घ. ट. ठ.
ड. ‘ चन्तु. १२ क. ए. घ. इन्द्रः अभि ; ट. इन्द्रः मामि इन्द्रं.

२१

पृथक्पक्षे आदित्यसहचारेण एते ऋषयः । तदा योज्यम् । य एते
ऋषयः कर्म अतनिपत याहं तस्मिन्ब्रह्माणि अन्नानि ईन्द्रे पूर्वधत्समागत
समागच्छन्तीति । शेषं समानमेवेति ॥ ३४ ॥

सप्तदशैव तृतीयः पादः ।

चतुर्थः पादः ।

अथातो शुस्थाना देवगणास्तेषामादित्याः प्रथमागामिनो
भवन्त्यादित्या व्याख्यातास्तेषामेपा भवति ॥ ३५ ॥

- १० 'अथातो शुस्थाना देवगणाः' इत्येवमादि षट्कव्यम् । अतः परमे-
तदेवोत्तम उद्योतिर्गणशब्दाभिधेयत्वेन निर्वा-
अथातो शुस्थाना च्यम् । एतदेव हि गुणत्रिकारोपजनापेक्षया
देवगणाः भेदाभेदाभ्या मन्त्रदशः पश्यन्तोऽभिष्टुवते । तदर्थं
विशेषतः पुनरधिकारवचनम् 'अथातो शुस्थाना देवगणाः' इति । उक्तमे
१५ शुस्थाना इति । के पुनस्ते । देवगणा इति देवानां मित्रप्रभृतीना गणाः ।
पृथक्पक्षे गणा इति वचनमर्थवत् ।

'तेषामादित्याः (२४) प्रथमागामिनो भवन्ति' । ते कस्मात् । प्रत्यक्ष-

- तेषामादित्याः त्नाच्छब्दस्य 'सप्तऋषयः' इत्येवमादीना च परो-
प्रथमागामिनः क्षत्वात् । ते पुनरभिधाननिर्वचनतो 'व्याख्याताः'
२० 'आदत्ते रसान्' (निरु० २ । १३)-इत्यत्र ।
केवल त्वत्र बहुवचनमिति विशेषः । 'तेषाम्' आदित्यानाम् 'एषा'
प्राधान्यस्तुतिः 'भवति' या दृष्टेह शुस्थाने गणाभिवानेन समा-
प्ताता ॥ ३५ ॥

- १५ १ क. ख. घ. ङ. च. ऋषय एते. २ ग. ज. ऐन्द्रे, च. ऐन्द्रे इ. ३ क. ख.
१५ (३४), ठ. ड. वेति । इति निरुक्तभाष्ये ६ ध्याये ३५ खण्डः; ग. च.
वर्जमिन्नेष्वको नास्ति. ४ च. 'शस्याध्यायस्य, ठ. ड. इति सप्तदशाध्यायस्य तृ.
• क ख. १ [३५], त. द. १. ६ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'इत्यन्नः
स्तुव'. ७ क ख. घ. ट. ठ. ड. योरेषां स्थान त इमे शु'; च. उक्तमे 'योरेषां
स्थानं त इ ङ क. ख. घ. ट. ठ. ड. इति बहुवच', च. इति ~ व° बहु. ९ क.
ख. १ [३५], ठ. ड. 'भ्याताः । इति निरुक्तभाष्ये ६ ध्याये ३५ खण्डः;
१३ ग. च. वर्जमिन्नेष्वको नास्ति.

- इमा गिरं आदित्येभ्यो घृतस्त्रुः सनाद्राजभ्यो जुद्धा जुक्षोमि ।
 शृणोतुं मित्रो अर्षमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंजः
 (ऋ० सं० २ । ५७ । १) ॥ घृतस्त्रुष्टुमन्नादिभ्यो घृतान्ना-
 विष्यो घृतसानिन्यो घृतसारिष्य इति बाहुतीगादित्येभ्यश्चिरं
 जुद्धा जुक्षोमि चिरं राजभ्य इति वा शृणोतु न इमा गिरो मित्र-
 शर्षमा च भगश्च बहुजातश्च धाता दक्षो वरुणोऽशुश्रुना
 व्याख्यातः सप्तकषयो व्याख्यातास्तेषामेषा भवति ॥ ३६ ॥

इमा गिरं आदित्येभ्य इति । कर्मस्य गास्मिदस्य गृत्समदस्य वेयमा-
 आदित्याः . . . र्षम् । इमा-गिरो घृ-च्छू । घृतम् आहुतिलक्षणं

१०

या. प्रसृजन्ति प्रक्षरन्ति ता वृत्तज्ञः । अथवा ।
 'घृतप्रसृविष्यः' । धा वन्यस्त्वमर्थकं म् । 'घृतसानिन्यो वा' । घृत् देवा-
 न्प्रति सानयन्ति संपाजयन्तीति तथा । सनेतेः, सभजनार्थस्य । 'घृत-
 सारिष्यो वा' । 'सृ गतौ' (धा० १ । २६०) इत्यस्य । देवान्प्रति वृत्त
 याः सारयन्ति गमयन्तीति । ताभिर्गोभिः तेर्मन्त्रे, सन द्राजभ्यैः चिरत-
 नेभ्यः सर्वलोकराजभ्यः । अथवा । सनादिति यावदायुषम् अनुत्सर्गेण
 जुद्धा जुक्षोमि । ताः पुर्गिरोऽस्मदाक्षार्थुक्तः ।
 तस्मर्भर्वनाम शृणोतु अस्माकं मित्रो अर्षमा भगश्च तुविजात. बहुजातश्च
 धाता दक्षो वरुणः अशर्थ ।

१५

तुवीति श्रेडुनाम । सर्वविधातृ प्रद्वहुजन्मा धाता यावदधिकारं
 जनेभि । 'अशः अशुना व्याख्यातः' (निरु० २ । ५) ।

२०

प्रवेदमप्येते मित्रादप्यो सुस्थानत्वेनोपेक्षया । शास्त्रातिगौरवभयात् न
 पृथक् सुस्थानत्वेन समन्नाता । ते स्वादित्यलिङ्गलिङ्गितेषु मन्त्रेषु पृथक्
 पृथगुपेक्ष्यास्तस्तुतीना पृथगपि विद्यमानत्वात् ।

१ क. ख. छ त. द 'सारिष्यो घृतसानिन्य इति'. २ क. ख. २ २५
 [३६], त. द. १. ३ ठ. ड. गिर इति कृ. ५ ग. इति ३ कृ. ५ ख ट.
 ठ. ड 'जभ्यः सर्वलोके'. ६ घ. ट 'समवर्षनाय, उ ह. स्मवर्षनाय. ७ ग.
 ज. कस- अशभ्य, ख दश. ५ अ' वरुणः. ८ द 'अशश्च' इत्यस्यानन्तरं
 'इन्द्रश्चेति । अहो पुत्राशो आदितोः । पृथक्-वरुणं' माने लि. यने, १ ख ठ ड.
 पुस्तकधोर-तर्भाषित . क. ख. ट पृथक् पृथक्, ख पृथक्.

‘सप्तश्रपयो’ (२५) वक्तव्याः-। तै. पुनरमी ‘न्यात्याता’ निर्-
 चनतः । इह स्वभिधेया इत्यय इन्द्रियाणि वा । ‘सप्त सृता संख्या’
 (निरु० ४ । २६) ‘अष्टिदर्शनात्’ (निरु० २ । ११)
 इति । सप्त च ते ऋषयश्च सप्तर्षयः । ‘तेषामेवा’ प्राधान्यस्तुतिः
 ५ ‘भवति’ ॥ ३६ ॥

—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमममादम् ।
 सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सप्तसदौ च
 देवौ (वा० सं० ३४ । ५५) ॥ सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे
 १० इत्यय आदित्ये सप्त रक्षन्ति सदमममादं संवत्सरमप्रमाद्यन्तः
 सप्तापनास्त एव स्वपतो लोकमस्तमितमादित्यं यन्ति तत्र जागृ-
 तौऽस्वप्नजौ सप्तसदौ च देवौ वाय्वादित्यादित्यधिदैवतमथाध्यात्मं
 सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे पर्जन्यादिन्द्रियाणि विद्यासप्तम्यात्मानि
 सप्त रक्षन्ति सदमममादं शरीरमप्रमाद्यन्ति सप्तापनानीमान्येव
 १५ स्वपतो लोकमस्तमितमात्मानं यन्ति तत्र जागृतौऽस्वप्नजौ सप्तस-
 दौ च देवौ प्राज्ञश्चात्मा तैजसश्चेत्यात्मगतिमाचष्टे तेषामेवापरा
 भवति ॥ ३७ ॥

—

सप्त ऋषयः प्रतिहिता इति । द्विरप्यगर्भस्थार्थम् । आधर्षणं आत्म-
 २० सप्त ऋषयः अधि- स्तुतौ विनियोगः । उत्तरा च । शृणाति सर्व-
 देवते सिद्धमिति शरीरमादित्यः । आध्रयणाद्वा । सर्वमिद-
 मस्मिन्नाश्रितमिति । तस्मिन् सप्त ऋषयो इत्ययः
 प्रतिहिताः प्रत्येकं हिताः निहिताः । ते पुनः सप्तैव अन्युनाधिकाः
 सन्तः सार्धैर्दिक्मुदकमुपनयन्तः तेनेर्द्धाः तमादिष्वं सद्ं सदैव अप्रमाद्यन्तः

१ क. ख. २ (३६) ; उ. ड. ‘वनि । इति निरुक्तभाष्ये ६ ध्याये ३६
 रूपः ; ग. च. वर्जितरेष्वङ्गो नास्ति. २ क. ख. छ. त. द. ‘दन्दत्र. ३ क.
 ख. छ. त. द. ‘तो अस्व’. ४ छ. त. द. ‘षलिन्रि’. ५ क. ख. ३ (३५) ;
 त. द. ३. ६ उ. ड. जागृ इति । हि’. ७ ग. इति । हि’. ८ ग. ज.
 २९ ‘नेशात्तमा’.

अनुसर्गेण स्वस्य कर्मणः रक्षन्ति । निग्न्धनः पार्थिवोऽपि ह्यग्निरेन्धन-
क्षयानिर्वापेत् । त एव सप्त सूताः आपनाः सर्वस्य लोकस्य व्यापनाः
स्वपत. अस्तमुपगच्छतः अस्यादित्यस्यैव तं लोकम् आत्मानं गच्छन्ति ।
ब्रह्म मण्डलं प्रविशन्ति । तेष्वनुप्रविष्टेषु तत्र सुतेषु उपरतप्रथं सृष्टिषु
तत्रान्तर्गतौ जागृतः तन्मण्डला-तरपुरुष. तदधिष्ठाता योऽसौ ' हिरण्यस्य
'श्रु' हिरण्यकेशः ' (आन्दो० उ० १ । ६ । ६) इति निष्ठापते वायुश्च
' इत्याधिदैवतम् ' ।

' अथाध्यात्मम् ' । मण्डलवदस्मिच्छरीरे रश्मिप्रदिग्भ्यापि प्रतिहि-
तानि निहितानि तण्डरीसंनिध्यं स्वस्य लोका-
व्यापने च
युक्तकारेण रक्षन्ति अप्रमाद्यन्ति । सप्त आपनानि
व्यापनानि विपयाणां शरीरस्य वा । तान्येव स्वपतोऽस्य जीवस्य सुख-
दुःखभोक्तु. लोक शरीरमेव प्रत्यस्तमितभियु. बुद्धिद्वारेण मोक्षयेव
भावनारूपेण लीयन्ते यद्वाधनोपपादक स्वप्रभोक्तु. स्वप्नो भवति । तत्र
जागृतः शरीरपरिपालनार्थं प्राञ्जल्यमा परमाभा चिन्मात्रेण य शरीर
व्याध्य वर्तते तैजसश्च प्राणोऽन्न पान पचनन्यूहर्षरमान्तर्भूतं तेजोवायु-
वृत्तिः ।

' तेषामेवापरा भवति ' । सा पुनः किमर्थम् । रश्मय एवेति
रुन्दतापि ॥ ३७ ॥

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबन्धनौ यस्मिन्यशौ निहितं विश्वरूपम् । २०
अत्रासत् ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महता बभूवुः (अथ०
सं० १० । ८ । ९) ॥ तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबन्धन उर्ध्वबो-
धनो वा यस्मिन्यशौ निहितं विश्वरूपमत्रासत् ऋषयः सप्त सहा-
दित्यरश्मयो ये अस्य गोपा महता बभूवुस्त्यधिदैवतमथाध्यात्मं
तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबन्धन ऊर्ध्वबोधनो वा यस्मिन्यशौ निहितं २५

१ उ. ' वायुश्च ' इत्यारम्भ ' देवानां भद्रेति यद्विदुः ' पप्रथ्य नोऽप्युच्यते ' क.
ख. घ. ट. ड. ' वनोत्तुल', च ' वना ' लं. ३ क. ल. च. उ. व. ' वृक्ष
रता', ग. न. ' व्युह स्वराता', ह' ग. जे, ' वृत्ति. पु. क. ल. ३ (१७); ड.
सायं । इति निरुक्तभाष्ये ६५२ ये ३७ खण्ड', ग. ३८, च. ३८३ निरुक्तभाष्ये नाम्नि
६ छ. त. ८ विश्वरु'.

सर्वरूपप्रयासत ऋषयः सप्त सहेन्द्रियाणि यान्यस्य गोप्तृणि
महतो बभूवुरित्यात्मगतिमाचष्टे देवा व्याख्यातास्तेपामेषा भवति
॥ ३८ ॥

- ५ तिर्यग्बिन्दुश्चमस इति । तिर्यग्बिन्दु अस्य मण्डलस्य मधुपूर्णस्यैव
ने एव अधिदेवते रश्मिच्छिद्राणि । चमनं चोदकमेव सनोतीति
चमसः । ऊर्ध्वचैतद्द्रव्याभूतसंश्लेषान्न निपस्यत
इति ऊर्ध्वबुध्नः । ऊर्ध्वं वावस्थितः प्रकाशेन बोधयतीति ऊर्ध्वबुध्नः ।
तिर्यग्बिन्दुस्य मण्डले यज्ञः उदकं निहितं नियमेनाधिकं वा हितम् अव-
स्थापितं विश्वरूपम् अनेकप्रकारमनेकरूपम् । कैः पुनस्तन्निहितमिति ।
ये अस्य महतो जगतः आत्मनो वा गोपाः गोतारः एते रश्मयो बभूवुः
भवन्ति । ये च अत्र एतस्मिन् मण्डले साकम् एकीभूतारतदधिष्ठात्रा सह
आसते । तेहि चतसृषु दिक्षूर्ध्वमधोमण्डलं वेति यानि सृप्तानि ज्योतीषि
अस्य । ते रश्मयः सप्त सर्पणा भ्रमणादर्शनादस्य धर्मस्य ऋषय उच्यन्ते
१५ ' इत्यधिदेवतम् ' ॥

- ' अथाध्यात्मम् ' इति । तिर्यग्बिन्दुमिदमेव शिरः चमसः । चम्यन्ते
अध्यात्मे च ह्यनेन रसा इति । ऊर्ध्वबुध्नश्च । उपरि द्वाव-
स्थितमेतद्बुध्नमस्य शरीरस्य । एतद्वियोगे हि
विस्मंश्यते शरीरम् । यस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपं नानाप्रकारमिन्द्रिया-
ननुभूतं रसाग्र्यं ज्ञानाग्र्यं वा । तस्य चमसस्य ये विधातारः तद्द्वारे-
णास्य शरीरस्य महतो गोतारः तत्रैव चमसान्तरमनुपविष्टाः साकं सह
तद्यज्ञ उपजीवन्त आसने ' इत्यात्मगतिमाचष्टे ' ॥

१ क. स ४ (३८), तं. द. ४. २ ग. इति । ति. उ क. स. प. व.
२. तिर्यग्बिन्दुश्च. ४ क. स. प. उ. ड. ' लं चोत्सृप्तानि यानि ज्योतिः ' ; व. वेति
यानि सृप्तानि ज्योतिः चोत्सृप्तानि यानि. ५ ट. ' शात् सर्पणा ' अर्थ, ड. ' सर्पणात्
कारणा ' . ६ ग. इत्यधिकरूपमथा ; व. ज. इत्यधिदेवरूपमथा. ७ ग. ज.
' तं । यस्मिन् ' . च. ते - यस्मिन् शरीरम्. ८ क. स. ग. प. ज. ' त्रिदशस्यैव
भूतं ; व. ' त्रिदशाननुभूतं ' यस्मिन् भूतं ; ट. ' त्रिदशानुभूतं ' याननुभूतं ; ड. इन्द्रिया-

‘ देवाः ’ (२६) वक्तव्याः । ते पुनः ‘ देवो दानहा दीपनाहा
घोतनाहा ’ (निरु० ७ । १५) इत्यत्र निर्ध्वननो ‘ व्याख्याताः ’ ।
इह तु रस्मयो बहुवचनेनोच्यन्त इति विशेषः ।

‘ तेषामेषा ’ प्रोधान्परतुतिः ‘ भवति ’ ॥ ३८ ॥

९

देवानां मद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो निर्वर्त-
ताम् । देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्र तिंरन्तु
जीवसे (ऋ० सं० १ । ८९ । २) ॥ देवानां वयं कल्याण्या
मतावृजुगामिनामृतगामिनामिति वा देवानां दानमभि नो निव-
र्ततां देवानां सख्यमुपसीदेम वयं देवा न आयुः प्रवर्धयन्तु १०
चिरं जीवन्ताय विश्वे देवाः सर्वे देवास्तेषामेषा भवन्ति ॥ ३९ ॥

देवानां गद्रेति । गोतमस्यार्थम् । ‘ देवेभ्यो षण्मात्तमेत ’ (भैशा०

देवः सं० २ । ५ । २) इति विनियोगः । अस्य १५
पशोर्नपायाः पुरोतुवाक्या (भैशा० ४ ।

१४ । २) य एते देवाः रस्मयो नित्यम् ऋज्वेव मण्डलादनावरण-
त्वादन्तरिक्षस्य सर्वतो यन्ति । अयया । ऋजूयताम् ऋतुगामिनाम् ऋतौ
यथाकालम् अस्मान्मण्डलाद्वृच्छता सुमतिः शोभना मतिः प्रसादाभिमुखी
मतिः सा अस्मान् प्रति निवर्तता नियमेन वर्तताम् । तत्पूर्विका च रातिः २०
धनलाभोऽस्मान् प्रति नियमेन वर्तताम् । ततश्च तेन धनलाभेन उपज-
नितसाधर्ष्याः सन्तो वयं तेषामेव देवाना सख्यं समान्ख्यामता योजे

१ ग. ज. 'याः । देवा, च. 'व्या. ' देवो' ते पुनः. २ ग. च. ज. 'हा रोत'.
३ ग. च. ज. 'वेषापेषा'. ४ क. ख. ४ (२८), ड. 'वति । इति निरुक्त-
भाष्ये दृश्याये ३८ स्वपदः, ग. च. 'मिन्वे' हो नास्ति. ५ क. ख. ५ (२९),
ख. द. ५. ६ ग. 'द्रेति । दीर्घतमय आ', च. 'द्रेति । दीर्घतमय आ' गोमस्य, ज.
'द्रेति । दीर्घतमय आ'. ७ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'धृतावृती यः' ; च. 'धृ' ती
य' तावु ८ क. ख. घ. ट. ड. ममा-य', च. ममान्मण्डलात् ९ ग. ज. दश. १०

कर्माणि समानमङ्गभावम् उपलेदिम गच्छेम वयम् । ततश्च तथाभूताना-
मस्माकं ते देवाः प्रतिरन्तु प्रार्थयन्तु आर्यैः जीवसे चिरं जीवनायेले-
तदाशास्महे ।

विश्वे देवा (२७) इति वक्तव्यम् । तं एव रश्मय उग्रहितविश्वविरो-

विश्वे देवाः के पणाः सन्तो विश्वे देवा भवन्ति । 'तेषां' तद-
भिधानविशिष्टानाम् 'एषा' माधान्यस्तुतिः

'भवति' ॥ ३९ ॥

ओमांसधर्मणीधृतो विश्वे देवास आगत । दाश्यांसो दाशुषः

१० सुतम् (ऋ० सं० १ । ३ । ७) ॥ अवितारो षावनीया षा

मनुष्यधृतः सर्वे च देवा इहागच्छत दत्तवन्तो दत्तवतः सुतमिति
तदेतदेकमेवं वैश्वदेवं गायत्रं तृचं दशतपीपु विद्यते यत्तु किंचि-
च्छुद्देवतं तद्वैश्वदेवानां स्थाने युज्यते यदेव विश्वलिङ्गमिति
शाकपूणिरनत्यन्तगतस्त्वेष उद्देशो भवति षभ्रुरेक इति दश

१५ द्विपदा अलिङ्गः (ऋ० सं० ८ । २९) । भूतांशः काश्यप

आग्निमेकलिङ्गमभितर्ष्यं सूक्तमेकलिङ्गं साध्या देवाः
साधनाभेपाभेपा भवति ॥ ४० ॥

ओमांसधर्मणीधृत इति । मनुष्यधृतमा इति । प्रथमे प्रति विनियोगः ।

२ विश्वे देवाः वैश्वदेवधनेन प्राप्तः सन्ने प्रतो गृह्णते (मै० १०
म० १ । ३ । १८) । ते विश्वे देवाः । ये

युग्मं ओमांसः अवितारः रक्षितारः धर्मणीनां मनुष्याणां स्वतोपकरणेन
अवनीया षा तर्ष्यं र्हा. धरविताश्च सिद्धिकर्तारः ते युग्मं दाश्यांसो

दत्तवन्तः । मनसा कृतसंकल्प भुवा इदं भागस्माभिरस्मै देवमिति । ततोऽस्य दाशुषो दत्तवतो हवीषि . पनमानस्यैतं सुदम् अ भिभुतं सोमं पातुम् आगतेत्येतदाशास्महे ।

अधुना वैश्वदेवानाधिकृत्य तद्गतमेवाधिपञ्चे किञ्चिद्विचारयिष्यन्नुषो
वैश्वदेवं गायत्रं तृ- इति । ' तदेतदेकमेव वैश्वदेवं गायत्रं
चम एकमेव तृचम् ' इत्येवमादि । ' तत् ' इति समाहार-
एतादृशां तृचानां स्यात्सुप्तये । ' एतत् ' इति वक्ष्यमाणार्थ-
प्रयोजने बहुदेवतानि संनिधीकरणाय । ' एतं तृचं ' मूले वैश्वदेवं
तृचानि प्रयुज्यन्ते गायत्रं गायत्रेण छन्दसा युक्तं ' दाशतधीषु ' सर्वास्वपि बहुषु शाखासु ' विद्यते ' । नान्यत् । १० .
अरुणेषामिन्द्रश्चरसि प्रयोजनं च गायत्रच्छन्दो-
युक्तैरन्यैरपि बहुभिर्देवदेवैर्मन्त्रैरधिपञ्चे । ' तत्र किं कर्तव्यमिति । यत्
आह । ' यत्तु किञ्चिद्बहुदेवतं ' मन्त्रजातं गायत्रेण छन्दसा युक्तं ' तद्वैश्व-
देवानां स्थाने युज्यते ' । न्याय्यक्षियतो ' यदेव ' विश्वच्छन्दोपेतं मन्त्रजातं

विश्वशब्दोपेतमेव सुक्तं वा तदेव वैश्वदेवानां स्थाने विभिषुयन्ते ११
मन्त्रजातं युज्यत इति न बहुदेवतामात्रेण ' इति शाक्यगणः ' मन्यते ।
शाक्यगणः तत्किमस्याभिप्रायस्काचार्यस्यैतदेवाभिपत्यमुत नेति । यत् आह । ' अनत्यन्तगत्वैव उदेसी भवति ' ।
अनैकान्तिक एव उदेशः । उदेशनं प्रतिज्ञा । यदेव विश्वच्छन्दोपेतं तदेव वैश्वदेवानां स्थाने २०
मनैकान्तिकम् प्रयुज्यत इति । कथमनैकान्तिकमिति । वैश्व-

देवं हि मन्त्रजातं सामान्ये क्रियार्थमुत्पद्यमानमाग्नादस्य क्रियार्थत्वाद्रापवे
छन्दसि तावदेवोत्पद्यतेति विश्वयुक्तमन्त्रजातवशात्कर्तव्यं सर्ववैश्वदेवेषु
तच्छन्दैरपि अलमिति । न च तत्सर्वास्वपि ईशतर्थास्वसि छन्दस्यल-
कर्मोत्पादे । प्रयोजनं च सच्छन्दोयुक्तैरपि विविधैर्मन्त्रैर्भवति । न च ते २५ .
तथाधिधाः सन्तीति बहुदेवताश्च तस्मिन्छन्दसि सति । तत्किमस्तु तस्य

१ ग. ज. मनसा वृत्तवन्तः कृतसंकल्पान्तरा इव । १ क. ख. घ. ट. ठ. ड. विश्वाय देः; च. विश्वे' श्वाय. २ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'दसे विवा'. ४ घ. क्विन्. ५ क. ख. घ. ट. ठ. विभिषु; च. दैषु' पिनि. ६ ग. ज. 'शाक्यगणेषु. ७ ग. ज. तच्छन्दैरेषु अलं; घ. तच्छन्दैरेषु' च. ट. तच्छन्दैरेषु' र्के; ठ. ड. तच्छन्दैरेषु मन्त्रेषु' ८ घ. ट. ट. दाश'; च. दैश' दा. ११

कर्माणि समानमङ्गभावम् उपसेर्दिम गच्छेम वयम् । ततश्च तथाभूताना-
मस्माकं ते देवाः प्रतिरन्तु प्रवर्धयन्तु आर्युः जीवसे चिरं जीवनायेत्ये-
तदाशास्महे ।

विश्वे देवा (२७) इति वक्तव्यम् । तं एव रश्मय उपहितविश्वविशे-

विश्वे देवाः के पणाः सन्तो विश्वे देवा भवन्ति । 'तेषां' तद-
भिधानविशिष्टानाम् 'एषा' प्राधान्यस्तुतिः

'भवति' ॥ ३९ ॥

ओमांसर्षणीघृतो विश्वे देवास आगत । दास्यांसो दाशुषः

१० सुतम् (ऋ० सं० १ । ३ । ७) ॥ अदितारो षावनीया वा

मनुष्यघृतः सर्वे च देवा इहागच्छत दत्तवन्तो दत्तवतः सुतमिति
तदेतदेकमेवं वैश्वदेवं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते यत्तु किञ्चि-
द्बहुदैवतं तद्वैश्वदेवानां स्थाने युज्यते यदेव विश्वलिङ्गमिति
शाकपूणिरनत्यन्तगतस्त्वेष उद्देशो भवति वभ्रुरेक इति दश

१५ द्विपदा अलिङ्गः (ऋ० सं० ८ । २९) । भूतांशः काश्यप
आम्बिनमेकलिङ्गमभितष्टीयं सूक्तमेकलिङ्गं साध्या देवाः
साधनात्तेषामेषा भवति ॥ ४० ॥

ओमांसर्षणीघृत इति । मधुच्छन्दसा दृष्टा । प्रथमे प्रथे विनियोगः ।

१ विश्वे देवाः वैश्वदेवत्वात् प्रातःसन्ने प्रथो गृह्यते (मैत्रा०
सं० १ । ३ । १८) । हे विश्वे देवाः । ये
युषम् ओमामः अदितारः रक्षितरः सर्षणीनां मनुष्याणां स्वेनोपकृतेण
अवनीया वा सर्षणार्हाः पारयितारश्च रिदतिकर्तारः ते युषं दास्यांति

१ क. १५. य. ट. ट. द. उपगच्छेम, य. दिम-गं उर. २ क. १५. य. ट. ट.
१५ द. 'समाकमापुः ते'. ३ क. १५. य. ट. ट. द. 'आपुः' नास्ति. ४ क. १५.
य. ट. ट. द. 'देवा वक्तव्याः' य. 'देवा इति वक्तव्यं' व्याः. ५ ग. म. 'ते'
नास्ति, य. - १५ त. - ५ ग. म. - (३९); ट. ट. 'वति' इति निगमभाष्ये
६ ध्याये ३९ तदर्थः, ग. य. वरुणितोऽप्यदो मन्वि. ७ छ. त. ट. 'कसिप.
८ छ. त. द. भवति भूतांशः'. ९ छ. त. द. 'लिङ्गं बभ्रुरेक इति दश द्विपदा
अलिङ्गः कस्य'. १० क. म. ८ (५०), ग. द. ६. ११ ग. इति । 'म'.

दत्तवन्तः । ननु सा कृतसंकल्पा भुवा इदं नामास्माभिरस्मै देयमिति । ततोऽस्य दाशुषो दक्षयतो हवीषि यजमानस्यैतं सुःम् श्भयुतं सोमं पातुम् आगतेत्येतदाशास्महे ।

अपुना विद्वेदेवानधिकृत्य तद्गतभेदाधियज्ञे किञ्चिद्विचारयिष्मन्नुपो
वैश्वदेवं गायत्रं तृ-
चम् एकमेव
एतादृशां तृचानां
प्रयोजने बहुदेवतानि
तृचानि प्रयुज्यन्ते

सुक्तरूपैरपि बहुभिर्वैश्वदेवैर्भक्षैरधियज्ञे । तत्र किं कर्तव्यमिति । यत्
आह । ' यत्तु किञ्चिद्बहुदेवतं ' मन्त्रजातं गायत्रेण छन्दसा युक्तं ' तद्वैश्व-
देवानां स्थाने युज्यते ' । न्याय्यमित्यतो ' यदेव ' विश्वशब्दोपेतं मन्त्रजातं

विश्वशब्दोपेतमेव
मन्त्रजातं युज्यत इति
शाकपूणिः

शाकपूणोरेतन्मत-
मनैकान्तिकम्
यदेव विश्वलिङ्गोपेतं तदेव वैश्वदेवानां स्थाने
युज्यत इति । कथमनैकान्तिकमिति । वैश्व-

देवं हि मन्त्रजातं सिमांसाये क्रियार्थमुत्पद्यमानमाग्नादस्य क्रियार्थवाङ्गायत्रे
छन्दसि तावदेवोत्पत्तुमर्हति विश्वयुक्तमन्त्रजातवयाङ्कर्मसु सर्ववैश्वदेवेषु
तच्छन्दैकेषु अलमिति । न च तत्सर्वास्वपि दृशतयोष्वस्ति छन्दस्पल-
कमोत्पादि । प्रयोजनं च तच्छन्दोयुक्तैरपि विविधैर्मन्त्रैर्भवति । न च ते
तथाविधाः सन्तीति बहुदेवताश्च तस्मिंश्छन्दसि सन्ति । तत्किमस्तु तस्य

१ ग. ज. ननु सा दत्तवन्तः कृतसंकल्पा भुवा इदं. २ क. ख. घ. ट. ठ. ड. विष्वात् दे°; च. विष्वे° स्वात्. ३ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'दक्षे विचा'. ४ य. कमिब. ५ क. ख. घ. ट. ठ. विविषु°; च. प्रियु° विनि. ६ ग. ज. 'जातमाग्नाये. ७ ग. ज. तच्छन्दस्येव अल°; घ. तच्छन्दस्येव अल°; च. त. तच्छन्दस्येव अल° स्ते; ठ. ड. तच्छन्दस्येव अल° ८ घ. ट. दाश°; च. दैरा° दा. २२

बहुदेवतं गायत्रं
मन्त्रजातं त्रिनियोक्त-
भ्यमिति यास्कः

कर्मणः प्रहाणमुत वा तत्स्थाने बहुदेवतानि
सूक्तान्योप्यन्तामिति । युक्तं यद्बहुदेवतानि ओष्ये-
रन्निति यास्काचार्यः पश्ननाह ' यत्तु निचिद्बहु-
देवतं तद्वैश्वदेवानां स्थाने युज्यते ' । सयमनुप-

५ तिर्गाध्याये छन्दसि वैश्वदेवानां मन्त्राणां यावदलंकाराणां गमयति बहुविश्व-
शब्दयोरितरेतरार्थाभिधेयमस्यास्या बहुदेवतान्यपि वैश्वदेवानां स्थाने
युज्यन्त एवेति । अपि चैवमनत्यन्तगत इत्युद्देशः । येन ' भूताशः

अश्विशब्दयुक्तया
एकयापि ऋचा सर्वं सू-
क्तमाश्विनम् इति भूताशः

काश्यप आश्विनमेकलिङ्गम् ' । भूताशो नाम
ऋषिः काश्यपः । स एकेनाश्विलिङ्गेन युक्तमने-
कं सूक्तं (ऋ० सं० १०। १०६) ददर्श ।
तत्र यास्वप्याश्वलिङ्गमृक्षु नास्ति तासामप्याश्वि-

१०

नीत्यं तेनैवैकेनाश्विलिङ्गेन । यथैकेनपि छत्रिणा मध्यगतेन छत्रिणो
भवत्येवमेकेन विश्वलिङ्गत्वेन यावन्ति सूक्तानि कर्मणि संयुज्यन्ते बहु-
देवतान्यश्विश्वलिङ्गान्यपि तानि तदर्थसाधकानीति ।

१५

' ऋध्याम् ' (ऋ० सं० १० । १०६ । ११) अश्विलिङ्गं येन

पर्फरीसूक्ते ' ऋध्या-
म ' इत्येव ऋक् अ-
श्विलिङ्गा

पर्फरीसूक्तं सर्वमाश्विनम् । ' ऋध्याम् स्तोमं सनु-
यामै वाजमा नो मन्त्रं सरयेहोष यातम् ।
यशो न पकं मधु गोष्वन्तरा भूताशो अश्विनोः

२०

कानमप्राः ' (ऋ० सं० १० । १०६ । ११) ॥

हे अश्विनौ सरथौ समानरंहणौ समानगती युजामायातम् ।

१ क. ख. घ. ट. ठ. ड उच्यते । युक्तं ; च. ' युक्तं' उच्यते.
२ ख. 'ने' ते. ३ ग. 'यामोति । हे; घ. च. ज. ठ. 'यामोति । ठ. ४ क.

२५

ख. घ. ट. ठ. ड. सत्यानि-यरय सर्वस्थमन्त्रविवरणस्थाने वयमित्यादि वर्तते । तत्स-
र्वं सायणभाष्यमेव; ट. पुस्तके ' सरथौ ' इत्यादि प्रान्ते लिख्यते. कथं स्तोमं
त्रितृ-पञ्चदशदिकम् ऋध्याम् ऋध्यास्म वर्षयेम । किंच । वाजं इविर्लक्षणमन्न
युवाभ्या सनुयाम प्रयच्छेम । तस्माद्युवा सत्या सरथौ समानरथौ एधमेव रथमारूढौ
सन्तौ इह अस्मि-कर्मणि नः अस्मदीयं मन्त्र मननीयं स्तोत्रम् उपयातम् उपागच्छ-
तद् । गोष्वन्तः गोरूपशयवस्थियं पञ्च परियं तदेव मधुं यशो न । यश इत्यन्नराम ।
नधार्थे । क्षीरान्यादिलक्षणं महानीरवात्रे अवनीयमानम् अन्न चापेक्ष्य आगच्छन्-
मिति संबन्धः । एवमुक्तप्रकारेण भूताश एतन्नामा ऋषिः अश्विनोः वाममभिलाप-
मात्मीयामिः स्तुतिभिः अप्राः आपूरत् । रूपूर्णमहार्षीदित्यर्थः । ' मा प्राणे
२३ आदादिकः ' । अन्वयेन नन्दनः ।

ईम... वतः श्रुतवतोर्भवतोः स्तोममृष्याम ऋद्धिं प्राप्नुमो वयम् । कथमिति ।
राजुषाम वाजस्र अन्नं भैक्षेमहे । किंच । यतो न पक्वं मधु क्षीरं घृतं च
द्वैद्रव्यतः मय्यऽस्ति देन भूतांशः अश्विनोर्मतोः काममप्राः अपूरयते
इत्यत आयातमिति ।

‘ अभितर्षीयं सुक्तं चन्द्रम् । तदपि ‘ एकलङ्घम् ’ इति । यथा ।

५

अस्मिन्सूक्ते एक-
स्वामेव ऋच इन्द्र-
लङ्घम्

‘ शुनं हुवेमं मघानमिन्द्रमस्मिन्भरे वृत्तं वाज-
सातो । शृण्वन्तमुग्रमृतये समसु प्रन्तं वृत्राणि
संचितं धनानाम् ’ (ऋ० सं० ३ । ३८ ।

१०) ॥ विजयाय समसु संप्राप्तियु नियं प्रन्तं वृत्राणि वारकाणि शत्रुजा-
तानि संजितं समस्तानां वीर्यां जेतारमं ऊनये रक्षणाय अस्मिन् भरे
संप्राप्ते वाजसातो यस्मिन्सुव्रुन् जित्वानानि संभजन्ते तस्मिन् हुवेन
चर्मम ह्वयामहे तस्मिन्नेवमादिगुगयुक्तमात्मनो विजयायेति ।

१०

‘ साध्याः (२८) देवाः सधनत् । ते हि सर्वमिदं साधयन्ति ।

साध्याः के
परमाञ्च

यदन्येन सर्वकर्मभिरतापितं त-सधयन्तीति
साध्या उच्यन्ते । ते च पुनः प्राणाः विश्वसृज
ऋषयो ये सहस्रसंहरसरेण सत्रेणेदं विश्वमसृजन्त
त एतेऽविदेन रश्मयः । विज्ञायते हि । ‘ प्राणा वै सत ऋषयः साध्या
विश्वसृज ’ इति । ‘ तेषामेषा ’ प्रधान्यस्तुतिः ‘ भवति ’ ॥ ४० ॥

१५

१ ट. इहास्ति-ऋषयि उवाचउते [इदं स.यणभाष्यस्यम्] किंच सुव्योः २०
स्तोमं त्रिगुणिकं ऋष्याम° २ ट. भक्षिम.हे. ३ ग. ज. यद्दोदत्तन्मध्वस्ति°.
४ ग. ज. 'वेमेति । वि ; घ. ट. वेम° ५ ग. ज. घ. ट. ठ. ड. 'जा-
न्यानि; च. 'जातगानि' ता. ६ क. ख. घ. ७. ठ. ड. 'जा घनानां च जे°; च.
'जा - जे° घनानां च. ७ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'तारं शुनं शनं उस्ताहेन
प्रवृद्धं नूनमं जातः अनिशेणेन नेतारं ऊन°; च. 'तारं उत° शुनं शनान्तिवादि°.
८ ठ. ड. वयं कुशिका अष्ट° ['कुशिकाः' ट. पुस्तके प्राते] ९ ग.
सःसं, च. सहस्रं स. १० क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'सरसत्रे°; च. 'सरं स° १.
११ क. ख. ६ (४०), ठ. ड. 'गते । इति निरुक्तभाष्ये ६ प्याये ४०
रुपः; ग. च वर्गमितरेषाडो नास्ति.

१६

- यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । ते ह नार्कं महिमानं सचन्त यत्र पूर्वं साध्याः सन्ति देवाः (ऋ० सं० १।१६४।५० ॥ १०।९०।१६) ॥ यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा अग्निनाग्निमयजन्त देवा अग्निः पशुरासीत्तमालभन्त तेनायजन्तेति च ब्राह्मणं तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । ते ह नार्कं महिमानः सर्वसेवन्त यत्र पूर्वं साध्याः सन्ति देवाः साधनाद् द्युस्थानो देवगण इति वैरुक्ताः पूर्वं देवयुगमित्याख्यानं वसवो यद्विवसते सर्वमग्निर्वसुभिर्वासव इति समाख्या तस्मात्पृथिव्यास्थाना इन्द्रो वसुभिर्वासव इति समाख्या तस्मान्मध्यस्थाना वसव आदित्यरश्मयो विनासनात्तस्माद् द्युस्थानास्तेषामेषा भवति ॥ ४१ ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्तेति । दीर्घतमस आर्यम् । अग्निवाग्निमयजन्त देवाः ।
साध्याः उक्तं च ' तमुनिन्यधुः सर्वगणं सर्वनामानम् '
(निरु० ६।३६) इति । तम् अग्निं स्थावरजं-

- १९ गमभावेनेति । ' तवशराया वयं वसत्या ' इत्येतत् (निरु० १०।२१) । तस्माद्दर्शनवतः प्रथेवतुः सर्वमिदमाग्निरित्यभिप्रेत्य ब्रवीति । अग्निना स्थावरजंगमभावमापन्नेन हविर्भूतेन अग्निम् एव सर्वदेवताभुनक्तित्यादिप्रनाडिकया महान्तमात्मानम् अयजन्त देवाः देवभाविनः पूर्वं ज्ञानकर्मसमुद्ययकारिणो यजमानभावमापन्नाः साध्याः दिश्वसृजः ऋषयः प्रजाः ।
२० तानि धर्माणि तानि कर्माणि तथाविधज्ञानयुक्तानि प्रथमानि मुल्यानि महदात्मभावावचये आसन् । तैरप्येकियन्तेत्यर्थः । ते च तानि कृत्वा नियमेनैवानन्यभाविनात्कृत्वा महीमानः तदात्पुण्येण जातमहदात्मभावाः सन्तः तमेव नाक महान्तमात्मनमेकान्तमुखम् असचन्त । तद्वाचमेव ते

१ ए त. द. री० ५२. २ क. ख. ७ (११), त. द. ७. ३ ट. ड. दत्त-
मिति । दी० १. ४ ग. 'नेति । दी० ५ ग. 'नेति । आहृतिभ्रवोस्थापगन्ते-
नेतिपत्र । तस्माद्दर्शनम् । तं ; घ. 'नेति । ओह्येनैरुक्ता (वे) ह्येवैरुक्ता...
द्वेरे तस्मैर्हीनो । तं. ६ क. ११. ७ ट. ड. द. द. १० । ७ क. ११. ८ ट. ड.
'रपि कि; च. 'रप्येकि' ति. ८ क. ख. घ. ट. ड. ड. 'यन्ते इत्य'; ग.
६१ 'यन्तेत्य'; च. 'यन्तेत्य' इ.

अपेदिरे । किं त एवेति । नेयुच्यते । यत्र पूर्वं साध्या सति दना ।
 साध्यार्थोपदेशानित्यत्वाद्यत्र पूर्वं च पूर्वतरे च ज्ञानकर्मसमुच्चयकरण
 आसते । स वैजकु रित्यर्थ । विज्ञायते हि ' विश्वकृज प्रथम सत्रमासत '
 इति (तै० ब्र० ३ । १२ । ९) इति ।

शिशो ह्यव्याम युस्थानभक्ति । अत सप्त ऋषयो देवा विश्वेदेवा
 साध्या इति सर्व एने प्राणा रदायो वेयुपपद्यते । ब्राह्मणमपि चेतमर्ष-
 मेनानुविद्धानि ' अग्नि पशुरासीत् ' इथेयमादि ।

' वसन ' (२९) इति षत्तव्यम् । ते पुनरर्मा त्रिस्थाना । ते
 यस्मा सर्वमिद विमानेनावर्षितमाच्छादयन्ति । क मिति । वासवोऽग्निशिनि
 यस्य के वस्माच्च समाख्या । तस्मात्पृथिवीस्थ ना । इन्द्रो वसुभि- १०
 र्वासव इति समाख्या । तस्य न्यपस्थाना । यमय
 आदित्यरदनयो विनासनात् । तस्मात् वसवः । ' तेषामेवा ' प्राधान्य-
 श्रुति ' भवति ' ॥ ४१ ॥

सुगा वो देवाः सुपथा अकर्म य आजग्मु सवनमिदं जुषाणाः । १५
 क्षिवासं पविवासंश्च विश्वेऽस्मे धत्त वसवो वसूनि ॥ स्वागम-
 नानि वो देवाः सुपथान्यकर्म य आगच्छत सवनानीमानि जुषाणाः
 खादितयन्तः पीतयन्तश्च सर्वेऽस्मासु धत्त वसवो वसूनि तेषामे-
 पापरा भवति ॥ ४२ ॥

सुगा वो देवा इति । परमैर्धेन आर्षम् । समिष्टयजु पु विनिर्गोः (मैत्रा०
 स० ४ । ८ । ४ । मान० श्रौ० २ । ७ ।
 ४ । १६) । ई देवा र्षय ये आजग्मु नित्य-
 माग एव इद सवनम् इमं यज्ञम् अस्मार्मि सह जुषाणा प्रियमण ।
 तेषा य अनुगच्छता स्वागमनानि शाभनानि अगमनानि पुन पुनरस्म, २९
 यज्ञेषु एतमेव सुपथानि सुनार्मणि सन्तु । किंच । एतस्मि भवे अर्के-

१ क रा० तन्नि जज्ञुः, गं मन्नि जग्मुः २ क स ७ (४०) ठ.
 ह० वनि । इति निरुक्तम् ३ क एवाये ४२ कण्ड, ग य वरुमिनेरेष्वडो
 मान्नि ३ ह० य घ ट ह० शिवा तद्वमकर्म ४ क स ८ (४५), त
 ६ ८ ७ ग इति । ५ ६ क ल ए ट न, ल य योऽय, य पूर्वैः ६ ६

यांसः स्वादितयन्तो हवीषिणीतेवन्तस्य सोमन्तृसाः सन्तः अग्मसु धत्त निधत्त
हे वसवो वसुनांतेतदाशास्मेहे ।

समिष्टयजुःषु तृतीयसवने त्रिनिधोगादत्र तुग्थानाः वसवः ।

त्रिस्थाना इत्युक्तम् । यत इत्यर्थोरापि स्थानयोः प्रदर्शयति । 'तेषा-

मेषा' अपरा 'भवति' ॥ ४२ ॥

ज्मया अत्र वसवो रन्त देवा उरावन्तरिक्षे मर्जयन्त शुभ्राः ।
अर्वात्रपथ ऊरुञ्जयः कृणुध्वं श्रोतां द्रुतस्यं जग्मुषो नो अस्य
(ऋ० सं० ७ । ३९ । ३) ॥ ज्मया अत्र वसवोऽरमन्त देवा
१० ज्मा पृथिवी तस्या भवा उरो चान्तरिक्षे मर्जयन्त गमयन्त रम-
यन्त शुभ्राः शोभमाना अर्वात्र पनान्पथो बहुजवाः कुरुध्वं
शृणुत द्रुतस्य जग्मुषो नोऽस्याग्नेर्वाजिनो व्याख्यातास्तेषामेषा
भवति ॥ ४३ ॥

११ ज्मया अत्र वसवः इति । वसिष्ठस्यार्पम् । उरा पृथिवी । तस्यां नित्यं
भवन्ति ते ज्मयाः । रन्त रमन्त । अत्र एत-
ते एव त्रिस्थानाः रिमन् कर्माणि अस्मिन्वा लोके देवाः वसवः ।
ये च उरो निरृते अन्तरिक्षे विश्वार्णे मर्जयन्त । मार्ष्टिर्गत्वर्थः । गमयन्त
यद्यत्तेषां गमयितव्यम् । अधवा । वर्तमानाः । शुभ्राः शोभमानाः । एव-
२० मनयोः स्थानयोर्वसुन् विभग्वाधुना शूरधानास्तान् पृथ्वा प्रथीति । ये यूप-
मेवं त्रिस्थानास्तान्यो प्रथीमि । नित्यम् अस्य अग्नेः निः अस्मदृतस्य
जग्मुषः गैतवतः शृणुत यदयं प्रथीति । पृथ्वा चास्मान् अर्वाक् आभि-

१ क. स. ठ. ड. पविशन्ध पी१; ट. - पी१ पविशन्ध २ क. स. ८
(४९); ट. ड. वति । इति निष्कभागे ६ ष्यादि ४२ सृष्टः; म. च. वर्ज-
विशेषदो कलि. ३ ए. 'यन्त - सु' रमयन्त. ४ क. स. ए. त द. नो
अस्या. ५ क. स. ९ (४९); त द. ०. ६ ग. इति. ७. ७ क. ए. प.
ट. ठ. ड. तत्त्वा ये नि; ७. तस्या - नि' ये. ८ क. स. च नो आस; ९.
न नोऽग्नेः अस्मन्. ९ क. स. प. ट. ठ. ड. 'यो पुगान्धति म'; १०. यो - १०
पुगान्धति. १० क. स. 'वर्जयति'; ११. 'वर्जयति' ११.

मुलेन उरज्जः बहुजभाः बहुपकारगतयो नित्यमग्रेरहतान् पथैः कुरु-
ष्वमित्येतदाशामहे ।

‘ वाजिनो (३०) व्याख्याताः ’ ‘ अपि स वाजी वेजनवान् ’
(निरु० २ । २८) इत्यत्र । केवलमत्र बहुचनकृतो विशेषः । रस-
मध्याभिधेयाः । पृथक्चे देवाश्वाः । ‘ तेषामेषा भवति ’ प्राधान्य-
स्तुतिः ॥ ४३ ॥

शं नो भवन्तु वाजिनो ह्येषु देवताता भितद्रवः स्वर्काः । जम्भ-
यन्तोऽहिं वृकं रक्षांसि सनेम्यस्मद्युंयवन्नभीवाः (ऋ० सं० ७ ।
३८ । ७) ॥ सुखा नो भवन्तु वाजिनो ह्यनेषु देवताता यज्ञे १०
मितद्रवः सुमितद्रवः स्वर्काः स्वधना इति वा स्वर्चना इति वा
स्वर्चिष इति वा जम्भयन्तोऽहिं च वृकं च रक्षांसि च क्षिममस्म-
द्यावयन्वमीवा देवाश्वा इति वा देवपत्न्यो देवानां पत्न्यस्तासा-
मेषा भवति ॥ ४४ ॥

शं नो भवन्तु वाजिन इति । वसिष्ठस्यैवैवार्थम् । वाजिनयोगे विनि-
वाजिनः योगः (आश्व० श्रौ० २ । १६) । एत-
रिभन् देवताता यज्ञे ह्येषु आह्वानेषु शम्
क्षमाकं सुखाः सन्तु वाजिनः । किलक्षणः । मितद्रवः सुस्त्रिष्टं
शोभनं ये द्रवन्ति । स्वर्काः ये स्वधनाः । शोभनम् अद्वन्ति गच्छन्ति । १०
शोभनं वा अर्चनं येषां स्तुतिः । स्वर्चिषो वा । येषां शोभना अर्चिषः सुदी-
प्तयः । ते आगच्छन्तु आह्वानेष्वसाम् । जम्भयन्तः । किन्ति ।

१ क. स. प. ट. ड. 'कारं शनमहसमागमनेनैव मार्गान् ग्रहताम् कुठ' ;
च. 'करं गतयो तिमिग्रेरहतान्द्रु' हे वरुवः शनमहसमागमनेनैव मार्गान् प्र'.
२ ग. ज. 'पयः' नाति, च. 'देष'. ३ क. स. ९ (४७), ठ. ड. 'स्तुतिः ।
इति निरुक्तमध्ये ६ प्याये ४१ लण्डः, ग. च. वसिष्ठस्यैवैवार्थम् नाति. ४ उ.
त. द. 'वयन्मी'. ५ क. स. १० (४४), त. व. १०. ६ ग. इति ।
७. ७ क. स. प. ट. ठ. ड. 'हस्यार्थम् < क. स. प. ट. उ. क. 'किं
दी', च. 'दिवः सुदी'.

अहिं च वृकं च । यश्चास्मानाहन्ति यथ वृकस्तस्करो मुष्णति । रक्षसि
 च । श्रेऽस्मान् रहसि क्षिप्यन्ति । ताश्च अस्मत्तो जम्भयन्तः हिंसन्तः सनेमि
 क्षिप्रम् । सामर्थ्यादिह सनेमीति क्षिप्रनाम । युयन् । सामर्थ्यात्
 ' अप ' इत्यध्याह्वयं अपवाययन्तु । अपमिश्रयन्तित्यर्थः । इष्टं हि रक्षसां
 नाशनं न मिश्रणमिति ।

‘ देवय य ’ (३१) षक्तव्याः । ताः पुनः ‘ देवानां पत्न्यः ’
 पालयिष्यः पालनीया वा । पत्नीसयाजेश्वरैर्तो ह्ययन्त इ यतस्त्वृत्नीयसयन-
 भक्ति वादादित्यं भजन्ते । तदुक्तम् । ‘ अथैतान्यादित्यभक्तीभ्यसौ लोक-
 स्तृतीयसयनम् ’ [निरु० ७ । ११] इति ॥ ४४ ॥

१०

देवानां पत्नीरुदातीरिवन्तु नः प्रागन्तु नस्तुजये वाजसातये ।
 याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म
 यच्छत (ऋ० सं० ५ । ४३ । ७) ॥ देवानां पत्न्य उग्रयोऽ-
 षन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजयेऽपत्यजननाय चान्नसंसननाय च
 २५ याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते कर्मणि ता नो देव्यः सुहवाः
 शर्म यच्छन्तु शरणं तासामेषापरा भवति ॥ ४५ ॥

देवानां पत्नीरिति । प्रतिशत्रुस्यैवमर्षम् । आग्निम रणे (अथ०
 १० दमपत्न्यः श्रौ० ५ । २०) पत्नीसंवाजेषु (आश्व०
 श्रौ० १ । १०) च विनिर्वाण । वा एता
 देवपत्न्यो नियमस्मत्तो हविश्चरन्ति कामयन्ते ता अस्मत्तो हविरुपभुञ्ज्य
 सतोऽस्मान् अयन्तु प्रतिवर्षवन्तु धनेन । किंच । प्रावन्तु नस्तुजये । प्रश-

१ ए. 'दृष्टिर्वै' ये ० ग ज 'दृष्टिर्वै' तिग'. च दृष्टिर्वै तदर्थे

येषां भवन्तु रक्षन्तु अपत्यजननाय याज्यसातथे ये भन्नसेभजनाय च ।
कतमास्ताः । याः पार्थिव्यासः पुथिष्वा भवाः या अपामपि त्रणे कर्मणि वर्षो
रुग्ं व्यावृताः सर्वाः सुहवाः स्नाह्वानाः अस्माकं यज्यन्तु ददन्तु शरणां
गृहं मुखं त्राणं धेलेतदाशास्महे ।

‘ तासामेषपरा भवति ’ । सा पुनः क्रिमर्थम् । सामान्यतः पूर्व- ५
स्थ.मुक्ताः । विशेषतः परस्यामुच्यन्ते । पूर्वैव समान.पैत्रिनियोगा ॥ ४५ ॥

उत मा व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य १ प्राच्यभिवनी राट् । आ
रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम् (ऋ०
सं० ५ । ४२ । ८) ॥ अपि च मा व्यन्तु देवपत्न्य इन्द्राणी- १०
न्द्रस्य पत्न्यग्नाद्यग्नेः पत्न्यभिन्यभिनोः पत्नी राहाजते रोदसी
रुद्रस्य पत्नी वरुणानी च वरुणस्य पत्नी व्यन्तु देव्यः कामपुनर्ता
य ऋतुः कालो जायानां य ऋतुः कालो जायानाम् ॥ ४६ ॥

उत मा व्यन्तु देवपत्नीरिति । पुरुषैः पतिमन्त्रादिभिः अपि माः स्त्रियो १५
व्यन्तु पितृन्तु एतद्राज्यम् । कतमाः । इन्द्राण्य-
ता एव
म.द्वभिवनी राट् । अशृणोतु च रोदसी ।
आभिमुख्येन च स्थित्या शृणोतु रोदसी रुद्रस्य पत्नी । अथर्वणे रोदसी-
व्यपगृह्य पदम् । तदपेक्षैकवचनेन भाष्यकारी निराह ‘ रोदसी रुद्रस्य
पत्नी वरुणानी च वरुणस्य पत्नी ’ । सर्वा अप्येता व्यन्तु पितृन्तु १०.

१ क. र. घ. ट. ड. आससंजननायाससंभ°; घ. च न - तं° संजननायास.
२ क. ल. १२ (४५); ट. र. °योगा । इति निरुक्तमध्ये ६ ध्याये ४५
(४६); ग. अ. पञ्चित्तरेष्वद्भो नारित. ३ क. ल. १२ (४५) म. द. १२;
ड. ४६ । देवपत्न्यो देवपत्न्य इत्येकत्रिंशत्पदापर्यायात् (पान्तः) ड. ४६ । इति
नेहकोत्तरद्वये षष्ठेऽप्याया । देवपत्न्यो देवपत्न्य इत्येकत्रिंशत्पदापर्याया क्वासाः
४ ग. °रिति । पु. ५ क. ल. घ. ट. ड. ड. °री वरुणानी च आ°; घ. °ही°
आ° वरुणानी च. ६ क. ल. घ. ट. ड. जाय°; ग. अथ° जा ७ क. ल. घ.
ट. पत्नीपि; अ. पत्नी° त्वादि; ट. °पत्नी । सर्वा अप्येता°.

एतदाव्ययम् । य ऋतुर्जनीनां यो भोजनकालो जायानां तस्मिन् काले
दधिमानम् । कश्चात् । भुक्तवसु पुरुषेष्विति ॥ ४६ ॥

सप्तदशध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

जम्बूगार्गाश्रमनिवासिनो भगवद्दुर्गाचार्यस्य कृतौ ऋग्मन्त्राणां
निरुक्तटीकौ

सप्तदशोऽध्यायः समाप्तः ।

(* अथातोऽग्न्यानावसांति + पुस्मेहेहे जातामार्तयुजाप्रातर्यजध्वमुप-
स्तौचित्रमेतां उत्याः सुकिंशुकंष्टपोकपाख्यपांगूहंस्त्वष्टीं दुहित्रे विता-
१० विध्वंरूपाणिप्रोतजितमुदुर्याचित्रंशक्रतेपथेस्पथदंविष्णुविध्वानरो-
व्याख्यातोविध्वानरस्ययेनापावकेतिचतुर्कंकेश्य १ मित्रयैःकशिनः
पुनरहियस्मिन्वृक्षेपावीरवीयदिन्द्राग्नीपवित्रवन्तउतनोहिर्यामथर्व-
थातोऽग्न्यानादेवगणाइमागिरःसप्तर्षेःपयस्तिर्यग्विलोदेवोनामद्रौ-
मांसोयज्ञेन * सुर्गोवोदेवाज्मथोअन्नसंनोभवन्तुदेवोनांपत्नीरुतप्रा-
१५ र्थ्यन्तु पदचत्वारिंशत् ॥)

इति निरुक्ते उत्तरपदके षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥

* छ. त. द. इयं सप्तदशश्रुता नास्ति. + तिष्ठसुचरथो रमेहे. × ठ. द.
वक्षेन यज्ञं मुगां.

१० १ क. ख. १२ (४६); ग. च. वर्जमिनरेषुद्रो नास्ति. २ ग. ठ. द.
इति सप्त; ज. सप्तदशस्याध्यायः. ३ क. ख. घ. ट. तृतीयः. ४ च. पादः
समाप्तः; ठ. द. पादः समाप्तः । इति ४६ सप्तदशः. ५ क. ख. घ. ट. 'अग-
प्राति'. ६ द. 'वृती निष्पटपश्चात्पयिन सह स'. ७ द. 'माप्तः । समाप्ता
नेवष्टुष्टपय्याख्या. छ. घ. निरुक्ते. ९ छ. द्वादशोऽध्यायः, त. द. द्वादश-
१५ मोऽध्यायः. १- य. घ. 'समाप्तः' नास्ति.

अथ परिशिष्टम् ।

अथ त्रयोदशाध्यायस्य
प्रथमः पादः ।

३ अथेमा अतिस्तुतय इत्याचक्षतेऽपि चा संप्रत्यय एव
स्यान्माहाभाग्याद्देवतायाः सोऽग्निमेव प्रथममाह त्वमग्ने द्युभिस्त्व-
माशुशुक्ष्णिरिति यथैतस्मिन्सूक्ते न हि स्वदारे निमिषश्चनेश्च
इति वरुणस्याथैवेन्द्रस्य ॥ १ ॥

‘ अथेमा अतिस्तुतय इत्याचक्षते ’ इत्येधमादि वक्तुं श्रुतशेषम- १०
नुवर्षते । किं चान् प्रकृतम् । स्तुतिवक्ष्या
इमा वक्ष्यमाणाः देवतेति । ‘ यत्काम ऋषिर्वर्षा देवताय मर्षपत्य-
भतिस्तुतयः मिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते ’ (निरु० ७ । १)
इत्यत्र ताः स्तुतयः कर्माधिकारनिर्दिताः । स्वकर्माधिकारानिक्रमेण स्वगु-
णातिशयेन च यास्त्य उपप्रदश्योः । तत्र विशेषतः पुनरधिकारवच- १५
नम् ‘ अथ ’ इति । ‘ इमाः ’ या वक्ष्यमणास्ताः । ‘ अतिस्तुतय इत्या-
चक्षते ’ । अन्येऽप्याचार्या एवमेवैता आचक्षन्ते कथयन्ति शिष्येभ्योऽतिस्तु-
त्य एता इति । प्रसिद्धा ह्येवमेतासु संज्ञेभ्यभिप्रायः । अथवा । नैवेतद-
तिस्त्वनम् । किं तर्हि । ‘ संप्रत्यय एवः स्यात् ’ ।
अथवा नैवेतदति- देवतासमानमेव । किं कारणम् । न ह्यतिशयो १०
स्त्वनम् । किंतु देव-
तानां माहाभाग्यमेव नाम देवतायाः स्तुतिरास्ति । कस्मात् । ‘ माहाग-
म्यदेवतायाः ’ । न विभूतेरिवत्तास्ति यामतिरेक्य
स्तुतेत । तदुक्तम् ‘ नैवेतदतिः ’ इति (निरु० ६ । २३) । तथा च
‘ नार्धगिन्द्रं प्रतिमानानि देभुः ’ (निरु० ५ । १२) इति ।

१ ड. ड. हरिः ओदः; प. हरिः अम्; उ. हरिः उं, ए. उं; ड.
‘ अं ’ वास्ति. २ प. ट. भी । अये; प. उं अये. ३ प. ‘ सुगर्भते; प.
‘ अये ’ तं; ट. ‘ सुगर्भते ’ तं; ड. ड. ‘ अये. ४ ड. ड. ‘ विष्णुं त्तु. ५ प.
ड. ड. ‘ निपता; ट. निपता; ट. ड. ए. ए. ए. स्तुतिर. ७ ड. ट. सर्वा
कादीपते नुभेवृ लम्पदभाप्येन निषर्गं क्तिपते.

नैरुक्तसमयानुवृत्तयेऽनिरुतयः प्रदर्शन्ते । 'सः' इति स्तोता
असावाचार्यः 'अग्निमेव' अधिकृत्य 'प्रथममाह' । किं कारणम् ।
येनैव हि क्रमेण स्तुतय उपप्रदर्शितास्तेनैवात्र क्रमेणातिस्तुतयो न्यव्याः
प्रदर्शयितुम् । न ह्यति करगे मुख्यातिक्रमो न्याय्य इति । क । यथा

५ अग्नेः अतिस्तुतिः 'त्वभ्यं शुभित्स्वमांशुशुश्रुणः' इति । (ऋ०
- सं० २ । १ । १ ॥ निरु० ६ । १) ।
यथैतस्मिन् सूक्ते स्वकर्माधिकारव्यतिरेकेणातिशयेन वा स्तुतिः ।

मध्यस्थाने 'नहि त्वदारै निमिषश्च नेश इति वरुणस्य' । 'अथो
१० वरुणस्य सु म्यक्ष वरुण भियसं मस्तप्र चूनायोऽनुं मा
गृभाय । दामेव वस्ताद्वि मुमुग्धंहे । नहि त्वदारै
निमिषश्चनेश' (ऋ० सं० २ । २८ । ६) ॥ हे भगवन् वरुण
सम्राट् ऋतवन् यदेतत् अपः कर्म किञ्चित् भियसं भयंकरम अस्मासु
अंहः पापं यदात्मनः कायकृतं तदस्मत्तो दामेव वस्तात् विमुग्धत्वं
प्रमुञ्च । ततश्च तत्प्रमुच्यसु म्यक्ष सुष्ठु गमय । नाशयेत्यर्थः । कस्मात्तुन्नेवं
१५ मूढे । इतो यस्मात् न हि त्वदारै निमिषश्चनेशे । त्वदन्तिकेऽपि वर्त-
मानस्य दूरेऽपि च यः कश्चित्स्यापि त्वदन्यो नेशे । एमेव दूरे चान्तिके
चेशिपे इत्यभिप्रायः ।

'अथैन्द्रस्य' ॥ १ ॥

२० यद् द्यावं इन्द्र ते शतं शतं भूमिरुत्त स्युः । न त्वां वञ्चि-
न्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी (ऋ० सं० ८।७०।५) ॥
यदि त इन्द्र शतं दिवः शतं भूमयः प्रतिमानानि स्युर्न त्वा
वञ्चिन्त्सहस्रमपि सूर्या न द्यावापृथिव्यावप्यभ्यश्रुवीतामित्यर्थपा-
दित्यस्य ॥ २ ॥

१ घ. च. ट. वरुणैति । हे भ०. २ ट. 'द्रस्य । इति निरुक्तम० उ० प०
नियण्टपञ्चाध्या० सह अष्टाद्० ध्या० प० पा०; ३. 'द्रस्य । इति निरुक्तम०
यामुत्तरपटके नियण्टपञ्चाध्यायेन सह अष्टाद्गणध्याये पश्यतः ऋ०; क. ख. च.
१६ वरुणिनोऽप्यहो नास्ति. ३ उ. त. वरुणैः

यद्वाव इन्द्र ते शतमिति ॥ पुरुहन्मन आर्षम् । बृहती । वैरूपे
 इन्द्रस्य स्तोत्रियानुरूपे (आश्व० श्रौ० ७ । १०) ।
 हे भगवन् इन्द्र यदि तव शतं दिवः शतं
 च भूमयः सहस्रं च सूर्याः रोदसी अपि च समस्ते प्रतिमानानि उप-
 मानानि भवेयुः कथंचित् तथापि त्वा जातमात्रमपि सर्वाण्यपि तानि
 नाष्ट नैवाभ्यशुवीरन् । किं तर्हि । त्वमेवैतानि सर्वाणि अम्यशुवीरथाः ।
 अतिरिष्य वर्तेथा इत्यर्थः ।

‘अत्रैमादित्यस्य’ ॥ २ ॥

यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगन्तन । कस्य पुल्वधो मृगः
 कस्यमञ्जनयोपनो विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः (ऋ० सं० १० । ८६ ।
 २२) ॥ यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगन्तन क स्य पुल्वधो मृगः
 क स यद्वादी मृगो मृगो माष्टैर्गतिकर्मणः कमगमदेशं जनयो-
 पनः सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यमथैपादित्यरम्भी-
 नाम् ॥ ३ ॥

यदुदञ्चो वृषाकप इति । पङ्क्तिः । इन्द्राण्या आर्षम् । पृष्टस्य पष्टेऽ-
 आदित्यस्य हनि विनियोगः (आश्व० श्रौ० ८ । ३) ।
 हे भगवन् वृषाकपे इन्द्र यदा त्वम् उदञ्चः
 उदञ् एव वर्तमानः प्ररक्षिणं भुक्तानि परिगच्छन् गृहम् अजगन्तन ।
 गृहानुप्रवेशे हि व्यवधीयते । व्यवधीयते च भगवानस्तं गच्छन्नादित्य इत्येत-
 स्नास्तामान्यादुदञ्चते गृहमिन्द्राजगन्तन इति । तदा त्वापि गृहमुपगते अदश्ये
 निरालोको लोकः सहस्रैव विरिमितो भवति । क स्य पुल्वधो मृगः । स्यः
 सः । पुरुहन्मन्त्सर्वपदं घनेरुत्तरपदम् । क स यद्वादी मृगः । यद्वादी-
 यति सर्वप्राणिभ्यवस्थितः । तदुक्तम् । ‘सूर्य अस्मा जगत्तरत्तुर्ध्व’
 (ऋ० सं० १ । ११५ । १) इति । ‘मृगो माष्टैः गत्यर्थस्य । न
 दास्तावतिष्ठते । माष्टैरेव हि मृगः । कं देसामगमत् गतयान् । देसामा-

१ उ. ट. यद्वाव इति । पु०. २ प. ट. उ. ट. ‘उपमानानि’ नास्ति.
 ३ ट. उ. ‘उदञ्च’ । इति वैरूपभाष्ये उदञ्चदेके च प्याये २ खण्डः । क. ए.
 ग. च. वर्तमानेतिष्ठते नास्ति, ४ ट. उ. ‘यद्वा इति । पङ्क्तिः.

कनदस्यः स देवो जनयोपनः जनमोहनो बभूव । उदयास्तमयपरिगमना-
दादियस्य जना मुह्यन्ते तन्नापरिज्ञानान् । त्रिद्वस्मात्सर्वस्मात् जगतः
यद्भवम् इन्द्र उत्तरः तमेतं धाम् आदित्यम् एवं ब्रूमो यदुदञ्चे
श्याकप इति ।

५३ ' अदौपादित्यरश्मीनाम् ' अतिरतुतिः ॥ ३ ॥

वि हि सोत्तोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत । यत्रामदद्रुपार्कपिरर्यः
पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः (ऋ० सं० १० । ८६ ।
१०) ॥ व्यसृक्षत हि प्रसवाय न चेन्द्रं देवममद्वृसत यत्रमाद्यद्वृ-
पाकपिरर्य ईश्वरः पुष्टेषु पोषेषु मत्सखा मम सखा मदनसखा ये
नः सखायस्तैः सहेति वा सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदि-
त्यमथैषाम्बिनोः ॥ ४ ॥

वि हि सोत्तोरसृक्षतेति । पूर्वथैव समानार्थविनियोगच्छन्दस्कम् ।
१५ आदित्यरश्मीनाम् व्यसृक्षत व्यसृजत यदादित्यो रश्मीनहन्यहनि
सोतोः सर्वभूतप्रसवस्य अन्यनुज्ञानाय तत्प्रका-
शितलोकस्य सर्वकर्मोपपत्तेः । तदा किमिति । तदा ते रश्मयः सर्व-
कर्मण्यनुगमनात् नेन्द्रं देवममंसत । तमेवेन्द्रमादित्यं येन विसृष्टास्ते-
२० तमात्मनो दीपयितारं न मन्यन्ते । स्वमहिम्नैव वयं दीप्यामह इति मन्यन्ते ।
कदा । यदा रश्मिपोषं पुष्यति पुष्टेषु एकीभूतेषु मध्यदिने मत्सखा मम
सखा इति मन्त्रदृग्माह । अथवा । सर्व एव मन्यन्ते ममायं सखा म्मायं
सखेति । अथवा । मदनसखा । हर्षसखेत्यर्थः । अथवा । ये नः सखापो
रश्मयस्तैः सहेति । विश्वस्मादित्युक्तार्थः । ' अथैषा वाचः प्रप-
न्तिव ' ॥ ४ ॥

१ ठ. ड. 'स्तुतिः । इति निरुक्तभाष्ये ७. ध्याये ३ लण्टः; क. ल. ग. च.
२ अंमिनोष्वडो नास्ति. ३ घ. ट. ठ. ड. यदा अमदद्रुपार्कपि. अर्थः स्वस्य
३० रश्मिः. ३ घ. ट. ठ. ड. मन्यन्ते, च. वन्त्यन्ते. ते

सृण्वेव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेवं तुर्फरीं पर्फरीकां । उदन्य-
 जेव जेभना मदेरु ता मे जराय्वर्जरं मरायुं (ऋ० सं० १० ।
 १०६ । ६) ॥ सृण्वेवेति द्विविधा सृणिर्भवति भर्ता च हन्ता च
 तथाभिनौ चापि भर्तारौ जर्भरी भर्तारावित्यर्थस्तुर्फरीतू हन्तारौ ।
 नैतोशेवं तुर्फरीं पर्फरीकां । नितोशस्यापत्यं नैतोशं नैतोशेव
 तुर्फरीं क्षिप्रहन्तारौ । उदन्यजेव जेभना मदेरु । उदन्यजेवेत्युद-
 दकजे इव रत्ने सामुद्रे चान्द्रमसे वा जेभने जयमने
 जेभना मदेरु । ता मे जराय्वर्जरं मरायुं । एतज्जरायुजं शरीरं
 शरदमजीर्णमथैषा सोमस्य ॥ ५ ॥

५

१०

तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः । तरत्स मन्दी
 धावति (ऋ० सं० ९ । ५८ । १) ॥ तरति स पापं सर्वं मन्दी यः
 स्तौति धावति गच्छत्यूर्ध्वं गतिम् । धारा सुतस्यान्धसः । धार-
 याभिपुतस्यान्धसः । धारयाभिपुतस्य सोमस्य मन्त्रपुतस्य वाचा
 सुतस्याथैषा यज्ञस्य ॥ ६ ॥

१५

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासां अस्य ।
 त्रिधा वृद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आशिवेश (ऋ०
 सं० ४ । ५८ । ३) ॥ चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्तास्य-
 योऽस्य पादा इति सपनानि त्रीणि द्वे शीर्षे मायणीयोदयनीये
 सप्त हस्तासः सप्त छन्दांसि त्रिधा वृद्धेषा वृद्धो मन्त्रब्राह्मण-
 फल्पवृषभो रोरवीति रोरवणमस्य सवनक्रमेण ऋग्भिर्यजुभिः
 सामभिर्यदेनमृगिभः शंसन्ति यजुभिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति
 महो देव इत्येव हि महान्देवो यद्यज्ञो मर्त्यां आशिवेशेत्येव हि
 मनुष्यानाविशति यजनाय तस्योत्तरा भूयसे निर्धचनाय ॥ ७ ॥

१०

१५

स्वर्धन्तो नापेसन्त आ घां रोदन्ति रोदधी । यज्ञं ये विश्वतां-
 धारं मुविदामो वितेनिरे ॥ स्वर्गच्छन्त ईजाना वा नेसन्ते तेऽमु-

१ उ. व. पश्चिमपट्टमहाभमपट्टा न धर्त-ते. २ क. ल. उ. त. "मपीति वः".

३ क. म. उ. त. द. यथो अय्य.

मेव लोकं गतवन्त ईक्षन्त इति । आद्यां रोहन्ति रोदसी । यज्ञं
ये विश्वतोधारं, सर्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिर इत्यथैषा वाचः
प्रवहल्लितेव ॥ ८ ॥

- ५ चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनी-
षिणः । गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गः यन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या
वदन्ति (ऋ० सं० १ । १६४ । ४५) ॥ चत्वारि वाचः परिमि-
तानि पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मेधाविनो गुहायां त्रीणि
निहितानि नार्थं वेदयन्ते गुहा गूहतेस्तुरीयं त्वरतेः क्तमानि
१० तानि चत्वारि पादान्योकारो महाव्याहृतयश्चेत्यर्थं नामाख्याते
चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणा मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी
व्यावहारिकीति याज्ञिका ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी
व्यावहारिकीति नैरुक्ताः सर्पाणां वाग्वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य
चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके पशुषु तूणवेषु मृगेष्व-
११ त्मनि चेत्यात्मप्रवादा अथापि ब्राह्मणं भवति ' सा वै वाक्सृष्टा
चतुर्धा व्यवभवदेधेव लोकेषु त्रीणि पशुषु तुरीयं या पृथिव्यां
साग्नौ सा रथन्तरे यान्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये या दिवि
सादित्ये सा बृहति सा स्तनयित्नावथ पशुषु ततो या वागत्य-
रिच्यत तां ब्राह्मणे न्येदधुस्तस्माद्ब्राह्मणा उभर्यी वाचं वदन्ति
२० या च देवानां या च मनुष्याणाम् ' (मैत्रा० सं० १ । ११ ।
५) इत्यथैषाक्षरस्य ॥ ९ ॥

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि । दीर्घतमस आर्यम् । वाग्देवते पशौ
वाचः विनियोगः (अ.श्व० श्रौ० ३ । ८) । प्रवहल्लि-
तेत्यनभिन्वयव्यक्तिविशिष्टो वाक्यार्थः । चत्वारि वाचः
परिमितानि पदानि । न पञ्चमं पदमस्ति । तानि पुनः ब्राह्मणा विदुः ।

१ क. ख. ड. घ. ङ. 'दन्मभीक्ष्णःमिति, छ. त. 'वन्न इच्छन्त इति.

२ क. ख. छ. त. द. ड. घ. 'वक्षिते'. ३ छ. त. तुम्ये मू°. ४ क. ख. ड.

२१ घ. घ. उ. ड. 'ब्राह्मणे, वद'.

किं सर्वे । न । ये मनीषिणः ये भेषाविनः । तेषां च पुनः पदानां गुहायां
प्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति नार्थं वेदयन्ते न प्रख्यापयन्ति । तुरीयं चतु-
र्थं भागम् एकं पदं मनुष्याः परिज्ञानार्थं वदन्ति । तुरीयं त्वरतेः ।
तद्धि त्वरितमिध निर्गतं भवति त्रिन्धः ।

| | | | |
|-----------------------------|---|---------------------------------|---|
| कतमानि तानि | चत्वारि पदानि | ' इति विचारार्थः प्रश्नः । तत्र | ५ |
| कतमानि चत्वारि | तावत् ' नामाख्याते चोपसर्गनिपातात्थेति वैया- | | |
| पदानि | करणाः ' मन्दन्ते । तत्राप्रसिद्धार्थत्वादाख्यातो- | | |
| नामादीनीति | पसर्गनिपातपदान्यर्थं न वेदयन्ते । नामानि तु | | |
| वैयाकरणाः | प्रसिद्धतरार्थत्वाद्ब्रह्मादीन्वेदयन्त्यर्थान् । एवम् । | | |
| मन्त्रादीनीति | ' मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्धा व्यावहारिकीति | १० | |
| याज्ञिकाः | याज्ञिकाः ' । अत्रापि व्यावहारिकेव तु वेदय- | | |
| ऋगादीनीति | त्यर्थम् । ' ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्धा व्याव- | | |
| नैरुक्ताः | हारिकीति नैरुक्ताः ' । अत्रापि व्यावहारिकेव | | |
| सर्पादीनां | वेदयते । ' सर्पाणां वाग्रयसां क्षुद्रस्य सरीसृ- | | |
| षाक् इत्येके | पस्य चतुर्धा व्यावहारिकीत्येके ' । सर्पादीना- | १५ | |
| पश्वादीनामित्यात्म- | मित्यधिभूतविदः । अत्रापि व्यावहारिकेव वेद- | | |
| प्रवादाः | यते नेतराः । ' पशुषु तूष्णवेर्षु मृगेभ्यात्मनि | | |
| आत्मप्रवादाः । ' ब्राह्मणम् | चेत्यात्मप्रवादाः ' । आत्मानं ये प्रवदत्याचार्यास्ते | | |
| एषा चतुर्धा व्यभवत् | अपि च भवति ' एतन्मित्रैर्षे ' सा वै वाक्मृ- | | |
| ब्राह्मणमते चत्वारि | ष्टा चतुर्धा व्यभवत् ' इत्येवमादि । तदेतदभिव्यक्तार्थमेव । ' ततो या | २० | |
| पदानि | वागत्यरिष्यत तां ब्राह्मणे न्यदधुः ' निदि- | | |
| वैदिकी चेत्यर्थः । | तवन्तः । ' तस्माद्ब्रह्मणा उभर्था वक्तुं वदन्ति | | |
| | या च देवानां या च मनुष्याणाम् ' । लौकिकी | | |

' अय ' पुनः ' एसाक्षरस्य ' अतिस्तुतिः प्रगल्भितेव ॥ ९ ॥ २५

ऋचो असुरं परमे व्योमन्यासिर्भन्द्रेवा अधि विश्वं निषेदुः ।

१ च. 'स्यन्दे'. २ क. ए. तूष्णे; ठ. इ. 'पशुषु । पशुस्यः । तूष्णेषु ।
शोकाजातिषु व. योमिभ्यर्थः । आत्मानं (ट. पुण्ड्रनाम्ने लिखितं विश्वमेवम्) ।
३ ठ. इ. ए. । इति वैदिकभाष्ये ७ एषाषे ५ एषाषः क. ए. यन्वितरे-
ष्यन्ते नास्ति.

यस्तन्न वेदं किमुचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते
 (ऋ० सं० १ । १६४ । ३९) ॥ ऋचो अक्षरे परमे व्यवने
 यस्मिन्देवा अधिनिषणाः सर्वे यस्तन्न वेदं किं स ऋचा करि-
 ष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासत इति विदुष उपदिशति कतम-
 त्तदेतदक्षरमोक्षमित्येषा वागिति शाकपूणिर्ऋचश्च ह्यक्षरे परमे
 व्यवने धीयन्ते नानादेवतेषु च मन्त्रेष्वेतद् वा एतदक्षरं यत्सर्वा
 त्रयीं विद्यां प्रति प्रतीति च ब्राह्मणम् (कौपी० ब्रा० ६ ।
 १२) ॥ १० ॥

१० ऋचो अक्षरे परम् इति । दीर्घतमस आर्षम् । अस्या निर्धचनत्र-
 यमधियज्ञाधिदेवाभ्यामविकल्पेन ॐकार आदित्य
 अक्षरस्य आत्मा चेति । तत्र तावच्छाकपूणिपक्षमाश्रिता-
 धियज्ञगतमुच्यते ।

१५ अक्षरम् । ॐकारमृते न ह्यर्चयन्ति । तस्या अक्षरं परमं
 इति शाकपूणिः व्योम । विधिधमरिम्न् शब्दजातमोतमिति
 व्योम । तस्मिन् तिसृषु मात्रासु अका-
 रोकारमकारलक्षणासूपशान्तासु यदवशिष्यते तदक्षरं परमं व्योम । अप-
 रमाकाशमपेक्ष्य तन्परं व्योम । शब्दसामान्यमभिषेक्तमित्यभिप्रायः । दस्मिन्
 देवा अधिनिषणाः सर्वे । ऋगादिषु ये देवास्ते मन्त्रद्वारेणाक्षरे निषण्णाः-
 १ स्व शब्दकारणवान् । तद्यथा । प्रथमायां मात्रायां पृथिवी अग्निः
 ऋग्वेदः पृथिवीलोकनिवासिन इत्येव । द्वितीयायां मात्रायामन्तरिक्षं
 वायुर्ग्रन्थि तद्व्योमलोकनिवासिनो जना इति । तृतीयायां मात्रायां
 पौरादित्यः सामानि तद्व्योमलोकनिवासिनो जना इति । विज्ञायते हि
 ' ॐकार एवेदं सर्वम् ' इति । यस्तन्न वेदं अनया विभूत्याक्षरं किमसौ
 ऋगादिभिर्भन्त्रैः करिष्यति यस्तान्यक्षरामना न पश्यति । य इत्तद्विदुस्त
 इमे समासत इति विदुष उपदिशति । ते हि तन्परिज्ञानात्ताद्वाव्यमुपगताः

मणवविप्रहमात्मानमनुप्रविश्य सभोक्तुता निर्वाप्ति शान्तार्चिष इत्या-
नर्त्ता इति ॥ १० ॥

आदित्य इति पुत्रः शाकपूणेरेपमर्भवति यदेनमर्चन्ति प्रत्युचः
सर्वाणि भूतानि तस्य यदन्यन्मौत्रेभ्यस्तदक्षरं भवति रश्मयोऽत्र
देवा उच्यन्ते य एतस्मिन्नधिनिपण्णा इत्यधिदैवतमथाध्यात्मं
शरीरमत्र ऋगुच्यते यदेनेनार्चन्ति प्रत्युचः सर्वाणीन्द्रियाणि
तस्य यदविनाशिधर्मं तदक्षरं भवतीन्द्रियाण्यत्र देवा उच्यन्ते
यान्यस्मिन्नौत्मन्येकं भवन्तीत्यात्मप्रवादाः ॥ ११ ॥

* आदित्य इति पुत्रः शाकपूणेरेपमर्भवति इति मण्डलमभिप्रे-
आदित्यः अक्षर- तम् । 'यदेनमर्चन्ति' इति । यस्मादेनमर्चन्ति
मिति शाकपूणेः पुत्रः तस्मात् ऋग् । तस्य यदन्यत् मण्डलगतेभ्योऽ-
चयवेभ्यः । तत्परमम् अक्षरं व्ययनं तत्र सर्वमोत-
मिति । रश्मयोऽत्र देवा उच्यन्ते य एतस्मिन्नधिनिपण्णा भवन्ति । यस्तन्म-
ण्डलम् अक्षरात्मना न वेद किं स ऋचा आदित्येन मण्डलात्मना कारि-
ष्यति । नासौ यथायदादित्यं वेदेत्यर्थः । य इत्तद्विदुस्त इमे समासत इति
व्याख्यातम् ।

आत्मेत्यात्मप्रवादाः । अयमप्यभवति शरीरमिति । इन्द्रियं यत्र देवा
आत्मेत्यात्म- उच्यन्ते । तानि हि त्रिपथेषु योतन्त इति देवाः ।
वादाः तस्य यदविनाशिधर्मं चेतनासतावमात्रविज्ञानं
तत्परममक्षरं व्ययनम् । यत्तदक्षरं न वेद किमसौ

१ ठ. ड. °नडाः. २ उ ड इति । इति निरुक्तभाष्ये उ ध्याये ६ एण्डः
क. ख. वर्ममिनेष्यङो नास्ति. ३ क. ख. ड घ ध. ठ. ड. °न्यन्मवेभ्यः".
४ त. प्रयुच. ५ क. ख. उ. त. 'स्मिन्नधिनिष णानीत्यात्म'. ६ क. ख. घ. ट.
ठ. ड. ° इति' नास्ति. ७ क. ख. ठ. ड. °मिति । य एवेऽन्तर्गादित्ये द्विरण्यवः
'पुरुषो दृश्यत इति श्रुतिः । रश्म' (ट. पुस्तके, 'य - श्रुतिः' इदं शब्दे विरल-
मिति लिखितम्) ८ ठ. ड. °त्यर्थः । भूम्यां शोणद्विना सुतेन भीषन्ति । ९
(ट. पुस्तके 'भूम्यां जीवन्ति' इति । शब्दे विरलमिति लिखितम्).

ऋचा शरीरेण करिष्यति । न तस्य जीवितेनार्थः । न इतिदुरिति
न्यास्यातम् ॥ ११ ॥

- अक्षरं न क्षरति न क्षीयते वाक्षर्यं भवति वाचोऽक्ष इति
वाक्षो यानस्याञ्जनात्तत्प्रकृतीतरद्वर्तनसामान्यादित्ययं मन्त्रार्थ-
चिन्ताभ्यूहोऽभ्यूहोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतो न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा
निर्वक्तव्याः प्रकरणेन एव तु निर्वक्तव्या न ह्येषु प्रत्यक्षप्रत्य-
नूपैरतपसो वा पारोवर्यवित्तु तु खलु वेदितृषु भूयोविषः
प्रक्षेप्तो भवतीत्युक्तं पुरस्तान्मनुष्या वा ऋषिपूत्कामत्सु देवा-
नञ्चन्को न ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्य एतं तर्कमृषिं मायन्तमन्त्रा-
र्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूहं तस्माद्यदेवं किञ्चानूचानोऽभ्यूहत्यापि तद्व-
चति ॥ १२ ॥

- अक्षरं यस्मात् । तद्वि ' न क्षरति ' । नाप्यधामात्रमापद्यते । अथवा ।
अक्षरं यस्मात् ' न क्षीयते ' । न कदाचिदप्यामृततो विनश्यति ।
अर्थः । ' य कक्षयो भवति ' । नादो हि
वर्णलक्षणाया वाचो निवासः । ' शौचं ऽक्ष इति वा ' । अक्षरो तर्कं
इयानुप्रविश्य व्यञ्जनानि धारयति । अथ ' अक्ष. ' यस्मात् । उपपत्ते ।
यानाक्षरतायत् ' समञ्जसात् ' । निरयमसौ
अक्षरने तैल्यदिना । ' तत्प्रकृतीतरत ' स्वरा-
न्यमक्षर ' वैतनगामप्यात् ' । इ रमाधिकृद्भि व्यञ्जनानि वर्तन्ते ।
' इति ' । परिममाप्यर्थ इतिकरण. । उपप्रदर्शनार्थो वास्तस्य ।

एवमत्रै ' मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूहः । मन्त्रार्थचिन्तानामभ्यूहो मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहः यितर्कितः शक त एतावता मन्त्रार्थोऽभ्यूहितुमिति ।

श्रुतिसाहाय्येन
तर्कसाहाय्येन च निरु-
क्तसाक्षमिदं समाप्तम्

पुनरयम् ' अपि श्रुतितोऽपि तर्कनः ' । श्रुत्यो
ब्राह्मणेभ्यो निगमशेषेभ्यश्चोत्रीतार्थोभिधानमा-
र्थ्येभ्यो वाक्यार्थसामर्थ्यात् । तस्यैवैरे पर्यायास्त-
कोऽभ्यूहो लक्षणन्याय इति । ' यद्यप्ययमभ्यूहः

एतथापि न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः ' । कुतः पृथक्त्वेन । प्रकर-
णान् । किं तर्हि । ' प्रकरणत एव तु निर्व-
क्तव्याः ' । तान्येतानि प्रकरणानि मन्त्राणां
याज्ञं देवतमध्यात्ममितिहासातुप्रवेश इति । किं

मन्त्राः प्रकरणशो
निर्वक्तव्याः

कारणम् । ' न ह्येषु ' मन्त्रेषु ' प्रत्यक्षम् ' अर्थदर्शनम् ' अस्ति ।

यस्मिन्मन्त्रेषु प्रत्यक्षं
ज्ञानमाधुनिकाना वास्ति

भाववथावदर्थं मन्त्राणा पदवतः । येऽप्ये पुनरौपदेशिकत्वानाविकृत्यो-
पपत्ते । ' पारोवर्यवित्तु सु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रसस्यौ भवतीत्युक्तं

श्रुतिनिर्वचनाय
श्रुतिज्ञानरूपं बहुविध-
विदमावश्यकम्

पुरस्तात् ' इति (निह० १ । १६) । य
एतेषु उपदेशतः पारोवर्येण परोवरभावेन मन्त्रा-
र्थान् प्रतिपद्यते ते पारोवर्यविदः । तेषु यः
कश्चिद्भूयोविद्यो बहुश्रुनो भवति स एव मन्त्रा-

र्थपरिज्ञाने प्रशस्यो भवति । मन्त्रार्थ एव खरं सर्वविधावस्थानमावेन
विष्णुभूतो लोकन्यथहारभावेन च विप्रतीर्णो विजृम्भत इति तमबहुश्रुनो
नालमुप्रेक्षितुमिति युक्तं यत्तत्परिज्ञानयोगे भूयोविद्यः प्रशस्यत इति ।

पुरस्तादपि चैतदुक्तम् । इह तु प्रमह्नादुपपत्ते । अतः परमागम-
विशुद्धये प्रस्तौति । ' मनुष्या वा ऋषिपूज्यामसु देवानमृषुन् ' इति । पूर्वमपि हि ' साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो वभूनुः ' (निह० १ । २०) । इत्युक्तम् । इह तु मन्त्रार्थोऽभ्यूहप्रदर्शनं

१ क. स. एवमर्थ, च. 'मर्थेव' म. २ ए. उ. उल्लिखितः; च. तर्कन. किं;
उ. तर्कितः कं. १ ए. उ. उ. तस्यारण्यो; च. तस्यैवैरे इत्यादि; उ. तस्यैवैरे-
पयो इत्यपरि. ४ च. 'समर्थे' धं. ५ च. 'ये पारोवर्यविदा' पुनरौपदेशि.
६ च. 'जुयो वद'. ७ च. 'एवैरे' १

नार्थमिति विशिष्यते । ' मनुष्या वा ऋषिपूजामस्तु देवाननुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति ' । एरमादिपुराकल्परूपोऽर्चनादः शास्त्रावतारस्तुतये । तेषुः ' एनं मन्त्रार्थचिन्ताम्यहमम्युहं प्रायच्छन् ' ते देवा एतं

५ अम्युहधावश्यकः समस्तार्थमूहमपि भवन्तोऽनेन मन्त्रार्थान् शैक्यन्तेऽम्युहितुमिति । यस्मादेतदेवं तस्मात् आस्मिन् सूक्ते निरुक्तशास्त्रे यः ' अनूचानः ' विद्वान् यदेव किञ्चिन्मन्त्रार्थेषु ' अम्युहस्यार्थं तद्वदति ' । तथैव तदृष्टोऽम्युहितवन्त इत्यभिप्रायः । न तत्स्वमनीषिकयोच्यते । मन्त्रार्थोऽप्येतस्मिन् विषये बृहस्पतिना दृष्टो ब्रह्म वा स्वयं प्राह । तद्यथा ॥ १२ ॥

१०

हृदा तष्टेषु मनसो जवेपु यद्वाह्यणाः संयजन्ते सखायः । अत्राह त्वं विजहुर्वेद्याभिरोद्ब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे (ऋ० सं० १०।७।८) ॥ हृदा तष्टेषु मनसा प्रजवेपु यद्वाह्यणाः संयजन्ते समानेरुयाना ऋत्विजोऽत्राह त्वं विजहुर्वेद्याभिर्वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिरोद्ब्रह्माण ऊद्ब्रह्माण ऊह एषां ब्रह्मेति वा सेयं विद्या भुक्तिमतिशुद्धिस्तस्यास्तपसा पारमीप्सितव्यं तदिदमायुरिच्छता न निर्वक्तव्यं तस्माच्छन्दःसु शेषा उपेक्षितव्या अथागमो यां यां देवतां निराह तस्यान्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवत्यनुभवति ॥ १३ ॥

१५

१०

हृदा तष्टेषु हृदयेन बुद्ध्या तष्टेषु सूक्ष्मतागपादितेषु अचिन्त्याध्यात्मानस्यामृचि अम्युहः दिपु विद्वद्भिः मनसो जवेपु मनसा येषु प्रजवाः प्रगमाः । न साक्षात्ते । हृदयेन तेष्वर्थेषु स्वर्गापूर्वदेवतादिषु प्राह्यणाः अधिगमनमर्थतत्त्वा विचारयन्तः किमत्र तत्त्वं किं वा अतस्त्वमिति प्रवचनेन ततः संयजन्ते परस्परेण

१५

१ क. ख. घ. ट. ड. 'म्युहम्युहं मां'; घ. 'म्युहम्युहं मां'; ट. 'म्युहं मां'. २ ट. 'म्युहं मां'; ट. ड. 'स्वार्थगूह. ३ ख. 'थानैर्षयो म्युं न शक्यथा (क्यन्ते). ४ ट. ड. 'मह । इति निरुक्तमध्ये ७ ध्याये ख'टः । तपसा'; क. ख. धर्ममितरेष्वो नास्ति. ५ ट. त. कमानाख्याना. ६ ट. ड. 'वति । इत्युत्पत्त्युक्ते निरुक्ते खण्डः । समामातिस्तुनिरुप्यायः. ७ घ. ट. एषां मक् षण्यने, ट. ड. तष्टेगिनि । हृदं. ८ क. ख. घ. ट. ड. ये प्रं; घ. येऽ. ९ घ. ट. एष्यन्'.

१०

संपूजयन्ति । कतमे ते इति । सखायः समानख्याना ऋत्विजः । ते हि प्रयोगेऽभियुक्तत्वादतितरां विद्वांसः । तेषु किमिति । अत्राह । तत्र तेषु अर्धेषु सूक्ष्मेषु विजहः तत्पुत्रः त्वम् एकम् त्यक्तवन्तो मन्त्रार्थव्याख्याने । कम् । अविद्वांसम् । केन त यजुः । वेद्याभिः वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः । न हि तासां मनोवृत्तीनामन्तोऽस्ति यामु प्रनिभानयतामपि मनोवृत्तयो न प्रवर्तन्ते । अतस्ता वेदितव्या एव भवन्त्यविद्वद्भिः । ये पुनः ओहन्नलाणः । इदं निरुक्तशास्त्रम् ऊहन्नल वेद्यामस्ति ते शब्दार्थन्यायसंकटेऽप्यप्रतिवक्ष्यमाना अतिक्रम्य अविद्वांसं विशेषतः सर्वत्र प्रतिपृग्यमानाः चरन्ति त्वे एक इत्यर्थः ।

एवमेतामिन्मन्त्रे अस्या उद्गाहितो नैश्चानेदाद्वेद इति मन्त्रार्थचिन्ता-
म्यूहस्य ब्रह्मत्वं श्रूयते । तस्मादिदमपि निरुक्तशास्त्रं ब्रह्मैव । वेद इत्यर्थः ।

इदानीमुपसंहरति 'सयं विद्या' इति । श्रुतिमतीति । आद्या इयमे-

श्रुतिमति या बुद्धिः
सोऽयम् अभ्यूहः
- श्रयमभ्यूहः परां
कोटिं नेतव्यः
वेका विद्या । बुद्धिं वर्धति । ज्यायसी सर्वाम्यो
विद्याम्यः । महानेप तर्कः । 'तस्यास्त्रपसा
पारमीप्सितव्यम्' । गन्तुमिति वाक्प्ररोपः ।
पदवाक्यप्रमाणविदा ब्राह्मणेन । यस्माद्देवो विधि-
प्रतिषेधप्रसवनिषयपारिसंख्यापुनर्वचनपरार्थवादग-
हनोऽर्थवादाश्च यथाश्रुतप्रमाप्राहिणो विद्युयोऽपि

परमभ्रान्तिहेतवस्तस्मात्परमदुर्निज्ञानवेदनीयत्वाद्देवाक्यानामिमा विशामन्त-
रेण सम्यग्मार्थावगमो न भवति । अतोऽस्या अखिलपुरुषार्थोपकारप्रवृ-
त्त्याया अन्तरेण तप.पारगमनं नास्तीत्यत इदमुक्तमाचार्येण 'तस्या-

१ च. 'व्याभिः प्रवृ'. २ च. ऊह, प. ट. ठ. ड. ओह, ठ. ड. ओहनिधयो
ओहमानं ब्रह्म विद्याश्रुतिमतिबुद्धित्वात्तत्र येषु ते तथोक्ता ऊह' (ओह. तथोक्ताः
इति च. ट. पुस्तकयोर्विवरणमिति प्रान्ते लिखितम्, ओहनि विनिधये इत्यादि ट.
पुस्तके). ३ क. ल. घ. ट. ठ. ड. 'संज्ञक'. ४ क. ल. घ. ठ. सर्वत्रैव प.
५ क. ल. 'दितार्थानि'. ६ क. ल. 'नेवे हि स्य मन्त्र', च. ट. 'दोहदं' दोहदः,
ठ. ड. 'श्वान्दोहदो हनि'. ७ क. ल. 'मुनिमनीयापदमर्दे'; प. ट. ठ. ड.
मुनिमनीयापदं च. मुनिमनीयपदं' एवापे.

रतपसा पारमौषितम्' इति । अयमभ्युपायस्तस्याः पारगमने ।
 'तदिदम्' अतपस्विना सर्वथाऽपि 'आयु-
 रिरिच्छना' निरुक्तशास्त्रं 'न निर्वक्तव्यम्' ।
 अतपस्वी द्वागमवानपि मलिनान्तकरणत्वात्
 शक्नुमात् । ततोऽस्यायुश्चिद्येत । तपस्विनापि
 च निर्भुक्ता 'तस्माच्छन्दःसु' शाखास्त-
 रेषु निगमोदाहरणानामाकाङ्क्षित्वनिराकाङ्क्षये
 वाक्यशेषाः पादार्धर्चादिलक्षणा 'उपेक्षि-
 तस्याः' ॥ १३ ॥

१०

इति श्रीमल्लभ्यमार्गाश्रमत्रौसिनो भगवद्दुर्गाचार्यस्य कृतादृश्यर्थायां
 निरुक्तवृत्तौषष्टादशोऽध्यायः ॥

निरुक्तवृत्तिः समाप्ता ॥

१५

* (अथेमायद्द्व्याचोयद्दुदञ्चोविहिसोतोःसुण्येवतररसचत्वारि-
 नृङ्गार्थन्तश्चत्वारिवागुचोअंशरआदित्येइत्यसंभंशरतिहृदातेष्टु-
 त्रयोदश) ॥

इति निरुक्ते उत्तरपट्टे सममोऽध्यायः ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः ।

३५ व्याख्यातं दैवतं यज्ञाङ्गं चाथात ऊर्ध्वमार्गगति
व्याख्यास्यामः सूर्य आत्मेत्पुदितस्य हि कर्मद्रष्टार्थैतदनुभवद-
त्पथैतं महान्तमात्मानमेपगर्गणः प्रवदतीन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु
रित्यथैष महानात्मात्माजज्ञासयात्मानं प्रोवाचाग्निरस्मि जन्मना
जातवेदा अहमस्मि प्रथमजा इत्येताभ्याम् ॥ १ ॥

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं य आसन् ।
अर्कस्त्रिधातु रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाथं (ऋ०
सं० ३ । २६ । ७) ॥ अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो
अमृतस्य नोमं । यो मा ददाति स इदेव सार्वदहमन्मन्मदन्त-
मग्नि ॥ इति स ह ज्ञात्वा प्रादुर्ध्वभूवैवं तं व्याजहारार्यं समात्मान-
मर्थात्मजमन्तिकमन्यस्या आ चक्ष्वेति ॥ २ ॥

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परां च पथिभिश्चरन्तम् । स
सर्धाचीः स विधुचीर्यसान आर्वरीवति भुवनेष्वन्तः (ऋ० सं०
१ । १६४ । ३१) ॥ आर्वरीवति भुवनेष्वन्तरित्यथैष महानात्मा
सत्त्वलक्षणस्तःपरं तद्ब्रह्म तत्सत्यं तत्सलिलं तदव्यक्तं तदस्पृशं
तदरूपं तदरसं तदगंधं तदमृतं तच्छुक्लं तन्निष्ठो भूतात्मा सैषा
भूतमकृतिरित्येके तत्क्षेत्रं तेषु ज्ञानात्क्षेत्रज्ञमनुप्राप्य निरात्मकमथैष
महानात्मा त्रिविधो भवति सत्त्वं रजस्तम इति सत्त्वं तु मध्ये
विशुद्धं तिष्ठत्यभितो रजरतमसी रज इति कामद्वेषस्तम इत्यवि-
ज्ञातस्य विशुद्धघतो विभूर्ति कुर्वतः क्षेत्रज्ञपृथक्त्वाय कल्पते भित्ति-

१ छ. त. (३) नास्ति, ड. घ इति ओम्, थ ओ ३ म. २ क. ख. ड. थ य
"दन्पथे". ३ क. ख. ड. थ "द तीन्द्र" ४ क. ख. १ (१४), छ. त. १४; द.
१. ५ ड. १. घ नाभिः ६ ड. थ य मावा अहं ७ ड. थ. थ "हारायत".
८ ड. थ. थ "मन्यात्म". ९ क. ख. २ (१५) छ. त. १५, द. २ १० ड. थ.
घ. तदज्ञा". ११ ड. थ. थ "तमजम". १२ ड. थ. घ. "मसी इति". १३ क.
ख. परिभा".

भातिलिङ्गो महानात्मा तमोलिङ्गो विद्या प्रकाशलिङ्गस्तमोऽपि
निश्चयलिङ्ग आकाशः ॥ ३ ॥

- ५ आकाशगुणः शब्द आकाशाद्वायुर्द्विगुणः स्पर्शेन वायोज्योति-
स्त्रिगुणं रूपेण ज्योतिष आपश्चतुर्गुणा रसेनाद्भ्यः पृथिवी पञ्च-
गुणा गन्धेन पृथिव्या भूतग्रामस्थावरजङ्गमास्तदेतदहर्द्युगसहस्रं
जागर्ति तस्यान्ते सुषुप्स्यन्नङ्गानि प्रत्याहरति भूतग्रामाः पृथिवी-
मपियन्ति पृथिव्यप आपो ज्योतिषं ज्योतिर्वायुं वायुराकाशमा-
काशो मनो मनो विद्यां विद्या महान्तमात्मानं महानात्मा मतिभां
१० मतिभा प्रकृतिं सा स्वपिति युगसहस्रं रात्रिस्तावेतावहोरात्रावजस्रं
परिवर्तते स कालस्तदेतदहर्भवति युगसहस्रपर्यन्तमहर्षद्ब्रह्मणो
विदू रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जना इति ॥ ४ ॥

- १५ तं परिवर्तमानमन्योऽनुप्रवर्तते स्रष्टा द्रष्टा त्रिभक्तातिमात्रोऽह-
मिति गम्यते स मिथ्यादर्शनेदं पावकं महाभूतेषु चिरोष्वाका-
शाद्वायोः प्राणैश्चक्षुश्च वक्तारं च तेजसोऽद्भ्यः स्नेहं पृथिव्यां मूर्तिः
पार्थिवास्त्वष्ट्रौ गुणान् विद्याच्चीन्मातृतस्त्रीन्पितृतोऽस्थिस्त्रायुम-
ज्जानः पितृतस्त्वष्ट्रांसशोणितानि मातृतोऽन्नं पानमित्पष्टौ
सोऽयं पुरुषः सर्वमयः सर्वज्ञानोऽपि बल्लभः ॥ ५ ॥

१०

स यद्यनुरुध्यते तद्भवति यदि धर्मोऽनुरुध्यते तद्देवो भवति
यदि ज्ञानमनुरुध्यते तदमृतो भवति यदि काममनुरुध्यते संच्यवत
इमां योनिं संदध्यात्तदिदमत्र मतं श्लेष्मा रेतसः संभवति
श्लेष्मणो रसो रसाच्छोणितं शोणितान्मांसं मांसान्मेदो मेदसः
स्त्रावा स्त्रावोऽस्थान्यस्थिभ्यो मज्जा मज्जातो रेतस्तदिदं योनी
रेतः सिक्तं पुरुषः संभवति शुक्रातिरेके पुमान् भवति शोणिता-

स्तिरेके स्त्री भवति द्वाभ्यां समेन नपुंसको भवति शुक्रैर्ण भिन्नेन
यमो भवति शुक्रशोणितसंयोगान्मातृपितृसंयोगाच्च तत्कथमिदं
शरीरं परं संयम्यते सौम्यो भवत्येकराशेरपिते कलले भवति पञ्च-
रात्राद्ब्रह्मदाः सप्तरात्रात्पेशी द्विसप्तरात्रात्तृदः पञ्चविंशतिरात्रः स्यु-
स्थितो घनो भवति मासमात्रात्कठिनो भवति द्विमासाभ्यन्तरे
शिरः संपद्यते मासत्रयेण श्रीवाग्यादेशो मासचतुष्टयेण त्रयस्या-
देशः पञ्चमे मासे नखरोपव्यादेशः षष्ठे मुखनासिकाक्षिथोत्रं च
संभवति सप्तमे चलनसमर्थो भवत्यष्टमे बुद्ध्याभ्यवस्यति नवमे
सर्वाङ्गसंपूर्णो भवति । मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः ।
चानांयोनिंसंज्ञाणि मयोर्वितानि यानि वै । आहारा विविधाः
मुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः । मातरो त्रिविधा
दृष्टाः वितरः सुहृदस्तथा । अत्राहमुखः पीठ्यमानो जन्तुश्चैव सम-
न्वितः । सांख्ये योगं समभ्यस्येत्पुरुषं चा पञ्चविंशकमिति
ततश्च दशमे मासे प्रजायते जातश्च वायुना स्पृष्टो न स्मरति
जन्ममरणोऽन्ते च शुभाशुभे कर्मतच्छरीरस्य प्रामाण्यम् ॥ ६ ॥

अष्टोत्तरं संधिमतमष्टाकपालं शिरः संपद्यते षोडश वपापलानि
नव स्नायुशतानि सप्तशतं पुरुषस्य गर्भणामर्षचतस्रो रोमाणि कोटयो
हृदयं क्षष्टकपालानि द्वादशकापलानि जिह्वा नृपणो द्यष्टसुवर्णो
चथोपस्थगुदपाश्चेतनूत्रपुरीषं कस्नादाहारपानसित्तत्वादनुपचिन-
कर्माणाचन्योन्यं जायेते इति ते विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा
य महत्पज्ञानतमसि मप्रौ जरा मरणक्षुत्पिपासाशोकक्रोधलोभमोह-
मदभयमत्सरहर्षनिपाद्रेस्पर्माग्यात्मभैर्द्वैरभिभूयमानः सोऽस्या-

१ ड. थ. प. शुक्रमि. २ ड. थ. घ. ट. त. शिः क. ३ ड. थ. प.
स्पृष्टस्य स्म. ४ ड. थ. प. 'एकान्ते. ५ क. ख. ६ (१९). ट. त. १९; द.
६. ६ ट. 'सुवर्णो. ७ ड. त. द. 'दातान'. ८ ड. थ. घ. ज. द. 'कः
या'. ९ क. त. ड. थ. प. इ. श्यो.
१२*

वार्जये जषीभायांतां तन्निर्मुच्यते सोऽस्मात्पांन्महाभूमिकाषच्छरी
 राक्षिवेपमात्रैः प्रक्रम्य प्रकृतिरधिपरीत्य तैजसं शरीरं कृत्या
 कर्मणोऽनुरूपं फलमनुभूय तस्य संक्षये पुनरिमं लोकं प्रति-
 पद्यते ॥ ७ ॥

अथ ये हिंसामाश्रित्य विद्यामुत्सृज्य महत्तपस्तेपिरे चिरेण
 वेदोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति ते घूममभिसंभवन्ति घूमाद्वाग्नि
 राश्वरेपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्दक्षिणायनं दक्षिणायनात्पि-
 तृलोकं पितृलोकाश्चन्द्रमसं चन्द्रमसो वायुं वायोवृष्टिं वृष्टेरोप-
 ययैतद्भूत्वा तस्यै संक्षये पुनरेचेमं लोकं प्रतिपद्यते ॥ ८ ॥

अथ ये हिंसामुत्सृज्य विद्यामाश्रित्य महत्तपस्तेपिरे ज्ञानो-
 क्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति तेऽचिरभिसंभवन्त्यचिपोऽहरह भावु
 र्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षदुदगयनमुदगयनाद्देवलोकं देवलकादा-
 दित्यमादित्याद्वैद्युतं वैद्युतान्मानसं मानसः पुरुषो भूत्वा
 ब्रह्मलोकमभिसंभवन्ति ते न पुनरावर्तन्ते शिष्टा दन्दशुका यत
 इदं न जानन्ति तस्मादिदं वेदितव्यमयाप्याह ॥ ९ ॥

न तं विदाथं य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव । नीहा-
 रेण प्राधृता जल्प्या चासुतृष उक्थशासंश्चरन्ति (ऋ० सं० १० ।
 ८२ । ७) ॥ न तं विद्यया विदुषो यमेवं विद्वांसो वदन्त्यस्तरं
 ब्रह्मणस्पतिमन्यद्युष्माकमन्तरमन्यदेपामन्तरं बभूवेति नीहारेण
 प्राधृतास्तमसा जल्प्या चासुतृष उक्थशासः प्राणो सूर्य यत्पथगा-
 मिर्भैश्वरन्त्यविद्वांसः क्षेत्रज्ञमनुभवदन्त्यथाहो विद्वांसः क्षेत्रज्ञोऽनुक-

ल्पते तस्य तपसा सहाप्रमादमेत्यथाप्तव्यो भवति तेनासंततमि-
च्छेत्तेन सख्यमिच्छेत्तेषु हि सखा श्रेष्ठः संजानाति भूतं भवद्भ-
विष्यदिति ज्ञाता कस्माज्जयतेः सखा कस्मान्सख्यतेः सह भूते-
न्द्रियैः ज्ञेते महाभूतानि सेन्द्रियाणि प्रज्ञया कर्म कारयतीति वा
तस्य तदापः मतिष्ठा शीलमुपशम आत्मा प्रमेति स ब्रह्मभूतो १
भवति साक्षिमात्रो व्यवतिष्ठतेऽवन्धो ज्ञानकृतोऽधात्मनो महतः
प्रथमं भूतनामधेयान्यनुक्रमिष्यामः ॥ १० ॥

हंसः । घ्नः । यज्ञः । पेनः । मेघः । क्रुभिः । भूमिः । त्रिभुः ।
मथुः । शम्भुः । रामुः । वधकर्म । सेमः । भृतम् । १०
भुवनम् । भविष्यत् । आपः । महत् । व्योम । पत्तः । महः ।
स्वर्गकम् । स्पृतीकम् । स्पृतीकम् । सतीकम् । सतीनम् । गह-
नम् । गभीरम् । गह्वरम् । कम् । अर्धम् । हविः । सद्यः । सद्य-
नम् । ऋतम् । योनिः । ऋतस्य योनिः । सत्यम् । नीरम् ।
हैविः । रयिः । सत् । पूर्णम् । सर्वम् । अक्षितम् । दहिः । नाम । १५
सर्पिः । अपः । पवित्रम् । अमृतम् । इन्दुः । हेम । स्वः । सर्गाः ।
अर्ध्वरम् । अर्ध्वरम् । वियत् । व्योम । धृतिः । घन्वं । अन्तरि-
क्षम् । आकाशम् । आपः । पृथिवी । भूः । स्वयम्भूः । अध्वः ।
पुत्रम् । सगरः । सृष्टुः । तपः । तेजः । सिन्धुः । अर्णवः ।
नाभिः । वृक्षः । ऊर्ध्वः । तत् । यत् । फिम् । ब्रह्म । चरेष्यम् । २०
हंसः । आत्मा । भवति । वषट्कारम् । यद्वाहिर्यो ।
तरीराणि । अव्ययं च संस्कृते । यज्ञः । आत्मा । भवति ।

१ छ. ता "जानते". २ छ. त "त्रिभिः से ज्ञेते म ; द - "त्रिभिः - सेने
न". ३ क. ल. क. घ. प. शेते. ४ क. घ. प. 'वा' नाति. ५ क. ल.
क. घ. प. पदापः. ६ क. ल. १० (१२), छ. ल. २३; द. २. ७ छ. ल. ४
८ इति ; मलि. ८ क. ल. छ. ल. द. नाभि. । ऊगः । वृक्ष. । ११. ९ क.
ल. छ. ल. द. भवति. १० क. ल. छ. ल. २५ति । यत्. ११ क. ल.
छ. ल. द. पदाहिया. १२ छ. ल. द. उभयत्रि.

यदेनं तन्वेतऽथैतं महान्तमात्मानमेतानि सूक्तान्येता ऋचोऽनु-
मन्नदन्ति ॥ ११ ॥

सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः ॥
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः
(ऋ० सं० ९ । ९६ । ५) ॥ सोमः पवते सोमः सूर्यः प्रसव-
नाज्जनिता मतीनां प्रकाशकर्मणामादित्यरश्मीनां दिवो द्योतनक-
र्मणामादित्यरश्मीनां पृथिव्याः प्रथनकर्मणामादित्यरश्मीनामग्ने-
र्गतिकर्मणामादित्यरश्मीनां सूर्यस्य स्वीकरणकर्मणामादित्यर-
श्मीनामिन्द्रस्यैश्वर्यकर्मणामादित्यरश्मीनां विष्णोर्व्याप्तिकर्मणामा-
दित्यरश्मीनामित्यधिदैवतमथाध्यात्मं सोम आत्माभ्येतस्मादेवे-
न्द्रियाणां जनितेत्यर्थः । अपि च सर्वाभिर्विभूतिभिर्विभूतै-
आत्मेत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ १२ ॥

ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणां ।
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन्न
(ऋ० सं० ९ । ९६ । ६) ॥ ब्रह्मा देवानामित्येष हि ब्रह्मा
भवति देवानां देवनकर्मणामादित्यरश्मीनां पदवीः कवीना-
मित्येष हि पदं वेत्ति कवीनां कवीयमानानामादित्यरश्मीनामृषि-
र्विप्राणामित्येष हि ऋषिणो भवति विप्राणां व्यापनकर्मणामा-
दित्यरश्मीनां महिषो मृगाणामित्येष हि महान् भवति मृगाणां
मार्गणकर्मणामादित्यरश्मीनां श्येनो गृध्राणामिति श्येन

१ छ. त. व. यदेनं. २ क. ख. ११ (२४); छ. त. २४ द. ४. ३ छ
त. द. सोमः पवते जनयिता मतीना जनयिता दिवो जनयिता पृथिव्या जनयि-
ताग्नेर्जनयिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनयितोत विष्णोः । २५ ब्रह्मा. १; क. ख.
पुस्तकयोः इदं विवरणं महाराष्ट्रियं च धर्तेते. ४ छ. पुस्तकस्य मान्ते महाराष्ट्रियवि-
वर्णं लिख्यते तत्र ' विभूतनम आत्मगतिमाचष्टे ' इति वर्तेते. ५ क. ख. १३
(२५); छ. त. २५; द. ५.

आदित्यो भवति इयायतेर्गतिकर्मणो गृध्र आदित्यो भवति
 गृध्र्यतेः स्थानकर्मणो यत एतस्मिंस्तिष्ठति स्वधित्तिर्वनानामित्येष
 हि स्वर्थकर्माण्यादित्यो धत्ते वनानां वननकर्मणामादित्यरक्षीनां
 सोमः पवित्रमत्येति रेभन्नित्येष हि पवित्रं रक्षीनामत्येति
 स्तूपमान एष एवैतत्सर्वमक्षरमित्यधिदैवतमथाध्यात्मं ब्रह्मा ५
 देवानामित्ययमपि ब्रह्मा भवति देवानां देवनकर्मणांमिन्द्रियाणां
 पदवीः कवीनामित्ययमपि पदं वेत्ति कवीनां कवीयमानानामि-
 न्द्रियाणामृषिर्विप्राणामित्ययमप्यृषिणो भवति विप्राणां व्यापन-
 कर्मणामिन्द्रियाणां महिषो मृगाणामित्ययमपि महान् भवति
 मृगाणां मार्गणकर्मणामिन्द्रियाणां श्येनो गृध्राणामिति श्येन १०
 आत्मा भवति इयायतेर्ज्ञानकर्मणो गृध्राणीन्द्रियाणि गृध्र्यतेर्ज्ञा-
 नकर्मणो यत एतस्मिंस्तिष्ठति स्वधित्तिर्वनानामित्ययमपि स्वर्थ-
 कर्माण्यात्मानि धत्ते वनानां वननकर्मणामिन्द्रियाणां सोमः पवि-
 त्रमत्येति रेभन्नित्ययमपि पवित्रमिन्द्रियाण्यत्येति स्तूपमानोऽय-
 मवैतत्सर्वमनुभवत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ १३ ॥ १५

तिस्रो वाच ईरयति प्र वहिर्कृतस्य धीर्ति ब्रह्मणो मनी-
 षाम् । गावो यन्ति गोर्पतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो
 वावशानाः (ऋ० सं० ९ । ९७ । ३४) ॥ वहिरादित्यो भवति
 स तिस्रो वाचः मेरयत्यृचो यजूंषि सामान्यतस्यादित्यस्य २०
 कर्माणि ब्रह्मणो मतान्येष एवैतत्सर्वमक्षरमित्यधिदैवतमथा-
 ध्यात्मं वहिरात्मा भवति स तिस्रो वाच ईरयति मेरयति विद्या-
 पतिबुद्धिमतामृतस्यात्मनः कर्माणि ब्रह्मणो मतान्ययमेवैतत्सर्व-
 मनुभवत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ १४ ॥

सोमं गावो धेनवो वावशानाः सोमं विमां मतिभिः पृच्छ-
 मानाः । सोमं मुतः पूयते अज्यमानः सोमं अर्कासिष्टभः

- सं नवन्ते (ऋ० सं० ९ । ९७ । ३५) ॥ एत एव सोमं गावो
 धेनवो रश्मयो वावैश्यमानाः कामयमाना आदित्यं यन्त्येवमेव
 सोमं विषा रश्मयो मतिभिः पृच्छमानाः कामयमाना आदित्यं
 यन्त्येवमेव सोमः सुतः पूयते अज्यमान एतमेवाकांश्च त्रिष्टुभश्च
 ५ संनवन्ते तत एतस्मिन्नादित्य एकं भवन्तीत्यधिदैवतमथाध्यात्म-
 मेत एव सोमं गावो धेनव इन्द्रियाणि वावैश्यमानानि कामय-
 मानान्यात्मानं यन्त्येवमेव सोमं विषा इन्द्रियाणि मतिभिः
 पृच्छमानानि कामयमानान्यात्मानं यन्त्येवमेव सोमः सुतः पूयते
 अज्यमान इममेवात्मा च सप्त ऋषयश्च संनवन्ते तानीमान्येतस्मि-
 १० ष्णात्मन्येकं भवन्तीत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ १५ ॥

- अक्रान्तसमुद्रः प्रथमे विधर्मज्ञनर्यन्मजा भुवनस्य राजा ।
 वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे सुवान इन्दुः
 (ऋ० सं० ९ । ९७ । ४०) ॥ अत्यक्रमीत्समुद्र आदित्यः
 १५ परमे व्यवने वर्षकर्मणा जनयन्मजा भुवनस्य राजा सर्वस्य
 राजा वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे सुवान
 इन्दुरित्यधिदैवतमथाध्यात्ममत्यक्रमीत्समुद्र आत्मा परमे व्यवने
 ज्ञानकर्मणा जनयन्मजा भुवनस्य राजा सर्वस्य राजा वृषा
 पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे सुवान इन्दुरित्यात्म-
 २० गतिमाचष्टे ॥ १६ ॥

महत्तत्सोमो महिपश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवान् । अदधा-
 दिन्द्रे पवमान ओजोऽर्जनयत्सूर्ध्वे ष्योतिरिन्दुः (ऋ० सं० ९ ।
 ९७ । ४१) ॥ महत्तत्सोमो महिपश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवा-

१ छ. त. षषाऽयं. २ छ. त. त ५°. ३ छ. घ. घ. तान्येतस्मिन्. ४ क.
 ल. १५ (२८), छ. त. २८; द. ८. ५ क. ल. छ. व मह; त. ईशं म.
 १७ ६ क. ल. १६ [२९], छ. त. २९; द. ९.

नामाधिपत्यमदधादिश्रे पवमान ओजोऽमनयश्मूर्धे ष्योतीरिन्दु-
रादित्य इन्दुरात्मा ॥ १७ ॥

विभुं दं द्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो वीगार ।
देवस्यं पश्य काव्यं महित्वाथा ममार स हाः समानं (ऋ० सं० ५
१० । ५५ । ५) ॥ विभुं विधमनशीलं दद्राणं दमनशीलं युवानं
चन्द्रमसं पलित आदित्यो गिरति सद्यो म्रियते स दिवा समुदि-
तेत्यधिदैवतमयाध्यात्मं विभुं विधमनशीलं दद्राणं दमनशीलं
युवानं महान्तं पलित आत्मा गिरति रात्रौ म्रियते रात्रिः
समुदितेत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ १८ ॥

साकंजानीं सप्तमहाहुरेकजं पलियमा ऋषयो देवजा इति ।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेफन्ते विकृतानि रूपशः
(ऋ० सं० १ । १६४ । १५) ॥ सहजातानां पण्णामृषीणामादित्यैः
सप्तमस्तेषामिष्टानि वा क्रान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा
मतानि वा नतानि वाङ्घ्रिः सह संमोदन्ते यत्रतानि सप्तऋषीणानि
ष्योतीरपि तेभ्यः पर आदित्यस्तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यधिदैव-
तमयाध्यात्मं सहजातानां पण्णामिन्द्रियाणामात्मा सप्तमस्तेषामि-
ष्टानि वा क्रान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा
नतानि वाक्नेन सह संमोदन्ते यत्रेमानि सप्तऋषीणानांन्द्रिया-
ण्येभ्यः पर आत्मा तान्यस्मिन्नेकं भवन्तीत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ १९ ॥

१ ऋ. ल. १७ (-); छ. त. २० द. १० २ ऋ. ल. १८ (११) छ. त.
३१ द. १७. ३ ऋ. ल. छ. त. पलितं ४ छ. प. य. 'दित्यस्मिन्नेकं'.
५ छ. य. वाच्यं, य. तान्नेतस्मिन्. ६ ऋ. ल. १९ (३२) । इति नेकं
अथोद्देशेन वितीतं. पाद. १ वातः । अथ युतीयपदः । अत्रिः; छ. ३२ ॥
द्वितीय पाद. ॥ अत्रिः; त. ३२ अथोद्देशेन वितीतं. पादः । अत्रिः; द.
'वद' । इति अत्रिः अत्रिः अत्रिः अत्रिः अत्रिः अत्रिः

- सं नवन्ते (ऋ० सं० ९ । ९७ । ३५) ॥ एत एव सोमं गावो
 घेनवो रश्मयो वा^१दश्यमानाः कामयमाना आदित्यं यन्त्येवमेव
 सोमं विषा रश्मयो मतिभिः पृच्छमानाः कामयमाना आदित्यं
 यन्त्येवमेव सोमः सुतः पूयते अज्यमान एतमेवाकांश्च त्रिष्टुभश्च
 ५ संनवन्ते तत एतस्मिन्नादित्य एकं भवन्तीत्याधिदैवतमथाध्यात्म-
 मेत एव सोमं गावो घेनव इन्द्रियाणि वा^२दश्यमानानि कामय-
 मानान्यात्मानं यन्त्येवमेव सोमं विषा इन्द्रियाणि मतिभिः
 पृच्छमानानि कामयमानान्यात्मानं यन्त्येवमेव सोमः सुतः पूयते
 अज्यमान इममेवात्मा च सप्त ऋषयश्च संनवन्ते तानीमान्येतस्मि-
 १० न्नात्मन्येकं भवन्तीत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ १५ ॥

- अक्रान्तसमुद्रः प्रथमे विधर्मज्ञनयन्मजा भुवनस्य राजा ।
 वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृषे सुवान इन्दुः
 (ऋ० सं० ९ । ९७ । ४०) ॥ अत्यक्रभीत्समुद्र आदित्यः
 १५ परमे व्यवने वर्षकर्मणा जनयन्मजा भुवनस्य राजा सर्वस्य
 राजा वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृषे सुवान
 इन्दुरित्यधिदैवतमथाध्यात्ममत्यक्रभीत्समुद्र आत्मा परमे व्यवने
 ज्ञानकर्मणा जनयन्मजा भुवनस्य राजा सर्वस्य राजा वृषा
 पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृषे सुवान इन्दुरित्यात्म-
 १० गतिमाचष्टे ॥ १६ ॥

महत्तसोमो महिपश्चकारापां यद्गर्भोऽष्टृणीत देवान् । अर्धधा-
 दिन्द्रे पथमान ओजोऽर्जनयत्सूर्ये ष्योतिरिन्दुः (ऋ० सं० ९ ।
 ९७ । ४१) ॥ महत्तसोमो महिपश्चकारापां यद्गर्भोऽष्टृणीत देवा-

१ छ. त. व. वा. य. २ छ. त. त. ९. ३ छ. घ. प. तान्येवमि
 न. १५ (२८), छ. त. २८, द. ८. ५ क. ग. छ. व. म. ३
 १७ व. ह. न. १९ [२३], छ. त. २०; द. ९.

संनद्धो मनसा चरामि न हि जानन् पुष्टः पुषः परिवेदयन्तेऽप्ये-
मादित्योऽयमात्मा ॥ २२ ॥

अपाह् प्राडैति स्वधया गृभीतोऽर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विपुचीनां वियन्ता न्यश्न्यं चिवयुर्न नि चिवयुर्-
न्यम् (ऋ० सं० १।१६४।३८) ॥ अपौश्चयति प्राश्चयति ।
स्वधया गृभीतो मर्त्य आदित्यो मर्त्येन चन्द्रमसा सह तौ शश्व-
द्गामिनौ विश्वगामिनौ बहुगामिनौ वा पश्यत्यादित्यं न चन्द्रमस-
मित्यधिदैवतमथाध्यात्ममपौश्चयति प्राश्चयति स्वधया गृभीतोऽ-
मर्त्य आत्मा मर्त्येन मनसा सह तौ शश्वद्गामिनौ विश्वगामिनौ
बहुगामिनौ वा पश्यत्यात्मानं न मन इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥२३॥

सर्दिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेपनृम्णः । सद्यो
जज्ञानो निरिणाति शत्रूनु यं विश्वे मदन्त्यूमाः (ऋ० सं० १०।
१२०।१) ॥ तद्भवति भूतेषु भुवनेषु ज्येष्ठमादित्यं यतो जज्ञ
उग्रस्त्वेपनृम्णो दीप्तिनृम्णः सद्यो जज्ञानो निरिणाति शत्रूनि
निरिणातिः प्रीतिरुर्मा दीप्तिरुर्मा वानुमदन्ति यं विश्वे ऊमा
इत्यधिदैवतमथाध्यात्मं तद्भवति भूतेषु भुवनेषु ज्येष्ठमव्यक्तं यतो
जायत उग्रस्त्वेपनृम्णो ज्ञाननृम्णः सद्यो जज्ञानो निरिणाति
शत्रूनि निरिणातिः प्रीतिरुर्मा दीप्तिरुर्मा वानुमदन्ति यं सर्व
ऊमा इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ २४ ॥

१ ङ. थ. घ. द. 'हि विजानान्बुद्धिमनः पुत्र' (द. 'विजानान्' इत्यत्र
'जजानान्'). २ क. ख. २२ (२५) ॥ ३ ॥, छ. त. ३६, द. २. २ छ.
अपाह् चैति प्राह् चैति स्व', द. अपाह् चयति प्राश्चयति स्व'. ४ ङ. थ. घ.
'न' नास्ति. ५ क. ख. २३ [२६] ॥ ४ ॥, छ. त. २०; द. ४. ६ ङ. थ.
घ. 'निति रिणा'. ७ ङ. थ. ग. तपो. ८ क. ख. २४ [२७] ॥ ५ ॥, २५,
छ. त. २७ ग. ५.

स्त्रियः सतीस्तौ उ मे पुंस आहुः पश्यंश्चक्षुषाम्नि वि चेतदन्धः ।
 कविर्यः पुत्रः स इमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितृष्पितासत्
 (ऋ० सं० १।१६४।१६) ॥ स्त्रिय एतौः शब्दस्पर्शरूपरसग-
 न्यहारिण्यस्ता अमुं पुंशब्देन निराहारः प्राण इति पश्यन् कष्टान्न
 ५ विजानात्यन्धः कविर्यः पुत्रः स इमा जानाति यः स इमा जा-
 नाति स पितृष्पितासदित्यात्मगतिमाचष्टे ॥ २० ॥

संनद्धो मनसा चरामि न हि जानन् पुष्टः पुष्टः परिवेदयन्तेऽयं
मादित्योऽयमात्मा ॥ २२ ॥

अपाद् प्राडैति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।

ता शश्वन्ता विपूचीना वियन्ता न्य१न्यं चिवघुर्न नि चिवघुर्-
न्यम् (ऋ० सं० १ । १६४ । ३८) ॥ अपाश्चयति प्राश्चयति ।
स्वधया गृभीतो मर्त्य आदित्यो मर्त्येन चन्द्रमसा सह तौ शश्व-
द्भामिनौ विश्वगामिनौ बहुगामिनौ वा पश्यत्यादित्यं न चन्द्रमस-
मित्यधिदैवतमयाध्यात्मप्राश्चयति प्राश्चयति स्वधया गृभीतोऽ-
मर्त्य आत्मा मर्त्येन मनसा सह तौ शश्वद्भामिनौ विश्वगामिनौ
बहुगामिनौ वा पश्यत्यात्मानं न मन इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥२३॥

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेपनृम्णः । सद्यो
जज्ञानो निरिणाति शत्रून्नु यं विश्वे मदन्त्युमाः (ऋ० सं० १०।
१२० । १) ॥ तद्भवति भूतेषु भुवनेषु ज्येष्ठमादित्यं यतो जज्ञ २५
उग्रस्त्वेपनृम्णो दीप्तिनृम्णः सद्यो जज्ञानो निरिणाति शत्रूनि
निरिणातिः प्रीतिरुर्मा दीप्तिरुर्मा वानुमदन्ति यं विश्वे ऊमा
इत्यधिदैवतमयाध्यात्मं तद्भवति भूतेषु भुवनेषु ज्येष्ठमव्यक्तं यतो
जायत उग्रस्त्वेपनृम्णो ज्ञाननृम्णः सद्यो जज्ञानो निरिणाति
शत्रूनि निरिणातिः प्रीतिरुर्मा दीप्तिरुर्मा वानुमदन्ति यं सर्व २०
ऊमा इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ २४ ॥

१ ङ. थ. ध. द. "हि विजानानुद्धिमनः पुत्र" (द. "विजानानु" इत्यत्र
'जानानु') . २ क ख. २२ (२५) ॥ ३ ॥, छ. त. ३६, द. ३. ३ छ.
अपाद् चैति माद् चैति १६, द अपाद् चयति प्राद् चयति स्व. ४ ङ. थ. ध.
'न' नासित. ५ क. छ. २३ [२६] ॥ ४ ॥, छ. त. ३६; द. ४. ६ छ. थ.
ध. "निति रिण". ७ ङ. थ. " तयो. ८ क ख. १ [३७] ॥ ५ ॥, २७,
छ त. ३७ द. ५

को अथ युक्ते धुरिं गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो
 दुर्हणायुन् आसन्नपून्हुस्वसो मयोभून्य र्षपां भृत्यामृणधत्स
 जीवात् (ऋ० सं० १ । ८४ । १६) ॥ क आदित्यो धुरिं
 गा युक्ते रक्षीन् कर्मवतो भानुमतो दुराधर्षानेमूर्नसुनवन्तीपूनि-
 पुणवन्ति मयोभूनि सुखभूनि य इमं संभृतं वेद कथं स जीव-
 तीत्याधिदैवतमथाध्यात्मं क आत्मा धुरिं गा युक्ते इन्द्रियाणि कर्म-
 षन्ति भानुमन्ति दुराधर्षानेमूर्नसुनवन्तीपूनिपुणवन्ति मयोभूनि
 य इमानि संभृतानि वेद चिरं स जीवतीत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ २५ ॥

१० क ईपते तुज्यते को विभाय को मंसते सन्तमिन्द्रं को अन्ति ।
 फस्तोकाय क इमांयोत रायेऽधि ब्रवत्तन्वेरे को जनाय (ऋ०
 सं० १ । ८४ । १७) ॥ क एव गच्छति को दंदाति को
 विभेति को मंसते सन्तमिन्द्रं फस्तोकायापत्याय महते च नो
 रणाय रमणीयाय दर्शनीयाय ॥ २६ ॥

१५

को अग्निभीष्टे हविषा घृतेन स्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवेभिः ।
 कस्मै देवा आ वंहानाशु होम को मंसन्ते वीतिहोत्रः सुदेवः
 (ऋ० सं० १ । ८४ । १८) ॥ क आदित्यं पूजयति हविषा
 च घृतेन च स्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवेभिरिति कस्मै देवा आव-
 १० हानाशु होमार्थान् को मंसते वीतिहोत्रः सुदेवः कल्याणदेव इत्य-
 धिदैवतमथाध्यात्मं क आत्मानं पूजयति हविषा च घृतेन च
 स्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवेभिरिति कस्मै देवा आवहानाशु होमा-

१ द. 'धर्षान्यसु'. २ क. ख. ड. य. घ. द. 'सून्मु'. ३ क. य. घ.
 कर्मवतो भानुमतो. ४ क. य. घ. द. इमं संभृतं वेद चिरंभी. ५ क. ख. २५
 (२८) ॥ ६ ॥ ७. त. २८; द. द. ६ छ. इ. ७ छ. त. 'को ददाति को
 दधाति को वि' ८ क. ख. २६ (२९) ॥ ७ ॥ छ. त. १५; द. ७. १ क.
 १० ध. व. पूजय'.

यान् को मंसते वीतिहोत्रः सुमङ्गः कल्याणमङ्ग इत्यात्मगतिमा-
चष्टे ॥ २७ ॥

त्वमङ्ग म शंसिपो देवः शविष्ठ मर्त्यम् । न त्वदन्यो मघ-
वश्नस्ति मङ्गितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः (ऋ० सं १ । ८४ । १९) ॥ ५

त्वमङ्ग मशंसीदेवः शविष्ठ मर्त्यं न त्वदन्योऽस्ति मघवन् पाता
वा पालयिता वा जेता वा सुखयिता वेन्द्र ब्रवीमि ते वचः
स्तुतियुक्तम् ॥ २८ ॥

हंसः शुचिपदसुरन्तरिक्षसद्भोता वेदिपदतिथिर्दुरोणसद्र । नृप- १०
द्वैरसद्वत्सद्वयोमसद्वजा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम् (ऋ० सं०
४ । ४० । ५) । हंस इति हंसाः सूर्यरश्मयः परमात्मा परं ज्योतिः पृ-
थिवी व्याप्तेति व्याप्तं सर्वं व्याप्तं वननकर्षणानभ्यासेनादित्यमण्डले-
नेति त्ययतीति लोकी त्ययतीति हंसयन्त्ययतीति हंसाः परमहंसाः १५
परमात्मा सूर्यरश्मिभिः प्रभूत गर्भरि वसतीति त्रिभिर्वसतीति
वो रश्मिर्वसतीति वा ब्रह्मिर्वसतीति वा सुवर्णरेताः पूर्वा गर्भा
रिभेति रिभन्ता वनकुटिलानि कुटन्ता रिभन्तान्तीरसा चरत्पथा-
न्तरिक्षा चरदिति दिवि भुवि गमनं वा सुभानुः सुप्रभूतो होता-
दित्यस्य गता भवन्त्यतिथिर्दुरोणसद्रसर्वे दुरोणसद्रवं सर्वे रसा

१ क. ल. २७ (४०) ॥ ८ ॥; छ. त. ४०; द. ८. २ क. ल. छ. त. २०
वच इति 'स्तुतियु' ३ क. ल. ८ (४१) ॥ ९ ॥ इति निरुक्ते त्रयोदशस्यो-
पस्यैव तृतीय. पादः ॥ अथ चतुर्थः पादः ॥ हंसः; छ. ४१ । तृतीयः पादः ।
दा सुपर्णा, त. ४१ । त्रयोदशोऽध्याये तृतीयः पादः । दा सुपर्णा; द. ११ छ. ॥
दा सुपर्णा प. ४१. ४ छ. त. द. इति हं. ५ छ. त. 'विश्वोक्ते'. ६ छ. त.
'कर्माभ्या'; द. कर्मानभ्या. ७ छ. त. त्ययतीति लोकात्यजनी हंसत्यजतीति १५
हसाः परमा. ८ छ. त. 'भीन वस'. ९ छ. त. वा वेद्विर्वसतीति वा रश्मिर्वसतीति
वा सु. १० छ. त. द. पुण्या गर्भाभिरिति रिक्ति (छ. त. 'रिक्. द. रिक्तिता)
'वनकुटिलानि'. ११ छ. त. द. 'रेकन्तान्तीरिक्षा चरदत्यन्तीरिक्षा चरतीति 'दिवि
भूमिः (दिविर्भूमिः) मन वा स्वभानुः सुप्रभूतो (द. सूना) होता होतादि. १२ छ.
त. द. 'दुरोणसद्र वसन्ति सर्वे रसा (द. रसाभिर्कीर्षयन्ति रश्मिभिः) भिर्कीर्षयतीति
वा वन (द. नमत्) भवतीत्यम्.

विफर्षयति रश्मिर्विफर्षयति वल्लिर्विकर्षयति घनने भवत्यम्प-
गोजा अद्रिगोजा धरिद्रिगोजाः सर्वे गोजा ऋतजा बहुशब्धा
भवन्ति निगमो निगमन्वयति भवत्येप निर्वचनाय ॥ २९ ॥

- ५ द्वा सुपर्णा समुजा सखाया समानं वृक्षं परिपस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाहृत्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति (ऋ०
सं० १ । १६४ । २०) ॥ द्वौ द्वौ प्रतिष्ठितौ सुकृतौ धर्मकर्तारौ
दुष्कृतं पापं परिहारकमित्याचक्षते सुपर्णा समुजा सखायेत्यात्मौनं
परमात्मानं प्रत्युत्तिष्ठति शरीर एव तज्जायते वृक्षं वृक्षं शरीरं
१० वृक्षं पक्षी प्रतिष्ठापयति तयोरन्यद्भुक्त्वाभिमनश्नन्नन्यो सरूपतां
सलोकतामश्नुते य एवं वेदाभिमनश्नन्नन्यो अभिचाकशीतीत्यात्म-
गतिमाचष्टे ॥ ३० ॥

- १५ औं याहीन्द्र पथिमिरीळितेभिर्यज्ञमिमं नो भागधेयं जुपस्व ।
तृप्तां जहुर्मातुर्लस्येव योषां भागस्ते पैतृष्वसेयीं वषामिव (खैलि-
कसूक्तं १४ । ६) ॥ आगमिष्यन्ति शक्रो देवतास्तास्त्रिभिस्ती-
र्थेभिः शक्रमतरीरीळितेभिस्त्रिभिस्तीर्थैर्यज्ञमिमं नो यज्ञभागमप्रीपो-
मभागाविन्द्रो जुपस्व तृप्तामेवं मातुर्लयोगकन्याभागं सर्तृकेव सा
या देवतास्तास्तत्स्थाने शक्रं निदर्शनम् ॥ ३१ ॥

२०

- १ छ. त. धनगोजाः सर्वगोजातिर्भवे इतिजो बहुजो शब्दो (त. 'गोजा
ऋतजा इति गोजानो बहुशब्दो; द. 'इति जोबहुशब्दो) भवति निग. २ छ.
त. द. 'निगमन्योभक्त्यविनिर्वा'. ३ क. ख. २९ (४२) ॥ १ ॥ छ. ४४;
त. १ । ४४; द. २. ४ छ. त. 'सिवा'. ५ क. ख. द. घ. ध. 'स्मानं बुद्ध्यात्मानं
प'. ६ क. ख. द. घ. ध. ७ क. ख. द. घ. ध. ८ छ. त. 'रन्व-
दुष्कृतान्यमनश्नु'; द. 'रन्वदुष्कृतमनश्नु'. ९ द. घ. ध. 'कन्ये स'. १० छ.
त. द. 'मन्त्रे' नास्ति. ११ छ. त. द. 'इति' नास्ति. १२ क. ख. २०
(४३) ॥ २ ॥ छ. ४२; त. ४३. द. १. १३ छ. त. द. अयं लण्डो नास्ति.
२१ १४ द. ख. 'तुल्यो'. १५ द. 'तुल्यो'. १६ क. ख. ३१ (४४) ॥ ३ ॥

विमं विमासोऽसि देवं मतीस ऊतये । अग्निं गीभिर्द्वामदे
 (ऋ० सं० ८ । ११ । ६) ॥ विमं विमासोऽवसे विदुर्वेदं
 भिन्दतेवेदितव्यं निमलेशरीरेण वायुना विप्रस्तु हृत्पद्मनिलयस्य-
 तमकारसंहितमुकारं पूर्येन्मकारनिलयं गतं विमं प्राणेषु विन्दु-
 सिक्तं विकसितं चक्षितेजः प्रभं कनकपद्मेश्वरमृतदारीरममृतजात-
 स्थितममृतनाचामृतमुखे षदन्ति । अग्निं गीभिर्द्वामदे । अग्निं संबो-
 धयेदग्निः सर्वा देवता इति तस्योचरा भूयसे निर्वचनाया ॥ ३२ ॥

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दंहाति वेदः । स नः
 पर्पदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः (ऋ० सं०
 १ । ९९ । १) ॥ जातवेदस इति जातमिदं सर्वं सचराचरं
 स्थित्युत्पत्तिप्रलयन्यायेनाच्छीय सुनवाम सोममिति प्रसवेनाभिष-
 षाय सोमं रामानममृतमरातीयतो यज्ञार्थमिति स्मो निश्चये निदहाति
 दहति भस्मीकरोति सोमो दददित्यर्थः । स नः पर्पदति दुर्गाणि
 दुर्गमनानि स्थानानि नावेव सिन्धुं यथा कश्चित्कर्णधारो नावेव
 सिन्धोः स्यन्दनाक्षरं जलदुर्गा महाकुलां तारयति दुरितात्यग्नि-
 रिति दुरितानि तारयति तस्यैवापरा भपति ॥ ३३ ॥

१ छ. त. द. 'वेद' नास्ति. २ छ. त. व. विमलं शरीरं वा. ३ छ. त. व.
 'स्तु पद्मनिलयं हविस्थितमकारसंहितमुकारं'. ४ छ. त. पूर्यन्मं; द. पूनयन्मं. २०
 ५ छ. त. व. ममवति. ६ छ. त. द. विन्दुः सिक्तं. ७ छ. त. विकसितं. ८ छ.
 त. व. प्रभुं. ९ छ. द. कनकं परमेश्वरममृतं; त. कनकपद्मेश्वरममृतं कं परमेश्वरम.
 १० छ. त. 'वाषा अमृत [द. दमृत] मुखा व'. ११ क. त. ३२ [४५] ४४४; छ.
 ४३१. ४४; द. २. १९ छ. त. द. 'येन जातवेदस्या [न. स्त्री] स्या; द. १८] इदं
 [द. वेदं] आनेतेर्वाय सुनं'. १३ छ. त. द. प्रसवायाभिष'. १४ छ. त. व.
 'वेमानि स्मो निदहाति निश्चयेन दहति'. १५ छ. त. द. 'र्गाणि विश्वानि दुर्गानि
 स्थानानि'. १६ छ. त. द. 'न्धु नावा सिन्धुं यथा यः कश्चि'. १७ छ. त. द.
 नावा सिन्धुः [द. सिन्धोः] स्यन्दमानानां वेदां. १८ द. व. 'न्दनां वेदां.
 १९ क. म. ३२ (४३) ॥ ५ ॥ छ. व. ४६; त. ५४६ द. ५.

सर्वाणि प्रज्ञानान्युपनामय मनुष्यद्वितोऽयमादित्योऽयमात्माथैतद-
नुप्रवदत्यथैतं महान्तमात्मानमेपगणः प्रवदति वैश्वकर्मणे देवानां
नु वयं जाना नासदासीन्नो सदासीत्तदानीमिति च सैपात्मजिज्ञा-
सा सैपा सर्वभूतजिज्ञासा ब्रह्मणः सारिष्टं सरूपता सलोकतां गम-
यति य एवं वेद नमो ब्रह्मणे नमो महते भूर्ताय नमः पारस्कराय ५
नमो यास्काय ब्रह्मशुक्लमसीय ब्रह्म शुक्लमसीय ॥ ३७ ॥

* व्याख्या ५ तमग्निरेस्मिजन्मनापश्यंगोपामाकाशगुणस्तं-
परिवर्तमानंसयर्थं नुरुध्यतेऽष्टोत्तरमथयेहिसामाश्रित्याथयोहिसामुत्सृ-
ज्यनतंइसोर्धर्मःसोमैःपवतेब्रह्मादवानांतिस्त्रोवाचःइत्यतिसोमर्मा-
भोऽक्रान्महत्सोमोविधुंदर्द्राणंसाकंजानांस्त्रिपंःसतीःसप्तार्धगर्भा- १०
नविर्जानाम्यपादभ्रैरुत्तितोददासकोअंधयुक्तेकर्षतेकोअग्निमीष्टि-
त्वर्देह इत्येःशुचिपदद्वाहुर्पुर्णायार्हीन्द्रविभंविभ्रौसोजातवेदसइदंते-
न्याभिस्तद्व्यस्वैकंशतंभावमोतराधांसीति सप्तत्रिंशत् ।

इति निरुक्ते चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इति निरुक्ते उत्तरपट्टः समाप्तः । १५

इति निरुक्तं समाप्तम् ।

* क. ख. थ. घ. अस्याः शृङ्खलाया आदौ त्रयोदशाध्यायस्य शृङ्खलाया
ल्लिख्यते; छ त. द. शृङ्खलानास्ति. ५ क. ख. घ. व्याख्यातं दैवतमाग्निं.

१ क. ख. छ. घ. घ. 'न्युपमानाय. २ क. ख. छ. थ. घ. 'पवदन्त्यथे'. २०
३ छ. साष्टि. ४ छ. 'इते देवाय नमो यास्काय'. ५ क. ख. ३७ (५०) ॥ १ ॥ छ.
४८; त. ७।४८; द. ७. ६ क. ख. थ. घ. पञ्चाशत्. ७ छ. इति नेरुके
उत्तरपट्टः, घ. इति निरुक्ते उत्तरपट्टः समाप्तः । इति निरुक्ते चतुर्दशोऽध्या-
यः । १ घ. इति नेरुके उत्तरपट्टे समाप्तेऽध्यायः । इत्युत्तरपट्टः समाप्तः । ३ छ.
इति नेरुके त्रयोदशोऽध्यायः । ३ द. इति नेरुके त्रयोदशाध्यायस्य पञ्चमः पादः ।
त्रयोदशाध्यायः समाप्तः ।

उत्तरपदकम् । सप्तमोऽध्यायः ।

पङ्क्तिः

- १४ अस्य ऐकपदिकप्रकरणस्य अनु अनन्तरम् ।
- १६ गुणपदानि = येषु क्रिया गुणभूता लक्ष्यते तानि ।
- २६ लक्षणोद्देशत = लक्षणेन लक्षणशास्त्रेण उद्देशेन यत्प्रयोजन
मनसि वर्तते तेन । लक्षणशास्त्र व्याकरणशास्त्रम् ।
- १६ तानि लक्षणोद्देशतो व्याख्यातानि इत्यन्वय ।
- १७ सविज्ञातपट्टासि = रूढपदानि ॥ येषु क्रिया लक्ष्यते तानि
सविज्ञातपट्टस्य व्याख्यात दुर्गेण ६९-७१ पत्रेषु क्रियते ।
- २-२३ अत्र क्रम । २३-२४ अत्र हेतु ॥
- १ सतत्त्वम् = तत्त्व लक्षणम् ॥ किं सतत्त्व यस्य । अन्य दैवतप्रक
रणस्य किं लक्षणम् ।
- २-३ प्राधान्येन न तु गौणत्वेन स्तुतिर्यासात् । तासा देवताना
यासि नामासि तदैवतम् । नेद्र समीचीन वाक्यम् । यानि
नामानि तानि दैवतम् । एव तावत् स्यात् । किंतु केवलानि
नामानि न दैवत प्रकरणम् । यत्र प्राधान्यस्तुतीना देवताना
नामानि व्युत्पाद्यन्ते व्याख्यायन्ते वा तदैवत प्रकरणम् । अय
वाक्यस्यार्थ ।
- १० तिर्मिक्ते = शोधिते निश्चिते । समाप्ते इति यावत् । यथाप्रकर
णोपन्यासेन = यथाप्रकरणोपन्यासम् । प्रकरणानाम् उपन्यास
क्रमेण तस्य अनतिक्रमम् ।
- ११ सामान्येन विशेषेण स्वालक्षणेन सतत्त्वेन च उपपत्तय ।
सामान्येन उपपत्ति = देवताया वर्गाकरणम् । तथा विशेषेण ।
स्वलक्षणमेव स्वालक्षणम् । स्वम्भिनासि एव वर्तमान लक्षण
न्युत्पत्ति ।
- ४-१६ देवतोपपत्त्या = तदभिधान व्युत्पत्तितत्त्वस्तुत्पदाहरणतान्निर्बन्ध
नानि । तस्या देवताया अभिधानस्य व्युत्पत्ति । तस्या म्बुते
उदाहरणम् । तस्य उदाहरणस्य निर्वचनम् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

६१०

१६ मन्त्रे अधिकृतं दैवतं तस्य लक्षणम् । मन्त्रे अधिकृतं दैवतं
केन लक्षणेन ज्ञातव्यम् ।

१७ अवधिधारयिषा = अवधारयितुं निश्चेतुम् इच्छा ।

१८-१९ नेदं तमीचीनं वाक्यम् । सकामः अथवा विशिष्टकामप्रयुक्तः
ऋषिः आर्घ्यपत्यामिच्छन् यस्यां देवताया स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दे-
वतं स मन्त्रो भवति । यत्कामः इत्यत्र 'यत्' अस्य न कोऽपि
आकाङ्क्षापूरकः शब्दो वर्तते ।

२० अर्थः एव वस्तु । यत् अर्थवस्तु = यम् अर्थम् यत् वस्तु वा ।

६११

१ ' मन्त्रे देवतालक्षणम् ' सर्वेषु पुस्तकेष्वयमेव पाठः । ' मन्त्र-
देवतालक्षणम् ' इत्यवश्यम् ।

२ ' आर्घ्यपत्यामिच्छन् ' इत्यस्य द्वितीय विवरणं न साधु ।

४ ' येन मन्त्रेण ' इत्यत्र येन नावश्यम् ।

५-६ ' नाम्ना बन्धुभिर्कर्मणा रूपेण ' इति लुक्तम् (निरुक्तं
३९६।१) । कुत्रोक्तम् । वाजसनेयसंहितामहीवरभाष्ये
(१।३४) ' स्तुतिः म्वनाम्ना कर्मणा वाऽथ रूपैः ' (वात्या०
९।८।२२) इत्युक्तम् । किंतु कात्यायनश्रौतसूत्रेषु नेदमुपल-
भ्यते ।

७ अपिहित = गूढ ।

आदिष्टदेवतेषु मन्त्रेषु किमर्था देवतोपपरीक्षा । कामेन प्रयुक्तः
आर्घ्यपत्यामिच्छन् ऋषिः तं कामं दातुं या समर्था देवता
तद्देवतान्मेव मन्त्रं प्रयुञ्जीत । सकामः ऋषिः आर्घ्यपत्यामि-
च्छन् या देवताम् आदिष्टदेवतेन मन्त्रेण स्तौति तद्देवतं स
मन्त्रो भवति । अत्र देवता नान्वेष्या । सा मन्त्रे वर्तते एव ।
केवलम् इष्टदेवतामन्त्रः अन्वेष्यः प्रयोज्यश्च ।

६१२

९ ' तद्यथा ' इदम् ' एतानि ' इत्यादितः मिलम् । तद्यथा ।
एतान्यु० एवं मुद्रितन्यमासीत् ।

११ सूर्यस्तुता यशस्वामो यजेत (आश्व० श्रौ० ९।८) ।

१३ पर्वतानी = गिरीणाम् ।

पङ्क्तिः

- १४ मेधिराणां = मेधावतां बुद्धिमताम् ।
- १७ ' ईशे ' इदम् उत्तमपुरुषस्य एकवचनम् । किंत्वत्र तत् ' ईष्टे ' इत्यर्थे ।
- २० अनूपत = अभिप्लुत । ' अनूपत ' नेदं लोटि किंतु लेटि लडि च रूपम् ।
- २० पारिसर्गासः = पारिसृताः । पारिसृष्टाः । आशवः = व्याप्नुवन्तः ।
- २२-२३ सोमः इन्द्रात् ऋते सवनस्यानाना किञ्चिदपि धाम स्थानं प्रति न पवते । इन्द्रमेव पवते गच्छति । व्याप्नोतीत्यर्थः ।
- १० अस्या ऋचो मूलं नोपलब्धम् । ।
- ४ देवानां जामयः स्वसृमृताः इन्द्रमातरः नाम ऋषिकाः ।
- १-२ अन्या देवता देवतान्तरम् । ' अन्यत् ' पदं व्यर्थम् ।
- १० कण्वाः = मेधाविन ऋत्विजः । इदं विवरणं सायणभाष्या-दृहीतं स्यात् ।
- १६ ' हतसर्वाभिन्नः ' इति समीचीनम् ।
- २० युष्मद्दः गुणरूपेण गौणत्वेन प्रयोगः येषु । क्रिया वाक्ये मुख्या । कर्ता गौणः ।
- २०-२१ ' देवन्तान्तराणि ' अत्र ' अन्तर ' शब्दो व्यर्थः । देवतानि इत्यर्थः ।
- २१ पशोःकृतः अभिसंबन्धो येषाम् ।
- २८ ' मादि ' इत्यस्यानन्तरं विरामो वर्तते ।
- १० ' एवम् आदिब्रह्म ' एवं पठितव्यम् ।
- १० ' आत्मस्तुतिप्रयुक्तम् = ' अहं भुवम् ' इत्यादिना तया आत्मा स्तुयते । आत्मनः स्तुतिः तया प्रयुक्तं प्रेरितम् आदिब्रह्म ।
- १ प्रत्युपकारः = उपकारनिर्यातनम् । किमर्थमीदृशम् उपकार-निर्यातनम् । यस्मात् यजमानः इन्द्राय सोम अतितरां दत्तः । प्रत्युपकारोऽपि अतितरां भवितुमर्हति । ' अथैवमतितरां प्रत्यु-पकाराभिप्रायः किमर्थः । वृते ' एवं शुद्धं वाक्यम् ।

- पत्रं पङ्क्तिः : १२११ ३१
- ६१८ १ ऋम्भणस्य महर्षेर्दुहिता वाङ्नाम्नी ब्रह्मविदुषीः सूक्तनानेनाऽऽम्भानमस्तौत् । तस्मात् एतत्सूक्तं वागाम्भृणीयम् । वागाम्भृणीये वागाम्भृणिये । इति द्वे अपि रूपे ।
- ८ स्तुतिरूपेण = अहं वाक् स्तुतिरूपं गृह्णामि । तेनाहं सर्वदेवैः सहभूता सर्व भवामि । अहमेवं सर्वा देवताः । ' स्तुतिरूपेण ' इत्यस्य ' चरामि ' इत्यनेनान्वयः सार्धस्यान् । ग. च. ज. पुस्तकेषु तस्य ' विभर्मि ' इत्यनेनान्वयः कृतः ।
- ६१८ स्तुतिरूपेण हविषा = ८ स्तुतिरेव हविः तेन । स्तुत्या इत्यर्थः । मत्पूर्वकं = अहं पूर्वा यस्मिन् । स्तुतिः पूर्वा ऽ हविः पश्चात् । ' स्तुतिरूपेण हविषा विभर्मि ' अत्र ' स्तुतिरूपेण ' इदं ' स्तुतिपूर्वकेण ' इत्यस्यापभ्रंशः स्यात् ।
- ६१९ १ ' शाखान्तरेषु ' इदं प्रक्षिप्तं भवेत् । नास्यात्र किमपि प्रयोगजनम् । भूयिष्ठाः = बहवः ।
- २ अल्पशः = छानित् छानित् । ' ऋतशाखायाम् आप्यात्मिनय ऋचः अल्पाः । शाखान्तरेषु बहवः ' एवं मूलवृत्तिः स्यात् ।
- ९-६ ' आशीर्योज्या ' इति याज्ञिकमतम् ।
- १० कुप्रेदं प्रतिपादिनम् ।
- ११ मधुपर्कप्रहणानन्तरं नामाता ' मुचक्षा अहं ' इति मन्त्रेण यथाग्निमद्भानि गृह्णाति = (मान० गृ० १ । ९ । २९) । क्षुत्त्वा नृग्भिन्वाऽमनोऽं दृष्ट्वा पापकं गन्धमाप्रायासिम्पन्दने वर्णपानने च मुचक्षा इति वर्णाभ्यां मयि दक्षकनू इति जनेन (आश्व० गृ० ३ । ६) ।
- १४ कर्मकरणेषु = मन्त्राः कर्मणां कर्णानि माधनानि । न हि मन्त्रास्ते कर्म ।
- १४ इत्यग्नोः वेद्योः = ऋतमामवेद्योः । ' इष्टादारेव ' अत्र ' एव ' = अपि ।
- ९-१६ देवनेष्टे = देवता = इष्टे । ' इष्टा ' इति पाठान्नं (२९) न मानु ।

पङ्क्ति.

... १

११

१८ अभियुक्त = दूषितः । (अभिधोम = दोषारोप) ।

२३ यातुधान = राक्षसः । पारसीकभाषाया जादु = यातु ।
नारसीभाषाया जोदुन् = राक्षस ।

१ आचिख्यासा = अख्यातुमिच्छा ।

७ व्यपदेशः = अभिधानं यदितरवस्तुभ्यो विशिष्टवस्तुनो भिन्नता
दर्शयेत् ।

१२ अवात = वातस्य अभाव । अव्ययीभावः । तत् ब्रह्म । तदा
ब्रह्म कस्यापि कारण न भवति । कार्याणा कारणाना चामा-
वात् । तदा वातनामक कार्यं नाऽऽसीत् । ब्रह्म वातं नोदपादपत्
तदा । तेन अननाय श्वासोच्छ्वासक्रियायै वातो नाऽऽवश्यक ।
वात विनैव ब्रह्म आनीत् ।

१९-२६ स्वधया = अग्नेन अन्नशक्त्या ।

१७-१८ तस्माद्धान्यक्त = तस्मात् + ह + अन्यत् + न ।

१९ व्यपदेशुम् = इदं ब्रह्म विशिष्ट वस्तु इति अभिधातुं नाम्ना
दर्शयितुम् ।

२३-२४ सर्वत्र तम एव आसीत् । तमसो भिन्न किंचिदपि नाऽऽसीत् ।

२४ अप्रकृतम् = अप्रकृतम् । प्रकृत = प्रकृतं = विशिष्ट ज्ञानम् ।

२ प्रधानं = जघत-उपादानम् उपादानकारणम् ।

३ पारमर्ष्यं = परमह-ऋषिः कषिः तेन कृतं रचितम् ।

'पारमर्ष्य' (२१) इदं पाठान्तरम् । परम अर्थ प्रधानम् । तत्स-
कान्धिसूत्रम् ।

४ सलिलं = स = क्लिप्तम् । स = सत् । लिलं = लीनम् ।

अस्य शब्दस्य 'पञ्चैव प्रयोगा' ऋग्वेदे । एकस्मिन् स्थले सलिल-
नामा 'कश्चिद्देव' । अन्येषु स्थलेषु सर्गात् प्राक् अविशिष्टं जग-
द्बीजम् । अत्रापि स एवार्थ इति भाति । विशिष्टोऽर्थो ज्ञातु-
मशक्यः ।

पत्रं

पङ्क्तिः

६२१, (

६ तुच्छचेन = सूक्ष्मीभूतेन कर्मणा । तत् कर्म परमण्डपसदृशम् ।
पदानां (कृतः) मण्डपः । तुच्छचेन = त्याज्येन अनिष्टेन
(तमसा) ।

९ आः (६२० । २१) = आसीत् (सायणः) ।

६ आभुः (६२० । २१) = आभवतीति (सायणः) । आसमन्तात्
मृतं प्रसृतम् । यत् आभुस्तुच्छचेन अपिहितम् आसीत् ।

७ तपसः = तपोनामा देवः । तस्य महत्त्वेन । अथवा तपो-
रूपकर्मणो महत्त्वेन ।

१६ सुदेव = सुभगो राजा । सौभाग्यम् उर्वश्या लाभेन । प्रप-
तेत् = ऊर्ध्वं गच्छेत् । अनावृत् = अनावर्तमानः पृथिवीलोकं प्रति ।
परावतो नाम त्रयः स्वर्गलोकाः । तामु परमा उच्चतमा
गन्तवै = गन्तुम् । परावतं परमां गन्तवै = पतितश्च दूरा-
द्दूरतरं गच्छेत् (दुर्गं) । अयमर्थः परावच्छब्दस्याज्ञानात्प्रा-
मादिकः ।

१८ अघा = अघ अघ अथवा ।

१९ निर्ऋतिनामा नरकसदृशो लोकः । उर्वश्या अलाभे मरणं
नरकप्राप्तिश्च ।

६ 'आर्षम् । संशयोत्थापनम्' इति पाठान्तरम् (२८) । यदि वा
इदमस्मि इति संशय उत्थाप्यते ।

७ यत् इदं इति पदपाठः । 'यदि वा' इति दुर्गः । यत् वस्तु इव
इदम् अहम् अस्मि । केन वस्तुना सदृशोऽहमिति न जानामि ।

९ निष्य = गूढः प्रश्नः । अयं गूढप्रश्नः । तं प्रश्नं मनसा
सैनद्धः बुद्धिसाहाय्येन चरामि विवेक्तुं यते ।

१४ आत् इत् = अनन्तरम् । ततः ।

९ अददत् न प्रत्यवेयात् = यस्यान्नं नास्ति स यदि अन्नं न
ददाति परेम्यः तथापि तस्य न प्रत्यवायः दोषः ।

(१-१९) अयमाच्यात्मिकोऽर्थो न स्वाभाविकः ।

पङ्क्तिः

१६ अत्र 'देवता' शब्दो द्विवारं प्रयुज्यते । सकृदेव तस्य प्रथो-
जनम् । 'देवता अन्नमौक्त्रा' यदि स पश्येत् । ' यदि-
स्यादिति ' अस्मिन् वाक्ये प्रथमो 'हि' निपातो व्यर्थः । तत्र
भुक्तेन = देवताभिर्भुक्ताद्वाशिष्टेन अत्रेन भुक्तेन । अवाशिष्टात्त-
मक्षणेन केवलाद्यो न स्यात् ।

२१ अनुक्रमण्या चतुर्थी ऋगेव जगती । शिष्टास्त्रिष्टुभः । छन्दोनु-
क्रमण्या तु चतुर्थी त्रिष्टुप् । शिष्टा जगत्ये । अस्य सूक्तस्य
दिव्य आङ्गिरसो वा ऋषिः ।

१ उद्धहनं = विवाहः ।

३ पुष्करिणी इव = पुष्करिणीसदृशम् । पुष्करिणी = पुष्करयुक्ता
छता पुष्करैः सचिता सरसी वा । भोजस्य इदं वैश्व पुष्करि-
णीव पुष्करैः परिष्कृतं सम्कृतम् (दुर्गा) ।

३ देवमानं = दैवतं विमानम् । (दुर्गा) । किंनु (ऋ० स०
१० । १३२ । ७) इत्यत्र यमस्य रथः देवमानमित्युच्यते ।
देवमानं रथो वा प्रासादो वा । देवमानेव = देवमानमिव = देवसम-
मिव ।

१३ इत् = एव ।

२-३ नृहृद्देवतायां निदान दीयते । आर्षानुक्रमण्यामार्पमेव । दुर्गकाले
कदाचित् आर्षानुक्रमणी इति ह्येत्यपि ग्रन्थयोर्नाम म्यात् ।

१ परोक्षकृतादर्शना मन्त्राणां लक्षणानि उदाहरणाना च निदानानि
दत्तानि । लक्षणोद्देशत = लक्षणैः उद्देशैश्च । उद्देशः =
निदानम् ।

१७ उत्सन्नयज्ञः = अग्नौ अनुष्ठेयानामिद्वानां बहुलत्वात् प्रमादात्
अज्ञानाद्वा क्वचिन् किञ्चिद्भ्रमुत्सन्नं भवति । अङ्गन्योत्सन्नत्वे
यज्ञं पुर्यते । एतद्दोषपरिहाराय अग्निचित्ये अधिना इष्टका
उपधीयन्ते ।

१७ 'उत्सन्नयज्ञो वा एष को ह तद्देव यदेतन्म प्रियते यज्ञ' [मिथ्या०
सं० १ । ११ । ९] । इदमुत्सन्नत्वं येन पुनराहुनिदानेन

पत्रं

पङ्क्तिः

दितिर् १५० १३१७, निराकियते । 'उत्सन्नयज्ञो वा एष संतत्सराद्वा अच्युत्सन्नयज्ञोऽ
 (१३१) अरुभते संवत्सरदिवेनमध्यान्त्वावच्छेदे' (मैत्रा० सं० ४ ।
 १३१ । ३) । चातुर्मास्यैः इष्टिभिः इदमुत्सन्नत्वमवच्छेद्यते ।
 ३३० । उत्सन्नः = नष्टो महिष्कृतो वा । सर्वो यज्ञ उत्सन्नः यस्मात्
 अज्ञानात् प्रमादः अपरिहार्यः । ब्राह्मणे उत्सन्नत्वम् = अन्नवै-
 कल्यम् । दुर्गमते उत्सन्नत्वम् = मन्त्राणां यज्ञेषु प्रयोगाभावः ।
 ३३१ । उत्सन्नं प्रकरणं प्रयोगश्च येषाम् । कस्यां संहितायामेते मन्त्रा
 विद्यन्ते कस्मिन् कर्मणि च ते विनियुज्यन्ते इति न ज्ञायते ।

२१ 'वाचस्तोमयोगविनियोगकल्पेषु' इदं दुर्बोधम् । वाचस्तोमयागस्य
 प्रयोगः मन्त्रविनियोगश्च द्वावपि नष्टौ । अयमर्थः स्यात् ।
 अथवा वाचस्तोमप्रयोगे यथा मन्त्राणां विनियोगो नष्टस्तथा
 केषुचिदागेषु । किंतु वाचस्तोमप्रयोगो नष्टः तत्रत्या मन्त्रा
 अपि नष्टा इति न श्रुतम् । 'वाचस्तोमप्रयोगविनियोगकल्पेषु'
 इदं प्रसिद्धं भाति ॥

२२ इन्द्रो ब्राह्मणो भूत्वा त्वां याजयानीति मनुमुवाच । कतमस्त्व-
 मासि ब्राह्मण इति पृष्टः प्रत्युवाच । किं ब्राह्मणस्य पितरं किमु
 पृच्छसि मातरम् । श्रुतं चेदस्मिन् वेद्यं स पिता स पितामहः
 (मैत्रा० सं० ४ । ८ । १) इति ॥ वृत्तौ दत्तमवतरणम-
 शुद्धम् । अस्य श्लोकस्य प्रकरणं ज्ञायते । 'सोमयागे पात्नी-
 यतो मामग्रहः । तस्येदं ब्राह्मणम् ॥ विनियोगश्च तस्मिन्नेव ग्रहे
 भवितुमर्हति । इन्द्रश्च देवता स्मात् । दुर्गेण किमित्ययं श्लोकोऽ-
 धतारित इति न ज्ञायते ।

१२७

१ यज्ञो वै प्रजापतिः । अनिरुक्त्या जुहोति । अनिरुक्तो हि
 प्रजापतिः (मैत्रा० सं० ३७ । ६ । १) । बदनिरुक्तं प्राजा-
 पत्यं शंसति । अनिरुक्तो हि प्रजापतिः (ऐ० ब्रा० २९ ।
 ४) । यस्मिन् मन्त्रे देवता न स्पष्टा सोऽनिरुक्तः । प्रजा
 पतिश्च सृष्टेः पूर्वं मूर्तिराहित्यादनिरुक्तः ।

२ सामान्यात् = सामानधर्मात् ।

३ अभिशेन्द्रश्च भूयिष्ठमानी देवतानाम् । तस्मान् ब्राह्मणश्च

पत्रं

पङ्क्तिः

राजा च भूयिष्ठभाजौ मनुष्याणाम् (मैत्रा० सं० ४ ।
७ । ८) ।

१० अग्निर्वै सर्वा देवताः (मैत्रा० सं० २ । १ । ४) ।
काठ० सं० १० । १) । अग्निर्वै सर्वा देवताः । अत्र
वैश्यस्यापि देवता (मैत्रा० सं० २ । ३ । १) । ' अत्र वै
सर्वा वसति देवता ' इदं कस्यां संहितायां वर्तते इति न
ज्ञायते ।

११ ' नाराशंसः ' इति पाठान्तरम् (२८) । निरुक्तपाठस्तु
' नराशंसः ' (६२९ । १०) । नराशंसः अग्निः । नारा-
शंसो मन्त्रः । ' यज्ञप्रभवत्वात् ' अत्र च. ट. पुस्तकयोः
' विष्णु ' इति प्रान्ते विवरणं लिख्यते ।

१-१२ यज्ञस्य श्रेष्ठं भगवद्गीतायां तृतीयाध्याययोर्निरूप्यते ।

१७ यस्मात् मन्त्रा अनाविष्कृतलिङ्गा अत एव दुर्बोधाश्च यस्माच्च
मनुष्या अल्पबुद्धित्वात्तेषां मन्त्राणामर्थं कर्तुं न शक्नुवन्ति
तस्मादेते मन्त्रा नाराशंसा इति न शक्यं वक्तुम् । एतेषु
नराः स्तूयन्ते इति कथं ज्ञेयम् । इदं दुर्गमतं न ग्रहीतुं
शक्यं यस्मात् ' नराशंसः ' इति शब्द एव नरा
यस्मिन् आशस्यन्ते स मन्त्रः इति दर्शयति । नाराशंसा
मन्त्रा हीना इत्यपि मतं कश्चिद्वर्तते ' नाराशंसैः न शंसेत् '
एवम् ।

१-२२ गुणपदमयः = विशेषणपदयुक्तः । तत्र स्पष्टं प्रधानपदं न
दृश्यते ।

२२ देवतायाः संविज्ञानपदं रूढपदम् । यथा अग्निः इन्द्रः वरुणः
इत्येवमादीनि रूढपदानि । संविज्ञानपदस्य व्याख्या (निरु०
७० । २०) इत्यत्र । ' अन्यतमत ' (३०) । इदं
ग्रामादिकम् (पा० ७ । १ । २९) ।

२३ यतः विशेषात् = यस्मान् देवताविशेषप्रख्यापकात् (२२) ।
अवतिष्ठेत् इत्यस्य कर्ता देवतासंविज्ञानपदम् । अन्याभ्यः
देवताभ्यः ।

पत्रं

पङ्क्तिः

६२७

२४ गुणपदानि केवलानि विशेषणानि सर्वाः देवताः आश्रयन्ते ।
तानि सर्वासां साधारणानि । यस्मात् ताः ईश्वराः सर्वे कर्म
कर्तुं समर्थाः ।

६२८

१-२ प्रायःशब्दस्य अधिकारः इत्यर्थोऽन्यत्र न दृश्यते । अन्यच्च
'यद्देवतः स यज्ञो यज्ञाङ्गं वा' इत्यत्र अधिकार एव । प्रायः-
'पदेन तस्य पुनरुक्तिः किमर्था ।

२ 'अव्ययनपाठानुक्रमे' इदं 'यद्देवताधिकारे' इत्यस्य विव-
रणं स्यात् ।

२ बहुलं=बाहुल्येन क्वचित् न तु विस्तृतत्वेन । अयम् आचारो बहुलं
विस्तृतः । बहुलशब्दो यास्कव्रजले प्रधानशब्दवत् नपुंसक
आसीत् । अत्र बाहुल्यम् आचारस्य न । 'बाहुल्यस्य भूयस्त्वेन
प्रसिद्धिः' अयं दुर्गकृतोऽर्थोऽत्र नावश्यः । बहुलं = भूयः इति
बहुलशब्दप्रयोगो लोके प्रसिद्धः । यथा सर्वे अतिथयः सर्वे
पितरः तथा सर्वे देवाः न विशिष्टाः अतिथयः पितरो देवा वा
दुर्गकृतोऽर्थो न समीचीनः । 'बहुलाऽस्य' इति च पाठः (२३)
अस्य आचारस्य बहुला भूयस्त्वेन प्रसिद्धिः । अयमाचारः
प्रायः सर्वत्र प्रचलितः । अयं पाठः 'साधुः ।

११-१२ 'देवतामन्तात्तादर्थ्ये यत्' (पा० ९ । ४ । २४) । देवदेव-
तायं इदम् इति देवदेवत्वम् । देवाः देवताः अतिथयो देवताः
पितरो देवताः ।

१९ निर्वपणं=बलिदानम् । इदं शिष्टं नः अस्माकं देवपितृमनुष्याणां
सह साधारणम् ।

१७ बहुदेवतः = वैश्वदेवः (२९) ।

२० मन्त्रा याज्ञा वा देवता वा । यदा न याज्ञास्तदा देवताः ।
तत्र प्रजाप्रतिदेवताकाः नराशांसदेवताकाः कामदेवताकाः प्रायो-
देवताकाः इति चत्वारः पक्षाः ।

६२९

२ प्रबहिनशब्दार्थो न ज्ञाप्यते ।

११ तां=काल्पन्यशाकपूणी ।

पत्रं पङ्क्तिः

१२९ . . . १४-१५; यागा द्विविधाः प्रकृतियागा विकृतियागाश्च । दर्शः प्रकृति-
यागः । काम्येष्टयो विकृतियागाः । दर्शं सांनाय्य ऐन्द्रो
माहेन्द्रो वा । सांनाय्ये 'इषे त्वा' इत्यादयो दर्भच्छेदनपरा
मन्त्रा आवश्यकाः (१६) । सांनाय्येनेन्द्र इज्यते महेन्द्रो वा ।
तेन एते मन्त्रा ऐन्द्रा माहेन्द्रा वा (१७) । ते सांनाय्यं संष्कु-
र्वन्ति (१६) । विकृतियागं नैतदावश्यकम् । एतेषु मन्त्रेषु
इन्द्रलिङ्गं महेन्द्रलिङ्गं वा नास्ति (१७) । सांनाय्यः =
शृतं क्षीरं दधि च । आदौ क्षीरं ह्यथे पश्चात्
दधि । अयं सांनाय्ययागोऽभावास्यायां कर्तव्यः । (तै० सं०
२ । ५ । ३) । अगतश्रीः संवत्सरमिन्द्रं यजेत । ततोऽग्नये
व्रतपतये-पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत् । ततो महेन्द्रं यष्टुं योग्यो
भवति (तै० सं० २ । ५ । ४) । अयं सांनाय्ययागो येन
सोमयागः कृतस्तेनैव कर्तव्यः । (तै० सं० २ । ५ । ५) ।

१८ चोदकेन = कल्पसूत्रेण ब्राह्मणेन वा । प्रदिश्यन्ते = विनियोक्तव्या
इति निर्दिश्यन्ते । 'प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णामि । एष ते योनिः ।
प्रजापतये त्वा' (मैत्रा० सं० १ । ११ । ४) । इदं वाक्यं
चोदकम् । कुविदङ्ग इति मन्त्रः (१९) अनेन प्राजापत्यग्रहणे
विनियुक्तः । अस्मिन्मन्त्रे प्रजापतिलिङ्गं नास्ति ।

२१ ऋषभोऽसि शाकरो वपट्कारस्य त्वा मात्रायां सादयामि'
(मैत्रा० सं० १ । ११ । १२) ।

२२ ऋषभोऽसि शाकर इति दक्षिणतो जुहाः पूर्णमुषं सादयति
(मान० श्रौ० १ । २ । ६ । २७) । अयं सुवामादनमन्त्रः ।
तस्य श्रौवे आधारे विनियोगः (२३) । प्रजापतये स्वाहेति
पूर्णमुषं ध्रुवायामवनीय ततो ज्वलत्यग्नौ जुहोति । (मान० श्रौ०
१ । ३ । ११२) । मुषेण प्राजापत्यमाधारमाधायति (तै०
सं० ३ । ३ । ७) । तेनायं मन्त्रः 'ऋषभोऽसि शाकरः'
प्राजापत्यः ।

१ संस्कारपूर्वं ग्रहणं स्यादुपाकरणं श्रुतेः (अन्नः ३ । ७ । ४०) ।
उपाकर्मविधिः वसिष्ठस्मृतौ (१३१-३) ।

पत्रं
६३०

पङ्क्तिः

- २ ब्रह्मयज्ञः = स्वाध्यायः । स्ववेदपठनम् । जपः सावित्र्याः ।
एतानि सर्वाणि गृह्यकर्माणि । तेषु श्रौतमन्त्रा विनियुज्यन्ते ।
- २ नैष्ठिको ब्रह्मचारी आचार्ये परिचरेत् (वासिष्ठस्मृतिः ७ । ३) ।
आ शरीरविमोक्षात् (७ । ४) । वेदस्वीकरणे दृष्टो गुर्व-
धीनो गुरोर्हितः । निष्ठां तत्रैव यो गच्छेन्नैष्ठिकः स उदात्तः
(लघुविष्णुस्मृतिः १ । २४) । नैष्ठिकब्रह्मचारिणो यज्ञादि
श्रौतं कर्म विवाहादि गृह्यं च नास्ति । तथापि उपाकरणादय-
स्तस्यापि विद्यन्ते ।
- ३ इदमवतरणं दुर्गेण वृत्त्युपोद्धाते दत्तम् (निरु० २ । ३-६) ।
अत्रत्वेऽवतरणे केचित्पाठा भिन्नाः ।
- ६ प्रत्यवायः=अनिष्टम् ।
- ११ नराशंसो यज्ञोऽग्निर्वेति पूर्वमुक्त्वा (६२७ । ४) अत्र 'सौर्या
वा' इति किमित्युच्यते ।
- १६ 'अथवा' इत्यादिरर्थः (६२७ । २०-२४) इत्यत्र न
दत्तः ।
- १६ तस्मिन्मन्त्रे । अभिसंदर्धीत = मनसि कुर्यात् । स मन्त्रस्तथा
देवतया संबद्ध इति मनसि कुर्वीत । 'यद्देवतः स मन्त्रः'
इत्यादेरिदमपरं व्याख्यानं न सरलम् ।
- १९-२० देवतानामार्थपत्यसंबन्धात् = देवता यजमानमर्थपतिं कर्तुं
समर्थाः इत्यस्मात्कारणात् ।
- २० संविज्ञातं = रूढम् ।
- २१ 'अधिपतिरपि' अत्र 'अपि' शब्दस्य न किमपि प्रयोन-
नम् । 'अपि' अपपाठः स्यात् । मूलपाठः 'इति' स्यात् ।
अथवा 'कामभ्याधिपतिरपि देवता कल्प्यते' इत्यन्वयः
अर्थश्च स्यात् । अत्रापि देवता कल्प्यते नादेवता ।
- २२ व्याहन्यते = नोपपद्यते न संगच्छते, विरुद्धत्वात् ।
- २५ -तानि अथादीनि सत्त्वानि न अक्षादीनि द्रव्याणि ।

- पत्रं ६३० पङ्क्तिः २६ स्तोत्रं ० ० कारिष्यन्ति = स्तोतारम् अभिमतस्य इष्टस्य । अर्थस्य पतिं कारिष्यन्ति । इष्टमर्थं दास्यन्तीत्यर्थः ।
- ६३१ १ विशेषतः = इयं स्तुतिः इयं निन्दा इति ।
- २ चित्तिः = ज्ञानशक्तिः । 'चित्तिः' (२६) इति पाठान्तरम् ।
- २ अश्वादयः = अश्वः शकुनिः मण्डूकाः (निघ० १ । ३) । अक्षादयः = अश्वः ग्रावाणः रथः (निघ० १ । ३) । अथाप्यष्टौ द्वंद्वानि (६२९ । १३) । इदं दुर्गेण न व्याख्यातम् । निरुक्तमूले इदं प्रक्षिप्तमिव भाति एतेषु द्वंद्वेषु उलूखलमुसले (२९) हविर्धाने (३०) विपाट्टुतुद्री (३२) आर्नी (३१) एतानि अदेवताः । इतराणि चत्वारि देवता एव । अदेवता देवतावस्तूयन्ते इत्यस्यानन्तरम् अदेवता एव निर्दिष्टव्या आसन् ।
- ३ यस्मात् अदेवता देवतावत् स्तूयन्ते तस्मात् ।
- ३-४ लक्ष्येण (देवता) लक्षणम् अद्विरुद्धं संगतम् इति स न मन्येत ।
- ४-५ आगन्तून् = कविकल्पितान् । ऋषिभिः स्तुत्यर्थमारोपितान् । न स्वाभाविकान् । इवशब्देन कानिश्च शङ्का प्रदर्शयति न तु निश्चितं मतम् ।
- ६-७ आगन्तवः = अपायिनः अनित्याः । ६-८ इदं विवरणं न क्षिप्तम् ।
- ९ 'प्रत्यक्षदृश्यमेतद्भवति' अस्यापि दुर्गोक्तोऽर्थः क्षिप्तः । एते अर्था नागन्तुका इतीदं प्रत्यक्षं दृश्यते यस्माद्देवता ऐश्वर्ययुक्ताः ।
- ११ हरी इन्द्रस्य रोहितः अग्नेः हरितः सूर्यस्य (निघ० १ । १९) ।
- १३ 'शिष्यो न मन्यते' अत्र न शब्दो व्यर्थः । 'मन्येत' इति पाठ इष्टः । न एतत् सम्यक् अभिधीयते इति स शिष्यो मन्येत ।
- १४ 'प्रत्यक्षदृश्यमेतद्भवति' इत्यादि सर्वमुत्तरम् । देवता महाभागा अष्टसिद्धियुक्ताः । तन्मोक्षासामेतेऽर्था नागन्तुकाः ।

पत्रं

पङ्क्तिः

६३१

" सिद्धियुक्ता मनुष्या अपि अशक्त्यानर्थान् संपादयन्ति । किं पुनर्देवाः । एतत्सर्वं प्रत्यक्षं दृश्यते श्रुतियाम् ।

१६-१७ ऐश्वर्यं महत् = महदैश्वर्यम् । महाभागाः यस्याः सा महाभागा । तस्या भावः माहाभाग्यम् । एतन्माहाभाग्यम् आणित्वादिभिर्द्वयः (१७-१९) ।

२१ देवता एव आत्मा । देवतायाः माहाभाग्यात् प्रत्यक्षदृश्यमेतद्भवति इत्यन्वयः दुर्गमते ' माहाभाग्यात् देवतायाः एकः आत्मा ' इत्यन्वयः । ' एकोऽपि सन् देवतात्मा ' इति दुर्गो ब्रवीति । (६३२।११) इत्यत्रापि तथैव ।

२१ प्रकृतिभेदेन = चैतनभेदेन (६३२।११-१३) । अप्रकृतिभेदेन = अचेतनभेदेन (तथैव) । वर्धमानः = नानारूपाणि गृह्णान् ।

२२-२३ चोमवीति = भृशं पुनः पुनर्वा भवति ।

२४ यथा (प्रथमं) = इति यथा ।

२९ ' छन्दसि दृष्टानुविधिः ' इति पातञ्जलमहाभाष्ये वचनम् । वेदे बहूनि शब्दरूपाणि न पाणिनीयव्याकरणानुसारीणि । वेदे यानि रूपाणि एवविधानि दृश्यन्ते तेषामनुरोधेन विधयः सूत्राणि कर्तव्यानि । अस्य वचनस्य दुर्गेण भिन्नोऽर्थः कृतः । छन्दः लक्ष्यम् । तत्र यावन्ति नामानि तावन्त्यो देवताः । अन्यथा नामनाहुल्यस्य न कोऽप्यर्थः ।

६३२

१ यावदभिधानम् = अभिधानानि अवधार्य । अव्ययीभावः । यावद्वधारणे (अमर ३ । ३ । २४७) । अभिधानसंख्यया देवतानानात्वविधिः । देवता नाना इति कथं विहितं व्यवस्थापितं वा । अभिधानानात्वेन देवतानानात्वं विहितम् । विधिः = व्यवस्था । देवतानानात्वविधिः = देवतानानात्वव्यवस्था ।

२-३ येषु सूक्तेषु संवादो वर्तते तानि संवादसूक्तानि ।

३ ' कस्या शुभा ' इदं पञ्चदशसं सूक्तम् (ऋ० सं० १।१६९) । अस्मिन्महतामिन्द्रेण संवादः । अगस्त्यलोपामुद्रासंवादो नर्दाना

पत्रं
६३२

पङ्क्तिः

११

- ॥ विश्वामित्रेण संवाद इत्यादयः संवादा 'ध्रुवशाखायां वर्तन्ते ॥
व्यपदेशः = भेदः । 'देवताभेदे एव संवादः शक्यः । अयमेव
हेतुः देवतानानात्वे ॥ एतद्देवतानानात्वं कथं निराक्रियेत ।
अपासितुं = त्यक्तुं निराकर्तुम् ॥ नामयन्ति नानात्वम् ।
असंकरवर्तीनि = अमिश्राणि असाधारणानि विशिष्टानि ।
कर्माण्येव लिङ्गानि । अर्थः = प्रयोजनम् उपयोगः । भिन्न-
कर्मणां प्रयोजनं दृश्यते ॥ अर्थदर्शनमेव हेतुः । तेन उपबृंहि-
नानि = समर्थानि बलवन्ति । एतानि उपयुक्तानि कर्माण्येव
हेतुः 'त्रित्वे' ।
१० अपरिहीणं = ऐश्वर्यं न केनापि अंशेन ऊनीभवति ।
१२-१३ यद्यपि आत्मा एकः तथाऽपि स चेतनभेदैः अचेतनभेदैश्च
आत्मानं विकर्तुं समर्थः । चेतनरूपेषु अचेतनरूपेषु च विकरणं
'धर्मः' विद्यते अस्य ।
१३ विकुर्वतः अस्य एकस्य देवतात्मनः (११) ।
१४ प्रत्यङ्गानि = अङ्गानि ।
१५ महतां देवतात्मना ।
१६ व्यतिरिच्यन्ते = भिन्नानि भवन्ति 'मूलद्रव्यात् । 'अतिरिच्य-
'न्ते' (२७) इति पाठभेदः ।
१७ वा = च । अधिष्ठानम् = अत्र आत्मा ।
१८ प्रत्यधिष्ठानं = वर्तमानमधिष्ठानमाभिलक्ष्य तत्पुरतः कृतम्
अन्यत् आधिष्ठानम् ।
२० अयमङ्गप्रत्यङ्गभेदः क्लिष्टः अनवश्यश्च ।
२१ व्यूहं = विन्तरं प्रपद्यं विकरणम् ।

३ वक्ष्यति (१००७ । १७-२०) इत्यत्र । १००७ अत्र 'स
एष' (४) तत्र 'अर्थेप' (१७) । अत्र 'सत्तालक्षण' (९) ।
तत्र 'सत्त्वलक्षण' (१८) तत्र 'तद्ब्रह्म' इत्यस्यानन्तरं 'तत्सत्यं' ०

पत्रं

पङ्क्तिः

६६३ " तच्छुद्धं " इत्यधिकम् । अत्र 'स भूतात्मा' (९) । तत्र 'तानि-
छोः भूतात्मा' (१९) ।

८ । प्रकृतेः यानि भूमानि बहुत्वानि तैः सत्त्वानाम् अनन्यविषयत्वम् ।

। प्रकृतिभूमानि एव सत्त्वानि । प्रकृतिभूमयो न भिन्नानि ।

'सत्त्वानां प्रकृतिभूमभिः ऋषयः स्तुवन्ति' इदं दुर्बोधम् । किं

स्तुवन्ति । सत्त्वानां स्तुवन्ति इत्यशुद्धं वाक्यं स्यात् ।

सत्त्वानि स्तुवन्ति इति शुद्धम् । सत्त्वानि प्रकृतिभूमभिः

ऋषयः स्तुवन्ति इति वाक्यं चेत् अर्थः सुलभः । बहोर्लोपो

भू च बहोः (पा० ६ । ४ । १९८) इति सूत्रेण भूमन् ।

भूमा = बहुत्वम् । भूमभिः = महिभिः । प्रकृतेः भूमानः

महिमान् । सत्त्वेषु आरोप्यन्ते । यदा ऋषयः सत्त्वानि स्तुवन्ति

तदा तेपु ते प्रकृतिगुणान् आरोपयन्ति । भूमन् महिमन्

गरिमन् इत्यादय इमनन्ताः शब्दाः पुंलिङ्गाः न नपुंसकाः ।

९. द्यौः अन्तरिक्षं पृथिवी इत्यादयः कारणस्य महिमानः महान्ति
रूपाणि ।

१०. द्यौस्ते पृष्ठमिति मन्त्रं पिण्डोपरि पदं दधतमश्वम् अस्पृशांस्तृष्-

न्नध्वर्युः दक्षिणकरम् अश्वस्य पृष्ठे धारयन् पठति (कात्या०

श्रौ० १६ । २ । १९) । अग्निचितौ गर्तखननेऽयं विधिः ।

तत्राश्व उच्यते ' द्यौस्ते पृष्ठम् ' इति ।

१०. 'सधस्थम्' इत्यस्य स्थाने 'शरीरम्' (२७) इति पाठान्तरम् ।

तत् मैत्रायणीतैत्तिरीयवाजसनेयकठशाखासु नोपलभ्यते ।

सधस्थं = सहस्थानम् । अग्निना सह निवासस्थानम् ।

१३. प्रकृतिः आत्मा स्वयमेव । सर्वाणि स्थावरजंगमानि विशिष्टव-

स्तूनि प्रकृतेः आत्मनः अभिन्नानि । आत्मैव तेन तेन रूपेण

अवस्थितः ।

१९. अदेवता इति अभिमतम् । यन् अदेवतेदमिति लोका मन्य-

न्ते तत् ।

१९. 'वैश्वदेवस्य सिद्धस्य सायं प्रातर्बलिं हरेत् (मान० गृ० २ । १९)

तत्र पृथक् पृथक् बलिदानमुपादिश्यते ऋसेभ्यः पिपीलिकाभ्यः

पत्रं
६३३

पङ्क्तिः

१५ पिशाचेभ्यः शैलेभ्यः पन्नगेभ्यश्च बल्यर्पणम् (मान० गृ० २ ।
॥ १२ । १७) ।

१७ नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (पा० ८ । २ । ७) इत्यनेन यथा
राज्ञो भावः राज्यं तथा सर्वनाम्न्याः भावः सार्वनाम्यं न तु
'सार्वनाम्यम्' । प्रकृतिः सर्वनाम्नी । 'भस्यादे तद्धिते' इत्य-
नेन वार्तिकेन सर्वनाम्नी इत्यस्य पुंवद्भावः । छ. त. द. ग.
च. ज. पाठः 'सार्वनाम्यम्' एव ।

यस्मात् प्रकृतेः सर्वनामता यस्मात् सर्वाणि नामानि प्रकृतेरेव
'तस्मात् सर्वाणि सत्त्वानि प्रकृतिरूपाणि । 'प्रकृतिः' सर्वेषु 'नता'
(२०) इति दुर्गकृतोऽर्थः । यदि अयमर्थः तर्हि स
माहाभाग्ये अन्तर्भूतः । प्रकृतिः महाभागा समर्था ।
अत एव सर्वेषु वस्तुषु नता । सर्वाणि सत्त्वानि प्रकृति-
रूपाणि । किंतु 'प्रकृतिसार्वनाम्याच्च' अयं पूर्वस्मात् अपरो
हेतुः । सर्वेषां सत्त्वानां नामानि प्रकृतेरेव । अश्वः अक्षः
इत्यादयः प्रकृतिनामान्येव ।

१९ नतिमात्रं = नतिरेव । नाम नतिः एव नान्यत् किञ्चित् ।
नतिः नाम नमनं संज्ञा एते समानार्थाः शब्दाः । 'न संज्ञा'
(३०) इति च. पाठः । न संज्ञा = नाम न कस्यचित् विशि-
ष्टपदार्थस्य संज्ञा । मनुष्याश्वादीनि नामानि सर्वेषां मनुष्याश्वा-
दीनां साधारणानि ।

२० सर्वत्वेन नता = सर्वैः पदार्थैः । प्रकृतिः नमति परिणमते । सर्वं
पदार्थाः प्रकृतेरेव परिणामाः । प्रकृतेः सर्वनाम प्रकृतिसर्व-
नाम । तद्भावः प्रकृतिसार्वनाम्यम् । अद्योत्तरपदगृह्णितः केन
सूत्रेण ।

२२ देवता एव प्रकृतिः इति ममासे ' यस्मात् देवनाप्रकृतिः माहा-
भाग्ययुक्ता ' इत्यन्वयः । यदा देवता प्रकृतिः इति पृथक्
अममामरतिनौ शब्दौ तदा ' यस्मात् माहाभाग्ययुक्ता देवता
प्रकृतिः ' इत्यन्वयः ।

पत्रं
६३३

पङ्क्तिः

२३ ' प्रकृतिसार्वनाम्यात् ' इत्यस्यायमर्थः स्यात् । सार्व-
नाम्यं = सर्वनामावस्था । यथा अहं त्वं सः इत्यादीनि सर्वेषां
वस्तूनां नामानि न मनुष्याश्चादिवत् विशिष्टजातीनां तथा
प्रकृतिः सर्वेषु पदार्थेषु वर्तते । प्रकृतिं विना परिणामाः कथं
स्युः । ' प्रकृतिसार्वनाम्याच्च ' इत्यस्य संबन्धः ' इतरेतर-
जन्मानो भवन्ति ' इत्यनेन स्यात् । देवा इतरेतरजन्मानः
कथं भवन्ति । यस्मात् प्रकृतिः सर्वेषु पदार्थेषु वर्तते तस्मात्
इन्द्राग्न्यादयः कदाचित् प्रकृतिः भवन्ति कदाचित् विकृतिः ।

२४ अभिहितम् (६३१ । १०-१३) । ' इन्द्रादीनां हरितो-
हितादीनि आगन्तूनिव अर्थान् मन्यमानः मनुष्याश्चवत्
(तेषाम्) अनित्यत्वं (च) अवेत्य (इदं) सम्यक्
नाभिधीयते इति स न मन्येत ' इत्यन्वयः । नेदं वाक्यं सुर-
चितम् ।

६३४

२ इति यदभिहितम् अत्र अस्मिन् विषये । अत्र = तद-
न्तरेण ।

६ ' इतरेतरजन्मानः ' इत्यस्य ' इतरेतरप्रकृतयः ' इति वि-
रणं प्रान्ते लिखितं वृत्तौ अन्तर्भूतं स्यात् ।

७ मनुष्याणां = मनुष्येषु । देवतानां (९) = देवतासु ।
' देवानां ' (२७) इति पाठान्तरम् । देवताशब्दो देवश-
ब्दात् पूज्यतरः ।

१० सायमुपस्थानस्य किं कारणम् इति प्रश्नः । तस्योत्तरम्
' असौ वा आदित्यः सायमासुवति (मैत्रा० सं० १ ।
६ । ७) । आसुवति = प्रभूते (अग्निम्) । अन्यकाराप-
नोदायाशिः प्रज्वाल्यः उपस्थेयश्च । एषः अग्निः प्रातः प्रमु-
वति आदित्यम् । तस्मात् असौ अग्निः सूर्यप्रकाशकारणमिति
नोपस्थेयः । प्रसन्नति (२९) इति प्राणादिकः पाठः ।
प्रमुवति = प्रभूते ।

१२ अदितिर्दक्षो अनायत्न दक्षद्विदितिः परि ।

पत्रं
६३४

पङ्क्तिः

१३ अभ्यात्मे = शारीरकविषये । कोष्ठे भव. कोष्ठचः । कोष्ठे
अन्नपाकायाग्निर्विद्यते । नादः = नादरूपः । कोष्ठचादग्नेर्नाद
इन्द्रः कथं जायते इति न ज्ञायते । सर्वा बलकृति. इन्द्रम्यैव ।
मन्यनं बलकृतिः । इदं वचनं कस्यामुपनिषदि कस्मिन् ग्रन्थे
वेति न ज्ञायते । 'अग्नेर्वा आदित्यो जायते' (ऐ० ब्रा०
४० । २८) । तत्रैव ' वायोरग्निर्जायते । प्राणाद्धि बलान्म-
श्रयमानोऽधिजायते ' । ' अयमग्निर्वैश्वानरो षोऽयमन्तः पुरुषो
येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यदेतत्क-
र्णावपिधाय शृणोति' (मैत्रायण्युपनिषद् २ । ८) । सर्वा
नाद इन्द्र एव । कोष्ठाग्निरन्नं पचति । तदा नाद उत्पद्यते ।
अयं नाद इन्द्रः । तस्मादग्नेरिन्द्रो जायते ।

१६ आगन्तवः = अनित्याः । यद्येतेऽर्था देवानामपि आगन्तव.
तर्हि किं स्यात् । माहाभान्यहानिः कथं भवेत् । मनुष्यवत्
देवा अपि अन्यानर्थान् संपादयेयुः । दुर्गकृतम् 'आगन्तूनिवा-
र्थान्' इत्यस्य विवरणं क्लिष्टम् ।

१-२२ देवाः ईश्वराः । अर्थाः ईशितव्याः ईश्वरैः । देवाः ईश्वरा इति
कथं ज्ञेयम् । येषामर्थानां ते ईशते तैर्विना ऐश्वर्यज्ञानमशक्यम् ।
ऐश्वर्यं प्रख्यातिं न इयात् = ऐश्वर्यं जनैर्न ज्ञायते ।

२६ उक्तः अरिमन्त्रेव खण्डे । सर्गस्थितिलया. एताः तिस्रोऽवस्था. ।
स्थितौ उपात्तसर्वमूर्तिः प्रलये उपरतसर्वमूर्तिः । सर्गकाले
पोदा०० विमर्ति इत्यन्वय । उपात्तः म्वीकृताः सर्वाः
मूर्तयो येन ।

२७ पोदा = जायते इत्यादयः पङ्भावविकारा. (निरु० पत्रं १९ ।
१९-२०) । सर्गकालात् प्राक् आत्मा भायारय सन्मात्रः
एव । किमर्थं जायन्ते । कर्मार्थम् । तैरपि कर्माणि कर्तव्यानि इति
ते जायन्ते । 'उत्सीदियुरिमे लोका न कुर्या कर्म चेदहम्' (भ०
गी० । ३ । २४) । किं स्वत एव जायन्ते । न । आत्मन.
जायन्ते ।

पत्रं
६३९

पङ्क्तिः

२ कामकारः = इच्छा स्वेच्छा ।

३ योगेन । समाधिना आत्मानं पश्यन्तः ततः तस्मादात्मनः कामकारतः स्वेच्छया एव ।

४ तेषां मनसि वर्तमानः संकल्पः विचारो निश्चयो वा । संकल्पम् अनुविधत्ते अनुकरोति । कर्म संकल्पानुविधायि । यादृशः संकल्पः तादृशं कर्म । कर्मणः अनुरूपं कर्मसंपादनाय यदवश्यं (साधनं) तत् । कार्यकारणं = कार्यसाधनम् । कार्यकरणम् इति इष्ट. पाठः । एतत् साधनं शरीरादि तत् कस्मात् उत्पद्यते । आत्मनः । कर्मकरणार्थं यदवश्यं शरीरादि तत् आत्मनः परमात्मनः उत्पद्यते । परमात्मा तेभ्यः कर्मानुकूलानि साधनानि ददाति । मनुष्यादीनां जन्म प्राक्तन-कर्मायत्तम् । देवानां स्वेच्छायत्तम् ।

७ आत्मा तेषां संकल्पान् अनुविधत्ते । 'आत्मवैपां रथः' इत्यादि कस्यामुपनिषदि ।

८ देवस्य देवस्य = सर्वेषां देवानाम् । देवानां सर्वं सर्वाणि रथादीनि वस्तूनि आत्मैव ।

१० इति यत् उक्तं (८) एतत् । इमाः = अश्वादीनि सत्त्वानि अक्षरथप्रभृतीनि च द्रव्याणि ।

११-१२ रथादिरूपेण प्रकृतिभेदेन = रथादयः प्रकृतेरेव भेदाः । देवताया इमे रथादयो विकारा एव साध्यः अर्थः । देवतैव प्रकृतिः ।

१३ सा देवता स्तोत्रुः आशासितम् अर्थं तेन रथादिरूपेण साधयितुम् अलं ममर्था । सः अर्थः तस्याः देवतायाः स्तुत्या समवेतः युक्तः । मन्त्रे स्तुति आशासितोऽर्थश्च द्वे अपि वर्तते ।

१५ तिस्रो देवताः तेनैव रूपेण आत्मानं धारयन्ति = तत्तद्रूपं गृह्णन्ति । अस्मिन् खण्डे अयं विचारक्रमः । यदा मन्त्रेषु देवता न निर्दिश्यते तदा का देवता । यज्ञे यज्ञाङ्गे वा या देवता सा इत्युत्तरम् । यज्ञे अप्रयुज्यमाना अपि मन्त्राः मन्ति । तेषु

पत्रं
६३६

पङ्क्तिः

१ देवताया अनिर्देशी का देवता । प्रजापतिः याज्ञिकमते । नरा-
शंसः नैरुक्तमते । अथवा प्रयोक्तुः तत्क्षणे या इष्टा देवता
सा । अथवा । प्रायोदेवता २। काऽपि देवता सर्वा देवताः ।
यथा देवदेवत्यमित्यादिषु सर्वे देवाः सर्वे अतिथयः सर्वे पितरः ।
किं कारणं प्रायोदेवतेति । यस्मात् मन्त्रो याज्ञो वा
देवतो वा भवितुमर्हति । याज्ञदेवतो मन्त्र इति प्रायो-
देवता इत्यादिकस्य कारणम् इति शब्दप्रयोगात् ।
न तु निरुक्तकारस्य निश्चितं मतं यथा दुर्गो मन्यते । अदेवताः
यत्र स्तूयन्ते तत्र का देवता । एते अश्वादय अर्थाः न देवताः
किंतु देवतानाम् उपयुक्ताः बाह्याः अर्थाः । यथा रथादयः
मनुष्याणाम् । आगन्तवः बाह्या अर्था इति प्रत्यक्षमेतत्
दृश्यते । एते न मनुष्याः किंतु मनुष्योपयुक्ताः पदार्थाः तथा
देवतानाम् । तस्मात्ते स्तुतिं नार्हन्ति इति स आक्षेपको न
मन्येत एतादृशम् आक्षेपं न अरोपयेत् । देवता महाभागा
यावत्किंचिद्रूपं ग्रहीतुं समर्थाः । आत्मा एक एव । सर्वे देवाः
तस्य भेदाः । अपि च यदा सत्त्वानि द्रव्याणि च स्तूयन्ते
तदा तेषु सत्त्वेषु द्रव्येषु च प्रकृते भूमान् महान्तो गुणा
आरोप्यन्ते । तस्मात् एतासु स्तुतिषु आत्मैव स्तूयते । प्रकृतिः
(आत्मा)सर्वनामसदृशी सर्वेषु वस्तुषु वर्तते । अस्मादेव कार-
णात् देवा इतरेतरजन्मानः । किमर्थं देवा अजाः सन्तः
जायन्ते । कर्मकरणार्थम् । किं स्वतः जायन्ते । न । आत्मनः
एव जायन्ते । एवम् आत्मैव सर्वं वस्तुजातं यद्देवैरुपयुज्यते ।
एतस्या विचारसरण्यां अस्माभिः कृताः केचिद्व्याः पूर्वत्र
दत्तेभ्यो भिन्नाः ।

१३ 'मा नो मित्रो वरुणो अर्यमायुरिन्द्रं ऋभुसा मरुतः परिं ख्यन् ।
यद्वज्रिणो देवजातस्य सप्तः प्रवक्ष्यामो विदथे वार्याणि ॥
एते अश्वं स्तुवन्तीति इन्द्रादयो देवा अस्मान्मा म्बन्तु ।
अत्राश्वः स्तूयते । किंतु स्तुतोऽपि स कर्मर्थं दद्यात् ।

१४ व्याहन्यमानम् = अयुक्तम् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

६३६

१९ आक्षिप्ते = आक्षेपे कृते ।

१६-२१ एतत्सर्वं पूर्वखण्डवृत्तौ नोक्तम् । ऋक् ब्राह्मणवाक्ये न अत्रैवावतारितानि ।

२० एतानि वाक्यानि आत्मा एक एव इति प्रतिपादयितुं समर्थानि । दुर्गेण्डं पूर्वस्मिन् खण्डे नोक्तम् । उन्नीय = साधयित्वा ।

२२ आत्मनः शरीरे तिष्ठता जीवन्मुक्तानमित्यर्थः ।

२४ अन्यत् = व्यतिरिक्तम् ।

६३७

१ अभिधेयं = वस्तु । सत्त्वाविशेषान् = यस्मात् सर्वाणि सत्त्वानि आत्मैव ।

२ यत् अभिधेयं वस्तु अभिधानं नाम अभिद्व्यात् निर्दिशेत् । आत्मनो भिन्नं वस्तु निर्देष्टुमशक्यम् ।

पुरषार्थं चतुर्विधं । स एव निध्रेणी सोपानपरम्परा । प्रथमं निध्रेणीफलकम् = यज्ञः ।

३ अधियज्ञेन उपक्रमः (१) । तत्र अधियज्ञे यदा अवसानं दीयते तदा अधिदेवताविचारं प्रसज्यते । अग्न्य यज्ञस्य कापी-देवता इति प्रथमं उत्पद्यते ।

३-४ किञ्चित् अग्न्यात्म विदुषः = अल्पम् आत्मज्ञानं यस्य । किञ्चित् इत्यनेन ज्ञानम् अत्यल्पं शून्यमिति व्यज्यते । 'अविदुषः' (२४) इति ग. न. पाठः ।

५ अधियज्ञः = यज्ञम् ।

६-७ अभिधानभेदं स्तुतिभेदश्च ।

७ यथाग्रहं = ग्रहः संस्कारः । धर्मविद्यया संस्कारः तदनुष्णम् । 'पृथगिव' इवशब्देन पृथक्त्वं न मत्स्यम् । 'पृथगिव' इव 'पृथगात्मनो देवताः पश्यतः' (४) इत्यनेन किञ्चित् द्विद्वम् । 'इव' शब्दोऽनवश्यः । 'पृथगात्मनो देवताः पश्यतः' इति 'पृथक् देवताः प्रकृतान्ते' इत्यादिभिन् अन्तर्भूतम् । अत्र एव तत्र नावश्यम् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

६३७

९-१० आत्मान यजते इति आत्मयाजी । देवान् यजते इति देव-
याजी । 'श्रेयाश्न्' अत्र प्लुति विचारणायाम् (पा०
१८ । २ । ९७) । प्रमाणैस्तत्त्वपरीक्षण विचारणा । नैकस्मि
= अपि पुस्तके प्लुतिचिह्नं वर्तते ।

११ ब्रह्म = ऐकात्म्यम् । देवता-एव वृक्ष । तस्य मूलं ब्रह्म
ऐकात्म्यं वा ।

१२ विधिरेव प्रधानं येषाम् । 'प्रधानात्' (२८) इत्यपपाठः ।
प्रति, अवभासते ब्रह्म । ब्रह्मणो नानाभेदा याज्ञिकान् प्रति
अवभासन्ते । यावन्ति अभिधानानि तावत्यो देवता ।

१३ मन्यमोऽवाशिष्यते स नैरुक्तान् प्रति अवभासते । (६३१—
६३२) इत्यत्र त्रयं पक्षा उक्ता । तत्र नैरुक्तपक्षो मन्यमः ।

१८ 'स्थानभेदात् ० ० दर्शनाच्च' इदं सूत्रवद्भाति ।

१८ लिङ्गत्रिधा हि भवति (२८) = स्थानत्रयदर्शकं लिङ्गं
विद्यते । विश्वकर्मा (१) गन्धर्व (२) ओषधीनां जानिता
(३) । अत्र त्रित्वेऽपि अग्निन्द्रवायुसूर्याणां नामानि न
विद्यन्ते । एते त्रयं केऽपि अन्ये देवाः स्युः । 'विश्वकर्मा =
आदिस्थान्तर्गतो ब्रह्मा । गन्धर्व = अग्निः । तृतीयं पर्जन्यः'
इति महीधरः । तृतीयं सोम इति सायणः । 'विश्वकर्मा
'चेदजनिष्ट' इति मैत्रायणीकाठककपिष्ठरसहितापाठः । इतरो
'वाजसनेयतैजिरियपाठः' दुर्गं प्रायो मैत्रायणीपाठान् पठति ।
, अस्यामृचि त्रयो देवा इति प्रत्यक्षलिङ्गम् । प्रत्यक्षं = स्पष्टम् ।

६३८

१ 'अजस्य नामा ०' इदं किमर्थं पठितम् । एतत् ऐकात्म्यमेव
दर्शयति । विश्वकर्माणसूक्तस्थेयमृत् ।

अन्यार्थदर्शनात् = 'त्रीन् महिष्मोऽसृजत' इति त्रित्वं विवि-
धनामोत्पत्तिदर्शनार्थमुक्तम् । तथा छान्दोग्योपनिषद्वाक्यं (४-९)
यज्ञेऽनुष्ठीयमाने ब्रह्मनामा ऋत्विग् मौनमाचरेत् । मौनभङ्गे च
'प्रायश्चित्तं कुर्यात्' इति प्रायश्चित्तविधानार्थम् । एतयोर्वान्ययो
त्रित्वप्रस्थापनं नोद्देशः ।

पत्रं

पङ्क्तिः

६३८

१ प्रावृहत् = उद्धृतवान् ।

७ प्रकृतेः स्वरूपग्रहणात् = यदा प्रकृतेः आत्मनः स्वरूपं गृह्यते । प्रकृतिः स्वरूपेण एकैव । तस्याः त्रित्वे स्थानभेदो हेतुः । ' प्रकृत ' (२८) इति च. पाठः । प्रकृतः = आत्मा । तस्य स्वरूपम् एकत्वम् । यदि आत्मा एकः तर्हि तस्य त्रित्वे को हेतुः । स्थानभेदः ।

वशा स्त्री कारिणी च (अमर ३ । ३ । १६) वशा । वन्ध्या-
मुतायोपास्त्रीगवीकारिणीषु च (मेदिनी) । वशा = गौः ।

९-११ पृथिवी अन्तरिक्षं द्यौः वशाः गावः ।

१९ ' अर्थभेदेऽपि ' अत्र व्यर्थम् । ' अर्थाभेदेऽपि ' इति मूलपाठः स्यात् । यद्यपि अभिधानानाम् एकः अर्थः तथाऽपि यावन्ति इत्यादि ।

२१ प्रतिज्ञा ' तिस्र एव देवताः ' इति ।

२२-२३ अभिधाने भिन्ने तथाऽपि अभिधेयम् अभिन्नम् । अभिधान-
भेदेऽपि अभिधेयस्य अभेदात् इति सुवचम् । अथवा ।
' अभिधानमात्रभेदे अभिधेयस्य चाभेदे ' एवम् । अभिधाने
एव भिन्ने । न अभिधेये । ' अपि ' शब्दो व्यर्थः ।

२३ ' अग्य ' इति उपात्ते पष्ठ्याः एकवचने । उपात्त०० वचनं
(३१) इति पाटान्तरम् अशुद्धम् । यस्मात् विशेष्य वायुर्वा
इन्द्रो वा न पष्ठ्येकवचनः । उपपत्तेः (३०) = विग्रहेण ।
अत्रापि विशेष्ये न पष्ठ्येकवचनम् । ' पष्ठ्येकवचनः ' अयं
कथं बहुव्रीहिः स्यात् । ' पष्ठ्याः एकवचनं यम्य ' इति नैव
विग्रहः ।

९२८

२ निश्चय = निर्वचनं कृत्वा ।

३ आ प्यायन्व = पर्थम् ।

६-६ सोमवान्म् इन्द्रशब्दात् अन्यत्र न संभवति । मुग्धाभिर्भ-
न्विनो मय्यमान् = इदं दुर्बोधम् । ' मय्यमः मुग्धाभिर्भ-

पत्रं

६४१ । १०

पङ्क्तिः

६ प्रप्तोता ब्राह्मणाच्छसिग्रावस्तोत्राये (४९) प्रतिप्रस्थाता
- आर्शीध्रोन्नेत्रे (४६) कुण्डपायिनामयन पौर्णमासीदीक्षम् (२१)
अत्सरुकाः = कुण्डप्रतिरूपकाश्चमसा. (४०)' । एतादृशैः
कुण्डसदृशैश्चमसैः सोमं पिबन्ति । तस्मात्ते कुण्डपायिनः ।
तेषाम् अयनं (= सत्रं) संवत्सरं यावत् । अत्र ऋत्विजः
पञ्चैव । न चत्वारो नापि सप्त । सप्त दीक्षन्ते इति दुर्गोक्तिः
किमाधारा ।

७ यस्मात् पञ्च त्रीणि कर्माणि कुर्वन्ति तस्मात् ते पञ्चदश न
षोडश । एते (षोडशर्त्विजः) एवाऽऽहिताग्नय इष्टप्रथमयज्ञा
गृहपतिसप्तदशा दीक्षित्वा समोप्य अग्नीन् तन्मुखाः सग्राण्या-
सते (आश्व० श्रौ० ४ । १) । याम्बमते एक एव चतुर्णां
कर्म करोति । अयं को यागः स्यात् । अत्येकस्य सतः
(६) = एकस्यापि सतः ।

१० य. क्षेत्रे धान्यं लुनाति स एव तत्पुनीते । तस्माद्यो लावक-
स एव पाचकः । स एव पाचकः पारिवेष्टा भोक्ता वा भवेत् ।
कारक (२९) इत्यादि पाठान्तरम् । कारकः (कर्ता)
लावकः पाचकः इत्यादिर्भवति ।

११-१२ संविज्ञातपदत्वे = संविज्ञानपदाविषये । 'संविज्ञात० ०तेषा कार-
कादिशब्दैः' (२७-२८) इति पाठान्तरम् । 'अग्न्या-
दीनां संज्ञाशब्दानां संविज्ञातपदत्वे तु तेषाम्' इत्यन्वयः ।
अग्न्यादयः संज्ञाशब्दाः संविज्ञातः (रुदा) एव । अरूदार्ये
ते न कदापि प्रयुज्यन्ते । एवमयं पाठो न साधुः । अग्निः
इन्द्रः वरुणः एवमादयः संज्ञाशब्दाः विशिष्टेषु अर्थेषु
रूदाः । एषु शब्देषु धात्वर्थो वर्तमानोऽपि व्यवहारे ऋत्विजेषु ।
स नष्ट एव । न तथा लावकपाचकादिषु ।

१२ कारकादिशब्दैः = कारकादिशब्देभ्यः ।

१३ अग्रं नयति इत्याद्य. अग्निशब्दस्य व्युत्पत्तयः (६८०।९-१२) ।
अग्रनयनाद्यर्थाः यज्ञे दृश्यन्ते न तु अन्वयं यज्ञान् । पात-
शालायां ते न विद्यन्ते । तथाऽपि तथाऽपि शब्दः प्रयुज्यते ।
एवम् अग्रनयनादिर्गोऽर्थः ।

- पत्रं पङ्क्तिः १ १ १ १
- ६३९ २१ मन्त्रान्ते संप्रदानेन सामानाधिकरण्यात् = यो मध्यमः ' अस्य चतुर्थपादे संप्रदानेन इन्द्रशब्देन सामानाधिकरण्यं ' तस्मै इन्द्राय ' इति । तस्मात् मध्यमः इन्द्रः ।
- २२-२४ प्रसिद्धतरत्वात्संबन्धस्य = पार्थिवं ज्योतिः अग्निः उत्तमं सूर्यः । एवं पार्थिवोत्तमयोः मुख्यतरः संबन्धः अग्निमूर्त्यशब्दाभ्यां न जातवेदःप्रभृतिभिः ।
- २४ पार्थिवस्व ज्योतिपः जातवेदःप्रभृतिभिः शब्दैः संबन्धो गौणः अग्निना मुख्यः ।
- ६४० ३ 'इति'शब्दो व्यर्थः ।
- ९ अवैषम्येण = वैषम्यं भेदं न दर्शयित्वा । समतया । एकेनैव प्रकारेण ।
- १२ वायुः सदा वहति । एवं मध्यमस्य क्रिया व्यापारो वा अनुपरतः ।
- १३ इतरे ज्योतिषी अग्निमूर्त्यौ । तद्वत् । अग्नेः दहनक्रिया तथा सूर्यस्य प्रकाशनक्रिया अनुपरता ।
- १४ 'अपरिहापित' इदं 'परिहीण.' इत्यस्य णिच् । मध्यमः मुख्येन इन्द्रशब्देन मुख्यसंबन्धं परिजहाति । कश्चिदन्यः मध्यमम् एतं संबन्धं परिहापयति । मध्यमः संबन्धं परिहाप्यते परिहापितो भवति वा । मध्यमस्य इन्द्रशब्देन संबन्धः अपरिहापितः । अत्र णिच् किमर्थः । 'अपरिहीणः' इत्येव शुद्धम् ।
- २१ माहाभाग्यत्वेन (३१) अयं ग. घ. ज. पाठः अशुद्धः । 'य त्व' द्वावपि भाववाचकौ प्रत्ययौ ।
- ६४१ १ प्रतिस्थानं स्थाने स्थाने भिन्नानि नामानि भवन्ति । किंतु तस्या. तस्या. देवतायाः स्या प्रकृतिः न भिद्यते । यथा ऐकात्म्यम् एकत्वं न जहाति ।
- ६ 'पञ्चत्विजस्त्रीणि त्रीणि कर्माणि कुर्युः' (कात्यायनश्रौतसूत्रं २४। ४। ४१) होता आर्क्यवपोत्रीये च (४२) उद्गाता नेष्टः च्छावात्रीये (४३) मैत्रावरुणो ब्रह्मत्वप्रानिर्हर्षं (४४)

पत्रं

६४१ ।

पदक्तिः

६ प्रप्तोता ब्राह्मणाच्छसिग्रावस्तोत्रीये (४९) प्रतिप्रस्थाता आशीधोमेत्रे (४६) कुण्डपायिनामयन पौर्णमासीदीक्षम् (२१) अत्सस्काः = कुण्डप्रतिरूपवाध्वमसा (४०) । एतादृशः कुण्डसदृशैश्वमसैः सोम पिवन्ति । तस्मात्ते कुण्डपायिनः । तेपाम् अयन (= सत्र) सवत्सर यावत् । अत्र ऋत्विजः पञ्चैव । न चत्वारो नापि सप्त । सप्त दीक्षन्ते इति दुर्गोक्तिः किमाधारा ।

७ यस्मात् पञ्च त्रीणि वर्माणि कुर्वन्ति तस्मात् ते पञ्चदश न षोडश । एते (षोडशर्त्विजः) एवाऽऽहिताग्नय इष्टप्रथमयज्ञा गृहपतिसप्तदशा दीक्षित्वा समोप्य अग्नीन् तन्मुखाः सन्नाप्या सते (आश्व० श्रौ० ४ । १) । यास्कमते एक एव चतुर्णां कर्म करोति । अयं को याग स्यात् । अप्येऽयं सत (६) = एकस्यापि सत ।

१० य क्षेत्रे धान्यं लुनाति स एव तत्पुनीते । तस्माद्यो लावक स एव पाचक, स एव पाचक परिवेष्टा भोक्त। वा भवेत् । कारक (२९) इत्यादि पाठान्तरम् । कारक (वर्ता) लावक पाचक इत्यादिर्भवति ।

११-१२ संविज्ञातपदत्वे = संविज्ञानपदविषये । 'संविज्ञात० ० तेपा कारकादिशब्दैः' (२७-२८) इति पाठान्तरम् । 'अग्न्यार्वाणा संज्ञाशब्दानां संविज्ञातपदत्वे तु तेपाम्' इत्यन्वयः । अग्न्यादयः संज्ञाशब्दाः संविज्ञात (रुदा) एव । अरुदाधेये ते न कदापि प्रयुज्यन्ते । एवमयं पाठो न साधु । अग्नि इन्द्र वरुणः एवमादयः संज्ञाशब्दाः विशिष्टेषु अर्थेषु रुदाः । एषु शब्देषु घात्वर्थो वर्तमानोऽपि व्यवहारे ऋत्रियते । स नष्ट एव । न तथा लावकपाचकादिषु ।

१२ कारकादिशब्दैः = कारकादिशब्देभ्यः ।

१३ अग्नं नयति इत्यादयः अग्निःशब्दस्य व्युत्पत्तयः (६८०।९-१२) । अग्नं नयनाद्यर्थो यज्ञे दृश्यन्ते न तु अन्यत्र यज्ञात् । पाकशालायां ते न विद्यन्ते । तथाऽपि तत्रादिशब्दं द्रव्युत्पत्तेः । एवम् अग्नं नयनादिर्गोऽर्थः ।

पत्रं

६४१

पङ्क्तिः

: ३ । १ । १

६ । १

१४ ते अन्यादयः शब्दा अन्यादीन् अर्थान् न जहति । करणा-
दिवियोग० = किंतु यत्र कृतिः छवनं पावनं नास्ति तत्र कार-
कादिशब्दा न प्रयुज्यन्ते । 'जहाति' (२८) ग. च. ज.
पाठः प्रामादिकः । 'करणादिवियोग०' 'करणादिविनियोग०'
इति पाठां प्रामादिकौ । यत्र करणादिवियोगः करणादिविनियोगो
वा तत्र कारकादिशब्दा अवश्यं प्रयुज्येरन् । कदाचित् करणा-
दिवियोगात् करणादिविनियोगात् वा समनन्तरम् इति विग्रहे
यत्सणे योगो विनियोगो वा समाप्यते तदैव इति अर्थः स्यात् ।
किंतु अयमर्थः हिष्टः ।

१५ अगौणत्वम् = प्राधान्यम् । सर्वाणि अभिधानानि प्रधानानि ।
न तेषु कानिचित् गौणानि कानिचित् प्रधानानि ।

१६ ऐश्वर्यात् = माहाभाष्यात् । उभयथा = माहाभाष्ये कर्मपृथक्त्वे
वा । देवतायाः शक्तेः अप्रतीघातः । उभयत्र सैव शक्तिः ।
सा केनाचिदपि न प्रतिहन्यते प्रतिबध्यते वा ।

२० पृथक् पृथक् = अत्यन्तभिन्नाः । औत्पत्तिकेन भेदेन = उत्पत्त्या
एव देवता भिन्नाः ।

२३ अभिधाननियमः (६४२।८-१६') ।

२३-२४ अधियज्ञमिति किमर्थं व्याख्येयम् । नायं निरुक्तमूले शब्दः ।
'अधियज्ञे' (२२) इत्यत्र 'अधियज्ञम् इति पाठः स्यात् ।
'अधियज्ञम् = यज्ञे । अस्या देवताया इयं विशिष्टा स्तुतिः इदं
विशिष्टम् अभिधानम् (२३) । अस्मात्कारणात् देवता
उत्पत्त्या एव भिन्नाः ।

२४ 'हीति हेनौ' (३१) इति पाठान्तरम् । 'पृथग्नि' इत्यत्र 'हि'
निपातो हेतुं सूचयति ।

६४२

२ यस्मान् जातवेदम् सूक्ते अशिभिर्द्भं नाम्ति तस्मात् जातवेदा
अग्नेर्भिन्नः ।

५ 'इत्यजाभिः' अत्र 'इति' शब्दोऽनवश्यः । यदि प्रमादात्
अग्निः पश्चानरस्तुत्या स्तूपेन तर्हि सै व्यभिचारः प्रायश्चित्तम्-

पत्र
६४२

पद्धतिः

७

११

६ हति । यदि अग्निवैश्वानरयोर्न कोऽपि भेद तर्हि प्रायश्चित्तं किमर्थम् । किमर्थं च विशिष्टानि वाहनानि यदि सर्वा देवता एका एव । प्रायश्चित्तं कस्मिन् ग्रन्थे विधीयते ।

६ 'अनुपपन्न च' अत्र 'च' शब्दो व्यर्थ । पर्यायवचनत्वे = यदि देवतानामानि केवलानां पर्यायाणां वाचकानि ।

१० न तथा प्रसिद्धा ।

११ स्थिति = स्थापित सिद्धान्तः ।

—१२ भिन्नानि अभिधानानि स्तुतिषु एव विद्यन्ते नान्यत्र । तस्मात् अभिधाननियम स्तुतिनियमेऽन्तर्भवति । अत एव हेतु न द्वौ । अस्योत्तरम् । यथा स्तुतिषु तथा विधिषु अपि भिन्नान्य-भिधानानि ।

१६ 'आग्नेयम्' इति अभिधानेन चोदना विधि । निर्वपणम् = अष्टाक्षपालपुरोडाशार्थं शङ्गात् धान्यम् अन्यर्थमेव निरूप्यते (गृह्यते) । पुरोडाशार्पणमपि अग्नये एव न जातवेदसे ।

१७ इति यदुक्तम् एष अनैकान्त अनियम 'अनैकान्तिक' (२७) इति पाटान्तरम् । अनैकान्तिक व्यभिचारी । अनैकान्तिको दृष्टान्त (२७) = को दृष्टान्त । अत्र न कोऽपि दृष्टान्तो दीयते ।

१८ प्रतिकर्म = कर्माणि कर्माणि भिन्नानि अभिधानानि यस्मात् प्रकृतिरेव भिन्नानि रूपाणि गृह्णाति ।

१९ देवता शृणु शृणु इति व्यवस्था स्थितिः । तस्या कारण माहात्म्यम् ।

२० शृणुत्वहेतु अभिधानमेव । प्रत्युक्त = निराकृत । प्रत्युक्त = दूषित (च ७) ।

२१ अभिधाने अभिधाने अर्थभेद देवताभेद ।

१७-२१ 'नहवोऽपि विभज्य कर्माणि कुर्यु' (६३६ । १-६) इदं दुर्गो न पठित नापि व्याख्यातम् । यथा एको नह्ना कर्माणि । कुर्यात् तथा नहवोऽपि शृणु शृणु कर्म कुर्यु । तस्मात् भिन्ना एव देवता ।

पत्रं

पङ्क्तिः

६४३

१ सनास्ति (२२) अयं संधिः लेखकप्रमादादेव । तत् = एकत्वं नास्त्येव इति । गुणतः = न प्राधान्येन । याज्ञिकपक्षे एकत्वं न स्वातन्त्र्येण किंतु कारणतः । सहस्थानम् एकं कारणं संभोगश्च अन्यत् ।

३ तत्र (१) = तस्मिन् पृथक्त्वे सति ' बहवोऽपि विभज्य कर्माणि कुर्युः ' (६३६ । १-६) । तत्र = एवं सति । तेषां बहूनाम् एकत्वं संस्थानेन सहस्थानेन संभोगेन च सहभोगेन च ।

४ उप = उपपत्तितः कारणैः इक्षितव्यम् ।

४-९ मनुष्यपशुदेवाः एकास्मिन् स्थाने (पृथिव्यां) तिष्ठन्ति सह भुञ्जन्ति च । तेन तेषामेकत्वम् । यदि भिन्नाः तथाऽपि समानस्थाने वासात् सहभोगाच्च ते एके भवन्ति । ' स्थानैकत्वम् ' इति पाठात् ' संस्थानैकत्वं ' इति पाठः सार्थीयान् । द्वावपि पार्श्वी यास्केन किमिति प्रयुज्येते ।

७ तस्याः पृथिव्याः ग्रहणेन । पृथिवी इत्युक्ते ।

९ संभोगः = सह एकत्र भोगः । यथा सह एकत्र वासः तथा । मनुष्यपशुदेवा एकत्र वसन्ति एकत्र च भुञ्जन्ति मुञ्जते वा । मनुष्याः पशून् भुञ्जते । देवाः द्वावपि भुञ्जते । पशवः मनुष्यान्सेवन्ते । पशवः मनुष्यांश्च देवान्सेवन्ते ।

९-१० इतरेतरोपकारित्वम् इत्यस्य ' समानकार्यत्वम् ' इत्यर्थः कथं स्यात् । द्वौ परस्परमुपकुरुतः । एतत् कार्यं न समानम् । एकः अन्नदानेन अन्यमुपकरोति । सोऽन्य आशिषा तमुपकुर्यात् ।

११ 'पृथिव्याः पर्जन्येन ० ० लोकस्य' अस्य कोऽर्थः । पर्जन्य-वाय्वादित्याः पृथिवी मुञ्जन्ति । अग्निश्च इतरं लोकं स्वर्ग-लोकम् । संभोगशब्दस्य कोऽर्थः । इतरेतरोपकारित्वं सहकार्यता विषयोपभोगो वा । मनुष्यपशुदेवा इतरेतरम् उपकुरुतः । पृथिवी पर्जन्यं कथमुपकुर्यात् । इतरः लोकः अग्निश्च कथमुपकुर्यात् । किमेतेषां सहकार्यम् । पृथिवी-स्त्री इति कृत्वा पर्जन्यवाय्वा-

पत्रं

पङ्क्तिः

११ दित्याः तां किं भुञ्जते । चौश्च स्त्री । ता किमग्निर्भुङ्क्ते ।
सर्वे देवाः संभोगेन एके । स्त्रीपुरुषयोः सहभोगः । तथा पृथिवी-
पर्जन्यवाय्वादित्यानाम् । संभोगशब्दस्यार्थो न स्पष्टः ।

१४ त्रयः = पर्जन्यवाय्वादित्याः (निरु० १८७ । १६-१७) ।

१७ 'समीरयति' इत्यस्य स्थाने (तै० सं० २ । ४ । १० ॥

काठकसं० ११ । १०) इत्यत्र 'उदीरयति' । (मैत्रा० सं० २

१ । १ । ८ ॥ २ । ४ । ८) इत्यत्र 'इष्टे' । 'समीरयति'

अयं पाठो दुर्गेण कुत्रोच्यते ।

१७ दिवं जिन्वन्त्यग्रयः (निरु० ६९९ । ९-१०) ।

१९ मनुष्यपशुदेवाना तथा पृथिवीपर्जन्यवाय्वादित्याना तथा दिवः

अग्नेश्च कीदृशम् एककार्यत्वम् । दिवः अग्नेश्च वृष्टिः एककार्य

स्यात् । मनुष्यपशुदेवानां किं तदेकं कार्यम् । भाक्तं (मन्त्या

लक्षणया प्राप्तं) गौणम् ।

३ नराः परस्परतो भिद्यन्ते । किंतु तेषां राष्ट्रमिति एकत्वम् ।

४ पृथिव्यां भव. आदी. एक एव । तस्य जातवेदा इत्यादयो

भेदाः । एते परस्परतो भिन्नाः । किंतु सर्वे अग्नौ अन्तर्भूताः ।

५ किं गौणं किं प्रधानम् इति अपेक्षा भावना पुरुषस्य पुरुषस्य

बुद्धौ अवलम्बते । सा बुद्धिश्च तस्य तस्य अनुरागविशेषेण

रज्यते । कस्मैचित् भेदो रचिते कस्मैचित् अमेदः । विशि-

ष्टानुरागेण बुद्धिः प्रवर्तते इदं गौणम् इदं प्रधानम् इति च

निश्चिनोति । पुरुषानुरागविशेषात् पुरुषबुद्ध्यपेक्षा । तस्यां च

गुणप्रधानापेक्षा । इदं वाक्यं क्लिष्टम् ।

६ गुणीकृत्य = तदङ्गप्रत्यङ्गभावेन कल्पयित्वा (निरु० ६३९

१६-१७) ।

१० 'इनि शब्दो न्यर्थः । प्रित्वे नानात्वकत्वे गुणीकृत्य प्रित्वं

पदयन्ति ।

११ नानात्वं पश्यन्ति इनि शेषः । -

पत्रं पङ्क्तिः
 १४४ प्रतिपत्तु = ज्ञातृ श्रोतृ । 'प्रतिवक्तृ' (२७) इति पाठान्त-
 र्मू।

१३ अस्य शब्दस्यायमर्थः इति अन्वयः । नायम् इति व्यतिरेकः ।
 इदमर्थज्ञानं तत्तद्बुद्ध्यपेक्षम् । वक्ता विशिष्टेषु अर्थेषु शब्दान्
 प्रयुनक्ति । श्रोता तान् शब्दान् तेषु अर्थेषु गृह्णीयात् न वा ।

१५ अकृतकं = स्वाभाविकम् (१४) ।

अप्रच्याव्यमानौ तस्मात् संबन्धात् । यदा शब्दः अस्वाभा-
 विके अर्थे प्रयुज्यते तदा स स्वाभाविकात् अर्थात् प्रच्या-
 व्यते । अभिधाशक्तिः स्वाभाविकमर्थं सूचयति । लक्षणा
 अस्वाभाविकम् । लक्षणायां शब्दः स्वाभाविकात् अर्थात्
 प्रच्यवते वक्त्रा च प्रच्याव्यते ।

१६-१७ यथा अग्नेः अवभासनशक्तिः तथा शब्दस्य अभिधावकशक्तिः ।
 यथा वस्तुनः अवभाम्यताशक्तिः तथा अभिधेयस्य अभिधेय-
 ताशक्तिः ।

१७ व्यवधानं = द्वयोर्वस्तुनोर्मध्ये निहितं प्रकाशतिरोधानं यथा
 दारुफलकम् ।

१७-१८ पदवाक्यप्रमाणानां वैदिकानां कः इमं शब्दार्थयोः अकृतकं
 स्वयमपि अर्थात् संबन्धं विवरूपते (संबन्धमन्तरेण स विरूपं
 प्रकटयति । भयमर्थः स्याद्यं वेति । वदति) । न कोऽपि ।
 सर्वः स्वाभाविकमेव संबन्धम् अनुसरति । अत्र 'न' 'हि'
 शब्दौ त्यक्तव्या । अन्यथा न कोऽपि अर्थो लभ्यते । अपथा ।
 'कः' इत्यत्र 'कश्चिदपि' शब्दो युक्तः । स्वयमप्यर्थात् =
 वैदिकः कोशोभ्यः ग्रन्थेभ्यः व्यवहाराच्च शब्दानाम् अर्थान्
 अर्थानि निश्चिनोति च । 'अर्थात्कः' (२९)
 अयं शब्दो नैकमिदमपि कोशो विद्यते । ग. न. पुन-
 कयोरेव 'प्रमाणानाम्' (१८) इत्यस्यानन्तरं विरामः ।
 च. न्यतिरिक्तेषु इतरेषु 'विरूपते' इत्यस्यानन्तरम् ।
 च. पुनके 'आत्मभाषानुशयवशेन' इत्यस्यानन्तरम् । इदं

पत्रं

पङ्क्तिः

६४४' १७-१८ पुस्तकं च; पुस्तकानुसारेण शुद्धीकृतं तेन स्थाने स्थाने मूल-
पाठो नष्टः ।

१८ आत्मनो भावः (भावना श्रद्धा) स तस्य अनुशयः अनपार्यः
संस्कारः । तद्वशेन । यादृशी आत्मभावना तादृशं वेदार्थविवरणम् ।

१९ आत्मवित् अद्यात्मदृष्ट्या विवृणोति । नेरुक्तः अधि-
देवदृष्ट्या । याज्ञिकः अधियज्ञदृष्ट्या । अविपर्यासिनीम्
'वेदस्याभिधानशक्तिम् = वेदस्य अर्थाभिधानशक्तिम् । एकैव
(निश्चिता) । न तस्या कश्चिदपि विपर्यासो भिन्नभिन्नार्थ-
करणसंभवः । तथाऽपि विपर्यासः भिन्नार्थता शक्या इति एते
त्रयो मन्यन्ते । अतः तैः कृतानि विवरणानि परस्परतो विप-
र्यस्यन्ते भिद्यन्ते ।

२१ सर्वथाऽपि = सर्वमपि । देवतायाः सतत्त्वं तत्त्वं निश्चितः
सिद्धान्तः स्वरूपमन्तरेण । भेदे सतत्त्वं सिद्धान्तः अभेदे च ।
किंरूपौ भेदाभेदौ । भेदः कदा अभेदः कदा ।

२२ यथाग्रहं = वक्तुः प्रतिपत्तुश्च ग्रहणशक्यनुरूपम् ।
प्रख्यातिम् उपयन् = जगति प्रसरत् ।

२३ स्तुतिरूपेण मन्त्रैराविष्कियते । देवाः स्तूयन्ते । तामु स्तुतिषु
इन्द्रो युयते इत्येकदा उच्यते । अत्र भेदः । ' न त्वं
युयुत्से ' इत्यभेदः । इन्द्रः तस्य च शत्रवः इति भेदो नास्ति ।
युद्धवर्णनं केवलं रूपकम् । तस्य हेतुः स्तुतिः ।

२४ आत्मनः अर्थसतत्त्वं तत्त्वम् । तथाभूतं = सत्यम् । आत्मनः
सत्यं रूपं कवित्वम् । एतदपि मन्त्रैराविष्कियते । स्तुतौ
भेदः । अन्यत्र अभेदः । ' आत्मनः ० भूतम् ' इदम्
' आविष्कियते ' इत्यम्यानन्तरं वार्तितुमर्हति । अथवा इदमन-
वश्यं यस्मात् ' भेदाभेदवार्ति देवतासतत्त्वम् ' इत्यस्मिन् अन्त-
भूतम् ।

३ तस्मादेतद्विषयाऽभ्युक्तम् । ' न त्वं युयुत्से कतमच नाह न तेऽमित्रो
मभवन् कश्चनान्ति - । मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाश शत्रुं
न नु पुरा विवित्से (शत० ब्रा० ११ । १ । ६ । १०) ॥

पत्रं

६४५

पङ्क्तिः

३ अध्यात्मादौ = अन्यात्माधिदेवाधियज्ञेषु । अन्यात्मे आत्मनः-
 ऐकात्म्यम् । अधिदेवे त्रित्वम् । अधियज्ञे नानात्वम् । एवं स्वे
 स्वे विषये तस्मिन् तस्मिन् विषये आत्मनो रूपं निष्ठितं निश्च-
 येन स्थितम् । किंतु परमार्थतया सर्वेषां निष्ठा ऐकात्म्ये एव ।
 तत्र वाचः परिसमाप्तिः । ऐकस्म्यात्परतो न किंचिदप्यस्ति ।
 ऐकात्म्यादेव वाचो निवर्तन्ते । ऐकात्म्यं को निरूपयेत् ।
 अस्मिन्नाण्डे ' यथा पृथिव्यां मनुष्याः ० ० लोकस्य '
 इत्यत्र कश्चित् शब्दव्यत्यासो जातः स्यात् । देवाः दिवि
 अन्तारिक्षे वा । तेषां पृथिवी न वासस्थानम् । कदाचित् ईदृशो
 मूलपाठः स्यात् । ' यथा पृथिव्यां मनुष्याः अन्तारिक्षे पक्षिणः
 दिवि देवाः इति स्थानिकत्वं । संभोगिकत्वं च दृश्यते । यथा
 पृथिव्याः पर्जन्येन वाय्वादित्याभ्यां च संभोगः । अग्निना चेत-
 रस्य लोकस्य ' । मनुष्याः परस्परतो मित्राः । तथा पक्षिणो
 देवाश्च । तथाऽपि तेषां पृथिव्यामन्तारिक्षे दिवि च सहवासादेरु-
 त्वम् । अत्र संभोगो नास्ति । पर्जन्यवाय्वादित्याः पृथिवीं स्त्री इति
 कृत्वा भुञ्जते । अग्निश्च दिवम् । घोरपि स्त्री । यथा संभोगः
 स्त्रीपुरुषयोः । स्त्रियः पुरुषेभ्यो मित्राः । तथाऽपि तेषां संभोगेन
 एकत्वम् । एतादृशे एकत्वे नरराष्ट्रम् उदाहरणम् । नरा
 मित्राः । तथाऽपि ते एकस्मिन् राष्ट्रे वसन्ति । तेन तेषामे-
 कत्वम् । अस्मिन् उदाहरणे सह स्थानेन एकत्वं न संभोगेन ।
 १८ इत्येनन् वचनं विरुध्यते । विकरणं विविधाकारग्रहणं तेषां धर्मः ।
 तेन आकारनिष्पत्तेरिति (१६-१७) ।

२० प्रकृतिः मूलस्वभावः मूलस्वरूपम् । सत्ता = अस्तित्वम् । मू-
 प्रकृती विकरणमवयवम्भवे । अन्यथा कस्य विकरणम् ।

२२ उभयं साकारत्वं निराकारत्वं च । उभयः भागो विद्यते एवम् ।
 ' भावित्वान् ' (२९) इति पाठे उभयः भावो विद्यते एवम् ।

६४६

३ उद्गम = त्यक्त ।

९ अधिययं = विषयस्याभावः । नञ्सायाम् । तस्य सिद्धिः ' र्शा-
 हागमन्तव्यमन्त्रेहा इति भाष्यवचनेन ' अदृशायामन्त्रेण ' इति
 धार्मिकेन च । अव्ययीभावमाहृदयेन नष्टमकम् ।

पत्रं
६४६

पङ्क्तिः

९-१० पुरुषस्य विधा इव विधा यस्व स पुरुषविधः । तस्य भावः पौरुषाविध्यम् । ' गुणवचनत्राहणादिभ्यः कर्माणि च ' (पा० १ । १ । १२४) इत्यनेन प्यन् । विधा = प्रकारः ।

११ यादवभिधानं देवतापक्षवादिनां याज्ञिकानाम् = यावन्ति अभिधानानि तावत्यो देवताः इति पक्षः । तदन्तरेण ये वदन्ति तेषाम् । अयं शब्दसमुदायो न सुरचितः । 'यावदाभिधानं देवता इति वादिनाम्' इति सुवचम् ।

१२ यथा अग्निः प्रत्यक्षः तथा जातवेदाः पर्जन्यश्च । रुद्रेन्द्राश्विनः अप्रत्यक्षाः । न पर्जन्यमातवेदसौ ।

-१४ रुद्रः इन्द्रः इत्यादयः शब्दाः श्रूयन्ते । तेन शब्दाः प्रत्यक्षाः । न तु देवताः ।

-१५ कानिचित् अभिधानानि आकृतिमतः पदार्थान् अभिदधते, कानिचित् अनाकारार्थान् अभिदधते ।

१७ तत्रैतद्भवति = अयं प्रश्नः उत्पद्यते ।

१८ अर्थस्य अप्रत्यक्षत्वात् = रुद्रादयो देवा न दृश्यन्ते ।

१९ वायुः प्रत्यक्ष इत्युच्यते (१२) । अत्र कथम् अप्रत्यक्षः ।

६४७ १ तत्रैतद्भवति (६४६ । १७) ।

१-२ देवाः प्रत्यक्षं द्रव्यमेव ।

२ संशयम् उपोद्धृत्य तस्य संशयस्य न्युद्धरणाय निराकरणाय ।

३ पक्षः = चेतनपक्षः ।

४ मन्त्रेषु प्रत्ययो ज्ञानं यस्य । अस्तित्वस्य देवाः सन्ति इत्यस्य ज्ञानस्य किं प्रमाणम् । मन्त्राः ।

६ प्रथमं देवतास्तित्वम् । ततः मन्त्राणां तद्देवतात्वम् । मन्त्रे का देवता अयं प्रश्नः देवतास्तित्वे अवलम्बते ।

७ तत्प्रत्ययः = मन्त्रप्रत्ययः । यदि च एवम् = यदि देवतास्तित्वं मन्त्रप्रत्ययम् ।

८ देवतायाः संविज्ञातं पदं रूपं नाम । अग्न्यादीनां रूपाणि तत्तन्नामभिः संबद्धानि ।

पत्रं

६४७

पङ्क्तिः

- ९ एकं मतम् । न तु मन्त्रेषु दर्शनम् । दर्शनं = मन्त्रेषु केषुचित् देवतानां पौरुषविध्यं दृश्यते ।
- ११ चेतनावत् + वत् = चेतनावताम् + इव ।
- १४ पुरुषाकारविग्रहाः = पुरुषविग्रहाः (१०) विग्रहः किमाकारः । पुरुषाकारः ।
- १५ 'नास्ती'ति अत्र उच्यते । किंतु (१८) 'सत्यपि चैतन्ये' इत्यनेन तत् स्वीक्रियते ।
- १६ चैतन्यं विवेकात् भिन्नम् । आसन्ना समीपवस्तुषु वर्तमाना चेतना येषाम् । इदमसत्यं यस्मात् गवादयः अप्रत्यक्षान् अनासन्नानपि पदार्थान् चेतयन्ते । ग. च. ज. पुस्तकेषु 'क्षमाः' इत्यम्यानन्तरं विरामो न वर्तते । 'आसन्नचेतनाः ते तु न विवेकक्षमाः' इत्यन्वयः । किंतु विरामोऽवश्यो यस्मात् 'आसन्नचेतनाः' इति हेतुः अविवेकस्य । द्वयोर्बहुषु वा वस्तुषु किं स्वीकार्यं किं न इति विचारणा विवेकः । विवेकाय स्मृतिरवश्या । सा पशुषु नास्ति । इदमपि असत्यम् । गवादयः स्वं स्थानं बहोः कालादनन्तरमपि प्रतिनिवर्तन्ते । इदं मे गृहमिदं न इति विवेक्तुं तेऽपि समर्थाः ।
- १९ श्वस्तनम् आगामि वृत्तं वस्तु ते न जानते । अस्य किं प्रमाणम् । तेऽपि श्वस्तनं जानीयुः । अश्वदय आगामि युद्धं ज्ञात्वा स्फूर्तिं दर्शयन्ति । लोकः = स्वर्गः । अलोकः = नरकः ।
- २१ मर्त्येन = ज्ञानकर्मरूपसाधनेन ।
- २२ हिताहितपूर्णज्ञानाय विशिष्टचैतन्यमवश्यम् । न सामान्यं यस्मात् गवादीनां सामान्यं चैतन्यं वर्तते । नियम्यते = गृह्यते । किमर्थमीदृशः पुरुष एव गृह्यते । यस्मात् देवतानां पौरुषविध्यमस्माभिः साधयितव्यम् । नियम्यते उपमानत्वेन । पुरुषा इव देवताः ।
- १ 'श्रूयन्ते' (२३) इति पाठान्तरम् । यथा पुरुषा अर्थाद् चेतयन्ते इति श्रूयते तथा । किंतु पौरुषविद्ये स्मृतिः वारणं न श्रवणं (जगति म्यानिः) ।

६४८

पत्रं

६४८

पङ्क्तिः

१०६३

३३

३ ' पौरुषविध्यमुपपद्यते जेतनाश्वत्सदृशस्त्रुतिभिः । तत्प्रतिज्ञाः
कारणं भवन्ति' (२९-२६) इति पाठान्तरम् । तत्प्रति =
पौरुषविध्यं प्रति । ताः = स्तुतयः ।

४ अभिधानानि = परस्परम् उक्तप्रत्युक्तानि ।

५ परस्परतः संबद्धानि = ' कया शुभा ' इत्यास्मिन् सूक्ते
मरुतः ' कस्त्वाभिन्द्र ' इति पृच्छन्ति । इन्द्रः तान् प्रति-
वदति । मरुदुक्तिः इन्द्रपत्याक्तिश्च परस्परसंबद्धे । यथा प्रथमः
तथात्तरम् । सवादसूक्तानि कयाशुभादीनि (निरु० ६३२ ।
१-३) । उक्तानि प्रत्युक्तानि च (४) पौरुषविध्ये
कारणं भवन्ति (३) । अभिधानानि = नामानि यथा
पुरुषाणां मनुष्याणां नामानि रामलक्ष्मणादीनि तथा देवतानाम् ।
तस्मात् देवताः पुरुषविधाः । अयमर्थः सरलः । रामलक्ष्मणा-
दीनि न-पशूनां नामानि ।

८ पौरुषविधिकः = पुरुषस्य अयं पौरुषः । ' तस्येदम् ' (पा० ४ ।
३ । १२०) । पौरुषः विधिः विधा प्रकारो भेषाम् । ' शेषा-
द्विभाषा ' (पा० ५ । ४ । १९४) इत्यनेन कप् ।

पौरुषी विधा यस्य स पौरुषविधः । तस्य भावः पौरुषविध्यम् ।
एवमपि विग्रहः पौरुषविध्यस्य स्यात् । ' पौरुषविधत्वे ' (२७)
इति पाठान्तरम् ।

९-१६ अश्वमेधशेषभूता एकादशिनः पशवः । एकादशानां पशूनां
समूहः एकादशिनी (तै० सं० ५ । ५ । ११) ।

२० ऋषी = बलिष्ठा । स्थविरस्य = स्थिरस्य ।

४-६ तेषां मन्त्राणाम् अर्थः लक्षणं यस्य । निरुक्तशास्त्रं मन्त्रार्थ-
लक्षणभूतम् ।

६-७ अश्वगृहनाद्यादिभिः संयोगः पुरुषविधत्वं दर्शयति । पौरुष-
विध्ये द्रव्याणि आवश्यकानि । वस्तुतः पौरुषविधेः पौरुषविधिकः
इत्येवयोरेक एवार्थः ।

६४९

पत्रं

पह्क्तिः

: नि ७

: १६१०

: ११ कल्याणीः = प्रशस्तरूपा ।

ते गृहं मुरणं (६४९ । १९) = तव गृहे शोभनं रमणं भोगः वर्तते । ' सुष्ठु रमणीयं पारिभोगयोग्यं पर्यङ्कास्तरणादि इति स्वन्दस्वामी ' (ट.) ।

२ ' दक्षिणावत् ' ' विमोचनम् ' इत्यस्य विशेषणम् ।

वाजिनः वाजयुक्तस्य धनपूर्णस्य रथस्य दक्षिणावत् धनवत् विमोचनम् अध्वनः अन्तः विश्रान्तिस्थानम् । यत्र रथः अथा वा विमुच्यन्ते यत्र नरा देवा वा अध्वनोऽन्ते विश्राम्यन्ति । यत्र अश्वगमनस्य अन्तः तद्विमोचनम् । अत्र वाजी रथः नाश्वः । ' विमोचनम् = यत्राश्वा विमुच्यन्ते तत् । दक्षिणावत् = खाद्यपानयुक्तम् ' (सायणः) ।

१४ रातं = दत्तम् । अस्माभिः मनसा रातम् ।

१९ ' इन्द्राय जुष्टं निर्वपामि ' इति वान्यग्रहणकाले तत्संस्कारकाले च इन्द्र उद्दिश्यते । पूर्वं निर्वपणम् । तस्याऽऽदी संस्कारकालः । हविर्धानशकटे वर्तमानस्य मीढ्यादिद्रव्यस्य अगिहोप्रहवर्षा मुष्टिमात्रं निर्धीयते । ततश्च मन्त्रेण कांविदेवतामुद्दिश्य पूर्वं प्रक्षेपः = निर्वापः ।

१-२ ' आधुत्कर्ण ' इत्येकं पदम् । न ' आ धुत्कर्ण ' इति द्वे ।

२-४ नू चिन् इति अवधारणार्थं । मे गिरः दधिप्लव गृहाण प्लव ।

९-९ युतः = सन्त्युः । युतः = ' स्वयमुक्तस्य स्वां प्रति आहृत्य युतः पुनरपि युतः ' अयमर्थो दुर्गोष स्वजनम उपापाद्यते । अन्तरं कृत्वा = मनसि धारय ।

८ अद्वयानुष्टुप् = अदि (६९० । ११) + आनुष्टुप् । अदि तु ' धुर्धी ' । (६९० । १९) न आनुष्टुप् । अदि इत्यत्र अदनाय धुर्धी इत्यत्र अदनाय आमन्त्रणं ' दि ' इति श्लोक् प्रत्ययेन । अतयोर्मन्त्रयोर्विनियोगः इत्यन्वयः । एते मन्त्रः अदनाय अररः अदनाय विनियुज्यते । विनियोगान् अदनाय अररं पूर्वं कथं म्यात्रम् । विनियोगः अदनाय अररः ।

पत्रं पङ्क्तिः

६९१ । १८ 'अद्धि श्रुधि इति आमन्त्रणेन अदनाय श्रयणाय च अन-
योर्मन्त्रयोर्विनियोग' इति सुक्चम् ।

९-१० गवाद्योऽपि। एतादृशम् आमन्त्रणं जानते ।

१०-११ कार्याणि अद्वनश्रवणादीनि तेषां करणानि मुखश्रोत्रादीनि तेषां
संनिवेशो यथा मनुष्येषु तथा देवेषु ।

११-१२ यदि कार्यकरणानि न स्यु विशिष्टज्ञानमपि न स्यात् । 'कार्य-
कारण' (२९) इत्यपपाठः ।

१४ अपरमतम् ।

२१ अपि तु यत् दृश्यते अपुरुषविधं तत् (६९२ । १३) इत्य-
न्वयः । या या देवता दृश्यन्ते तासां पुरुषाकारो नास्ति ।

६९२ । १५ अतः = अपुरुषविधत्वात् । अन्यथा = पुरुषविधा इति अम्यु-
षामे स्वकारे ।

१८-१९ केचित् मनुष्याः आकारिण केचिन्न इति नोपपद्यते ।

२१ चेतनावता स्तुति विद्यते एषां ते चेतनावत्स्तुतिमन्त ।

६९३ । ६ हरितोभिरासपि (१) = हरिद्वर्णं आस्यै ।

८ विष्टी = विष्टा । अत्र क्त्वाप्रत्ययः । नेदं नाम । विष्टी = यशः
संपाद्य । सुकृत्यया = अभिषेवकर्मणा ।

१० 'आशत = आशितवन्त इति स्कन्दस्वामी' (८) ।

१८ संकल्पत = कविकल्पनया ।

२१ यथाभूता = यथार्था सत्याः । रथस्य अश्वानां च उपपत्तिः
प्राप्तिः समन्वय संयोगः ।

६९४ । ४ अनुक्रमण्या प्रियमेव । न प्रियमेवा ।

६ अधिनम् = अध्युक्तम् । सिन्धु नदः न नदी । अम्य
नदस्य । न रथस्य । (१०) ।

८ आगवने = आ अभिन्यासी । आ सर्वत्र जवनं वेगः यस्मिन् ।

पञ्च पङ्क्तिः

६६४ 'स्वयशसः । स्वायत्तकर्तैः' (२९) इति पाठान्तरम् । इदं सायणमार्प्यात् गृहीतम् ।

१२ 'रथमिव अश्विनं' कोऽर्थः ।

१३ रूपकं प्रवादः रूपं यासाम् ।

१६ अंशानस्य शक्तिः क्रिया च ।

२० उभये हेतवः एव प्रामाण्यम् । वा + अपुरुषविधानाम् ।

२३ परे = देवाः । अथवा । क्षितिजलादिभ्यः परे भिन्नाः ।

२४ अनुग्रहः विरोधदूरीकरणेन । पृथिव्यादयः अपुरुषविग्रहा इति प्रत्यक्षम् । आगमे वेदे तु पौरुषविध्यम् ।

६९९ 'इदमेतेन' इत्यस्य स्थाने शतपथब्राह्मणे 'इदं मेऽनेन' । 'स ह वा आत्मबाजी यो वेदेदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियत इदं मेऽनेनाङ्गं

मुपधीयत इति । स यथाऽहिस्त्वचो निर्मुच्यत एवमस्मान्-
त्याच्छरीरात्पाम्नो निर्मुच्यते । स ऋङ्मयो यजुर्मयः सामस्य

आहुतिमयः स्वर्गं लोकमभिसंभवति' (शत० ब्रा० ११ । २

६ । १३) । उपधीयते = स ऋङ्मयो यजुर्मय इत्यादिर्भवति ।

इदं जन्मप्राप्तमङ्गं संस्क्रियते । अन्यच्च वेदाहुतिमयं प्राप्यते ।

'यद्दे यजमानोऽग्निं विनुतेऽमुष्मै तल्लोकाय यज्ञेनाऽऽत्मानं संस्तु-

कते । एतद्गुह्यं यज्ञियं कर्मासीस्थितमाश्मशानकरणात्' (शत०

ब्रा० १३ । ८ । २ । १७) ।

३ 'यद्वा (कपालानि) उपदधात्यात्मानं वा एतद्यजमानः

संस्कुरुते । तं संस्कृतममुष्मिल्लोकेऽनु परंति' (मैत्रा० सं० ४ ।

१ । ८ ॥ काठक सं० ३१ । ६) । तं संस्कृतमात्मानं यज-

मान उपति । एवं यज्ञो यजमानस्य कर्मात्मा- (६९४ । २४) ।

कर्मेणा संपादित आत्मा । एकं जन्मना प्राप्तं शरीरम् ।

अपरं कर्मणा प्राप्तम् ।

५ समयः = सिद्धान्तः ।

६-७ एवं वीर्यबलोल्लसितैर्भूरियत्नैर्महामुरैः ।

प्राप्यमाना मही राजन् ब्रह्माणामुपचक्रमे । (महाभा०

आदि० ६४ । ३७) ।

५५

पङ्क्तिः

६९९-

- ६-७ ततो मही महीपाल भारता भयपीडिता ।
 जगाम शरणं देवं सर्वभूतपितामहम् (३९) ॥
 < अभ्यागच्छत्तदा विप्रो वासुदेवधनंजयौ ।
 बृहच्छालप्रतीकाशः प्रतप्तकनकप्रभः ॥
 हरिपिङ्गोज्ज्वलश्मश्रुः प्रमाणायामतः समः ।
 तरुणादित्यसंकाशश्चीरवासा जटाधरः ॥
 पद्मपत्राननः पिङ्गस्तेजसा प्रज्वलन्निव (२२४।३०-३२) ।
 नाहमन्नं बुभुक्षे वै पावकं मा निबोधत (२२५।९) ॥
 स युवाभ्यां सहायाभ्यामस्त्रविद्भ्यां समागतः ।
 दहेयं ग्वाण्डवं दावमेतदन्नं वृतं मया (१०) ॥
 (स भगवान् विप्रः)-
 तैजसं रूपमास्थाय दावं दग्धुं प्रवृत्तमे (२२७।३३) ।
 दहतस्तस्य च वभौ रूपं दावस्य भारत ।
 मेरोरिव नगेन्द्रस्य कीर्णस्याशुमर्तोऽशुभिः (३६) ॥
 स मासखिरोधैश्च वसाभिश्चापि तर्पितः ।
 उपर्याकाशगो भूत्वा विधूमः समपद्यत ॥
 दीप्ताक्षो दीप्तजिह्वश्च संप्रव्रीक्षमहाननः ।
 दीप्तोर्ध्वकेशः पिङ्गाक्षः पिवन् प्राणभृता वसाः (२३०।३५-
 ३६) ॥

११ इत्येवमादिना आख्यानसमयः प्रदर्श्यते ।

१२ तदेतत् = अयं विषयः ।

१३ उभये विधे यस्य स (विषयः) उभयविधः । तस्य भावः
 औभयविध्यम् । ' गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्माणि च '
 (पा० ५ । १ । १२४) कर्म अर्थः (प्रयोजनं) यस्य
 तत् कर्मार्थम् औभयविध्यम् । ' कर्मार्थात्मोभयविध्यम् ' (२६)
 अयं प्रामादिकः पाठः । ' कर्मार्थात्मोभयविध्यम् ' इति इष्टम् ।
 कर्मोत्तमे औभयविध्यम् ।

१४ ' माहाभाग्ये सति ' इत्यनन्तरम् ' ऐश्वर्यात् ' व्यर्थम् । कय-
 मिव = ब्रूत केन कारणेन । इव प्रार्थनायां खल्वर्थे वा ।

पत्रं
६१९

पङ्क्तिः

१९-१७ महाभारतादिकथानाम् आख्यातृणाम् । ते नानावस्थामु
नानारूपैर्वर्तमाना अपश्यन् अवर्णयश्च । एवम् ऋषयः ।
उभयत्र दर्शनं वर्णनरूपेण (इतिहासेषु) स्तुतिरूपेण मन्त्रेषु
सफलम् । ' दर्शनवन् ' इत्यस्य स्थाने ' वर्णनवत् ' इष्टम् ।
सर्वथैव = मूते अमूर्तेर्वा एकत्वेन बहुत्वेन वा स्तुतो न
कोऽपि दोषः ।

१८-१९ तद्रूपम् तेन तेन रूपेण इच्छाशक्त्या वर्तमानानाम् ।

१९ निन्दा हीना न = यदा देवा निन्द्यन्ते तदा ते हीना इति न
ग्रहीतव्याः ।

२० अग्या = श्रेष्ठाः ।

२०-२१ बुद्धिशक्त्या क्षयेऽपि स्तोतुं स्तवने यो निश्चयः तं न
त्यजन्ति । यस्मात् स्तवनादृते अग्या गतिं न पश्यन्ति ।

६१६

४ ' गायत्रो ह्यग्निर्गायधच्छन्दा ' (मैत्रा० स० १।१।१) ।
गायत्र्यामृचि अयूद साम रथतर यथा ' अभि त्वा शूर
नोनुम ' (ऋ० स० ८ । ३२ । १२) । ' ऋचा
स्तोम समर्धय गायत्रेण रथतरम् ' (मैत्रा० स० २७।१) ।
त्रिवृत्स्तोमे तिम्र ऋचो गेयाः । तस्य गानस्य त्रिविध प्रकारः
(ताण्ड्य० ब्रा० २ । १) प्रथमा मन्थमा उत्तमा । अयं
प्रथम प्रकार उद्यतीसज्ञकः । अत्र एकैका ऋक् त्रिवार गेयाः ।
स एव ऋचा प्रथमा । किंतु तासामनावृत्तिः । अयं द्वितीय
प्रकार परिवर्तिनीसज्ञकः ।

प्रथमा मन्थमा उत्तमा
मन्थमा उत्तमा प्रथमा
उत्तमा प्रथमा मन्थमा } अयं तृतीय प्रकार कुला
यिनीसज्ञकः ।

१० देवनामयाधिकार आकारचिन्तनेन व्यवहितः । तस्य अधि-
कारस्य कश्चित् विशेष वक्तुम् इष्टम् । तस्य अधिकारस्य अनु-
मृतये अनुमयानाय । तन् (११) = देवताप्रयागिकारम् ।
प्रफरोति = तन् स्मारयति । अनुमृतेति विशेषविवक्षार्थाः ।

पत्रं

पङ्क्तिः

६९६

१० इदं वाक्यम् अतीव क्लिष्टं संदिग्धं च । 'तत्' शब्दः
त्रिवारं संदिग्धत्वेन प्रयुक्तः ।

१३-१६ भक्त्या गौणत्वेन आश्रितत्वेन साहचर्यम् । न समतया
प्राधान्येन वा । एतानि सर्वाणि अग्न्याश्रितानि । अथवा ।
भक्तये साहचर्यम् । अग्निं भजेमहि इत्यनेन उद्देशेन तेन सह
चरन्ति । लोकादीनाम् अग्न्यादिभिः भक्तिमूलं साहचर्यम् ।

१७ संविज्ञातदेवतापदानि = रूढानि अग्न्यादिनामानि । येषु तानि
रूढनामानि सन्ति न तेषु आश्रितवस्तुकथनेन देवता तर्क्यते ।

६९७

२ अग्नौ भक्तिः आश्रितत्वं येषां तानि । अथवा । भज्यते सेव्यते
इति भक्तिः । अग्निः भक्तिः येषां तानि । 'भक्तिः' (पा०
४ । ३ । ९९) ।

७-८ इळा (निघ० १ । १४) पृथिवी (निघ० ९ । ३ । २६)
अग्नायी (निघ० ९ । ३ । २८) इति निघण्टुक्रमः ।

९ तेन अग्निना समम् आख्यानं नाम यस्याः । 'पृथिवीति'
इत्यत्र 'इति'शब्दो व्यर्थः ।

१० यद्यपि इळा इति पृथिव्या नामधेयं तथाऽपि तत् परोक्षं न
स्पष्टम् । तस्मिन्नामधेये पृथिव्या न किञ्चिदपि चिह्नम् ।

१२-१३ 'आ नो यज्ञं भारती तूर्यमेत्विळां मनुष्वदिह चेतयन्ती ।
तिल्लो देवीर्वाहिरिदं स्योनं सरस्वतीं स्वर्पमः सदन्तु' ॥ अस्य
सूक्तस्य देवता आप्रियः । तस्मादिदमाप्रीसूक्तम् (१०) ।
'भारती इळा सरस्वती' इमाः 'तिल्लो देवीः' आप्रियः ।
आप्रीमध्ये (१०) = आप्रीसूक्तमध्ये । अस्मिन् मन्त्रे इळा
भारत्या अनन्तरं श्रूयते । तेन सा अन्तरिक्षस्थाना । तत्कथं
पृथिवीस्थाना (१४) ।

१४-१९ अनुयाजाः = प्रधानयागानन्तरम् इज्यते यैरिति व्युत्पत्त्या
होत्रा पठ्यमाना याज्यमन्त्राः । 'देवादयोऽनुयाजाः (आश्व०
श्रौ० १ । ९) वीतवत्पदान्ताः' (तथैव) । अयः (तथैव) एते
अनुयाजाः (मैत्रा० सं० ४ । १३ । ८) इत्यत्र वर्तन्ते ।

पत्रं
६९७

पङ्क्तिः

- १५—१६ सरस्वती इगम् अन्तरिक्षलोक रट्टे अस्पृशत् ।
 १६ अग्नि इहैव पृथिवील्लोके एव वसुमत्या इळ्या यज्ञम् आर्वात्
 अरक्षत् । अम्य मन्त्रम्य सायणेन (तै० ब्रा० ३ । ६ । १३ ।
 ७) इत्यम्य भाष्ये अयमर्थं कृत । ' भारती आदित्ये सह
 द्या स्पृशतु । हविषा देवान् तर्पयितु तत्र गच्छतु । सरस्वती
 रट्टे सह इम यज्ञम् अवतु रक्षतु । अत्रैव स्थित्वा यज्ञं निर्व
 र्तयतु । अथ वसुमत्या धनयुक्तया इळ्या सहमाद सहैव स्थाने
 हर्षो यथा भवति तथा मदेम तृष्ठा भूयास्म ' । ' इहैवेळ्या
 वसुमत्या ' इत्यम्यानन्तर ' सहमाद मदेम ' इति शब्दौ ।
 १७ अग्निर्वसुभिरिति वसुसाहचर्यम् । इळा च वसुमती । तेन तस्या
 अग्निना संबन्ध । इह इत्यनेन पृथिवी सूच्यते । इहैवेळ्या =
 इहस्थितया इळ्या । तेन द्वावपि पृथिवीस्थानौ । तस्मात् इळा
 अग्निभक्ति । ' द्या भारती ' इत्यनुयाजप्रपमन्त्र । तस्य प्राक्
 ' तिलो देवीरिडा सरस्वती भारती ' (मैत्रा० स० ४ । ११ ।
 ८) इति । सामर्थ्यम् = इष्टार्थकरणाय प्रमाणम् । उन्नीय =
 तर्केण लब्धा ।
 १९ तथैव वसुसाहचर्यात् इळा पृथिवीस्थाना ।
 २० अन्या देवता न गच्छति । इदं सर्वम् अग्नेरेव कर्म ।
 २३ दृष्टि (दर्शनं वस्तुनाम्) एव विषय । ' तत्र भव ' (पा० ४ । ३ । ९३) इत्यनेन अथवा ' दृष्टायस्थानेभ्य ' (पा० ४ । ३ । ७९) इत्यनेन दृष्टिविषये भव दृष्टिविषयात्
 आगत वा दार्ष्टिविषयिकम् । वस्तुत दृष्टिविषयस्येदं दार्ष्टि
 विषयिकम् । दार्ष्टिविषयिकम् = दर्शनसंबद्धम् । नेदं सर्वम्
 सत्यं यस्मात् दिने वस्तुदर्शनं सूर्यप्रकाशायत्तम् । यत्र सूर्य
 प्रकाशं अल्प अल्परागीनो वा तत्र अग्निप्रकाशं अवश्यं ।
 यथा ध्रुवप्रदेशयोः । धूमज्वालेत्यापनं दहनमित्यादि क्वाचित्
 दार्ष्टिविषयिकं कर्म म्यात् ।
 २९ पुनरक्ति अत्र गणार्थार्था नाऽऽन्वयार्था । अयात्मप्रकाशं कथम्
 अन्यायत्तं । न तु सूर्यायत्तं ।

पनं
६९८

पङ्क्तिः

१ ' अत इनिठनौ ' (पा० १।२।११९) । संस्तव + इन् = संस्तवी । संस्तवी + इक = संस्तविकः । संस्तव विद्यते एषा ते संस्तविका । ' सास्तविकाः ' (२१) इति पाठान्तरम् । ' तत्र भव. ' इत्यनेन संस्तवे भवाः सास्तविकाः । स + स्तव । स = सह ।

३-४ ' द्वंद्वे धि ' (पा० २।२।३२) इत्यनेन अग्निशब्दस्य पूर्वनिपातः । ' देवताद्वंद्वे अग्नेर्मुख्यता यस्मात् तस्य पूर्वनिपातः ।

५ ' यद्वृत्त्वाऽऽग्रायण नवस्याश्रीयाद्देवाना भागं प्रतिवल्समश्रीयात् । आर्तिमृच्छेत् ' (मैत्रा० सं० ४।३।२) । ' नानिष्ठाऽऽग्रयणेन नवस्याश्रीयात् ' (मान० गृ० २।३।९) । ' पर्वणयाग्रयणं कुर्वीत वसन्ते यवाना शरदि व्रीहीणाम् ' (मान० गृ० २।३।१०) । ' ऐन्द्राग्रमेकादशकपालं निर्वपेदाग्नेर्देवा ' (मैत्रा० सं० २।६।२) । ' देवा ओपर्षीषु पक्वासु आजिमयु । स इन्द्रोऽवेत् अग्निर्वाच इमा प्रथममुज्जेप्यतीति । सोऽब्रवीत् यतरो नौ पूर्वं उज्जयेत् तन्नौ सहेति । ता अग्निरुदजयत् । तदिन्द्रोऽनूदजयत् । तस्मादैन्द्राग्रम् । अथो आहुः ऐन्द्राग्रं कार्यमिति । अग्निर्हि ता अग्ने उदजयत् । तदुज्जित्ये एवाऽऽग्रायणः ' (मैत्रा० सं० ४।३।२) ।

१९ ' अग्नीषोमीयः स्थालीपाक पौर्णमास्याम् ' (मान० गृ० २।३।३) । ' अग्नीषोमीयम् ' (मैत्रा० सं० २।१।४ ॥ ४।४ । १८ ॥ १।९।१) । ' अग्नीषोमीयमेकादशकपालं पूर्णमासेऽनुनिर्वपेत् । आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया । सोमराजा यज्ञ-मुखम् ' [काठकस० ८।१०] ।

६९९

१४ अवत = रसतम् । मे धियम् अवतं नः सुष्टुतिम् अवतम् इत्यन्वयः ।

१७ इच्छाम् अन्न अन्य. पर्जन्यो जनयतु । गर्भम् अन्यः अग्निः जनयतु ।

पत्रं

पङ्क्तिः

१८ इप. = धनानि ।

६९०

३ ऋतुयाजशब्दव्युत्पत्तिः (निरु० २२९ । २-६०) इत्यत्र ।

५ योनिषु = स्थानेषु ।

६ पारि = पारित । भूप (= भव) । पारितो भूत्वा देवेभ्यो हवींषि देहि ।

८ ' अग्नाविष्णु महि तद्वाम् ' (मैत्रा० सं० ४ । १११ । २ ॥

तौत्ति० सं० १ । ८ । २२ ॥ काठकसं० ४ । १६)

. ' अग्नाविष्णु महि धाम ' (मैत्रा० सं० ४ । १० । १ ॥

तौत्ति० सं० १ । ८ । २२ ॥ काठकसं० ४ । १६) एते

द्वे ऋचौ हविष्येव विनियुक्ते ।

' दर्शपूर्णमासौ आरप्स्यमान. अन्वारम्भणीयामिष्टिं कुरुते ।

पौर्णमास्या पूर्वेषु नान्दीमुखम् । आन्वारम्भणीयायाः अग्ना-

विष्णु सरस्वती सरस्वान् अग्निर्भगी इति प्रधानदेवताः । अग्ना-

वैष्णव एकादशकपालः । अग्नाविष्णु सजोपसा इत्यनुवाक्या

(श्रौतपदार्थनिर्वचनम् पत्रे ८७-८८) ।

' देवताद्वन्द्वे च ' (पा० ६ । ३ । २६) इत्यनेन

' अग्नाविष्णु ' । अग्नाविष्णु देवते अम्य (पा० ४ । २ ।

२४ ' साऽम्य देवता ') तन् आग्नाविष्णवम् ' देवताद्वन्द्वे च '

(पा० ७ । ३ । २१) इत्यनेन आत्वम् । ' इद्वृद्धौ '

(पा० ६ । ३ । २८) अस्य ' विष्णो न ' इति वार्तिकं

बाधकम् ।

१४ सजोपसा = सहयुक्तौ ।

१६ द्युम्नेः = धनेः । वर्धन्तु = स्तुवन्तु ष्टौ कुर्वन्तु वा ।

१९ तु = किन्तु । ' सांस्तविकी ' (३१) इति ग. च. ज.

पाठ । संस्तवे भवा सांस्तविकी । ' तत्र भवः ' (पा०

४ । ३ । १३) इत्यनेन सूत्रेण । निरुक्तमूने ' संस्तविकी '

(६९६ । ८) ।

पत्रं
६६०

पङ्क्तिः

२० 'संख्याया अवयवे तयप्' (पा० ९ । २ । ४२) ।

'दश अवयवाः दशतय्यः । ऋक्संहितायाः दश अवयवाः ।

दशतयीषु = दशसु अवयवेषु । मण्डलानि एव अवयवाः ।

'दश मण्डलानि अवयवाः यस्याः सा बह्वृचसंहिता इति केचिदाहुः । दश मण्डलाख्या अवयवा यासां ता दशतय्यः

ऋग्वेदस्य शाखाः तासु इत्यन्ये' (ट.) ।

(निरुक्त० १६९ । २४) इत्यत्र ' आर्चाम्याम्नाये ' न

तु ' दशतयीषु ' । दश अवयवाः अम्य इति विग्रहे दश-

तयः दशतयी वा इति एकवचनान्तं रूपं स्यात् । दशतयः

ऋग्वेदः । दशतयी ऋक्संहिता । दशतयीषु इति बहुवचनं

किमर्थम् । अस्य प्रश्नस्य निराकरणार्थं दुर्गेण बहुवचनस्य

कवमपि विवरणं क्रियते ।

२३ शस्त्रम् = अप्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः । तत् होत्रा पठयते ।

स्तोत्रं = प्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः । सा उद्गात्रा गीयते

शस्त्रे एका द्वे बह्वोऽपि ऋचः सन्ति । शस्त्रमध्यपातिनी =

अनेकाभिः ऋग्भिः युक्ते शस्त्रे वर्तमाना ऋक् ।

६६१

१ ' स्यादपि ' अत्र 'अपि' शब्दो व्यर्थः ।

२ असंस्तवयुक्ताऽपि ऋक् ऋग्वेदे नास्ति इत्यधिकोऽर्थो दुर्गेण

निष्पाद्यते । किंतु नायमावश्यकः म्वाभाविको वा । उत्सर्गः =

व्यापकं वचनम् ।

४ ' देवताद्वन्द्वे च ' (पा० ६ । ३ । २६) इत्यनेन अग्नापूषणौ ।

अग्नापूषणौ देवते अम्य (पा० ४ । २ । २४) ' साऽस्य देवता ')

तत् ' आग्नापूषणम् ' । ' देवताद्वन्द्वे च ' (पा० ७ । ३ । २१)

इत्यनेन आत्वम् । ' इदृशुद्वौ ' (पा० ६ । ३ । २८)

इदं सूत्रं ईदग्ने. ' सोमवस्त्रयोः ' (पा० ६ । ३ । २७)

- पत्रं पङ्क्तिः
- १६९ ४ इत्यस्यैव बाधकं न 'देवता द्वंद्वे च' (पा० ६।३।२६) इत्यस्य । 'आशापौष्णवम्' (२१ । २२) अयमपपाठः ।
- ५ अत्र 'तु' शब्दो द्वि. प्रयुज्यते । ' किं तु' शब्दो अनवश्यां ।
- ६ विभक्ता स्तुतिः । 'विभक्तिस्तुति.' (२३) इति पाठे विभक्त्या विभागेन स्तुतिः ।
- १९-२६ ' अग्निदेविभ्यः सुविदत्रियेभ्य.' अयं पादः किमर्थं न स्वयंते । 'आत्र अन्ते इति शब्दः ।
- १९-२० अयं विनियोगः कस्मिन् ग्रन्थे दीयते । ' शवस्य कर्णे ' इत्यत्र ग. ज. पाठः ' शुनस्कर्णे ' (२६) । प्रमीतानुमन्त्रणं शुनः कर्णे कर्तव्यम् । कस्मिन् ग्रन्थे एतद्विद्यते । प्रमीत. = मृत (अमर २।८।११७) ।
- १६२ ४ अनष्टपशु = अविनश्वरपशुयुक्तः । सुविदत्रियेभ्य (<) = सुधनेभ्य (च. ट.) । ट. पुस्तके ग्रान्ते लिखितमिदं विवरणं ट- ट. पुस्तकयोरन्वर्तमानं ।
- ७ ' अपरपक्षाद्यान् पद् दक्षिणैति मामान् मासेभ्यः पितृभ्योक्तम् ' (छा० उप० ९।१०।३-४) । अपक्षीयमाणपक्षाद्यान् पप्मा- सान् दक्षिणाऽऽदित्य एति मामेभ्यः पितृभ्योक्तम् ' (बृह० उप० ६।२।१६) ।
- ८-९ सुविदत्रियेभ्य = ये विद्युतो मये निवसन्ति तेभ्य । विद्युति निवसन्ति ते विदत्रियाः । अयं दुर्गाहोर्षः विष्ट ।
- ९ ' चन्द्रमसो विद्युतम् ' (छा० उप० ९ । १० । ३) । ' आदित्याद्विद्युतम् ' (बृह० उप० ६।२।१६) । दुर्गेण कस्या उपनिषद् एते वाक्ये उदाहृते इति न ज्ञायते ।
- ११-१३ अनृणा अभिस्तनृणा परस्मिन्तृणाये लोके अनृणाः इयम् । ये देवयाना विनृयन्ताश्च लोका. मर्षांलोकाननृणा मर्षमर्षिः॥ इति नपनि गन्मानः (मान० श्रौत० ३।१।१।२६) ।

पत्रं
६६२

पङ्क्तिः .

१३ सांशयिकः = संशयम् आपन्नः (पा० ९ । १ । ७३)

१७ पूर्वस्मिन् अर्धे कथितस्य पुनर्निर्देशः अन्वादेशः ।

सामर्थ्यात् = अन्वादेशकरणात् ।

१८ दर्शनं = मतम् ।

२० पितृम्यः इति पञ्चमी ।

२१ देवेभ्यः इति चतुर्थी ।

२२ दिष्टं = प्रेषितम् । इतः = पृथिवीलोकात् ।

२३ सः (६६१ । १०) इति सर्वनाम्नः । व्यपेक्ष्य = विशेष-
पतः अपेक्ष्य ।

२४ प्रकर्षेण कीर्तना कथनम् । अपरं = दर्शनम् । अकल्पयत् =
अर्थमकरोत् । अथवा । अपरं दर्शनम् अकल्पयत् ।

‘ अथा पितृन्सुविदत्रो उपेहि ’ (ऋ० सं० १० । १४ । १०)

‘ आहं पितृन्सुविदत्रो अवित्सि ’ (ऋ० सं० १० । १५ । ३)

‘ आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिर्धर्मसद्भिः ’

(ऋ० सं० १० । १५ । ९) एतेषु सुविदत्रशब्दः पितृणा

विशेषणम् । (ऋ० सं० २ । १ । ८ ॥ २ । ९ । ८)

इत्यत्र अग्नेः । (ऋ० सं० ७ । ९ । १ । ९) इत्यत्र नियु-

ताम् । (ऋ० सं० २ । २४ । १०) इत्यत्र ‘ सुविदत्रा-

णि सातानि ’ । सुविदत्रशब्दस्य ऋग्वेदे सप्तैव प्रयोगाः । स

प्रख्यातार्थं प्रयुज्यते इति भाति । पदपाठः सुविदत्र इति ।

तेन विदधातोः विदत्रशब्दः । सुविदत्रिय = सुविदत्र । सु

शोभनं विदत्रं प्रख्यातिः येषां ते सुविदत्राः । पितरः प्रख्या-

ताः यस्मात्ते देवलोकां गताः । देवलोके च ते देवभूताः ।

अनष्टपशु. भुवनस्य गोपाः विद्वान् पूषा त्वाम् इतः पृथिवी-

लोकात् प्रच्यावयतु त्वरयतु स्वर्गगमनाय । तत्र गतं त्वाम्

सः आग्नि. एतेभ्यः सुविदत्रिभ्येभ्यः. देवेभ्यः पितृभ्यः परिददत्

ददातु । पथस्पतिः पूषा पशुपालः । तेन रक्षिताः पशवः न

कदाऽपि नश्यन्ति यस्मात् स विद्वान् भुवनस्य च गोपाः ।

पत्रं ६६२ पङ्क्तिः २४ मनुष्यपशून् अप्रमादेन स स्वर्गं नयति । अग्निस्तान् पितृभ्यः अपर्याति । अयमेव ऋचोऽर्थः । स्पष्टश्च । दत्र-शब्दो दानार्थे वर्तते । सु शोभनं वि विशिष्टं दत्रं दानं येषाम् । पितर इहस्येभ्यो मनुष्येभ्यो दानानि ददति इति ऋग्वेदे कथ्यते । तेन सुविदत्राः = दानानां दातारः । किंतु 'सुविदत्राणि सातानि' इत्यत्र सातानि = दानानि । अत्र सुविदत्र-शब्दः सातानि इत्यस्य कथं विशेषणं भवेत् ।

६६३ २ पञ्चदशस्तोमः । अस्य त्रयः प्रकाराः । तिस्र ऋचः । तामु

| | |
|--|--|
| प्रथमा (त्रिः) + मध्यमा (स०) + उत्तमा (स०) = ९ | } प्रथमः प्रकारः पञ्चपञ्चिका- नामा |
| प्रथमा (स०) + मध्यमा (त्रिः) + उत्तमा (स०) = ९ | |
| प्रथमा (स०) + मध्यमा (स०) + उत्तमा (त्रिः) = ९ | |
| १९ | |

| | |
|---|------------|
| प्रथमा (त्रिः) + मध्यमा (स०) + उत्तमा (स०) = ९ | } द्वितीयः |
| प्रथमा (स०) + मध्यमा (स०) + उत्तमा (स०) = ३ | |
| प्रथमा (स०) + मध्यमा (त्रिः) + उत्तमा (त्रिः) = ७ | |
| १९ | |

| | |
|---|--------------------------------|
| प्रथमा (स०) + मध्यमा (स०) + उत्तमा (स०) = ३ | } तृतीयः प्रकारः उद्यतीनामा |
| प्रथमा (स०) + मध्यमा (त्रिः) + उत्तमा (स०) = ९ | |
| प्रथमा (त्रिः) + मध्यमा (स०) + उत्तमा (त्रिः) = ७ | |
| १९ | |

बृहन्नाम = ' त्वामिद्धि हवामहे ' (ऋ० सं० १।४१। १) इत्यभ्यामृत्युत्पन्नम् ।

१०-१७ ' ये च देवगणाः ' = देवाः वरुणादयः । देवगणाः पुनर्मरुतादयश्च । याधः सियः = अदिन्यादयः (११) । रसानुप्रदानं = वृष्टिः (१३) मेघकथः । या च का च बलकृतिः = यथा किंचिद्दलेन कियते पतद्वादिभिरपि कर्म इन्द्रकर्मैव तत् (१६-१७) । कुतः । चले हि प्राणः । प्राणश्च वायुः । वायुश्च इन्द्रः (ट.) ।

१३ रसाः = भवदशास्यः वर्षाः ।

- पत्रं
६६३, पङ्क्तिः
१४ अन्या वृत्रवधात् ।
१६ इन्द्रस्यैव तत् नान्यस्य । इन्द्रकर्म इति पुनरक्तिः अद-
धारणार्था ।
२० हे इन्द्राग्नी दिवो रोचना त्रीन् स्वर्गान् वाजेषु संग्रामेषु पारिभू-
पथः व्याप्नुथः । तत् युवयोः वीर्यं प्र चेति ज्ञायते ।
- ६६४
६ न शोपः किंतु सर्व एव मन्त्रः (निरु० ३९३ । १६-२२)
इत्यत्र व्याख्यातः । ' शोप.'-शब्दो व्यर्थः ।
२० उक्थं होत्रा शम्यते । प्रतिगरश्चाध्वर्यवे दीयते । अन्वर्यवे
होत्रा दत्तमुत्तरं प्रतिगरः । उक्थं शम्यते मदश्च शम्यते ।
मदः = प्रतिगरः (दुर्गः) । मदः = मदननकम् उक्थम्
(सायणः) ।
- ६६५
१ ' चन ' इति पठपाठे एकपदम् । तथापि च न इति द्वे पदे
अर्थकरणाय आवश्यके ।
१६ रथः अत्र रथः एव । न रंहणम् ।
१८ वीराः = शूरपुत्राः ।
- ६६६
१५ अपिकर्णे = (स्तोतुः) कर्णसमीपे ।
६ पीं = सीम् । सीं = सर्वतः (दुर्गः) । सीं = बुद्धिम्यं
कांचित् अरिम् । निर्धमथः = निःसारयथः निरस्यथः ।
७ निः = निर्धमथः । पथस्तात् = सघग्तात् सहमथानात् सर्वं
स्मात्स्थानात् ।
८ मधोनः = मधवतः यजमानस्य । हृदः = हृदयात् ।
९ अनाकालः = दुर्भिक्षम् ।
१३ त्रैधातवी नाम इष्टिः । इन्द्रो वृत्रस्य वीर्यं विष्णुसाहाय्येन
त्रिःकृत्वः त्रिभिर्भागेरपाहरत् । तस्मात् ' त्रैधातवी ' इति
नाम (मैत्रा० सं० २ । ४ । ३ - ६) ।
१८ अप्रति = प्रतीकाराय अममर्था यथा भवेयुः तथा । वीरान् =
पुत्रान् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

६६७

१३ अथापि — तथा च । विशेषत मित्रादीन् न तथाऽन्यान्
देवान् । प्रररोति = स्तोतुमारभते ।

१५ पराणि = अन्यानि । अन्या देवताः मित्रादयः । अपरेण
मित्रवरणादिनाम्ना । भेटपक्षे = देवतानानात्वपक्षे ।

१७ इन्द्रवायुसम्भवे (४-६) । मित्रादयो मन्वस्य कर्मात्मान
इति विरोध आभास एव ।

१८ मुरया म्नुति यस्या सा । सा + अमुरया ।

१९ निर्दिष्टा तृतीयया विभक्त्या ।

६६८

९ ' अस्मात् गत्व्यति रजासि च ' इति दूरान्वयः ।

१६ चन्द्रसूर्यो कथं दिव जनयत । स्वेन उपशारेण कर्मणा प्रका-
शदानेनामृतनलदानेन च । इदं जननं काल्पनिकम् ।

१८-१९ सार्वलौकिकस्य उदकस्य । देवा मुक्ता नाभिं कुर्वन्ति ।

६६९

१० अग्निना पूषा सम्तूयते ! सोऽग्निर्मध्यमं स्यात् द्युस्थानो वा ।
यस्मात्पार्थिवेनाग्निना पूषसम्भवस्य प्रतिषेध उक्तः (६६१।
४-५) । ' पूषा त्वेतश्च्यावयतु० ' इदमाग्नापौष्णहविष
उदाहरणं न सस्तवस्य । मन्वस्यद्युस्थानाग्ने पूष्णा सस्तवस्यो-
दाहरणं नोपलभ्यते ।

“अग्निना च पुषेत्यपाठः ' न तु सस्तव ' (निरु० ७।८)
इति प्रतिषेधविरोधात् । वायु च पूषेत्यपाठः । उदाहरणम् ।
' प्रतश्सो नमउक्ति० उत त्मन् ' (ऋ० स० ५।४३।९) ।
सायणभाष्ये च दीयते । अत्र पूषवायु-सस्तूयते ” (ट) ।
' अथाप्यागार्पाष्ण हविर्न तु सम्तव ' इति (निरु० ७।८)
सम्भवप्रतिषेधः । तस्मात् ' वायुना च पूषा ' इति पाठः स्यात्
इति कस्यचिन्मतम् । किंत्वयं प्रतिषेधः पार्थिवान्पूष्णो
सम्भवस्य न मन्वस्यद्युस्थानाग्नेर्वा पूष्णा सम्भवस्य । तस्यो-
दाहरणमद्यापि नोपलभ्यते । मृग्यं तत् ।

११ नोदाहरन्ति = दुर्गमदशां केचिद्भक्तिभारः । ' उदाहरति '
(२५) इत्यपपाठो यस्माद्यास्य सम्भवोदाहरणानि न ददाति ।

पत्रं

पङ्क्तिः

६६९

१२ 'वायुना च संस्तवः' इदमपूर्णम् । केनाप्यन्येन प्रान्तभागे लिखितं स्यात् । तत्केनापि लेखकेन दुर्गवृत्तापन्तर्भावितम् ।

१२-१३ ' वायुना संस्तवः ' पूष्णोऽस्ति (ऋ० सं० १।४३।९) इत्यत्र ।

१७ दिवो धर्तार इत्यस्मात्कारणात्सुहस्ताः ।

१८ वाजिनः = ' अग्निर्वासु, सूर्यस्ते वै वाजिनः ' इति हि तौत्तिरीयब्राह्मणं १।६।३।९ (च.) ।

१९ द्योतनवन्तो ये वाजिनश्च उदकस्य भारयितार उक्ताः । 'अप्स्वन्तरमृतं' (ऋ० सं० १।२३।१९) इत्यत्र । मिश्रवरणारुद्रसोमवातपर्जन्या मध्यस्थानीयाः । पूषा पृथिवी, स्थानीयः ।

६७०

६ सप्तदशस्तोमः—

$$\left. \begin{array}{l} १ \text{ प्रथमा (त्रिः) + मध्यमा (स०) + उत्तमा (स०) = ९ } \\ २ \text{ " (स०) + " (त्रिः) + " (स०) = ९ } \\ ३ \text{ " (स०) + " (त्रिः) + " (त्रिः) = ७ } \end{array} \right\} \text{दशसप्त}$$

१७

अथवा

$$\begin{array}{l} १ \text{ प्रथमा (सं०) + मध्यमा (त्रिः) + उत्तमा (स०) = ९ } \\ २ \text{ " (स०) + " (त्रिः) + " (त्रिः) = ७ } \\ ३ \text{ " (त्रिः) + " (स०) + " (स०) = ९ } \end{array}$$

१७

$$\begin{array}{l} १ \text{ प्रथमा (त्रिः) + मध्यमा (त्रिः) + उत्तमा (स०) = ७ } \\ २ \text{ " (स०) + " (स०) + " (स०) = ३ } \\ ३ \text{ " (स०) + " (त्रिः) + " (त्रिः) = ७ } \end{array}$$

१७

अथवा

$$\begin{array}{l} १ \text{ प्रथमा (त्रिः) + मध्यमा (स०) + उत्तमा (त्रिः) = ७ } \\ २ \text{ " (स०) + " (स०) + " (स०) = ३ } \\ ३ \text{ " (त्रिः) + " (स०) + " (त्रिः) = ७ } \end{array}$$

१७

- पत्रं
६७० पङ्क्तिः २२ अत्र किमर्थं चन्द्रमसा वायुनेति । त्रय एवेति कृत्वा प्रपञ्चो न कृतः ।
- ६७१ १६ उत्तरोऽर्धर्चो निराकाङ्क्ष आशिषा ।
- ६७२ १ ऋतवः छन्दांसि स्तोमाः पृष्ठानि एतानि कानिचित् पूर्वेषु अग्नि-
भक्तियु कथितानि । शेषाण्यत्र कथ्यन्ते ।
' स (इन्द्रः) एतं माहेन्द्रं ग्रहमव्रूत माध्यादिनं सवनानां निष्क्रेवल्यमुक्त्वाना त्रिष्टुभं छन्दसा पृष्ठं साध्याम् ' (ऐ० ब्रा० १२ । १०) ।
' अमि त्वा शूर नोनुम इति रथंतरस्य योनिम् ' (ऐ० ब्रा० २१ । २) ।
' त्वामिद्धि हवामह इति बृहतो योनिम् ' (ऐ० ब्रा० २१ । ४) ।
अयं लोकः प्रातःसवनं वसन्तः गायत्री त्रिवृत् रथंतरम् ।
अन्तारिक्षं माध्यदिनं ग्रीष्मः त्रिष्टुप् पञ्चदश बृहत् ।
असौ लोकः तृतीयसवनं वर्षा जगती सप्तदश वैरूपम् ।
एते स्थान(लोक)न्यूहाः । स्थानव्यवस्थेत्यर्थः ।
शरद् अनुष्टुप् एकविंशः वैराजम् ।
हेमन्तः पङ्क्तिः त्रिणवः शाकरम् ।
शिशिरः अतिच्छन्दाः त्रयस्त्रिंशः रैवतम् ।
एतानि शिष्टान्यनुक्रमेण पूर्वेषु न्यूहेषु संस्थाप्यानि ।
पूर्वा मुख्या कल्पना (व्यवस्था) । इयमनुकल्पना तदवल-
म्बिनी व्यवस्था ।
' अनुकल्पयीत ' = अनुकल्पयेत । आह्वयीत = आह्वयेत
(आश्व० श्रौ० ८ । १३) । वेदयीत (आश्व० श्रौ० ८ ।
१४) । कामयीत (आश्व० श्रौ० १२ । ८) । एतानि
श्रौतसूत्रकालीनानि रूपाणि ।
पृष्ठं = सामसाध्यं पृष्ठन्तोत्रम् । यथाऽसिष्टोमे रथंतरं साम
अत एव रथनरं पृष्ठम् । अतिराने बृहत्साम बृहत्पृष्ठम् । एवं

पञ्च

पङ्क्तिः

१७२

१ रथंतरं नृहत् वैरूपं वैराजं चेति चत्वारि सामानि तान्येव च पृष्ठानि ।

अथाणां सवानां छन्दांसि देवताश्च (ऐ० ब्रा० १३ । ३) इत्यत्र दीयन्ते ।

पूर्वेष्वग्न्यादिभक्तिष्वन्तर्भूताः । ऋतुच्छन्दःस्तोमपृष्ठानामग्न्यादिषु भक्तिः । कथितेभ्यस्तेभ्योऽकाथितानि शिष्टानि । सोऽयं भक्तिशेषः । ऋत्वादीनि शिष्टानि अग्न्यादिभक्तीनि पूर्वेष्वन्तर्भूतानि ।

२ पृष्ठानि = पृष्ठस्तोत्रसाधकानि सामानि ।

४ ऋतवोऽग्न्यादीन् भजन्ते । ऋतुशेषं शिष्टानृतून् ।

५-६ गायत्रीतः अनुष्टुप् । त्रिष्टुभः पङ्क्तिः । जगत्या अतिच्छन्दाः (ऐ० ब्रा० १९।६) ।

अग्निः त्रिवृत्स्तोमः रथंतरं साम गायत्री छन्दः (ऐ० ब्रा० २०।१)

इन्द्रः पञ्चदशस्तोमः वृहत्साम त्रिष्टुप् छन्दः (ऐ० ब्रा० २०।३) ।

विश्वे देवाः सप्तदशस्तोमः वैरूपं साम जगती छन्दः (ऐ० ब्रा० २१।१) ।

वाक् एकविंशः वैराजं अनुष्टुप् (ऐ० ब्रा० २१।४) ।

गौः त्रिणवः शाकरं पङ्क्तिः (ऐ० ब्रा० २२।१) ।

वैरूपं (६) = ' यथाव इन्द्र ते शतं ' (ऋ० सं० ८ ।

७० । ९) इत्यग्न्यामृच्युत्पन्नम् । (ऐ० ब्रा० २१ । २) ।

' पिना सोममिन्द्र मदन्तु त्वा ' (ऋ० सं० ७ ।

२३।१) इत्यग्न्यामृच्युत्पन्नं साम वैराजम् (ऐ० ब्रा० १७ ।

७) । ' प्रोष्वग्मै पुरोरवम् ' (ऋ० सं० १० । १३३ ।

१) इत्यस्यां गीयमानं शाकरं साम (ऐ० ब्रा० १७ । ७) ।

१ प्रथमा (३) मध्यमा (९) उत्तमा (१) = ९

२ " (१) " (३) " (९) = ९

३ " (९) " (१) " (३) = ९

२७

घोः त्रयस्त्रिंशः र्वतं अतिच्छन्दाः (ऐ० ब्रा० २२।७) ।

पत्रं
६७२

पङ्क्तिः

१-६ ' रेवतीर्निः सधमात्रे ' (ऋ० सं० १ । ३० । १३ ।) इत्यस्या-
मृच्युत्पन्न साम रेवतम् । (ऐ० ब्रा० १७ । ७)

| | | | | | | | |
|----|--------|-----|--------|-----|--------|-------|---------------------------|
| १ | प्रथमा | ३ + | मध्यमा | ३ + | उत्तमा | १ = ७ | } सप्तसप्तिनी एकाविंशः |
| २ | " | १ + | " | ३ + | " | ३ = ७ | |
| ३ | " | ३ + | " | १ + | " | ३ = ७ | |
| २१ | | | | | | | |

| | | | | | | | |
|----|--------|-----|--------|-----|--------|-------|----------|
| १ | प्रथमा | ३ + | मध्यमा | १ + | उत्तमा | १ = ९ | } उद्यती |
| २ | " | १ + | " | ३ + | " | ३ = ७ | |
| ३ | " | ३ + | " | ३ + | " | ३ = ९ | |
| २१ | | | | | | | |

| | | | | | | | |
|----|--------|-----|--------|-----|--------|-------|----------------|
| १ | प्रथमा | ३ + | मध्यमा | ३ + | उत्तमा | ३ = ९ | } प्रतिष्टुतिः |
| २ | " | १ + | " | ३ + | " | १ = ९ | |
| ३ | " | ३ + | " | १ + | " | ३ = ७ | |
| २१ | | | | | | | |

| | | | | | | | |
|----|--------|-----|--------|-----|--------|-------|--------|
| १ | प्रथमा | ३ + | मध्यमा | ३ + | उत्तमा | ३ = ९ | } सूमी |
| २ | " | १ + | " | १ + | " | १ = ३ | |
| ३ | " | ३ + | " | ३ + | " | ३ = ९ | |
| २१ | | | | | | | |

| | | | | | | | |
|----|--------|-----|--------|-----|--------|-------|--------------------------|
| १ | प्रथमा | ३ + | मध्यमा | ९ + | उत्तमा | १ = ९ | } त्रिणव- प्रतिष्ठिता |
| २ | " | १ + | " | ३ + | " | ९ = ९ | |
| ३ | " | ९ + | " | १ + | " | ३ = ९ | |
| २७ | | | | | | | |

| | | | | | | | |
|----|--------|-----|--------|-----|--------|--------|----------|
| १ | प्रथमा | ३ + | मध्यमा | ३ + | उत्तमा | १ = ७ | } उद्यती |
| २ | " | १ + | " | ३ + | " | ९ = ९ | |
| ३ | " | ९ + | " | ३ + | " | ३ = ११ | |
| २७ | | | | | | | |

| | | | | | | | |
|----|--------|-----|--------|-----|--------|--------|----------------|
| १ | प्रथमा | ३ + | मध्यमा | ७ + | उत्तमा | १ = ११ | } त्रयात्रिंशः |
| २ | " | १ + | " | ३ + | " | ७ = ११ | |
| ३ | " | ७ + | " | १ + | " | ३ = ११ | |
| ३३ | | | | | | | |

पत्रं
६७२

पङ्क्तिः

| | | | | | |
|---|--------|------------|------------|--------|-----------------------------|
| १ | प्रथमा | ३ + मध्यमा | ७ + उत्तमा | १ = ११ | } समञ्चिशा त्रयस्त्रिंशः |
| २ | " | १ + " | ३ + " | ७ = ११ | |
| ३ | " | ७ + " | १ + " | ३ = ११ | |
| | | | | ३३ | |
| १ | प्रथमा | ३ + मध्यमा | ९ + उत्तमा | ३ = ११ | } नेदीयः संक्रमा |
| २ | " | ३ + " | ३ + " | ९ = ११ | |
| ३ | " | ९ + " | ३ + " | ३ = ११ | |
| | | | | ३३ | |
| १ | प्रथमा | ३ + मध्यमा | ९ + उत्तमा | १ = ९ | } उद्यती |
| २ | " | १ + " | ३ + " | ७ = ११ | |
| २ | " | ७ + " | ३ + " | ३ = १३ | |
| | | | | ३३ | |
| १ | प्रथमा | ३ + मध्यमा | ९ + उत्तमा | ९ = १३ | } प्रत्यवरोहिणी |
| २ | " | ९ + " | ३ + " | ३ = ११ | |
| २ | " | ३ + " | ३ + " | ३ = ९ | |
| | | | | ३३ | |
| १ | प्रथमा | ३ + मध्यमा | ७ + उत्तमा | ९ = १९ | } |
| २ | " | ९ + " | ३ + " | ३ = ११ | |
| ३ | " | ३ + " | १ + " | ३ = ७ | |
| | | | | ३३ | |

६-७ अग्निः पृथिवीस्थानः । एतान्पि पृथिवीस्थानानि । एतेषामे-
कस्यापि श्रवणे मन्त्र आग्नेयः ।

७ 'अन्यतमम्यात्' (२०) इदं पाठान्तरं प्रामादिकम् ।

११-१२ पृथिवीभक्त्यान्तरिक्षभक्तीनीत्यत्रापि अयं प्रणाडिकान्यायो
योन्यः । अवयवम्य स्तुतिरवयविनि संक्रमयित्त्येति न्यायः ।

१२ एते देवताव्यूहा न म्यानव्यूहाः । अयं भागः प्रक्षिप्त इव
भाति यस्मादिदं न साक्षादन्यादिभक्तिभिः संबद्धम् । सामस्थाने
पृष्ठशब्दः अग्निभक्तीर्नान्द्रभक्तीनीति वक्तव्ये पृथिव्यायननान्य

पत्रं
६७२

पङ्क्तिः

१२ न्तरिक्षायतनानि भादित्यभक्तीनीति वक्ष्ये द्युभक्तीनि
' अनुकल्पयीत ' इत्यास्यातरूपं मन्मयजुःशब्दयोर्व्युत्पत्ति-
रित्येतेभ्यः कारणेभ्यो नेदं यास्करचितम् ।

१३ ' सर्वमेतन्मन्त्राश्रयम् ' इति कुत्रोक्तम् । ' यत्त्रयमः० ' (६०९ ।
८) इदं मन्त्रदेवतालक्षणम् ।

६७३

८-९ मन्तारो मननशीला एभ्यश्चे मन्त्रेभ्योऽध्यात्मारार्थं मन्यन्ते
मन्तुमुपलभन्ते ।

९ दुर्गदत्तं ब्राह्मणवचनं कस्माद्ब्राह्मणादिति न ज्ञायते ।

१०-११ ' देवा वै मृत्योर्विभ्यदस्त्रयीं विद्या प्राविशंस्ते छन्दोभिरच्छा-
दयन्त्यदेभिरच्छादयंस्तच्छन्दसा छन्दस्त्वम् ' (छा० उ०
१ । ४ । २)

' देवा असुरान्हत्वा मृत्योरविभयुस्ते छन्दास्यपदर्थस्तानि
प्राविशंस्तेभ्यो यद्यच्छन्दयुक्तेनात्मानमच्छादयन्त तच्छन्दसा
छन्दस्त्वम् ' (मैत्रा० सं० ३ । ४ । ७) ।

१२ ' यजुषा ह वै देवा अग्रे यज्ञं तेनिरेश्यर्चाऽथ साम्ना । यजो
ह वै नामैतद्यजुरिति ' (शत० ब्रा० ४ । ६ । ७ । १३) ।

१३ ' सोऽनुयाक्यामनुच्य वाज्यामनुद्वृत्य पश्चाद्द्वपट्करोति । सह वै
वपट्कारेण नुहुयाद्द्वपट्कृते वा ' (शत० ब्रा० १ । ७ । २ ।
२२) । ' देवपात्रं वा एष यद्वपट्कारः (तथैव १३) । स वै वौ-
गिति करोति । वाग्वै वपट्कारो वाग्रेतो रेत एवैतत्सिञ्चति
पडित्यृतवो वै पट् तद्वत्पुष्वैतद्रेत सिञ्चते तद्वतवो रेतः
सिक्तमिमा प्रनाः प्रजनयन्ति तस्मादेवं वपट्करोति ' (तथैव
२१) । को वपट्करोति ।

' स्तवे वज्री ऋचीपमः ' (निरु० ६ । २३) अत्र ऋचीपमः
= ऋचा समं । एवं प्रनापतिरात्मानमृचा समं मेने । किंतु
साम ऋचा समं यस्मात्तत् ऋच्य-यूदम् । साम ऋच एव
विस्तरः । गेया ऋचू = साम । तस्मात् ' प्रनापतिः साम
ऋचा समं मेने ' इति साधुतरं निरूपणम् ।

१८ संहिता तत्पदानि तेषा ऋचोः विस्तरः सामनामा ।

- पत्रं
६७३
- पङ्क्तिः
२० यंरिमन्ग्रन्थे ऋचामुत्पत्तिकारणानि दीयन्ते स ग्रन्थोः निदानः ।
तं ग्रन्थं ये अधीयते ते । अथवा ऋचां निदानानि ये विदुस्ते
निदानाः । ' तदधीते तद्वेद ' (पा० ४ । २ । १९) ।
- २२ 'त्रिवृत्स्तोमानां मुखं गायत्री छन्दसामंश्रिर्वेदतानां ब्राह्मणो
मनुष्याणां वसन्त ऋतूनाम् । (ताण्ड्य० ६ । १ । ६)
- 'राजन्यस्य पञ्चदशः स्तोमः त्रिष्टुप् इन्द्रो ग्रीष्मः (ताण्ड्य० ६ । १ । ८)
वैश्यस्य सप्तदशः जगती विश्वेदेवाः वर्षाः (ताण्ड्य० ६ । १ । १०)
शूद्रस्य एकविंशः अनुष्टुप् न काचन देवता (ताण्ड्य० ६ । १ । ११)
- २३ त्रि + गमना (६७२ । १८) । एते विपरिते । गाय (गमना)
+ त्री (त्रि) = गायत्री । त्रिभिः पादैर्गच्छति तस्माद्गायत्री ।
इदं ' गायतो मुखात्० ' (६७२ । १८) इति ब्राह्मणवाक्यं च
दुर्गेण न व्याख्याते ।
- ' सेयं सर्वा कृत्स्ना मन्थमाना गायद्यद्गायत्तस्मादियं गायत्री ।
अग्निर्गायत्रः ' (शत० ब्रा० ६ । १ । १ । १९) ।
' सा ह्येषा यगांस्तत्रे । प्राणा नै गयाः । तस्माद्गायत्री ' (शत०
ब्रा० १४ । ८ । १९ । ७) ।
- (प्रजापतिः) भूरितीमामसृजताग्निं रथंतरे त्रिवृतं गायत्री
भुवरित्यन्तरिसंवातं वामदेव्यं त्रिष्टुभं पञ्चदश
स्वरिति दिवं सूर्यबृहदेकविंशं जगती (काठ०
सं० ६ । ७) ।
- ' या ते अग्ने पवमाना तनूः पृथिवीमन्वाविवेश
याऽऽगौ या रथंतरे या गायत्रे च्छन्दासि या त्रिवृति स्तोमे ।
या ते अग्ने पावका तनूः अन्तरिक्षमन्वाविवेश
या वाते या वामदेव्ये या त्रैष्टुभे च्छन्दासि या पञ्चदशे ।
या ते अग्ने शुचिः तनूः या दिवमन्वाविवेश
या सूर्ये या बृहति या जागते च्छब्दासि या सप्तदशे ' (काठ० सं० ७ । १४)

पत्रं

पङ्क्तिः

६७४

१ गायत्रीत उष्णिहि चत्वार्यधिकान्यक्षराणि । यथा—

‘ यस्य त्यच्छम्बरं मट्टे (१) दिवोदासाय रन्धयः (२) अयं
स सोमं इन्द्र ते (३) सुतः पिबं ’ (ऋ० सं० ६ ।
४३ । १) ॥ ‘सूतः पिबं’ एतानि चत्वार्यधिकान्यक्षराणि ।
‘एतदुष्णीपसदृशम् (४) । उत्स्राता (६७३ । २६) =
उद्घेष्टिता । उत्स्राता = अधिकं स्राता चतुर्भिरक्षरैः ।

१-२ उष्णिकृत्रिपाद् । गायत्री द्वौ पादौ प्रत्येकमष्टाक्षरौ । जाग-
तश्च द्वादशाक्षर एकः पादः ।

उत् + ‘स्निह् । अथवा ‘उ’ इत्युपजन उच्चारणार्थः ।

१ उष दाहे । शिरोदाहं सूर्यकृताशिरस्तापमिदं नयतीति उष्णीपम् ।
अथवा ‘उ’ उच्चारणार्थे । ष्णीप् ष्णा शान्ते (षा० २ ।
४२) इत्यस्मात् ।

११ अनुष्टोमति = स्थिरी करोति ।

१२ ‘ अनुष्टुप् (चतुष्पाद) गायत्रीः ’ (पिद्म० १ । ३१) ।

१३ -समुच्चिनोति = समर्थयति ।

१५ ‘ अनुस्तोमति ’ (च. ज. २४) इत्यपपाठो यस्मात् ‘ उप-
सर्गात्सुनोति० स्तोमति० ’ (पा० ८ । ३ । ६-५) इत्यनेन
सस्य पो भवत्येव ।

१६-१७ बृहत्या एकः पादो जागतो द्वादशाक्षरः । इतरे त्रयः पादा
गायत्राः । अनुष्टुमः सर्वे पादा गायत्राः ।

१८ ‘ पङ्क्तिर्जागतौ गायत्री च ’ (पिद्मलम्बं १ । १७) ।
पङ्क्तेश्चत्वारः पादाः । तेन कथं पद्यपदा पङ्क्तिः । ‘पद्यपङ्क्तिः
पद्य’ (पिद्म० ६ । ६) । ‘चतुष्कपङ्क्तौ त्रयश्च ’ (पिद्म०
६ । ७) । एतेन पद्यपङ्क्तिः पद्यपदा । ‘पद्यपदा पङ्क्तिः’
(ऐ० मा० २३ । ४ ॥ २९ । ४) । या ह्यक्षरपङ्क्तिः
सा पङ्क्तिश्चतुर्धा द्विनम्याः पद्यपद्याक्षराणि (मैत्रा० सं० १
११ । १०) ।

पत्रं

पङ्क्तिः

- ६७६
- १ वाहुल्यात् प्रयोगस्य ।
 - २ 'विराजो दिशः' (पिङ्ग० ४।९) । विराट्पादे दशाक्षराणि । त्रिष्टुप्पादे एकादश । नस्मात् त्रिष्टुभः प्राग् विराट् किमिति न निरूपिता ।
 - ३ साकल्यात् = दशाक्षरैः ।
 - ४ विराध्यति = समृद्धा संपूर्णा न भवति यदा कदाचिदस्याः पादोऽक्षरेण विकलो भवति । कदाचिदाधिकाक्षरेण्यं विशेषं मानं प्राप्नोति ।
 - ५ दशाक्षरस्वरूपाद्विप्लुता अतिरिक्ता ।
 - ६ पिपीलिकामध्या गायत्री (८ + ७ + ८) यथा—(ऋ० सं० ४ । ३२ । ११) । 'त्रिपादानिष्ठमध्या पिपीलिकमध्या' (पिङ्ग० ६ । १७) । पिपीलिकस्य मध्य इव मन्यो यस्याः । अनुक्रमणीकारदर्शितः छन्दसां क्रमः (ऐ० ब्रा० भाष्यं ७।८) । छन्दोविचारः (ऐ० ब्रा० १३।३-४) ।
 - १७ भूयिष्ठा देवता एकैकामृचमेव भजन्ते न कदाऽपि सूक्तम् ।
 - १९ लक्षणभेदास्त्रिभिः = सा सा देवता भिन्नलक्षणैर्लक्षिता ।
 - २१ 'उद्वेतित्यिर्वषधमाः' (ऋ० सं० ७ । ६३ । १-४३) सौर्यम् बृहद्दे० ६ । ९) ।
यत्रां चक्रुर्मृतां गातुर्मस्मै द्येन्नो न दीयन्नन्वेति प्रायः ।
प्रति वां मूर उद्विते विधेम नमोभिर्मित्रावरणोत ह्व्यैः (ऋ० सं० ७ । ६३ । ९) ॥ अत्र प्रथमोऽर्चवः सौर्यः शानकस्य मतेन । उत्तरो मैत्रावरुणः । अन्येषां मित्रं मतमासीदिति भाति । 'उद्वेति सुभगो' । (ऋ० सं० ७ । ६३ । १)
'यत्रां चक्रुः' (ऋ० सं० ७ । ६३ । ९) ।
 - १ नवो नवो भवति जार्थमानोऽर्द्धा केतुरूपमामित्यग्रम् ।
'मात्रं देवेभ्यो वि दधात्यायन् प्र चन्द्रेमोक्षिरते दीर्वमार्युः' (ऋ० सं० १०।८२।१९) ॥

६७७

पत्रं

पङ्क्ति

६७७

१ नवो नवो भवति जायमान सूर्य एव इति केचित् । अह्ना
केतु स उपसामग्रे एति । चन्द्रमा आयन् देवेभ्यो भाग विद
धाति दीर्घमायु प्रतिरते च । अन्ये तु प्रथम पाठश्चन्द्रम पर ।
द्वितीय आदित्यपर । सर्वस्याश्चन्द्रमा देवतेत्यनुरुमणी ।

‘ परस्या (१०।८५।१९) प्रथमौ पाठौ सौर्यौ चान्द्रमसौ
परौ ’ । (बृहदे० ७।१२९) । ‘ और्यवामो द्रवृचे (१०।
८५।१८-‘९) त्वस्मिन्नश्विनौ मन्यते स्तुतौ ’ (बृहदे०
७।१२९) ।

४ ‘ ऋभाजश्च भूयिष्ठाः ’ (६७५।९) इत्यत्र भूयिष्ठग्रहणात् ।

५ कल्प्या = स्थापनीया व्यूह्या ।

६ परमेष्ठी अमुष्मिन् लोके । ग्रहनक्षत्राण्यन्तरिक्षे । इतराणि पृथि
व्याम् । ‘ परमेष्ठी ’ एतन्नाम ऋक्शाखाया नोपलभ्यते । ऋक्शा
खाया ‘ कुसुम्भ ’ इति शब्दो न तु कुसुम्भ कुसुम्भको वा ।

७ निपात = गौण स्थानम् ।

८ उप साधारण्येन स्तुति उपस्तुति । सर्वेषा साधारणा स्तुतिर्न तु
कम्यचिदेभ्य मुख्या । तत्र = तस्मिन्निपातद्वैविध्ये । साधारण्य
नाम = साधारण्यस्यार्थ उदाहरण च ।

९ ‘ तत्र साधारण नाम ’ (२७) इति पाठान्तरम् । नाय पाठ
साधु । किं तत्साधारणम् ।

‘ तत्र साधारणोपस्तुतौ ण्य तद्य० ’ (२७) अथ ग ज पाठो
मिश्रित । यथा-‘ तत्र साधारण्येनोपस्तुतौ + तत्र साधार-
ण्यम् ’ । ‘ तत्र साधारण्येनोपस्तुतौ ’ अय पाठ सार्धयान् ।

१४ पुन = तु ।

१६ ‘ पृथिन्याम् ’ इति पृथिवी इन्द्रान्योर्निवासस्थानम् । नायं
पृथिन्या प्राधान्येन निदेश ।

१८ लक्षणत्वेन = पृथिवीनिवासिनी इन्द्रात् ।

१९ काश्चिन्निपातभाज इत्यम्भित्रधिकारे ।

पः

पङ्क्तिः

६७७

२१ अत्यन्तनैघण्टुकं = सदैव नैघण्टुकम् ।

२२ आदित्यस्य ' स्वः पृथिः ' इत्यादीनि नामानि । किंतु तेषां न कदाचन प्राधान्येन म्नुतिः ।

६७८

१ वाक्यार्थेन उपजनितं पारतन्त्र्यं यस्य । आक्षिप्तं गृहीतं जितं स्वाभिधेयसामर्थ्यं यस्य । इवशब्दोऽग्निशब्दस्य प्राधान्यमाक्षिपति तिरस्करोति ।

१-३ पाठान्तरे यच्छब्दो द्विः प्रयुज्यते (२४-२५) ।

२ उपमानशब्देन = ' अग्निरिव ' इत्यत्र इवशब्दोऽग्नेरुपमानत्वं दर्शयति । तेन इवशब्द उपमानशब्दः । ' उपमाशब्देन । इति पाठ इष्टः ।

३ वाक्यार्थस्य सामर्थ्यं तेनोपजनितं प्राधान्येन सामर्थ्यं यस्य । मन्युशब्दः प्रधानमिति वाक्यार्थेन ज्ञायते ।

७ अग्निशब्दो विशेषणद्वयो गौणो विशेष्यं प्रधानशब्दमाकाङ्क्षते । तादृशं संबोधनान्तं मन्युशब्दमाकाङ्क्षन् ।

८ अर्थिनि = प्रधानार्थवति ।

१ अथोत = अपि च । अभिधानैः = गुणवाचकैर्विशेषणैः ।

४ संविज्ञानात् = ऐकमत्येन । इन्द्रादौ देवतारूपेऽर्थे रूढम् ।

५ आम्नायविधौ = आम्नायेन कृते विधौ । आम्नायकृतत्वोदनायाम् ।

१६ ' इन्द्राय वृत्रतुरे ' (६७५ । ११) न व्याख्यातम् । ' वृत्रहां-होमुक्प्रभृतीनि ' (१९) इत्यत्रापि न वृत्रतुरशब्दो विद्यते ।

' इन्द्राय वृत्रघ्न एकादशकपालं निर्वपेदिन्द्राय वृत्रतूरा एकादशकपालम् ' (मैत्रा० सं० २।२।११) । वेदः चोदयति ।

७ ' इन्द्रायांहोमुक् एकादशकपालं निर्वपेत् ' (मैत्रा० सं० २।२।१०)

१८ ' समाप्नुजन्ति ' । अनेन समाम्नाया बहव आसन् यास्केनापि निघण्टुसमाम्नायो रचित इति भाति ।

परं

पङ्क्तिः

६७८

१९ देवतानामसु समामनन्ति ।

२२ ' तु ' इत्यस्य स्थाने ' तेषु ' इति पाठान्तरम् (२९) ।
तेषु = देवतापदेषु ।

२३ एतादृक्समाम्नानेन देवतानामानि भूयासि भवेयु ।

६७९

१-२ ' भूयासि तु समाम्नातात् ' (६७८ । २२) = किंतु यानि
समाम्नातानि तेभ्योऽन्यान्वपि बहुतराणि सन्ति । किंतु अस्मि-
न्नर्थे ' तु ' शब्दो न्यर्था भवेत् । ' भूयासि तु समाम्नातात् '
(६७९ । १२) इदं ' तान्यप्येके समामनन्ति ' (६७९ ।
११) इत्यस्यानन्तरं वर्तते । तस्मात्तस्यान्योऽप्यर्थः स्यात् ।
भूयसा समाम्नाने किं प्रयोजनम् । न किमपि । केवलं गण-
नम् । भूयासि समाम्नातानि स्थुरित्येव केवलम् ।६ सविज्ञानभूत = रूढम् । प्राधान्येन स्तुतिर्बन्धुः तत् । देवताना-
मसु तदेवाह समामने गणने यद्वद् प्राधान्यस्तुति च ।

७-८ निर्विशेषण = यदभिधानैः गुणपर्यन्तं सयुक्तम् ।

९ ' व्रतभृत् व्रतपति ' इत्यङ्गीन्वग्नेर्नामानि । ' अग्रे व्रतपते
व्रतमालप्से ' (मैत्रा० स० १ । ४ । १ ॥ ११४ । ९) ।
' अग्निर्वै देवानां व्रतपति ' (शत० ब्रा० १ । १ । १२ ॥
मैत्रा० स० १ । ४ । ९) । ' त्वमग्ने व्रतभृच्छुचि ') मैत्रा०
स० ४ । ११ । ४ ॥ तै० ब्रा० २ । ४ । १ । ११)
एवमग्निर्व्रतभृत् ।१७ पूर्वेषु समाम्नातृभ्यः = ये हविःसबद्धानि अभिधानानि
समामनन्ति तेभ्यः ।' इन्द्राय वृत्रज्ञे अष्टारुपालं निर्वपेत् ' इत्यादिर्विधिः । एता
दृशा विप्रयो वेदत्राक्षणयोर्दृश्यन्ते । पूर्वे समाम्नातारो विधि-
दर्शनादभिधानानि समामनन्ति । ऋमिदं ज्ञायते यद्विधिदर्श-
नात्ते समामनन्ति । ' हविश्चोदयति ' (६७९ । १०) इति
याम्बवचनान् । ' इमे ' शब्दः (१८) मनिहिततरं वस्तु दर्शयति ।
ये वृत्रहाद्यभिधानानि समामनन्ति ते स्तुतिदर्शनात्समामनन्ति ।

पत्रं

पङ्क्तिः

६७९

१७ इदं च ' कर्माभिर्कर्मिर्देवताः स्तौति ' (६७९ । १३) इति यास्कवचनात्स्पष्टम् ।

१८ स इन्द्रः । वज्रबाहुः (१९) इदं कथं कर्मनाम भवेत् ।

२२ पृथक् = विशेष्यं विना प्रयोगे । वृत्रहादिविशेषणस्य नेन्द्रादिविशेष्यं विना स्वातन्त्र्येण स्तुतिः ।

२३ केवलस्य = विशेष्यासंबद्धस्य ।

६८०

२ ' विशेषतः ' = ' विशेष्यतः ' इति पाठः स्यात् । विशेष्यं विना । क्वचित् = क्वचिदपि । अनवस्थानात् = विशेष्यं विना विशेषणं स्वातन्त्र्येण न क्वापि अवतिष्ठते प्रयुज्यते ।

६ क. ख. ग. घ. ज. घुस्तकेषु ' निरुक्तभाष्यार्थनिबन्धपद्धतौ ' इदमाकास्मिकं न क्वचिदन्यत्र वर्तते ।

२० प्रकरणे प्रकरणे व्याख्या भिन्ना । नैघण्टुकप्रकरणे व्याख्या (१४३ । २९-२८) । नैगमप्रकरणे(२९२।२१-२२)

६८१

९ तत्रैतद्भवति = अयं प्रश्नो विचारो बोद्धवति ।

८ निःशेषेण (सर्वत्र सर्वैश्च) ज्ञातमेतद्देवाभिधानं यस्य ।

९ यज्ञादिकर्मणोऽङ्गम् । विवक्षिते विशिष्टे स्थानकर्मणी यस्य । विवक्षितं स्थानं विशिष्टं च स्थानं यस्य इति पाठान्तरे (२८-२९) अयं विवक्षितशब्दो विशिष्टमित्यर्थे प्रयुज्यते ।

१६ अस्माकमग्निः संनिकृष्टः । पृथिव्यन्तरिक्षं द्युलोक इत्यनुक्रमः ।

१८-१९ देवताभ्यः प्रत्यक्षाभिधानं साक्षादाभिधानं न रोचते । परोक्षाभिधानं तेषां प्रियम् । देवताभिधानं व्युत्पादयितव्यं लौकिकशब्दवत् ।

१९ देवता न साक्षाद्द्रष्टुं शक्या । साऽऽदौ परोक्षीकर्तव्या । आशिरिति न देवतायाः साक्षान्नाम । परोक्षं हि तत् । परोक्षीकृतं तत्त्वं = परोक्षीकरणमेव तत्त्वम् । तदेव अर्चितम् इष्टं तेषां परोक्षनाम्नां निर्वचनेन ।

षट्

पङ्क्तिः

६८१

१९-२० 'परोक्षप्रिया इव हि देवा प्रत्यक्षद्विष' (शत० ब्रा० १४। ६। ९। २) ।

२१ आगम प्रमाण यस्य । यदा देवताभिधानं सम्यग्दायते तदा देवतातादात्म्यमनुभूयते ।

२१-२२ 'अथाऽऽत्मो या या देवता निराह तन्म्यान्तम्यास्ताद्भाव्यमनुभवति' (निरु० १३। १३) ।

२४-२५ 'अग्निं क्म्मात्' इत्युपोद्धात । 'अग्रणीर्भवति' इत्युपन्यासः ।

२५-२६ 'अथाऽऽत्मनो महत् प्रथमं भूतनामधेयान्यनुक्रमिष्याम' (निरु० १४। १०) । अनेन सर्वाणि नामान्यात्मन एव ।

२७ 'अयमेवैतत्सर्वमनुभवति' (निरु० १४। १३-१४) । 'तानीमान्येतन्मित्रात्मन्येव भवन्ति' (निरु० १४। १५) । 'तन्मित्रेभ्य भवन्ति' (निरु० १४। १९) । 'सैषाऽऽत्मजिज्ञासा सैषा सर्वभूतजिज्ञासा ब्रह्मणः सारिष्टं सख्यं पता सलोक्तता गमयति य एव वेद' (निरु० १४। ३७) । एव विभूतिताद्भाव्यमनुभवति ।

६८२

१ 'अपि वा सर्वाभिर्विभूतिभिर्विभूतव आत्मा' (निरु० १४। १२) । एव सर्वा विभूतय आत्मन एव ।

३ 'अग्रणीर्भवति' इति विग्रहेण वाक्यम् । ब्रूतव्यं वाक्यस्य पदानां वर्णाः । तेषां (पदेभ्यः) निष्कर्षणेन समुदायः । तेनोपनितोऽग्निशब्दः । अग्रणी = अग्र + नी = अग्र + नयति । अग्न्य वाक्यस्य द्वे पदे । तेषां वर्णा म्पठ । ते पदेभ्यो निष्कृत्यन्ते । तैभ्यो वर्णेभ्योऽग्निशब्द उत्पन्नः ।

५ अग्निशब्दस्य 'अग्' इत्ययस्य अग्रदाङ्गादुत्पद्यते । न केवन् 'ग्' इति । तेन अग्न्शब्दः स्वर्गमात्रियः पूर्वं पदम् ।

६ अग्र शब्द 'नयतिम्' उत्तरपञ्चमव्याप्य । अग्रशब्दो निःशब्दः अपि नियाया स्वर्गः । तेन म 'यव्याप्यते' ।

पत्रं

पङ्क्तिः

- ६ न तथोत्तरपदम् । (नि) नयतिः उत्तरपदं न उत्तरपदस्थम्
(२७) ।
- ७ कर्तव्यात्मनि कर्तव्यरूपे किमपि कर्तव्यमपेक्ष्यते इति
नयतिसदृशं पदमावश्यकम् । करणीयस्थाने नयतिपदमवस्थाप्य ।
'कर्तव्यात्मना' (२८) इति ग. ज. पाठोऽपि साधुः । 'कर्त-
व्यार्थात्मना' (२८) = कर्तव्यार्थेन + कर्तव्यात्मना एवमयं मिश्र
पाठः । तेन चोत्तरपदेन कर्तव्यरूपेण भवितव्यम् । किमपि करणी-
यम् । तस्मात् 'नयतिः' उत्तरपदम् । ' अवस्थाप्य ' इत्यनेन
काचित्संदिग्धता प्रदर्श्यते । ' कर्तव्यात्मनि० र्या ' इति केनापि
च. पाठो रूपान्तरितः (२८) । किंतु सोऽशुद्धः । नयतिः
कर्तरि अवस्थाप्येत । ' आत्मनि ' पदं किमर्थम् ।
- १० अग्रं प्रधानशब्दवन्न नित्यं नपुंसकम् । ' अधिके च प्रधाने च
प्रथमे चाभिधेयवत् ' (मेदिनी) । यज्ञमानमितरांश्चाग्रं नयति ।
- १२ अग्निग्रहणं प्रथमं कर्म । यः पूर्वेद्युराग्निं गृह्णाति स श्वोभूते
देवता अभियजते । ततश्च ' अग्ने व्रतपते व्रतमालप्स्य ' इति ।
' अग्निर्वै देवानां व्रतपतिर्ब्रह्मणो व्रतभृद्व्रतपतय एव प्रोच्य
व्रतमालभते ' (मैत्रा० सं० १ । ४ । ९) । प्रणीयते
पूर्वादिन्वर्त्याहवनियस्थानं प्रति गार्हपत्यात् । अग्रं +
नी = अग्निः ।
- १४ अथवा अङ्गं + नी = अग्निः । संनममानः =
सम्यक् नममानः = कर्मार्थं प्रह्वीभूय । सं नम्
भातुर्यास्ककाले आत्मनेपदी आसीत् । अथवा 'ताच्छी-
ल्यवयोवचनशक्तिषु चानश् ' (पा० ३ । २ । १२९)
इत्यनेन ' संनममानः ' संनमनशीलं दर्शयेत् ।
- १९ स्थूलौ अष्टौवर्णा (जानूरुमंधी) यम्य स स्थूलाष्टौवान् ।
तस्यापत्यं स्थूलाष्टौविः ' बाह्यादिभ्यश्च ' (पा० ४ । १ ।
९६) इति सूत्रेण । बाह्यादिराहृतिगणः ।

- परं —
 ६८२ पङ्क्तिः
 २२ 'वन्यूयी शब्दे उन्दे च' (भा० १ । ४८६) । ' अतिही
 ऋरीरन्मूयीक्ष्माभ्याता पुङ्णौ ' (भा० ४ । ३ । ३६) इत्यनेन
 'वनोपयति' = आर्द्रा करोति । ' अ + वनो + प + न = '
 इत्यस्मात् अ + न = अवन अन्नः अग्नि ।
- ६८३ ३ ता हेतुत्वेनोपादाय = शब्दसाधने ता नित्या हेतव ।
 ४ ' इतात् ' अत्र ' इत ' इति निष्ठान्त रूपम् । ' इण्
 धातो ' इत्यर्थः ।
 ६ ' णीङ् ' इति ग ष न पाठ प्रामादिक ।
 ८ एतेर्धातो = इण्धातो । खलुशब्दो धाट्थं द्योतयति ।
 ९ किमपि वर्णसामान्य भवेन्न भवेद्वा । अत्र ' वर्णसामान्येन ' पद
 नावश्यकम् । वर्णसामान्येन इणि अकारो नास्ति । वर्णसामान्येन
 सत्य नास्ति ' इत्यन्वयः । ठ ड वर्ज सर्वेषु पुस्तकेषु
 ' सत्य नास्ति । वर्णसामान्येन ' इति विराम-यवस्था ।
 ' अग्नि ' इत्यत्र अकार कस्मिन्नापि इण् रूपे नास्ति । एव वर्ण
 सामान्याभावः । तस्य इण विकारमादाय ततस्त विकार
 व्यापादयति विपरिणमयति चेन अकार उपलभ्येत ।
 अथवा । वर्णसामान्येन = केऽपि वर्णा इण् रूपे स्तु । तादृश
 किमपि रूपं गृहीत्वा । अत्र वर्णसामान्यं काल्पनिकम् ।
 अग्नौ इणोऽर्थदर्शनात् । शब्दार्थमन्वयनित्यत्वान् । अर्थे च
 गुणभूतत्वाच्चञ्चम्य । स्तेभ्यः मरणेभ्यः ताडिकारमित्यादि ।
 १० अग्नौ इण अर्थदर्शनात् तस्य धातो कोऽपि विकारो ग्रही
 तव्यः । स च अकारवस्तेन परिणमयितव्यः ।
 ११ व्यापादयति = विपरिणमयति ।
 ११-१२ यथावच्छिनस्य = वर्ण-व्यापादनं विना ।
 १५ तत्र = ' आगयति ' इति रूपान् ।
 ' अत्राऽऽकार ' इति पाठान्तर्गम् (२७-२९) । अत्र ' अय
 यति ' रूपे आकारः । तत्र भासागदवारमाहते ।

पत्रं

पङ्क्तिः

६८३

१५ कोऽयं मह्यन् प्रभासः । एतीति अयनः । अयनशब्दादकारः प्रयासं विना लभ्येत । अनक्तौति अज् । 'चोः कु' (पा० ८।२।३०) इत्यनेन अग् । इदं कुत्वम् । अथवा । दहतीति धक् । 'झलां जश् झशि' (पा० ८।४।२३) इत्यनेन ' धग्' । इदं जश्त्वम् । यदा कुत्वं तदा अनक्तिर्घातुः । यदा नक्षत्वं तदा दहतिः । अ (एतीति अयनः) + ग् (अयनक्तीति व्यग्) + नि (नयति हविः०) = अग्निः । अथवा । अ (एतीति अयनः) + ग् (दहतीति) धग् + नि (नयति हविः०) = अग्निः । ए^व ' त्रिभ्य आख्यातेम्बः ' (१) इत्युच्यते ।

१७ सार्धोयस्तराः = सार्धोयस्यः + साधुतराः ।

' अग्रं नयति अङ्गं नयति अवनोषनः ' इत्येताभ्यः क्रियाभ्य-
स्तिस्रः क्रियाः सार्धोयस्यः ।

१८-१९ अनुक्रमेण अशिर्लक्ष्यो निरूपणीयः । तस्य लक्ष्यस्य प्रधान-
स्तुत्या संबन्धः लक्ष्यप्रधानस्तुतिसंबन्धः । स लक्षितो यस्मिन्
तदभिधानम् ।

२० अग्निर्कर्मणां लिङ्गलिङ्गिताः ।

६८२-६८३

अशिसदृशो लातिनभापायाम् ' इग्निस् ' शब्दः । इगो
उस् (आशेयः) इग्निवयुलम् (अग्निः) इग्निक्
(अग्निभृत्) इग्निनेना (अग्निजः) इग्निपेस् (अग्निपाद्)
इग्निषोटेन्स् (अग्निपतिः) इत्यादितद्धितसमासरूपाणि ।
' इग्निस् ' शब्दस्य (अग्निशब्दस्य) उत्पत्तिं को ज्ञातुं शक्नोति ।
' अशिवह्मि ' इत्यादिशब्देषु ' निः ' नामकारकप्रत्ययव-
द्भाति । अजतीति अग्निः । बहतीति बह्निः । लातिनभापा-
याम् ' अगो ' चोदयामि । अजति = चोदयति । ' अज
गन्धिक्षेपणगोः ' (धा० १।२३०) । अङ्गतीति अग्निः । ' अङ्गे-
र्नेलोपक्ष ' (उणा० सू० ४।१०) इत्यनेन ।

६८४

३ छ. त. द. पुस्तकेषु ' यज्ञश्च ' इत्यस्य स्थाने ' यज्ञस्य ।
इति पाठः (२९) । यज्ञस्य पुरोहितः इत्यन्वयः । अथवा
यज्ञस्य देव इति ।

पत्रं

पङ्क्तिः

६८४

१७ द्युशब्दात् । इदं निर्वचनं पूर्वभ्यः सार्थतरम् । पृथिवी लोकात्
द्युलोकं गच्छति यजमानेन सह । ' पक्षेऽर्थवत्त्वं निर्वचनस्य '
इदं दुर्बोधम् । कदाचिदयमर्थः स्यात् । दिवि भवतीति देवः ।
सूर्यरूपेण अग्निर्दिवि भवति इति पाक्षिकं द्युस्थानत्वम् । प्रातः
अग्निः सूर्ये स्वतेजो निधत्ते इत्यर्थे वा द्युस्थानत्वम् ।

१९ होता जुहोतेरेव न तु ह्यतेरित्यस्मात् ।

१९-२० ' हु दानादनयोः । आदाने इत्येके ' (धा० ३ । १) ।
जुहोति = हविर्ददाति पुरोडाशभागमात्ति च । अथवा ददाति
आदत्ते च ।

२२ परा क्रमेण ।

२३ ' अग्निः पूर्वभिः ' (ऋ० सं० १ । १ । २) । अपरा =
अन्या ।

६८४

६८५

२३ } अमुना प्रकारेण एतस्यामुद्राहृतायां बहनकर्मयुक्ताः सर्वा ऋच
१ } उदाहरणम् उदाहरणत्वेन उपेक्षया इत्युपप्रदर्शनार्थम् ।

१० तद्वृत्तं = ' सः ' शब्दस्य प्रयोगः । वृत्तं = रूपम् ।
यच्छब्दस्य किमपि रूपं यद्वृत्तम् । तच्छब्दस्य तथा तद्-
वृत्तम् ।

११ ' यत्तदोर्नित्यसंबन्धः ' इदं वार्तिकसदृशं वाक्यं व्याकरणमहाभाष्ये
भृशं पठ्यते ।

१५ लोटा = आशीर्वाचकाक्रियारूपेण । निराकाङ्क्षं भवति ।

१६ एकपदनिरुक्तम् ऋजु सरलम् ।

१८ आक्षिप्य = आक्षेपं दूषणमुद्भाव्य ।

२०-२१ स्वार्थं जहत् । उपसंक्रामत् अभिधानम् । ' उपसंक्रामन् '
(३१) नेदं रूपमत्र युक्तम् ।

६८६

१ ' नैव० ' इत्यादिना आक्षेपनिराकरणम् ।

२-३ तस्या गौण्याः सर्वार्थस्तथाविधश्च एव संबन्धः ।

३-४ तथाविधः = नित्यं प्रकरणोपपदपरतन्त्रः ।

पत्रं पङ्क्तिः

६८६

४-६ सम्भानि प्रकरणानि उपपदानि च तेषु परतन्त्रः । यादृशं प्रकरणमुपपदं वा तादृशः संवन्धः । गौणा अर्था अनेके प्रकरणोपपदपारतन्त्र्यात् ।

५ मुग्ध्याया वृत्तरथान्तरे विनियोग एव नास्ति । लोके प्रसिद्धि-वंदे बोभयत्र वा ।

९ उपोद्धन्ति = (उप + उत् + हन्ति) उपोद्धातं करोति । चोदकः आक्षेपकः । पृथिवीम्यान एवाग्निरिति स आक्षेपको न मन्येत । इदं मत तस्य संमतं न स्यात् ।

१४ ' अग्निमीळे ' इत्येतस्यामृच्यावहनक्रिया न विद्यते । विदु परम्या ' स देवो एह वक्षति ' इत्यम्याम् । अस्मिन् मूक्ते पार्थिव ज्योतिरग्निशब्देनोच्यते । ' आवहनहवनक्रियायोगात् ' इति च. पाठ. (२६) । ' आवहनक्रिया० ' (ग. ज. पाठः) = आवहन + हवनक्रिया० । होतारमिति हवनक्रिया । ' आवक्षतु ' इत्यावहनक्रिया । ' हवनक्रियायोगात् ' इति पार्थिवान् पाठ ।

६८७

११ ' अभिनमन् ' • अभिनमन्त्र ' इति नैरोऽपि पाठो व्याख्यातः ।

१६-१७ भर्तुं हर्षमुपजनन्त्य ।

२१ पार्थिवे (अग्निः) घृताहृनिहवनम्याविमानात्स्वसृत्रे ब्राह्मणे वा । आज्यशस्त्रे विनियोगो नाऽऽहृत्ता (१०) ।

२१-२२ उपमात्रं योषा उपमेय घृतस्य भाग । यथा योषा भर्ताग्नि-भिनमन्ति तथा घृतस्य भाग अग्निं कथमभिनमेयुः । विमत्र नैर्मर्षम् । अविधान वैधर्म्यं चेति योगपद्यम् ।

२२ वैपुत्रे (अग्निः) उदरस्य भागणा संभवः । उपमानोपमेयताः मात्रस्य चेति योगपद्यम् । तत्र = वैपुत्रेऽग्निः ।

२३ मामात्मन् = कथम. ति. । अत्रापि ' घृतस्य भागः ' इति न घृतस्य (२९) । घृतस्य प्रसिद्धार्थं व्यक्त्वा ।

२४-२५ एतद्वैव नामात्मन् = अग्निम् सन्त्रं विद्यमानम् ।

पत्रं
६८८

पङ्क्तिः

१ एवंवेद्य. = एवं ज्ञातः निरूपितः ।

२ तस्मात्सुष्ठु उक्तमाक्षेपकेण ।

४-९ 'अन्यन्निर्वचनमृजु' इति कृत्वा 'नसतिराप्नोतिकर्मा वा नमतिकर्मा वा' (६८७ । ३) इति न व्याख्यातम् । तथा 'हर्षति. प्रेप्साकर्मा विहर्षतीति' (६८७ । ४) । विहर्षति = भृशं विहरति भुङ्क्ते । 'अभिहर्षति' इति पाठान्तरम् (६८७ । २६) ।

१० आदित्यमुक्तमस्यामेकस्यामृचि अथवा सकले सूक्ते भाष्यकारोऽमन्यत न वेति न स्पष्टम् । एका ऋक् अथवा सकलं सूक्तमपि स्यात् ।

१०-११ 'समुद्राद्भीरिकादशाऽऽग्नेयं जगत्यन्तं सौर्यं वाऽऽपं वा गन्धं वा घृतस्तुतिर्वा' अनुक्रमण्याम् । 'नानादेवताभिवाद०' (इत्यादिपाठान्तरम् २३) = 'समुद्रादित्योऽग्नेर्मध्यमस्य' (बृहदे० ९।९) ॥ 'आदित्यं वा ब्राह्मणोक्तं प्रदिष्टं ह्याग्नेयं यद्वाऽऽज्यमूर्क्तं हि दृष्टम् । अपां स्तुतिं वा यदि वा घृतस्तुतिं गवां स्तुतिं वा सूक्तमेतद्वदन्ति' (बृहदे० ९।१०) ॥

१२ प्रकाशेन सर्वस्य च्छादकः ।

१३ 'उदतीति' इति उत् + तु इत्यस्य यङ्लुङि रूपम् । सूर्यः प्रथममद्भ्यो जज्ञे ।

१९ म चन्द्रमा अस्य सूर्यस्य । 'अभेतद्रूपा सोमः । योषा अपो हविर्धानेऽभ्येनि तस्मान्मिधुनाचन्द्रमा जातोऽन्नाद्दे तदन्नं ज्ञानं यदद्भ्यश्च सोमाश्च चन्द्रमाश्चन्द्रमा ध्येनस्यान्नं य एष तपनि' (शान० ब्रा० ४।६।७।१२) ।

१९ 'एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः' (शान० ब्रा० १।६।३।९) ।

पत्रं
६८९

पङ्क्तिः

२ अस्य मन्त्रस्य आदित्यदेवत्वे सत्यपि । आदित्यस्य अग्नित्वम् ।

३ ' समुद्रादूर्मि०' एता ऋचो घृतस्तोम्या उच्यन्ते (मैत्रा० सं० १ । ६ । ७) ।

४ इदं मायमं ज्योतिरग्निरिति प्रतिपादयितुमिदमुदाहरणमसमर्थम् ।

५ एकेषा शाखिना = वाजसनेयिनाम् ।

६ इमं स्तनमूर्जेन्वन्त घयापा प्रपीनमग्ने सरिरम्य मन्थे (यजु० सं० १७ । ८७) । इदं ८७-९९ ऋषात्मकं सूक्तम् (वा० सं० १७ । ८७-९९) । ' अपा प्रपीनमग्ने ' इति आस्मिन् सूक्ते अग्निच्छिद्रम् ।

' इमं स्तन० ' यजुर्वेदे सप्तदशोऽन्त्यास्त्रयोदश यजमानानुवाचने घृतस्तुतौ वा विनियुक्ता । तत्रेय प्रथमा (च. ट.) ।

७-८ निविद् = सूक्तम्याऽऽदौ मध्येऽन्ते द्वयो सूक्तयोर्मध्ये पठनीयानि देवतास्तुतिपराणि कानिचित्पदानि । यथा ' अग्निर्देवद्वे । अग्निर्मन्विद्ध ' इत्यादिद्वादशपदा निविद् (ऐ० ब्रा० १० । २) । ' तूर्णीशसनिवित्सूक्तंराज्यशास्त्र त्रिपर्वकम् ' (ऐ० ब्रा० साय० णभाष्य १० । १) । प्रथमं तूर्णीशसः । तत ' अग्निर्देवद्वे ' इति द्वादशपदा निविद् । तत सूक्तम् । इदमाज्यशास्त्रम् । तूर्णीशस. (ऐ० ब्रा० ९ । ७) । मायदिने सूक्ते विपरिहृत्य तयोर्मिन्विद् दद्यात् (आश्व० श्रौ० ८ । १२) । सूक्तयोर्न्यत्यासं कृत्वा तयोर्मध्ये निविद्धीयते । इयं निविदाग्निस्तुतिपरा ।

९ ' अद्भ्यो वा एष प्रातस्तेति ' (ऐ० ब्रा० १८ । १६) । उदैति ' इति कौपीतकिब्राह्मणपाठ (मी० ब्रा० २९ । १) ।

१६ तस्य ब्राह्मणस्य = ब्राह्मणोक्तवचनस्य ।

६९०

६ अम्पवामीये सूक्ते एषा ।

८ गरन्मान् = गर् (गुरु) + त्मान् (आत्मा) । ' गुर्वर्त्मा महात्मा ' (३) न न्याग्यातम् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

६९०

९ गरणं = स्तुतिः ।

११ ' महान्तमात्मानमेकमात्मानम् (१) । दुर्गपाठे ' आत्मानं ' पदं सकृदेवासीदिति भाति ।

१३ 'तद्यद्विदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ होव सर्वे देवाः' (बृह० उ० १।४।६) । एतस्यैव प्रजापतेः सा भिन्नाभिन्नदेवतासृष्टिः । याज्ञिका भिन्ना देवता यजन्ते । किंतु प्रजापतिरेव सर्वे देवाः ।

१८ पूर्वपक्षव्यावर्तकः = परमतं व्युटस्यति ।

२०-२१ ' निर्वपेत् ' इति चोदना ।

२३ अत्र = पार्थिवेऽग्निं । श्लोकप्रसिद्धिवेदप्रसिद्धिश्चाग्निशब्देनास्मिन्नेव पार्थिवेऽग्निं ।

२४ ' अग्निमानय ' इति लोकोक्तिः । ' अग्निं प्रणय ' इति वेदोक्तिः । ' ॐ अग्निं प्रणय ' इति गार्हपत्यादाहवनीयं प्रति अग्निनयनाय प्रैषः ।

२६ चोदिताः = आदिष्टाः ।

६९१

२-३ यथा अग्नेरग्निशब्देन मुख्यः संबन्धः न तथा विद्युत्सूर्य-शब्दान्ध्याम् ।

५ अस्य विचारस्य आक्षेपप्रतिसमाधानरूपस्य ' अयमेव पार्थिवोऽग्नि रूपास्यः ' इति प्रयोजनम् । आग्नेयेषु सूक्तेषु स एव स्तूयते तस्मै च हवींषि संप्रदीयन्ते स एव च तानि भुङ्क्ते ।

६ ' एतमेवोपासीत ' (२०) इति पाठान्तरं स्पष्टम् ।

६९२

१ देवतायाः बहुनामधेयत्वस्य कारणं माहाभाग्यं कर्मपृथक्त्वं वा (निरु० ७ । १) । अग्निरेव जातवेदाः ।

१-२ ' पृथगेव स्युः पृथग्निं स्तुतयो भवन्ति ' (निरु० ७ । १) । पृथगभिधानानां स्तुत्यन्तरैः भिन्नस्तुतिभिः संबन्धः ।

६ जाते जाते = प्रत्येकस्मिन् प्राणिनि ।

९-१० निदेशनार्थस्य वेदम् । जानं जाते (जन्मनः) एव वेदो विद्या प्रज्ञानं यस्य ।

पत्रं
६९२

पदक्तिः

११ 'यत्तज्जात' इति ज्ञास्येण जातवेदा जातधन इत्यर्थसमर्थ-
नार्थम् । तेन 'जातविद्यो वा जातप्रज्ञान' इदं जातधन
इति व्युत्पत्ते प्राप् स्यात् । अथवा मूलपाठे न स्यात् ।

(मैत्रा० स० १।८।२) 'यत्तज्जात' इत्यत्र 'यज्जात'
अस्ति । अविन्दत' इत्यम्यानन्तरम् 'इति' नास्ति ।

'आजात जातवेदासि' (ऋ० स० १।१६।४२)
इत्यत्र 'जात इतरो जातवेदा इतर' (ऐ० ब्रा० ३।५) ।
जात सद्योमथितमग्निं वेत्तीति आहवनीयाख्योऽग्निर्जातवेदा इत्यु-
च्यते । 'प्राणो वै जातवेदा स हि जाताना वेद' (ऐ० ब्रा० १०।
८) ('यदत्रवीज्जाता वै प्रजा अनेनाविदामिति तज्जातवेदसो जात
वेदस्त्वम्' (ऐ० ब्रा० १३।१२) ।

१७ क ख छ त ट पुस्तकेषु 'जातवेदसे सुनवाम' इत्यधिक
खण्डो वर्तते (२३-२९) । स दुर्गण न व्याख्यात । इदं
सर्वं (निरु० १४।३३) इत्यत्र वर्तते । किंतु तत्रापि दुर्ग
वृत्तिर्न वर्तते ।

२३ अस्य सूक्तस्य (ऋ० स० १।९९) एकैव ऋक् । एक
गात्मकमिदं सूक्तम् ।

२५ जातवेदा देवता यस्या ऋच सा जातवेदस्या । अथवा जात
वेदसी नाम कर्म तस्याम् । 'जातवेदसे सुनवाम सोममिति
जातवेदस्या पुरस्तात्सूक्तस्य शसति म्वस्त्ययन वै जातवेदम्या
स्वस्तितायै' (ऐ० ब्रा० २०।३) । जातवेदसे सुनवा
मेति खण्ड कचिद्दुर्बोध । 'जातवेदस्या' (२५) 'अर्चाय'
(२५) 'अनिस्म' (२६) 'महाकूला' (२९) एते शब्दा
दुर्बोधा । 'दददित्यर्थ' (२७) अय कस्यार्थ । जातवेदस्या
ऋक् । तस्या विम् । वाशब्द विमर्थ । वेद = धनम् ।
अर्चाय = अर्चनीयाय ।

२८ 'सिन्धु नात्र' इति पुनरक्ति किमर्था । भाष्य याम्कभाष्य
सदृश न भाति ।

पङ्क्तिः

२९ महती दूरे कूले यस्याः सा महाकूला ।

३० दुरिता दुरितानि अतिपर्षत् आग्निः ।

१४ अश्वं = समश्रुवानं व्याप्नुवानं जगत् कर्मभिः । दुर्गवृत्तौ
'अश्रुवानं' न समश्रुवानम्' (१) ।

१५ 'आप्लु व्याप्तौ' (घा० ५।१४) । 'आप्लु लम्भने' (घा० १०।
३०६) । 'व्याप्नुवानम्' इति रूपमिष्टम् । 'व्यापयन्तम्'
इति प्रामादिकम् ।

१६ अपि वा अश्वमिव जातवेदसामिति उपमायें स्यात् (१) ।

१६-१७ अश्वशब्दः अश्वप्राणिनि रूढः । रूढिश्च शास्त्राद्ब्रह्मलीयसी । तेन
'अश्रुवानम्' इत्यर्थे इष्टोऽपि न गृह्यते ।

१८-१९ बर्हिषा उपलक्षितं कर्म लक्षणया बर्हिः ।

१९ 'कर्म सीदेत्' इत्यन्वयः ।

२१ 'एकमिव' इति छ. त. द. पाठः (२९) अपूर्णमन्धारणं
दर्शयति । 'एकमेव' निःसंशयत्वं दर्शयति । ग. च. ज.
पाठः 'एकमिव' (३०) ।

२२ 'तदेतत्' इत्यत्र 'तत्' निपातसदृशः । केवलो वाक्प्रकारः।
दशतयीस्थं तृचम् । तस्य अनुस्मृतये स्मृत्युद्धोषाय ।

२३-२४ एतया ऋचा तृचं संनिधीकृत्य । संनिधीकृत्य = संनिहिती-
कृत्य इति शुद्धं रूपम् । संनिधीकृत्य = संनिधौ कृत्वा
स्मारयित्वा ।

६९४

१ विवक्षिताय प्रयोजनाय ।

९ स्थितं = प्रतिपादितं सिद्धम् ।

११ अनर्थान्तरं = न अर्थान्तरं न भिन्नम् । गायत्रा जातवेदसा मन्त्राः
कर्मसु विनियोक्तव्याः । किंतु जातवेदसं गायत्रं तृचमेकमेव ।
तस्मात् 'आग्नेयान्मन्त्रान् जातवेदसानां स्थाने युञ्जीत' इति
विधिरनुमितः ।

६९५

१ जातवेदसं सूर्यमुद्ब्रह्मन्तीति तु० = किंतु अस्यामृचि जातवेदाः
सूर्य इति स्पष्टम् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

६९९

७-८ इतरयोः विशिष्यते प्रसिद्ध्या ।

१९ ' असौ लोकः पर्जन्यः पृथिवी पुरुषः योषा एते पद्माशयः ' (छा० उ० ९ । ४-८) । ' स जातो यावदायुषं जीवति तं भ्रेतं दिष्टमितोऽशय एव हरन्ति ' (छा० उ० ९ । ९) । इयं पद्माशिविद्या ।

२० ' अपि वा० प्रवर्तयति० ' इदं ' विश्वान्नरात्रयति ' इत्यस्या-
न्यद्विवरणम् ।

२३ ' स्वतन्त्रः कर्ता ' (पा० १ । ४ । ९४) । ' तत्प्रबोजको हेतुश्च ' (पा० १ । ४ । ९९) । अग्निहेतुरिति कर्ता । कर्तुः प्रयोजक इति हेतुसंज्ञः कर्तृसंज्ञश्च भवति ।

६९९

२३ } नरैः क्रियामु अङ्गभावं नीयमानः क्रियायाः कर्म भवति ।
१ }

६९६

२-३ विश्वानरः = विश्वान् + अरः (ऋ गतौ) = सर्वाणि भूतानि प्रति ऋतः ।

१३-१४ पृष्ठचम्यैव चतुर्थेऽहनि इयं प्रतिपद् (आश्व० श्रौ० ८ । ८) । अभिष्टवः पष्ठमहश्च न निर्दिश्येते ।

१८ प्रकाशक इति दृष्टेरूपकारकः ।

६९७

१ ' विचष्टे संयतते राजा अभिष्ट्रीः ' (६९६ । १६-२०) इति स्तुतिः । ' सुमती स्याम ' (६९६ । २१-२२) इति आशीः । स्तुतिः प्रथमा । तदर्थं पदानां भिन्नः क्रमः ।

२ तिङ् = क्रियापदम् ।

६ यतः = यस्मात् ।

७ तं स्तुतिरभिसंतिष्ठते यस्मात्तस्मात् यत्तदोरध्याहरेण (३) या-
स्काचार्य्य एकवाक्यतया सामर्थ्यमुद्भाषयांचकार (९) ।

८ मन्येषु आषड्यकः ।

९ प्रत्याख्यातं = विवक्षितम् ।

१०-११ ' ऋचां त्वः० ' इत्यत्र ' प्रतिपदं ' (२७) इति पाठान्तरम् । किंतु प्रतिपदं वाक्यसमाप्तिर्नास्ति ।

पत्रं पङ्क्तिः

६९७

१९ वाक्यस्योपादानमारम्भः ।

१७-१९ दिवम् (छा० उ० १।१२।२) आदित्यं (१।१३।२) वायुम् (१।१४।२) आकाशम् (१।१५।२) अपः (१।१६।२) पृथिवीं (१।१७।२) निरस्य उद्दालक उवाच ' एते वै खलु यूयं पृथग्विवेकमात्मानं वैश्वानरं विद्वांसोऽन्नमत्सु । यस्त्वेतमेव प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्व्वात्मस्वन्नमत्ति ' (१।१७।१) । एवमात्मा वैश्वानरः । छान्दोग्योपनिषदि ' दिवं ' न तु ' इन्द्रम् ' (१८) ।

२२-२३ मन्त्रदृक् स्तौति इति हेतोः ।

६९९

१८-१९ तेषां मेघानामनुद्गमे ।

२० मेघं ' मिह सेचने ' इत्यस्मात् । अत एव उदकपूर्णम् ।

२१ यः असौ वैश्वानरः (१८) इत्यन्वयः ।

२ एकास्मिन्नेव वाक्ये वैश्वानरोऽग्निर्वर्षकर्मणा संबध्यते ।

३ स्थितम् (६९४ । ९)

४ ' प्र नू महित्वं० ' इत्यत्र जातवेदसो मध्यमत्वे गौणः प्रत्ययः । स नेष्ट इति असावादित्य एव कर्मात्मा जातवेदः शब्देनापदिश्यते । एक एवाऽऽत्मा । किंतु अग्निवायुसूर्यास्तस्य कर्मात्मानः । एनमात्मानं कर्मात्मना आदित्यनाम्ना अपदिशन् गूहन् । असौ आत्मा । कर्मात्मा आदित्यः । अयं तस्याऽऽत्मनोऽपदेशो नोपदेशः ।

५ कस्मिंश्चित् = मध्यमे आदित्ये वा । पूर्वः (पाठान्तरे २३) = विचारं संशयनिराकरणं विनैव ।

८ एनं जातवेदसम् ।

१० पृथिवी अन्तारिक्षं द्यौः इति एषा लोकानां रोहः । तत्कमेण प्रातःसवनमाध्यंदिनतृतीयसवनानां रोहः । यथा उपरि उपरि आरोहः पृथिव्या अन्तरिक्षमन्तरिक्षाद्विचम् एवं दिवः अन्तरिक्षमन्तरिक्षात्पृथिवी इति अवरोहः (१४) ।

पत्रं

७००

पङ्क्तिः

- १३-१४ कस्मिंश्चित्कर्मणि = विपुवन्नामकेऽहनि । तद्दिनवर्तन्ये यागे (ऐ० ब्रा० १८।४) ।
- १४-१५ रोहात्प्रत्यवरोहश्चिकीर्षित = प्रत्यवरोह आवश्यक इष्टश्च यस्मात् प्रत्यवरोहाभावे तस्यैहिक जीवितमल्पावाधि स्यात् । 'अयं य एवकामा स्युः स्वर्गनामा पराञ्चमेव तेषां रोहेते जयेयुर्हेव स्वर्गं लोकम् । नेत्स्वेवास्मिँल्लोके ज्योगिव वसेयुः' (ऐ० ब्रा० १८।७)
- १५ उप (सम्यक्) व्याचक्ष्महे ।
- १६ भक्तिभाजनी समानार्थी । 'सा वा एषा तृतीयसवनभाजना' (ऐ० ब्रा० १२।७) । 'मरुता सा भक्ति' (ऐ० ब्रा० १२।९) । पृथिवीलोक अस्य भक्ति (भज्यते सेव्यते इति भक्ति) । प्रातः सवनं शसित्वा = प्रातः सवनयोग्यं शस्त्रं पठित्वा ।
- १६-१७ प्रातः सवनं पृथिवीलोके भज्यते माध्यदिनं चान्तरिक्षे इति शसति ईदृगर्थं शस्त्रं पठति ।
- १९-२० प्रातः सवने होता शोसावोमिति मन्त्रेणाध्वर्युमाह्वयते । शसामो देवोमित्यध्वर्युः प्रतिगृणाति । ततो होता शसति शस्त्रं पठति । अध्वर्यो शोसावोमिति माध्यदिनसवने होता । शसामो देवोमित्यध्वर्युः । अध्वर्यो शोशोसावोमिति तृतीयसवने होता । शसामो देवोमित्यध्वर्युः । (ऐ० ब्रा० १२।१) । 'त (अग्निं) यज्ञायज्ञीयेऽसीदत्स वैश्वानरयिणाऽऽग्निमारुतं प्रत्य पद्यत' (ऐ० ब्रा० १२।३) । 'स पच्छं प्रथमं रोहतीमं स लोकमाप्नोत्यथार्धर्चशोऽन्तरिक्षं तदाप्नोत्यथ त्रिपद्याऽमु त लोकांमाप्नोत्यथ वेवल्या तदेतन्मिन्प्रतिष्ठति य एष तपति' । 'त्रिपद्या प्रत्यवरोहति यथा शक्त्वा धारयमाणस्तदमुष्मिँल्लोके प्रतिष्ठति तर्चशोऽन्तरिक्षे पच्छोऽम्भिँल्लोकं आप्तवैव तत्स्वर्गं लोकं यनमाना अम्भिँल्लोके प्रतिष्ठन्ति' (ऐ० ब्रा० १८।७) । 'भूरिति ब्रह्मा प्रातः सवने । भुव इति माध्यदिने । स्वारिति तृतीयसवने । भूर्भुव स्वारिन्द्रवन्त सवितृप्रमृता इत्युर्चमाग्निमारुतात्' (आश्व० श्रौ० ५।३) ॥ (ऐ० ब्रा० २५।९)

पत्रं

पङ्क्तिः

७००

१६-२० 'प्रजापतिः गायत्रीमेवाशये वसुभ्यः प्रातःसवनेऽभजत् ।
त्रिष्टुभमिद्धाय रुद्रेभ्यः मध्यंदिनेऽभजत् । जगतीं विश्वेभ्यो
देवेभ्य आदित्येभ्यस्तृतीयसवनेऽभजत् । अस्माल्लोकादन्तारिक्षलो-
कम् । अन्तारिक्षलोकादमुं लोकम् ' (ऐ० ब्रा० २८ । २) ।
'अथैतं तूष्णींशंसमुपांशु शंसति सर्वेषां कामानामाप्यै । अग्नि-
ज्योतिर्ज्योतिरग्निरिति तदिमं लोकं लोकानामाप्योति प्रातःसवनं
यज्ञस्य । इन्द्रो ज्योतिर्ज्योतिरिन्द्र इति तदन्तारिक्षलोकं
लोकानामाप्योति माध्यंदिनं सवनं यज्ञस्य । सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः
सूर्य इति तदमुं लोकं लोकानामाप्योति तृतीयं सवनं
यज्ञस्य ' (कौपी० ब्रा० १४ । १) । 'पङ्क्ति-
धमाज्यं तूष्णीनेपस्तूष्णींशंसः पुरोरैक् सूक्तंमुक्थर्वीर्यं
याज्येति ' (कौपी० ब्रा० १४ । १) । 'भूरग्नि-
ज्योतिर्ज्योतिराग्निरिति एकः तूष्णींशंसभागः । आज्यं प्रउगं
चेति प्रातःसवनस्य शस्त्रे । इन्द्रो ज्योतिर्भुवो ज्योतिरिन्द्र इति
द्वितीयस्तूष्णींशंसभागः । निष्केवल्यं मरुत्वतीयमिति मध्यंदि-
नस्य शस्त्रे । सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः स्वः सूर्य इति तृतीयस्तूष्णीं-
शंसभागः । वैश्वदेवमाग्निमारुतमिति तृतीयसवनस्य शस्त्रे '
(ऐ० ब्रा० ९ । ७) । 'प्र वो देवायाशये ' (ऋ० सं०
३ । १३) इत्याज्यशस्त्रं (ऐ० ब्रा० १० । ८) ।
प्रउगशस्त्रं (ऐ० ब्रा० ११ । १) । भूरिति व्याहृत्या
शुधिवीलोकः । भुवरित्यन्तारिक्षलोकः । स्वरिति द्युलोकः ।
'प्रातःसवनं शुधिवीलोकभक्तिं माध्यंदिनमन्तारिक्षभक्तिम् '
इति पूर्ववाक्यपाठः । अत्र तु 'द्युलोकभक्ति तृतीयसवनम् '
इति । पूर्वस्मिन्वाक्ये तस्मिंस्तास्मिंल्लोके स्थित एव शंसति ।
अत्र आरोहन्नेव शंसति (२०) । ततो द्युलोकमारुदो
भवति । तस्मात् 'द्युलोकभक्ति' पदं तृतीयसवनस्य केवलं
विशेषणम् । नास्य प्रामुख्येन निर्देशः ।

पत्रं

पङ्क्तिः

७००

१७ संसृतत्वात् = यस्मादयं होताऽन्तारिक्षलोकं संसृतः गतः ।
भक्तौ भक्तौ प्रतिभाक्ति = प्रतिलोकं तं तं लोकम् । संसृतवत् =
संसृतः तस्मिंस्तास्मिँल्लोके गत इव । प्रतिभाक्ति संसृतवच्च =
अस्माह्लोकादन्तारिक्षलोकं तस्माच्च द्युलोकं गत इव ।

२१ सवनानां लोकानां च प्रत्यवरोहः । यज्ञायज्ञीयमिति अग्निष्टो-
मस्य साम । ' यथा वाव स्तोत्रमेवं शस्त्रम् ' (ऐ० ब्रा० १०।
९) । तृतीयसवनस्याऽऽग्निमारुतं शस्त्रम् ।

७००

७०१

२ } सवनानां लोकानां च प्रत्यवरोहस्यानुकृतिं चिकीर्षन् ।
१ }

१ येन तृचेन शस्त्रं प्रारभते स प्रतिपद् । तदनन्तरभावी तृचोऽनुचरः ।
(ऐ० ब्रा० भाष्यं १२।४) प्रतिपद्यते = तां कृतिं प्रत्यवरोहकृ-
तिम् अनु अनुसृत्य प्रतिपद्यते प्रतिपदं प्रारभते । ' तृचाः प्रति-

• पदनुचरा द्व्यृचाः प्रगाथाः ' इत्याश्वलायनः (ऐ० ब्रा० भा०
१२।६) । ' वैश्वानरीयेणाऽऽग्निमारुतं प्रतिपद्यते ' (ऐ० ब्रा०
१३।११) । यच्छस्त्रमाग्निमारुतं तच्छस्त्रं होता वैश्वानरी-
येण सूक्तेन प्रारभते ।

२ ' वैश्वानराय पृथुपाजसे विपः ' इति वैश्वानरीयं सूक्तम्
(ऐ० ब्रा० भा० १२।३) । अनेन मरुत्वतीयशस्त्रप्रा-
रम्भः (७००।२१) । ' स वैश्वानरीयेणाऽऽग्निमारुतं प्रत्य-
पद्यत ' । (ऐ० ब्रा० १२।३) ।

३ यस्मिंस्तृचे सामगैः स्तोत्रं गीतं स तृचः स्तोत्रियः (ऐ० ब्रा० भा०
१२।३१) ' यथा वाव स्तोत्रमेवं शस्त्रम् ' (ऐ० ब्रा० १०।४) इति
नियमेन ' यज्ञायज्ञा वो अग्नये ' इत्येवाऽऽग्निमारुतस्य शस्त्रस्य
प्रतिपद्भवेत् । किंत्वत्र स नियमो नाऽऽद्वर्तन्यः । ' यज्ञायज्ञा वो
अग्नये ' अयं स्तोत्रियः । नायं तृचः शस्त्रम् ।

३-४ ' यज्ञायज्ञा वो अग्नये ' इत्यस्यामृच्युत्पन्नं साम यज्ञाय-
ज्ञीयम् (७००।२१ ॥ ऐ० ब्रा० भाष्यं १२।३) ।
' तिसृभिर्हि साम संमितम् ' (ऐ० ब्रा० १२।१२) । एकं

पत्रं
७०१

पङ्क्तिः

३-४ साम तृचे क्रियते स्तोत्रियम् (ऐ० ब्रा० मा० १२ । १२) ।
यद्योन्यां तदुत्तरयोर्गायति (ऐ० ब्रा० मा० १२ । १२) ।

५ ' यथा वाव स्तोत्रमेवं शस्त्रम् ' इति स्तोत्रशस्त्राणां धर्मः ।

६ यस्मात् स स्तोत्रिय आग्नेयो भवति ।

८-९ अन्यत्र स्तोत्रियेण प्रारम्भः क्रियते । अत्र तु वैश्वानरीयेण
सूक्तेन । नियमभङ्गस्य कारणं प्रत्यवरोहे आदित्यदेवता स्तोत-
व्येति ।

१० यः स्तोत्रियः स पुनराग्नेयः । प्रत्यवरोहे द्युस्थानदेवताशंसन-
मावश्यकम् । सा देवता आदित्यः । तच्छस्त्रं वैश्वानरीयेण
सूक्तेन प्रारभ्यते । तेन वैश्वानर आदित्यः ।

१३-१४ ततो होता रुद्रं मरुतश्च एता मध्यस्थाना अन्तरीक्षस्थाना
देवता आगच्छति ।

१५-१६ शस्तात् = पठितात्सूक्तात् ।

१७ मरुतां पिता रुद्रः ।

१९ ' अग्निमिहस्थानं ' (६९८ । १२) न व्याख्यातम् । इह
स्थानं यस्य तमग्निमागच्छति, होता ।

२२ विधेः = सवनलोकप्रत्यवरोहस्य । अनुकरणात् = स्तुत-
शस्त्राम्यां प्रत्यवरोहोऽनुक्रियते ।

१. सामान्यम् = साधर्म्यम् । देवतागुणेषु द्वादशकपालेषु च साम्यम् ।
' अग्नेये वैश्वानराय द्वादशकपालं निर्वपत् ' (मैत्रा० सं०
२ । १ । २-३) द्वादशकपालं पुरोडाशम् ।

२ गुणविधयः = द्रव्यादिसंबद्धा विधयः ।

३ एतस्य = आदित्यस्य ।

५ देवतागुणस्य कपालविधिनाऽनुकरणात् ।

९ ' तूर्ष्णीशंसनिवित्तूर्कैराज्यशस्त्रं त्रिपर्वकम् ' (ऐ० ब्रा० भाष्यं
१० । १) । ' अग्निदेवैद्ध ' इत्यादिद्वादशपदात्मिका निविद् ।
निविदः (ऐ० ब्रा० १० । १-२) । इत्यत्र पठन्ते ।

७०२

पत्रं पङ्क्तिः

७०२ ९

‘ गर्भा वा एतदुक्थानां यन्निविदः । ताः प्रातःसवन उक्थानां
पुरस्तात् मध्यंदिने मध्यतस्तृतीयंसवने अन्ततो धीयन्ते ’
(ऐ० ब्रा० ११ । १०) । प्रथममाहावः । ततो निविद् ।
ततः सूक्तम् । एवं निविद् शस्त्रमध्ये पतति (१०) ।
निविदः = तत्तद्देवतास्तुतियुक्तपदानां समूहाः । तेषां संख्या
एकादश । तेषां शृङ्खला—अग्निर्द्वादश । इन्द्रो मरुत्वान्
इन्द्रो देवः सविता देवः पृथग्निशतिः । द्यौवापृथिवी पञ्चदश ।
ऋभवो देवाः सप्तदश । विश्वे देवास्त्रिंशत् । अग्निर्वैश्वानरः
पञ्चदश । मरुतो देवाश्चतुर्दश । अग्निर्जातवेदाः अर्धे मदे
पृथक् षोडश । इयं निविद् (७११ । ४-१०) इत्यत्र
पठ्यते । अस्याः पञ्चदश पदानि । ‘ आ यो द्यां भाल्या
पृथिवीम् ’ (१२-१३) इदं सप्तमं पदम् । इयं निविदसौ-
र्वैश्वानरी ।

१०-११ स (मन्त्रः) तथा भवति = तस्या निविद एतादृशानि
पदानि भवन्ति येनायं वैश्वानरः सूर्य एव । ‘ भाल्याम् ’
(२७) इति ग. ज. पाठः । च. पाठोऽपि तथैवाऽऽती-
दिति भाति ।

११ वैश्वानरः सूर्य एव ।

१६ द्वादशाहगते नवरात्रे त्रयस्त्र्यहाः । प्रथमद्वितीयत्र्यहाभ्यां षष्ठ्यः
षडहस्तृतीयत्र्यहस्य च्छन्दोम नाम (ऐ० ब्रा० भाष्यं २३।१) ।
द्वादशाहे प्रायणीयोदयनीयरूपे आद्यन्ते ये अहनी तयोर्मध्ये
दशरात्रोऽस्ति । तस्य त्रयो भागाः । षष्ठ्यं षडहं च्छन्दो-

७०२

१६ मौखयोऽहर्विशोपाः । दशममहस्तृतीयो भागः (ऐ० ब्रा०
भाष्यं २४ । ३) । छन्दोमेषु विनियुक्तं सूक्तं छान्दोगिकम् ।
सूर्य एव वैश्वानरः सूर्यवैश्वानरः । ‘ तस्येदम् ’ । (पा० ४ ।
३ । १२०) इत्यनेन । सौर्यवैश्वानरम् ।

१७ ‘ दिवि पृष्ठे अरोचतेति वैश्वानरीयम् । दिवीति तद्रमुप्य लोक्य
रूपम् ’ (कौषी० ब्रा० २६।१७) ॥ (आश्व० श्रौ० ८ । ११) ।

- पत्रं
७०२ पङ्क्तिः
२१ रोचने । मूले तु 'अरोचत' (६९८ । १७) इति पाठः ।
पृष्टः = स्पृष्टः । मूले (६९८ । १७) 'स्पृष्टः' नास्ति ।
- ७०३
१ 'हविष्पान्तमजरं स्वर्विदम्' (ऋ० सं० १० । ८८)
इति हविष्पान्तीयं सूक्तम् ।
२ समर्थः = संगतार्थः समानार्थः ।
-११ 'विश्वानरावित्यप्येते' इति ड. य. घ. ठ. ड. पाठः
(६९८ । २९) । अत्र 'अपि' शब्दस्य न किमपि
स्वारस्यम् । 'अपि एते उत्तरे ज्योतिषी विश्वानरौ इति'
इत्यन्वयः । अपि = अपि च ।
११-१२ 'अपि वा विश्वानर एव कश्चित्स्यात् । तस्यापत्यं वैश्वानरः'
इति दुर्गस्वीकृतमूलपाठः स्यात् (६९९ । १४) ।
१४ यत् यस्मात् ।
१५ तद्धितवृत्त्या उत्पत्तिर्वैश्वानरशब्दस्य । व्यपदेशः = वृत्तिः
शब्दासिद्धिः ।
१६ 'यत्र वैद्युतः शरणं' (६९८ । २०) इदं दुर्बोधम् । वैद्युतोऽग्निर्ज-
लेन न शाम्यतीति सत्यम् । किंतु स दार्वान्दिदहत्येव । न तेन
शाम्यति ।
१७ शरणं = शरीरम् ।
१७-१९ 'शरणमभिहन्ति तत्प्रदीप्यते याव०' इति दुर्गस्वीकृतपाठः
स्यात् ।
१८ अभिहन्ति = निहन्ति = अभिगच्छति । 'हन गतौ' इत्य-
७०३ १८ स्मात् । 'हन हिंसागत्योः' (घा० २ । २) । अभिहन्ति =
अभिगत्य हिनस्ति । शरणं = गृहम् । आत्मन आश्रयः । दारु
वैद्युतम्याग्नेः कथमाश्रयो भवेत् ।
२२ विद्युदुदकात्प्रभवति जडं प्रविश्य नश्यति । तेनायमग्निरुदके-
न्धनः शरीरोपशमनः ।

- पत्रं पङ्क्तिः
- ७०३ २३ रसः स्वभावो यस्य तेन उदकेन । ' इध्यते ' इन्धि-
धातोः कर्मणि रूपम्
- २४ प्रतिहता जडा घना मूर्तिः स्वभावो यस्य तेन काष्ठेन ।
- २५ पार्थिवो धातुर्बहुलो यस्मिन् । ' पार्थिवधातुप्रायम् ।
- २६ स्थानम् अन्तरिक्षम् । जातिः रसः । आदिना मनुष्यैरस्पृष्टत्वादि ।
प्रथमस्य ज्योतिषः = पार्थिवाग्नेः । अहेतुकं = तादृशस्वाम्ये
कोऽपि हेतुः किमपि कारणं वा नास्ति । प्रथमे ज्योतिषि तादृश-
स्थाननात्यादेरभावः ।
- ७०४ १ वैद्युतोऽग्निः कथं स्पृष्टः परिगृहीतो वा भवेत् ।
- ४ मध्यमेन = मध्यमात् । विपर्यस्तधर्मा = विरुद्धधर्मा ।
- ६ तद्धितार्थेन उपपत्तिः ।
- ८ अथ आदित्यादग्निर्जायते । उदीचि = ' उदङ् ' इत्यस्य सप्तम्ये-
कवचनम् । ' उदीचीप्रथमसमावृत्ते ' (९-१०) दुर्गमते
अयं समासः । तेन ' उदीची ' पाठः साधुः । किन्तु नैकस्मिन्नपि
निरुक्तमूलपुस्तकेऽयमुपलभ्यते
- ११ उदगयनस्य उत्तरायणस्य आदौ ।
- १२ आदित्यमणिः = सूर्यकान्तः । कंसः = काचपात्रम् । परिमृज्य
= घर्षणमापाद्य ।
- १३ ' सृष्ट शब्दोपतापयो. ' (धा० १ । ९९७) । प्रतिस्वरे = परा-
वर्तिते तापे । यत्र = यदा ।
- १४ असंस्पर्शयन् = किञ्चिद्दूरे । सूर्यतापो घृष्टात्कंसान्मणोर्वा
गोमयस्योपरि यदा पात्यते तदा तद्गोमयं ज्वलति पार्थिवोऽग्नि-
धोत्पद्यते । ' तत्प्रदीप्यते ' इत्यनेन ' यः० ' इत्यादेरन्वयः ।
स तापः शुष्कगोमये अग्निरूपेण नायते । ' शुष्कगोमयं
प्रतिस्वरे धारयति ' इत्यन्वयः । परिमार्जनस्थानन्तरं प्रति-
स्वरः ।
- १५ अर्मा आदित्योऽपि ।
- १७ तद्धितेन विग्रहः । तेन व्यपदेशो रूपासिद्धिः । व्यपदेशः =
निर्देशः कारण वा ।

पत्रं

पङ्क्तिः

७०९ १ ' आत्मनाऽऽत्मानं संयतते ' (२७) इत्यत्र ' आत्मानं ' इत्यपपाठः ।

३ इममग्निमादधाति मनुष्यः ।

७-८ इतः = इह वर्तमानात्तेजःपिण्डादस्य अग्नेः इत्यादि । सूर्य-
रश्मयः अग्नेरर्चिभिः संयतन्ते ।

८ ' अवक्षत् ' वचेर्लृटि रूपात् । अस्य रूपस्यात्र न किमपि प्रयोजनम् । ' अवक्षत् ' (२९) वचेः ' सिप् बहुलं लेटि ' (पा० ३ । १ । ३४) । अवक्षत् = अवोचत् । ' अवक्षत् ' इति पाठः साधुः ।

११ अन्यः अधिकारः = (प्रकरणम्) अधिकारान्तरम् । मध्यमे स्थाने भवाः मध्यमकाः । उत्तमे स्थाने भवाः उत्तमकाः । तेषामिमानि औत्तमकानि । अथवा मध्यममेव मध्यमकम् । उत्तममेव उत्तमकम् । तत्र भवाः माध्यमकाः औत्तमकाः ।

१२-१३ उत्तमे स्थाने वर्तमाना देवताविशेषाः तेषां स्तुतिः अर्थः प्रयोजनं येषां तानि ।

१५ वैश्वानरशब्दो गुणपदं (विशेषणं) न प्रधानं (विशेष्यम्) ।

१६ भगो वैश्वानरः सविता वैश्वानर इति शब्दाः प्रयुक्ता अभवि-
प्यन् ।

१९ वैश्वानरे आदित्यस्य उदयास्तंगमनादिक्रिया वर्णिता अभवि-
प्यन् । हे वैश्वानर त्वमुदेपि अस्तमेपि विपर्येपि इति ।

२१ विपरि + एपि = पुनः उदेपि ।

७०६ २ विग्रहेण व्यपदेशो निर्देशः । ' वैश्वानरः ' इदं विश्वानरश-
ब्दात्तद्धितरूपम् । तेन वैश्वानरशब्दस्ताद्धितव्युत्पत्त्या कथितः
(७०३ । १४—१९) ।

२० दक्षिणायनादनन्तरमुत्तरायणम् । उत्तरायणाच्च दक्षिणायनम् ।
तत्र एवं व्यावृत्तयः । प्रतिसेवत्तरं द्वे अयने । दक्षिणायनो-
त्तरायणयोः पर्यायेण व्यावृत्त्या । पर्यायः = परस्परानन्त-
रमागमनम् । दक्षिणायनस्य व्यावृत्तिः उत्तरायणे । उत्तरा-
यणस्य दक्षिणायने ।

पत्रं

पङ्क्तिः

७०६

२२ दक्षिणायनाह सु उदक्म् उत् एति । उत्तरायणाह सु वर्षभावेन अव एति । एवमेतौ द्वावहर्गणौ परस्परव्यावृत्तौ (२०) । उत्तरायणागमे तदुदेति दक्षिणायनागमे तदवैति । 'उत्तरायणदक्षिणायनयो ' (२९) इति पाठान्तरम् । जगत् = जह्वाण्ड सर्वे लोका । वर्षभावेन उदेति द्या प्रति । अवैति च पृथिवी प्रति वर्षभावेन ।

७०७

२३ पर्जन्या प्रार्जयिन्नारो रसानाम् ।

५ ' तेन अर्चिभि दग्धा कृत्वा परम सूक्ष्म देवोपभोगयोग्यम् उदकभावम् आपाद्य ' इत्यन्वय ।

६ प्रति = प्रत्युपकारबुद्ध्या । कल्पयन्ति = ददति ।

७ अय लोकोऽपि वर्षवान् । न केवला थौ ।

१२ यहृक्षणमभूत्तदवैशेषिमिति कृत्वा मध्यमस्य वैश्वानरत्वे लक्षणं न । अवैशेषिक = समानम् ।

१५ वर्षसर्मणा अभिष्टव स्तुति अनैकान्त अवैशेषिक समान ।

७०८

२० करीर = वशाङ्कुर । करीराणि ह्यन्ते अग्न्या सा कारीरी ।

२०-२१ पर्जन्यावास्ये कारीरीनाम्नी मग्नेष्टि (मैत्रा०स०२।४ । ७ <) ।

२१ ' अग्नये धामच्छदेऽष्टात्रपाल निर्वेन्मारुत सप्तत्रपाल सौर्यमेक-कपालम् ' (मैत्र० स०२।४ । <) ॥ (का० स०११।१०) । सर्वे पुरोडाशा अग्नये धामच्छदे । तस्मात् अग्निरेव मरुत सूर्यश्च । अष्टारूपाल निर्वपेदित्यर्थ ।

२३ मैत्रायणीस्ये - मैत्रायणीसहितायाम् ।

७०९

१ निर्गच्छतीति = निया । एतदिति = अनम् । निया + अन = नियानम् ।

२-३ ईर्वा रात्री मानुष्या रात्रेर्द्वितरा पाण्माभिवी ।

७ तदुदकं तस्मिन् गर्भत्वेन नित्रिममाना ।

पत्र

७०९

पङ्क्तिः

८ 'उत्तरायणं मासैः पङ्क्तिः' इदम् 'उत्तरायणमासैः पङ्क्तिः'
इति स्यात् । अन्यथा 'उत्तरायणम्' इत्यन्य केनान्वयः । परितः
सिक्तमुदकं यस्मिन् । एतादृशो गर्भो यस्य ।

९ नभस्यः = भाद्रपदः ।

१२ तेषां रश्मीनामावृत्तिरावर्तनम् । उच्यते = 'उन्दी क्लेदने'
(घा०७।२०) इत्यस्मात्कर्मणि यक् ।

१५ धामच्छदशिरिति प्रकरणात्कथं ज्ञायते । मन्त्ररूपात् = मन्त्रशब्देभ्यः ।

१७ 'अग्नये धामच्छदेऽष्टाकपालं निर्वपेन्मारुतं चरुं सौर्यमेककपाल-
मग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति धामच्छदिव भूत्वा वर्षति मरुतः
स्रष्टां वृष्टिं नयन्ति । यदाऽसा आदित्योऽर्वाङ् रश्मिभिः पर्याव-
र्ततेऽथ वर्षत्येता वै देवता वर्षत्येताते' (काठ०सं०११।१०) ।
'अग्निर्वा इतो वृष्टिमीदृष्टे मरुतोऽमुतश्च्यावयन्ति ताँ सूर्यो रश्मिभि-
र्वर्षत्येते वै वृष्ट्याः प्रदातारः' (मैत्रा०सं०२।४।८) अग्निमरुदा-
दित्या वृष्टेः कर्तारः । तस्मात्सर्वे एकैव देवता । अत्रापि नाग्निरा-
दित्यौ क्रियते । अग्निः वृष्ट्या आदित्यस्य धाम च्छादयति दिवि
वर्षति च । इमां वृष्टिं मरुतः अन्तरिक्षे प्रसारयन्ति । आदित्यः अग्निं
स्वरश्मिभिः प्रज्वलयति भूमौ वर्षति च । इति ब्राह्मणवाक्यार्थः ।
'अग्नये धामच्छदे पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेन्मारुतं सप्तकपालं
सौर्यमेककपालमग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति मरुतः स्रष्टां वृष्टिं
नयन्ति यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्ततेऽथ
वर्षति धामच्छदिव खलु वै भूत्वा वर्षति' (तै० सं० २ ।
४ । १०) ।

१८-१९ ओषधिवनस्पतिभ्य आपो धूम (= वाष्प) रूपेण दिवं प्रति नि-
वर्त्यन्ते । आहुतिभूताश्चाऽऽपस्तथैव । दिवः पतितं तोयमोषध्यादि-
भिर्दिवं प्रति निवर्त्यते ।

२२-२३ स्थानाभिसंपत्तिप्रनादिक्या = अग्निरेवान्तरिक्षे मरुद्रूपो वायु-
रूपो वा संपद्यते । दिवि चाऽऽदित्यरूपः । एवं स्थाने स्थानेऽ-
ग्निस्तत्तद्रूपो भवति । इयं प्रनादिक्या ऽणात्मी धमः ।

पत्रं

पङ्क्तिः

७०९

२२-२४ ता आपोऽग्निर्मध्यमस्थानमापादयति ।

२३ मेघरूपं राश्मिभिः = मेघैः । आदित्यो मेघैः सर्वाणि तेनांसि
च्छादयति । धामच्छद् = मेघरूपैः राश्मिभिः धाम्नां छादयिता ।
' धामच्छद्विवि भूत्वा ' (७०८ । ६) इति क. ख. छ. त.
द. पाठः । ' धामच्छद्विव खलु वै भूत्वा ' इति ड. य. घ. ठ.
ड. पाठः ! तै० सं० पाठश्च । ' धामच्छद्विव भूत्वा ' इति काठ-
कसंहितापाठः । ' धामच्छदादित्यो भूत्वा ' इति दुर्गस्वीकृतपाठः ।
(७०९ । २३) । अग्निः दिवि वर्षति (१७-१९) । आदित्यो
भुवि (२३) । मरुतोऽग्निना दिवि सृष्टां वृष्टिमन्तरिसं नयन्ति
(२४) । आदित्यस्तदा मेघान् स्वराश्मिभिरधः पातयति (२३) ।

७१०

२ निरुक्तमूले ' अथापि ब्राह्मणं भवत्याग्नि० वर्ततेऽथ वर्ष-
तीति ' । एवमेकमेव ब्राह्मणवचनम् । दुर्गमते द्वे । दुर्गकालीनः
काठकसंहिता पाठो भिन्नः । निरुक्तमूले ' उदीरयति धामच्छ-
दिव ' इत्यस्य स्थाने ' समीरयति धामच्छद्विवि ' इति । ' अर्वाङ् ' इत्यस्य स्थाने ' अग्निम् ' । ' न्यङ् ' इति ड. य. घ. ठ. ड. पाठः
(७०८ । २६) ।

३ अग्निरादित्यो भवति । आदित्यश्चाग्निं राश्मिभिः पर्यावर्तते ।
' यदासावादित्योऽग्निम् ' इति क. ख. छ. त. द. पाठो दुर्गेण
स्वीकृतः । ' यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् ' इति ड. य.
घ. ठ. ड. पाठः (७०८ । २६) । तै० सं० पाठश्च ।
' यदासा आदित्योऽर्वाङ् ' इति काठकसंहितापाठः ।

१० ' आदित्यो वैश्वानरः ' इति केवलमर्थवादः । न वास्तविकमेतत् ।

१४ कारीरीष्ट्यामेककपालः सौर्यः पुरोडाशः ।

१९-१७ द्वादशविधमस्य कर्म तस्माद्द्वादशकपाल इति एतद्यदि देवता-
गुणाभिप्रायमभविष्यत् तर्हि सौर्योऽपि इत्यन्वयः ।

१८ तस्मात्सूर्यस्य वैश्वानरत्वे कपालानि अनिर्वचनं न निर्गायको
हेतुः ।

१९ सूर्य एव वैश्वानर इति प्रवादः यस्मिन् ब्राह्मणे तत्सौर्य-
वैश्वानरप्रवादम् । ' तस्येदम् ' (पा० ४ । ३ । १२०) ।

पत्रं
७१०

पङ्क्तिः

२० बह्वचो भक्तयः । ताभिः वदन्तीति ।

२३ सर्वथा ब्रवीति = ब्रवीत्येष । तत्त्वं = कारणम् ।

२४ ' इयं वा अग्निर्वैश्वानरः ' (मैत्रा० सं० १ । ४ । १३) ।

' वैश्वानरः प्रविशतिरतिधिर्ब्राह्मणो गृहान् ' (कठोप० १ । ७) ।

२४-२९ किमपि बहु = कानिचिद् बहूनि वस्तूनि ।

२९ भक्त्या = गुणवृत्त्या ।

७११

२ तस्यां निविदि ।

२-३ ' यो विद्म्यो मानुषीभ्यो अदीदेत् ' (६) तस्या निविद
इदं चतुर्थे पदं वाक्यम् ।

७ ' ओर्वन्तरिक्षम् ' (२४) इति निवित्कुन्तापे पाठः ।
आ (भासयति) + उरु + अन्तरिक्षम् ।

२० यज्ञे साधुर्यज्ञियः पुरुषः ।

७१२

९ वैश्वानरीयं सूक्तं तृचम् । तत्रैषा ' वृषा पावक दीदिह्यग्ने
वैश्वानर द्युमत् । नमदग्निभिराहुतः ' (आश्व० श्रौ०
८ । ९) ।

१२ आश्वलायनश्रौतसूत्र आदित्याहुतिर्न विधीयते । अग्निप्रक-
रणान्न तस्य संभवोऽपि ।

१६ ' आहूतः ' ' अग्निहूतः ' इति छ. त. द. पाठौ (७०८ ।
२८) न दुर्गसंमतौ ।

१७-१८ ' जमु अदने ' (धा० १ । ४७२) । प्रजमिता मक्षिता
अग्नयो यैः ।

७१३

१२ ' पानयोग्यं च ' अत्र 'च' शब्दस्य प्रयोजनं नावगम्यते ।

१४ प्रगतो विवेको यस्मात् । अन्येभ्यः पदार्थेभ्यो यद्विवेकुं न
शक्यते दग्धत्वात् (१३) ।

१६ व्यपदेशेन = पर्यायशब्देन ।

पत्रं

पङ्क्तिः

७१३

२० विभूतिः = देवतातृप्तिसामर्थ्यम् ।

२१-२२ अविच्छेदनाय = देवताभ्यो न कदाऽपि विच्छिद्येतेति ।

२३ ' साधयतेः स्वधा ' इति कदाचिदन्वयः स्यात् । ' साधयतेः ' ' साधयते ' वा पदं निप्रयोजनं भाति ।

७१४

१ 'प्रयाजान्मे अनुयाजाँश्च केवलानूर्जस्वन्तं हविषो दत्त भागम् घृतं चापां पुरुषं चौर्ध्वीनामग्नेश्च दीर्घमायुरस्तु देवाः ' । अपां घृतम् = अद्भ्य उत्पन्नं घृतम् । ओषधीभ्योऽद्भ्यम् । अत्रा-
द्रेतः । रेतसः पुरुषः । पुरोडाशः पुरुषरूपः । घृतं पुरोडाशं च मे दत्त ।

४ अमृष्टं = यद्विषयो वादस्तस्य वैश्वानरशब्दस्य स्पर्शोऽपि नास्त्यस्मिन्मन्त्रे ।

५ तदग्निद्विद्धमेतद्धविष्पान्तीयं सूक्तमाग्नेयं करोति यस्मा-
त्तत्प्रथमायामृचि वर्तते । ' मतौ छः सूक्तसान्नोः ' (पा०
१ । २ । १९) इति हविष्पान्तीयम् ।

७ ' स प्रथमं स्वेनाव्यभिचारिणाऽभिवानेन स्तोत्रमुपक्रम्यते ' इत्यन्वयः ।

९ तथम् = एवं कृत्वा (२४) ।

१० उद्धिभावयिषा = उद्धाययितुमिच्छा ।

११ व्यञ्जनमात्रं = केवलं विशेषणम् । न तु प्राधान्येन स्पर्श-
वानि । अग्नेः ' अग्निः ' इत्येतद्व्यभिचारि नाम (७) ।१३ भिल्ले ज्योतिषी लक्षणे यम्य । अस्मिन्मन्त्रे माध्यमिकं ज्योतिः
मातरिश्वा वैश्वानरश्च पृथिवीभ्यानो भिन्नत्वेन निर्दिश्येते ।१४ अन्यत्वेन व्यपदेशो विद्यते अम्य । व्यपदेशः = निर्देशः
कथनम् ।

७१५

५ नेयं प्रातरनुवाकाश्रिनयोः शम्यते ।

८ महिषाः = महत्यन्नाग्निलोके आमोनाः । महि = महति +
पाः = मन्त्राः (दुर्गः) । न एव देवगणा महिषा महान्तः ।

पत्रं
७१५

पङ्क्तिः

- ९ यथा वा = अथवा । महिषाः = महान्तः ।
- १३-१४ 'परावतः' एतस्त्वर्गादिपि परतरस्य लोकस्य नाम । परा-
वतः = प्रकर्षेण ईरितवतः । आदित्यो वस्तुनि प्रकर्षेण ईरयति ।
परावतः = परामतात् । परा = दूरम् + गतात् ।
- १४ विवस्वान् = विवस् + वान् = विवसाक्रियया तद्वान् (च.
पाठः) । विवासनाक्रियया तमसा तद्वतः (पाठान्तरम् २८)
= तमसां विवासनाक्रिया । तथा तद्वतः ।
- १६ 'श्वस प्राणने' (धा० २ । १९)
- १७ 'अन च' (धा० २ । ६०) ।
- २१ संनिधाने एकस्मिन्वाक्ये व्यपदेशो निर्देशः ।
- २२ व्यवतिष्ठते = सिद्धं भवति ।

७१६

- १ 'सूर्यादिसंबन्धि विशेषाङ्गिभङ्गीकृत्य वैधानरत्वं यदुक्तम्'
इत्यन्वयः ।
- ४ प्रथमायानृत्ति = 'हविष्पान्तमजरम्' इत्येतस्याम् ।

४-९ प्रकृत्यैव = अग्निरित्येव ।

- ९ प्रकृतिः = महान् आत्मा । तस्य भूम्ना महिम्ना ।
- ६ अपि तर्हि = यदा ।

१७ अभि + आ + पादम् । 'आभीक्ष्ये णमुल्ब' (धा० ३ । ४ ।
२२) । 'अभ्यापाद्य' इत्यस्य 'सर्वाणि स्थानानि' कर्म ।
अग्निं स्थानं स्थानं अभ्यापाद्य स्थाने स्थाने स्थापयित्वा ।
भङ्गोर्नीदीक्षितमते आभीक्ष्ये द्वित्वमावश्यकम् । यथा पाठा-
न्तरे 'अभ्यापाद्य अभ्यापाद्य' (२९) । 'अभ्याप्य'
(२६) इदं प्राप्तादिकम् । पदः णमुल् पादम् ।

७१७

- ९ मूर्तं = सर्वं शरीरजातम् । मूर् = मूर्तं + वा = वीर्यते ।
- ७ 'प्रधानम्' 'अग्निः' इत्यस्य विशेषणम् । मूर्धा = प्रधानम् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

७१७

१४ ' प्रज्ञाम् ' (७१६ । २२) न व्याख्यातम् । ' प्रज्ञां त्वेताम् ' इत्यत्र ' मायां त्वेताम् ' इति दुर्गपाठः स्यात् ।

१५ यन् = यस्मात् । अपः = कर्म ।

१६ भूयस्तरं = भूयः + बहुतरम् ।

७१८

१० देवाः = यजमानाः । (११) ।

१२-१४ 'अथ यत्प्रातरनुदिते जुहोति । प्रग्नयत्येवैनमेतत्सोऽयं तेजो भूत्वा विभ्राजमान उदेति शश्वद् वै नोदियाद्यद्रस्मिन्नेतामाहुतिं न जुहुयात्तस्माद्वा एतामाहुतिं जुहोति ' (शत० ब्रा० २ । २ । ९) ।

१८ अयमेवाग्निर्वैश्वानर इति शाकपूणिः । तन्मतं नाद्यापि पूर्णं प्रतिष्ठापितम् । शाकपूणिरेव प्रकृतः । तेन तन्नामः पुनर्निर्देशः किंकारणः । स्वपक्षानुष्मृतिर्हेतुः ।

७१९

२-३ ' देवाश्च वा आसुराश्च संयत्ता आसन्सोऽग्निर्विजयमुपयत्सु श्रेष्ठा तन्नो विन्यवत्त पशुषु तृतीयमम्सु तृतीयममुष्मिन्नादित्ये तृतीयम् ' (काठकसं० ८ । ८)

४ उभाभ्यां पक्षाभ्याम् = आत्मविद्याज्ञिकपक्षाभ्याम् (अपादाने पञ्चमी) । व्यावृत्त्य = (उभौ पक्षौ) विहाय ।

७ विभक्त्या = पृथिव्यामन्तरित्ये द्विषि च विभागेन । विभक्त्या-भिधानं (पाठान्तरम् २७-२८) = विभक्तं मिश्रमभिधानम् । अग्निर्विद्युदादित्य इत्याभिधानं विभक्त्या संपद्यते युक्तं भवति ।

८-९ एकस्यैव ज्योतिष आदित्याख्यं तृतीयं रूपमग्नीकृत्य ।

२४ अपूर्वं धनफलं तेम कृतोऽयं जगद्धिरचनाप्रपञ्च ।

७२०

२ ' हुमिन् प्रलेपणे ' (धा० १ । ४) । ' मा गतौ ' (धा० १० । २९१) । ' मीद् हिंसायाम् ' (धा० १ । ११) । ' मीद् हिंसायाम् ' (धा० ८ । ४) ।

४ मि + मी + धुः = मिधुनी ।

५ मि + वन + धू = मि + धू + उन = मिधुनी ।

पत्रं

पङ्क्तिः

१७१०

११ 'सप्रसारणपरपूर्वत्वम्' इत्यस्य कोऽन्वयोऽर्थश्च । 'सप्रसारणपूर्वो मध्यान्तविपर्यय' इति सुबोधम् ।

१२ अन्तस्य = अन्ते वर्तमान ।

१३-१४: अन्योन्याप्रति समाधितौ आत्मानं नयत कालं वा नयत ।

१४ 'अनुत' = परस्परं सम्भक्तौ सम्भजमानौ ।

१५ 'मिथुं सगमे' (घा० १ । ८९९) । 'क्षुधिपिशिमिथिभ्यं कित्' (३ । ९९) । इत्यनेन उभयप्रत्ययः ।

१६ मेयन्तौ = सगच्छन्तौ ।

१७२१

१५ 'समानारूपाणां' इति ढासिणात्पठः पाठः (२६) ।

"

१६-१७ आशोकु = आशक्नुवन्ति । आ (ईषडर्थे) = न ।

१९ '(तथा) विशेषलिङ्गेन सूर्यप्रधानं न' इत्यन्वयः । अग्निप्रधानं यस्मिन् तदग्निप्रधानम् ।

७२२

१४ 'इहैव' इति छ त द (२३) ग च ज पाठः (२७) प्रामादिकः ।

१७ प्रतीकं = प्रतिगतम् । अथवा । प्रतीकं = प्रतिदर्शनम् (३) ।

१८ 'प्रत्यक्तं ज्योतिः' (५) इत्यन्वयः ।

२१ वसतिर्नात्र दर्शनार्थं । 'ज्योतिर्वर्णस्य' (५) न व्याख्यातम्, अथवा 'प्रतिदर्शनं ज्योतिः' (३) इति । प्रतिदर्शनं = प्रतिदृश्यमानम् । वर्णस्य (५) = ज्ञानस्य इत्यर्थः स्यात् । यथा रात्रयो ज्योतिर्वसते ब्राह्मणो वर्णस्य (ज्ञानस्य) तावदुपदधाति (५-६) ।

७२३

१ दैव्योऽग्निः परः । अयं ब्राह्मणहोता अवरः । परो भूयोविद् । अयमल्पविद् (२) ।

२१-२ अवरः होता परस्य अनुकरोति । किं कारणम् । अज्ञः अल्प-विदितिः ।

२ अल्पमिति = केनचिदशेन । न तु सर्वथा ।

४ अग्निप्रधानं येषु तानि । अग्निप्रधानानि कर्माणि यस्मिन् । अग्नि

पत्रं

७२३

पङ्क्तिः

- ४ वैश्वानर इति कृत्वा वैश्वानरीयम् । अस्मिन् सूक्ते वैश्वानरशब्दो बहुकृत्व. प्रयुक्तः । ते सर्वे प्रयोगा अग्निपराः ।
- ५ होतृकर्मणोऽग्निना संवन्धस्तेन होतृजपोऽग्निवैश्वानरीयो भवितु-
मर्हति । किञ्च हांतुवरणानन्तरं यो होत्रा तूर्णो पठितव्यो जप-
स्तस्मिन्नग्निवैश्वानरो न । यस्माद्वैश्वानरोऽग्नेः पितेत्युच्यते ।
'अग्निः' (२४) इत्यपपाठ इव भाति । 'अग्निवैश्वान-
नरीयः' इति शुद्धः पाठः (च. ज.) स्यात् । अग्निरेव
वैश्वानरः अग्निवैश्वानरः । 'मत्तौ छः सूक्तसाम्नोः' (पा० १ ।
२, १९) इत्यनेन 'अग्निवैश्वानरीयम्' । जपो न सूक्तं
नापि साम । तथाऽपि सूक्तसदृशो जप इति मन्तव्यम् । न
अग्निवैश्वानरीयम् अनग्निवैश्वानरीयम् । 'त्वमग्निवैश्वानरीयः'
(२५) इति पाठान्तरमपि तुर्बोधमशुद्धं च । हे देव सवितः
एतमग्निं त्वां होत्राय वृणते । अत्र अग्निरेव सविता । अथवा ।
सवितैवाग्निः । 'अग्निः' इति पाठे जपोऽनाग्निः कथम् । 'अग्निं
त्वां होत्राय वृणते' इति हि तत्रोच्यते । अनग्निवैश्वानरीयः'
इति च. ज. पाठ ।
- १०-११ मध्यमं वैश्वानरमुत्तमं वाऽस्य पितरमाह ।
- १५ क. ख. ठ. ड. (२९) वर्जमितरेषु पुरतकेषु 'अग्निवै-
श्वानरीयत्वे' ।
- १६ आचार्यो याम्कः । मन्त्रः = होतृजपः । अवग्नियते 'यस्तु
सूक्तं भजते' इत्यादिना ।
- १७ व्यपदेशः = भेदेन निर्देशः ।
- १७-१८ 'संप्रति मन्त्रेण' अयमपपाठः स्यात् । 'स प्रतिमन्त्रेण'
इति पाठ इष्टः । स आचार्यपक्षोऽन्यभिचारिणा शाकपुण्ड-
पक्षेण समी भवति । यदि होतृजपोऽग्निवैश्वानरयोर्भेदेन
निर्देशः (व्यपदेशः) 'आ दूतो' इत्यास्मिन्प्रतिमन्त्रेऽ-
ग्निवैश्वानर इति निर्दिश्यते ।
- १८ होतृजपोऽग्निः (व्यपदेशवान्) भेदेन निर्दिष्टः स एव वैश्वान-
र इत्यस्मिन्मन्त्रे उच्यते ।

पत्रं पङ्क्तिः

७२४ हेतवः = अतिरिच्यन्तेऽधिकः ।

७-८ मन्त्राणामर्थानां घटनार्थ्युद्घाटनानि । शब्दा अर्था न्यायाश्च एषु-
द्घाटनेषु प्राचुर्येण सहायाः । न्याया उपपत्तयः । तथाऽपि
मन्त्रार्थो दुस्वबोधः ।

९. ईदृशमर्थकरणमल्पज्ञानावबुध्यते । वयमल्पमतयः ।

इति संस्रमोऽध्यायः ।

अथाष्टमोऽध्यायः ।

७२५ देवतापदं = देवतावाची शब्दो नाम वा ।

१२ तदार्थिनः = धनार्थिनः ।

१६ यामृचम् ।

१८ स्तोतृत्वे चासंभवमपेक्ष्य ।

१८-१९ द्रविणोदाः स्तोता न भवति यस्मात् 'द्रविणोदाः' देवता भवति ।

२० यद्वृत्तम् = यत्सर्वनाम्नो रूपम् । द्रविणोदा अर्थपतिः ।

तस्मिन्स्तुतिरभिसंबद्धा ।

२१ यद्रूपमध्याहृत्येकं वाक्यं करोति । 'द्रविणोदाः' तस्मिन्ने-
कवाक्ये पदम् । स्तुत्ये द्रविणोदस्येकवाक्यतां कर्तुं सामर्थ्य-
मुत्पादयितुमिच्छन् । अनया क्लृप्त्या 'द्रविणोदाः' पदं
वाक्यस्याङ्गं भवेत् ।

२२-२३ 'यस्त्वम्' = (७२९ । १९) इत्यस्य स्थाने 'यस्तम्'
इति दुर्गस्वीकृतपाठ आसीदिति भाति ।

२३ तं द्रविणोदसं देवमीळते ।

२३-२६ 'अस्यानेन सामानाधिकरण्ये सामर्थ्यमुन्नीय' इत्यन्वयः ।

२७. तौ द्वौ शब्दावेकवाक्यतयाऽभिसंबन्धाति । एकं वाक्यं ययोस्तौ
एकवाक्यौ । तयोर्भाष. एकवाक्यता ।

२८. यज्ञेषु = यज्ञतिषु = हविःसंप्रदानेषु (२९) । यज्ञतिः =

तिष्ठद्भोमः । जुहोतिः = उपविष्टहोमः ।

पत्रं

पङ्क्तिः

७२६

२९ त्रीणि सवनानि यागस्य प्रधानानि स्थानानि । सवने सवने
अग्नावाहुतिर्नियते ।

७२७

३० द्रविण = द्रविणाय + सः = सिद्धन्ति ।

१ सोमः द्रविणसंभक्ता द्रविणं संमज्जेते । द्रविणं + सः = सतुते ।

३ ' ईड स्तुती ' (धा० २ । ९) । यास्ककाले याज्ञास्तुति-
वृद्धिपूजार्थः । स्तुतिभिर्वर्धयन्ति ।

८ ' द्रविणसः ' = ' द्रविणस् ' शब्दस्य पञ्चम्येकवचनं पष्ठ्ये-
कवचनं वा । ' द्रविणोदा द्रविणसः ० ० प्र यंसत् ' (ऋ० सं १ । ९६ । ८) । ' द्रविणसः ' इति कर्मणि
पठ्ये । तस्मादत्र ' प्र यंसत् ' एतादृशं, दानार्थं वर्तमानं
क्रियापदमध्याहार्यम् । यास्ककृतो विवरणप्रयत्नो व्यर्थः । द्रविणः
(नपुंसकद्वितीयैकवचनं) ददाति इति द्रविणोदाः । द्रविणम्
शब्दो न तु द्रविणम् । द्रविणः = द्रव्यं धतम् । सोमार्थः केवलं
काल्पनिकः (८ । ९) । ' द्रविणं = बलम् ' (७२९।४-९)
इदमपि चिन्त्यम् ।

१७-१८ द्रविण = बलम् । तेन द्रविणोदा इन्द्रः । यस्मात्तस्य सर्वा
बलकृतिः ।

२१ सर्वेषामधिपतिरिन्द्रः । तेन इन्द्रो बलवान् ।

२७-२८ यस्मादयमोजसो जातस्तस्मादयं बलवान् ।

७२८

७ द्राविणोदसः = द्रविणोदसे हवीरूपद्रविणस्य प्रदात्रे हितः ।
' तस्मै हितम् ' (पा० ९।१ । ९) इति सायणः । द्रावि-
णोदसशब्द ऋगशाखाया सकृदेष ।

१०-११ एषोऽग्निः एतस्माद्बलादिन्द्राज्जायते । बलादिन्द्रान्मध्यमानोऽ-
ग्निरिति च पूर्वमुक्तमेव (१३४ । १३) ।

१२ इन्द्रादग्निर्मात इत्यर्थे निगमोऽपि भवति । एवम् ' अपि '
शब्दस्य स्मारस्यम् ।

= ११

२१ ' अन्वा च दुलाच ' (२८) इति ग. पाठः (काठकसं०
४० । ४ ॥ तै० सं० ४।४।१ । ९ । १) ॥ मैत्रा० सं०

पत्रं पदक्तिः
७२८ २१ २ । ८ । १३) । अन्वा दुष्ठा नितन्नी चुपुणिका अन्न-
यन्ती मेघयन्ती वर्षयन्ती । (काठकसं० ४० । ४) इति
। सद्यःऽऽकाशानद्यः ।

७२९ ४ (इत्यपि निगमो भवति' (७२९ । २९) न ज्याख्यातम् ।

ऋतुयाजसंज्ञा यागाः । मधुमाधवाद्भ्य ऋतुदेवा यत्रेज्यन्ते ते
ऋतुयाजाः । दुर्गमते ऋतुयाजा इति केषांनिमन्त्राणां संज्ञा ।
ऋतुयाजाः सर्वे नेन्द्रार्थाः । (कुन्तापाध्याये) ऋतुयाजप्रीपाः ।

१ होता यज्ञत् इन्द्र होत्रात् ऋतुना सोमं पिबतु होत९ यज (४२) ।

२ " " मरुतः पोत्रात् " " " " पोत९ " (४३) ।

ग्रावो नेष्टात् " " " " नेष्ट९ " (४४) ।

अग्निमातीभ्रात् " " " " अग्नि९ " (४५) ।

इन्द्रो ब्रह्मा ब्राह्मणात् " " " " ब्रह्मन् " (४६) ।

मित्रावरुणौ प्रशा-

स्तारौ प्रशास्त्रत् " " " " पित्रतां प्रशास्त९ " (४७) ।

देवद्विविणोवाहोत्रात् ऋतुभिः सोमं पिबतु होत९ " (४८) ।

" " पोत्रात् " " " " पोत९ " (४९) ।

" " नेष्टात् " " " " नेष्ट९ " (५०) ।

अपाद्धोत्रा-

दित्यादितिरुक्तं (७२९ । ११ - १९)

ऋतुभिः सोमस्य पिबतु अच्छावाक " (५१) ।

अश्विनाश्वर्यु आध्व-

र्यवात् ऋतुना सोमं पिबतां अध्वर्यु यजतम् (५२) ।

१ अग्निः गृहपतिर्गार्ह-

पत्यात् " " " " पिबतु गृहपते यज (५३) ।

ऋतुयानेषु मैत्रावरुणः प्रेषसूक्तगतेन मन्त्रेण होत्रादीन्प्रेष्यति ।

ते च राज्यया वपट् कुर्वन्ति । अध्वर्युयजमानो प्रेषितो स्वस्व-

याज्यां होत्रे प्रयच्छतः (ए० ब्रा० २२ । ४) ।

द्विविणोदः शब्दयुक्ताः प्रवादाश्चत्वारः ।

अपात् होत्रात् ४२ प्रेषमन्त्रेण ।

पत्रं पङ्क्तिः

७२९ । १६ । पोत्रात् ४९ ”

नेष्ट्रात् ९० ”

निरुक्तम् ५१ (७२९ । ११-१६)

अत्रैकस्मिन्नेव प्रैपे ' इन्द्रपानम् ' (७२९ । १३) इति शब्दो न सर्वेषु चर्तुषु । इन्द्रपानामितिशब्दात् इन्द्रोऽत्र पाता द्रविणोदाश्चेत्यनुमानं कथं योग्यम् । इन्द्राय योग्यं पानं द्रविणोदाः पिबतु इत्येवार्थः ।

' इन्द्रस्य ' इदं पदं प्रक्षिप्तमिव भाति । यस्मादिन्द्रः पिबतीत्यनुमानं कर्तव्यमेव । द्रविणोदा देव इन्द्रमरुद्ग्रावाम्यश्विमित्रावरुणेभ्यो भिन्न इति प्रैपमन्त्रेभ्यो भाति ।

८ होत्रपोत्रनेष्ट्राणि पात्राणि । तेभ्यो द्रविणोदाः सोममपात् । द्राविणोदसः = द्रविणोदसः (छान्दसं दीर्घत्वम्) । द्रविणोदो नाम तुरीयं पात्रं तस्मात्पिबतु । 'ततः किम् ।' तेषां समाख्या भवति ' (२१-२२) इति च. वर्जमितरेषु पुस्तकेष्वधिकः पाठः । स ' तद्यथा ' इत्यनेनासंबद्धः । तस्मात्प्रक्षिप्त इव भाति ।

१० तत्पात्रस्य ' द्रविणोदः ' इत्येव नाम । एतमेव मन्त्रं मन्यन्ते । किंतु नायं मन्त्रो यस्मात् ' यस्यापत्यम् ' इत्यादिवाक्यरचना क्लिष्टा । यस्माच्च ' अथाप्याह द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः ' इत्यग्रेऽस्मिन्नेव खण्डे पठति । क. ख. च. पुस्तकेषु ' द्रविणोदसः ' इति ऋगन्तः । न तु द्राविणोदसः ।

१-१९ ' तथा ० अच्छावाक यज ' इति । इदं मूलपुस्तके नासीत् (२४-२९) केनाप्यस्थानेऽन्तर्भावितम् । तस्य स्थानं ' प्रैपितः ' (१७) इत्यन्यानन्तरम् ।

१२ ' द्रविणोदसम् ' इति क. ख. झ. पाठः ।

१३ ' आयूयाः ' ' अभिगूर्पाः ' इति कुन्तापाच्याये प्रैपपाठः ।

१९ १३ प्रयानप्रैपाः ८ पाशुकप्रैपाः ११ अनुयानप्रैपाः १ सूक्त-
वाकप्रैपः ~~१३~~ सवनीयप्रैपाः = ६९ । एवं पद्य-

पत्रं

पङ्क्तिः

७२९

१५ प्रैपसूक्तानि । ' होता यक्षत्० ' अयं प्रैपः पञ्चमे सूक्ते ।

१६ सर्वे प्रैषा मैत्रावरुणेनोच्यन्ते । अध्वर्युर्गृहपतिभ्यां ' होतरेतद्यज इत्युक्तो होता यजति (आश्व० श्रौ० १ । ८) । अच्छावाकं प्रति मैत्रावरुणस्याऽऽज्ञा । अच्छावाकमैत्रावरुणो होतुः पुरुषो । मैत्रावरुणेन प्रेषितोऽच्छावाको याज्यां पठति ।

१६-१७ अध्वर्युप्रतिस्थातारो ' ऋतुना प्रेष्य ' इत्युक्त्वा पङ्क्तुभिः मासैः प्रचरतः । ततः ' ऋतुभिः प्रेष्य ' इति चतुर्भिः । ततः ' ऋतुना प्रेष्य ' इति द्वाभ्याम् (मान० श्रौ० २ । ४ । २) । हे मैत्रावरुण होतारं याज्यां पठितुमाज्ञापयेति अध्वर्युर्वदति । मैत्रावरुणः प्रैपमन्त्रं पठति । ततो होता तत्पुरुषा वा याज्यां पठन्ति । सप्तमाष्टमनवमदशममासेषु ' ऋतुभिः प्रेष्य ' इति मैत्रावरुणं प्रति अध्वर्योरुक्तिः । प्रेष्य = याज्यां पठितुं चोदय ।

१९ होत्रात् = होतृकृतात् । होत्रपोत्रादीनि तत्तद्वत्विजां धिष्य्या अथवा स्थानानि ।

१- पाठान्तरे ' उत पोत्रा० प्रयो हितम् ' इति ऋक्शब्दा निरुच्यन्ते (१८-२०) । ' देवेभ्यः अदत्तम्० ' इति पाठोऽधिकः सायणमाभ्याद्बृहीतः (२२) । अमृक्तम् = अस्पृष्टमन्यैः । अशुद्धं चैत्कथमिन्द्रपानयोग्यम् ।

४-६ ' अपाद्धोघ्रात्० ' (ऋ० सं० २ । ३७ । ४) इत्यायमृक् मैत्रावरुणेन यः प्रैपो दत्तोऽच्छावाकं प्रति तस्याच्छावाकेन दत्तं याज्यारूपमुत्तरम् । प्रैपानन्तरं याज्या पठ्यते । ' अपाद्धोघ्रात् ' इयं याज्याऽच्छावाकेन पठ्यते ।

१५ ' अमत्त उत अनुपत प्रयो हितम् ' एतत् ' अपाद्धोघ्रात् ' इत्यस्यामृचि (७२९ । ९) । तदत्र ज्याख्यायते । ' आमिश्रयात् ' । ' कण्ड्वादिभ्यो यक् ' (पा० ३ । १ । २७) । अन्यथा ' मिश्रयेत् ' इति शुद्धं रूपम् । ' आमिश्रियात् ' कथमेतद्वृषं साध्यम् ।

६ ' ऋतुना ' = ' ऋतुभिः ' इति वक्तुमुचितं यस्मात् ' ऋतुभिः

पत्रं पङ्क्तिः

७३०

१६-६ 'प्रेष्य' इत्यध्वर्युवचनम् । होत्रा = होतुः क्रिया शस्त्ररूपा ।
तया होत्रया । अभिगूर्तया = उच्चरितयाऽभ्युद्यतया ।

१६-७ 'सोमस्यःस्वमंशम्' इत्यन्वयः । अत्र ऋक्पाठोऽनावश्यकः ।

७-८ (७२८ । ८-९) शेषः प्रेषणैव व्याख्यातः ।

८-८ 'तेषाम् (७२९ । २६) ऋतुयानानाम् । तत्पात्रम् ' ऋतु-
'पात्रम्' इत्यभिधीयते (आश्व० श्रौ०-९ । ८) सोमः

'इन्द्रपानः' उच्यते (ऋ० सं० ९ । ९६ । ३ । १३
'च) । 'चमसा इन्द्रपानाः' (ऋ० सं० १ । ९४ । ९) 'इदं

त्यन्पात्रमिन्द्रपानमिन्द्रस्यऽप्रियममृतमपायि' (ऋ० सं० ६ ।
४४ । १६) 'आप इन्द्रपानमूर्धिमकृण्वत' (ऋ० सं०

७ । ४७ । १) । 'मत्सरामिन्द्रपानमूर्धिमम्' (ऋ० सं० १० ।
३० । ९) 'एवम् 'इन्द्रपान' न पात्रस्य नाम । सोमस्य

विशेषणं तत् । 'इन्द्रेण पेयम्' इत्यर्थे । पात्रं = पेयं वस्तु ।
चतुर्थं पेयमिन्द्रेण पातुं योग्यं द्रविणोदा पिवतु (१-४) ।

९ 'समारूया भवति' (७२९ । २६) इति मूलपाठः स्यात् ।

१२ 'होत्रात्सोमम्' अत्र न क्वोऽपि स्तूयते । सोमपानेन स्तूति-
रन्यत्र वर्तते न ऋतुयानेषु । 'अस्य मदे०' इति निविदि

(निविद् ११) इन्द्रकर्माणि वच्यन्ते । तस्य मूलम् (ऋ०
सं० २ । १९) । 'अस्य मदे०' (ऋ० सं० १ । ४४ । १४)

इति ऋगपि इन्द्र स्तूतिपरा । १ । १२४ । ४ ॥ १ । ९२ ।
५ ॥ १ । ९२ । १० ॥ १ । ९२ । १४ ॥ १ । ९६ । ३, ५, ६ ॥ १ । ८० ।

१, २ ॥ १ । ८५ । १० । १ । २ । १७ । १ । २ । ४३ । ७ ॥ ४ । २६ । ७ ॥ ६ ।
२७ । २ । ६ । १४२ यस्य मदे ॥ ८ । २ । ८ ॥ ८ । ७ । १४ ॥ ८ । १७ ।

८ ॥ ८ । २२ । २८ ॥ ८ । ३३ । ४ ॥ ८ । ६ । २ ॥ १० । ४४ । ८ ॥ एता
ऋचोऽपि तथैव ।

१४ अक्षितनिनाऽन्येऽपि देशे सोमपानेन स्तूयने विद्यु न बहुदृत्वः ।
१५ तस्य इन्द्राय संस्वरः प्रदानं 'यग्मिन्' । सोमाप्यायनं = रि-
प्येन सोमस्य संमर्गः । घृतरूपवज्रेण सोमः पूर्वं हत आसीत् ।
ज्ञानं हि सोमस्तूतिनोऽनेन मन्त्रेणाप्यापयन्ति ।

पत्रं

पङ्क्तिः

७३०

१६ ' अंशुरंशु० ' इत्यनेन सर्वे ऋत्विज आप्याययन्ति ' (मैत्रा० सं० ३ । ८ । २) । ' ब्रह्मा राजानं विलंस्य हिरण्यमवदधात्याप्यायनाय । अंशुरंशुष्टे देव सोमैत्यारम्य जपन्त्यृत्विजो यजमानश्च ' (मान० श्रौ० २।२।१।१२) ।

१७ ' आ त्वमिन्द्राय प्यायस्वा तुम्यमिन्द्रः प्यायताम् ' (मैत्रा० सं० १।२।७) । आप्यायनसंस्कार इन्द्रार्थः (७३२ । २) ।

७३१

३ ' तस्यापत्यम् ' (पा० ४ । १ । ९२) ' शिवादिम्योऽण् ' (पा० ४ । १ । ११२) इति सूत्राम्या द्रविणोदसोऽपत्यं द्राविणोदसः । द्राविणोदसोऽग्निर्धस्यापत्यं स द्रविणोदाः । क्लियोऽन्वयोऽयम् । द्रविणोदा एव द्राविणोदसः । अथवा । द्राविणोदसस्य पितुः ' द्रविणोदाः ' इति नाम स्यात् । इन्द्राग्निभ्यां क्लियोऽर्धं द्रविणोदाः ।

१० ' इन्द्रो द्रविणोदा अस्तु ' इत्यन्वय ।

१२ एतानि माध्यमिकानि सूक्तानि ।

७३२

३ तासु (अग्नेः) उत्पत्तिः । तथा योगात्संबन्धात् । ' अपां मित्रम् ' इति न योन्यं निरूपणम् । मित्रं मित्रभूता आपो धिपणा चाग्निं साधन् साधयन्त्युत्पादयन्ति ।

५-६ इदं नवर्चं सूक्तम् । नवमविर्जं प्रत्येकस्या । ' देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम् ' इत्यन्तिमः पादः ।

७३३

३ अग्निचित्तानुस्त्र्याग्नावीदुस्वर्यादयः समिध आधीयन्ते । ' द्रव्यलः० ' इत्यनेन क्रुमुकं घृतान्वक्तमादधाति (मैत्रा० सं० ३।१।९)

५ आसवः = पानम् । सर्पिः = उदकम् ।

१० सामिधेन्यः = ' प्र नो वाजा० ' इत्याद्या एकादशसंख्याका ऋचो बह्निसमिधनहेतुत्वात्सामिधेन्य इत्युच्यन्ते । अत्रार्घ्यं कामः । तत्संबन्धि कर्म अग्नये अग्निदेवताकम् ।

११ धार्या = सामिधेनीषु प्रसेचन्या ऋक् । ' धार्याभिर्वै प्रजा' पतिरिषौलोकानधयथं यं कामकामयत' (ऐ०वा० १।२।७) । ' यत्र यत्र वै देवा यज्ञस्य च्छिद्रं निरजानंस्तद्धार्याभिरपि-

पत्रं

पङ्क्तिः

७३३

११ दधुस्तद्धाव्यानां धाव्यात्वम् ' (ऐ० ब्रा० १२ । ७) ।
 ' स्यूमहैतद्यज्ञस्य यद्धाव्यास्तद्यथा सूच्या वासः संदधियादेव-
 मेवैताभिर्यज्ञस्य च्छिद्रं संदधेति ' (ऐ० ब्रा० १२ । ७)
 धाव्या शक्ये प्रक्षेपणीया । ' मूलं वा एतद्यज्ञस्य यद्धाव्याश्च
 याज्याश्च । ताः समान्य एव स्युः ' (ऐ० ब्रा० १३ । ७) ।
 ' पाव्यसांनार्यनिकार्यधाव्या मानहविर्निवाससामिधेनीषु ' (पा० ३ । १ । १२९) । धीयते समिद्रनया इति धाव्या ।

१६ ' अपि'शब्देन ' अग्ने वानस्य० ' इयमपि धाव्या । अस्य
 विनियोगस्य मूलं नोपलब्धम् । ' अग्ने वानस्य० ' इति तृचः
 प्रातरनुवाके आग्नेये कर्ता (आश्व० श्रौ० ४ । १३) । ' त्वं
 ह यद्यविष्ठ० ' (<) इयमपि (आश्व० श्रौ० ४ । १३) ।

७३४

३-४ इन्द्राद्द्रविणोदसोऽयं जायते इत्यनेनाभिप्रायेणेदं द्राविणोद-
 सत्वं न ।

१२ कठतैत्तिरीयवानसनेयिसंहितासूत्रार्थोऽत्यन्तं भिन्नः ।

१८ ' अग्ना अग्निश्चरतीति स्तुवेणाभिजुहोति ' (मान० श्रौ०
 १ । ७ । १ । ४७) इति शास्त्रम् । अनेनाग्नेरेतद्द्रविणो-
 मारुत्यं भागधेयं प्राप्तम् (१८-१९) ।

२० भागधेयं विधेम दद्यः ।

७३५

२ मूले सामान्पाशब्दो नास्ति (७२५ । २६) ।

४ वेनविद्वेषामान्येन संवादः = एकनाम । कुतश्चिदसमर्पणार-
 णाद्गुणेनानुवाद एकनाम ।

५ एकनाम्ने समर्पणं नास्ति । यथा इन्द्राय योग्यं पानं तथाऽ-
 न्येभ्योऽपि देवेभ्यः । देवेभ्यमाप्यर्च्यम् । तस्मात्सोमपाप्राणां
 वायव्यानीति नाम । कुतश्चिन्वरणाद्रमामर्च्यं देवेषु ।

६ सोमं हन्नुमममर्षा देवा वायुं प्रार्थयामासुः । वायुरेतं वरं क्वे ।
 मद्देवतान्येव पाप्राण्यामासिनि । तस्मात्सोमार्पणं सोमपाप्राणि
 वायव्यानीत्युच्यन्ते (मंत्रा० मं० ४ । ९ । ८) । ' एतः
 सोमोऽनूयत । देवैः प्रार्थितौ वायुस्तमन्वदन् । स वरः

पङ्क्तिः

१ वृषोत् । मद्देवत्यान्येव वः पात्राप्युच्यन्ता इति तस्मान्नानादेव-
त्यानि सन्ति वायव्यान्सुच्यन्ते' (तै० सं० ६ । ४ । ७) ।

१६ यद्गर्धुं = ये दग्धुमागच्छन्ति (च. ट.) ।

१८-१९ मरुतः = मरुदेवताः । दुर्गकृतोऽर्धोऽनवदयः (१४) ।
यद्यपि मरुद्भिः सह धानं तथाऽप्यग्नेः पातृत्वं न बाध्यते ।

२२-२३ ' उपरिष्टात्तृच ऋतुयाजानाम् ' (आश्व० श्रौ० ८ । १) ।
सप्तमादीनां प्रैषाणामुपरिष्टात् ' मन्दस्व० ' (ऋ० सं० २ ।
३७ । १-६) इत्याहः षडृचः क्रमेण प्रक्षेपणीयाः ।

२६ सोमपानार्थे संबोधने द्रविणोदसो वनस्पतिशब्देन सामानाधि-
करण्यम् ।

१ तेनैकं विशेषणमन्यद्विशेष्यम् । तस्माद्वनस्पतेर्द्रविणोदा नान्यः ।

२ ' वनस्पते रशतया वियूय पिष्टतमया वयुनानि विद्वान् । वहा
देवत्रा दिधिपो हवीपि ' (मैत्रा० सं० ४ । १३ । ७) ।
' होता यक्षदग्निं स्विष्टकृतम् ' (मैत्रा० सं० ४ । १३ । ७) ।

३ ' हे वनस्पते दिधिपो देवेषु हवीपि वह ' अत्र वनस्पतिर्हवि-
र्वहनं प्रार्थ्यते । इदं कर्मभिः ।

४ स्विष्टकृतानामा विकृतोऽग्निरस्मिन्प्रकरणे श्रूयते । तस्माद्वनस्प-
तिरग्निः ।

८ ' अमित्यं देवं सवितारमिति सवितृप्रसूत एव गृह्णाति '
(मैत्रा० सं० १ । २ । ९ ॥ ३ । ७ । ४) ।

" उपांशुसवनमुपले निधाय तस्मिन्नाजानं सर्वं मिमीते ' इन्द्राय
स्वाभिमातिन्ने ' (मैत्रा० सं० १ । ३ । ३) इतिप्रमृतिभिः पञ्चकृत्वो
यथा क्रमे " (मान० श्रौ० २ । ३ । ३) ।

१० ' अंशुरंशुष्टे ते देव सोमाप्यायतामिन्द्राय ' (मैत्रा० सं० १ ।
२ । ७) । ' आ त्वमिन्द्राय प्यायस्व ' (मैत्रा० सं०
१ । २ । ७) ।

११-१२ ' पुनरपि चाप्यायते ' (२७-२८) अस्मिन्पाठे ' पुनरपि ' ।

- पत्रं पङ्क्तिः
७३६ ११-१२ व्यर्थम् । ' पुनरपि मीयते ' इति समञ्जसः पाठः । आप्यायन-
मेव संस्कारः । संस्क्रियते = आप्याय्यते ।
- १२ ' इन्द्राय त्वाभिमातिघ्ने इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवते इन्द्राय
त्वादित्यवते । अग्नये त्वा रायस्पोपदे विष्णवे त्वा श्येनाय त्वा
सोमभृते विष्णवे त्वा ' (मैत्रा० सं० १ । ३ । ३) ।
- १४-१९ सोमग्रहा नानादेवताभ्यो ह्यन्ते । यथा । उपांशुः (मैत्रा० सं०
१ । ३ । ४) ऐन्द्रवायवः (मैत्रा० सं० १ । ३ । ६)
मैत्रावरुणः (मैत्रा० सं० १ । ३ । ७) आश्विनः (मैत्रा० सं०
१ । ३ । ८) ।
- १९ ' उपयामगृहीतोऽसि ' इत्यनेन ग्रहणं (मैत्रा० सं० १ ।
३ । ४—३६) ।
- २१ ' अग्नये त्वा रायस्पोपदे ' इदं यजुर्न ऋक् ।
- २२ ' रायस्पोपदे ' इति मैत्रायणीकाठकवाजसनेयिसंहितापाठः ।
' रायस्पोपदाय ' इति शुद्धं रूपम् ।
- ७३७ १६ पानं पिबन्ति ते पानपाः ।
- १७ धिष्यं = स्नानम् । ' सर्वे वपट्कारं कृत्वा यजन्ति ' (आश्व०
श्रौ० ८ । १) । वपट्कृतं = याज्यां पठित्वा नेष्टा वौषट्
ब्रवीति । ततो हविर्दीयते ।
- ७३८ १ तदर्थं वागर्थं होता शस्त्रं ब्रूयादित्यर्थं सोमः साधते ।
- ३ ' धिष शब्दे ' (घा० ३।२१) ।
- ३-४ सा वागर्थं धारयति ।
- ९ ' धिषणाभवः ' (७३७।९) न व्याख्यातम् । धिषणायां
भवः धिषण्यः ।
- ९-६ धीः प्रज्ञा कर्म वैतस्यां वाचि सीदत्येतां वाचं सनेति
संभनते वा ।
- ६ अथर्वपा वाक् धियं कर्म वा संभनते । तयोः = धीकर्मणोः ।
' यस्मान् धी' कर्म च तस्या वाचो निमित्तम् ।

पङ्क्तिः

- १९ ' वनु याचने ' (धा० ८।८) । ' पिपितुभिः ' इति घ. घ.
ठ. ड. पाठः (२६) ।
- १९ अत्र अभिर्द्रविणोदा इन्द्रो वा इत्येव प्रश्नः । उत्तमस्य ज्योति-
पोऽत्र संबन्धो नास्ति । तेन ' उत्तमं च ज्योतिः मनेते '
इत्यपपाठः (२७) ।
- ८ पाठक्रमप्रयोजनस्य गृह्यमाणत्वात् ।
- १२ पाठे आनुपूर्वी । पृथिवीस्थाना अन्तरिक्षस्थाना द्युस्थाना इति
देवतानां क्रमो देवतापदसमाम्नाये ।
- ३ अभिशब्दस्यार्थो (गुणः) पार्थिवस्य ज्योतिषः संनिवृष्टः ।
जातवेदःशब्दस्यार्थः (गुणः) ततो विप्रकृष्टः । वैधानस्य
ततोऽपि विप्रकृष्टतरः ।
- ४ व्यवधानेन = इध्मादीनां तु न साक्षात् (= अभिषया)
अन्यर्थः । किंतु लक्षणया ।
- ५ अग्नेः स्थानमात्रं = पृथिवीमेव ।
- ६ उदिता प्राणवृत्तिः प्राणनं येपु तानि ।
- ७ प्रथमं निर्दिश्यन्ते ।
- ८ आर्द्धद्वेभ्यः = ' उलूखलमुसले हविर्धाने द्यावापृथिव्यौ ' इत्या-
दीनि द्वंद्वानि (निघ० ५ । ३ । २९-३६) ।
- १२-१३ ' क्रमप्रयोजनम्० ' अयं श्लोकोऽधुनोपलब्धदृष्टदेवतायां न
विद्यते ।
- १४ गुणस्यार्थस्याभिधानं तदेव सामान्यम् । अभिधाने अभि-
धाने कश्चिद्गुणो वर्तते येन तेषामभिना संबन्धः ।
- १७ अभिधानस्य विशिष्टमभिधेयं किमर्थमिति नैरुक्ताः कारणं ददति ।
- १८ आम्रोतिवाचकं ब्राह्मणवाक्यं यास्को न पठति (७३९।१-२) ।
तेन ' आम्रोतेः ' इति यास्कपाठो न भवेत् । अथवा ' इति च
ब्राह्मणम् ' (७३९।२) अनेन चकारेणान्यद्ब्राह्मणवाक्यं
; यास्केन पठितं स्यात् ।

पत्रं

पशुक्तिः

७४०

२०

प्रजापतिरेता आप्रीरपश्यत्ताभिरात्मानमप्रीणीत । अग्निमेता-
भिर्यजमान आप्रीणीति' (मैत्रा० सं० ३।४।६) । ' आप्री-
भिराप्युवन् । तदाप्रीणामाप्रीत्वम् ' इति ' शाखान्तरे (तै०
ब्रा० २।२।८ सायणः ऐ० ब्रा० ६।४) ।

२०-२१ आप्रीदेवता = आप्रिय ऋचः । तामु या देवतास्ता अपि आप्रियः ।

२१-२२ ऋचो देवता आप्नुवन्ति प्रीणन्ति वा । तस्माद्ऋचः आप्रियः ।

२६ ' सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये ' (पा० ३।२।७८) इत्यनेन
प्रथमागामी । अयं प्रत्ययः अताच्छील्येऽपि इति वार्तिकद्वया-
त्स्पष्टम् । इध्मं विना इज्या न शक्या । अग्नेरिध्मोऽवश्यः ।

७४१

१

' तनूनपात् ' इत्यनेन नराशंस इत्यनेन वा अग्निर्न नित्यम-
भिधीयते । ' इध्मः समिन्धनात् ' (७३९।२-३) न व्याख्यातम् ।

१६ ' सूक्तमेव ' इति ग. च. ज. पाठो (२७) दुर्बोधः । जम-
दग्निस्तत्पुत्रो वा परशुराम ऋषिः । नेयमेकैव ऋग्गाग्नेयी किं
सर्वं सूक्तमेवाऽऽग्नेयम् । ' आग्नेया इति तु स्थितिर्भक्तिमात्रमि-
तरत् ' (७७०।६) । तेन ' सूक्तमेवाऽऽहाऽऽग्नेयं यास्कः ' इति
पाठः सुबोधः ।

१७ यजनीयं = यजनाय योग्यं हितं वा ।

१९ ' स्वतन्त्र. कर्ता ' (पा० १।४।६४) ' तत्प्रयोजको हेतुश्च ' (पा० १।४।६६) । यजमानो हवींषि ददाति । अग्निर्यज-
मानं हवींषि दापयति । एवमग्निर्हेतुः कर्ता च ।

७४१

२१

} इध्मो जातवेदसोऽग्नेराधारः ।

७४२

१

१-२ तेषां मध्वानां ' क्रोशन्ति ' इति क्रियया अभिधानं तस्य प्राप्तिः ।

३ येत्त्वमेव = यत् तत् त्वमेव ।

४ मित्रमहः = मित्राणां पूजितः = नित्यमभ्यपेक्षमाणानामुपकारे
प्रवृत्तः ।

५ अभ्यपेक्षमाणा. = ये त्वत्साहाय्यमपेक्षन्ते ते । अभ्युपेक्ष्यमाणः
(पाठान्तरम् २१) = अभ्यपेक्ष्यमाणः ।

पदक्तिः

- ६ यजमानानामुपकारे प्रवृत्त. (पाठान्तरे २१) । यजमानाना
चिकित्वान् । कर्मणि षष्ठी । 'चेतनावान्' (७४१ । ७-८)
न व्याख्यातम् ।
- ९ इध्मस्याऽऽवावेशोऽग्निसाद्भवनम् । तस्मादिध्मोऽग्निः ।
- १०-१२ ' सर्वयजमानाना साफल्ये हेतु. ' इति च. पाठः (२२-२३)
साधु. । ऋत्विना साफल्यं नैव यागोद्देश. । सायुज्ये (पाठा-
न्तरे २४) = समीभावे देवतासमभावे । ' सायुज्यं सलोकता-
माप्नोति ' इति बहुकृत्वो ब्राह्मणवाक्यम् ।
- १२ अस्माकं देवानाहूय यष्टु तस्य तव युक्तम् ।
- १४ यज्ञेध्म = यज्ञेऽऽवाधीयमान इध्मः ।
- १५ समासौ प्रणवेनावसानम् (आश्व० श्रौ० १।२) । सामि-
धेन्या अन्ते ॐ इति प्रणवः समिदाधानं च । 'समिद्धो
अद्य०' अस्मिन्मन्त्रे इध्मशब्द इध्मावाचकशब्दो वा नास्ति ।
' आसीन प्रणवे प्रणवे समिधमादधाति ' (सत्या० श्रौ० २।१) ।
' अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीत्युक्त्वा प्रणवे प्रणवे समिधमाद-
धाति ' (मान० श्रौ० १।३।१)
- १८ ' समिद्धिः प्रेष्येति प्रथम प्रेष्य प्रेष्येत्युत्तरान् ' (मान०
श्रौ० १।८।३।१७) । ' समिद्धिः प्रेष्याति प्रथम प्रयानं
संप्रेष्यति प्रेष्य प्रेष्येत्युत्तरान् ' (सत्या० श्रौ० ४।३।१०) ।
- १९ ' श्रूयते ' नायं शब्दो योग्यो यस्माच्छ्रौतसूत्राणि न श्रुतिः ।
यदर्थं = समिदर्थम् । इध्मभावम् = इन्धनभावम् ।
- १ व्यवहित = 'समिद्धः', इति भिन्नशब्देन ।
- २ ऐष्टिके = दर्शपूर्णमाससन्धिनि । हौत्र = होतुः कर्म ।
- ३ 'समिधो यजेति प्रथम यज यजेत्युत्तरान्' (मान० श्रौ० १।३
२।२) । प्रयाज संप्रेष्याति (सत्या० श्रौ० २।२) ।
- ३-४ ' अध्वर्युप्रेषितो मैत्रावरुणः प्रेष्यति प्रेष्येहंतारम् । होता यज-
त्यामीभिः प्रेषसल्लिङ्गामि ' (आश्व० श्रौ० ३।२) । ' ये३

पत्रं पङ्क्तिः
७४१ । ३-४ यनामहे समिधः समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु ३/ वौ ३
(१-१) । ३/ पळिति वपट्कारः ' (आश्व० श्रौ० १।१) ।

७ प्रैप आरादूरादुपकरोति यजति कर्मण्यङ्गभावं गच्छति ।

७-८ समिदादिभिरुपकृत्य दर्शपूर्णमासाम्यां यजेतेत्येवंरूपाणि यानि
विनियुज्यन्ते तान्यङ्गानि । तानि सिद्धरूपाणि क्रियारूपाणि
चेति द्विविधानि । क्रियारूपाण्येव संनिपत्योपकारकाण्यारादु-
पकारकाणीत्युच्यन्ते । तत्र कर्माङ्गद्रव्याद्युद्देशेन विधीयमानं
कर्म संनिपत्योपकारकम् । यथाऽवघातप्रोक्षणादि । द्रव्याद्यनु-
द्दिश्य केवलं विधीयमानं कर्म आरादुपकारकम् । यथा प्रया-
जादि । संनिपत्योपकारकमारादुपकारकाङ्गलीयः । आरादुपका-
रकस्थले हि प्रकरणं विनियोजकम् । इतरत्र तु व्रीहीन्प्रोक्षतीति
वाक्यमेव (आपदेवः) ।

८ आप्रीः संनिपत्य संनिहितत्वेन उपकरोति । प्रैप आप्री यागः
इति क्रमः । आप्रिय एव सार आप्रीप्रैपः । तस्मदाप्री
संनिहिता । न तथा प्रैपः । यजतिः = यागः । ' आप्रियाम् '
इदं प्रायः ' आप्रिय. ' इत्यासीन्मूलवृत्तौ । प्रैपस्य यजता-
यारादुपकारित्वम् । आप्रियो यजतौ संनिपत्योपकारित्वम् ।

१०-१२ कः समिद्धः । को देवान्यजति । को जातवेदाः । को मित्र-
महाः चिकित्वान् दूतः कविः प्रचेताश्च । सर्वत्र 'अग्निः'
इत्येवोत्तरम् । सर्वाण्येतान्याग्निमेवाभिदधते । 'समिद्धः' 'यजति'
इति द्वे एव कर्मणि । कदाचित् 'मित्रमहः' अत्र 'मह'
इति कर्म स्यात् । इतराण्याग्निवाचकान्याग्निविशेषणानि वा ।
एतेषामिध्मे गौणी वृत्तिः (१३) । तस्मात्तान्यन्यर्थानि ।
यदा आप्रियोऽन्यर्थत्वं न विपर्यस्यते तदा साऽग्निमेवाभिधते
यदा गौण्या वृत्त्या सा न निरूप्यते तदा ।

११ आप्री यागे बहुलमुपकरोति । एते आप्रिप्रियाणाः ।

११ यथा तनूनपाजराशंसादिशब्दा आप्रीषु विद्यन्ते न तथा अग्नि-
शब्दः । तस्मादाग्निराग्निप्रदेवतासु नाम्ना न कथितः ।

पङ्क्तिः

- २१-२२ 'अग्नि' (निर० १ । १ । १) इत्यत्र समासज्ञात ।
 २२ 'तदापि (=इध्मस्य लिङ्गमपि) अस्यामाप्रिया नाम्नीति असमासा
 नम् इध्मशब्देऽपि समानमिति चेत्' इत्यन्वयार्थो ।
 २३ (पाठान्तरे ३२) 'आ च वह' = आह्वय चास्माक देवान् ।
 (यस्माद्देवान्यनासि तस्मात्) यज । एवमाह्वान यजन चेति
 द्वे क्रिये । एते क्रिये आप्रिया प्रैपिके वा न विद्येते । 'ये ३
 यजामहे समिध समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु' अत्र 'समिध
 समिध' इति समासज्ञानम् । 'होता यक्षदग्नि ०' इति मंत्रा
 वरणेन दत्त प्रैप । 'ये ३ यजामहे ०' इति होतुरस्तर
 प्रैपिकम् । प्रैपिके समिध समासज्ञाता न इम । तदा
 ख्यताम् (३३) = इध्म इत्याख्यताम् । 'समित्' शब्द
 एव समासज्ञातव्य किमिति 'इम' शब्द । प्रैपिके समासज्ञानात्
 'समिध समिध' इति । क्रिया = व्यन्तु (भक्षयन्तु) । तथा
 समिधो विशेष्यन्ते 'समिध आज्यस्य व्यन्तु' इति । एवम्
 इध्मशब्द आगत । तेन इमाभिधानेन अग्नि इज्यते ।
 (पाठान्तरे ३३) अहमेवायामिम इत्याग्नि इममभिसपन्न ।
 ४ यजमानाना यजमानेर्दत्तेन हविषा ज्ञात प्रज्ञान यस्य स ।
 ११ नपात् = नसा ।
 १२-१३ न विद्यते अन्तर यस्या सा । पितापुत्रयोर्मध्ये अन्तर नास्ति ।
 तस्मात् पुत्ररूपा कन्यारूपा वा प्रना पितुरनन्तरा । 'पितुरन
 न्तरा या (प्रना) सा पुत्रारूपा । पौत्रास्या (पितु) अननन्तरा
 इत्यर्थ' इत्यन्वय । 'अननन्तरा' इत्यत्र द्वौ नञौ ।
 १३ न अनन्तरा अननन्तरा । पौत्ररूपा प्रना अननन्तरा । यस्मान्
 पितापौत्रयोर्मध्ये पुत्ररूप कन्यारूप वा अन्तरमस्ति । 'या पितु
 रनन्तरा पुत्रारूपा तस्याऽनन्तरा पौत्रारूपा' इति ग. न. पाठ
 (२८) । अत्र तस्य = पुत्रस्य । 'तस्या' अवश्यम् ।
 १५ नततम = नततर । 'गौरत्र०' (७४१ । १०) । तत्रतम्मिन् पक्षे
 इति दुर्गव्याख्या । 'अत्र' म्याने 'तत्र' शब्दो दुर्गर्वाहृतमूत्रे
 म्यात् । अथवा । 'अत्र' म्याने 'तत्र' ग्रामादिसम् ।

१७-१८ तस्मान् (पय) तस्या पुत्र ।

पत्रं
७४९

पङ्क्तिः

१० यस्मात् हवींषि यान्ति तस्मात् तानि 'याना' इत्युच्यन्ते ।

१३ ' जिहया हित' दुर्बोधम् । ' जिहाया हित ' इति सुगमम् ।
आज्य जिहाया धीयते । कस्य जिहा । अग्ने । 'जिहया =
जुहा । हित = अर्घा प्रक्षिप्त' इत्यर्थे स्यात् । 'कल्याणजिह्व'
(७४९।४) न व्याख्यातम् । नापि (७४९।४) इत्यत्र । नापि
(७४९।९) इत्यत्र ।

१४ यानि ध्रुवाणि न भवेयुरिति तानि सपादय ध्रुवाणि कुरु ।
'ध्रुवाणि न स्यु' (२७) इति पाठान्तरमपि साधु । अर्थवस्तूनि
= हवींषि । ध्रुवाणि = देवता प्रति गन्तु समर्थानि ।

१५ हवि आज्येन अभिवार्यते दिहते । अलक्रियते = कृष्णी क्रियते ।
अद्रिरुपस्तीर्यते च । एतै सस्वरैस्तानि ध्रुवाणि भवन्ति ।

१७ गमय = दूरी कुरु ।

१८ 'इत्यर्थ' व्यर्थे पठे ।

७४६

४ समभिव्यञ्जयन् = दृष्टिमधुराणि मनोहराणि कुर्वन् । मृष्टी कुरु
= शुद्धानि कुरु । 'मृजू शुद्धी' (घा० २।९६) ।

१७-१८ 'देवानो यज्ञ गमय' (७४९।९) इति भाष्यवाक्य न व्याख्या
यते ।

७४७

१ कर्मणि वर्तमाने एव ।

२ एषा नराणामभिमतफलदाता । नराणा फलमाशसतीति नराशस ।
' नराशसम्य महिमानमेषाम्० ' इत्यत्र ' एषाम् ' इत्यस्य
नराणामित्यव्याहृतेनान्वय । एव दुर्ग । ऋचि भाष्ये च
ये देवा इत्यादि एषा तेषामित्यन्वय (७४६ । १७) ।

३ यज्ञ = मन्त्रैर्देवतामुद्दिश्य द्रव्यस्य दानम् । 'द्रव्यदेवते
कर्मणो रूपम्' इति मीमांसना । देवतामुद्दिश्य द्रव्यस्य त्याग ।
अस्य प्रयोगस्याधिष्ठाता यज्ञ ।

४ तद्यज्ञकर्म जगदुत्पात्तिरेवानुग्रहस्तस्य बीजम् ।

६ यजनम्य = यागस्य । यजतम्य = यज्ञियम्य = यजनम्य
सपादयितु = प्रयोक्तुरभिमतफलमादयितु ।

पङ्क्तिः

७ प्रयोक्त्रेऽभिमतं फलं संपादयति । 'यज्ञैरुपस्तुतः' इत्यन्वयः ।

८ उपस्थित = उपस्तुत (च. ट.) । अग्न्युपस्थानम् = अग्नेः स्तुतिः । तदेवम् = अत एवम् (च. ट.) । किमपि = फलदानायानिर्वचनीयसामर्थ्यम् ।

१२ सौमिकः = अग्निष्टोमे हन्यमानः (पशुः) । सोमः = मरुत्व-
तीर्यैन्द्राग्रवैश्वदेवादयः सोमग्रहाः । पश्वङ्गानि = पशुहवीषि ।
' हृदयस्यावद्यति ' जिह्वाया वक्षसो दोष्णः पार्श्वयोरित्यादी-
न्येकादशावदानानि (मैत्रा० सं० ३ । १० । ३) ।

१२-१५ अयं प्रयाजमन्त्रः (१) इष्टिषु सोमे च प्रयुज्यते । सोमे
भिन्नानि हवीषि । इष्टिष्वपि भिन्नानि ।

१३ पश्वङ्गानि पुरोडाशा घाना इत्यादीनि । 'त्रीहिमयः पुरोडाशो
भवति' (मैत्रा० सं० ३ । १० । २) । ' हरिवं इन्द्रो घाना
अत्तु ' (मैत्रा० सं० ३ । १० । ६) । 'पूपष्वाङ्करम्भः ।
सरस्वतीवान् पारिवापः । इन्द्रस्यापूपः । मित्रावरुणयोः पयस्या'
(मैत्रा० सं० ३ । १० । ६) ।

१४ तान्त्राणि = दर्शपूर्णमासयोः काम्येष्टिषु च विधीयमानानि ।
दर्शपूर्णमासतन्त्रेण कर्तव्यानि । आहवनीयस्यैशानदेशे आग्नेय
आज्यभागो हूयते । आग्नेयदेशे सौम्यो हूयते । एतौ द्वौ
आज्यभागौ । तन्त्रम् = अङ्गसंहतिः = विध्यन्तः । म च विध्यन्तः
अवस्थानादिः संस्थानपान्तः । प्रधानस्य तन्त्रणात्तन्त्रम् । तच्च
दर्शपूर्णमासयोरेवाऽऽम्नातं नान्याप्विष्टिषु । तथापि तत्सर्वासा-
मिष्टीनां साधारणम् (आश्व० श्रौ० टीका १ । १) ।
तान्त्राणि = सर्वासामिष्टीनां साधारणानि । अग्निं मोममिस्या-
ज्यभागौ (आश्व० श्रौ० १ । ३) ।

१४-१५ ' प्रयान्ता आज्यभागौ स्थिष्टकृतः ' एतानीष्टिषु दीयमा-
नानां हविषां नामानि ।

१५ अथर्व्युरावैशानदेशे जुहोति । स स्थिष्टकृदोमः । प्रधान-
यागात्पूर्वमिज्यते धैरिति द्युत्पत्त्येते सर्वे मन्त्राः प्रयान्ताः ।

पत्रं

पद्धतिः

७४७

१९ प्रकृता (दर्शपौर्णमासयो) पञ्च प्रयाजा । तत्र यजमानो यदा गोत्रेण वासिष्ठ शौनक आश्रयो वाध्यश्च क्षत्रियो वा तदा द्वितीय प्रयाज आदौ नराशसपदयुक्त । अन्येषु गोत्रेषु तनूनपात्पदयुक्त । शौनकगोत्राणा यजमानानां चातुर्मास्यगतमुख्येष्टिषु नव प्रयाजा । पाशुके एकादश । ते सर्वे वासिष्ठाश्रयेवाध्यश्चतत्तद्विष्टसूक्तेभ्यो गृह्यन्ते । सर्वत्र द्वितीया ऋचो नराशसपदघटिता । एते चतुर्विधाः प्रयाजा नाराशसवन्त इत्युच्यन्ते । मेघातिथिदृष्टसूक्ते द्वादश ऋच । तत्र द्वितीयतृतीये ऋचो ऋमेण तनूनपात्नराशसवन्त्यौ । ता सर्वविधयजमानार्था । तथैव दीर्घतमसा दृष्टे सूक्ते । एते प्रयाजा उभयवन्त । ऋष्यन्तरदृष्टप्रयाजाम्तनूनपात्वन्त । तत्र द्वितीय प्रयाजस्तनूनपात्पदयुक्त । आवाप = हविर्धानाम्मुष्ट्या व्रीहिग्रहणम् । इमा व्रीहिमुष्टयो विशिष्टदेवतार्थं गृह्यन्ते । आवापिका = आवापोद्धारयोग्याः = प्रधानदेवता (आश्व० श्रौ० १।३) । आवापिकानि = विशिष्टदेवतायोग्यानि = विशिष्टानि । न साधारणानि । प्रधानदेवतावाहने ' देवानाज्यपानावह० ' इति मन्त्र पठेत् । आज्यपा = प्रयाजानूयाजदेवता । ' अग्निं होत्रायावह । स्व महिमानमावह ' इति स्विष्टकृतमावाहयेत् (आश्व० श्रौ० १ । ३) । प्रभृतिपदेनानूयाजाः पत्नीसयानाश्च गृह्यन्ते (आश्व० श्रौ० १ । १०-११) ।

१७ ' अग्निरिति शाकपूणि ' इट् मूले नास्ति (७४६ । २०) ।
' चेति वाग्निरिति शाकपूणिरिळ० ' एव मूलपाठ स्यात् ।

७४८

१ आश्व० श्रौ० १ । ९ इत्यत्र ' इळ ' इति पाठ ।

२ तन्नियायुक्त = इन्धनन्नियायुक्त ।

१४ ' ईळितव्यो वन्दितय (६४८ । ८) । यह इति महतो नामधेय यातश्च हृतश्च भवति ' (८-१०) न व्याख्यातम् ।

२० अ-येपित = प्रार्थितो घृतो वा ।

२२ ' ईड्य अग्ने ' इत्यत्र न काऽप्यन्या देवता वर्तेते । अग्नि

पङ्क्तिः

२२ स्वरूपेणैव वर्तते । नान्यै रूपैरग्निरत्र ' ईड्य ' इति विशेषणान्वयवाहित । अत्र ' ईड्य ' (७४८।६) इति पठ न ' इड ' इति । तथा = अयवधानेन । ओषयादिरूप विना ।

२३ ऐष्टिके = इष्टिसवान्धिनि । हाँत्रे = होत्रा पठितये मन्त्रे । अग्नोरव्यवधानेन श्रुतत्वात् ।

६ ' इड ' इति पदाठग्निरौपधोरूपेणव्यवाहित (७४८।२०) ।

२२ प्राचीन = प्राच्या दिशि गतम् । प्रागग्र वा जातम् । आञ्चित = गतम् ।

२९ ' पुनरेव ' अत्र ' पुनरेवम् ' इति मूलपाठ स्यात् । ' एव ' इत्यस्य न कोऽप्यर्थः । प्रादिशा = विधिवाक्येन । ताद्विधिवाक्यम् । ' प्रागुदग्वाभिः प्रज्य बर्हिश्च्छेति ' (मानवश्रौ० १।१।१।२८) । बर्हि ऊच्छ किमर्थमेति । लवनार्थम् । एव प्राणि उदाणि वा जात बर्हि । प्रागग्र वा ।

१ ' प्रागुदग्वा बर्हिश्छेति ' नैव विधिवाक्यमुपलब्ध मया । ' तत्सामर्थ्यात् ' इति शब्दात् ' बर्हिश्छेति ' इति प्रामादिकम् । ' बर्हिश्च्छेति ' अय शुद्ध पाठ । प्रागुदग्वा बर्हिश्च्छेत् । किमर्थम् । लवनार्थम् ।

२ प्रादिशा = मन्त्रेण । स मन्त्र ' देवस्य त्वा सवितु प्रसवेऽधि नोर्बाहुभ्या पूष्णो हस्ताभ्या बर्हिर्वसदन टामि ' (मैत्रा० स० १।१।२॥४।१।२। मान० श्रौ० १।१।१।३४) । अय मन्त्रो लवनार्थः । प्रेयमगाद्विषणा बर्हिश्च्छेति विद्या वै धिषणा विद्यैवेनदच्छेति ' (मैत्रा० स० ४।१।२) । अय बर्हि प्राति गमनाय मन्त्रः ।

३-४ ' उरु प्रयम्बेर्निन्नमिति प्रययत्येवेनत् ' (मैत्रा० म० ३।१।१३) । ' विप्रथम् । इति प्रययत्येवेनत् ' (मैत्रा० म० ४।१।१४) ।

६ उरु प्रयम्बेर्नि वेद्वि म्नुणाति (मा० श्रौ० १।२।६।७) । ' वृन्नी वर्जने ' (घा० २।२॥७।२४॥१०।२७९) । ' वृन्नी छेत्ने प्रम्भरणे वा ' घानुपाटे न विद्यते ।

पत्रं

७९०

पङ्क्तिः

११ सगुणीकृतात् = युक्तात् । देवानां = हविर्द्रातृणां यजमानानाम् ।
अभीप्सितेन = इष्टेन वस्तुना ।

१३-१४ ' आहुतिद्वारेण वृष्टिर्भवति तत ओषधिप्ररोहस्तत्मुखम् ' इदं
कस्यचिद्ब्राह्मणवाक्यस्य सार इव भाति ।

१५ ' अग्निरिति शाकपूणिः ' इति यास्को न ब्रवीति । ' इदमपि
अपिना किं द्योत्यते । पूर्वास्मिन् खण्डे इळः = अग्निः ओषधयो
वा । यदा ओषधयस्तदौषधयो यज्ञाङ्गम् । बर्हिरेपि यज्ञाङ्गम् ।

१६ तद्द्वारेण = बर्हिर्द्वारेण । बर्हिः पृथिव्यां स्तीर्यते तदाऽग्निः
स्तूयते । एवं बर्हिर्व्यवधानम् ।

१७ बर्हिः = ' बृहि वृद्धौ ' (धा० १ । ७३७) ।

२१ ' प्राञ्चमुद्धरन्ति ' (मैत्रा० सं० १ । ६ । ९) ।

२२ अनाग्निका = अ + नग्निका ।

२४ आज्यभागौ प्रक्षिप्येते । घृतं च हूयते ।

७९१

३ ' पोऽन्तकर्मणि ' (धा० ४ । ४१) । अवस्यन्ति = व्यव-
स्यन्ति = तत्प्राप्तुं प्रयतन्ते । अन्ते प्राप्नुवन्ति वा ।

१९ व्यच् = वि + अच् । व्यचस्वतीः = विविधेनाञ्चनेन
तद्वत्यो युक्ता ।

२१ विप्रियन्ता = विविधमाश्रिता भवन्तु (च.) । ' विप्रियन्तां '
' पृ पूरणे ' इत्यम्य यकि रूपम् । विप्रियन्तां = व्याष्टता भवन्तु ।

२३ ' वरतममङ्गमूरु ' (१३) ' यज्ञे गृहद्वार इति कात्थक्यः '
(१४-१९) न व्याख्यातम् ।

७९२

३ ' विश्वं यज्ञे उपकरणमाभिरेति = इत्यन्वयः । उपकशरणम्
(च. पाठः २९) = उपकरणं + शरणम् । सर्वं यज्ञशर-
णमाभिरेति । यज्ञशरणं = यज्ञ एव शरणं गृहम् ।

१८ अवश्यायने (घनी भवति) इत्यवश्यायः । ' श्यैद्धतौ '
(धा० १ । ९८८) । पुत्रा बिन्द्वः । अवश्यायः = वृषारः ।

पङ्क्तिः

१२ 'यजते' स्त्रियां द्विवचनम् । न साक्षाद्यज्ञं कुर्वणे । किंतु यजमानद्वारेण ।

१३ 'प्रशस्ये' मूले नास्ति । 'उपाके' (उप + अञ्च् इत्यस्मात्) = समीपे ।

१३-१४ योषणे = स्त्रियौ ।

१६ 'आ' ऋचि प्रथमं पदम् । ततस्तदुत्कृष्य 'सदताम्' इत्यनेन च योज्यम् । दुर्गमते 'नियोनौ' इत्येकं पदम् । अथवा । 'नि' स्वतन्त्रमेव पदं स्यात् । 'आसीदताम्' इति यदा क्रियापदं तदा 'नि' इत्येकं पदम् । यदा 'न्यासीदता' तदा 'नियोनौ' इति । प्रथमपक्षे 'निः' पादपूरणः । 'नियोनौ' इत्यत्र 'निः' किमर्थः । पादपूरणाय । वस्तुतः 'नि' ऊ्यमुपसर्गः 'सदताम्' इत्यस्माद्भवहितः पश्चात्प्रयुक्तः (छन्दासि परेऽपि । व्यवहिताश्च । १ । ४ । ८१ । ८२) । 'आसीदतामिति वा न्यासीदतामिति वा' अत्र द्विविधयोः क्रियापदयोः किं प्रयोजनम् । दुर्गस्वीकृतपाठे 'वा' पदे नास्तामिति भाति । 'निशब्दश्चोत्तरपादपूरणः' इदं प्रक्षिप्तं स्यात् ।

१७ 'नियोनौ' इत्यत्र 'नि' उत्तरप(पा)दस्थम् । तथापि 'आसदताम्' इत्यनेन युज्यते ।

१८ यदा 'आसीदताम्' इति क्रियापदं तदा 'निः' पादपूरण एव । 'उत्तरपादपूरणः' इत्यत्र 'उत्तर. पादपूरणः' इति पाठ आवश्यकः । अथवा । उत्तरस्य द्वितीयस्य पादस्य पूरण इत्यर्थः स्यात् ।

१ 'अग्निरिति शाकपूणि' इति किमर्थं न ब्रवीति यास्कः । 'अग्निः' इत्येकवचनम् । 'उपामानक्ता' इति द्विवचनम् । एतस्मात्कारणात् । अन्यर्थे द्विवचनं न युक्तम् ।

२ उपाः 'उच्छ्री विवासे' (धा० ६ । १५) इत्यस्मात् । अग्नेर्वाग्निः 'उपा.' इत्युच्यते । निमित्ति । सा तमो विवासयति ।

पत्रं
७९४

पङ्क्तिः

२-३ आहुतिर्नक्ता यस्मात्साऽऽज्येनाक्ता । ' आहुतिरक्तिमा-
नक्त्याज्येन ' (२९) इति पाठान्तरम् । ' आहुतिं
नक्ताज्येन० अग्निं ' इति ट. पाठः । स घ.पुस्तके
' आहुति अग्निं नक्ताज्येन अग्निं ' एवं लिखितः । इदं केवलं
लेखकमौर्ख्यम् । नक्ता = अक्ता । अत्र ' न् ' व्यर्थः ।
' आहुतिरनक्त्याज्येन ' इति पाठः स्यात् ।

६ ' शुक्रपेशसम् ' इति घ. झ. ट. पाठः । ' शुक्रपेशम् ' इति
च. पाठः (२८) ।

९ ' शुक्रं शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः ' न व्याख्यातम् (७९३ । ६) ।
' पिश अवयवे ' (घा० ६ । १५६) दीपनायामपि ।
विपिशितं = विशेषेण दीप्तम् । अथवा । विविधेष्ववयवेषु
विभक्तम् ।

१० यावानाश्रयस्तावति भवति रूपम् । रूपं सर्वाण्यङ्गानि
व्याप्नोति । विपिशितं = विनिहितं शरीरे ।

७९९

३ मनुष्यहोतारावपेक्ष्य दैव्यौ होतारौ । होतृमंत्रावरणौ ; विशेष-
णम् (ग. च. ज. पाठः २२-२४) । ' होतृमंत्रावरणौ ' अयं
' मनुष्यहोतारौ ' इत्यम्यार्थः मूले प्रान्तभागे लिखितः केना-
प्यङ्गलेखकेनान्तर्भावितः स्यात् । तथा ' विशेषणम् ' इति
' दैव्यौ ' इत्यस्य व्याकरणभाषया निरूपणं प्रान्तभागे लिखितं
तथैवान्तर्भूतं स्यात् । ' मनुष्यहोतारावपेक्ष्य दैव्यौ होतारौ '
इत्येव पाठो मौलिकः सुवचश्च । ' आनङ् ऋतो द्वंद्वे ' (पा०
६ । ३ । २९) इत्यनेन ' होतृमंत्रावरणौ ' अशुद्धम् ।
' होतापोतारौ ' इतिवन् ' होतामंत्रावरणौ ' । तेन ' होतृ-
मंत्रावरणौ विशेषणम् ' इदं प्रक्षिप्तम् ।

६-७ मनुष्यस्य (मनुष्यं) प्रचोदयन्तौ । ' मनुष्यस्य मनुष्यस्य '
इयं द्विरुक्तिर्न व्याख्याता (७९४ । २०) । ' पूर्वस्याम् '
(२०-२१) । इत्यस्य स्थाने ' प्राच्याम् ' इति दुर्गास्वीकृत-
पाठः प्रायः आसीत् ।

१३ अनुग्रहस्य कारु कर्तारो । अधिकारे यानि कर्माणि तेननु-

पङ्क्तिः

१३ ग्रहेण संनिधानं तयोः । तेनाऽऽदतौ मनुष्यः । पूर्व कारु कर्तारवृ-
त्विनौ (७-८) । अत्र कर्तारव्युत्पत्तयस्य ।

१४-१५ 'गार्हपत्येऽग्निप्रणयनान्यादधाति' (मान० श्रौ० १।५।३।
१९) । 'अग्निमुद्यच्छति' (मान० श्रौ० १।५।४।३) ।
'अग्निप्रणयनान्यादाय 'प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि विद्वान्' इत्यश्व-
प्रथमाः प्राञ्चोऽभिप्रव्रजन्ति" (मान० श्रौ० १।५।४।७)
इदं प्रणयनम् ।

१५-१६ 'उद्धराहवनीयमित्युक्त्वा गार्हपत्यादाहवनीयं ज्वलन्तमपराह्णे
व्युच्छन्त्यां प्रातः' (मान० श्रौ० १।६।१।१) । इद-
मुद्धरणम् । 'प्राञ्चमुद्धरन्ति' इदं विधिवान्यम् । तस्कर्तव्यं
प्रदिशति ।

१ 'देवीः' इत्यस्य 'देव्यः' इति प्रथमाविभक्त्या विपरिणामः ।

१६ अनु पश्चात्प्रधानयागानन्तरमिज्यते धैरिति व्युत्पत्त्या होत्रा
पठ्यमाना याज्यामन्त्रा अनुशाजा इत्युच्यन्ते । 'इडया वसु-
मत्या' अत्र 'वसुमत्या' 'इडया' इत्यस्य विशेषणम् । तेनेडा
पार्थिवाऽनुयाजशब्दसामर्थ्यात् ।

४-६ त्वष्टा = तु + अष्टा । तु = तूर्णम् । अष्टाऽश्रोतेः । 'त्वष्टा
तूर्णमश्नुते त्विपेर्वा वृद्धचर्थस्य' इति दुर्गस्वीकृतपाठः स्यात् ।

६ 'त्विप दीप्तौ' (धा० १ । १०२६) । त्वष्टा = त्विष्टा ।
मूले 'त्विपेर्वास्याद्दीप्तिकर्मणः' । वृद्धचर्थो दुर्गेण कुत उपलब्धः ।

७ 'तक्षते. (२५) त्वक्षते.' मध्ये दुर्गेण कः पाठः स्वीकृत इति न
ज्ञायते । त्वक्षतिर्घातुः त्वष्टृशब्दस्य संनिहितः ।

८ 'करोति' इति त्वक्षते. सामान्यार्थः । 'तक्ष् त्वक्ष् तनूकरणे'
(धा० १ । ६९६-९७) । 'इति नैरुक्ताः' (७९६ । ८)
'स्याद्दीप्तिकर्मणः' (९) ' स्यात्करोतिकर्मणः' (९) न व्याख्या-
तम् ।

पत्रं
७९८

पङ्क्तिः

१ ' इपितो यजीयान् ' (७९७ । १४) न व्याख्यातम् ।
७ व्यपदेशः = भेदेन निर्देशः ।

९-१० स यथा मनुष्यहोत्रा संबोध्यते ।

१२ वर्धकिः = तक्षा ।

१९ ' माव्यमक. ' इति छ. त. द. (७९७ । २७) ग. च. ज.
(७९८ । २९-२६) पाठः ।

२१ 'अग्ने महौ असि० आवह देवान् । अग्निमग्न आवह । अग्नि-
मावह । अग्निपोमावावह । इन्द्राग्नी आवह । अग्नि होत्रायावह ।
स्व महिमानमावह । सुयजा च यज जातवेद. ' (तै० ब्रा०
३ । ९ । ४ ॥ आश्व० श्रौ० १ । ३) ।

२२-२३ ' व्यपदेशे सति ' इत्यस्यानन्तरम् ' अपि 'शब्दोऽप्याहार्यः ।

२३ योदिन्द्रायोच्छुश्मनेन (च. पाठ. ३०) । ' दिन्द्रायोच्छुष्म '
एतान्यक्षराणि ' यो दशति ' (२८) इत्यत्र लिखितव्यानि ।
किंतु लेखकप्रमादात् ' योऽनेन ' इत्यस्य मध्येऽन्तर्भावितानि ।

२४ ' तमद्य होतर यज ' (७९९ । ९) अत्र अग्निहोतरित्या-
ह्यते (= संबोध्यते) ' यज ' इति चेज्यते ।

७९९

१ ' म्विष्टकृत् ' नामाग्निर्यागश्च । ' हे अग्ने स्वं महिमान-
मावह ' (७९८ । २४) = आत्मानमावह । इदं विशेषलि-
ङ्गम् । म्वम्मात्स्वमाहिषा पृथक्क्रियते । विधिवशात् = यागार्थम् ।

२ स्वमात्मान यागार्थं होतरित्याहूय सस्मरति । तैस्तैर्गुणैरात्मान
द्विधा त्रिधाऽनेकधा वा विभज्य यजति । ' आत्मना ' (१.)
पठ व्यर्थम् । अथवा । आत्मना = स्वयमेव । यजनादन्यद्वा
कार्यं सपाठयति ।

३ अग्ने कर्मात्मा यज्ञसंपादनायाऽऽवश्य आत्मा । यत्तक्षणगुणम
धिष्ठितो यदधिष्ठित । पर = भिन्नः ।

४ पारिेन = पक्त्वा परिणामेन । त कर्मात्मानम् । तमधिष्टत्व्य =
त विपर्याष्टत्व्य । ' त्वष्टां रूपानि हि प्रभु. पद्मन्विधान्तममा-
नजे । तेषां न म्फानिमा र्यन ' (ऋ० सं० १ । १८८ । ९) ।

पङ्क्तिः

- ४ ' त्वर्षा रूपाणि पिशतु ' (ऋ० सं० १०।१८४।१) ।
 ' रूषैरपिंशद्गुर्धनानि विश्वा ' (ऋ० सं० १०।११०।९) ।
- ५ तत् = तस्मात् ।
- ६ देवशिल्पी = देववर्धकः । मनुष्यवर्धकेर्गुणस्तक्षणमसौ वर्तते विशेषरूपेण ।
- ७ असावीपि = अशिरापि ।
- २० ' अन्ययात्स्यप् ' (पा० ४।२।१०४) । आविः
 जातः = आविः + त्यः = आविष्टञः । ' त्यः ' इत्यस्य
 दुर्गमतेऽर्थस्तानिता । तत्स्यः (३३) = तत् आवि. + त्यः
 भवो जातो वा ।
- ६ ' रात्राहाहाः पुंसि ' (पा० २।४।२९) इत्यनेन
 ' अहोरात्रः ' । कणम् ' अहोरात्रे ' । द्विवचने वक्तव्ये
 ' अहोरात्रौ ' इति रूपं योग्यम् ।
- ८ ' आवामन्यतरम् ' ' आवामन्यतमम् ' इति पाठान्तरे
 (२४) । ' अन्यतरम् ' इति शुद्धः पाठः । अहश्च रात्रि-
 श्रेति द्वे एव । तयोरन्यतरो न त्वन्यतमः ।
- १४ ' चारु चरतेजिह्वं जिहीतेरुर्धमुच्छ्रितो भवति ' (७६९ ।
 १३) ' प्रत्यक्ते ' (१६) न व्याख्यातम् ।
- ९ उपाश्लिष्य = मृदुहस्तेन पशूनामङ्गानि स्पृष्ट्वा । क. ख. वर्जम्
 ' उपावाश्लिष्य ' (२९) इति प्रामादिकः पाठः । स च च.
 पुस्तके ' उपाश्लिष्य ' इति शुद्धी कृतः ।
- १३ अनाश्रिताविशेष = अत्र विशिष्ट देवतावाचि ' लिङ्गं नास्ति ।
- १९ अस्य पशोरात्मानम् । आत्मना = स्वकृतेन ' केनचित्कर्मणा ।
- ४ यूपाञ्जनीया = यूपाञ्जनसंश्लिष्यो । यूपाञ्जनीया ऋक् ' अञ्ज-
 न्ति त्वा० ' इति । दुर्गम्वीकृतपाठे ' अशिरिति शाकपूणिः '
 (७६१।६) नासीदिति भाति । स एव पाठो योग्यो

पत्रं
७६२

पङ्क्तिः

४ यस्मात् ' अजन्ति० ' इयमृग्यूपपरा । अष्टादशखण्डे च
' अशिरिति शाकपूणि ' (१२) इति वर्तते ।

५ ' वनस्पते ' इत्यभिधानेन । (होता) ' प्रेषितो यूपाया
जयमानायाजन्ति त्वामध्वरे देवयन्त इत्युत्तमेन वचनेनार्ध्वं
आग्नेत् ' (आश्व० श्रौ० ३ । १ ॥ ऐ० ब्रा० ६ । २) ।

१४ ' निवित्पुरोश्च प्रैषा विश्वामित्रम्य सर्वश ' इति प्रवाद ।

७६३

२ प्रधानक्रिया = पशुविशसनम् । तस्य यूप पूर्वमङ्गम् । पूर्वा
ङ्गभावयित्वात् (च, पाठ २३) = पूर्वाङ्गभावयित्वात्
+ पूर्वाङ्ग भावयित्वा । भावयित्वा = सपाद्य । तद्द्वारेण =
पूर्वाङ्गद्वारेण । ' प्रधानक्रिया पूर्वाङ्गभावयित्वात् ' अत्र ' भाव
यित ' इतीदं क्तिरूपम् । ' भावितम् ' इति शुद्ध रूपम् ।
' भावयित ' प्रामादिकम् ।

५-७ अस्य वाक्यस्य यूपपरोऽर्थः । कित्त्वस्य परा पुरोरगग्निप
रेव अत्र ' इहापि ' अम्याने लिखितामिति भाति ।
" ' अशिरिति शाकपूणि ' इहापि " एव मूलवृत्ति स्यात् ।
यथा ' उपावसृज ' इत्यस्यामृचि वनस्पतिशब्देनाग्निरेवाभिहि-
तस्तथेहापि । कदाचित् ' उपावसृज ' इयमृग्यूपपरा
भवेत् । ' अजन्ति ' इयमृगग्निपरैव । यथा परा नि सशय-
मग्निपरा । शाकपूणिमतेन ' उपावसृज ' इयमग्निपरैव । इहापि
' अजन्ति ' इत्यम्यामप्यग्निपरत्वमेव ।

६ ' उपावसृज ' इत्यम्यामृचि वनस्पतिशब्दम्याथो नाऽऽविष्टृत ।
तेन तस्य मन्त्रस्य यूपपरोऽर्थो भवतु । किंतु नाय शाक
पूणेरभिप्रायः ।

७ ' त (यज्ञ) पुरे रग्निं प्रारोचयन् । यत्पुरोरग्निं प्रारो
चयन्नात्पुरोरन्ना पुरोरुक्त्वम् ' (ऐ० ब्रा० ११ । ९) ।
यायुग्नेगा इति मुन्तापायाये पाठिना सप्त पुरोरश्च । नेय
पुरोरश्च । पाठान्तरे (७६२ । ३०) ' अजन्ति ' (७) पुरोर्यु
च्यने । ' देवेभ्य ' इय च । पुरोरुक् = पुरोनुवाक्या । यन्तौ =
यागे । पुरोरग्यजनां = पुरोनुवाक्यासु । होता यस्तदित्यादिषु ।

पङ्क्तिः

७ ' अञ्जन्ति त्वा० ' इयं पुरोरुक् पुरोनुवाक्या । तथा ' देवेभ्यो वनस्पते ' इयं च । ' अञ्जन्ति ' इत्यस्य मन्त्रस्य परा पुरोरुक् । ऋगोव पुरोरुक् ।

७-८ अस्य मन्त्रस्य परा ऋक् पुरोरुग्यजता संनिपतति हविर्वहनालिङ्ग-
लिङ्गिता च । तेन सा वनस्पतिशब्देनाग्निमेवाभिधत्ते ।

१८ पर्णेर्जलित । ' हिरण्यपर्णं ऋतपर्णापि वोपमार्थं स्याद्विरण्यव-
र्णपर्णेति ' (१३-१४) । ' पुराणस्ते सोऽर्थो यं ते प्रब्रूमः ' (१४-१९) ' वा ' (१६) न व्याख्यातम् ।

२१ सव्येन पितृणां कव्यवहनम् । तद्विपरीतेन = प्रदक्षिणम् ।

२१-२२ रशानया नियुय = सुनिपुणं निबध्य ।

२२ अनवेक्षितं = अवेक्षणाभावात्प्रमादेन ।

३ रजः = उदकम् ।

४ प्रपिष्टं प्रहतं चूर्णीकृतं तमो यत्र । अथवा । प्रपिष्टाः=मुरूपाः ।

६-७ ' प्रदिवस्ते अर्थं विद्मः ' इति दुर्गम्बीकृतपाठो भवेत् ।

६-८ ' अयं यो होता ' (ऋ० सं० १० । १२ । ३) अस्या
ऋचः ' देवा दधिरे हव्यवाहम् ' इत्यन्तिमो भागः । एतादृश-
मन्त्रेभ्यस्ते हविर्वहनरूपमर्थं विद्मः ।

१० ' तस्यैषा ' (७६३ । १६) इत्यस्य स्थाने ' अर्थैषा ' इति दुर्गम्बीकृतपाठो भवेत् ।

११ वनस्पतिशब्दस्याग्नां प्रायेण वृत्तिरित्युपप्रदर्शनार्थम् ।

१ ' दङ्गे ' (७६४ । १६) ' प्रब्रूहि ' (१६) न व्याख्या-
तम् ।

१६-१७ वनस्पतिशब्देन = यूपामिधानेन । यूपामिधानेन वनस्पति-
वर्धनस्पतिशब्देन चाग्निभिधेय इत्यन्वयः ।

१७ ' यूपामिधानेन वनस्पतिः ' इदमनवदयं केवलं निरूपणम् ।

१८ अधियज्ञे भिन्नोऽर्थः । अविद्वेवने भिन्नश्च ।

पत्रं

पङ्क्तिः

७६५

१८-१९ ' अङ्गन्ति त्वा ' अम्य मन्त्रस्याङ्गिपरत्वम् ।

१९ यज्ञाङ्गम् = यूपः । अधियज्ञे = यज्ञे । अयं मन्त्रो यज्ञाङ्ग-
मभिवदति ।२० अस्या ऋचः । ' अम्य मन्त्रस्यास्या ऋचः ' अत्र बहुलो
भापादोपः । लेखकप्रमादेन बहुलो विवरणभागः प्रान्तलिखितो
दुर्गवृत्तावन्तर्भावितः स्यात् । ' मन्त्रार्थे ' इदमनवश्यम् ।
' सामर्थ्यम् ' इत्यस्यानन्तरं विरामचिह्नं भवेत् । मन्त्रार्थ इति
(एवम्) । कथम् ।

२४ यस्मात् = येनाङ्गनेन ।

७६६

३ कथयव्यपक्षेऽर्थयोजनायाम् ' ऋतपर्ण ' ' प्रवृहि ' पठ्यते ।
किञ्चूतपर्णशब्दस्यार्थो न दीयते । ' हतपर्ण ' इति ग. ज.
पाठः (२०) । ' ऋ ' स्थाने ' ह ' प्रमादेन पतितः स्यात् ।१६ उत्तमः प्रयाजः पञ्चमः । ' पञ्चमे स्वाहामुं स्वाहामुमिति
यथावाहितमनुद्गत्य देवता यथाचोदितमनावाहिताः स्वाहा देवा
आज्यपा जुषाणा अग्न आज्यस्य व्यन्त्विति ' (आध० श्रौ०
१ । ९) । यथावाहितमग्निम् । अग्निरावाहितः । इतरेऽना-
वाहिता देवाः ।

१८ शौनकस्य मतेनाऽऽज्ञेयः । न याज्ञिकानां मतेन ।

७६७

१ अग्नेः स्तुतिमनुद्गत्य शीघ्रमुच्चार्य ।

२ याम्य आहुतीर्दीयते ताः संप्रदानम् । ' कर्मणा यमभिप्रैति स
संप्रदानम् ' (पा० १ । ४ । ३२ ।

३ अत्र देवताः संप्रदानं नाग्निः ।

८-९ अव्यर्जुणा स्वाहाकृतिभ्यः प्रेष्येति प्रेषितो मैत्रावरुणो होतारं
प्रेष्यति । होता यज्ञदग्निं स्वाहाज्यस्य स्वाहा मेदसः स्वाहा
स्तोकानां स्वाहा स्वाहाकृतीनां स्वाहा ह्यमूर्त्तीनां स्वाहा देवा
आज्यपा अग्न आज्यस्य व्यन्तु होतयजेति (प्रैपमूक्तेः १३) ।
अयमेकादशस्य प्रयानस्य प्रैपः स्वाहाकृतिप्रैप इत्युच्यते ।

पङ्क्तिः

९ द्वैषेण संस्कारः प्रैषसंस्कारः ।

१४-१९ ' प्रजापतिर्यदहोप्यत्तं स्वा वागभ्यवदज्जुहुधीति सोऽजुहोत् ।
स्वाहा । इति स्वा ह्येनं वागभ्यवदत्तस्वाहाकारस्य जन्म '
(मैत्रा० सं० १ । ८ । १) ।

१९ अनेन स्वाहाशब्देन ।

२० सुष्टु = शोभनम् । आपाद्य = कृत्वा ।

१ ' हविरदन्तु देवा यजन्तीति ' (पाठान्तरम् २२) । अत्र
' यजन्ति ' इत्यस्य केनान्वयः ।

६ प्राधान्येनाप्रतोगामी ।

८ गार्हपत्यादुत्तरवेदिमुत्तरवेद्यां वर्तमानमाहवनीयं प्रति प्रणीतोऽग्निः ।
उत्तरा वेदिर्यस्य स उत्तरवेदिक आहवनीयोऽग्निः ।

११ प्रजाया एकादर्शवेति प्रदर्शनार्थम् ।

१२-१३ ननु द्वादश आप्रीदेवता यासामनुकीर्तनं = या अनुक्रान्ताः ।

१३-१४ ' सत्यम् । अनुक्रान्तानां द्वादश यासामनुकीर्तनम् ' (च.
पाठः २९-२६) ।

१९ प्रयाजान्तत्तदेवतासंस्कारपराः ।

१६ ' दश वै पशोर्देवता दशास्मिन्प्राणा यदश प्रयाजा याः एवास्मिन्देव-
तास्ता एतद्यजन् य एष एकादशो यस्या एव देवतायै पशुरा-
लभ्यते तामेवैदद्यजन् ' (मैत्रा० सं० ३ । ९ । ८) ' एका-
दश प्रयाजान्यजति ' (तै० सं० ६ । ३ । ७) ।
यजतौ = यागे ।

१ देवताध्यानं दक्षाङ्गमिति श्रूयते । ' यस्य देवतायै हविर्गृ-
हीतं स्यात्तां ध्यायेद्वपद्करिष्यन् ' (ऐ० ब्रा० ११ । ८) ।

२ एतद्विषयं = देवताविषयम् । तत्प्रकरणम् ।

९-६ ' आ श्रावय ' इत्यध्वर्युर्ब्रवीति । एतदाश्रावणम् । (आश्रुता-
दिः) । ' अस्तु श्रौषद् ' इत्याग्निधः । एतत्प्रत्याश्रावणम् ।
तदमन्तरं प्रयाजयाज्या । ततः प्रयाजनाभ्य आहुतयः ।

पत्रं
७६९

पङ्क्तिः

१-६ अन्ते यजमानोपस्थानान्त त्रियाकलाप = यजमानकृत-
मनुमन्त्रणम् (सत्या० श्रौ० ६ । ८) । ' प्रजाया इति
आश्रुतादि० प्रसिद्धत्वात् ' इदमसम्बद्ध प्रान्तभागे लिखितमिहा
न्तर्भावितमिव भाति ।

६ ओ श्रावयेत्यादि प्रीणात्वित्यन्त त्रियाकलाप (च) ।

७ किमिति ' प्रयाजेषु ह्यमानेषु ' । ' प्रयाजा ह्यन्ते ' इति
किमिति न ।

८ आज्यस्य व्यन्तू ३ वौ ३ पट् । अथवा । आज्यस्य वेतू ३
वौ ३ पट् । एव प्रयाजानामन्ते वपट्कार (आश्र०
श्रौ० १ । ९) । प्रयाजप्रवादा = प्रयाजसबन्धिनो वादा ।
' आप्रीणा वपट्कारसबन्धात्० ' = सर्वासामप्रीणामन्ते वपट्
कारो वर्तते । स एवैकस्तासा विशेष । अन्यत्सर्व स्वभावतोऽ-
विशिष्टम् । आप्रीवाक्येषु नास्ति किञ्चिद्विशिष्ट पद येन देवता
निश्चय म्यात् ।

९ ' विशेषभाव ' (पाठान्तरे २९-२६) = विशेष भेद ।
अन्यो भेदो न निर्णायक ।

१३ एतस्मिन्ने = अगे प्रयाजानुयाजसबन्धे ।

१४ ' ये द्वे ऋचां दृष्टे तयोर्मध्ये एषा ' इति वाक्यसमाप्तिरवश्या ।

१६ ' त्रयो वै पूवेऽग्नय प्राधन्वन् हव्य देवेभ्यो वहन्तो वपट्कार
प्रावृश्चत्थ योऽयमिदानीं स भीषायाद्रवर्दीष्टगु स आरिप्यतीति
त देवा अपाशासुरह ना आवर्तन्वेति सोऽब्रवीद्भागो मेऽस्त्विति
वृणीष्वेत्यनुवन्त्सोऽनवीत्रयो वै मे पूर्वं भ्रातर प्राधन्वन्हव्य
देवेभ्यो वहन्तो वपट्कार प्रावृश्चत्तेषा भा ऽस्त्विति वृणीष्वे
त्यनुवन्त्सोऽनवीच्येव किञ्चाहुत बहिष्परिधि म्बन्देत्तदेव तेषां
भागधेयमसदिति' (मैत्रा० स० ३ । ८ । ६ ॥ शत० ब्रा०
१ । ३ । ६ । १३-१६) ।

' वपट्कारेण वृक्वेषु भ्रातृषु ' - ' अपचक्षाम देवेभ्य सौची
कोऽग्निरिति श्रुति । स ऋतुष्वप्सु वनस्पतिषु निर्लीनोऽभवन् ।

पङ्क्तिः

१६ अग्न्यभावे असुराः प्रादुर्बभूवुः । अमुरान्हत्वा देवा अग्निमन्वै-
क्षन्त । हविर्वहेति ते तमूचुः । स वरानवृणोत् ।
आयुरस्तु च मे दीर्घं हवींषि विविधानि च ।
आरिष्टिः पूर्वजानां च भ्रातृणामध्वरेऽध्वरे ॥
प्रयाजाश्चानुयाजाश्च धृतं सोमे च यः पशुः ।
मद्देवत्यानि वै सन्तु यज्ञो मद्देवतोऽस्तु च ' ॥
द्वे ऋचां (ऋ० सं० १० । ११ । ८-९ ॥ बृहद्दे०
७ । ६१-७४) ।

१४-१९ सर्वस्य हविष ऊर्जस्वन्तं भागमवधार्यायं भागो रसवानिति
निश्चित्य दत्त ।

१६-१७ 'अग्निं सोममित्याज्यभागौ' (आ० श्रौ० १ । ३) ।
'त्वमग्ने सप्रथा असि ' इत्याग्नेयाज्यभागस्य पुरोनुवाक्या
(ऐ० ब्रा० १ । ४) ।

२० वपट्कारेण वज्रभूतेन प्रवृक्णा हिंसितादिच्छन्ताः ।

२१ तत्र पूर्वे इत्यादि (७६९ । १६ टिप्पणी) ।

४-९ प्रकृष्टा मुख्या दिशः प्रदिशः ।

९ स्थितिः = निश्चयः ।

१० आग्नेयत्वं मन्यते (पाठान्तरे २३) = आचार्यः । ब्राह्म-
णमन्त्रः (पाठान्तरे २४) = ब्राह्मणसाहितो मन्त्रः ।

११ यदीतरद्भक्तिमात्रं (१३) किमर्योऽयं विचारः ।

१७ 'उपदिश्यमानानुपातिष्ठनेऽनुमन्त्रयतेऽभिमन्त्रयतेऽभिमृशति न-
पाति ' (सत्या० श्रौ० ६ । १) ।

१८ अभिसंहितं = विशिष्टदेवतामुद्दिश्य देयमिति निर्धारितम् ।

१० 'इतीमानि' निरुक्तमूले 'तान्येतानि' (७७० । ८) । दुर्ग-
स्वाकृतमूले 'इतीमानि' पाठः स्यात् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

७७२

११ ऋग्वेदे दशाऽऽप्रीसूक्तानि तत्र प्रथमं कण्वाना (मेधातिथेः)
 'सुसामिद्धो न आवह' (१ । १३) । द्वितीयं (दैर्घ्यतमसं) तद्वर्ज्या-
 नामाङ्गिरसा ' समिद्धो अद्य आवह ' (१ । १४३) । तृतीय-
 मगस्तीना 'समिद्धो अद्य राजसि' (१ । १८८) । चतुर्थं शुनराना
 ' समिद्धो अग्निर्निहित पृथिव्याम् ' (२ । ३) । पञ्चम
 विश्वामित्राणा ' समित्समित्सुमना ' (३ । ४) । षष्ठम-
 त्रीणा 'सुसामिद्धाय शोचिपे ' (५ । ५) । सप्तमं वसिष्ठाना
 ' जुपम्ब न समिधमग्नेः अद्य ' (७ । २) । अष्टमं कश्य-
 पाना ' समिद्धो विश्वतम्पति ' (९ । ५) । नवमं वाध्य-
 श्वाना ' इम मे अग्ने समिध जुपम्बेळ ' (१० । ७०) ।
 शुनरुवाऽयश्ववर्जिताना भृगूणा दशमं 'समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे'
 (१० । ११०) । अत्रैनादशाऽऽप्रियो (आद्यृच)
 ऽनुशान्ता न सूक्तानि । दुर्गकृतविवरण प्रामादिकम् । तान्ये-
 तानि वक्ष्यमाणानि न त्वनुशान्तानि ।

१५-१७ वामिष्ठम् (७ । २) । अत्रेयम् (५ । ५) । वाध्यश्वम्
 (१० । ७०) । गार्त्समदम् (२ । ३) ।

१८ अत्र सर्वत्र द्वितीया ऋचो नराशमपद्यटिता । एतानि चत्वारि
 सूक्तानि नराशसवन्ति ।

१९-२१ (मेधातिथेः) कण्वम् (१ । १३) । दैर्घ्यतमसम् (१ । १४२) ।
 एते द्वे प्रापिक चोभयवन्ति । शेषाणि तनूनपात्वन्ति ।

२० प्रापिक सूक्त = कुन्तापाव्याये द्वितीयं प्रापसूक्तम् । तदिह
 निरुक्तेऽस्मिन्प्रकरणे उपवर्णितम् । प्रधानसूक्तसवन्धेभैव तस्य
 निर्देशं वृत् ।

२३ नाराशम यजन्ते ते नाराशमयाजिनः ।

७७३

१ अन्ये मध्ये न तनूनपाव्याजिनो यस्माद्द्वौबुभयवन्तावुभययाजिनौ ।

२ एकादशाऽऽप्रीसूक्तानि । एतं निर्वचनमवधारण (निश्चयेन प्र-
 योग) च येषा तानि ।

३ एतानि सूक्तान्यृचशाब्दाया वदन्ते । एतेषु न विवादः । निश्चये-
 नैतानि तेषु तेषु यागेषु विनियुज्यन्ते । उभयवन्पक्षेऽपि निश्च

पङ्क्तिः

३ य. । 'सौत्रामणी' इति यागस्य नाम । अग्निन्मुरापानं विहितं पशुत्रयहिंसा च । प्रथमे पशोः 'समिद्धो इन्द्र उपमामर्नके' (मैत्रा० सं० ३ । ११ । १) । द्वितीये 'समिद्धो अग्नि-रश्विना' (मैत्रा० सं० ३ । ११ । ३) । उत्तमे 'स-मिद्धो अग्निः समिधा' (मैत्रा० सं० ३ । ११ । ११) । एतानि त्रीण्याप्रीमुक्तानि । दशतय्यामृश्वेदे भवात् ।

६ सौत्रामण्या प्रथममन्द्र द्वितीयमाश्विन तृतीयं छन्दोदेवताकम् । प्रैपिके = प्रैपमुक्ते । न पारिसरयातान्याप्रीसूक्तेषु याम्वा-चार्येण ।

७ आशितितौ ' ऊर्वा अस्य समिधो ' (मैत्रा० सं० २ । १२ । ६) । अश्वमेधे 'समिद्धो अजन्कृटरम्' (मैत्रा० सं० ३ । १६ । २) । आशिकम् = आशितितौ प्रयुक्तं (सूक्तम्) ।

८-९ आशिकं मद्रपि सूक्तमिष्टानामुपधाने प्रयुज्यते । तैत्तिरीयवा-जसनेयिशस्त्रयोरेता पञ्च पञ्चवङ्गभूता आशिक्य सामिधेन्य ।

९ उत्तमाया = पञ्चम्याम् । ' आशिकमुत्तमाया चितौ ' इदं सूत्र-कद्राति । मानवश्रौतमूत्र स्यात् ।

९-१० 'समाम्त्वाशे०' (शत० ब्रा० ६ । २ । १ । २१) । आप्रियः (शत० ब्रा० ६ । २ । १ । २८ ॥ कात्या० श्रौ० १६ । १ । ११—१२) ।

११ ' द्वादशाप्रीरप्येषु ' इदमपि सूत्रं स्यात् । ' अप्येषु ' (२६) इदं दुर्वोधम् । अप्येषु = अपि + एषु (?) ' एषु ' प्रामादिकम् ' एतेषु ' इत्यस्य स्थाने । एतेष्विष्टोप-धानेष्वाप्रीरपि विनियुज्यात् । ' एतेषु ' अयमपि साशयिक पाठः ।

११-१२ 'उत्सन्ध्या०' (वा० सं० २३ । २१) । इत्यथ यन-मानोऽभिमन्त्रयते (का० श्रौ० २० । ६ । १७) । यदाऽ-पोऽश्वमस्यवगाहयति तदा अहं च त्वं च वृत्रहभितिं ब्रह्मा

पत्रं
७७३

पङ्क्तिः

११-१२ यजमानस्य हस्तं गृह्णाति (तै० ब्रा० ३ । ८ । ९ ॥ तै०
स० ७ । ४ । १९) ।

१४ आप्रीकार्ये प्रयोगव्यभिचारात् । एतेषा सूक्तानामन्यत्राऽऽप्रीकार्य
र्यात्प्रयोग । अन्यमेव व्यभिचार । आप्रीकार्य एव नैतानि
सूक्तानि प्रत्युज्यन्ते ।

२० प्रयोगादन्यथाभाविनि = प्रयोगेऽनावश्यते (देवतापदे) ।
अन्यत्रापि = अश्वमेध इतरयागेषु वा । देवतापदानिपातकल्प ।
देवतापद निपातत्वेन मन्तव्यम् । कल्प = व्यवस्था ।

२१ अश्वप्रतिग्रहप्रायश्चित्तम् । 'वर्णो वा एत गृह्णाति योऽश्व गृह्णाति
यावतोऽश्वान्प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणाञ्चतुष्कपालान्निर्वपेद्गुरु
णमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैन वरुणापाशान्मुञ्चति'
(तै० स० २ । ३ । १२) । 'यो वा अश्व प्रतिगृह्णाति
वरुणं स प्रसीदति तदश्वहविषा यष्टव्यं निर्वरुणत्वाय चतुष्क
पाला भवन्ति चतुष्पाद्वा अश्वं कपालैरेवैनमाप्नोति यावन्तोऽ
श्वान्तावन्त पुरोडाशा भवन्ति सर्वत एवैन मुञ्चति अथ य
पुन प्रतिग्रहीष्यन्त्यात्तस्य वारुणा नेमा स्यु सौर्यवारुणा नेमा ।
यद्धारणो वरुणादेवैन मुञ्चत्यथ यत्सौर्य स्वामेव देवतामुपग्राति
गृह्णात्यात्मनोऽहिंसायै' (मैत्रा० स० २ । ३ । ३) । चतु
ष्कपाल पुरोडाश एवाश्वहवि ।

७७४

२ 'रेजन्ते अग्ने पृथिवी मग्नेभ्य' अत्र 'अग्ने' इति पद
संबोधनम् । तथाऽपि केवत्मारुते हविषि नागैरुपयोग । तस्मा
दग्निदेवताऽत्र निपातवत् ।

३ तदेवागिपदम् । चातुर्मास्येषु वैश्वदेव पर्व । तत्र विश्वान्दे
नान्यजति (मन्त्रा० स० १ । १० । ६) । तत्र 'प्रचित्र०'
इति याज्या (आ० ब्रा० २ । १६) । अत्राप्यग्निपद
सार्थम् ।

५ 'इने अग्नि' 'त्विषीमन्नो' 'अग्ने याहि' 'प्रचित्रमर्व'
'ये अग्नेयो' 'आ वो र्यन्तू' (मैत्रा० स० ४ । १४ ।
११) । एता पदरूच 'आग्निमारुती पृथिव्यात्वेन वृषिकाम'

पङ्क्तिः

६ इति काम्ये पशौ विनियुज्यन्ते । अत्राग्निपद मर्थम् । ' त्विषी-
मन्तो० ' (ऋ० स० ६ । ६६ । १०) इत्यत्र ' जुहो
नाग्ने ' इत्याग्निपद नैपातिरमपि न निपातवदत्र । ' अग्ने
याहि ' (ऋ० स० ७ । ९ । ९) ' अत्र ब्रह्मकृद्गण सर-
स्वती अश्विर्ना आपो विश्वेदेवा नैपातिका । न मरुत । एषोऽत्र
देवतापदनिर्णय ।

८ ९ आग्निपदे ' तिस्रो देवी ' भारती द्युम्यानेत्यादि कथ निरुच्यम् ।
भारतीसरस्वतीडा एता देवता अग्ने भिक्षा । ' आ नो यज्ञ भारती'
इयमाग्नीऋत् (निर० ८ । १३) । अग्निरेव द्युम्याने भारती मय-
मस्थाने सरस्वती पृथिवीस्थान इडेत्यभिधीयत इति प्रतिसमा-
धान न प्रतिसमाधाननामयोग्यम् (१०—११) ।

१७ नराशसस्थाने किं तनूनपादाग्नी प्रयोज्या ।

१८ न्यायविद = तर्केण निर्णय कुर्वाणा मीमांसका ।

१९ समनुगस्यन्ते = समैरमत्येनानु तर्केण निश्चेप्यन्ति ।
' गमेरिद् परस्मैपदेषु ' (पा० ७ । २ । ९८) इत्ययमि-
डागम परस्मैपद एव भवति ।

अथ नवमोऽध्यायः ।

१० तेषामपि = द्रव्याणामपि ।

१४ लक्षण = यद्यत्पृथि-यायतन तदत्रान्तर्भाव्यम् । इद लक्षणमिति
ग्रहीतयम् । अथना । माभारणधर्म इति ।

१७ पुरुषान्तरनन्मा । पुम्पम्यानन्तर जन्म यस्य ।

१९-२० अश्वमेधो विशिष्ट र्थम् । तत्राश्वो मुग्धाङ्गम् ।

२ अश्वम्य म्नाम स्तुति । अश्वम्नेमम्येदं (मुक्तम्) अश्वम्नोर्मा-
यम् । ' अश्वम्नोर्माय एव ' इत्यनेन ' मा नो० ' इत्येव दुर्ग-
म्विहितपाठे द्वितीय खण्ड ।

४ ' अथो नोह्य्या ' इति खण्डो दुर्गंग न व्यास्यात

परं

पङ्क्तिः

७७७

४ वोह्लाऽथ सुग रथमिच्छति । उपमन्त्रिणो हमना हाम्यना-
रिका नर्मवाचमिच्छन्ति । शेष (पुम्प्रजनन) रोमण्वन्तौ
भेदौ (रोमशा योनिम्) इच्छति । मण्डूको वार्वारि इत्
(एव) इच्छति । तस्मान्दे इन्द्रो (सोम) इन्द्रार्थं परिख्व ।
याम्येन • वोह्ला । ' पट त्रि विधेय क्रियते ।

६-७ ' सुख क्त्वात्सुहित खेम्य ' (नि० ३ । १३) सुख =
क्ल्याणम् । कल्याण = पुण्यम् । सुख = सुहित भवति । सु
(सुहित) + ख = भ (भवति) । अथवा । सुख =
सु (सुहित्) + ख = गं (गम्यति) । ' गम्यति ' इ
त्ति गमे रूपम् ।

७ ' कल्याण कमनीय भवति ' (नि० १ । ३)

८ ' हसैता० मृच्छतीति ' कस्येद व्याख्यानम् । ' हसैता ' -
दुर्बोधम् ।

९ ' मा नो व्याख्यात ' कुत्र । ' मा न सम्य
दूदच ' अय मन्त्र (निर० ५ । २३ इत्यत्र) । ' मा
नोऽहिर्बुज्यो रिपे० ' अय व (निर० १० । ४९)
इत्यत्र व्याख्यायते । मा नो मित्र ० ' अय मन्त्र इहैव
व्याख्यायते नान्यत्र । ' मा नो ' इति तृतीयखण्डस्य
प्रारम्भ । अय खण्ड प्रसिद्ध इव भाति । नास्यात्र किमपि
प्रयोजनम् । ट ड पुस्तङ्गोरश्वो वोह्लेति महाराष्ट्रवैदिक
पाठ इति लिख्यते । किं त्वय खण्ड छत्त ट. पुस्तकेष्वपि विद्यते ।

१४ ' मा नस्त्व ' इत्यत्र • त्वम् ' इत्यनेन को निर्दिश्यते ।

२२ देवनातस्य = देवेभ्यो जातस्य ।

७७८

१ प्रजापतिर्द्वितीयामाहुतिमगावनुहोत् ।

२ विद्ये = सप्रामे । ' यज्ञे विद्ये ' इति किंकरणो व्यत्यास ।

४ परिग्या तिरस्करणे । मा तिरस्कुर्वन्तु । परिख्यान = निन्दा
(मायण) ।

५ आयु = वायु । वायुशब्दम्याद्यो वकारो लुप्त । वायु =
व + आयु । आयु = अयन ।

पङ्क्तिः

६ ऋभुक्षा ऋभौ = उरौ । विश्वं = नित्यम् (ट.) ।

८ ' राजेति च ' निरुक्तमूले ' राजेति वा ' (७७७ । १९) ।

१० शकुनिः = शक् + उ (उत्) + निः (नयतेः) । = शक् + उ (उत्) + निः (नदतेः) (१२) । = शक् + उ (उत्) + निः (तक्तेः) (१२) । = श(शं) + कुनिः (करः) (१३) । = शक्नोतीति (१९) । ' शकुनः शकुनिः शकुन्तः शकुन्तिका ' एते शब्दाः शक्धातोः । शक्यते भविष्यं ज्ञातुं येन । अथवा । शक्यते गगनं गन्तुं येन ।

१-२ वयसाममनोज्ञा वाचः श्रुत्वा कनिकद्रज्जनुपं प्रब्रुवाण इति सूक्ते जपेत् (आश्व० गृ० ३ । १० । ९) ।

३ नुतिः = विपारिणामः । अयं विपारिणामो भाष्ये (७७८ । २१) न विद्यते ।

४ ' जन्म ' (७७८ । २१) ' ईरयति ' (२२) ' कल्याण-मङ्गलः ' (२२-२३) ' मा च त्वा ' (२४) इत्यत्र ' च ' न व्याख्यातम् । ' ईरयति ' इत्यस्य स्थाने ' इरयति ' ' कल्याण ' इत्यस्य स्थाने ' प्रशस्त ' इति दुर्गम्बीकृतपाठौ स्याताम् ।

८-९ विश्व्या = सर्वतः । कुतोऽपि ।

९-१० शकुर्नानां नामानि तेषां ध्वन्यनुरोधेन ।

१४ अस्यैव = गिरतेरेव ।

१५-१८ म् + अङ्गलं = मङ्गलम् । ' अङ्गलमङ्गवन्मज्जयति पापक-मिति नैऋताः ' इत्येकं वाक्यम् (७७८ । २३-२४) ।

१६ मङ्गलं दधि-वसतादिभिः क्रियते । ' मङ्गलम् ' (ग. व. न. पाठः) = अङ्गलम् (पाठान्तरे २९) ।

पत्रं

पङ्क्तिः

७७९

१७ मङ्गल = म् (मज्जयति) + अङ्गल्म् (अङ्गवत्) । अङ्ग
वत्साङ्ग सत्पापत्र मज्जयति नाशयति । अय यास्वस्यार्थ ।

२० मामेतन्मङ्गल गच्छतु ।

२१ अर्थमभ्युत्थितम् = अर्थ साधयितुमुत्थितम् ।

२३-२४ अभिव्रवाशे = न्यवेत्तयत् ।

७८०

१० गृत्समदन (पाठान्तरे २७) = गृत्सान्मादयति ।

११ ' इति सा निगन्त्याख्याता ' (२) गृत्स इति मेधावि
नाम गृणाते स्तुतिर्मरण ' (३) ' मण्डो मदेर्वा मुदेर्वा '
(६) न व्याख्यातम् ।

१६ मण्डति मण्डते वा सर । अथवा । मण्डयति वर्षासमयम्
(इति वैयाकरणे) ।

१७ भक्तय = अलकरणरूपा रेपा ।

७८१

३ मौन त्रत चरितु शील येपा ते ।

६ लुप्तोपमो वाक्यार्थ । ' अपि बोपमार्थं स्यात् ' (७८०।१३-
२४) पर्जन्यप्रीता ' (२४) न व्याख्यातम् ।

७ उपाकृत्य = उपकरण वेदपठनार्थं मौञ्जीबन्धनाख्य सम्कार
कृत्वा । पवित्रे पाण्योयेपा ते ।

७-८ नियत काले वेदपठनस्य येपा ते ।

२९ इति सा निगन्त्याख्याता ' (१९) न व्याख्यातम् ।

७८२

७ प्रतिश्रितव = श्रितवे श्रितवे वर्तमानम् ।

२१-२२ प्रवेपा = देवने चलन्त । वृहत = म्यूला । प्रवाते जाता
(२३) वर्तमाना (२६) पुन पुनश्चाल्यमाना । अक्षा ।
एतानि सर्वाण्यभविशेषणानि ।

२२ महतो वृक्षम्य । ' प्रवेपिणो महतो विभेत्तम्य ' (११-१०) ।
इति भाष्यम् ।

२९ दुग ' विभीत्तम्य वा ' इति निरल्पेनार्थं उच्येति । य कोऽ

पङ्क्तिः

२९ पि वृक्षः स्याद्विभीदको वा । मूले वा नास्ति (११-१२) ।
शरणे = ऋणमोचनाय ।

१ 'आस्फुरकं = देवनम् । अयं शब्दः कोशेषु नोपलभ्यते ।
'आस्फारक' (पाठान्तरे २९) । निर्गतर्णे = अक्षदेवनेन धनं
लभ्यते । तेन चर्णमुक्तो भवति । कुलस्य कृते कृतमृगं पुत्रपौ-
त्रैर्देयं भवति । न तथा देवने कृतम् ।

२ 'अपार्णं वा' इति न दिक् रूपः । निर्ऋणम् = अपार्णम् ।
अपार्णं विभीदकवृक्षाय जलं नावश्यकम् ।

३ 'अपरता अस्मात्०' (७८२ । १३) इति मूलम् । दुर्ग-
पाठेऽस्मान्नास्ति ।

४-५ सोमस्य भक्षो यथा जागृविस्तथा विभीदकः (अक्षाः) ।

५ कोष्ठे भवं कोष्ठञ्च जाड्यम् ।

६-६ द्यूतकारशब्दं श्रुत्वा जागर्ति ।

७ मह्यमचच्छदत् = मा वारं वारमचच्छदद्वद्वचलोभयत् ।

१३ 'इषीका तूलिका स्मे' (अमरः २ । १० । ३३) ।
इषीका तृणकाण्डं वेतसकाण्डं वा । इषीकया तूलिकया सूक्ष्म-
दृशैस्तीक्ष्णतृणैः । विमुच्यते = त्यज्यते । एवं मुञ्जो मुञ्चते ।
मुञ्जादिषीकास्तृणशलाका निर्गच्छन्ति । एवं स इषीकाभिर्विमु-
च्यते त्यज्यते ।

१४ 'इष इच्छायाम्' (धा० ६ । ७०) । इष गतिर्हिंसाद-
र्शनेषु' (धा० १ । ६१२) ।

१५ इतरेषीका = विलीनसुवर्णपरीक्षणार्थमुपयुक्ता शलाका ।
ईषाशब्द इषीकातो भिन्नः ।

१६ 'विभेदनात्' (७८२ । १६) 'जागरणात्' (१६)
'प्रशंसत्वेनान्० वेदयन्ते' (१७-१८) न व्याख्या-
तम् । प्रथमया (१७) ऋष्या । पारिदूनः (१७) =
निर्विण्णः ।

पत्रं

पङ्क्तिः

७८३

१७ आवा सोमं हन्ति । तस्माद्धन्तेः । हकारस्य गकारः । हन् =
गन् । राव उपजनौ । ग् + रा + व + अन् = आवन् ।

७८४

६ अ + दरणीयाः (२५-२६) = विदारयितुमशक्याः ।

७ 'क्षिप्रकारिणः' (२) 'घुष्यतेः' (२) न व्याख्यातम् ।

७-१० आशवः क्षिप्रकारिणः (यास्कः १-२) । आशवः =
अश्वीथ (दुर्गः) । यदद्रयः पर्वताः साकमाशवो वाचं
वदन्ति तस्मात्तेभ्यो वाचं वदत हे ऋत्विजः । सोमिनश्च यूयमि-
न्द्राय श्लोकं घोषं भरथ ।

१४ 'नराशंसः' पाठान्तरे (२८) । निघण्टुषु 'नाराशंसः' ।

'कः पुनरेष नराशंसः' इत्यत्र 'नाराशंसः' इत्यवश्यम् ।

१६ मन्त्रः केवलं नरस्तुत्यर्थः ।

२०-२१ सामान्या स्तुतिर्नास्तीति सत्यम् । किंतु केचिद्राजान ऐकैकदये-
नैकैकशः स्तूयन्ते यथा भावयव्यः ।

२३ सर्वेषु पुस्तकेषु 'नराशंसस्य' । 'नाराशंसस्य' इत्यवश्यम् । तस्य
नाराशंसस्य मन्त्रस्यैषा ऋग्भवतीति यास्कस्यार्थः (४) ।

७८५

१२ बालः = बलवर्ती । बले वर्तते = बलिन्यायतो भवति ।

मातापितृभ्यां भर्तव्यो भवति । 'बलं भरं भवति' (नि० ३ ।

९) । 'बालो बलवर्ती० प्रतिषेधव्यवहितः' (३-९) 'मनस

ईषया' (९-६) 'राज्ञः' (६) न व्याख्यातम् । बा +

अलः । बा = अम्बा (अस्मै बालाय) अलं भवति । अ +

बलः । अ = अम्बा (अस्मै बालाय) बलं भवति ।

'बलभर्ती' (पाठान्तरे २२) = बलेन भर्तव्यः । अ = अवि-

द्यमानं बलं यस्य स अबलः = बालः । 'बाल' इत्यत्र

'ब ल' इति द्वे अक्षरे प्रतिषेधेनाकारेण व्यवहिते । यथा व +

अ + लः = बालः ।

१४ भावः = आर्जवम् ।

७८६

७ 'तन्' पदं व्यर्थम् ।

पङ्क्तिः

८ भावयव्यस्य स्तुतेर्लामः । तस्य निमित्तम् । पूर्वं प्रकृतो भावयव्यः ।
भावयव्येन स्तुतिर्लब्धा । तस्य किं निमित्तम् । यज्ञसंयोगः ।

९ स्तुतिमेतां प्रभरे । सहस्रसवैर्योगाद्भावयव्यो राजा स्तुतिं
लभते ।

११ सामान्यं युद्धोपकरणानाम् । स्तुतिर्न केवलं भावयव्यस्य ।

१४ स कस्मात्स्तुतिं लभत इत्युपोद्धातः ।

१५ नाराशंसमन्त्रे नराः स्तूयन्ते यथा भावयव्यः । राजानः केन
कारणेन स्तुतिं लभेरन् । यज्ञेन तेषां संयोगस्तेन ।

१७ उपक्रियन्ते = गृह्यन्ते ।

२३ सर्वावस्थातः = सर्वावस्थासु ।

२४ 'स्थाने स्थाने स्थानाधिपतिभागिनी सर्वा स्तुतिः' इत्यन्वयः ।
स्थानाधिपतीन्भजत इति ।

३ स्थिरति = स्थिरी भवति (योद्धा) । स्थिरः विपरीतः
रस्यिः रथः ।

४ 'रममाणो० रसतेर्वा' (७८६ । ४) न व्याख्यातम् । र =
रममाणः । यः = तिष्ठति । रपति शब्दं करोति रसति शब्दं
करोतीति रथः ।

१९ ततः = दृढाङ्गत्वात् ।

१७ अविह्रवा अनवस्त्राण्डिता अधिष्ठातारो यस्य । सु = शोभनाः
कल्याणा अविह्रवानवस्त्राण्डिताः । धीराः = अधिष्ठातारः ।

१८ प्रतीकारः = हिंसाप्रतिबन्धः ।

२० संस्तम्नुहि = दृढं कुरु । मूले 'संस्तम्भव' (११) ।

४ 'दुन्दुम्यतेर्वा स्याच्छब्दकर्मणः' (७८७ । १२) न व्याख्यातम् ।

९ निष्कुपितः = मुपिर उन्वातगर्भः ।

१४ भारद्वाजस्य = भरद्वाजपुत्रस्य गर्गस्य ।

१७ दुन्दुभिः शब्देन पुरुषा बहुषु म्यानेषु वर्तते ।

पत्रं

पक्षिः

७८८

१८ विष्टितं (वि + स्थितं) = स्थावरम् । जवत् = जङ्गमम् ।
‘ जगत् ’ इत्यस्य जगदेवार्थः । ‘ विष्टितं स्थावरं जङ्गमं च
यत् ’ इति यास्कः (१०) । ‘ बहुधा ’ (१९) न
व्याख्यातम् । बहुधा = बहुभिः प्रकारैः ।

७८९

११ ‘ बह्वीनां पितेति । इपुधिरभिधेयः । बह्वीनामिपूणां पिता पाल-
यिता । तेन हि ताः पाल्यन्ते । अस्येपुधेर्बहुः पुत्र इपुकलापः
पुत्रस्थानीयः । स हि तेनेपुकलापेन त्रायते । बहु वा हितं
तदर्थं कुर्वन्तीति । यश्चेपुधिः समना संग्रामानवगत्य ज्ञात्वा
च विश्वाकृणोति । शब्दानुकरणम् । स हि इपौ निष्क्रम्यमाणे
चिश्चेति शब्दं करोति । स इपुधिर्धानुष्केण पृष्ठे निनद्धो बद्धः
प्रसूतः अनुज्ञातश्च सन्संक्राः । संक्राशं दधतेऽस्मिन्योधा इति
संकीर्यन्ते वाऽस्मिन्योधा इति संक्राः । शत्रुसंकटं सर्वाः पृतनाश्च
स्फुद्ध (?) निनीय तमाः (?) संग्रामभक्तीः जयति । विवसातः
कारकाणि भवन्तीतीपुधेः कर्तृत्वमित्युवटभाष्ये’ (८०) ।

११-१२ ‘ इपुर्द्वयोः ’ (अमरः २ । ८ । ८७) । द्वयोः = स्त्रीपुं-
सयोः । इपवः कन्याः पुत्राश्च । एवमिपुधिर्बह्वीनां कन्यकानां
पिता बहवश्चास्य (इपुधेः) पुत्राः ।

१४ चिश्वाकृणोति = प्रस्मयते ।

१४-१९ ‘ अवाध्रियमाण. ’ इति छ. त. द. पाठः (२५) । ‘ अप-
ध्रियमाणः ’ इति ग. च. ज. पाठः (२६) । अवाध्रियमाणः =
अधोमुखो ध्रियमाणः । अयं पाठ समीचीनतरः । स्मयः =
आश्चर्यम् (प्रथमेऽर्थे) । हसनम् (द्वितीये) ।

१९ संकटान् = निविडान् ।

२० संपृक्तान् = संपर्केण स्थितान् ।

२०-२१ याः (पृतनाः) अभिलक्ष्य । इपव एव केवलं न त्वन्य-
दस्त्रम् ।

पङ्क्तिः

२१ पताकार्थं = शत्रुपताकाग्रहणाय । आच्छादनार्थं वा ।
' इति व्याख्यातम् ' (<) न व्याख्यातम् । व्याख्यातं =
स्पष्टम् ।

२२ ' निनद्धः ' (<) इत्यस्य स्थाने दुर्गवृत्तौ ' निबद्धः '
इति पाठः ।

२० १ ' गोधे तले ज्याघातवारणे ' (अमरः २ । < । ८४.) ।
कलापः = तूणीरः (अमरः ३ । ३ । १२) । कलापि-
भिरद्गुलित्राणार्थं गृहीतिं चर्मपट्टकम् । ' कलापिपट्टकम् '
(२४) अत्र ' पिः ' ह्रस्वो नतु दीर्घः ।

१२ ' भोगः० अहेश्च फणकाययोः ' (अमरः ३ । ३ । २३) ।
' अहिरैवेति । हस्तघ्नः स्तूयते त्रिष्टुभा । हस्ते स्थितो हन्ति
हस्तघ्नो घटकः (?) प्रकोष्ठादित्राणं वा योऽहिः सर्प इव भोगैः
शरीरावयवैर्बाहुं पर्येति पारिवेष्टयति । किंभूतः । ज्याया
हेतिमिपुं पारिबाधमानो बाणान्तरक्षन्स हस्तघ्नो विश्वानि सर्वाणि
वयुनानि प्रज्ञानानि विद्वान्प्रज्ञानन्परिदष्टकारी पुमान्शूरोऽह्नीचः
पुमांसमह्नीचं विश्वतः पारिपात्वित्युवटभाष्ये ' (ट०) ।

१५ ज्याया मौर्व्या वध आघातः ।

१६ ' सर्वाणि प्रज्ञानानि प्रज्ञानन्पुमान्पुरुमना भवति ' (<-९)
न व्याख्यातम् । सर्वज्ञः पुरुषः पुमान्पुरुमना उदारचित्तो
भवति ।

१७-१८ अमनस्कां (स्वपतौ यस्या मनो नास्ति) स्त्रियमपेक्ष्य पुरुषे
तत्पतौ बहुतरमुदारं मनः । उदारमनाः खलु स पतिर्योऽमन-
स्कामपि भार्या न त्यजति । इदं पुरुमना इति निर्वचने । स्त्रिय-
मपेक्ष्येत्यादि न कस्यचिन्मूलस्यार्थः ।

१८ ' पुंसं अभिवर्धने ' (धा० १० । १०४) । यः पुंसते पौरुषं
कुरुते स पुमान् ।

१८-१९ यस्य पौरुषस्य पौंस्यं (मलं) इति नाम । यत्पौरुषं पौंस्य-

पत्रं

परुक्तिः

७९०

१८-१९ मित्याभिधीयते । पुमांसम् । च. पुस्तके ' पुरुमांसम् ' (२७) ।
पुरुमांसं = पीनम् ।

२१ ' अभ्यश्नुवते कर्माणि ' (निरु० ३ । ९) इत्यभिधानतः ।
' अद्गुल्यः ' इत्याभिधेयतः । अ ' अभीशवः ' = रज्ज्वो
रश्मयः ।

७९१

१२ उपविष्टो नयति । अत्र ' क् ' पदं प्राग्वर्तमानं ' नयति '
पदमपेक्ष्यते ।

१६ निघण्टुषु ' अभाशवः ' इत्यस्य रज्ज्वर्थो न दीयते ।

१६-१७ मनोऽनुयच्छन्ति = अश्वस्य मनसो नियन्त्रणं कुर्वन्ति ।

१७ पनायत हे द्रष्टारः । विपरिणामोऽनवश्यः ।

२० ' धन्वन्त्यस्मादिपवः ' (६) न व्याख्यातम् ।

७९२

९ ' समे इमांशे रणेऽप्याजिः ' (अमरः ३ । ३ । ३२) ।
आजि रणं जयेम । 'आजेवनम् अजेवनम् आजवनम् ' (२६)
इत्येतेषां कोऽर्थः ।

१३ अपकामं शत्रोः । शत्रोः कामं धनुरपकृणोतु नाशयतु ।

१५ प्रादिशः = प्रकृष्टा मुख्या दिशः ।

२० ' ज्या वयोहानौ ' (धा० ९ । २७) । जिनाति = वृद्धो
भवति न जयति । पुनः पुनः कर्षणेन ज्या कर्षिता घृष्टा दीर्णा
भवति । ' प्रज्यावयतीपूनिति वा ' (४) न व्याख्यातम् ।

२२ तस्या ज्यायाः । तस्य (२८) धनुर्गुणस्य । ' तस्याः तस्य '
इति द्वौ पाठौ ।

७९३

११ कर्णं प्रत्यागनीगन्ति ।

१५ आत्मनो मध्यामेषुं निनाय ।

१७ आत्मानं प्रत्याकृष्यमाणा ।

२० शत्रूणामन्तं यन्ती सर्वाञ्छत्रून्नाशयन्ती ।

७९४

११ सुपर्णं = गार्ध्रं = गृध्रस्येदम् । सुपर्णं सौपर्णं गार्ध्रं पक्षं य-
इपुर्वस्ते पारिवन्ते । वाजान्पक्षानभिधेत्य (३-) ऋचि सुपर्णं

पङ्क्तिः

११ मेकवचनमेव । इपुशब्दोऽत्र स्त्रीलिङ्गः (१) । 'पक्षो वाजः' (अमरः २ । ८ । ८७) । 'वाजा इपवः' इति दुर्ग-
कृतोऽर्थः प्रामादिकः । प्रथमार्धस्य विवरणं च । दुर्गमत इपुशब्दः
पुंलिङ्ग एव । 'सुपर्ण वस्ते । द्वाभ्यां त्रिष्टुबनुष्टुभ्यामिष्टुं
स्तौति । या इपुः सुपर्ण वस्ते परिधत्ते । सुपर्णः पक्षी । तस्य
विकारः सौपर्णमिति भवति । तत्र कृत्स्नवन्निगमः । पक्षमभि-
प्रेत्यास्या इषोर्दृगो दन्तः फलम् । मृगो मृगयते । स हि
वेध्यं मृगयते । या च गोभिर्गोविकारैः श्लेष्मैः स्नायुभिः
संनद्धा प्रसूता धनुष्मता प्रचोदिता सती पतति शत्रुबलं प्रति ।
या इपुर्थत्र नराः संद्रवन्ति विद्रवन्ति च तवास्मभ्यमिपवः ।
इपुरिति संततिः । शर्म शरणं यंसन् यच्छन्तु ददतु । यंसानि-
ति छेदो रूपम् । उवटभाष्यम्' (८०) ।

११-१२ अत्र पशुपाक्षिनामानि तदवयवानां स्थाने प्रयुज्यन्ते । सुपर्णः
= गृध्रो गरुत्मान् । सुपर्णं सौपर्णं गार्ध्रं पक्षम् । मृगः =
हस्ती । मृगः = मार्गः = हस्तिदन्तः । गोभिः = गवामव-
यवैः ।

१३ फलं = बाणाम् । अमार्गेषु तु = यदि फलानि न मृगाव-
यवमयानि । 'न्यष ताडने' (४/७९) इत्यस्माद्व्यधनम् ।

१३-१४ वेद्व्यं भागं मृगयतीति मृगो दन्तः ।

१५ अथ स्नाव च श्लेष्मा च 'गोभिः संनद्धा पतति प्रसूता'
(निरु० २ । ९) ।

१६ अश्वमनति चोदयतीत्यश्वाननी ।

२२-२३ यस्मात्तर्माणोऽपकृष्टा भवति तस्मादण्वी ।

१३ 'आजह्वन्ति । कशास्तुतिः । अनुष्टुप् । एषामश्वानां सानु
सानूनि समुच्छ्रितानि मांसोपचितान्यङ्गानि आजह्वन्ति
आघ्नन्ति अश्ववाराः । नषनान् नषनानि षोषनिघ्नते उपनिघ्नन्ति ।
हे अधाननि अधानामश्वाननि । अननिः क्षेपणी च । क्षेपणि

पत्रं

७९९

पङ्क्तिः

१३ तस्याः संबोधनम् । हे अश्वानि हे कशे प्रचेतसः परिदृष्टकारिणः प्रज्ञान् अश्वान् समत्सु संग्रामेषु चोदय प्रेरय । जया-येति शेषः । उवटभाष्ये ' (ट.) । आद्योऽर्धर्चः परोक्षः । उत्तरः प्रत्यक्षः । जिघ्रमाना इति धनघातोः शानचि रूपम् । शत्रन्त-मृक्संहितायां नोपलभ्यते । ' एको वृत्रा चरसि जिघ्रमानः ' (ऋ० सं० ३ । ३० । ४) ।

१४ ' आघ्नति ' (६) ' उपघ्नति ' (७) दुर्गेण न पठितम् । तथा ' जङ्घन्यतेः ' (७९६ । ३) । सायणस्वीकृत-निरुक्तपाठे ' आघ्नन्ति उपघ्नन्ति ' । यया त्वया सादिन अश्वारोहा वा एषामश्वानां सानूनि आघ्नन्ति जघनांश्चोपघ्नन्ति सा त्वं कशे इत्यादि. सायणकृतोऽर्थः । किंतु ' जङ्घन्ति ' इदं न बहुवचनम् । हनो यङ्लुकि ' जङ्घति ' इति बहुवचनान्तं रूपं स्यात् । ऋक्संहिताया जिघ्रसे जिघ्रते जिघ्रन्ते जिघ्रमान इति रूपाणि वर्तन्ते । तानि हनसदृशस्य धनघातो रूपाणि । तेन जिघ्रते इति उत्तमपुरुषैकवचनम् । ' अभीमिन्द्रो०० जिघ्रते ' (ऋ० सं० १ । ९४ । १०) । ' इन्द्रो वृत्रस्य सानु वज्रेणावजिघ्रते ' (ऋ० सं० १।८० । ९) । ' एको वृत्राणि जिघ्रसे । इन्द्रो०० ' (ऋ० सं० ८ । १९ । ३) । ' उजिघ्रन्ते० पर्वतान्० मरुतः ' (ऋ० सं० १।६४ । ११) । एवं ' जिघ्रते ' एकवचनमेव । ' जङ्घन्ति ' तथैव । कशा एषां सानु आजङ्घन्ति जघनांश्च उपजिघ्रते । यास्कसायणदुर्गकृतोऽर्थः प्रामादिकः ।

१५ सरणानि = बलानि ।

१७ रथ्या = रथयुक्ता अश्वाः । एते रथस्य पुरस्ताद्घर्तन्ते । एषां पश्चात्पृष्ठघ्नाः । अभिघ्नन्ति (च. पाठः ३०) = अभि-हन्ति + अभिघ्नन्ति ।

७९६

४ ' उरुहम् ' इति ग. च. ज. पाठः (२३) प्रामादिको यस्मात्

पङ्क्तिः

- ४ ' करोतेरुत्तरपदम् ' (७) इत्युच्यते । उरु कमत्रं यस्मात्तदु-
कम् । उरु = बहुचमम् । करं = करोति (६) ।
- ६ ऊर्जः = अन्नस्य । ऊर्जरम् = ऊर्जरम् = ऊर्क् + करम् ।
- ९ ' उरु मे करादिति तस्मादुरुकरमुस्करं ह वै तदुलूखलमित्याच-
क्षते परोक्षम् ' (शत० ब्रा० ७ । ९ । १ । २२) ।
यास्कगृहीतः ऋषिः कुत्रत्यः । दुर्गस्वीकृतपाठो यास्कपाठाद्भि-
न्नः । तथा शतपथपाठादपि केनचिदंशेन ।
- १३ ' उरुकरम् ' इत्यत्र गुणस्य (= अर्थस्य) अभिधानं शब्द-
स्थाक्षराणां व्यत्यासेन न व्यवहितं परोक्षीकृतम् ।
- १४ ' उलूखलम् ' इत्यत्राक्षराणां व्यत्यासेन गुणोऽर्थो व्यवहितो
न प्रत्यक्षः ।
- १ (उलूखलं) ' वैष्णव्या सादयति वैष्णवं हुलूखलं भवति '
(मैत्रा० सं० ३ । २ । ७) ।
- १-२ ' यच्चिद्धि त्वं गृहे गृहे उलूखलक युज्यसे । इह द्युमत्तमं वद्
जयतामिव दुन्दुभिः ' इति दक्षिणरथा श्रुत्यादुलूखलं मुसलं
प्रयुनक्ति (सर्या० श्रौ० ११ । १९) ।
- २ ' तमेताभिश्चतस्रभिरभिसुपाव यच्चिद्धि त्वं गृहे गृहे इति '
(ऐ० ब्रा० ३३ । ९) ।
- २-३ प्रादेशमात्रमुलूखलं चयने उपधीयतेऽनेन मन्त्रेणाभिमन्त्र्य क-
स्मिन्श्रौतसूत्र एतदुपलभ्येत ।
- ९ बहून्यन्नानि धान्यान्युलूखले कुट्यन्ते । स तेषां संस्कारः ।
तस्मिन्संस्कार उलूखलस्य गम्भीरो ध्वनिः ।
- ७ गम्भीरस्वनो दुन्दुभिर्जयस्य पूर्वरूपं चिह्नम् ।
- १९ वृषभः । भं + वृषा = प्रनां वर्षति । वृष = वृष = गृहति ।
भम् = अति । ' वृह उद्यमेने ' (घा० ६ । ६६) ।
वृह इत्यन्वे । अतिवृहति = अतिद्यमेनोद्यच्छति । विम् ।

पत्रं

७९७

पङ्क्तिः

१९ रेतः । कुत्र वडवायोनौ । तस्मात्सर्वो वृषकर्मा (वृषणकर्मव
कर्म यस्य सः) वृषभः । कस्मात् । वर्षणात् । इदं मूलं
दुर्वोधम् । ' वृषकर्मा वृषभः ' इत्येव सुवचम् [' अतिवृहति
रेत इति वा ' अस्य ' तद्वृषकर्मा०० ' इत्यादिना कः
संबन्धः । अति + वृहति (महत्यां योनौ) रेतः यस्य सः ।
वृह = वृष । भे = रेतः । वृषभः = अश्वो वृषकर्मणाऽ-
श्वो वृषभः । तन्नैव वृषकर्मणा नृगौरपि वृषभः । दुर्गमते वृषः =
अश्वः । वृषभः = नृगौः (२९) ।

१८-१९ अश्वस्य वर्षकर्म कीदृशम् । रेतोवर्षरूपम् ।

१९ युक्त उद्यक्तो गोयोनौ रेतः सेक्तुम् । वृषभ इति शब्दो ननु
वृषः । दुर्गमते ' वृषः कस्मात् ' इति प्रश्नः । अन्यथा भकार
उपजनः कथं स्यान्नृगोरथे । अश्वो वृषा = अश्ववृषा । ' वृष-
णात् ' इति क. ख. ग. च. ज. पाठः । ' वर्षणात् ' इति
पाठान्तरम् (२८) । मूले इन्द्रोऽग्निर्वा वृषभः । कस्मात् ।
यस्मात्तौ प्रजा प्रजावृद्धय आवश्यकं जलं वर्षतः ।

७९८

११ व्याख्यातं (३) = स्पष्टम् ।

१२ मन्त्रस्यैकवाक्यतया व्याख्या कर्तव्या ।

१४ आग्निः = स्वर्गया पलायनं तदर्थं भूमिर्वा । ' आजयनस्याऽऽ-
जवनम्य वेति वा ' (४) ' भवतिरत्तिकर्मा ' (९)
' प्रवनें सप्रामनाम प्रकीर्णान्धभिन्वनानि भवन्ति ' (७)
न व्याख्यातम् । आग्निराजयन । आ + जि । मर्यादी-
कृताया तस्या भूमौ जवनं जघो वेग इष्टो जयार्थम् । दुर्गकृतं
विवरणं यास्ककृताद्विवरणाद्विशम् ।

१९ ' युक्त्वा रयन्त युक्त्वा रयन्त ' इति च. पाठः (२६) ।
' रयन्त ' किमिदं रूपम् । परस्मैपदे ' रयत ' । किं ' रय
गतां ' आत्मनेपदम् । ' रयन्वम् ' इति शुद्धं रूपम् । हे
जना युक्ता अवाहिता एनं प्रति रयन्वं गच्छत इत्यारदन्त
उपपन्ति ।

पङ्क्तिः

- १५-१६ न्यङ्गन्त्यन्तुपयन्त इति ऋक् । ' न्यङ्गन्त्यन्त उपयन्ति ' इति दुर्गङ्गतो विपारिणाम विमर्थ । तथैव ' अमेहयन् ' इत्यस्य ' अमेहयन्त ' ' मेहयन्त ' वा (२७) । ' निङ्गन्त्यन्त ' इत्यवश्यम् । अकार विमर्थ ।
- १६ ' मेहयन्त ' पाठान्तरम् । ' अमेहयन्त ' अत्राकारोऽनवश्य ।
- १७ भविष्यति । ' भाविष्यति ' इति ग च, ज पाठो दुवोध (२८) । ' धाविष्यति ' इति पाठ स्यात् । मूत्रफरणानन्तर लघु सुत्वेन च धाविष्यति । ' भविष्यति ' पाठे न किमपि स्वारम्यम् ।
- १८ गावो विद्यन्ते येषां ते गोमिन । सुभगम् । ' सुतगम् ' इति ग च ज पाठो दुवोध (२८) ।
- १९ तद्वा सुभग वा सहस्रम् । 'सूर्भवा वृषभा ' (ऋ० स० १० । ९४ । ३) सूर्भवा यवसारवादिन ।
- २१ ' बाह्वि ' शब्द कोशेषु नोपलभ्यते । बाहिना = गवा बलेन नयनमित्यर्थ स्यात् ।
- २ मूल सवेषु पुस्तकेषु ' द्रुमयो ' (७९८ । ७) न ' द्रुमय ' । ' वृषभ च ' (७९८ । ८) ' स्रामे ल्यवहृत्य ' (८) न व्याख्यातम् । न्यवहृत्य = शुद्धव्यापार कृत्वा ।
- २१ अवसित आजौ सरण यम्य स । ' अवसितानिसरण मुद्गलम् ' इत्यम्य त्रेनान्वय । उथवा । अवसित आजौ सरण यन्मि न्कर्मणि यथा म्यात्तथा । एव ' नितायाम् ' इत्यम्य क्रिया विशेषण म्यात् । अवसितानिसरण नितायाम् । ' निताया० पविद्ध मुद्गरम् ' इदं प्रसितमिव भाति ।
- २ ' आद्यन्ते ' इति पाठान्तरम् (२६) । जोर्ष्य । ' आन्यन्तोऽपि काष्ठोच्यते ' (निम्० २ । १६) ।
- ३ अपविद्ध = त्यक्त । उपदिशन् = दर्शयन् । अवसितानि सरणमत एवाऽऽज्यन्त अपविद्ध मुद्गरमुपदिशन् । ' अवसित०

पत्रं

८००

पङ्क्तिः

३ मुद्गर ' (७९९ । २१) इदमस्थाने प्रमादाह्नितम् ।
 'स' (२) इति पठे सति ' असौ ' इत्यस्य किं प्रयोजनम् ।
 'असौ (राजा) अज्ञ इति तम् ' मूलपाठ स्यात् । अथवा ।
 ' सावज्ञम् ' (अवज्ञया) इति पाठ स्यात् । तस्मिन्नाज्यन्ते ।
 तस्मिन्पद निरर्थकम् । अथवा । तस्मिन्नाज्यन्त आजौ ।

४ तस्मै प्रत्याचक्षे = तस्य प्रत्याख्यान निर्भत्सनमकरोत् ।

५ ' द्रुघण ' अत्र कश्चित्पशुर्द्रुघणतुल्यो बलेन । न मुद्गरो
 यथा दुर्गमते ।

‘ मुद्गलस्य हृता गावश्चौरैस्त्यक्त्वा जरद्ववम् ।

स शिष्ट शकटे कृत्वा गत्त्वैक ऋजुराहवम् ॥

द्रुघण युयुजेऽन्यत्र चौरमार्गानुसारक ।

द्रुघण चाग्रत क्षिप्त्वा चोरेभ्यो जगृहे स्वगा ' (सायणभाष्ये) ।

‘ आज्ञावनेन भार्म्यश्च इन्द्रासोमौ तु मुद्गल ।

अजयद्वृषभ युक्त्वा ऐन्द्र च द्रुघण रथे ॥

युद्धचन्सख्ये जय प्रेप्सुरैन्द्रोऽप्रतिरथो जगौ ' (बृहद्दे० ८ ।

१२--१३) । आजेरन्त । अन्तस्य को मध्य । 'आज्यन्त =

आजि ' इत्यर्थे भवेत् ।

७ पृतनाना शत्रुसेनानामजनात्पराचोटनात् । ' पृतनाना जय

नात् ' इति समीचीना व्युत्पत्ति ।

८ ऋक्शाखाया पृतना = शत्रुसेना । पृतना जिगाय । पृतना

जयो यत्र तत्र स्तूयते । पृतनाज्य = शत्रुजय । पृतनाशब्दो

न मनुष्यवाची ।

१० उत्तरपदविषय एव विफल्य । ते = मनुष्या । दुर्गविवरण

प्रामादिकम् । मुद्ग + ल = मुद्गवान् ।

१४ मदन गिलति । तस्मान्मदनादपि मुन्दरतर ।

८०१

१२ ' तवतेर्वृद्धिर्मण ' (१) दुर्गेण विवरणार्थं न पठितम् ।

' वा ' पठ (२४) विमर्थम् । ' तविषी ' पठ (निरु०

२ । २४) इत्यत्र किं न व्युत्पादितम् । विमर्थमत्र ।

पङ्क्तिः

- १० परुष्णि आ इति पटपाठ । यास्कमतेऽपि (८०१ । १८) ।
दुर्गमते ' परुष्ण्या ' इत्येक पदम् । ' आसेवध्वम् ' इत्यत्र
' आ ' उपसर्गो दुर्गमते कुत आगत ।
- ११ दुर्गमते ' आर्जीकीया ' एव ' मरुद्वृधा ' । किंतु ते भिन्ने ।
हे मरुद्वृधे असिक्तिया सह । हे आर्जीकीये वितस्तया सुयो-
मया च सह । यास्ककृतोऽर्थ समीचीन (८०१ । १९) ।
- १६ प्रवियुत = प्रकपेण मिन्नम् । कृष्णजलत्वादन्याभ्यो भिन्ना यमुना ।
अत्र यकारास्तित्वात् ' यु मिश्रणे ' (धा० २१७) इति धातु ।
स प्रपूर्वं म्यात्प्रविपूर्वो वा । गङ्गाद्याभिर्नदीभिर्युता भवति ।
अथवा । कृष्णजलत्वादन्याभ्यो वियुता भवति । ' मुना '
इत्यक्षरद्वयस्य कोऽर्थ का च व्युत्पत्ति । गच्छत्यर्थ कथ
ताभ्यामुद्भाव्यते । ' प्रयुवती गच्छतीति वा ' (८०१ । २१)
इत्यत्र ' वा ' ' ऋजीकप्रभवा वा ' (३) इत्यत्र ' वा '
दुर्गेण न पठित (८०३ । १२) ।
- २१ ' यद्भार्गवो होता भवति श्रायन्तीय ब्रह्मसामै सारस्वतीरापरत-
देवेन्द्रिय वीर्यं तेज आप्नोति वाचा वा एतमभिपिञ्चन्ति यम-
भिपिञ्चन्ति वाक्सरस्वती सारस्वतीरापो यत्सारस्वतीभि सूयते
यावत्येव वाक्त्या सूयते ' (मैत्रा० स० ४ । ३ । ९) ।
सरस्वत्या अद्भिरभिषेकेण राजेन्द्रिय वीर्यं तेज आप्नोति ।
अर्थवाद = इय सरस्वत्या अपा स्तुति । स्तुत्यर्थभेदेय कथा ।
- २३ ' सरस्वती तृतीयम् ' इति मैत्रायणीसहितापाठ । तृतीय
सरस्वती प्राविशत् । स एव शुद्ध पाठ ।
- २४ शु + द्राविणी । अत्र ' तु ' व्यर्थम् । अथवा । शु = आशु ।
तु = तुला । द्री = द्राविणी ।
- २ कुटिलानि = कुटिला वना गतय । ' पर्ववती भाम्बती कुटिल० '
इति महाराष्ट्रीयपाठ (८०१ । ३०) । नाथ दुर्गसमत इति
तेनापठनाद्भाति ।

पत्रं
८०३

पङ्क्तिः

- ६ यद्यपि सर्वा नद्यो मरुदृघास्तथाऽप्येकैः मरुदृधेत्यभिधीयते ।
दुर्गमते ' मरुदृधे ' इति सर्वासा विशेषणम् ।
- ८ वितस्ता विदग्धा इति पठे । अयना । वितस्ताऽविदग्धा इति ।
' तमु उपक्षये ' (धा० ४ । १०६) । वि + तस्ता =
विक्षीणा विदग्धा । ग्रीष्मे साऽतिक्षीणा भवेत् । अविदग्धा
इति पठेऽन्तर कुत्रत्य । वितस्तपा सदानीरा इत्यत्र किं
प्रमाणम् । याम्बकारे ' तमु वृद्धौ ' स्यात् । वि + तस्ता =
विवृद्धा । महती दूरे अस्या कूले । विस्तीर्णय नदी ।
- ९ विदग्धो माथवोऽग्निं वैश्वानर मुखे वभार । अग्निर्मुखान्निष्पद्ये
तेति भीत्या पुन पुन पृच्छच्चमानोऽपि न किञ्चिदुवाच । ' त
त्वा वृत्तस्त्वमीमहे ' इत्युगभागश्रवणादग्निवैश्वानरो मुखादुज्ज
ज्वाल । त न शशाङ्क धारयितुम् । सोऽस्य मुखान्निष्पेदे इमा
पृथिवीं च प्राप । मरुस्वतीमारभ्य प्राङ्द्दहन्नभीयाय । स
इमा सर्वा नदीरतिद्वद्वाह नतु सदानीराम् । ब्राह्मणास्ता न
तरन्त्यनतिदग्धाऽग्निना वैश्वानररेणेति (शत० ब्रा० १ । ४ ।
३ । १०-१४) ।
- १० महाकूला महती दूरे कूले यस्या सा । महाकुला (२९)
महती चामो आकुला च । ' महाकूला ' इति समीचीन पाठ ।
- १२ तद्धितेन = तद्धितवृत्त्या । ' ऋजूःप्रभवा ' इति ड. घ. ठ
ड. पाठ । ' ऋजूः ' इति थ पाठ (८०२ । २८) ।
वृत्तौ सर्वेषु पुस्तकेषु ' ऋजीःप्रभवा ' ।
- १४ ' विप्राणनाद्या ' इड ' विप्राशनाद्या ' इत्यम्यान्तर मूले
(८२ । ४) । दुर्गवृत्तौ ' उरनिरा ' इत्यम्यान्तर
पठ्यते (८०३ । १८) ।
- १८ उरनिरा = उरमापि रोग नीरयति । उरनयेति दुर्ग ।
- १९ शोभना मोमा यस्याम्तीरे सा ।
- २१ म्यन्ते = गच्छति ।

पशुक्तिः

- ७ आप आपयिष्य इति दुर्गस्य न यास्कस्य । तदर्थमेव ' याः ता ' इति दुर्गेकृतोऽन्वयः (८) ।
- १० ' भोजनाय च ' चपटं किमर्थम् ।
- ११-१८ ' एता रोगं धयन्ति ' इति कर्तारि कारके । ' रुग्णा एना धयन्ति ' इति कर्मणि । ' ओषं धयन्ति ' इति छ. त. द. पाठः (२३) । ' ओषधयन्ति ' इति ग. च. ज. पाठे (२६) अनुस्वारः प्रमादाद्भ्रूलितः स्यात् । ओषं दाहं धयन्ति । ' उपति ' इति ग. च. ज. पाठ (२७) इदं ग्रामादिकम् । ओषं दोषं धयन्ति । अत्र दकारप्रक्षेपः ।
- ८-१० निरुक्तमूले ऋक्पाठो न यजुःपाठः । यजुःशाखासु ' या ओषधयः प्रथमजाः ' इति पाठः । ' मनै ' इत्यस्य स्थाने ' मन्वे ' इति च । यजुःशाखीया ऋगग्निचयने विनियुज्यते । ऋक्शाखीया यजमानस्य उवराद्युपतापशान्त्यर्थम् (आश्र० श्रौ० ६ । ९) ।
- १४ जीवनं हेतु प्रयोजनमस्य तज्जीवनहेतु (अन्नम्) । अन्नाभावे स्थितिर्जीवनं नास्तीत्यस्मात्कारणात् । देवानां जन्माऽऽपक्षिकमन्नःवलम्बित्वात् ।
- २१ धामशब्दस्य त्रयोऽर्थाः ।
- २३ ' सप्तशतं पुरुषस्य मर्मणाम् ' (निरु० १४ । ६) । ' सप्तोत्तरं मर्मशतम् ' (गर्भोपनिषत्) ।
- १८ पराचीव नश्यसि = अरण्ये प्रवसते जनायारण्यमपसरतीति भाति । तेन मनसि भीरुत्पद्यते ।
- १९ यथा जना ग्रामवाटं पृच्छन्ति तथा ।
- २० भीरिव = भीसदृशो मनोविकारः । विन्दती ३ (९) । प्लुतः प्रश्ने ।
- १ पारिमधुरं पर्याप्तम् । अत्र पारि. सर्वतोभावे नेपथ्यं ।
- ६ आशेयमन्याधिष्ठितं सर्वं वस्तुजातं प्रकाशम् । श्रद्धया सर्वं प्रकाशं न किञ्चिदज्ञेयम् । एवं श्रद्धा = अग्निः ।

पङ्क्तिः

१४ शुनो वायुर्मध्यमस्थानीयः । सीर आदित्यो द्युस्थानीयः । यदि द्वंद्वसामान्यं मित्रावरुणादीना समाम्नानेऽहेतुस्तर्हि शुनासीरस-
माम्नाने तत्कथं हेतुर्भवेत् ।

१५ तेनेमां पृथिवीमुपासिञ्चतम् । एवं वाय्वादित्यौ पृथिवीं सेवेते
तस्मात्तौ पृथिव्यर्थौ । पृथिवीसंमोगायोपयुक्तौ । 'पृथिव्या
वाय्वादित्याभ्यां संमोगः' (निरु० ७ । ९) ।

१६-१७ 'उलूखलमुसले हविर्धानि द्यावापृथिवी' अयं क्रम । किंतु
द्यावापृथिव्यौ देवतात्वात्प्रथमं समाम्नातव्ये ।

१९ अवचनम् = अहेतुः । एता देवना अत एव प्रथमं समाम्ना-
तव्या इति न वक्तव्यम् । नायं समर्थो हेतुः ।

२० निर्गत उपचारो लक्षणावृत्तिर्गौणीवृत्तिर्यस्याम् । उलूखलमुस-
लयोः पृथिव्यायतनामिति मुख्या प्रसिद्धिर्न गौणी । इयं प्रसिद्धिः
प्रचुरा बहुला ।

७ संभक्ततमे = संभक्तृतमे । एते अन्न संस्करुतः कण्डनेन ।
तत्संस्करणं मक्षणमिव ।

२ 'आ वामुपस्थमद्बुहेति प्राचीनवशं हविर्धानं मिनोति' (मान०
श्रौ० २ । २ । २ । २६) । 'आ वामुपस्थमद्बुहेति य
एव देवा यज्ञियास्तान् हविर्धाना आसादयति' (मैत्रा० सं०
१ । ८ । ७) । 'अनूच्यमानामु वै सामिधेनीषु हविरासाद-
यन्ति । तस्मात्प्रवर्त्यमानयोर्होताऽन्वाह' (मैत्रा० सं०
३ । ८ । ७) ।

४-५ 'अद्रोग्धव्ये इति वा' (८ । ३ । १७) । अत्र 'अद्रोग्ध-
व्या देवाः' इत्यवश्यम् । तदनन्तरम् 'अद्रोग्धव्ये इति वा'
समीचीनं स्यात् । 'इति वा' दुर्गन्धीकृतपाठे नाऽऽसीत् ।

७ 'पृथिवी व्याख्याता' (निरु० १ । १४) । 'चौः' न
कुत्रापि व्याख्याता । 'द्यावापृथिवी' इति द्वंद्वमपि न
कुत्रापि व्याख्यातम् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

८०८

२१ ' प्रधानाङ्गे ' (११) न पठितम् ।

८०९

१ शिरः श्रद्धारूपम् ।

१३-१४ ' भौममेककपालं यस्य हिरण्यं नश्येद्यो वा हिरण्यं विन्देत् ।
अग्निर्वा अग्ने हिरण्यमभिन्दत् । अस्यां धै स तद्विन्दत् ' (मैत्रा० सं० २ । २ । ७) । ' कण्टकः कन्तपो वा कृन्त-
तेर्वा ' (८-९) न व्याख्यातम् । ' स्याद्भक्तिकर्मणः ' (९)
न पठितम् ।

८१०

१३ ' प्रज्ञानानि ' (७) न व्याख्यातम् ।

१८ शोकैः = ज्वालाभिर्द्रोहैः । ' शुच ज्वलने ' वेदे ।

८११

६ ' इति सा निगदव्याख्याता ' न व्याख्यातम् (२) ।

८ असाधारण्येन = न सर्वाः किंतु विशिष्टा देवताः ।

८-११ ' इन्द्राणी च० मध्यमा ' इति प्रतिपक्षः । ' नैतदुपपद्यते '
(११—१३) । इति दुर्गकृतं समर्थनम् । नेदं समीचीनं
समर्थनं यस्माद्ब्र तिस्रो देवता आहूयन्ते ।

११ मध्यमा = इन्द्राणी । इदमपि न समीचीनं समर्थनं यस्माद्-
ग्राह्या एतदुदाहरणं भाष्यकारमतेन ।

८१२

१ अश्वादय एतस्मिन्नेव खण्डे समाम्नाता । अश्वादिः पूर्वो वर्गः ।

४ द्वित्वे नियमार्थं = द्विवचनयुक्ता ये शब्दास्ते अष्टावेवेति
नियमार्थम् ।

७-८ मित्रावरुणावशीषोमाविन्द्राग्नी इत्यन्यान्यपि द्वंद्वानि सन्ति ।
तान्यत्र किं न समाम्नातानि ।

१० केवलयोः = एकैरयोः । अस्मात्प्रकरणादन्यत्रापि ।

१३ उपसः कालमध्ये समाम्नातम् । उप.प्रभृतीनामुपसा सह
समाम्नातं यस्मात्तस्मात्तेषां प्राय एक एव कालः । ' उपसः
कालमध्ये ' इदमपूर्णं वाक्यम् । नायं मूलपाठो भवेत् ।

१३-१४ पृथिवीस्थानशुम्भानदेवतानामत्र समाम्नातानेन महान्संकरः स्यात् ।

पङ्क्तिः

- १४ 'घावाष्टयिव्याविति वा' (३-४) 'अहोरात्रे इति वा' (९) अत्र प्रथमम् 'इति वा' द्वितीयम् 'इति' च न पठितम् ।
- १० यानि द्वेषासि घ्नन्ति तान्यस्माकमप्रियाण्यधानि । घ्नन्तीत्यधानि । 'हन्ति' पाठान्तरम् (२१) । ययोरन्याऽस्माकं द्वेषास्यधानि हन्ति । यान्यप्रियाण्यस्माकं तानि युयवत् । 'घ्नन्ति' पाठः साधुः । द्वेषास्यधानि कस्मात् । यस्मात्तानि घ्नन्ति ।
- ११ 'युयवत्' इति छ. त. द. पाठो (८१७ । १८) यजुः-शाखीयश्च ।
- १२-१३ यजमानाय यानि वरणयानि तानि वसूनि ।
- १३ वसुवने = वसुवननाय वसुसंभजनाय । संभजनाय = भोगाय । 'वसुधानाय' इति निरुक्तपाठः (४) । वसुनो धानं निधानं रक्षणम् । 'वसुधान्यौ' (२) 'वसुधानाय' (४) न पठितम् ।
- १३-१४ वसुधेयस्य = अवभुक्तातिशिष्टस्य विधानाय । अवभुक्तादति-शिष्टस्यावशिष्टस्य । 'अभुक्तातिशिष्टस्य' इति ग. च. ज. पाठः (२९) । अभुक्तरयात् एवातिशिष्टस्य । 'अवाशिष्टस्य' इति पाठः स्यात् । विधानम् = अवाशिष्टेन किं कर्तव्यं कुत्र निधेयं कस्मै देयमिरयादि ।
- १९ यज इति प्रैपरयान्त्य-शब्दः । तेन प्रैपो दीयते-इदं कुरु यज इति होताऽऽज्ञाप्यते । 'देवी ऊर्जाहुती००० संप्रैपो भवति' (९-७) न व्याख्यातम् । संप्रैप. = प्रैपः । अनूयाजप्रैपोऽयं (प्रैपिकसूक्ते २९) ।
- ११ उपनागमितस्य (पाठान्तरम् २९) = उपगमितस्य + उपनामितस्य । उपगमितमुपनामितं वा तस्य = संनिधौ स्थापितस्य । सगुणस्य = उपसेचनयुक्तस्य । एकाऽन्नस्य सग्धि (भक्षणम्) आवक्षत् । अन्या सर्पीतिमावक्षत् ।

पङ्क्तिः

११ मेवानां वोपस्थान्निर्गारात् ।

१२ ' उशत्यौ उशन्यौ ' द्वावपि पाठौ शुद्धौ ।

१३ वि + सिते (वद्धे) = विमुक्ते । ' पिञ्चन्धने ' (वा० ९ । ६) । ' साहिम्यो ' ग. च. ज. पाठो लेखकप्रमादात् । सादिभ्योऽश्वारोहेभ्यो वा विमुक्ते । ' विमुक्ते इति वा ' (४) इत्यत्र ' वा ' ' हासतिः स्पर्धायां ' (४-९) ' पयसा ' (६) न व्याख्यातम् ।

१३-१४ एकस्मिन्कस्मिश्चिद्विभागे विशिष्टस्थाने वा युक्ते । वि = विभागे + पण्णे = युक्ते । युगादौ वा युक्ते ।

१४ ' हर्षति ' पाणिनीयकाले । ' हर्षते ' यास्ककाले स्यात् । ' ह्रुषु अलीके ' भौवादिः पाणिनीयकाले । स धातुर्यास्ककाले हर्षे स्यात् ।

१५ ' विपाट्छुतुद्यौ ' इत्यस्य स्थाने ' विराड्विमुक्ते ' (२७) इति ग. च. ज. पाठो दुर्बोधः । ' शुभ्रे शोभने क्लृपाण्यौ वा ' इति दुर्गस्वीकृतपाठः स्यात् ।

१६ ' चरण्यौ ' (२७) ग. च. ज. पाठः । ' चरणार्थौ ' (२७) । ग. ज. पाठः ' रणार्थौ ' (२८) च. पाठः । ' वारण्यौ ' (६) = वा अरण्यौ = वा + आ. + रण्यौ । ' वारिपण्यौ ' (६-७) = वा अरिपण्यौ = वा + आरिपण्यौ ।

८१६ १२ ' उपस्थाने ' (४) ' विघ्नत्यौ ' (९) ' शु ' (९) न व्याख्यातम् ।

८१७ ७ ' शुनासीरीया ' इति कर्मनाम । साकमेधमारभ्य या पञ्चमी पौर्णमासी तस्या शुनासीरीया कर्तव्या । इयं तत्रानुवाक्यः (आश्व० श्रौ० २ । २०) । भैत्रा० सं० शुनासीर्यमिति संज्ञा ।

पङ्क्तिः

- १४ 'द्यावापृथिव्याविति वा' (३-४) 'अहोरात्रे इति वा' (५) अत्र प्रथमम् 'इति वा' द्वितीयम् 'इति' च न पठितम् ।
- १० यानि द्वेषासि घ्नन्ति तान्यस्माकमप्रियाण्यघानि । घ्नन्तीत्यघानि । 'हन्ति' पाठान्तरम् (२१) । ययोरन्याऽस्माकं द्वेषास्यघानि हन्ति । यान्यप्रियाण्यस्माकं तानि युयवत् । 'घ्नन्ति' पाठः साधुः । द्वेषास्यघानि कस्मात् । यस्मात्तानि घ्नन्ति ।
- ११ 'यूयवत्' इति छ. त. द. पाठो (< १७ । १८) यजुः-शास्त्रीयश्च ।
- १२-१३ यजमानाय यानि धरणघानि तानि वसूनि ।
- १३ वसुवने = वसुवननाय वसुसंभजनाय । संभजनाय = भोगाय । 'वसुधानाय' इति निरुक्तपाठः (४) । वसुनो धानं निधानं रक्षणम् । 'वसुधान्यौ' (२) 'वसुधानाय' (४) न पठितम् ।
- १३-१४ वसुधेयस्य = अवभुक्तातिशिष्टस्य विधानाय । अवभुक्तादति-शिष्टस्यावशिष्टस्य । 'अभुक्तातिशिष्टस्य' इति ग. च. न. पाठः (२९) । अभुक्तरयात् एवातिशिष्टस्य । 'अवशिष्टस्य' इति पाठः स्यात् । विधानम् = अवशिष्टेन किं कर्तव्यं कुत्र निधेयं कस्मै देयमित्यादि ।
- १५ यज इति प्रैपरयान्त्यः शब्दः । तेन प्रैपो दीयते-इदं कुरु यज इति होताऽऽज्ञाप्यते । 'देवी ऊर्जाहुती००० सप्रैपो भवति' (५-७) न व्यास्यातम् । सप्रैप. = प्रैपः । अनूयाजप्रैपोऽयं (प्रैपिक्सूक्ते २९) ।
- ११ उपनागमितस्य (पाठान्तरम् २९) = उपगमितस्य + उपनामितस्य । उपगमितमुपनामितं वा तस्य = संनिधौ स्थापितस्य । सगुणस्य = उपसेचनयुक्तस्य । एकाऽन्नस्य सन्धि (भक्ष-णम्) आवक्षत् । अन्या सर्पीतिमावक्षन् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

८१९

१३ ' नवेन पूर्व्यम् ' इति ग. च. जं. पाठः (२७) ।

१५ यथा बलवती ऊर्ज्वती ' ऊर्ज्वती ' इति विशेषणमपेक्ष्यम् ।
ऊर्ज् + ता = ऊर्जता । ' ऊर्जता ' इति शब्दरूपं कथमुप-
पाद्यम् । ' ऊर्जिहाम् ' (३०) इति ग. च. ज. पाठो
दुर्बोधः । ' ऊर्जताम् ' इति पाठो न साधुः ।

इति नवमोऽध्यायः ।

=====

अथ दशमोऽध्यायः ।

८२१

१२ ' मध्यस्थानम् ' इति ग. च. ज. पाठः (२८) ' मध्यमे
स्थानम् ' इति स्यात् । ' मध्यमस्थानाः ' इति ग. च. ज.
पाठो (२९) निरुक्तमूलपाठः स्यात् ।

१४ तिस्र एव देवता इति नैरुक्तसिद्धान्तः । तेन मध्यमस्थाना
एकैव देवता ।

१५ विशिष्टगुणैस्तत्तद्गुणसंबन्धान्मध्यमो वायू रोदसी रुद्र इत्यादि-
नामभिरभिधीयते ।

२१ ' स्यात्तु कार्तिके । बाहुल्येर्जा कार्तिकिको ' (अमरः १ । ४ ।
१७-१८) । सर्वासु दिक्षु भवं सार्वदिकम् । अन्तरिक्षलोकस्य
गर्भमुपचिनोति = अन्तरिक्षं संचिनोति ।

२१-२२ ' ओपधिवनस्पतिजलाशयेभ्य उदकम् ' इदं ' सार्वदिकमुदकम् '
इत्यस्य ग्रान्ते लिखितं विवरणं भाति । नो चेत्कोऽन्वयः ।

२३ सोऽन्तरिक्षलोकः । प्रकल्पते = समर्थो भवति ।

८२२

३ विवृण्वन् = संवृण्वन् । (वि) वृणोति (सं) वृणोतीति
वरुणः । शत्रन्ते ' रुद्रन् ' ।

४ पर्जन्यः प्रार्जयति । इ = इरं + इन्द्रः = इदत् ।

५ गुणानां वरुणाद्रीनामुपजनस्याऽऽधिक्यस्य क्रमः । यथाऽधिक्य
गुणास्तथाऽधिक्यानि नामानि ।

पङ्क्तिः

१-६ गुणोपजनक्रमानुपूर्व्या = कश्चिद्गुणः प्रथमं मध्यमस्योपजायते कश्चिदनन्तरम् । एवं गुणोपजने क्रमो विद्यते । तस्मिन्क्रम आनुपूर्वी विद्यते । स क्रम एवाऽऽनुपूर्वी । वाति वृणोति रोदिति (गर्जति) वर्षत्यन्नं ददाति । अयं गुणाना क्रियाणां वा क्रम आनुपूर्वी । पर्जन्यानन्तरमिन्द्रः ।

७ गुणान्तरोपजनानुपूर्व्यं = अन्ये अन्ये गुणा मध्यमे क्रमेणाऽऽनुपूर्व्या वर्तन्ते । तदनुरोधेन भिन्नानि नामानि ।

११ एतीति आयुः । व + आयुः = वायुः । उपजनमात्रम् = वकारः केवलमधिकमक्षरम् । आयुश्च वायुरयनः (७७७।१९) । अत्राऽऽयुशब्दे वकारो लुप्तः । वायुशब्दे वकारोऽधिकः ।

२०-२१ ' आ वायो भूष ' इत्यनेन वायव्यग्रहोपरस्थानम् । ' वायवा याहि ' इत्यनेन कस्या यजुःशाखायामुपरस्थानम् ।

२१ प्रातःसवने वैश्वदेवग्रहणादूर्ध्वं प्रउगशस्त्रं होत्रा शंसनीयम् । तच्च शस्त्रं वायवा याहीति सप्तक्रगात्मकम् (ऐ० ब्रा० ३ । १ ॥ आश्व० श्रौ० ९ । १०) ।

२४ अरंकृताः = अलंकृताः । दुर्गमतेऽलंकृताः = पर्याप्ताः । अरंकृताः संस्कृताः ।

२५ ' तेषां ' मूले (१७) ' एतेषां ' वृत्तौ ।

१ सर्वमथानतासंबद्धं विचारमागूर्योच्चार्योपोद्धत्य ।

४ इन्द्रादन्यस्य तत्सोमपानमप्रसाध्यम् । न कदाऽपि साध्यम् ।

१९ ' योगाय ' (११) मूले ' योगार्थ ' वृत्तौ । ' रथस्य वोदारः ' (११) ' नवं च ' इत्यत्र ' च ' (१२) ' इति सतः ' (१२-१३) ' वायोश्च ' (१३) इत्यत्र ' च ' ' वायुर्कर्म ' (१४) न व्याख्यातम् ।

२३ अम्मारुं यज्ञमायाहि ।

५ अतिग्राह्या भुवश्च । एते कयोश्चित्सोमग्रहयोर्नामनी ।

पत्रं

पङ्क्तिः

८२४

६ इदमैन्द्रं सूक्तम् । तेनेयमृगर्षाण्ड्रप्रधाना । ' इन्द्रप्रधाना ' (१३)

मूले ' इन्द्रप्रधाने ' वृत्तौ ।

८ ' अपरं ' मूले ' अपरे ' वृत्तौ ।

१० निष्पेवलयं शस्त्रमैन्द्रमेव ।

८२५

४ सत्कर्षी = सन्नैहलौकिकः कर्षी कृषीवलः । ' सत्कर्षी ' अशुद्धः पाठः स्यात् । ' यवमिव वृष्टिः ' (२१) इति मूले । ' स्वल्पं यवं कश्चित्सत्कर्षी वृष्ट्येव ' इति वृत्तौ । ' यवमिव वृष्टिः ' (१०) ।

१४ ' बन्धिः ' धातुपाठे न विद्यते । सन्नन्तो बधिश्चित्तविकारे विद्यते । ' बध बन्धने ' (धा० १ । ९९८) । ' बध संयमने ' (धा० १० । १४) ।

८२६

१४ नामाकस्य कस्यचित्काव्यक्रमणि निष्णातस्यर्षेः । सूक्तस्य कर्ता न स्वमात्मानं ' नामाकस्य ' इति प्रशंसेत् । ' ऋषिर्नाभा० सप्तस्वसारमेनमाह ' (१-२) ' अथैष भवति ' (२-३) ' ये नो द्विपन्ति दुर्धियः पापधियः पापसंरूपाः ' (३-४) न व्याख्यातम् । ' ये नो० ' इत्यादि पूर्वं व्याख्यातम् । अत्र प्रसिद्धं स्यात् ।

१५-१७ यास्कमते यो नामाक एनं वाग्भिः सप्तस्वसारमाह (१-२) । दुर्गमते यो वरुणो मध्यमाभिर्वाग्भिरम्बाद्याभिः सप्तस्वसा संपद्यते । अन्तारिक्षलोके वर्षम्योपोद्गमे । ' आसामपाम् ' (१) इत्यत्र ' आमां ' न व्याख्यातम् । ' वाग्भिः (स्तुतिभिः) एनं सप्तस्वसारमाह ' (२) इत्यन्वयः । अथवा । ' वाग्भिः सप्तानां वाचा हेतौरेन० ' ।

१७ निरुक्तवृत्तौ (७२८ । २१) ' अध्वानामाऽमि ' एवम-
ष्टाऽऽकाशनद्यः पठ्यन्ते ।

२१ रु = रौति + द्रो नामररणप्रत्ययः ।

पङ्क्तिः

२२ रु = रोरुयमाणः + द्रः = द्रवति । रोरुयमाणः = पुनः
पुनर्भृशं वा शब्दं कुर्वाणः ।

२३ रुद् = रोदयति + रो नामकरणप्रत्ययः ।

२३-२४ 'कतमे रुद्रा इति । दशमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादश । ते यदाऽ-
स्माच्छरीरान्मर्त्याद्दुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति । तद्यद्रोदयन्ति तस्मा-
द्दुद्राः ' (धृ० उ० । ३ । ९ । ४) ।

२४-२५ ' यत्समरुजत्तद्दुद्रस्य रुद्रत्वम् ' (काठ० सं० २५ । १) ।
' यद्रोदीत्तद्दुद्रः ' (शत० ब्रा० ६ । १ । ३ । १०) ।

२५ एतत्काठकमैतिहासिकैः समवेति । ऐतिहासिकानामेतदेव निर्व-
चनम् ।

२५-२६ स किल पितरं प्रजापतिमिपुणं० । ईदृशी कथा (शत०
ब्रा० १ । ७ । ४) इत्यत्र विद्यते । तथा (मैत्रा० सं०
३ । ६ । ९ ॥ ४ । २ । १२) इत्यत्र पूर्णा कथा विद्यते ।
' तमभ्यायत्याविध्यत्सोऽरोदीत्तद्वा अस्यैतन्नाम रुद्र इति '
(मैत्रा० सं० ४ । २ । १२) ।

२७ ' शाखान्तरमन्यत् ' अन्यत्पदं व्यर्थम् ।

२८ देवताभिधानानां निर्वचनान्तराणि ।

१२ ' अन्यैः ' (४) ' तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मण आयुधमायो-
धनात् ' (९) न व्याख्यातम् ।

१५ सहमानाय ' इत्यनेन शत्रूणामिन्द्रकृतोऽभिभवः । अयमभि-
भवो बलकृतिः । सर्वा बलकृतिरिन्द्रस्यैव । तेन मध्यमः ।

१७-१८ रसःपिशाचान्विधत्त उत्पादयति ।

१३ अत्रात्पानाय समुद्भूता दिद्युद्रोगः ।

१४ सा दिद्युन्प्रभवो येषाम् ।

१४-१५ ' नमोऽम्बु रद्रेभ्यो ये पृथिन्यां येषामन्नमिपवः ' इति वान-
मनेयिमंहिनापुत्रः (१६ । ६६) । ' के च ' कस्यामपि

पत्रं
८२८

पङ्क्तिः

१४-१९ शाखायां नास्ति । 'नमो अस्तु सर्पेभ्यो ये पृथिवीमनु' (मैत्रा० सं० २ । ७ । ९ ॥ तै० सं० ४ । २ । ८) । ' नमो अस्तु ' (मैत्रा० सं० २ । ९ । ९ ॥ काठ० सं० १७ । १६ ॥ कापिष्ठलसं० २७ । ६) । ' नमो रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येऽन्तारिक्षे ये दिवि येषामन्नं वातो वर्षमिपवः ' (तै० सं० ४ । ९ । ११) । अयं क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. पाठः ।

२२ दिद्युत् = ' दो अवखण्डने ' (धा० ४ । ४४) इत्यस्याभ्यासः । तकारो नामकरणः । दो = द्यु । ' दिद्यु ' अभ्यासेन । दिद्युत्कारोपजनेन । अथवा । ' द्यु अभिगमने ' (धा० २ । ३०) । दि + द्युत् = दिद्युत् । अथवा । दि + द्युत् । ' द्योततेर्वा ' (२७ । २३) ' क्ष्मा पृथिवी ' (२३) न व्याख्यातम् ।

२३ क्षमया = क्षमापणेन । ' क्षमायी विधूनने ' (धा० १ । ४८७) तस्य णिच् क्षमापयति । विश्मापयन्ती = विशेषेण धूनयन्ती ।

२७ यदि तोकतनयौ समानार्थौ तर्हि जामिता पौनरुक्त्यम् । तत्परिहाराय तनयः पौत्र ।

८२९

१ आग्निः पृथिवीस्थानः । तथाऽपि रुद्र इत्युच्यते । मध्यमनाम्नाऽऽहूयते । तेन संकरः । ' विचारानुमृत्तये ' अस्वार्थो न ज्ञायते ।

१७ ' जरतेः स्तुतिरुर्मणः ' (९) न व्याख्यातम् ।

१९ ' तथा बोधयितः ' (६) यास्कः । ' जराबोधयितः ' दुर्गः । स स्तुत्या देवान्बोधयति ।

२१ ' मनुष्याय यज्ञियाय ' दुर्गः । ' मनुष्यस्य मनुष्यस्य यजनाय ' (६) यास्कः । यजनाय (७) = यागाय । ' मनुष्यस्य यजनाय तत्कुरु । तत्किम् । दर्शनीयं स्तोमं रुद्राय कुरु ' इति यास्कस्यार्थः । ' यज्ञियाय मनुष्याय तत्कुरु यत्त्वया कर्तव्यम् । ततन्मुभ्यं स मनुष्यो दर्शनीयं ध्रुवर्णाय

पङ्क्तिः

२१ स्तोत्रमुच्चारयिष्यति ' इति दुर्गस्यार्थः । ' स्तोमं ' (७) न पठितम् ।

२२ रुद्राय = देवानां स्तोत्रे ।

४ ' तमिन्द्रकारितम् ' (२९) प्रामादिकोऽयं पाठः । तमिन्द्रं (२९) = तमिन्द्र + तदिन्द्र । वर्षेण क्लेदितं (३) वर्षक्लेदितं वर्षक्लेदादुत्पन्नम् । तत् भेदनकर्म ।

७ आत्मनस्तत्त्वमन्तर्णीयं = व्यवधायाऽऽत्मानम् = अविदुषां परोक्षीकृत्य ।

११ ' प्राणश्रैष्ठ्यम् ' (वृ० उ० १ । ९ । २१-२२ ॥ छा० उ० ९ । १ । १२-१९) । प्राणदेवताः = प्राणादिपञ्चानामधिष्ठात्र्यः । अध्यात्मे इन्द्रो मुख्यः प्राणः सन्भूयिष्ठं भजते । इतरेषां प्राणानां शक्तयन्तस्मिन्वर्तन्ते । तेन प्राणस्य श्रैष्ठ्यम् । अधिदेवते देवतास्विन्द्रो भूयिष्ठं भजते । स हि देवेषु श्रेष्ठः ।

२-२३ 'स योऽयं मध्ये प्राण एष एवेन्द्रः । तानेष प्राणान्मध्यत इन्द्रियेणैन्ध तस्मादिन्धः । इन्धो ह वै तमिन्द्रमित्याचक्षते ' (शत० ब्रा० ६ । १ । १ । १) । 'तं वा एतमिन्धं सन्तमिन्द्रमित्याचक्षते परोक्षेणैव परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विपः ' (शत० ब्रा० १४ । ९ । ९ । २) ।

३३ भूतेभ्योऽन्नं विभजमानः । इन्द्रोऽधिदेवस्थो देवेषु वर्तमानः । अध्यात्मस्थः प्राणरूपेण । भूतान्यभ्यवहारयन्त्वादयन् । भूतेभ्यो भक्षणार्थमन्नं संपाद्य तत्तानभ्यवहारयति खादयति ।

१-४ शरीरस्य मध्यतोऽवस्थितम् । इतरान्प्राणान्विष्टम्याऽऽश्रयं दत्त्वा । इतरासां वान्चक्षुःश्रोत्रमनसां प्राणवृत्तीनां प्राणे वृत्तिरयत्तम्बेन यासां तासां माहाभाग्यं वानो वामिष्टत्वं चक्षुषः प्रतिष्ठां श्रोत्रस्य संपन्मनम आयतनम् । वागाद्यधिदेवता एतानि माहाभाग्यानि प्राणाय ददुः ।

पत्रं

पङ्क्तिः

८३१

१ ' इन्द्रो भूतानीन्धे ' अत्रेन्द्रः कर्ता । ' प्राणदेवता इन्द्रं समैन्धत ' इहेन्द्रः कर्म ।

११-१२ ' दारयति वा द्रावयति वा ' (१०) अयं क्रमो व्याख्यानै भिन्नः । इन् = इरां + द्रः = दृणाति । इन् = इरां + दः = ददाति । रेफोऽधिकः । इन् = इरां + दः = दधाति । रेफोऽधिकः । इन् = इरां + द्रः = दारयति । इन् = इन्द्वे + द्रः = द्रवति । इन्द् = इन्दौ + रः = रमते । इन्द् = इन्धे + रः (नामकरणः) । इन्द् = इदं + रः = करः । इन् = इदं + द्रः = द्रष्टा । इन् = इन्दति + द्रः = दारयति । इन् = इन्दति + द्रः = द्रावयति । इन् = इन्दति + द्रः = आदरयति ।

८३२

१ ' अदृणाः ' (८३१ । १८) ' बाबध्यमानान् ' (२०) ' उत्सरणात् ' (महाराष्ट्रीयपाठः ३०) न व्याख्यातम् ।

१० ' रम्णातिः ' अत्रापि संयमनकर्मा स्यात् । जनानतिशयेन बाधमानानर्णवान् (अर्णव इत्यस्य द्वितीयाबहुवचनम्) अरम्णाः समयच्छः नियन्त्रितानकरोः ।

८३३

११ ' प्रतिमुख्यताम् ' अत्र ' प्रति ' इत्यस्य कोऽर्थः । अयं शब्दः कोशेषु नोपलभ्यते । ' प्रथमुख्यताम् ' च. पाठो दुर्बोधः ।

१८ ' पर्यभवन् ' (२) ' अपि ' (३) न पठितम् ।

८३४

३ आख्यानम् = इन्द्रपराक्रमाणा कथाः । प्रीतिः = प्रेमा ।

१ ' दृष्टार्थस्य ' ऋषिणेन्द्रप्रभावो दृष्ट. साक्षात्कृतः । भावितं प्रेम्णा युक्तमन्त.करणं यस्य ।

८ तृप् = तर्प् = पत् = पत् । तर्पयिता । जन्यः = जनेभ्यो हितः । पत् = पत् = तर्प् = तर्पयिता । पर्जन्यमर्पयति

पङ्क्तिः

८ जनान्तेभ्यो हितश्च । ऐकदोशिकः = एकदेशे भवः । अल्पेभ्य एव हितः ।

१३-१४ परः + जेता । परः + जनयिता (रसानाम्) ।

१९ प्रार्जयिता (रसानाम्) । प्रार्जयिता संपाद्यिता ।

४ ' वर्णेणोपधी० ' (२८) इति क. ख. वर्जमितरेषु पाठः ।
वर्णेण + ओपधीः = वर्णेणोपधीः ।

८ ' भीतः ' (८३४ । २३) ' दुष्कृतः ' (२४)
' महान्दस्य वधः ' (२२-२३) न व्याख्यातम् । ' अप्य-
नपराधः ' (२३) मूले । वृत्तौ ' अनपराधोऽपि ' ।

१० ' चमन्त्यास्मिन्निति ' न व्याख्यातम् ।

२ अवतम् = अव + तम् = अव + अतितम् = अवाक् +
अतितम् ।

२० तस्य क्षेत्रस्य पत्युः कर्म वर्षणरूपं पालनम् । तस्योपपत्तौ
सार्थत्वे क्षेत्रं क्षेत्रनामार्हति । यदि वर्षणं न स्यात्कथं जना ग्रामे
वसेयुः । क्षेत्रमिति नाम्नः साफल्यं सार्थक्यम् ।

२२ ' क्षेत्रस्य पतिः ' इति मध्यमस्य विगृहीतं नाम । न क्षेत्रप-
तिरिति सामासिकम् ।

११ क्षेत्रस्य पतिनोपनामितानि वशीकृतानि प्रापितानि द्रव्याणि
येषां तेषामस्माकं शक्तिरस्तु ।

१२ ' पोपायित्तु + आ ' इत्यत्र ' आ ' (२) ।

१४ इदमाहरतेति परिचारकानाज्ञापयन्तः ।

१९-२० ' इयं क्षेत्रम्य पत्यम्यामेव प्रतितिष्ठति ' (मैत्रा० सं० २ ।
१ । १) । ' इयं क्षेत्रम्य पतिर्यत्क्षेत्रपत्योऽम्यामेव प्रतितिष्ठति '
(काठ० सं० ९ । १७) । ' इयं ये क्षेत्रं पृथिव्यस्यामर्दी-
नायामन्ततः प्रतिष्ठाम्यामः ' (कौषी० ब्रा० ३० । ११) ।

पत्रं
८३८

पङ्क्तिः

१९-२० ' इयं वा अदितिः प्रतिष्ठा वा अदितिरस्यामेवैनं तददीनाया-
मन्ततः प्रतिष्ठापयन्ति ' (शाङ्खा० श्रौ० १६ । १०
१६) । ' क्षेत्रपत्यं चरुं निर्वपेज्जनतामागत्येयं वै क्षेत्रस्य
पतिरस्यामेव प्रतिष्ठति ' (तै० सं० २ । २ । १) ।
दुर्गेण पठितं वाक्यं कौपीतकिद्राक्षणस्थम् (कौपी० ब्रा०
३० । ११) । तस्य वाक्यस्य न काम्येष्ट्या क्षेत्रपत्येन चरुणा
वा संबन्धः । नापि तत्र ' क्षेत्रस्य पतिः ' इति शब्दो वर्तते ।
' प्रतिष्ठति ' इत्यस्य स्थाने तत्र ' अन्ततः प्रतिष्ठास्यामः ' ।
अत्र मैत्रायणीकाठकतेत्तिरियसंहितास्यं वाक्यमनुरूपम् । पृथिवी
क्षेत्रस्य पतिः । अत्र तु मध्यम. क्षेत्रस्य पतिः । तेन नेयमृग-
नुरूपा ।

२१ कथं वा पृथिवीः मध्यमश्च क्षेत्रस्य पतिः । पृथिवी क्षेत्रस्य
पतिरिति यद्द्राक्षणं पठति तद्भक्तिमात्रं रूपकं न वास्तवम् ।

८३९

१६ ' धुक्ष्वेति ' (४) इत्यत्र ' इति ' ' वा पालयितारो वा '
(५) ' मृलयतिरुपदयाकर्मा पूजाकर्मा वा ' (५) न
व्याख्यातम् ।

२१ अत एव = अम्मादेव । पदानां जाम्यजामिता ।

२२-२३ सा सज्ञा निगमेन द्रीयते ।

२३-२४ ' मरुद्भिर्वै वीर्येणेन्द्रो वृत्रमहत्त ऋते मरुद्भ्योऽशक्नोर्द्वार्यि कर्तुं
यन्मरुत्वतीयो ग्रहो गृह्यते मरुत्वतीयं शम्यते तेन माध्यंदिनं सर्वं
वीर्यवत् ' (मैत्रा. सं० ४ । ६ । ८) । ग्रहो मरुदेव-
ताकः शश्वं च मरुदेवताकम् । इदमत्र पुनरुक्तम् ।

८४०

६ किमर्थेयं पुनरुक्तिरिति यदा समीचीनं विशिष्टं प्रतिसमाधानं
न विद्यते तदा ' अभ्यामे० ' इत्यादि प्रतिसमाधानम् ।

२० समाने = एकस्मिन् ।

२१ अविच्छिन्ना प्रमत्तम्यानुष्मृतिर्गम्भिन् ।

पङ्क्तिः

२४ पौनरुक्त्ये तत्पदं न योज्यम् । अयमेकः पक्षः । प्रयोगे वा
तद्युक्तमन्त्रवाक्यमसाधु । अयमपरः । अथवा । पौनरुक्त्येन
योज्यं युक्तं तत्पदमेवासाधु । अथवा । तत्संयोगात्तन्मन्त्रवा-
क्यमप्यसाधु ।

२६ ' तेन यथाकथाचहस्ताभ्यां णयतौ ' (९ । १ । ९८) ।
इति पाणिनिसूत्रम् । ' यथाकथाच ' इदं कष्टार्थेऽव्ययम् ।

२७ ' छन्द्रासि दृष्टानुविधिः ' इति व्याकरणमहाभाष्ये । वेदे सर्वं
साधु न किञ्चिदपि व्याकरणनिधमभङ्गादसाधु । छन्द्रसोऽनुरूपो
नियमः कल्प्यः ।

२८ ' अर्धानुविधाने = स्वार्थानुविधानाय तेनैव ' (ट.) ।

२ तदेतद्वगतं भवति = अयं सारः ।

१० ' कामतो देवताः कल्प्याः ' इति सार्वत्रिक. पाठः । ' सप-
त्नघम् ' इत्यनुक्रमणिकायाम् । ' सपत्ननाशनरूपोऽर्थो देवतो'
इति सायणः ।

२३ नतु० = किंतु मधुमान्सन्नपि मधु अविरतं न श्येततीति विशेषः ।

२४ हिरण्यरूप. सन्नपि हिरण्यमिव न दृश्यमानः ।

३-४ यायावरः प्रयाणशालिः (तै० मं० ९ । २ । १ सा०
भा०) । यायावर्यं प्रयाणं तस्य प्रतिपत्तिः प्राप्तिः स्विकारो वा ।
प्रयाण आवश्यकं वास्तोष्पतीयहोमः कर्त्तव्यः । यायावरः =
प्रयास्यन् ।

४ गृहाद्रमनं गृहगमनम् ।

४-९ हीनं बलीवर्द्धं । अन्वाहरेयुर्वागतोष्पतीयामाहुतिं दद्युः । बली-
वर्द्धरयुक्ते शकटे होमं न कुर्युः । तादृशो होमो रद्रस्य भवति
न वास्तोष्पतेः । अग्निं रद्रं कूरं मूनम् । अयुक्ते शकटे होमे

पत्रं

पङ्क्तिः

८४२

४-५ कृतेऽग्नी रुद्रः क्रूरो भवति । ' सर्वेष्वेव युक्तेषु होतव्यं वास्तो-
 प्त्यं होतत् । न हीनमन्वाहर्तवै रुद्राय हि तद्धीयते यद्धीनम-
 न्वाहरेयू रुद्रं भूतमन्वाहरेयुः ' (मैत्रा० सं० १ । ५ ।
 १३) । दुर्गादृत्तपाठे ' अन्वाहर्तवै ' इत्यस्य स्थाने ' अन्वा-
 हरेयुः ' ।

२१ गृहकारिका = गृहस्य रचना गृहारम्भे स्थालीपाकः कर्तव्यः ।

२१-२३ ' वास्तोष्पत्यं पयसि स्थालीपाकं श्रपयित्वा तस्य जुहोति अमी-
 वहा वास्तोष्पते वास्तोष्पते इत्येताभ्याम् ' (मान० गृ० १ ।
 ६ । १९) । सर्वेषु युक्तेषु अमीवहा वास्तोष्पते वास्तो-
 ष्पते इत्येते निगद्याऽऽहुतिं जुहोति ' (मान० श्रौ०
 १ । ६ । ३) ।

२२ यायावराय हितास्तस्य वा यायावर्या बलीवर्दाः । तेषां प्रति-
 पत्तिः शकटेन योग । युक्तेषु बलीवर्देषु ।

८४३

२ सर्पादिरस्मद्दु खहेतु । तस्य प्रतिपक्षो वैरी नकुलादिः ।

४ ' न. मुसुख ' (८४२ । १९) न पठितम् ।

१० यस्माद्गुणो विकल्पेन तस्मात् ।

१२ अतोऽस्मात् ।

२० पौनःपुन्ये भृशार्थे च यद् । बोभवीति पुनः पुनर्भृशं वा
 भवति । बोभवीति मत्स्यं भवति भवत्येव ।

२३ मुहूर्त क्षणेन । मुहूर्तकालं प्रत्येकस्मिन्मुहूर्ते क्षणे ।

२४ याग. सर्वदा भवति । न तत्र कालनिषेधः ।

८४४

७-८ 'वसोष्पते नि रमय मय्येवाम्नु मायि श्रुतम्' इति अथ० सं०
 १ । १ । २ पाठ । ' उपप्रेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।
 वमुपते विरमय मय्येव तन्नं मम ' इति मैत्रायणीसंहितापाठः
 (४ । १२ । १) ।

पङ्क्तिः

- ११ ' इति सा निगद्व्याख्याता ' (८) न पठितम् ।
- १२ निर्णेजनं शुद्धिः ।
- ९-६ यास्कभाष्ये प्रथमोऽर्धर्चः परोक्षकृत उत्तरः प्रत्यक्षकृतः ।
दुर्गः सर्वमेव प्रत्यक्षं मन्यते । तेन ' दीप्यते ' इत्यस्य
' दीप्यसे ' इति विपरिणामः ।
- ७ प्रदेशं प्रति = प्रदेशे । ' दीदयत् ' (८४४ । ३०) छ. त.
द. पुस्तकेषु न विद्यते । तेन दुर्गेण न पठितम् ।
- १० इन्द्रोऽपि प्रत्यक्षीकृतो दुर्गेण । तेन ' वर्धते ' इत्यस्य
' वर्धेथाः ' इति विपरिणामः ।
- १२ ' इति सतः ' (२-३) न व्याख्यातम् ।
- १ आज्यं पुरोडाशो वपा इति पशौ त्रय आहुतयः । प्रत्येकस्या
याज्यानुवाक्ये । इयमनुवाक्या ।
- ४ सर्वेऽपि भूतसंघा यमवशाः । देवाः (उद्धृतः ६) कथं यमव-
शा भवेयुः ।
- ८ मार्गेण = मरणहेतुना ।
- ८-९ तमेव मार्गं तस्य प्राणिनः स्पाशयित्वा रुद्ध्वा । ' तस्कर
इव ' तस्य मार्गं बद्ध्वा रुद्ध्वा । अयं प्राणी जीवितादनन्तरं
स्वर्गमार्गेणान्यमार्गेण वा गन्तुमिच्छति । तस्य तं मार्गं बद्ध्वा
रुद्ध्वा । अनुपस्पाशयमानं = सूक्ष्मदृष्ट्या चिह्नयितारं निरीक्ष-
माणम् ।
- ९ यम. स्रपेणं ज्वर इत्पादिर्मरणहेतुर्भवति । जीवनादुत्सर्पणस्यैते
मार्गाः । म्पाशयतिश्चिह्नार्थः (निरु० ३९६ । २१) इत्यत्र ।
अत्र बन्धनार्थः । स्पाशय इत्यस्याभ्यासो व्याकरणे निषिद्धः ।
तथाऽप्यत्र पस्पाशय् । अनु + पस्पाशयमानम् ।
अनुपस्पाशयमानं निरीक्षमाणम् । तत्र तस्मिन्नेव मार्गे ।

- पत्रं पङ्क्तिः १-१० उपयंस्यामि = नियन्त्रयिष्यामि हनिष्यामि ।
- १३ ' राधुहीग्यर्थ.' इत्यत्र ' इत्यर्थो ' व्यर्थः ।
- १५ ' प्र + वत. । उत् + वत. । नि + वतः ' इत्येतेषां शब्द-
व्युत्पत्ति । याम्कमते ' प्र + अवतः । उत् + अवतः ।
नि + अवत ' इति । ' अवतः ' इत्यत्राकारस्य लोपः ।
' उद्धतो निवत ' एतौ शब्दौ व्युत्पत्त्यर्थमेवात्र पठितौ नार्थ-
पूर्णाया । ये जना मरणानन्तरं स्वर्लोकं प्रयान्ति तान्महतो
बहुसंख्याकान्प्रवतो जनाननु पश्चात्परेयिवासमनुगच्छन्तम् ।
पन्थानं मार्गं चानुपस्पशानं दर्शयन्तम् ।
- १८ यमशब्दप्रसङ्गेन । वैवस्वतो यम । अग्निरपि यमः । अत्र
समाननामधेयत्वम् । न शब्दसारूप्यम् ।
- १९ अग्निरपि यमनामा इति विचारो विषयः । इयं प्रतिज्ञा ।
- २१ द्वां पादौ यम्या मा । एकम्या ऋचो द्वावेव पादौ ।
- २२ प्रातरनुवासाश्चिनयोर्विनियोग । नायं विनियोग आश्वलायनसूत्रे
विद्यते । विनियोगो लैङ्गिक इति मायणः ।
- १६-१७ ' महाप्रतीका मयप्रतीका त्रीसप्रतीका वा ' इति दुर्गस्वीकृत-
मूलं स्यात् । ' त्वेपप्रतीका बलप्रतीका यश.प्रतीका '
(१-२) न व्याख्यातम् ।
- १८ ' दधाति ' (१) मूत्रे ' ददाति ' घृत्तौ ।
- १९ ' इन्द्रेण मह मगन ' (३) न व्याख्यातम् ।
- २५ यमो इनि व्यपदेशो भेदेन ऋचनम् । एषो यम एव । द्विती-
योऽग्निः । विभाजयितुम् = उपपादयितुम् ।
- २६ ' अन्याना ' (८४७ । ५) न पठितम् ।
- २७ यज्ञमयोगेन = यज्ञे यनमानं पन्थ्या महतीं मनमुपैति ।
नम्रप्रज्ञा = अग्निप्रज्ञा । मयघने ज्ञाया । अग्नी
मासिणि दीक्षाप्रदानम् । दीक्षाममाप्तिपर्यन्तमग्नीं पारगन्त्यम् ।

पङ्क्तिः

१७ व्रतोपगमनात् = ' व्रतमुपायानीति यगमानो व्रतीति । सोऽ-
शिमैवाभीक्षमाणो व्रतमुपैति । अग्रे व्रतपते व्रतं चरिष्यामि '
(शत० ब्रा० १ । १ । १ । १-२) । ' व्रतोपयानात् '
(२८) इति पाठान्तरम् । आव्रतविमोहात् = ' अथ
संस्थिते विमृज्यते । अग्रे व्रतपते व्रतमचारिषम् ' (शत-
ब्रा० १ । १ । १ । ३) । ' हि यत्तमयोगेन ' (८४७ ।
९-६) न व्याख्यातम् ।

१ प्रथमं कौमारकं कुमारीभावः सोमदेवताकः ।

१-२ उभयायमानानि चारुनाऽङ्गानां प्रतिभागः स्वरमीष्टं च
यम्मात् ।

२ ईषदनङ्गेन समारितं लृदयं यम्याम्नाम् । ' अनङ्गाङ्ग '
इत्यत्र ' अङ्ग ' शब्दस्य न किमपि प्रयोजनम् ।

३ वैवाहिके कर्मण्युपगतायाः ।

८ उपचयः = आधिक्यम् ।

१८ ' पश्चाद्गुह्या ' (८४७ । ७) ' ममृष्टम् ' (२७)
इत्युपपाठौ ।

२० स्वेनोपचारेण = क्षीरदानेन । ' मायंशामाय ' इत्युक्ते
' स्वेनोपचारेण ' इत्यनवदयम् । प्रान्ते ऽपि गितं गृत्तापन्नभाषितं
भ्यात् ।

२९ मिन्नानः = प्रसिपत् । ' वृमिन् प्रोत्सवे ' (पा० ९ । ४) ।
किं प्रसिपति । ' उद्वेजेन मंमिन्नानः ' खेऽर्थः । उद्वेजेन सर्वं
हेतुद्वयमित्यर्थः भ्यात् ।

१ ' श्रेहनि ' (२३) इत्युपपाठः ।

११ ' अङ्गुष्ठे भिन्नो व्रतव्यवहारीति पूर्वमाहुर्नि मुहुषात् । अन्तः
द्वुचाऽथ व्रतव्यवहारीति मुहुषात् ' (मान० शी० ३ । ३ ।
८) । अन्तःवेदेन वेदेन द्वयं च विरचयत् । (तै० ब्रा०

पत्रं

पङ्क्तिः

८९०

११ सा० भा० ३ । ७ । २) । अग्निहोत्रे द्वे आहुती होतव्ये
(तै० ब्रा० सा० भा० ३ । ७ । २) ।

८९१

१६ ' शब्दं ' (१) ' जुहोतिर्दानकर्मा ' (८) न व्याख्यातम् ।

४ पशवोऽपि कामकारतोऽङ्गानि प्रसारयितुं शक्नुवन्ति ।

६-७ प्राणसतत्त्वो बुद्धिसतत्त्वश्च । प्राणस्वरूपो बुद्धिस्वरूपश्च ।

१४ अभिषेकस्योपरिष्ठादनन्तरम् ।

१८ कं = सुप्तम् ।

८९२

७ अस्य मन्त्रस्य हिरण्यगर्भ ऋषिः । स आत्मानमधिकृत्य
' हिरण्यगर्भः समवर्तत० ' इति तृतीयपुरुषं कथं प्रयुञ्जीत । यतः
स सर्वात्मा । सर्वे आत्मानो यस्य सः । तस्मादेक आत्मा
हिरण्यगर्भमुद्दिश्य तृतीयपुरुषं प्रयुञ्जीत । नेदं पर्याप्तं प्रति-
समाधानम् ।

९ कल्पान्ते तस्या अन्वयायास्तिरोभावः । कल्पादौ चाऽऽविर्भावः ।
हिरण्यगर्भो महानात्मा बुद्धिरित्यर्थः । अविवक्षितावभिधानम-
भिधाना न यस्य । हिरण्यगर्भ एव मन्त्रस्याभिधाता । किं
व्यवहारे मन्त्र-वंशित्पुरुषविशेषमभिधातृत्वेन गृह्णाति । विदि-
ष्टार्थं चानुवक्ति । तस्मात्तृतीयपुरुषप्रयोगोऽकिञ्चित्करः । न
तस्य कोऽप्यर्थः । मन्त्रा दृष्टा ननु कृताः ।

१२ कृतकत्वेऽहमिति प्रयोग आवश्यकः ।

२३ तस्मान् ' विधेम ' इत्यस्य हवि शब्देन नतिरन्वयः । एवि-
शब्देन मह यथाऽनुकृत्योऽर्थो भवेत्तथा ' विधेम ' इत्यस्यार्थः
कार्यः । ' विधेम ' = परिवरेमेति षन्तुतोऽर्थः । कृष्णान् =
गुप्ता । शतगुञ्जं हिरण्यं चर्मा निषेयं नेन शतगुर्भमिति ।

२७ सर्वभूतानामन्नं प्रदानध्मेन दृत्वा ।

८९३

२ हिरण्यगर्भः सर्गागुरुत ।

पङ्क्तिः

३ परमात्मा सर्वांश्विशेषान्त्यजति तन्मात्स हिरण्यः । परमात्मा क्षेत्रज्ञस्य हिरण्यगर्भस्य प्रकृतिः । हिरण्यगर्भः स्वतो हिरण्यमयः सुवर्णमयो गर्भः (१) । अथवा । सर्वेषा प्राणिनामयं हिरण्यमयो गर्भः ।

१० ' अस्थिम्नायुमज्जानः ' पुरुषस्य गुणान्गृह्णाति (निरु० १४ । ९) ।

१-१२ इतरेतरशक्तिग्रहणमेव रक्तशुक्रयोर्व्यतिपङ्क्तः ।

२३ ' इति सा निगदव्याख्याता ' (२०) न व्याख्यातम् ।

९ कारिष्यमाणं क्रियमाणं च भूतम् । तस्य भूतस्य कर्ता । ' कृतं च ' किं न कथितम् । कृतस्यापि स एव कर्ता ।

१२ अप्सु भवमाप्यम् ।

१३ व्यूहेन = पृथक्पृथक् । धातू विचरन्तन्तःप्रविशन् । अकृतात्मभिर्धैरात्मा न वशीकृतस्तैरज्ञैः ।

१६ वैश्वकर्मणो भागः ।

२० विपुवान्नामैकविंशमहः । यागविशेषस्य नाम ।

३ ' इन्द्रो विश्वकर्माऽभवत्प्रजापतिर्विश्वकर्माऽभवत् ' (ऐ० ब्रा० १८ । ८) । एवं विश्वकर्मणोऽनुभावः पराक्रमः । सर्वस्थानेषु वर्तते । तथापि लिङ्गबहुत्वात्स मध्यमः ।

९ अभिसंपन्नानि = प्राप्तवन्ति । तद्भावं गतानि । ' इष इच्छायाम् ' (धा० ६ । ६०) ' इष गतौ ' (धा० ४ । २१) ' इष आभीक्ष्ये ' (धा० ९ । ९३) च । इष्टकान्तयोः को भेदः । तथा क्रान्तगतयोः । इषधातोर्मतन-तार्थो कथमुद्भवत् । तेषा भूतानां तेषु भूतोष्विष्टानि० नतानि वाऽद्भिः सह समोदन्त इष्टानि भूतानि (१४-१९) ।

२-१३ भावना = संस्कारः (ट०) । तस्य विश्वकर्मण परिज्ञानं तस्मिन्श्रद्धा तस्योपामना ।

पत्रं

पङ्क्तिः

८९६

१३ तेन विश्वकर्मणा सह ।

१४ परियुताभिः = परितो वहद्भिः ।

१४-१५ सम् = तेन कर्मणा समानम् ।

१६ सप्तशब्दो न कुत्रापि व्याख्यातः । सप्तऋषयः = सप्तर्षि-
संज्ञकस्तारकासमुच्चयविशेषः । ' ऋष आकर्षणे दशने वा '
' ऋषीं गतौ ' (घा० ६ । ७) । नत्वाकर्षणे दशने वा ।

१६-१७ 'तत्र संमोदन्ते यत्रैतानि सप्तऋषीणानि ज्योतीषि' इति यास्कः
कृतोऽर्थः (८९५ । ११-१२) । तेभ्यो ज्योतिर्म्यः परः ।
तानि ज्योतीष्यादित्येन संमिलन्ति ।

१७ अधिदैवते ' तेभ्यः पर आदित्यस्तान्येतास्मिन्नेकं भवन्ति '
(८९५ । १२) न व्याख्यातम् । दुर्गेण कृतोऽर्थो निरु-
क्तमूलाल्किनिद्भिः ।

१८ एकं सन्तं बहुधा विश्वमाहुः । परे = देवतासतत्त्वविदः ।
' यत्र परे सप्तऋषीनेकमाहुः ' (८९५ । ७) इति ऋग-
न्वयः । अस्य दुर्गेण द्वे वाक्ये कृते ।

२४ विज्ञानसतत्त्वमात्रं = केवलं विशेषरहितं विज्ञानम् । तच्च
सविशेषविज्ञानम्य बीजम् ।

८९७

१ ततः परमात्मनः प्रच्युताः । बिभ्रत इत्यादि वाक्यमपूर्णम् ।
बिभ्रतीति विपरिणामेन पूर्णं भवेत् ।

२ यावद्वेदान्तशास्त्रेण ताद्बाल्यं परमात्मैकरीभावः शिष्यत उपदि-
श्यते तावत् । उपदेशात्प्रागित्यर्थः ।

३-४ शरीरं क्षेत्रं परमात्मा क्षेत्रज्ञः । कश्चिर्जीवात्मा स्वविशिष्टविज्ञान-
शक्त्याऽधिकं हिरण्यगर्भावस्थामनुभवति । हिरण्यगर्भावस्था-
मनुभवन्मन्त्रेण व्याख्यायत इति तद्व्याख्यानमधिदैवमि-
त्युच्यते ।

६ महर्तामधिदैवावस्थामनपेक्ष्य ।

६-७ शरीरे शरीरे वर्तमान आत्मा विश्वकर्मा परमात्मैवेत्युपदेशः ।

पङ्क्तिः

- १-७ अस्य विश्वकर्मणस्तदन्याख्यानामध्यात्मम् । इमानि त्रिचतुराणि
वावयान्यपूर्णानि गलितशब्दानि भवेयुः (१-७) ।
- ९ वायोर्यः क्रियापरिस्पन्दः प्राणस्तस्य तत्कृतत्वात् ।
- ११ सर्वप्रज्ञातः = सर्वैः प्रज्ञातः । सर्वेषां प्रज्ञातेतीष्टम् । ' सर्वप्र-
ज्ञानः ' सर्वप्रज्ञाता ' वा पाठः स्यात् ।
- १४-१९ विक्षेपः = विभागोऽनेकधाकरणम् ।
- १९-१६ विक्षिप्तविहितानां च तेषामिन्द्रियाणाम् । भिन्नभिन्नशक्तिभिरि-
न्द्रियाणि विक्षिप्तानि विभक्तानि । अस्म्येन्द्रियस्यायं विषय एवं
विहितानि च ।
- १६ संदर्शयिता = तान्विषयानिन्द्रियेभ्य आत्मा सम्यग्दर्शयति ।
विषयाणां सम्यग्ज्ञानं यदिन्द्रियैरवाप्यते तदात्माधीनम् । विक्षि-
प्तेभ्यो विहितानां तद्योग्यानां विषयाणाम् । परमात्मेन्द्रियेभ्यो
विषयान्दर्शयति ।
- १७ तदधिष्ठितानां = तेन परमात्मनाऽधिष्ठितानाम् । विषयालो-
काय विषयप्रत्यक्षयोन्द्रियेषु सामर्थ्यमुपजनयत्यात्मा ।
- १८ तेषु तेष्विन्द्रियादिषु परमात्मनः शक्तिविक्षेपात् । पूर्वस्मिन्नर्थे
' तेषाम् ' (८९९ । ९) इत्यनेन सर्वनाम्ना भूतानि न
संनिहितानीति विज्ञाप्यते । अत्र तु ' एषाम् ' (८९९ । १४)
इत्यनेन संनिहितानीन्द्रियाणि विज्ञाप्यन्ते । तथैव ' तेभ्यः
पर आदित्यः ' (८९९ । १२) इत्यत्र ज्योतीषि दूराणि ।
' एभ्यः पर आत्मा ' (८९९ । १३) इत्यत्रेन्द्रियाणि
संनिहितानि । तथैव ' यत्रैतानि ' (११) ' यत्रेमानि '
(१६) इत्यत्र स एव भेदः । एतस्मिन्नात्मनि तानीन्द्रियाणि ।
अत्रेन्द्रियेभ्य आत्मा संनिहिततरः । ' यत्रैतानि ' अयं प्रामा-
दिकः पाठः स्यात् । मूलपाठः ' यत्र तानि ' इति भवेत् ।
एषामिन्द्रियाणामिष्टानि जीवात्माख्यानि सत्त्वानि तत्र संमोदन्ते
। यत्रेमानि० इत्यादि ।

- पत्रं पङ्क्तिः
- ८९७ १८-२० क्षेत्रज्ञविभूतीनामिष्टानि यानि जीवात्माख्यानि सत्त्वानि तानि ।
 २० ससेन्द्रियाणि = पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्च ।
 २०-२१ ऋषीणानि = विषयान्द्रष्टृणि । ऋषीणानि = द्रष्टृणि । इन्द्रि-
 याण्येव ज्योतीपि ।
 २१ अध्यात्मे ' व्याप्ता ' (८९९ । १३) ' एभ्यः पर आत्मा
 तान्येतस्मिन्नेकं भवन्ति ' (१६—१७) । उभयार्थनि-
 रूपणे ' क्रान्तानि वा गतानि वा ' (१० ॥ १९) न
 व्याख्यातम् ।
 २३-२४ ' यदुपविष्टम्भात् ' इदं दुर्बोधम् । ' यदवष्टम्भात् ' इति पाठः
 स्यात् । अथवा । उपविष्टम्भः = अवष्टम्भः । शक्तिरेवात्मम् ।
 तस्यान्नस्यावष्टम्भ आश्रयः ।
 ८९८ ३ स्वधारूपा शक्तिः । स्वधाऽन्नम् । सर्वेभ्यो भावेभ्यः परम् ।
 ४ मन्त्रः परमोष्ठिन आर्षम् ।
 ६ यावत्संभवस्तावन्मन्त्राणां विषयो योज्यः । योऽर्थः संभवति स
 उत्पाद्यः ।
 १० इतिहासः = इतिवृत्तम् (११) ।
 ११ परस्य विश्वकर्मणः कृतिः । सर्वार्थवादः । परकृतिवर्णनरू-
 पोऽर्थवादः ।
 १३ दिष्टौ = विधौ । उदितो विवक्षितः (ट.) । विधौ चोदनायां
 योऽर्थो वक्तुमिष्टन्तस्य समर्थनाय । अर्थवादस्य प्रयोजनं विध्यु-
 दितार्थप्रतिपत्तिः ।
 १९ ' विश्वकर्मा ह भोवनः ' निरुक्तमूले ' ह ' (८९९ ।
 १७-१८) नाम्नि । ' विश्वकर्मा ह भोवनोऽन्त इने '
 (शाह्ण० श्रौ० १६ । २) । तेन हंतेन विश्वकर्मा भोवन
 इने ' (शान० ब्रा० १३ । ७ । १ । १४) ' सर्व सर्व-

पङ्क्तिः

१९ मेघः ' (शाङ्खा० श्रौ० १९ । १९) । ययोदितं सर्वनामकं सर्वमेघनामकमिदं कर्म । संबन्धदर्शनेन = अस्य सर्वैर्वस्तुभिः संबन्धं दृष्ट्वा । ययोदितं = सर्वमेघवर्णनं शाङ्खा० श्रौ० १९ अध्याये । शत० ब्रा० १३ । ७ । १ । अध्याये च ।

१६ ' सर्वं सर्वमेघः ' (शाङ्खा० श्रौ० १९ । १७) इत्यनेन सर्वस्य सर्वात्मकत्वम् । वैश्वकर्मणीमवस्थामात्मन्युत्तरीय = अहं विश्वकर्मेति निश्चित्य ।

१७ ' भूतेषु चाऽऽत्मानः ' (होता) इति पाठ इष्टः । होता = यो जुहोति । भूतान्यात्मानि जुहोत्यात्मानं च भूतेषु । ' हन्त सर्वेषु भूतेष्व्वात्मानं जुहवानि ' (शा० श्रौ० १९ । २) । ' भुवनानामात्मानि होता भूतेषु चाऽऽत्मानम् ' (८९९ । १८) इदं निरुक्तमूले न वर्तते ।

१८ ' सर्वमेघे सर्वाणि भूतानि जुहवाचकार ' (८९९ । १८) न व्याख्यातम् ।

२० सर्वमेघसंपत् दर्शनेन श्रुत्या शास्त्रेण वा कृता । ' दर्शनकृतः ' (२९) इति पाठे दर्शनं करोतीति दर्शनकृतस्य । यः शास्त्रं जानाति तस्य । सर्वेषु कर्मसु सर्वमेघः संपद्यते ।

२०-२१ ' गार्हपत्येऽधरारणिमनुप्रहृत्याऽऽहवनीय उत्तरारणिमात्मन्यग्नींसमारोप्यारण्यं प्रव्रजेत् ' (शा० श्रौ० १६ । १) ।

२१ ' अग्निज्योतिर्ज्योतिरग्नि स्वाहा । सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ' (शत० ब्रा० ३ । २ । १ । ३३-३६) अनेन = सायंहुतेन हविषा ।

२१-२६ कस्माद्वाह्मणादिदुमुद्धृतमिति न ज्ञायते । तेन तदर्थोऽपि न स्पष्टः ।

२२ सर्वं हविरग्निमनुसरति । सर्वमग्निमनु ।

२३ अनेन सङ्कृतेन हविषा सर्वं हुतं भवति । तेनेष्टा = तेन हविषा ।

पत्रं
८९८

पङ्क्तिः

२४ तावत् = तथैव । यस्यैते आहुती = यः सायं आतश्च
जुहोति । ' द्वे आहुती ' (शत० ब्रा० २ । ३ । १ ।
२२-२९) ।

२५ न बद्धम् = अनन्तम् । यावज्जीवम् = जीवन्नेव । एतयोर्देव-
तयोः = एतयोरआहुत्योः । अन्यतरामाहुतिमनु दत्त्वा स बहूनि
नबद्धान्यनन्तान्याप्नोति । अग्निहोत्रात्सर्वप्राप्तिः । आनन्त्यप्रा-
प्तिरित्यर्थः ।

८९९

१ मेधे = कर्मणि । यथाऽग्निहोत्रे । सर्वः = न कश्चिद्विशिष्टो
जीवात्मा । यजमानस्य बुद्धिपुरःसरं सर्वात्मना तादात्म्यम् ।

१-२ सर्वेण हविषा । हविरपि सर्वम् । सर्वस्मिन्नग्नौ न विशिष्टे ।
सर्वस्यै देवतायै । सर्वार्थे = सर्वकामावाप्त्यर्थम् । आत्मानं
हुत्वा । सर्वे एतादृशेन तादात्म्येन वस्तुतः सर्वे भवति । आदौ
भेदेऽप्यन्ते न कोऽपि भेदः ।

२ समासार्थः ' स यत्मायम्० ' इति ब्राह्मणवाक्यस्य ।

३ दर्शनतः = वैदिकवचसा ।

३-४ इतः सर्वमेधोऽहीनः । सर्वमेध इति निरुद्धा संज्ञा । तत्र सर्वप्रा-
णिनां होमो नाऽऽत्मनः ।

४ ' अधमेधस्त्रिरात्रो यज्ञक्रतुः ' (शा० श्रौ० १६ । १ । २) ।
' अधमेधादनन्तरं पुरुषमेधोऽवशिष्टकामावाप्तये ' (शा०
श्रौ० १६ । १० । २) । ' तस्मिन्सर्वेमाधमेधिकं कर्म '
(शा० श्रौ० १६ । १० । ४) । ' तदनन्तरं सर्वमेधः ।
तस्मिन्पौरुषमेधिकं पुरस्तात्कर्म ' (शा० श्रौ० १६ । १९ ।
७) । ' पौरुषमेधिकं पञ्चममहः ' (शा० श्रौ० १६ । १९ ।
९) । ' तत्र पुरुषमालभन्ते ' (शा० श्रौ० १६ । १९ ।
१०) । ' वाजपेयः षष्ठम् ' (शा० श्रौ० १६ । १९ ।
११) । ' आसौर्यामः सप्तमम् ' (शा० श्रौ० १६ ।
१९ । १२) । ' तत्र सर्वाग्निभानालभन्ते ये केच प्राणिनः ;

पङ्क्तिः

४ (शा० श्रौ० १६ । १९ । १३) । ' अहीनः ' इत्या-
ह्निरसादियज्ञानां नाम (आ० श्रौ० १० । २) । ' अया-
हीनाः ' (आ० श्रौ० १० । १) । अश्वमेधे ' त्रीणि
मुत्यानि भवन्ति ' (आ० श्रौ० १० । ८) । इति त्रीण्या-
श्वमेधिकानि मुत्यानीत्यर्थः स्यात् । निरूढसंज्ञे सर्वमेधेऽहीनि
त्रीण्याश्वमेधिकानि मुत्यानि पञ्च पौरुषमेधिकानि मुत्यानि
वाजपेयासोर्यामौ च यागावन्तर्भवन्ति ।

६ आत्महोमस्याविधानात् = ' आत्मन्यग्नीन्तसमारोप्यारण्यं प्रव-
जेत् ' (शा० श्रौ० १६ । ६ । ३-४) ।
' अनेनाऽऽत्महोमो विहित इति भाति । कदाचिदिदं दुर्गपुस्तके
नाऽऽसीत् । ' आत्महोमस्य विधानात् ' (२६) इति पाठ
' आत्महोमः कथमनुपपन्नः ।

७ सर्वभूतानि = विशेषान् = विशिष्टात्मनः = नीवान्मनः ।

८ पश्यन् तत्त्वम् । आत्मज्ञानीत्यर्थः ।

८-९ ' स्वयमेव जुहाव ' इत्यन्वयः ।

१८-१९ होता क्रथमृषिः । यथा ऋषिर्मन्त्रान्पश्यति तथा होता द्रव्य-
गुणकर्मदेवतायाथार्थ्यं पश्यति तस्मात् ।

१ मुख्यस्य निष्प्रपञ्चस्य पारमार्थिकरूपस्य च्छादयिता प्रजो-
त्पत्त्या । निष्प्रपञ्चं प्रपञ्चेनाऽऽच्छादयत् ।

२ तथा मुख्यो निष्प्रपञ्चः सन् ।

३ प्रजापति प्रयोगे सर्वमेधेऽवर्तत फले च । फलं प्राप्तवान् ।

१६ प्रयोगावस्था फलावस्था च=प्रयोग सर्वमेधानुष्ठानम् । सैवावस्था ।
विश्वकर्मा सर्वमेधमनुष्ठितवान्सर्वमेधयागफलं च लब्धवान् ।
एतयोर्द्वयोरवस्थयोर्वर्तमानो विश्वकर्माच्यते यजस्येत्यादि ।

१८-१९ हविषि सर्वमेधो वर्तत इति वेदानुज्ञया मतिः कार्या । सर्वमेध
ईद्वेदेन दर्शनेनानया मत्या संपद्यते ।

पत्रं

पङ्क्तिः

८६०

१९ अनया बुद्ध्या विश्वकर्मा सत्यमेव विश्वकर्मा भवति । मूले
' वर्षयमानः ' (११) । वृत्तौ ' वर्षमानः ' ।

२१ दर्शनकृते = सर्वभेषसंपदर्शनेनोत्पादिते ।

२२ ' जनासः ' (२६) इति छ. त. द. पाठो दुर्गंण स्वीकृतः ।

२३ तव समानपतित्वमिच्छन्ति । यथा ज्ञानिनां पतिस्त्वं तथाऽ-
ज्ञानिनामपीति त्वामर्चयन्ति ।

८६१

४ अधिभूतं प्रधानं येषां ते । ' त्वष्टा विश्वकर्मा ' एते नामनी
कलाभिर्द्वां भौतिकवस्तुषु कर्मकारिणं देवं दर्शयत इति पौरा-
णिका मन्यन्ते । त्वष्टा तक्ष्णाति । ' विश्वकर्मा ' इत्यापि
तस्यैव नाम ।

५ आध्यात्मिकेऽर्थेऽपि सर्वज्ञानं सामान्यम् । त्वष्टेत्यादीनि ब्रह्म-
णोऽपि नामानि । तत्र न कोऽपि विरोधः । देवानां नामा-
न्यादौ मनुष्यनामान्यासन् ।

९-१- ' तर्णिं ' इत्यस्मात् ' त ' ' अन्तारिक्षे ' इत्यस्मात् ' अरु '
' क्षियति ' इत्यस्मात् ' क्षयः ' ।

१०-११ ' तूर्णमर्थं रक्षत्यश्नतेवा ' (८-६० । १४) इति मूले ।
' तूर्णं रक्षत्यश्नुते वा ' इति दुर्गस्वीकृतपाठः । ' तूर्णम् '
इत्यस्मात् ' त ' ' अर्थम् ' इत्यस्मात् ' अरु ' ' रक्षति '
इत्यस्मात् ' क्षयः ' ' अश्नुतेवा ' इत्यस्मात् ' क्षयः ' ।

२३-२४ वाजिनं = भृशमन्नवन्तमिति यास्कः (१६) । दुर्गकृतोऽर्थो
भिन्नः । तेन ' भृशमन्नवन्तम् ' इति दुर्गपाठे न स्यात् ।

२४ गतं = ज्ञातम् । ' जूतिर्गतिः प्रीतिर्वा ' (१६) ' सह-
स्वन्तं ' (१७) ' पृतनाभितं ' (१७) ' ताक्ष्यमिह '
(१८) ' इति ' (१८) न व्याख्यातम् ।

८६२

८ किंतु तेन गरुडमताऽस्य ताक्ष्यस्य वर्षकर्मासमानम् । तेनायं
पक्षिरानस्ताक्ष्यः ।

२०-२१ सद्यःशब्दम्यागाद्येत्यादयोऽर्थाः ।

पङ्क्तिः

२१ ' शवसा ' (१३) ' सहस्रसानिनी शतसगिनी ' (१४-
१५) ' सा ' (१५) ' एनां ' (१५) ' प्रयुवतीमिव '
(१५) वृत्तौ न पठितम् ।

१-४ तेषां द्वाह्वणादनिामनुग्रहः पूर्वः । यथा सूर्यो ज्योतिषाऽपस्त-
नोति तथेन्द्रो बलेन पञ्च कृषीरविलम्बेनैवेतस्ततः क्षिपति नाश-
यति ।

४ हविषा विधेम = हविर्दन्न इति हविषेत्यस्य हविरिति विपारिणामः ।
कस्मा इति संप्रदानार्थे चतुर्थी ।

५ अवैधुर्याय = अर्थयथ्याय ।

५-६ उपमानं ज्योतिषेति तृतीया । उपमेयमप इति द्वितीया ।
द्वितीयान्ततृतीयान्तयोः शब्दयोः कथमुपमानोपमेयभावः ।

७ सहस्रं शतं वा बहुसंख्याकं धनं ददातीति सहस्रसाः शतसाः ।

९ अथेषुसदृशीं युवतिं तरुणीं न वारयन्ते तथा । एवम् =
ईदृशी । अतितराम् ।

११ इषुः किमर्थं युवतिरित्युच्यते ।

१४ ' वधकर्मणः ' (८६२ । १६) दुर्गस्वीकृतमूले नाऽऽसीत् ।
' मन्यन्त्यस्मादिषवः ' ' मन्युंत्यस्मादिषवः ' वेति च (८६२
१६--१७) । अस्य कोऽर्थः । ' मन्यन्ति ' इति नैव
चतुर्थगणस्थमनधातो रूपम् । किंतु ' मन्यन्ते ' इत्येव ।

२ श्येनः अभिचारयागः । अजिर एकाहः । आदिशब्देनेषुवज्रया-
गो निर्दिष्टौ ।

३ ' मन्यो मरुत्वः ' (६) इतीन्द्रस्य नामनी ।

४ आरुनन्तः = आरुह्य रुनन्तः ! ' आरुह्य ' इत्यस्य स्थाने ' समा-
रुह्य ' वृत्तौ ।

५ धृषिता इति पदे नत्वधृषिताः ।

६ संशिश्यमानाः = तद्विष्णीरुर्धनः ।

पत्रं

पङ्क्तिः

८६४

८ नरः = मरुतो न तु मनुष्यः ।

९ 'संनद्धाः कवचिन इति वा' (८६३ । २२) न व्याख्या-
तम् । कवचेनाग्निरूपा । संनद्धा अत एवाग्निरूपाः ।

८६५

३ 'नः' (८६४ । १८) 'वचनानि' (१८) न
पठितम् ।६ 'सविता सर्वम्य प्रसविता' (८६४ । १९) इति भाष्ये ।
'सविता व्याख्यातः' इति दुर्ग ।१९ 'हैरण्यस्तूप.' इत्यम्य स्थाने ग. च. ज. पुस्तकेषु 'आग्नि-
रसः' (३०) ।

२१ 'अरमयत्' (१२) 'अतूर्णे' (१४) न पठितम् ।

८६६

१ 'अनारम्भणे' इत्यस्य स्थाने 'अनालम्बने' इति पाठ.
समीचीन ।२ 'सौवर्णी' इति विशेषणस्य किं प्रयोजनम् । 'अतिजशम्'
इत्यर्थं स्यात् । 'आभूतसंल्लवान्' (२६) अत्र 'त्'
स्थाने 'न्' प्रामादिक ।४ उपावृत्तं = भूमौ पतितम् । अनायासेन रजन्तस्मादपनेप्यनुपा-
वृत्तमश्वं यथाऽश्वबन्धो धूनुयादित्यन्वय ।

५ धूयत इति धुनिर्मेघ ।

९ 'सविता समुदितारम्' (८६५ । १४) इति न व्याख्यातम् ।
यस्मात्सवितु समुदित्रा मेघेन संबन्धस्तस्मात्सविता मध्यमः । समु-
दितृ = सम् + उत् + इत् । इधातोस्तृजन्तं रूपमेतृ नत्वितृ । समु-
देतृ । समुद्रं = सम् + उद्रम् = उद्रम् सघटयितारम् = उद्रकबन्धिता-
रम् (९) । अन्तरिक्षमेव समुद्रः । धुनि = कम्पयिता । अतूर्ते =
अनवकाशे । अधुसदुदकानि ।

१३ क स्तुत । स्तुत = स्तव (दुर्ग) ।

१६ 'तदभिवादिन्येपगर्भवति' इत्यम्य 'आदित्योऽपि सवितोच्यते'
इत्यनेन संबन्ध (१२) । 'तथा (१३) प्रोवाच' (१६) इदं

पङ्क्तिः

१६ 'प्रक्षिप्तमिव भाति । दुर्बोधं च । अर्चन् हिरण्यस्तूपस्य पुत्रो न हिरण्यस्तूपः । हिरण्यस्तूपो हिरण्यरूपो हिरण्यव्रतो वा ।

१ 'अन्यकल्पीनः' एतत्प्रामादिकं रूपम् । 'आन्यकल्पिकः' इति साधु ।

१-२ हिरण्यमयः स्तूपो हिरण्यमयः स्तूपोऽन्येति वा (८६६।२२-२३) 'स्तूपः स्त्यायतेः संघातः' (२३) । 'आङ्गिरसः' (२४) न व्याख्यातम् । 'जुहे' (२४) न पठितम् ।

१९ तृतीयमण्डलद्रष्टा विश्वामित्रः । अस्य सूक्तम्य द्रष्टा प्रजापतिः । तेनायं प्रजापातिर्विश्वामित्रपुत्रः ।

२० 'सर्वरूप. पोपति प्रजा रसानुप्रदानेन' (१३-१४) सर्वाणि भूतानि' (१४) 'महच्चास्मै' (१५) 'प्रज्ञावत्त्वं' (१५) 'अपि वा' (१५) 'आदिलुप्तं' (१६) न व्याख्यातम् । 'इमा.' (१४) इत्यस्य स्थाने दुर्गवृत्ता 'एना.' (८६८ । १) ।

६ 'अस्मै' (८६७ । १५) =त्वष्ट्रे । अस्य त्वष्टुरसुरत्वं महदित्यर्थः स्यात् ।

१२ 'अपि वा' (८६७ । १५) इत्यस्य न किमपि प्रयोजनम् । प्रक्षिप्तं स्यात् । दुर्गस्वीकृतपाठे 'अपि वा' नाऽऽसीदिति भाति । 'अस्मै' इत्यपि तथा ।

१४ व्यक्तेः सर्वे निरर्थकम् ।

१४-१५ प्रज्ञाया केचिद्वर्धा अभिन्यक्ता इतरेऽनभिन्यक्ताः ।

१५ 'असुरत्वमादिलुप्तं' (८६७ । १६) दुर्बोधम् ।

१९-२० वायु 'वा गतिगन्धनयोः' (धा० २ । ४०) इत्यम्नात् । अथवा । वेतेर्गतिर्मर्णः । अपवा । इ गती । वस्त्र उपजननः ।

७ 'तत्कालम्बु तदात्वं स्यादुत्तरः काल आयतिः' (अमरः २ । ८ । २९) ।

० 'प्रवर्षय' इत्यस्य स्थाने 'प्रवर्षयन्तु' इति महागाढपाठः (२५) ।

- पत्रं पङ्क्तिः
- ८७१ १७ भाष्ये 'चोदयन्' (७) ननु 'चोदयति' ।
- ८७२ ७ जरया=वृद्ध्या ।
- ८७३ १९ भाष्ये 'चिरलब्धः' (८७१।११-१२) वृत्तौ 'अचिरलब्धः' ।
१७ प्राणानित्यादिपञ्चमाङ्गपाठभेदेषु च 'पुस्तके 'प्राणान्० मा त्वमु-
'त्कामीः' (२९) इत्यादि वर्तते । तत्र 'मा त्वमुत्कामीः'
इति शब्दा वृहदारण्यकोपनिषदि (६।१।१३) वर्तन्ते । तेषां
'प्रयोजनम्' (८७३।८) इत्यत्र । नात्र ।
- ८७३ १० 'प्रवर्धय च नः' (८७२।२९) 'रन्धय च' (२९)
न पठितम् ।
- ८७४ १०-११ अस्माकम् (अनुगृहाण) अस्मान् ।
१४ असुनीतिर्हविर्न भजते । तस्मै हविर्न ह्यीयते । अतो घृतशब्दोऽ-
त्रोदकवाची ।
- ८७४ २० 'हि' (१४) न व्याख्यातम् । 'ज्योतिषो वोदकस्य वा' (१७)
इति भाष्ये । वृत्तौ 'वा' स्थाने 'च'कारः (८७९।७) । आयुः
ज्योतिः स्यादुदकं वा स्यादिति भाष्यार्थो भवेत् । दुर्गमतेऽयं
श्लोकः शब्दो मध्यमस्य ज्योतिष उदकस्य च ।
- ८७५ ९ 'बोधयत्यस्मृतः' इत्यपपाठो भवेत् । अस्मृतो न स्मृतोऽहं
त्वयेत्यायुं बोधयतीत्यर्थः स्यात् । भाष्ये 'बोधयन्' (८७४।
१६) इति न 'बोधयति' इति । 'बोधयत्यस्मृत इति' प्रसिद्धं
भाति यस्मात् 'मनुष्यस्य कर्णौ' इत्यन्वयः ।
७ 'सतत्त्वः=तत्त्वतः ।
- ८७६ ७-८ अभिमतफल० + अभिमतकाम० = अभिमतफलकाम० इति
ग. च. ज. पुस्तकेषु द्वौ पाठौ मिश्रितौ (२६) ।
९-१० अस्मानाकम्पितहृदयान्करोति ।
१३-१४ योऽस्मान्प्रति पापमतिस्तं पापमतिम् ।
२३ 'स्त्रवेदिति० नष्टमित्येवं' (२८-३०) ग. च. ज. पुस्तकेषु
(१६-१८) इत्यत्र वर्तमानमप्यत्राधिकं प्रान्तभागे विवरण-
मिति लिखितं वृत्तौ लेखकप्रमादादन्तर्भावितं स्यात् ।

पङ्क्तिः

८-९ 'परुषि० सुखात्किल' दुर्बोधम् । पाठावपि न समीचीनौ (२९) ।

९ 'तस्य शेषोऽस्येति वा' इदमपि दुर्बोधम् ।

८-९ 'हि' (१) 'जातानि तानि' (२) न पठितम् ।

१ इति वा? इत्यत्र वाशब्दः । स वृत्तौ न व्याख्यातः ।

२४ 'यज्ञोखा' (१८) न व्याख्याता । दुर्गस्वीकृतमूले 'यज्ञोऽस्य' इति पाठः स्यात् । चयने मृत्तिकाया उखा निर्मायते । तस्यां चाग्निर्निधीयते । 'मित्रैतां त उखां परिदद्याम्यभित्त्या एषा मा भेदि । इति मित्रायैवैनां परिददात्यभित्त्यै । यदि मित्रायापरित्ता भिद्येत' (मै० सं० ३।१।८) । मा स्विधत् = मा भिद्यताम् ।

१२ 'धर्मस्य' इत्यस्य स्थाने ग. च. ज. पुस्तकेषु 'वामदेवस्य' (२७ २८) ।

१७ पाकशब्द ऋग्वेदेऽपकप्रज्ञवाची ।

१८ 'अन्तित इति ऋषेर्दृष्टार्थस्य' (८) 'एषा' (९) न पठितम् । प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता' (८) न व्याख्यातम् ।

२० 'स च तामुपजीवति' इत्यवश्यमर्थसमाप्त्यर्थम् । 'वृत्तेरध्यात्मवत्' दुर्बोधम् ।

२१ 'दुरुरवा असीति प्राण एव तत्.' (मै० सं० ३।९।५) ।

१३ 'तथा तथैनम्' अत्रेतिशब्दो व्यर्थः ।

१४ तस्य दुरुरवसोऽधिकारस्तस्माद्दुर्भवः । कस्योद्भवः । अगवा । तदधिकारस्योद्भवः = तदधिकारः । उद्भवशब्दो व्यर्थः ।

२१ ऐडे = इड, पुत्रे ।

२२ प्रजायमानां = प्रसूयमानाम् ।

२३ 'अपरप्रहेयाः' इति ग. च. ज. पाठः (२९) । स एवार्थः ।

२ 'नोऽमुरान्' अत्र नःशब्दो व्यर्थः ।

इति दशमोऽध्यायः ।

पत्रं पङ्क्तिः

अथैकादशोऽध्यायः ।

८८३ २०-२१ 'सोममादाय सहस्रं सवानयुतं च सवानभरत्' इति सर-
लोऽन्वयः ।

८८४ १ तेषां केषाम् । पृष्ठ्याना दक्षिणाभिः संबन्ध इत्यर्थः स्यात् ।

२-३ 'तृसौ प्राप्तायाम्' इत्यन्वयः ।

३ पृथक्त्वपक्षः = अनेकदेवतापक्षः । पृथक्त्वपक्षे = यदा बहवो
देवान्तेदेन्द्रे सोमपानेन मत्तो भूत्वेतेरान्देवान्सोमपानविरहिता
नृक्वाऽभ्यजयत् ।

३-४ सोमाहरणे ये प्रतिबन्धमकुर्वन्ते विश्वावस्वादयो गन्धर्वा अरा-
तय । तान्पृथिव्यामवरुह्याजहात् । ते गन्धर्वा इन्द्रं पृथि-
व्यामनुसर्तुं नाशकनुवन् ।

४ त्रित्वं तिस्र एव देवता इति नैरुक्तपक्षः । दुर्गकृतमिदं विव-
रणं क्लिष्टम् । त्रित्वपक्षे = यदा तिस्र एव देवतास्तदाऽद्याना-
भ्यजमानान्दानमतीनकरोत् ।

८ 'ऐन्द्रे च सूक्ते सोमपानेन च स्तुतस्तस्मादिन्द्रं मन्यन्ते'
(८८३ । १४) न व्याख्यातम् । कोऽयं श्येन इति
प्रश्ने श्येन इन्द्रो यस्मादियमृगिन्द्रसूक्ते वर्तते । श्येनः सोमपाने-
नात्र युक्तः । सोमपानं च नित्यामिन्द्रेण संबद्धम् ।

९ यदा सहस्रशब्देन सहस्रसाव्यं सत्रमभिप्रेतं तदाऽयुतं दक्षिणा
न सवाः । 'सहस्र सहस्रसाव्यम्' इत्यत्र 'सहस्रं'
(८८३ । ११) 'तत्रायुतं सोमभक्षाः' (१२)
'इति' ('इत्यैन्द्रे' इत्यत्र १४) न पठ्यते ।

१० सहस्रसाव्यं सत्रं विकल्प्यते ।

१२ आवृत्तिरग्नेः = अग्निष्टोमम्याऽऽवृत्तिः ।

१३-१४ अहनि दश चमसभक्षाः ।

१५-१६ सोमर्षायं निष्प्रीणाते = सोमपानमर्हति ।

पङ्क्तिः

- १६ प्रश्लेषे = रूढिबाधकारणे । सहस्रशब्देन रूढ्या सहस्रसा-
व्यमेव सत्रमभिप्रेतम् ।
- १७ सत्रे ऋत्विग्भ्यो दक्षिणा न दीयन्ते । इदं रूढिबाधाय न पर्याप्तं
कारणम् ।
- २० प्रसर्पका नाम ऋत्विग्भिः शेषाः । ते सोमयागे ब्रह्माण्मनु प्रस-
र्पन्ति । तेभ्यो दीयमानः सोमः प्रासर्पकः (आ० श्रौ० १ । ३) ।
- २४ अस्ति प्राप्तिः = दृश्यत उदाहरणेभ्यः । हिमशब्दो विशिष्टा-
र्थवाची सामान्य उदकार्थे प्रयुज्यते ।
- २५ एवं वाऽर्थः कर्तव्यः ।
- २ हिमवति भवो हैमवतः । मूजवति भवो मौजवतः ।
- ८ स सोम आत्मानं त्रिषु स्थानेषु स्थापनेन तनूकरणे तनूत्रय-
करणेऽयतत । इदं प्रान्तभागे विवरणत्वेन लिखितं मूलेऽन्तर्भा-
वितं स्यात् । अथवा । सतनूकरण इति सर्वं सामासिकं
पदम् । इति सोमस्य सतनूकरणे ब्राह्मणम् । ' यत्र वा
एषोऽग्रे देवानां हविर्भवत् तद्धेक्षांचक्रे मैव सर्वेणैवाऽऽत्मना देवानां
हविर्भवमिति स एतास्तिस्त्रस्तनूरेषु लोकेषु विन्यवत्त ' (शत०
ब्रा० ३ । ९ । ४ । १२) । ' तद्धै देवा अस्पृणवत् ।
तेऽस्यैतेनैवैतास्तनूराप्नुन्वत्स कृत्स्न एव देवानां हविरभवत् ' (शत०
ब्रा० ३ । ९ । ४ । १३) । ' इति स तनूकरणे ' इति मैत्रायणीसंहितायां (४ । ९ । ४) नास्ति । तत्र
' स्वतनूभूतम् ' इत्यस्य स्थाने ' सतनुं भूतं ' वर्तते । ' आ-
प्याययति ' इत्यस्य स्थाने च ' आप्याययन्ति ' ।
- १० आ-मानं सोममेवाऽऽपायेत्यन्वयः ।
- १३ आश्चर्यं = चित्रतः = विरल्या = कश्चित् ।
- १६ परार्थं = परार्था ।
- २३ 'इति सा निगदव्याख्याता(१९)' न पठिनं न वा व्याख्यातम् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

८८६

- १ अप्राकृतः = अप्रकृतः = अमस्तुतः । तस्य प्रक्रिया उक्तिः ।
 ६ अर्बिदेवमापन्नश्चन्द्रमाः कथं प्रकृतः ।
 १७ 'सूर्याविदे वधुवस्त्रं दुद्यात्' (आ० गृ० १ । ८ । ८)
 इत्यनेन कथं विवाहे विनियोगः ।
 ८ एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः' (शत० ब्रा०
 १ । ६ । ४ । ९) ।
 ३ 'नाराशंसावभिप्रेत्य पूर्वपक्षापरपक्षाविति वा' (८८७ । १६)
 न व्याख्यातम् । 'आप्यायितांश्चमसान्साद्रयन्ति ते नाराशंसा
 भवन्ति' (आ० श्रौ० ९ । ६) । नाराशंसा नाम त्रयः
 पितृगणा ऊमा और्वा. काव्याश्चेति । ते चानुसवनमाप्यायितानां
 चमसानां देवता भवन्तीति नाराशंसाश्चमसा भवन्ति । सोमपक्षे
 नाराशंसांश्चमसानाप्याययन्ति । चन्द्रमःपक्षे पूर्वपक्षे वर्धमाना
 कला अपरपक्षे विहीयमानाः कलाः ।
 ६ 'आप्यायस्व सं ते पयासीति भक्षशेषान्' (आप्याययन्ति)
 (मा० श्रौ० २ । ४ । १ । २) ।
 १० अविनाभावात्कर्मणः । किमिदं कर्म ।
 १४ एकैकश्येन = एकैकशान्तस्य भावः ।
 १६ औपवेः सोमस्य चन्द्रमसः संपद्यते । अस्मिन्वाक्ये कः कर्ता ।
 चन्द्रमसा साम्यं संपद्यत इति स्यात् ।
 १७ स्मरन्ति (= पठन्ति) यस्मादायुर्वेदः स्मृतिसदृशः ।
 'सर्वेषामेव सोमाना पत्राणि दश पञ्च च ॥
 तानि शुद्धे च कृष्णे च जायन्ते निपतन्ति च ॥
 एकैकं जायते पत्रं सोमस्याहरहस्तथा ।
 शुद्धस्य पौर्णमास्यां तु भवेत्पञ्चदशच्छदः ॥
 शीर्यते पत्रमेकैकं दिवसे दिवसे पुनः ।
 कृष्णपक्षस्ये चापि लता भवति केवला ' ॥
 (सुश्रुतः २९ । २०—२२) ।
 ३ 'सोमो लक्षणत्वान्' दुर्वोधम् । सोमोपलक्षणत्वान्' स्यात् ।
 यथा मामोपलक्षण० पूर्वम् । मासश्चन्द्रमाः सोममुपलक्षयति
 यथा पूर्वं सोमो माममुपालक्षयत् ।

८८९

पङ्क्तिः

१० अतिमूर्तिर्दूणाशो बहुसुवर्ण इत्येकाहस्य त्रीणि नामानि । 'शुक्लं चान्द्रमस्या' (आ० श्रौ० ९ । ८) ।

१३-१४ पूर्वपक्षाद्युपक्रम्य = पूर्वपक्षादिमुपक्रम्य ' इति स्यात् ।
' पूर्वपक्षादिमभिप्रेत्य ' (३-४) इति मूले ।

१५-१६ ' अपरपक्षान्तेषु ' अत्र बहुवचनम्य न किमपि प्रयोजनम् ।

२१ ' एककर्म ' इदमशुद्धम् । सर्वं वाक्यं दुर्बोधम् ।

२२ ' पूर्णे चन्द्रमस्युपवसेत्पौर्णमासीमदर्शनेऽमावास्यायाम् ' (मा० श्रौ० १ । ४ । १ । १) । वृत्तावुपवसेदित्यस्य स्थाने ' उपचये ' शब्दोऽशुद्धः । ' इत्यर्धमासेज्यामभिप्रेत्य ' (६) न व्याख्यातम् । अर्धमासेज्या = दर्शपूर्णमासेष्टिः ।

६ समाने हविषि=राजयक्ष्मगृहीतस्येष्टौ (मै० सं० २ । २ । ७ ॥ ४ । १२ । २) ।

१५ ' इह तु० स्मरन्ति ' इति पूर्वपक्षः ।
भूमैर्धोजनलक्षे तु सौरं विप्रास्तु मण्डलम् ।
लक्षे दिवाकराच्चापि मण्डलं शशिनः स्मृतम् ॥ (ब्रह्मपुराणम् २३ । ९) ।

१७-१९ ' सर्वदेवताना द्युस्थानत्वे सत्यपि कर्मसंयोगेन विशेषस्थाननियमो विवासितः ' इत्यन्वयः ।

२० ऐन्द्रेषु=इन्द्रकर्मसु ।

२३ तस्य = इन्द्रस्य । कर्तृत्वेन मेघवधस्य ।

७ मृत्यु. = मृत्यु. । मृ = मृतं + च्यु = च्यावयति ।

८ क्षीणकर्मा = हस्तपादान्प्रसारायितुं न शक्नोति ।

१५-१७ ' परं मृत्यो ध्रुवं मृत्यो० भवति ' इदं दुर्गस्वीकृतमूले नाऽऽसीत् । ' परं मृत्यो ध्रुवं मृत्यो० ' इत्यादि न भाष्यम् । किंत्वृक्सदृशो मन्त्रः । कुतस्त्य इति न ज्ञायते । ' कथितं तेन मृत्यो मृतं च्यावयते भवति मृत्यो० ' इदं दुर्बोधम् । ' मदेर्वा मुदेर्वा तेषामेषा भवति ' इदमसंबद्धम् ।

- पत्रं
८९२ पङ्क्तिः
१९ 'संकुसुको नाम यमपुत्रस्तस्याऽऽर्षम्' इति पाठोऽवश्यः। अन्यथा नामपदस्य न किमपि प्रयोजनम् । 'संकुसुकस्याऽऽर्षम्' इति समीचीनतरम् ।
- २४ 'तवानाधृष्याः' इत्यन्वयः ।
- ८९३ १-३ 'त्वेपमित्या०' इदं कस्योदाहरणम् । इदमप्यसंबद्धम् । 'त्वेप-मित्या० व्याख्याता' दुर्गम्बीकृतपाठे नाऽऽसीत् ।
- २१ 'मोदमानाय स्तूयमानाय' (१२) 'सर्वं विभूताय' (१३) न पठितम् । 'स्तूयमानाय' इति 'शब्दाध्यमानाय' (१२) इत्यस्यार्थः ।
- २२ 'प्रीतो' (१३) न व्याख्यातम् ।
- ८९४ १ 'बलमायतिर्महती' इदं केषां शब्दानां विवरणम् । भाष्ये न तादृशाः शब्दाः ।
- ३ 'द्यावापृथिव्यौ वः परिचरतः' (८९३ । १४) अत्र 'वः' शब्दः किमर्थः । प्रसिप्तः स्यात् ।
- ६-७ उत्तमेन ज्योतिषा सह व्यपदेशात्पठनात् ।
- १९ 'उदाशिश्चियत्' (१०) 'सविता देव इति' (११) न पठितम् ।
- १७ सर्वगन्तूणां गमनस्य वायुपूर्वकत्वादित्यन्वयः । उच्छ्रयणमुप-धत्ते ।
- २१ 'कृत्वा देवानामजनिष्ट चक्षुराविरैर्कर्भुर्वनं विश्वमुपाः' ।
- ८९५ ७ अधर्ववेदे 'ददातु' इत्यस्य स्थाने 'दधातु' सत्यधर्मणः' इत्यस्य स्थाने 'विश्वराधसः' (अथ० सं० ७ । १७ । २) । मैत्रा-यणीये 'ददातु दाशुपे' इत्यस्य स्थाने 'दधातु नो रयिम्' (मै० सं० ४ । १२ । ६) ।
- १७ 'ददाति' । मूले 'ददातु' (९) ।
- ८९७ १० यथा मध्यस्थानदेवतासु वायुः प्रथमस्तथा मध्यस्थानदेव-गणेषु मरुतः प्रथमाः ।
- ११ यत्र बहुभिर्मरुद्भिर्मरुत्समुदायेन कर्म साध्यं तत्र वायुर्देवता ।
- ११-१३ सप्तकपालेषु मारुतेषु गणेषु विज्ञाताः । मरुत्त्वानि (मै० सं० २ । ६ । ६ ॥ २ । ११ । १) ।

पङ्क्तिः

१२-१३ यत्र सप्तकपालेषु पुरोडाशः क्रियते तत्र मरुतः पृथक्शो निर्दिश्यन्ते । 'सप्तकपाला भवन्ति सप्तसप्त मारुता गणास्तस्मात्सप्तकपाला गणेन गणेन जुहोति गणश एव मरुतः प्रीणाति' (मै० सं० ३।३।१०) । 'सप्तकपालो भवति सप्त हि मरुतः' (मै० सं० २।१।८) ।

१३ सप्तस्कन्धाः । तैर्वायुना सह विचरन्ति मरुतः । स्कन्धाः = गणाः ।

१४-१९ सर्वे देवगणा मरुतः ।

१९ मध्यमा वाक् स्त्रियः सर्वाः पुमान्सार्धं च मध्यमः । गणाश्च सर्वे मरुतो गुणभेदान्पृथक्पृथक् ॥ (बृहद्दे० १।४८) । दुर्गकाले बृहद्देवताग्रन्थे भिन्नाः पाठा आसन् । अधिकाश्च श्लोकाः । च. ट. पुस्तकयोः—

‘ सर्वा स्त्री मध्यमम्पाना पुमान्वायुश्च सर्वगः । गणाश्च सर्वे मरुत इति बृहदानुशासनम् ’ ॥ इति पाठान्तरं प्रान्ते दीयते ।

२०-२१ 'वा मितरोचिनः' इत्यत्रापि 'वा+अमितरोचिनः' इति संधिविग्रहः शक्यः ।

२१ 'तेषाम्' इत्यस्य केनान्वयः । 'तेषां मरुतां भाष्यस्य' इत्यन्वये कोऽर्थः । समानसंहितत्वाद्भाष्यस्य तेषाम् । तेषां=मरुताम् । मरुच्छब्दस्य भाष्यं समानसंहितम् । समाना संहिता अन्य तत्समानसंहितम् । 'मरुतो मितराविणो वा मितरोचिनः' । 'मरुतो मितराविणः' इत्यत्र मितराविणोऽमितराविणश्चेति द्वे अपि पदे संभवतः । ' वा मितरोचिनः' इत्यत्रापि तथैव । एवं भाष्यं समानसंहितम् ।

२२ 'महद्ब्रुवन्ति इति महाराष्ट्रपाठः । ग. ज. पाठः ' महद्ब्रुवन्ति ' (३०) । अयं पाठः शुद्धः । किंत्वयं निरुक्तमूले नैकस्मिन्नपि पुस्तके लभ्यते । ' र्वन्ति ' इदमशुद्धम् । दुर्गस्वीकृतमूले 'महद्ब्रुवन्ति' इति पाठः स्यात् ।

पत्रं पङ्क्तिः

- ८९८ १ मितशब्देनामितशब्देन वा बाहुल्यं बहुप्रकारता च दृश्यते ।
‘महद्ब्रुवन्ति’ इत्यनेन रवस्य महत्ता दृश्यते ।
- १७ ‘अश्वपतनेः’ (७) ‘कल्याणकर्माणो कल्याणप्रज्ञाः’ (८-९)
न पठितम् ।
- ८९९ १४ ‘सहजोपणाः’ (७) न पठितम् । ‘तृष्णवतृष्यतेरुदनुसुदन्त्य-
तेः’ (८) न पठितं न वा व्याख्यातम् ।
- २१-२२ तदव्यापत्तये = विरिन्नं वा व्यापन्नं व्यर्थं मा भूत् ।
- २४ ‘मह्यं ग्रहं गृह्णाति’ इत्यस्य स्थाने मै० सं० (४।८।७) ‘मह्यं
गृह्णाति मह्यं गृह्णाति’ इति ।
- ९०० ३ मेघे भवा मेघ्याः ।
- १२ ऋतेन = भूत्या । भान्ति भवन्ति वा = युज्यन्ते ।
- ९०१ ३-४ अनामितायै = पुनरुक्तिपरिहाराय ।
- ९-१० ‘सूरस्याना सूरप्रज्ञाः’ (९००।१८) न पठितम् ।
- १० ‘तस्य यत्स्वपत्.’ (९००।२४) अत्र ‘तस्य’ इत्यस्य स्थाने
दुर्गस्वीकृतमूले ‘अस्य’ आसीदिति भाति ।
- १९ ‘विम्वा’ इदं प्रथमैकवचनम् । ‘विम्बना’ इति तृतीयैकवचनम् ।
- ९०२ ९-१० ‘यदस्वपथ गृहे’ (९००।२४) न पठितम् ।
- १४ अज्ञाना रसोऽङ्गिरसः (बृह० उ० १।३।८) ।
- ९०३ १ पृष्ठचस्येदं पाठिकम् ।
- २ ‘बहुरूपाः’ (९०२।१८) ‘गम्भीरकर्माणो वा गम्भीर-
प्रज्ञाः’ (१९) ‘इत्याशिनम्’ (२०) न पठितम् ।
- ९०४ १ तदधिकारो घुलोक्त्वासायाधिकारः पुण्यकर्म तस्य प्रसये ।
- ४ ‘प्राणमन्वीयुः’ (९०३।१६) ‘सत्यज्ञा वा यज्ञज्ञाः’
(१७) ‘न’ (१७) ‘हानेषु’ (१७) न पठितम् ।
- १३ प्रसङ्क्ष्यमाणान् = ऋद्धिनिर्वचनप्रमद्वेन येषां निर्वचनमवश्यं-
भावि तान् ।

पङ्क्तिः

७-८ 'नः' (९०४।२४) न पठितम् ।

१२ 'अपि चैषाम्' (२) मूले । वृत्तौ 'तेषाम्' ।

१८ स्तुत्युपपत्तेः = देवतामध्ये यस्मादेषां स्तुतिस्तरमात्स्तुतिरुपपन्ना योम्येत्यस्मात्कारणादिते देवा एव देवगणा वेति नैरुक्तमतम् ।

२० अग्न्यादिदेवानां विपर्ययो विरुद्धस्वभावः । नैतेऽग्न्यादिदेवसदृशाः । एतद्विवरणं तद्धर्मदेवताप्रकार इत्यनेन विरुद्धम् । तस्माद्विपर्ययः = विशिष्टः प्रकारः । एत ऋषयोऽअग्न्यादिदेवतानोमव विशिष्टः प्रकारः । तत्तद्धर्मविशिष्टानां देवतानां प्रकारः ।

१२ अस्य सूक्तस्य वसिष्ठ ऋषिः स एव देवता । ठ. ड. पुस्तकयोः 'वसिष्ठस्याऽऽर्षम् । इन्द्रदेवताकम्' । किंत्वत्रेन्द्रो न स्तूयते । श्रित्यञ्च इति सूक्तस्य नवानामादितस्त्वृचाम् ।

वसिष्ठ एव (आद्यानुक्रमणी ७ । ३ ॥)

संवादं सूक्तमैन्द्रं वा श्रित्यञ्चन्तु प्रचक्षते (बृहदे० १।१६३) ।

२० असङ्गेन = अप्रतिबन्धेन ।

१० एतस्मादेव दर्शनात् = अस्माच्छतपथवाक्यात् ।

१२ 'इन्द्रो० मृचि' इदं प्रान्ते लिखितम् 'ऐन्द्र्याम्' इत्यस्य विवरणं वृत्तावन्तर्भावितं स्यात् । ऐन्द्रीशब्दो बहुकृत्वः पूर्वमागतः ।

२९ 'आप्तव्यानां' (१७) 'दानवान्' (१८) न पठितम् ।

१ आ + ह + स + ते = आर्षते । इदं दृधातोर्लृटि रूपम् ।

३ सह् + स + ते = सासते । सहधातोर्लृटि रूपम् ।

१९ लिङ्गविशिष्टस्य मध्यमस्य विभवे व्याख्यातः । यदा मध्यमो देवगणस्तदा लिङ्गकथनमनवश्यम् । यदा मध्यम इन्द्रो वायुर्वा तदा तौ लिङ्गविशिष्टौ । पुरुषावित्यर्थः ।

तयोः स्त्रियोऽत्र समास्रताः । :

१९ अवश्याय एव रम उदकं तम्यानुप्रदानं मन्धिवेद्यायाम् । तेन प्रथमं तामभिप्रेत्योच्यते ।

पत्रं
९०९

पङ्क्तिः

- १६ यदादित्यः (२९) = यत् आदित्यः । यत् = यदा ।
 १७ अदितिः = संधिवेला ।
 १८ ' व्रते कर्मणि ' (३) ' आशास्तेर्वा ' (५) ' बहुरथः ' (५) ' अरी-
 न्नियच्छति ' (६) ' जन्मसु कर्मसूदयेषु ' (७) न पठितम् ।
 १९ तदेवं = तत् एवम् । तत् = तदा । ' अर्धवर्तिन्यादित्ये '
 दुर्बोधम् । आदित्ये अर्धवर्तिनी अदितिः । अर्धेन रात्रौ वर्ततेऽर्ध-
 नाहनि । एवमादित्येऽर्धवर्तिन्यादितिः । यतो यस्मादादित्या-
 छब्धस्त्वयाऽऽत्माऽन्तित्वं जन्म तस्मिन्नर्धवर्तिनी त्वम् ।
 २० ' त्वमपि ' अत्रापिशब्दस्य किं प्रयोजनम् ।
 २२ स्वाधिकारयुक्तासु = इतिकर्तव्यताः स्वाधिकारयुक्ताः ।
 प्रत्येकस्य स्वोऽधिकारः । तत्संबद्धा इतिकर्तव्यताः कर्त-
 व्यानि । नराः स्वाधिकारयुक्ता इतिकर्तव्यतां कुर्वन्ति ।
 २६ ' स्तुवन्ति ' (७) इत्यस्य स्थाने दुर्गस्वीकृतमूले ' आह्वयन्ति '
 आसीदिति भाति ।
 २० वरुणादयः सर्व आदित्याः । तन्मध्येऽयं स्तुतः । तस्मादयम-
 प्यादित्यः । अदितेर्जात आदित्यः ।
 २१ प्रमाणं विदन्ति ते प्रामाणिकाः । ' तदर्घीते तद्वेद ' (पा० ४ ।
 २ । १९) । स्तुतां प्रामाणिकाः । स्तुतिं प्रमाणं ये विदुस्ते ।
 २११ १-३ ' अदितिर्दाक्षायणी । अदितेर्दक्षो अजायत ' इत्येव पर्यायम् ।
 ' दक्षाददितिः पारि ' इत्यनवश्यम् ।
 ३ संहितायां ' भूर्ग्वे० ' इति पूर्वार्धम् ।
 ६-७ मनुष्यादिशः कथमजायन्तेति न ज्ञायते । दिशां प्रजननं स
 एव भावः क्रिया । इदं कर्मासी कथमकरोत् ।
 ७ ' देवताजन्म प्रतिक्रियया ' इदं दुर्बोधम् । दिश एव देवता
 स्तासां जन्मार्थं प्रतिक्रिया यज्ञकर्म तद्द्वारेत्यर्थः स्यात् ।
 ११ समानजन्मानां समनन्तरजन्मानां । प्रातःसंधिवेलाया आदित्यो
 जायते । सायंमंधिवेलाऽऽदित्याज्जायते । ममानशब्दः कथं
 समनन्तरवाची ।

पङ्क्तिः

- १३ देवधर्मेण = माहाभाग्याद्देवताया इत्यादि (निरु० ७।४) ।
- १३-१४ अदितिर्महानात्मा । तदपेक्ष्यादितिः कारणं जन्महेतुर्दक्षस्य भवति ।
- १४-१५ यदा दक्षो महानात्मा तदा सा दक्षस्य कार्यं च भवति ।
- १२-१३ ' किल्बिदं सुकृतकर्मणो भयं ' (९११। २४) न व्याख्या-
तम् । ' इति वा ' (२४) न पठितम् । तेन ' किल्बिपं
कीर्तिमस्य भिनत्ति ' इति दुर्गस्वीकृतपाठ आसीत् । किल् +
विपं = किल् + भिदम् । किल् = सुकृतकर्म । भिदं =
भयम् । पापं सुकृतकर्मणो विभेति । अथवा । किल् =
कीर्तिम् । भिदं = भिनत्ति । पापं (पापकर्म) अस्य पापकर्म यः
करोति तस्य कीर्तिं भिनत्ति ।
- ९ ' महदेतत् ' इति ' अध्वानम् ' इत्यस्य विशेषणम् । तद्-
शुद्धम् । ' महान्तमेतम् ' इति शुद्धम् ।
- १० ' जङ्गम्यतेः ' (९१२। २१) ' रसतेः शब्दकर्मणः
कथम् ' (२४) न व्याख्यातम् ।
- १२ अर्थस्याऽऽधानम् = अर्थमस्मात्स्वाधस्ते । ' का तेऽन्मास्य० '
(९१२। २१) इत्यत्र वृत्तौ ' का तवास्मा० ' ।
- १४ ' पारित एनां तवम् ' (९१२। २२) ' इति सतः '
(२३) ' पयांसिगिति ' (२३) इत्यत्र ' इति ' आल्यानं '
(९१३। १) न पठितम्
- १७ धनुःसहस्राण्यष्टौ च गतिर्यामां न विद्यते ।
न ता नदीशब्दबहा गर्तास्ताः परिकीर्तिताः ॥ (म. पुस्तके
टिप्पणी) ।
- १८ ' कथं रसानि० ' इत्यत्र ' कथम् ' आश्चर्यं । तान्युदकानि
रसानि रसवन्ति पेयानि कथं स्युः ।
- २३ चिरनाञ्जिनौ वृष्टिन्युपरमः ।

पत्रं

पङ्क्तिः

९१४

३ पुनरागच्छेत् = संतनुयात् = अविच्छिन्नं संततं कुर्यात् ।
पराचं = पराङ्मुखैर्भग्नैः । वर्षवत्सर्वाचिन्त्यम् । यस्मात्तत्रि-
रविच्छिन्नम् । अष्टमसप्तन्यावद्देवो न वर्षति तेन ।

४--५ अर्थं पूर्वमभिहितवती किं त्वं येनात्राऽऽगताऽसि ।

९ किं वा न जातं = किमस्माभिर्न कृतं येन पुनर्नाऽऽगता स्वम् ।

१६ आश्रलायनसूत्रे प्रत्यङ्गं न कथ्यते । अन्वारम्भणीयेष्टावस्या ऋचो
विनियोगः (आश्र श्री० २ । ८) ।

२० ' अन्नवती ' (१३) ' कर्मवसुः ' (१४) न पठितम् ।

९१५

१२ ' इमानि च ' (३) न व्याख्यातम् ।

१४ वार्षेषु सर्वेषु प्रज्ञानेषु प्रज्ञेयेषु वस्तुषु विधीयते । तस्मात्स-
स्वती मध्यमा वाक् ।

९१६

६ ट. पुस्तके ' निर्वचयन्ती ' इत्यस्य ' प्रज्ञापयन्ती ' इति
प्रान्तेऽर्थो लिख्यते । स ठ. ड. पुस्तकयोः ' निर्वचयन्ती '
इत्यस्य स्थाने लिख्यते (२३) ।

११-१२ ' एता ओषधीः ' इत्यन्वयः । ' एतानि ' (२५) इति
पाठे ' एतानि पचांसि ' ।

९१७

१४ ' सहोपन्यासः ' इत्यन्वयः ।

१६ ते अभिधाने निर्ज्ञोते = एतत्तयोर्निर्वचनम् अर्थः ।

२१ नक्षत्रेष्टकोषधानं (मै० सं० २ । १३ । २९ ॥ तै० सं०
४ । ४ । १०) । तेषां मध्ये पौर्णमास्यमावास्या न निर्दि-
श्यते । तैत्तिरीयसंहितायां नक्षत्राणामन्ते ' पूर्णा पश्चाद्यते
देवा अद्भुः ' इति वाक्यम् । तस्य कल्पसूत्रेऽयं विनियोगः ।
"पूर्णा पश्चादिति पौर्णमासी पुरस्तादुपधाय कृत्तिका नक्षत्रमिति
नक्षत्रेष्टका उपध्यादा विशाम्नाम्नाम् । ततः यत्ते देवा अद्भुः'
इत्यमावास्यां पश्चादुपधाय ततः शेषाः । सर्वान्ते पौर्णमासीम्" ।
' पूर्णा पश्चादुत् पूर्णा पुरस्तात् ' इति पौर्णमासीमुद्दिश्य
ऋक् । ' यत्ते देवा अद्भुः ' इत्यमावास्यामुद्दिश्य (तै०
सं० ३ । ५ । १) ।

२२ ' प्रदर्शनात् ' अत्र ' प्र ' व्यर्थम् । दर्शनं = ब्राह्मणवाक्यम् ।

पङ्क्तिः

- १ चतुर्दशके पक्षे = यत्र चतुर्दशाहान्येव वर्तन्ते । चतुर्दशी-संयोगाच्चन्द्रमसि कलाहीने सत्यनुमतिरित्युच्यते । तत्संयोगाभावेन चन्द्रमण्डले पूर्णे सति राकेत्युच्यते ।
- ४ ' ऋत्वे दक्षाय नो हिनु ' इत्यस्य स्थाने ' इयं तोकाय नो दध.' इति काठकसंहितायाम् (१३ । १६) । तदेव यास्कमूलं यस्मात्तस्य भाष्ये ' अन्नं च नोऽपत्याय धेहि ' (६) इति वर्तते । ऋत्वे दक्षाय नो हिनु = अस्माकं दक्षाय ऋत्वे दक्ष-ऋतौ समृद्धयामे हिनु प्रीतियुक्ता भव ।
- ५ ' प्र ण आयूंषि ' इत्यत्र (मै० सं० ३ । १६ । ४) ' प्र ना आयूंषि ' ।
- १५ ' पृथुजघने ' (८) ' असि ' (९) ' म्रुकः स्त्यायनेः संघातः ' (८) न पठितम् ।
- १६ ' सु असास्वेषु सीदतीति वा ' (९-१०) न पठितं न वा व्याख्यातम् ।
- ४ ' काहुतं हविर्मुहोतीति वा ' (९२० । ११-१२) न पठितं न वा व्याख्यातम् ।
- ७ ' सुवृतम् ' (२६) इति पाठान्तरं ' मुकूनम् ' इत्यस्य स्थाने । (तै० सं० ३ । ११ । ५) ' मुभगम् ' ।
- ८ तस्यामेव संहितायां ' पितृणां तस्यै ' इत्यस्य स्थाने ' पितृणां तस्याः ' ।
- १६ ' विदितकर्माणं (९) ' मुहानामाह्वये ' (१०) ' नः ' (१०) न पठितम् । विघ्नना ज्ञानेनापांमि यम्य ।
- १३ ' प्रत्यानचस ' (९) इति परस्मैपदम् ।
- १४ ' हि ' (६) ' परिष्वङ्गने ' (७) ' अभानेन ' (८) ' प्रत्यानचस ' (९) न पठितम् । ' परिष्वनस ' भाष्ये किं न पठितं यास्केन । तदावदयसम् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

९२२

१६ दुर्गस्वीकृतमूले कदाचित् 'परिष्वजस्व' 'परिष्वजताम्' इति पाठः स्यात् ।

१७ आधानेन = अध + अनेन ।

१८ उपगन्धमानेन समानेन त्वद्योग्येन पुरुषेण ।

१९ कल्याणाय भद्रां कल्याणभद्राम् ।

२१ उभयस्थाना = द्युलोकेऽन्तरिक्षे च वर्तमानाम् ।

९२३

२ संवित्साधने = ज्ञानसाधनम् ।

२०-२१ आत्मनो ज्योतिरात्मनः शब्दश्च ।

२४ आत्मानं प्रतिलभते = विद्युतः पुनः पुनर्द्योतनं पुनर्जन्म ।

९२४

१ अन्तरिक्षलोकस्य काम्यानीष्टान्युदकानि । 'अन्तरिक्षरमाणानि' इदम् 'अन्तरिक्षलोकस्य' विवरणम् । अन्तरि (मध्ये) + क्ष (क्षरमाणानि) = मेघोदरेषु मेघोदरेभ्यः क्षरमाणानि । अप्यान्यम्मयानि काम्यानीष्टानि वस्तूनि । अप्या = अद्भ्यो जाता । अथवा । अप्या = अप्यान्युदकसंबद्धानि ।

२ अधिपत्नी = आधिपत्यं कुर्वती ।

३ अपः = अत्यप. = अद्रम्य । 'अयं' (९२३।१९) 'अद्रम्य.' (१९-१६) 'इति' (१६) न पठितम् ।

४ मनुष्यः = मनुषो जातो मनुषे हितो वा । 'मनुष्यः' (१६) न व्याख्यातम् ।

१० वपुष्मत्तया = मौन्त्र्येण ।

१७ 'नम्य वाऽवदयम्' अत्र 'धा' शब्दस्य किं प्रयोजनम् ।

१८ अस्या ऋषो भाष्यस्य च दुर्गहनोऽर्थो न मरत्यः ।

२२ (मं० सं० ४।१२) 'वदित्या' ।

२३ 'निनोपि' इत्यस्य स्थाने 'हिनोपि' ।

पङ्क्तिः

- १ अङ्कस्थाः पाठभेदा अल्पांशेन दुर्वेषाः (२१-२२) ।
 'अधिगवन्ति' (२६) 'अङ्गुष्वन्ति' (२७-२८) अस्य
 शब्दस्यात्र न किमपि प्रयोजनम् । 'इत्यविरोधः' अस्य पाठान्तरम्
 'असमानार्थो मे' (२६) मम मते एतावर्धाकसमानौ
 विरुद्धाविति पाठान्तरस्यार्थः ।
- २ 'त्वं पर्वतानां मेघानां' (२२४ । २३-२४) 'भेदनं' (२४)
 न पठितम् ।
- १९-१८ यास्कमते भूमिरत्र न प्रधाना । विनियोगे भूमिः प्रधाना । अयं
 विरोधो विद्वद्भिः परिहर्तव्यः । किंत्वयं दुष्परिहार्यः । सम-
 नुगंस्यन्ते = साधयिष्यन्ति (च. व.) प्रान्ते ।
- १९-२० विभूतिरिन्द्रात्र पृथक् । पौराणिकाम्बिवन्द्याणीं पृथक्त्वेन
 मन्यन्ते । इन्द्रः पतिरिन्द्राणी पत्नीति ।
- ११-१२ अपरंचन = किंच । यास्कभाष्येऽपरंचन = अपरां समां ।
 अपरंचन = अन्यद्भूतजातमिव (सायणः) । 'अपरामपि स-
 माम्' इत्यस्य 'न कदाचिदापि' इत्यर्थः कथं लभ्यते ।
- १७ वृषाकपिरादित्य इति नैरुक्ताः ।
- ९ सर्वेष्वपि देवेष्विति निर्धारणम् । 'प्रियं' (९२६ । २२) हवि-
 रित्यस्य विशेषणम् । निर्धारणार्थं 'प्रिय.' इति तत्परिणम्यते
 दुर्गेण । तद्भाष्यविरुद्धम् ।
- ९-१० यस्य यस्मै वृषाकपय इदं हविर्गच्छति (९२६ । २१-
 २२) । वस्तुतस्तु यस्य वृषाकपेर्ऋषीरिदमप्यं हविः प्रियं
 देवानामिति तेषु तान्प्रति नितरा गच्छति ।
- १० ' नि ' (निगच्छति) (९२६ । २२) इत्त्र न पठितम् ।
- ११ ' तमेतद्ब्रूमः ' (२३) = सोऽप्यहमेवं ब्रवीमि । अयमर्थः
 कथं भाष्यम्य स्यात् । सोऽहमेतद्ब्रवीमीति दुर्गेस्वीकृतमूले
 पाठः स्यात् ।
- २ ' निर्दिमाय ' (९२७ । १९) न पठितम् ।

- पत्रं पङ्क्तिः
- ९२८ < तदात्मना = तेनाऽऽत्मनैवभूता तद्रूपा सा गौरीः । ' एक आत्मा यस्तेनाऽऽत्मना ' इत्यन्वयः ।
- १०-११ गुणाभिधानं गुणवाचकं पदम् ।
- ९२९ १ ' दिगाश्रयाणि ' (१६) ' सर्वाणि भूतान्युपजीवन्ति ' (१६-१७) न पठितम् ।
- ४-५ अ (अभिव्यञ्जयत्) + क्षरं (क्षरति) इति दुर्गः । उद-
कसाहाय्ये सर्वमिदं संवरति ।
- १९ ' इति वा ' (११) ' मननाय ' (११) ' आदित्य-
मिति वा ' (१३) न पठितम् ।
- २४ ' मायुमिव ' (१२-१३) ' इति याज्ञिकाः ' (१३)
न पठितं न वा व्याख्यातम् ।
- ९३० १ घर्मार्थं या पयो दुग्धे सा घर्मधुक् । घर्म इति दर्शयामार्थस्यः
पयसो नाम ।
- २१ ' सुदोहनां ' (१४) भाष्ये , ' सुषडुषां ' वृत्तौ ।
- २३ ' एनां ' (१५) भाष्ये । ' एता ' वृत्तौ ।
- २४-२५ ' न इत्येष हि श्रेष्ठः सर्वेषां सवानां यदुदकं यद्वा ' (१५-
१६) न पठितं न वा व्याख्यातम् ।
- २६ ' सुप्रब्रवीमि वागेषा माभ्यमिका घर्मधुगिति याज्ञिकाः ' (१७)
न पठितम् ।
- ९३१ ५ प्रसूतम् = आज्ञप्तम् ।
- ६ रुचितः = शोभमानः ।
- १९ मूर्धाद्दुदकमभ्यात्मीकृत्याऽऽत्ममात्कृत्वा । तेनोदकेनेत्यन्वयः ।
- २२ तृणो मेघन्तमद्भि न तु तृणम् ।
- २४ आ = आमेवन्ती शुद्धमकटुं पमुदकम् । आ = सर्वतः ।
चरन्ती = मध्यस्थाने चरन्ती ।

पङ्क्ति

१ 'सूयवसात्०' इत्यास्मिन्मन्त्रे घर्मधुक् गौ स्पष्टा न तथा माध्यमिना वाक् ।

१५ 'इति सा निगदव्याख्याता' (१२) न पठित न वा व्याख्यातम् ।

४-५ सोमयागे प्रायणीया नामोष्टि । तत्र 'पथ्या यजति स्वस्ति यजति' इति क्रमो ब्राह्मणे (मै० स० ३ । ७ । १॥ तै० स० ६ । १ । ५ ॥ श० ब्रा० ३ । २ । ३ । ८) । स एव क्रमोऽत्र । 'पथ्या स्वस्ति प्रथमा प्रायणीये यजति' (कौ० ब्रा० ७ । ८) । 'परस्तात्पथ्या इत्यादि च' (कौ० ब्रा० ७ । ८) ।

१८ 'वसूनि' (१०) न पठितम् । 'निरमणे' (१०-११) न पठित न वा व्याख्यातम् ।

२२ 'हविष.' इत्यस्य केनान्वय । 'हविषा ढातूनिति स्यात् । च. पाठ (३०) 'हवि गोपायतु' = हविरस्मान्गोपायतु ।

१२ 'अनस संपिष्ठान्मेघात्' (५-६) इति याम्क । 'अनसो वायो' इति दुर्ग ।

१३ 'यत्' (८) न पठितम् ।

१९ 'इवान शकटमान० एतस्मादेव' (७-८) न पठित न वा व्याख्यातम् ।

२२ 'मध्यमास्वभावप्रायोवृत्त्युपप्रदर्शनार्थम्' अत्र 'प्रायोवृत्ति' इत्यस्य कोऽर्थ ।

१५ 'मेघ दर्शयन्' इत्यन्वय ।

७ शकटान = शकटाख्यमन । 'विमुक्तपाशि' (१) न पठितम् ।

९ 'प्रेरितवत परागताद्वा' (२) न पठित न वा व्याख्यातम् ।

पत्रं
९३६

पङ्क्तिः

- ६ ' गृणाना ' (९३५ । १७) भाष्ये ' गृणानु ' वृत्तौ ।
 ७ ' प्रभृथस्य ' (९३५ । १८) ' नः ' (१९) ' महादिवा ' इत्यत्र ' दिवा ' (१७) न पठितम् ।
 १९ ' स्मदभि ' (९३५ । १६) ' ज्योतिषो वा ' (१८) ' उदकस्य वा ' (१८) इत्यत्र ' वा ' ' नः ' (१९) न पठितं न वा व्याख्यातम् ।
 ९३७
 ६ ' सुरमणीयानि ' (९३६ । १६) ' सचा ' (१६) न पठितम् ।
 ७ ' रोदसी रोदसी ' (९३६ । १६—१७) न पठितं न वा व्याख्यातम् ।

इत्येकादशोऽध्यायः ।

अथ द्वादशोऽध्यायः ।

९३९

- १२ पक्षे = देवतानामात्वपक्षे ।
 १६ स्तुतानि शास्त्राणि यस्मिन् ।
 १९ च. ट. पुस्तकयो, ' एकैकस्याधिशाब्दस्य ' (२७) इति प्रान्ते पाठभेदो लिख्यते । ' तयोरेकैकस्य प्रथमभावेन स्तुत्यभाषात् ' इत्येव सुवचम् । ' अश्विशाब्दस्य ' इति पदस्य न किमपि प्रयोजनम् ।
 १९-२० एकोऽर्धी न कुत्रापि स्तूयते ।
 २१ नासत्त्वाविति नाम्ना तयोः शृणवस्तुतिर्न विद्यते । अय्य विद्या-
 नस्य किं प्रयोजनमत्र । ' नासत्स्यः ' इत्यप्येकैकस्य स्तुतिर्न विद्यत इति सुवचम् ।
 २२ प्रथमस्य = मन्थस्थानस्याश्विनः ।
 २३ तमोभागो मध्यमः । स मंथी न अश्विः । तमोभागो रत्नी भवति ज्योतिर्भागो कथने च ।

पङ्क्तिः

- २४ संध्यन्तरं द्युस्थाना देवतेति रूपान्तरं भवति न मिश्ररूपम् । तमोभागो नष्ट एव भवति ।
- १२ अथास्मिन्पक्षे राजानो पुण्यकृताविति मतेऽश्वैरश्विनावित्येत-
त्रिर्वचनं महाभारतादीतिहासग्रन्थैः संगतम् ।
- १३ ' ज्योतिषान्यः ' इत्यत्र ' अन्यः ' (९३९ । २) ' तमो-
भागो हि मध्यमो ज्योतिर्भाग आदित्य ' (७—८) न
पठितम् ।
- १४—१५ अनुविष्टम्नाति = प्रविशति ।
- १६ अनु = अनुविष्टम्भानन्तरमेव । ' अनु ' (९३९ । ७) न
पठितं न वा व्याख्यातम् ।
- १६ प्रातरनुवाक आग्नेयः क्रतुः प्रथम उपस्थो द्वितीय आश्विन-
स्तृतीयः । अग्निरुपाऽश्विनाविते प्रातर्यावाणो देवाः । ७ यं ×
प्रातरनुवाको महति रात्रिभागेऽवशिष्टेऽनूच्यः । पुरा मनुष्या-
दिप्राणिवाचः पुरा शकुनिवादादनुब्रूयात्पुरा तमस अपचातात् ।
(ऐ० ब्रा० ७ । ९) । उदयात्पूर्वमाश्विनं स्तोत्रं संधिकाल-
संबद्धम् । ' पुरावाचः प्रवदितोः । व्युष्टाया पुरा सूर्यम्योदेतोर-
नुब्रूयात् ' (मै० सं० ४ । ९ । ३) ।
- १८ ' तद्भागम् ' प्रामादिकम् । ' स भागः ' इति शुद्धम् ।
- ४ उपजातं देवतादर्शनाय चक्षुर्यस्य । तमसो ज्योतिषश्च संवि. ।
' इति सा निगदव्याख्याता ' (९४० । २२) न पठितम् ।
रात्रिपर्यायेषु = अतिरात्रोऽग्निष्टोमस्यैका संम्या । तम्या द्वादश
शस्त्राणि पठन्ते । चतुर्णां चतुर्णामेक- पर्यायः । एवं द्वादशानां
त्रय पर्यायाः । दशाना षट्क्रानामेत्रो भागः । एव राज्यास्त्रयो
भागाः । प्रथमः पर्यायः प्रथमे भागे । द्वितीयो द्वितीये । तृती-
यस्तृतीये पठन्ते । एवं रात्रौ पठन्मानत्वात्ते रात्रिपर्याया
इत्युच्यन्ते ।
- १३ तिरोअहद्या सोमा । तिरोअद्विया अहस्तिरभृत्य रात्रौ

- पत्रं पङ्क्तिः
 ९४१ १३ प्रयोक्तव्या अतिरात्रगता सोमविशेषा' (तै० सं० ७।३।
 १३) अत्रत्यसायणभाष्ये आश्विनश्च द्विकपाल पुरोडाश ।
 १३-१४ आश्विन पुरोडाशो द्विकपाल काग्येष्टिषु । यथा (मै० सं०
 २।३।९) अग्निष्टोमे ग्रहश्च । इदं तयो कर्म ।
 १५ बाहुल्येन सस्तव एव न त्वसस्तव ।
 ९४२ ४ महाराष्ट्रमूले 'वसातिपु० सुरातयो' (९४० । २९-३०)
 इत्यधिक पाठ । राति = वानम् । वसातय = रातय । यस्मात्ता
 रातयस्तयोरश्विनोर्वसन्ते स्म । वसातिशब्दो वक्तेर्वा बहतेर्वा ।
 'अपे त्वा वृत्रहण' दुर्बोधम् ।
 १७-१८ सम्+अव+अवशीताम् । वश कान्तावित्यस्मात् ।
 १८ 'पापेनाल्प्यमानया' (११) न पठितम् ।
 १९ देवा शरीराणि सूक्ल्पानुरूपाणि गृह्णन्ति । देवाना स्वतन्त्राणि
 नामानि नान्याश्रितानि ।
 ९४४ ४ 'प्रहिणुत' (९४३ । १८) न पठितम् ।
 ७ 'एतदपि' (९४३ । १९) न पठितं न वा व्याख्यातम् ।
 ८ अनादृते त्वयि । त्वयीत्यनेन को बोध्यते । इदमसन्नद्धमेव ।
 अनादृतेषु युष्मास्वित्यवश्यम् ।
 ९ आव 'अव तर्पणे' इत्यम्मात् ।
 १४-१६ 'सर्वा हास्मिन्देवता प्रातरनुवाकमनुब्रुवति प्रमोदन्ते' (ऐ० ब्रा०
 ७।६) ।
 १६ आ+उप्यन्ते = स्तूयन्ते ।
 १९ 'उच्छ्री विवासे' (धा० १ । २१६) । विवास समाधि ।
 ९४५ ८ 'अन्नवति' (३) न पठितं न वा व्याख्यातम् ।
 ९ 'महनीय' (३) 'अम्मम्य' (३) न पठितम् ।
 ९४६ १२ यत = यस्मात्सूर्यात् ।
 १७ 'म्यात्' (९४५ । १९) इदित्यनेन विकल्पो दृश्यते । प्रत्यह
 मायन्तीनामुपमा निर्देश । अथवा । बहुवचन पूजार्थम् ।

पङ्क्तिः

- २१ 'अपि निगमो भवति' (९४९ । २१-२२) न पठितम् ।
 'स्यात्' (१९) ' गावो गमनादरुषीरारोचनान्मातरो भासो
 निर्माज्यः' (२२) न पठितं न वा व्याख्यातम् ।
- ३ भृशं हीनोऽस्मीति = नाहं प्रथममक्षान्विस्तृजामीति (ट.) ।
- ७ आस्फारम् = महान्तं ध्वनिं कृत्वा । ' आस्फारं संस्कृतम् '
 इति दुर्गः ।
- २५ त्रित्वे = तिल एव देवता इति पक्षे । एतस्मिन्पक्षे सूर्या = सूर्य-
 प्रभा न तु सूर्यदुहिता ।
- २६ यानश्चान्त्रे विनियुज्य । सूर्यस्य प्रभा सूर्यात्पृथक्संबोधनार्थम् ।
 १ सूर्यप्रभाऽश्वाधिदेवता । ' सुकाशनं ' (९४७ । १७) ' प्रका-
 शयति कर्मणः ' (१९) न पठितम् ।
- ६ वहतुं = वहनम् । वहतुः = वहनस्यालंकारार्थं माङ्गल्यार्थं च
 वरस्य पुरतो वहनीयो हरिद्रागुडादिमङ्गलद्रव्यसंघः ।
- १२ सुकिंशुकं शल्मलिमिव । तेन शल्मलिना सूर्यं उपधीयते ।
 उपमानयोगः पुष्टतरः = इयमुपमा सूर्यस्यातिरक्तत्वं दर्शयति ।
 आदित्यो रक्तवर्णोऽनयोपमया रक्ततरो भाति ।
- १३ सुकिंशुक इति विशेषणमादित्ये युक्ततरम् । शल्मलो गौगम् ।
- १७ हिंसायां = यदा हिंसाऽवश्या तदा ।
- १७-१९ ' सविता सूर्याम्० ' इयं कथा कस्मिन्ब्राह्मणे विद्यत इति न
 ज्ञायते । ऐतरेयब्राह्मणस्था कथा भिन्ना (ऐ० ब्रा० १७।१) ।
- २१-२२ ' प्रजापतये वा ' इत्यौत्तिहासिकपक्षो नास्मत्संमतः । तमिति-
 हासमैतिहासिकाः कथयन्ति । कथमेतदिति = कोऽयमितिहास
 इति तान्पृच्छ ।
- २२ ' इतिहासो मृग्यः ' (२८-२९) इति ग. च. ज. पाठ
 आसीदिति भाति । च. पुस्तके ' इतिहासं शृणु ' इति शोधः
 कृतः । किंतु स ट.पुस्तकानुरोधेन न कृतः । ' इतिहासं शृणु '
 इत्यस्मात्पाठात् ' इतिहासो मृग्यः ' इति पाठः प्राचीनः ।

पत्रं

पङ्क्तिः

९४९

२-३ यदा सूर्यविभूतिरवश्यायान्वर्षति तदा स तान्कम्पयति । कम्प-
नयोगात्सा विभूतिः (वृषा)कपायीत्युच्यते ।

१८ मध्यम इन्द्रो वृषाकपाय्याः पुत्रस्तेन सा सुपुत्री ।

१९ माध्यमिका वाग्निन्द्रस्य पत्नी तेन तस्याः स्नुषा । रसहरणं
सूर्येण क्रियते नत्विन्द्रेण । तेन कथं सामान्यम् । कथं च तयोः
सहस्थानम् । इन्द्रोऽत्राऽऽदित्यस्तेन सामान्यम् ।

२० ' मिथुनसामान्यात् ' दुर्बोधम् । इन्द्रो मध्यमो वागपि माध्य-
मिका । तयोर्मिथुनम् । इदं सामान्यं स्यात् । घसत् = प्राश्नात् ।

२६ ' तमेतद्भ्रूम आदित्यं ' (१३-१४) न पठितं न वा
व्याख्यातम् ।

२८ ' सुखकरं हविः ' (१३) छ. त. द. पुस्तकेषु नास्ति ।
दुर्गम्बीकृतमूलेऽपि नाऽऽसीदिति भाति ।

९९०

१-९ स्नु = सूनुः । तं सनोतीति स्नुपेति समीचीना व्युत्पत्तिः ।

६ ' वृद्धिकर्मणः ' (९४९ । १२) ' सुखाचयकरं ' (१३)
न पठितम् ।

९९१

१ ' अप्यगूहन् ' (१९० । १९) माप्ये । ' अपागूहन् ' वृत्तो ।

४ ' विवस्वतेऽप्यश्विनौ ' (९९० । १९-१६) इत्यत्रा ' अपि '
न पठितम् ।

१४-१९ 'तेषु व्यन्तं रूपं च' इत्यस्य 'तेष्वन्यत्तद्रूपं च' (२७-२८)
इति पाठान्तरस्याप्यर्थो न ज्ञायते ।

१९ व्यवहारः = निरूपणम् ।

१६ तथा सति = यदा सरण्यूरश्वा भवेत्तदा ।

२१ 'त्वाष्ट्री सरण्यूः' (९९० । १८) इतीतिहासश्च न पठितो
न वा व्याख्यातः । वृत्तिस्थेतिहासाद्भाष्यस्थेतिहासो भिन्नः ।
याश्ककथितेतिहाससदृश इतिहासः सायणभाष्ये वर्तते । कुत्र-
त्योऽयमितिहास इति न ज्ञायते ।

पङ्क्तिः

१३ मविप्यता योगेन = सवितुः सरण्व्याश्च योगो न भूतः किं तु भार्वा ।

१६ प्रथमखण्डे 'तमोभागो मध्यमः' इत्युच्यते (नि० १२।१) अत्र 'त्वष्टा मध्यमः' । तेन 'तमोभागस्य' इत्यपपाठः स्यात् ।

२० देवधर्मेण = देवेष्विदं शक्यम् । या जाया सा स्वभर्तु-
र्माताऽपि भवति । द्युस्थानस्य त्वष्टुः ।

२१ जाया कथं माता । जायतेऽस्यां पुत्रत्वेन पतिरिति ।

९ अस्यां = दिवि ।

३-४ यजमान उरुयाग्निं शिष्ये प्रणयति । उखायामग्निनिधा-
नात्प्राक्शिक्यपाशाः प्रतिमोक्तव्या भवन्ति ।

४ 'प्रज्ञानानि' (९६३ । १९) 'मेधावी' (१६) 'वरणीयः'
(१७) न पठितं न वा व्याख्यातम् ।

१० 'व्यचिरुयपन्' (९६३।१७) 'सविता' (१७) द्वितीयम्
'एतस्मात्सामान्यात्' (१९-२१) न पठितम् ।

१७ 'पश्चेकाद्दिशिन्यामापस्तम्बेनैकादशपशूनां लक्षणानि पठि-
तानि । तन्मध्येऽधोरामः सावित्र इति । सावित्रः पशुः =
सवितुदेवताक इत्यर्थः । अधस्तात्कृष्ण उपरिष्ठाच्छुभ्र
इति । रामशब्देन कृष्ण उच्यते । रामा शूद्रा । कृष्णवर्णा-
त्सामान्यात् । कृकवाकुः कुक्कुटः । चरणायुध इति यावत्' ।
(ट. ठ. ड.) ।

२-९ 'अग्निं चित्वा न रामामुपेयात्' । (वासिष्ठधर्मशास्त्रम् १८।
१७) । 'योऽग्निं चित्वाऽन्यस्य स्त्रियमुपैति' तेन प्रायश्चित्तिः
कार्या (मै० सं० ३।४।७) । 'अग्निं चित्वा प्रथमं चित्वा
न रामामुपेयात् । द्वितीयं चित्वा नान्येषां स्त्रियः । तृतीयं
चित्वा न कांचन' (काठकसं० २।१७) ।

६-७ रामशब्दो रामा स्त्रीति मूलमर्थे त्यजति सामान्यश्च भवति ।
वृत्तः = प्रवृत्तः ।

पत्रं

पङ्क्तिः

९९९

१८ 'प्रागुत्सर्पणात्' (९९३।२४-२९) = तस्मात्सावित्रात्कला-
त्परतः (दुर्गः) । सविवरुत्सर्पणात्पुरतश्चलनात्प्रागित्यर्थः
स्यात् ।

९९६

६ आघ्नः = आध्वातुः ।

७ 'वार्ता वृत्तौ' (अमरः ३ । ३ । ७९) । वार्तार्थम् = उप-
जाविकार्यम् । 'तुर इति यमनाम तरतेर्वा त्वरतेर्वा त्वरया'
(९९९।२४-२९) 'वा' (२७) 'उदयेन' (२८) न
पठितं न वा व्याख्यातम् ।

१४ अनुत्सृष्टः = उत्सर्पणात्प्राक् (९९३।२४-२९ ।) ।

१९-१६ अन्वः = अ (अस्मिन्) + न् (न) + घ (ध्यानम्) ।

१६-१७ 'तद्भगाय पर्याजहुरुस्तद्भगोऽवेक्षांचक्रे तस्यासिणी निर्दवाह
तस्मादाहुरन्धो भग इति' (शत० ब्रा० १।७।४।६) ।
प्राशित्रयक्षणकथा (तै० सं० २।६।८) ।

१७ १८ ऐतिहासिकपक्षस्याभिप्रायोऽयमर्थवाद एव ।

१८-१९ 'जनं भगोऽगच्छत्तस्मादाहुर्जनो गन्तव्यस्तत्र भगेन संगच्छता
इति' (मै० सं० १।६।१२) ।

१९ 'जनं भगो गच्छतीति वा' (९९९ । २७) अत्र वा-
शब्दः किमर्थः । चशब्दः आवश्यकः । इति च ब्राह्मणमि-
त्यर्थे ।

२० यदा तदा = सर्वदैव । आत्मना = स्वयमेव ।

९९७

१० 'कमन्यमादित्यादेवमवक्ष्यत्' (२६) इति महाराष्ट्रमूलेऽ-
धिकम् ।

२४ 'उदगमात्' (१७) न पठितम् ।

९९८

८ एते सर्वे देवा आत्मैवेत्येकत्वपक्षः । चक्षुषा = सूर्यरूपेण
चक्षुषा ।

९ 'एष वै सर्वेषा देवानां चक्षुः' । इदं ब्राह्मणवचनं भेदपक्ष-
यादिरूपसप्तमर्थनाय ।

पङ्क्तिः

२४ व्यपदेशात् = सहनिर्देशात् ।

२६ ' तस्मादेतौ यज्ञेन यजन्ते ' (मै० सं० १ । ६ । १२) ।
 ' भगाशौ ' पदं तत्र नास्ति । ' न यज्ञे यजन्ते ' इति ग. च.
 ज. पाठः (३१) । ' यज्ञेन यजन्ते ' इति मूलपाठः स्यात् ।
 ' अयज्ञियम् ' (२९) इति न भाष्यकृतोऽर्थः । भाष्यमते
 शुक्रं लोहितम् ।

२७ }
 १ }

' विश्वरूपे अहनी ते कर्म ' (९९८ । १७) इत्यन्वयः ।

२ ' द्यौरिव चासि ' (९९८ । १७) इत्यत्र ' च ' ' सर्वाणि
 ' प्रज्ञानान्यवस्यन् ' (१७-१८) ' दत्तिः ' (१८) न
 पाठितम् ।

९ ' भान्नवती ' (९९८ । १८) न पाठितं न वा व्याख्यातम् ।

२१ ' कृत. ' (१३) = व्यापारितः ।

२२-अभ्यानद् = अभ्यापन्नः । प्राप्त इत्यर्थः ।

२२ ' त्रिधा ' (१२) ' सूयन्त इति वा ' (१९) इत्यत्र
 ' इति वा ' ' भवन्तीति ' (१६) इत्यत्र ' इति ' न पाठि-
 तम् । ' त्रेधाभावाय ' (२८) इत्याधिकं महाराष्ट्रमूले ।

२३ ' निधानं पदैः ' किमर्थमेतत् ।

४-९ पांसुरे = प्यायने ।

६-७ ' स्वपनमेतत्० ' इति निरुक्तमूले (नि० ९ । ३) ।

८ ' समूहलं पांसुल इव ' (९९० । १४-१९) भाष्ये ।
 समूहलमिव पांसुले ' वृत्ती ।

१४ ' पिशानियाः ' इत्यस्य स्थाने ' पंसनीयाः ' (९९० । २९)
 महाराष्ट्रमूले । ' पंसनीयाः ' इत्यस्य कोऽर्थः ।

१ ' नियमतः ' कोऽर्थः । अत्र द्युम्भानप्रकरणे तस्य नियमना-
 ष्टनाद्विधानरो द्युम्भानः । वस्तुतस्त्वयं पृथिवीस्थानः ।

१३ ' महती बलम्य ' (६) ' वा ' (७) ' म्यानां ' (७)
 न पाठितम् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

९६२

१५ एवं = कामैः । अथवा । = अयनैः (गमनैः) । अथवा । =
अवनैः (रक्षणैः) ।

१६ ऊत्या = पथा ।

९६३

११ ' भूरिमध्वानं नयति स्वर्गस्य लोकस्यापि वोह्ला ' (३)
' अनेन ' (४) न पठितं न वा व्याख्यातम् ।

११-१३ योऽग्निर्यजमानं स्वर्गं लोकं नयति सोऽपि भुरण्युः । तत्सं-
पाती = तेनाथवा स इव यः संपतति (३-४) ।

१३ अग्निचित् = योऽग्निं चिनुते स यजमानः । ' तत्संपाती
भुरण्यु ' (४) इत्यत्र ' भुरण्युः ' न पठितम् ।

१४ उपात्ता. संपादिता अपूर्वसंभारा यज्ञियवस्तुसंचया येन ।
तदेव = तदैवेति म्यात् । ' स्वर्गस्य लोकस्यापि ' (३) = स्वर्ग
लोकमपि । ' वोह्ला ' (३) = यो वहति ।

२१ ' उत्तरस्यामन्वयस्तेन व्येपि ' (६) इति सायणभाष्ये निरुक्तपाठः ।

९६५

२-३ प्रत्यङ्कृत्वा = प्रतीच्या दिशि स्थापयित्वा ।

४ ' प्रत्यङ्ङिदं ज्योतिरुच्यते ' (९६४ । २१-२२) न पठितं
न वा व्याख्यातम् ।

५ ऋचि वर्तमानं ' दृशे ' (९६४ । २०) पदं भाष्ये वृत्तौ
च न व्याख्यातम् । दृशे = दर्शनाय ।

१६ ' अभिविपश्यसि ' इत्यस्य स्थाने ' अभिविपश्येति ' दुर्गस्वी-
कृतमूले पाठ स्यात् ।

९६६

९-१० सूर्याद्वर्षः । वर्षादोषधयः । ओषधिम्य आहुतयः । एवमग्निोपणं
सूर्येण । ' अग्निं च विपं च ' (३) इत्यत्र ' चद्वयं ' ' विप-
मिति ' (३) अत्र ' इति ' ' द्यावापृथिव्यौ च धारयति ' (४)
' आह ' (५) न पठितम् ।

११ ' विपूर्वम्य छातेः शुद्धचथेम्य ' नेयं यास्कपद्धतिः । ' वि-
प्याते शुद्धिकर्मण ' इति यास्को मूयात् ।

१९-२० निगूढम्याप्यग्ने. प्रज्ञानाय भूम एव कारणम् ।

२० ' रजसा तु मन्यमः ' (२६) इति ग. च. ज. पाठः ।

पङ्क्तिः

१३ पर्वकालं = कर्मकालं कर्मयोग्यं कालम् ।

१४ ' इत्याग्निः ' (९) इत्यत्र ' इति ' ' सर्व ' (९) ' तत् ' (७)
' वृषाकम्पनः ' (७) न पठितम् ।

१५ कर्मण्या = कर्मणि साधुः कृपियोग्या ।

१६ उपसंहृतेः = उपसंपन्नैः = आत्मसात्कृतैः ।

११ ' एहि ' (३) ' वः ' (३) ' आदित्यः ' (४) न पठितम् ।

१३ ' समेतद्ब्रूमः ' (९) न पठितं न वा व्याख्यातम् ।

१३-१४ शोभनमर्थं = जगतोऽनुग्रहम् ।

६-७ आदित्यो वृक्षो यस्मात्स वृश्चति क्षपयति ।

७-८ वृ (वृतः) + क्ष (क्षये) = वृक्षः (९६८ । २१) ।

८ पुण्यकृतो निवासायाऽऽदित्यं गच्छन्ति । पला (परा) + शं
(शरणम्) = पलाशः । क्षये = क्षयाय निवासाय । ' स्थाने '
(९६८ । २१) ' वृक्षो व्रश्चनात्पलाशं पलाशनात् ' (२२)
' तत्र ' (२३) ' इत्यपि ' अत्र ' इति ' (९६९ । २) न पठितम् ।

१० ' सर्वस्य पाता वा पालयिता वा ' (९६८ । २३) न पठितं
न वा व्याख्यातम् ।

१२ गत (आदित्यलोकम्) आत्मा येषाम् ।

६ ' अपि निगमो भवति ' (९७० । २०) ' पार्वीरवी च
दिव्या ' (२०) इत्यत्र ' पार्वीरवी ' ' च सर्वे च देवाः ' (२२)
' स्तुत्या ' (२३) ' इमानीति ' (२४) इत्यत्र ' इति '
न पठितम् ।

२१ ' प्रमुक्तानि ' (२३) न पठितं न वा व्याख्यातम् ।

२२ ' निर्वचनस्यास्यामृच्युत्तरे पादे सम्यक्पाटोऽन्वेप्यः ' दुर्धौषम् ।

८ ' इति सा निगदव्याख्याता ' (६) न पठितम् ।

परं

पङ्क्तिः

९७३

६ 'रश्मिवन्त' (९७२ । २०) 'पर्यासते' (२१) 'एषा' (२१)
'अन्त' (२२) 'आरब्धु' (९७३ । १) न पठितम् ।

१४-१५ 'आरम्भ शक्नुवन्ति' इत्यन्वय ।

१८ शृथिषी व्योख्याता । इह द्यौरुच्यते (निगण्टुभाष्ये) । सैमुद्रो
व्योख्यात । अन्तरिक्षनामसु (निगण्टुभाष्ये) । उत्तमोऽ
भिषेय (ट ठ ड) ।

२० 'अज एकपाद्व्याख्यात ०' इत्यादि पुनरुक्तमेकस्यामृचि तेषां
स्तुतिरिति कथनार्थम् । पूर्वत्र भिन्नास्त्वृद्वेकैकस्या देवताया
स्तुति ।

९७४

१२ 'अस्माक शृणोतु' नेद शुद्ध सस्कृत किंतु प्राकृतभाषादुपित
सस्कृतमेतत् । 'अपि च न' (३) 'अजश्चैकपात्शृथिषी च समु
द्रश्च' (३-४) 'सर्वे च देवा' (४) इत्यत्र सर्वे 'च' शब्द
'कविशस्ता मेधाविशस्ता' (५) न पठितम् ।

१५ 'यज्ञवृषो वा' (४) इत्यभ्यनन्तर दुर्गस्वीकृतमूले 'उदक-
वृषो वा' इत्यधिकमासीदिति भाति ।

१६-१७ 'कविभिर्मेधाविभि शखैर्नैगण्टुक्त्वेन शस्ता' इत्यन्वय ।

१७ 'मन्त्रा' (५) न पठित न वा व्याख्यातम् ।

२१-२२ ध्यानरम्भे युक्त उपयुक्त । ध्यानायोपयुक्त सन् ।

९७५

१८ 'कर्माणि' (१०) भाष्ये । 'अत्रानि' वृत्तौ ।

१९ 'पूर्वेन्द्रे' (१०) न पठित न वा व्याख्यातम् । 'पूर्वेन्द्रे' इदं
पूर्वेन्द्रे इत्यस्यापभ्रश ।

२० 'अचेन्योऽनूपास्ते' (१०-११) इत्वत्र भाष्ये य = इन्द्र ।
वृत्तौ तु य = यजमान । भाष्यकृतान्त्राद्द्वुक्तिवृत्तौऽपि भिन्न ।

९७६

१ आत्तित्याप्ते पृथग्भिन्नो इति पक्षे ।

१७-१९ आदित्यो दृश्यते तमाऽऽत्तित्या अपि । एव ते प्रत्यक्षा ।
सप्तरूपयो दूरे वर्तन्ते । तस्मात्ते नाऽऽत्तित्यवत्प्रत्यक्षा । किंतु
ते परोक्षा । इदं न नाम्नेविर यस्मात्तेऽपि दृश्यन्ते । अपि

पङ्क्तिः

१७-१९ च । शब्दः क्वं प्रत्यक्षः परोक्षो वा । अथवा । आदित्यशब्दो व्युत्पत्तिदृष्ट्या प्रत्यक्षवृत्तिः । 'अदितेः पुत्राः' इति । न तथा 'सप्तऋषयः' इत्यादयः शब्दाः । ते हि परोक्षवृत्तयः । तस्मात्प्रत्यक्षवृत्तिः शब्दः प्रथमं निर्देश्यः ।

१९-१६ 'आहुतीरादित्येभ्यश्चिरं' (४) न पठितं न वा व्याख्यातम् ।

१६ अविद्यमान उत्सर्गस्त्यागो यस्य तत् । यावदायुषं जुहुपात्रं न त्याज्यं यजमानेन ।

१७ 'नः' (९) 'मित्रश्चार्यमा च भगध्व' (९-६) इत्यत्र 'च-शब्दाः' न पठितम् ।

२२ 'आदित्ये' (१०) 'अप्रमादं संवत्सरं' (१०) 'अस्तमितमादित्यं यन्ति' (११) 'अस्वप्नो सप्तऋषी च देवा वाय्वादित्यौ' (१२) 'सप्तऋषयः प्रतिहिताः' (१३) 'पञ्च' (१३) 'विद्या सप्तम्यात्मनि' (१३) 'सदमप्रमादं' (१४) 'इमान्येव' (१४) न पठितम् ।

२३ तेनोदकेनेद्धाः । रदंमयोऽबिन्धन्मः ।

१ स्वस्य कर्मणोऽनुत्सर्गेणेत्यन्वयः । उदकदानेनाऽऽदित्यं रक्षन्ति । उदकमादित्यस्य भक्षः । 'निरिन्धनोऽपि' इति द्वयोरनयोः शब्दयोर्न किमपि प्रयोजनम् ।

३ आत्मानम् = आदित्यमेव ।

१० अप्रमाद्यन्तीन्द्रियाणीत्यन्वयः ।

१२ 'आत्मानं यन्ति' (९७८।१९) 'अस्वप्नो सप्तऋषी च देवा' (१९-१६) 'इत्यात्मगातिमाचष्टे' (१६) न पठितम् । 'संवत्सरं' (१०) 'अस्वप्नो सप्तऋषी च देवा' (१२) 'विद्या सप्तम्यात्मनि' (१३) 'आत्मानं' (१९) न व्याख्यातम् ।

१९-१६ 'अन्नं पानं पचनञ्चूहं स्वरमान्मर्भूतं तेनो वायुगृत्तिः' इत्यस्य चानन्वयार्थः ।

पत्रं
९८०

पङ्क्तिः

६ ' तिर्यग्बिल ऊर्ध्वबन्धन ऊर्ध्वबोधनो वा ' (९७९ । २२-२३) ' सर्वरूपं ' (२३) ' आदित्यरश्मयः ' (२३-२४) इत्यत्र ' आदित्य ' ' तिर्यग्बिल ' (२९) ' सर्वरूपं ' (९८० । १) ' अत्र ' (१) न पठितम् ।

९-६ चमनम् = उदकम् । यथा चमसो मधुपूर्णस्तथा । रश्मिरूपाणि च्छिद्राणि । यथा चमसस्य तिर्यग्बिलं च्छिद्राणि तथाऽस्य मण्डलस्य रश्मयस्तिर्यग्बिलः । मधुपूर्णं चमसे च्छिद्राणि किंकृतानि ।

७ भूतानां संश्लवो नाशः । तद्वधि ।

९ सूर्य उदकमस्तीति स चमसः ।

१२ तदधिष्ठात्रा सूर्येण ।

१९ आत्मगतिपक्षे ' ऊर्ध्वबोधनः ' (९७९ । २९) ' ऋषयः सप्त ' (९८० । १) ' इन्द्रियाणि यानि ' (१) ' गोप्ताणि ' (१) न पठितं न वा व्याख्यातम् ।

१९-२० इन्द्रियाननुभूतं = ब्रह्मरसो ब्रह्मज्ञानं वेन्द्रियैर्नानुभूयते । ' इन्द्रियत्वेन भूतं ' (पाठभेदः २७-२९) अयं पाठभेदो दुर्बोधः ।

२० के ते विधातारः ।

९८१

१७ ' ऋजुगामिनाम् ' (९) ' इति ' (९) ' दानं ' (९) ' अभि नो ' (९) ' सर्वे देवाः ' (११) न पठितम् ।

१७-१८ अन्तारिक्षं रश्मीन्नावृणोति न प्रतिब्रूयति ।

१९ ' कल्याण्यां मनौ ' (८-९) ' चिरं ' (११) न पठितं न वा व्याख्यातम् ।

९८२

२१-२२ ' मनुष्यघृतः ' (११) ' सर्वे च देवा इहाऽऽगच्छन् ' (१२) न पठितम् ।

पङ्क्तिः

- ९ 'दाशतयीषु' वृत्तौ । 'दशतयीषु' (९८२।१२) यास्कभाष्ये ।
- १४-१५ विश्वशब्देपेतं मन्त्रजातं सूक्तं वा कर्मणि योज्यमिति न्याय्यम् ।
- २२ 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (पूर्वमीमांसा १ । २ । १) समाम्नाये = वेदे ।
- २२-२५ कर्मसु यावन्तो गायत्रच्छन्दोयुक्ता मन्त्रा आवश्यकस्तावन्तो वेदेनोत्पाद्याः । किंतु तादृशं मन्त्रजातं नालं कर्मोत्पादे कर्मासिद्धयै ।
- २ ओप्यन्तां = प्रयुज्यन्ताम् ।
- ३ इति पश्यन्त्यास्कानार्य इत्यन्वयः ।
- ५ यावदलं कर्मणि (तावत्) वैश्वदेवानां मन्त्राणां गायत्रे छन्दसी-यमनुत्पत्तिर्गमयतीत्यन्वयः ।
- ५-७ बहुविश्वशब्दावर्थे प्रत्यासन्नौ । तयोरर्थयोरल्पो भेदः । प्रायस्तौ समानार्थौ ।
- ७ अत्यन्तगतः = सार्वत्रिकः । अयं सिद्धान्तो नियमो वा न सर्वत्र युक्तः । सर्वत्रगो नियमोऽवश्यः । 'अपि चैवमनत्यन्त-गत इत्युद्देशः' अयं सर्वेषु पुस्तकेषु पाठः । कित्त्वयं दुर्बोधः । भाष्ये 'इत्युद्देशः' इत्यस्य स्थाने 'एष उद्देशः' (९८२।१४) ।
- १५ केषुचित्सूक्तेष्वेकस्यामेव ऋचि देवनालिङ्गं वर्तते । केषुचित्कै-कस्यामपि । यथा 'बभ्रुरेकः' इत्यास्मिन् । ' बभ्रुरेक इति दश द्विपदा अलिङ्गाः' (९८२।१४-१९) इति छ. त. द. पुस्त-केषु 'एकलिङ्गं' इत्यस्यानन्तरम् । इतरेषु 'भवति' इत्यस्या-नन्तरम् । भेदं दुर्गेण न्यास्यातम् । ऋचि ऋचि भिन्ना देवना विशिष्टालिङ्गा किंतु नामरहिता । अत्र विश्वशब्दो विश्वलिङ्गं वा नास्ति । तथाऽपि वैश्वदेवानां स्थाने प्रयुज्यते । तस्माच्छ्रान्-पूणिमनं नात्यन्तगम् ।
- १९ 'ऋत्याम' इत्यमृगाधिनी । नर्भरी तुर्करी पर्करी एतादृशाः शब्दा अस्मिन्सूक्ते मन्त्रि । तेन र्मा सूक्तं पर्करीसूक्तमित्य-भिधीयते ।

- पत्रं पङ्क्तिः
- ९८९ १ 'इम००००० नतः' अत्र चतुष्पञ्चाक्षराणि ग. च. ज. पुस्त-
केषु गलितानि । ' इमं न अम्माकं मन्त्रम्' इति पाठः स्यात् ।
क. ख. घ. ट. ठ. पुस्तकेषु विद्यमाना वृत्तिः सायणमाप्यमेव ।
- ९८६ २ ' भक्षेमहि ' इति पाठोऽशुद्धः । भक्षयेमहीत्यवश्यम् ।
- १२ ' यज्ञेन यज्ञमयनन्त देवाः ' (३) ' तमालभन्त तेना-
यनन्त ' (४) ' ह ' (५) ' समसेवन्त ' (६)
' यद्विवमते ' (७) न पठितम् ।
- १३-१५ म्भावरजद्रमभावमार्पणमत एव सर्वगणं सर्वनामानम् ।
- १५ ' तं व०० ' इत्यत्रापि पश्चाद्गुत्या (चराया) ओषध्याद्गुत्या
(वसत्या) चाग्निरिष्यन् इत्युच्यते । सर्वमग्निरेव । एतच्चोक्तम् ।
- १६ एतादृश दर्शनं ज्ञानं यम्यं जातं तम्यं प्रयोक्तुर्यजमानस्य ।
- १८ देवभाविन = देवभाव प्राप्ता ।
- २२ अन्यद्भयतीति अन्यभावि । न अन्यभावि अनन्यभावि । तादृ-
शयज्ञस्य फलमन्यथा न भवति ।
- ९८७ १ ' माधनाद्गुम्भानो देवगण इति नैऋत्याः । पूर्वं देवयुगमित्या-
ख्यातम् ' (९८६ । ९-७) न पठितं न वा ख्यातम् ।
य एते माध्या । यज्ञस्यमाधनात्ते दिवमाप्नुवन् । तेन माध्या
दुग्भानो देवगण इति नैऋतमतम् । पूर्वमिन्द्रो देवयुगं
माधनं यज्ञं देवा आसन्नियन्ताने पौराणिकमतम् ।
- २ वैदिकशास्त्रे भयं भयं निन्द्यं । तेन पूर्वं ज्ञानरत्नो यज्ञस्यमिति
वृत्त्या तत्रमिति ।
- ७ ' अग्निं यज्ञाग्निसंज्ञात्तन्त ' (१०० सं० ५ । ७ । ६९)
इति । अत्र ' तन्तन्तन्त ' इति ।
- ८-९ ते यज्ञात् - यज्ञानि ।

पङ्क्तिः

- ९ 'अग्निर्वसुभिर्वासवः' (९८६।८) भाष्ये । 'वासवोऽग्निः' वृत्तौ ।
- १९ 'सुगा वो देवाः सदना अकर्म य आजग्मेदं सर्वनें जुपाणाः ।
भरमाणा वहमाना हवीष्यस्मे धत्त वसवो वसूनि, (यं० वा०
सं० ८ । १८) ।
स्वगा वो देवाः सदनामकर्म य आजग्म सर्वनेदं जुपाणाः ।
' जसिवांसः पपिवांसश्च विश्वेऽस्मे धत्त वसवो वसूनि ' (तै०
सं० १ । ४ । ४४) ।
' सुगा वो देवाः सदना कृणोमि य आग्मेदं सर्वनं जुपाणाः ।
जसिवांसः पपिवांसश्च विश्वेऽस्मे धत्त वसवो वसूनि ' (मै०
सं० १ । ३ । ३८) ।
' सुगा वो देवाः सदनेदमस्तु य आजग्म सर्वनेदं जुपाणाः ।
जसिवांसः पपिवांसश्च विश्वेऽस्मे धत्त वसवो वसूनि' (काठकसं०
४।१२) । कापिष्ठलसंहितायां (३ । १०) ' आजग्म ' स्थाने
' आजग्मुः' इति विशेषः । इतरथा कापिष्ठलसंहितापाठः काठकसंहि-
तापाठसदृशः । इयमृक्स्यां संहितायां वर्तते इति न ज्ञायते । उपरि
निर्दिष्टासु संहितासु ' सुपथा ' इत्यस्य स्थाने ' सदना ' अथवा
' सदने ' वर्तते । दुर्गस्वीकृतमूले ' सुपथेदमस्तु ' (२६) इति
पाठ आसीदिति भाति । ' सवनानीमानि ' (१७) इत्यस्य
स्थाने ' सवनमिदं' (२४) च ।
- ३ 'आग्नेयं प्रातःसवनमैन्द्रं माध्यंदिनं वैश्वदेवं तृतीयं सवनम्'
(मै० सं० ४ । ९ । ९) । ' नव समिष्टयजूषि तृती-
यसवने ह्यन्ते' (मै० सं० ४ । ८ । ४) । तेन वसवो
बुस्थानाः ।
- १६ 'अरमन्त' (९) 'भवाः' (१०) 'च' (१०) 'अर्वाच एना-
न्पयः' (११) न पठितम् ।
- १९ ' रमयन्त ' (१०-११) न पठितं न वा व्याख्यातम् ।
कदाचिद्वर्तमाना इत्येष शब्दो ' रमयन्त' इत्यस्य व्याख्या स्यात् ।
- १ अहतान् = नवान् । प्रहतान् (पाठभेदे २२) = सदागमनेन
हतान् उक्तमान् ।

- पत्रं पङ्क्तिः
- ९८९ १९ वाजिनो देवाश्वाः । ' नो भवन्तु ' (१०) हानेषु' (१०) 'सुमितद्रवः' (११) 'इति वा' (११) 'इति वा' (११) 'इति' (१२) 'अस्मत्' (१२-१३) न पठितम् । ' अमीवा देवाश्वाः' (९८९ । १३) न पठितं न वा व्याख्यातम् ।
- ९९० १-२ अ(आ) + हिं (हन्ति) । र (रहसि) + क्षसः (क्षिण्वन्ति) ।
२ अमीवाः = रोगान् ।
२१ 'देवानां पत्न्य उशत्यः' (१३) ' अवन्तु नः' (१४) इत्यत्र 'नः' 'चान्नसंसननाय' (१४) 'ता नो देव्यः' (१९) ' शर्म' (१६) न पठितम् ।
- ९९१ १९ अग्न्यादिभिः पुरुषैरित्यन्वयः । ' अपि च ' इत्यत्र ' च ' (१०) ' इन्द्रस्य पत्नी ' (१०-११) ' अग्नेः पत्नी ' (११) ' अश्विनोः पत्नी ' (११) ' देव्यः ' (१२) न पठितम् ।
१७ राट् राजमाना । ' राजते ' (११) ' कामयन्तां ' (१२) न पठितं न वा व्याख्यातम् ।
- १८-१९ रोदमी इति प्रगृह्यं शास्त्रान्यस्य पदगारस्य मतेन । तेन तद्द्विवचनम् । किंत्वत्र तदेकवचनम् । तेन न प्रगृह्यम् ।
- ९९२ २ कश्चामी काल । भुक्तवन्तु पुरुषेषु = अग्न्यादिपुरुषभोजना-
नन्तरम् । ' य ऋतुः कालो ज्यायानां य ऋतुः कालो ज्यायानाम् ' (९९१ । १३) इति द्विरुक्तिरध्यायपरिममाधि-
ष्टोतनाय ।
- ९९४ १० अनिम्नुतय इति नैरुक्ताना ममय' सिद्धान्तः । तमनुमुत्थ ।
११ ' अग्रे मुग्धः १० ' इत्यस्याऽऽर्षच्छन्दोविनियोगा न दीयन्ते ।
- ९९५ २ स्तोत्रियश्चानुरूपश्च स्तोत्रियानुरूपो न शु स्तोत्रिनुरूपे ।
३ ' ते ' (९९४ २३) ' न त्वा ' (२३) इत्यत्र ' न द्यामाष्टिभिः ' (२३) इत्यत्र च ' न ' न पठितम् ।
' वस्त्रिन् ' (२३) ' अभ्यधुर्वानाम् ' (२३) न पठितं न वा व्याख्यातम् ।

पङ्क्तिः

१९ ' यत् ' (१२) ' गतिकर्मणः ' (१३) ' एतत् ' (१४)
न पठितम् ।

२१ व्यवधीयते = व्यवहितोऽदृश्यो भवति मनुष्यः ।

१४ ' हि ' (९) ' च ' (९) ' पोपेषु ' (१०) न
पठितम् ।

१८ ' यत्रामाद्यद्रपाकपिरर्य ईश्वरः ' (९-१०) ' अथैपाश्विनोः '
(१२) न पठितं न वा व्याख्यातम् ।

२३-२४ ' अथैषा वाचः प्रवाहितेव ' इदमष्टमखण्डस्यान्ते । पद्यमपठ-
सप्तमाष्टमखण्डा दुर्गस्वीकृतमूले नाऽऽमन् ।

३ सृण्येवेति । नेयं यास्ककृतभाष्यपद्धतिः । यास्कः ऋक्प्रती-
कानि न पठति । द्विविधा सृणिर्भवति । अत्र सृणिशब्द-
स्त्रीलिङ्गः । तेन ' भर्ता हन्ता ' इति अशुद्धे रूपे । ' भर्त्रा
हन्त्री ' इत्यवश्यम् । ' सृण्येव ' अत्र न सृणिशब्दः । द्वौ
सृण्यौ न द्वे सृणी । ' सृण्यशब्दस्य कोऽर्थः ।

४ यथा सृणिः भर्त्रा तथा अश्विनौ अपि भर्तारौ । ' चापि '
इत्यत्र ' च ' शब्दः अनवश्यः । जर्भरी = भर्तारौ । ' इत्यर्थः ' ।
यास्कः इत्यर्थशब्दौ भाष्ये न प्रयुनक्ति । तुर्फरीतृ = हन्तारौ ।

६ तुर्फरी = क्षिप्रहन्तारौ । उदन्यमेव = उदकमे इव ।

७ रत्ने सामुद्रे चान्द्रममे इति अव्याहृतम् । सामुद्रे भवं सामुद्रम् ।
चन्द्रमसि भवं चान्द्रमसम् । किमिदं चान्द्रममं रत्नम् । चन्द्र-
कान्तः चन्द्रमसि न विद्यते । किंतु चन्द्ररश्मिभिः स्पष्टः मन्
द्रवते । जेमने = जयमने ।

८ जरायु = जरायुनम् । ' शरीरं ' अव्याहृतम् ।

९ ' शरदम् ' अयं कस्य अर्थः । अनरं = अनीर्णम् ।
अत्र मायगभाष्यम् । ' नृण्येव नृण्यापि । नृणिगद्गुनाः ।

पत्रं
९९७

पङ्क्तिः

९ अङ्कुशाहौ मत्तगजाविव । जर्भरी गात्रविनाम कुर्वन्तौ ।
यद्वा । सृण्येव । सृणिर्द्विविधा । मत्तगजस्यैकत्रावस्था
पथियेका । अपरा बाधयित्री । तादृश्यौ सृण्याविव जर्भरी
भर्तारौ एकत्रैवावस्थापत्रौ । तथा तुर्फरीतू तर्कितारौ शत्रूणा
हन्तारौ । नैतोशेव । नितोशतिर्वधन्मा । नितोशयतीति नितोश ।
तस्यापत्य नैतोश । ताविव तुर्फरी शत्रूणा हन्तारौ । पर्फरीका
पर्फरीत्रौ शत्रूणा वि-ारयितारौ । यद्वा । स्तोतृजनाना घनादि
दानेन पूरयितारौ । उदन्यजेव उदन्यजे इव । उदके भव उद-
न्यम् । तत्र जाते रत्ने इव निर्मलौ । कान्तियुक्तावित्यर्थ ।
जेमना जेमनी जयशीलौ । मदेरु बलातिशयेन मत्तौ स्तुत्यौ वा ।
ता तौ पूर्वोक्तगुणौ अश्विनौ युवा मे मदीय जरायु जरायुनमत
एव मरायु मरणशील शरीरम् । अजर जरारहित मरणधर्मरहित
कुरुतम् । याम्बभाप्य दुर्बोधम् । यस्मात् यास्व सृण्यनैतोशश
ब्दयो अर्थो न टटाति । रत्नशब्द नपुमम् । अश्विनौ पुमासौ ।
रत्नाभ्या कथ उपर्मायेताम् । सायणभाष्य अपि न साधु ।
कदाचित् अय अथ स्यात् । ' जर्भरी ' इद भृघातो यदि
नामरूप स्यात् । भृघातो अभ्यास जर्भृ । इकारो नाम
करण । य पीन पुन्येन भृश वा विभर्ति स जर्भरि ।
पर्फरीना । अत्र कआगम छन्दोर्थ स्यात् । जर्भरिवत्
पर्फरिशब्द भृघातो यादि नामरूप स्यात् । घातुपाठे भृघातु
नेव विद्यते । स कदाचित् भृघातो उच्चारभेद स्यात् ।
तुर्फरिशब्द पर्फरिसदृशो भाति । ' पर ' इत्यस्य
स्थाने ' तु ' इत्यादेश प्रार्माणं घृत स्यात् ।
' तुर्फरीतू ' इत्यत्र तुआगम छन्दोर्थ स्यात् । उदन्यज
शब्द ' उदन्य-उदन ' इत्यनयो शब्दयो समासेन पठित
स्यात् । उदनि भव उदन्य । उदन् जात उदन । अथ
कश्चिन् उदरचार्गी पत्नी स्यात् । धर्मरमेशर्मभर्मवत्
जेमनशब्द निघातो मन्त्रन्ययान्त उत्पन्न स्यात् । जेमा
जेमनी जेमन इति तस्य रूपाणि भोग्यु । मदेरुशब्द मद्भघातो ।
अश्विनौ ज्येनाभ्या उपर्मायेते । यथा- ' विमि द्येनेव द्येयनम् '

पङ्क्ति

९ (ऋ० स० ९ । ७४ । ९) , ' कुह श्येनेव पेतधु ' (ऋ० स० ८ । ७३ । ४) । ' श्येनाविव पतथो ह्ययदातये सोम सुत महिपेयाव गच्छत ' (ऋ० स० ८ । ३९ । ९) । सृण्य-नैतोश-उदन्यना इमानि केषाचित् पक्षिणा नामानि स्यु । यथा इमे पक्षिण अरिभूतान् पक्षिण जयन्ति स्वमक्ष्य च अपहरन्ति तथा अश्विनौ अत्रिच्यवनादीन् आपद उद्धरत । ता तां युवा अश्विनौ मे मम जरायु जरावश मरायु मरणवश शरीर अजर जरामरणमुक्त कुरतम् । अय केवल तर्क ।

१२ तरत् = तरति स पाप सर्वम् । मन्दी = य स्तौति ।

१३ धावति = गच्छत्यूर्ध्वं गतिम् । धारासुतस्य अन्धस = धारया अभिपुतस्य अन्धस = धारया अभिपुतस्य सोमस्य मन्त्रपूतस्य वाचा स्तुतस्य । अय आत्मपरोऽर्थ ऋचि न विद्यते । तरत् = समुद्र तरन् । ' तरत्समुद्र पवमान ऊर्मिणा ' (ऋ० स० ९ । १०७ । १९) । सोमस जलेन मिश्रयते तस्मात् सोम समुद्र तरति इति ऋषि वाचि । सोम मन्दी इति उच्यते । यस्मात् स दृष्यति पातून् हर्षयति च । एतादृश सोम पवित्र प्रति धावति । सुतस्य अन्धस सोमस्य धारा पवित्र प्रति धावति । अस्य सूक्तस्य चतस्र ऋच । प्रत्येकस्या अन्तिम पाद तरत्स मन्दी धावतीति । इन्द्रादयो देवा पिबेयु इति सोम त्वरगा पवित्र प्रति शुद्धीकरणार्थं धावति इति अतिशयोक्ति ।

१९ चत्वारि शृङ्गेति । ईदृशानि प्रतीनानि अग्निन् एव ज्ञायाये दृश्यन्ते । आदौ त्रय एव वेदा आसन् । न चत्वार ।

२० प्रातः सवन माध्यदिन तृतीय सवन इति त्रीणि सवनानि । ' प्रायणीयोदयनीये ' इति द्वयो इष्टयो नामनी ।

२१ हस्तास = छन्नासि । त्रिधा = त्रेधा = मन्त्रवाक्षणस्यम् ।

२२ रोखणमस्य सवनक्रमेण । आदौ ऋच । तन्न्तर यन्पि । तन्न्तर सामानि । एव सवने सवने क्रम । अय त्रिविध पाठ अस्य वृषभस्य रोखणमित्युच्यते ।

परं

९९७

पदक्तिः

२३ यदेनमृग्भि ० स्तुवन्ति । इदं ब्राह्मणवाक्यवत् भाति ।

२४ एष हि महान् देवो यद्यज्ञ । इदमपि तथैव ।

२४-२९ एष हि मनुष्यानाविशति यजनाय । इदमपि तथैव ।

अत्र सायणभाष्यम् । “ यद्यपि सूक्तस्य अग्निसूर्यादिपञ्चदेवता कृत्वात् पञ्चधाय मन्त्रो व्याख्येयस्तथापि निरुक्ताद्युक्तनीत्या यज्ञात्मक्याग्ने सूर्यस्य च प्रकाशकत्वेन तत्परतया व्याख्यायते । अस्य यज्ञात्मकस्याग्ने चत्वारि शृङ्गा चत्वारो वेदा शृङ्गास्थानीया । यद्यपि आपस्तम्बेन ‘ यज्ञ व्याख्यास्याम । स त्रिभिर्वेदार्विधीयते (परिभा. १।३) इत्युक्तम् । तथाऽपि आयर्वणस्येतरानपेक्ष्यैवैकाग्निमाध्याना कृत्स्नकर्मणा अभिधायकत्वात् तदपेक्षया चत्वारि शृङ्गेत्युक्तम् । त्रयोऽम्य पादा सवनानि त्रीण्यम्य पादा । प्रवृत्तिसाधनत्वात्पादा इत्युच्यन्ते । द्वे शीर्षे ब्रह्मौदन प्रवर्गश्च । इष्टिसोमप्राधान्येन इदं उक्तम् । सप्त हस्तास सप्त चन्द्रासि । हस्ता अनुष्ठानस्य मुख्य साधनम् । छन्दास्यपि देवताप्रीणनस्य मुख्यसाधनमिति हस्तव्यवहार । त्रिधा बद्ध मन्त्ररूपब्राह्मणे त्रिप्रकार बद्ध । बन्धनस्य तन्निष्पाद्यत्वम् । वृषभ फलानां वर्षिता । रोरवीति भृशशब्दायते । ऋग्यजु सामोक्थै शस्त्रयागस्तुतिरूपै होत्राद्युत्पादितै भ्वनिभि असौ रौति । एव महो देव मर्त्यान् आविवेश । मर्त्ये यजमाने निष्पाद्यत्वात् प्रवेश उपचर्यते । अथ सूर्यपक्षे व्याख्यायते । अम्य आदित्यस्य चत्वारि शृङ्गाणि चतस्रो दिशः । एता श्रयणार्थत्वात् शृङ्गाणीत्युपचर्यन्ते । त्रयो अस्य पादा । त्रयो वेदा पादस्थानीया भवन्ति गमनसाधनत्वात् । तथाहि ‘ ऋग्भि पूर्वाह्नि दिव देव ईयते ’ इत्युपक्रम्य ‘ वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्ये ’ (ते ब्रा० ३ । १२ । ९ । १) इति हि वेदत्रयेण गतिराम्नाता । द्वे शीर्षे । अहश्च रात्रिश्च द्वे शिरसी । सप्त हस्तासो अस्य । सप्त रश्मयः पट् विलक्षणा ऋतव एक साधारण इति वा सप्त हस्ता भवन्ति । त्रिधा बद्ध त्रिषु म्यानेषु क्षित्वादिषु अग्न्याद्यात्मकत्वेन सबद्ध । त्रीण्यवर्षाहेमन्नाग्न्यं त्रिभि त्रेधा बद्धो वा ।

पङ्क्तिः

२४-२५ वृषभः वर्षिता । रोरवीति शब्दं करोति वृष्ट्याद्विद्वारा । सः महौ महान् देवः मर्त्यानाविवेश तन्नियन्तृतया । ‘ सूर्य आत्मा जगत्स्तत्स्थुनश्च ’ (ऋ० सं० १ । ११५ । १) इति हि श्रुतम् । एवं तु अत्रादिपक्षेऽपि योज्यम् । ”

अत्र व्याकरणमहाभाष्यम् । ‘ चत्वारि शृङ्गाणि चत्वारि पदजातानि नामाल्यातोपसर्गनिपाताश्च । त्रयो अस्य पादास्त्रयः कालाः भूतभविष्यद्वर्तमानाः । द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च । सप्त हस्तासो सप्त अस्य विभक्तयः । विधा नद्धस्त्रिषु स्थानेषु वद्ध उरसि कण्ठे शिरसीति । वृषभो वर्षणात् । रोरवीति शब्दं करोति । कुत एतत् । रौतिः शब्दकर्मा । महौ देवो मर्त्या आविवेशेति । महान्देवः शब्दः । मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्याः । तानाविवेश ” ।

२८ यन्तः = गच्छन्तः ईजाना वा । अपेक्षन्ते = ईक्षन्ते । स्वर्गन्तो नापेक्षन्ते = ते अमुमेव लोकं गतवन्त ईक्षन्ते ।

२ विश्वतोधारं = सर्वतोधारम् ।

अत्र महीधरभाष्यम् । ‘ सुष्ठु विदन्ति जानन्ति ते सुविद्वांसः ज्ञानकर्मसमुच्चयकारिणः । ये सुविद्वांसः यज्ञं वितेनिरे वितन्वन्ति अनुतिष्ठन्ति । कीदृशं यज्ञम् । विश्वतोधारं विश्वतो धारा यस्य तम् । आहुतिदक्षिणावानि यज्ञस्य धाराः । वैश्वानरमा-रुतपूर्णाहुतिवसोर्धारावाजप्रसवीयानि वा यज्ञस्य धाराः । यद्वा विश्वस्य जगतो धारयितारम् । ते यज्ञकर्तारः स्वः स्वर्गं यन्तो गच्छन्तो नापेक्षन्ते इन्द्रपश्वाद्यपेक्षां न कुर्वते कृतवृत्त्यत्वात् । थां स्वर्गं चाऽऽरोहन्ति । कीदृशीं धाम् । रणद्धि नरा-मृत्युशोकादीन् सा रोदसी ताम् । रोदसी इति दिवो विशेषणं न तु चापाशुधियोराभिधानम् । दिव इत्युपादानात् । यद्वा । ये यज्ञमानाः सुविद्वांसः सुष्ठु कर्मप्रकारे जानन्तः विश्वतोधारं जगद्धारणहेतुं यज्ञं वितन्वन्ति विशेषेण कुर्वन्ति ते थां अन्-रिसं आरोहन्ति । ताम् रोदसी चापाशुधियो आरोहन्ति । ततः स्वर्गन्तः स्वर्गम्यं आदित्यमण्डलं प्राप्नुवन्तः अन्त्यकिमपि म्यानं न अपेक्षन्ते । ”

पत्रं
९९८

पङ्क्तिः

२ रोदसीपदस्य छावापृथिव्यौ इत्यर्थः । इदं पदं व्यर्थम् । यस्मात् पृथिव्याः अत्र न किमपि प्रयोजनम् । ' द्यां'पदेन द्यौः कथितैव । ' ईक्षन्ते ' ' विश्वतोधारं ' ' वितेनिरे ' एते शब्दाः ऋक्शाखायां न वर्तन्ते । अस्या ऋचः मापाशैली अर्वाचीना । ये सुविद्वांसो विश्वतोधारं सर्वस्य जगतः धारयितारं यज्ञं वितेनिरे वितन्वन्ति ते द्यां आरोहन्ति । स्वर्गन्तः स्वर्गं गच्छन्तः स्वर्गादन्यत् न किञ्चिदपेक्षन्ते ।

३ प्रवह्लितेव = प्रवह्लिता इव । ' प्रवह्लिता ' इत्यस्य कोऽर्थः । स्तुतिः वर्णनं वा इति अर्थः स्यात् । इव शब्दः किमर्थम् ।

९९९

१ ' गुहा गूहतेः ' (९९८ । ९) ।

१ ' ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यादि ' (९९८ । १०) ' प्रना-
पतिः ० त्रयीं विद्यामभ्यतपत् । तस्या अभितप्ताया एतान्यसराणि
संप्राखवन्त भूर्भुवः स्वरिति ' (छा० उ० २ । २३ । २) ।
' तान्यभ्यतपत्सेभ्योऽभितसेभ्य ओंकारः संप्राखवत् ' (छा०
उ० २ । २३ । ३) एतदार्थं विवरणम् ।

७-९ आख्यातानामर्थः कथमप्रसिद्धतरः । नामान्यप्यप्रसिद्धानि सन्ति ।
उपसर्गानिपातानामर्थोऽनिश्चितो भवेन्नत्वाख्यातानाम् । दुर्गकृतं
विवरणमकिञ्चित्करम् ।

११-१६ के एते एके । अधिभूतविदः । भूतानि सर्पादीनि ये जानते ते ।

१७ मृगाः पशुभ्यः कथं भिन्नाः । तूणवशब्दस्य कोऽर्थः । विशिष्टं
वाद्यमित्येकोऽर्थः । पशुमृगयोर्मध्ये निर्देशात्तूणवः प्राणी स्यात् ।
' पशुषु = गवादयः । तूणवेषु = वीणाजातिषु । वादित्रैष्वि-
त्यर्थः । मृगेषु = सवरादिषु (') ' (ट.) ।

१८ आत्मप्रवादाः = अध्यात्मवादिनः । प्रवदतीत्यशुद्धं प्रवदन्ती-
त्यवश्यम् ।

१९ ' एष्वेव लोकेषु त्रीणि ' (९९८ । १६) भाष्ये । ' एषु
लोकेषु त्रीणि वै तुरीयाणि ' इति मै० सं० । ' नाया ' (१७)
भाष्ये । ' वाते ' मै० सं० । ' सादित्ये ' (१८)

पङ्क्तिः

१९ मै० सं० नास्ति । 'स्तनयित्नावथ' (१८) भाष्ये । 'स्तन-
यित्ना अथ' मै० सं० । 'ब्राह्मणाः वदन्ति' (१९)
भाष्ये । 'ब्राह्मणः वदति' मै० सं० । 'या च देवानां या
च मनुष्याणां' (२०) मै० सं० नास्ति । 'वानै सृष्टा
चतुर्धा व्यभवत्ततो याऽत्यतिरिच्यत सा वनस्पतन्प्राविशत्सैषा
याऽस्ते या दुन्दुभौ या तूणवे या वणिायाम्' (मै० सं०
३ । ६ । ८) ।

२० तदेतद्ब्राह्मणं स्पष्टम् । रथंतरं (९९८ । १७) वामदेव्यं
(१७) बृहत् (१८) एतानि सामानां नामानि ।

२२ इतरे वर्णाः कीदृशीं वाचं वदन्ति । ते किं पशवः । एतेषां
मतानां मूलमन्वेप्यम् । ततोऽर्थः स्पष्टो भवेत् ।

१० 'ऋचो अक्षरे परमे व्यवने' (२) 'ऋचा' (३) न
पठितम् । 'ऋचश्च ह्यक्षरे परमे व्यवने धीयन्ते० प्रति
प्रतीति च ब्राह्मणम्' (५-७) न पठितं न वा व्याख्यातम् ।

११-१२ अधियज्ञ ओंकारः । अधिदैव आदित्यः । अध्यात्मनि आत्मा ।

१५ ओंकारं विना देवा नाचर्यन्ते । तस्याः = वाचः ।

१६ व्यवनं विशिष्टं विविधं वा अवनं रक्षणम् । ऋचां परमं रक्षण-
मक्षरमोंकारः । नानादेवतेषु च मन्त्रेषु (६) उक्त्वा आव-
श्यकः । विविधमस्मिच्छद्भजातमिति दुर्गः ।

२१ अक्षरं सर्वेषां शब्दानां मूलम् ।

२५ 'ओंकार एवेदं सर्वम् । ओमित्येनदक्षरमिदं सर्वम्' (मा०
८० । १) । 'ओमिर्तादं सर्वम्' (तै० ८० अनुवाकः ८) ।

२६ तानि = ऋगादीनि ।

१ प्रणवः = ॐ । प्रणवस्य विग्रहः शरीरम् आत्मा ।

११ ऋचेषु आदित्य इत्यन्वयः ।

१३ प्रत्युचः = सर्वाणि भूतानि (४-५) । 'प्रत्युचः सर्वाणि
भूतानि' (४-५) 'यदनेनार्चन्ति' (७) प्रत्युचः

प्रश्न पङ्क्तिः

१००१ १३ सर्वाण्यिन्द्रियाणि ' (७) यान्यस्मिन्नात्मन्येकं भवन्ति '
(९) न पठितं न वा व्याख्यातम् ।

१३-१४ मात्रेभ्यः (९) = अवयवेभ्यः ।

१४ ' भवति ' (९) ' इत्यधिदैवतं ' (६) ' अथाध्यात्मं '
(६) ' अत्र ' (७) ' उच्यन्ते ' (७) ' भवति '
(८) न पठितम् ।

१९ अयमात्मा शरीरं वा ऋक् । यास्कभाष्ये शरीरमेव (७) ।

२१ ' अविनाशिधर्म ' (८) भाष्ये । ' अविनाशिधर्मि ' वृत्तौ ।
ऋक् प्रत्युच्यथाऽवयवः प्रत्यवयवः । ऋच ऋग्यजुःसामानि ।
प्रत्युचो ब्राह्मणानि (?) । देवाः प्रसिद्धाः । अक्षरमोकारः ।
अथवा । ऋक् आदित्यः । प्रत्युचः सर्वाणि भूतानि । देवा
रदमयः । अक्षरम् अन्यन्मात्रेभ्यो भूतेभ्यः । अथवा । ऋक्
शरीरम् । प्रत्युच इन्द्रियाणि । देवा इन्द्रियाणि । अक्षरम्
अविनाशिधर्म ।

१००२ १९ वाचः क्षयो निवास । ' नास्य क्षयो भवति ' (२७) मूलः
च. पाठः । स . वाक्क्षयो भवति ' इति शुद्धी क्रियते । अ
(न) + क्षरं (क्षय .) । ' न क्षियते ' (४) अस्य
विवरणम् ' अक्षयं ' । अथवा । ' अस्यो भवति ' ।
' वाक्क्षय ' इति दुर्गम्बीकृतपाठः । ' वाक्क्षरं ' (२९)
इति पाठभेदः । वाच क्षरं निवासः । क्षयस्याभावोऽक्षयम्
(४) अव्ययीभावः ।

१७-१८ यथाऽरा असे वर्तन्ते तथा ।

२२ ' अन्तम्योपप्रदर्शनार्थः ' इदं ' परिसमाप्त्यर्थः ' इत्यस्मात्कर्म
भिन्नम् । ' वान्तम्य ' अत्र च. मूळपाठो दुर्वाच्यः । अन्तः
सिद्धान्तः म्यात् ।

१००३ १ ' अभ्युदः ' इति क. ग. छ. त. द. पुस्तकेषु (१००२ ।
२६) । वृत्तौ ' अभ्युदः ' ।

१-२ अभ्युदः = विवर्तितः ।

पङ्क्तिः

- ३ पुनरयं० = अयं पुनर्मन्त्रार्थः ।
- ४ निगमशेषाः = उपनिषदो वेदान्ताः ।
- ५ वाक्यार्थसामर्थ्यात् = वाक्यार्थाधारेण । उचीतं तर्कितमर्था-
भिधाने सामर्थ्यं शक्तिर्येषाम् । तस्य विचारस्यापरे पर्यायाः ।
' उपरि ' अशुद्धम् ।
- १५ उपदेशेनार्थं गृह्णन्ति त औपदेशिका असाक्षात्कृतधर्माणः ।
- १८ पारोक्ष्येण = आचार्यपरम्परया (निरु० पृ० ९८ । प० ८) ।
एतेषु = औपदेशिकेषु ।
- २३ नियोगे = कर्माणि ।
- २५ ' मनुष्या वा ' = मनुष्या वै । उत्क्रामत्सु = स्वर्गं गच्छत्सु ।
मृतेष्वित्यर्थः ।
- २ पुराकरूपः = पूर्वयुगवृत्तान्तः ।
- ३ ' तेभ्य एतं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूहं प्रायच्छन् ' इति वृत्तां ।
' तेभ्य एतं तर्कमूर्ध्नि प्रायच्छन्मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूहं '
भाष्ये (१००२ । १०-११) । तर्क एव ऋषिः । अभ्यूहो वित-
र्कितो मन्त्रार्थचिन्तारूपोऽभ्यूहः । एतद्रूपमन्तर्क एव ऋषिः ।
तं प्रायच्छन् । ' को न ऋषिर्भविष्यति ' इति प्रश्नस्य उत्तर-
मिदम् ।
- ३-४ समन्तार्थरूपमेतद्गृहं प्रायच्छन्नित्यन्वयः ।
- ४-५ भवन्तः शक्यन्ते शक्नुवन्ति । ' शक विभाषितोऽमर्षणे '
(४ । ८१) ।
- ६ सूक्ते = स्पष्टे । ' किञ्च ' (१००२ । ११) इत्यत्र
' किञ्चित् ' ।
- २१ ' प्रनवेषु यन् ' (१३) ' अत्राऽऽह ' (१४) न पठितम् ।
- २२ न साक्षात्तेऽर्था दृश्यन्ते ।
- २४ मंगयन्ते = परस्परं मंगयन्ति = एकमन्येन इतराद्यर्था-
न्मूढयन्ति ।

परं

पङ्क्तिः

१००६

५ प्रतिभानवतां = बुद्धिमताम् । तेषां मनोवृत्तयो न सर्वत्र संव-
रितुं शक्नुवन्ति ।

७ ऊहब्रह्मा = तर्करूपं ब्रह्म । शब्दानामर्धानां ये न्याया ये
विवरणनियमास्तत्र संकटेषु । दुर्बोधार्थेष्वित्यर्थः । ' ऊह-
ब्रह्माण ऊह एषां ब्रह्मोति वा ' (१६) ' अथाऽऽगमो
यां यां देवतां निराह तस्मास्तस्यास्ताद्ब्राह्मणमनुभवत्यनु-
भवति ' (१००४।१७-१८) न पठितं न वा व्याख्यातम् ।

१० ' अस्या उद्वाहितोनेश्वानेदाद्वेदः ' इदमतीव दुर्बोधम् ।

१२-१३ श्रुतिर्विद्यतेऽस्य स श्रुतिमान् । तस्य बुद्धिरियं विद्या । सा तां
बुद्धिं वर्षति नरं श्रुतवन्तं करोति । ' श्रुतिमति बुद्धिः ' इति
विग्रहः । अन्यथा ' श्रुतिः मतिः बुद्धिः ' एवं विग्रहो भवेत् ।
(निरु० १४ । १४ पृ० १०१३ । प० २२-२३) इत्यत्र ' विद्याबुद्धिमताम् ' इति विद्यते । तेनात्र इयं विद्या
श्रुतिरूपा मतिरूपा बुद्धिरूपा इत्यर्थः स्यात् । ' श्रोतव्यः
मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः ' इत्येवं उपनिषत्सु उच्यते ।

१६-१८ वेदे विधयः प्रातेषवाः प्रसवाः (तेषामपवादाः) नियमाः (नियम-
विधयः) परिसंख्या (तद्रूपः प्रतिषेधः) पुनर्वचनं (पुनरुक्तिः) परा-
र्थवादाः (अर्थवादाः) तैर्वेदो महनः संकटः ।

१८ ध्रुतमनतिक्रम्य प्रमां ज्ञानं यो गृह्णाति तस्य । श्रुतावलम्बिन
इत्यर्थः । वेदशब्दान्वाच्यार्थेनैव गृह्णाति न लक्ष्यार्थेन ।

१९ परमं दुर्बिज्ञानानि दुर्बिज्ञेयानि तथाऽपि वेदनीयानि ।

१००७

२ व्याख्यातं दैवतं मज्जमा-यायादारम्य प्रयोदशध्यायं यावन् ।

यज्ञाद्गं च । दैवतं प्रकरणं यज्ञस्य अद्गं इति च व्याख्यातम् ।

यज्ञादने दैवतस्य न कोऽप्युपयोगः । सर्वं दैवतं कर्मपरम् ।

' यदैवतः स यज्ञो वा यज्ञाद्गं वा तदैवता भवन्ति ' (नि० अ०

७ पृ० ४) । अत्र यज्ञाद्गम्य भिन्नः अर्थः । ऊर्ध्वमार्गार्थि =

ऊर्ध्वमार्गेण गमनम् । कः ऊर्ध्वमार्गः कथं च आत्मा तेन गच्छति

१ व्याख्यायते । यस्मात्कर्म मनासं तस्मान्

पङ्क्तिः

- २ ऊर्ध्वमार्गस्य मोक्षस्य गतिं व्यास्येया । किंतु एतद् ऊर्ध्व
मार्गप्रकरणं निरर्थकं नान्तर्भवति ।
- ३ सूर्य आत्मेत्युदितस्य हि कर्मद्रष्टा । इदं दुर्बोधं अशुद्धं
अपूर्णं वा । 'सूर्य आत्मेत्युदितस्य निर्देशः' इति वाक्यं
स्यात् । 'सूर्य आत्मा' अयं उदितस्य सूर्यस्य निर्देशः । स हि
कर्मद्रष्टा । स हि स्यावराणि जङ्गमानि च यानि कर्माणि
कुर्वन्ति तेषां द्रष्टा साक्षात् । तस्मात् पापं कर्म हेयं पुण्यं च
कार्यम् ।
- ३-४ अथैतदनुप्रवदति । कः अनुप्रवदति । कुत्र चायं अनुप्र
वादः । अयं अनुप्रवादः अत्र न दत्तः । 'सूर्य आत्मा'
इत्यत्र सूर्यं साक्षात्पुच्यते । अयं प्रवादः । तस्य अनुप्रवा
दाय अन्यथा ऋचं अवश्यम् । किंतु अनुप्रवदन्ती ऋक्
नैकाऽपि पठ्यते । महाराष्ट्रपाठे 'अनुप्रवदन्ति' इति बहुवचनम् ।
- ४ अथैतं महान्तं । अयं भिन्न अधिकारः । 'ऋग्गणः' इत्य-
नेन बहुच ऋचं पठिता आमन् इति भाति । किंतु अत्र
एकैव ऋक् पठ्यते । 'इन्द्र मित्रः' इत्यादि । एष + ऋग्गण
= एष ऋग्गणः । न तु एषर्गणः ।
- ५ आत्मनिज्ञासया । महति आत्मनि इयं निज्ञात्मा कथं उद्भवेत् ।
स आत्मानं जानात्येव । आत्मनिज्ञात्मा व्यष्टीना (जीवात्मना)
स्यात् । तदर्थं महानात्मा स्वरूपं प्रवर्त्ति ।
- ८-९ जन्मना अहं जातवेत्ता अग्निं अम्मि । जातं एव अहं जातं
वेदो गिसज्ञां प्राप्सवान् । घृतं मे दक्षुर्भवति । अमृतं च मे
आम्यं भवति । अहमेव त्रिरातु अर्चः । त्रिधातु मुच्यते
ध्रुवः । अर्चः = मन्त्रः । रजसः = श्रेष्ठः । विमानः = विमानः ।
सर्वान् श्लोकान् अहं विमिमे । रश्मिः = नृपः इत्ययं नृपः श्रेष्ठः
निरप्यते । अत्रत्यः = सततः । अहं श्रेष्ठः अविज्ञेयं परमं
ज्यामि । मम नाम हविः । अस्यां ऋचि अग्निं स्व महिमानं
वर्णयति । न महतः आमनः ।

११ पङ्क्तिः

१००७

१०-११

प्रथमजा = प्रथमं जातः । ऋतस्य = महतः आत्मनः । महतः आत्मनः अहं अन्नं प्रथमं जातमस्मि । सर्वेभ्यो देवेभ्योऽपि प्रथमं जातं अस्मि । अहं अमृतस्य महतः आत्मनः नाम धारयामि । अहमेव अमृत महानात्मा । यः यजमानः मा (अन्नं) अन्यस्मै ददाति स एव मावत् मादृशः (महानात्मा) भवति । अन्ननामधेय अहं य केवलं अन्नमासि अन्नशब्देन महान्त आत्मानं न जानाति तं अग्निं नाशयामि । महत आत्मन आत्मानं भिन्नं पश्यन्तः सर्वे नश्यन्ति । कर्म्यामुपनिषदि इयं ऋद् वृत्ते इति न ज्ञायते । इयं ऋद् तैत्तिरीयोपनिषदि एव पठ्यते— 'अहमस्मि प्रथमजा ऋताश्च । पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाश्नायि । यो मा ददाति स इदेष माश्नाः । अहमन्नमन्नमदन्नं माश्ना' इति । अत्र शास्त्रभाष्यम् । 'अहमस्मि भवामि प्रथमजा प्रथमज प्रथमोत्पन्नं ऋतस्य सत्यस्य मूर्तामूर्तस्यास्य जगतो देवेभ्यश्च पूर्वं अमृतस्य नाभि अमृतस्य नाभिर्मै य मत्स्य अमृतस्य प्राणिना इत्यर्थः । यः वाञ्छितं मा मा यज अन्तार्थिभ्यो ददाति प्रयच्छति आत्मना प्रवर्तानि स इदं एव अग्निं यथाभूतं आवा अपति इत्यर्थः । यः पुनश्च्यो मामदृत्वाऽर्थस्य रात्रे प्राप्ते अन्नं अति तदन्नं अदन्नं भक्षयन्तं दुग्धं भक्षे अन्नमेव भक्षति अग्निं भक्षयामि ।' तैत्तिरीयब्राह्मणे एवमेव ऋत्वात् । सायणश्रुतं तदर्थं कर्मरत्नम् ।

पङ्क्तिः

१२ स्यात् । प्रादुर्भव = आत्मरूपं आविश्चकार कम्मचित् जिज्ञासवे । तं च जिज्ञासुं एवं व्याजहार उवाच । किमुवाच ।

१३-१४ आत्मानं अध्यात्मजम् । आत्मा अध्यात्मजः कथं स्यात् । अध्यात्मजं = चित्त्वरूपम् । अन्तिकं = नैकट्येन अथवा सुज्ञेयतया । स्पष्टमित्यर्थः । अन्यस्मै जिज्ञासवे आचक्ष्व इति । ' आचक्ष्व ' इति अशुद्धम् । (निरु० ११ । ३४) इत्यत्र ' आचक्ष्व ' इत्यस्य म्याने गुर्जरपाठः ' आचक्ष्व ' इति । यदि ' आचक्ष्व ' इति पाठः तदा स महान् आत्मा आत्मानं अन्यस्मै आचक्ष्व आचक्ष्वे इत्यर्थः । एवं तं व्याजहार (१२) = एवं तं आत्मानं निरूपयामास = अध्यात्मजं आत्मानं अन्यस्मै अन्तिकं आचक्ष्वे । प्रथमोऽर्थः साधीयान् । ' एवं तं० आचक्ष्वेति ' अशुद्धम् । महाराष्ट्रपाठः इतोऽपि अशुद्धतरः । पाणिनीयव्याकरणे ' आचक्ष्व ' इत्यपि अशुद्धम् । ' आचक्ष्वे ' इति शुद्धम् ।

१५-१६ पथिभिः आचरन्तं परा चरन्तं च अनिपद्यमानं गोपां आत्मानं अपश्यम् । सध्रीचीः विपूचीः वसानः सः भुवनेषु अन्तः आवरीवर्ति इत्यन्वयः । आ न परा न पथिभिः चरन्तं = सर्वत्र वर्तमानम् । अनिपद्यमानं = अशयान सर्वदैव जाग्रतम् । गोपां = पालयितारम् । सध्रीचीः = ऋजुमार्गेण गच्छन्तीः प्रजाः । विपूचीः = विपममार्गेण गच्छन्तीः प्रजाः । वसानः = आच्छादयन् पालयन् । आवरीवर्ति = सर्वत्र सर्वदा वर्तते इत्यर्थः ।

१७ ' आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तरिनि ' । एतादृक् ऋजूभाष्यप्रारम्भः गतेषु अज्यायेषु न दृश्यते । अथैष । अतः परं महतः आत्मनः लक्षणानि दीयन्ते । सत्त्वलक्षणः एव अयं आत्मा । न तस्मिन् रजस्तमसी वर्तेते ।

१८ तत्परम् । तत्त्वलक्षणं वस्तु सर्वेभ्यः परम् । तद्ब्रह्मेत्युच्यते । सत्त्वलक्षणः = नित्यमस्त्वयः । (भ० गी० २ । ४९) ।

पत्रं
१००७

पङ्क्तिः

१८ तत्सलिलम् । ' आपो ह वा इदं आसन् सलिलमेव ' । (नृ० पू० उ० १ । १) । ' सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति ' (वृ० उ० ४ । ३ । ३२) । अव्यक्तम् । ' अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपम् ' (कै० उ० १ । ६) ।

१८-१९ ' अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ' (कठोप० ३ । १९) ।

१९ अमृतम् । ' तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा ' (छा० उ० ८ । १४ । १) । शुक्लम् । ' तच्छुक्लं पुरुषलिङ्गम् ' (मै० उ० ६ । ३९) । तन्निष्ठः = तस्मिन् महति आत्मनि निष्ठा यस्य । भूतात्मा = पञ्चभूतैः परिवेष्टितः आत्मा = जीवात्मा । सर्वे जीवात्मानः महति आत्मनि स्थिताः भवन्ति । न ते स्वतन्त्राः । भूतात्मशब्दः मैत्रायण्युपनिषदि बहुकृत्वः प्रयुज्यते । दशसूपनिषत्सु नैकदाऽपि दृश्यते । ' असौ भूतात्मा अन्तःपुर्येणाभिभूतः ' (मै० उ० ३ । ३) ।

२० भूतप्रकृतिः = पञ्चमहाभूतानां प्रकृतिः महान् आत्मा इति वैशेषिकाः वदन्ति । तत्क्षेत्रम् = ' इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ' (भ० गी० १३ । १) । ' तत् महान् आत्मा क्षेत्रं ' इदं वैशेषिकमतस्य व्याख्यानम् । तत् ज्ञानात् क्षेत्रज्ञम् = तत् (महानात्मा) क्षेत्रज्ञानात् क्षेत्रज्ञम् । ' एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ' (भ० गी० १३ । १) । ' अनुप्राप्य निरात्मकं ' इदं किमर्थं अत्र पठ्यते । अस्य पूर्वेण परेण वा न कोऽपि संबन्धः । ' अनुप्राप्य ' इदं ' अप्राप्य ' अथवा ' अननुप्राप्य ' इति स्यात् । क्षेत्रज्ञं अप्राप्य अननुप्राप्य वा क्षेत्रं निरात्मकम् । क्षेत्रज्ञाभावे क्षेत्रं नास्त्येव ।

२०-२१ अथैष महानात्मा० । यद्दि महानात्मा सत्त्वलक्षणः तर्हि तस्मिन् त्रैगुण्यं कथं उद्भवेत् । त्रैगुण्यं भूतात्मनि वर्तते । महति आत्मनि सत्त्वं विद्युद्धरूपेण तिष्ठति । किंतु रजस्तमसी अभिनः वर्तन्ते ।

पङ्क्तिः

२२ कामद्वेषः = ' काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ' (भ० गी० ३ । ३७) । ' कामद्वेषः ' इति समाहारद्वंद्वः कथं स्यात् । ' स नपुंसकम् ' (पा० २ । ४ । १७) इत्यनेन ' कामद्वेषं ' इत्यवश्यम् । ' कामद्वेषौ ' इति सरलम् । रजः-शब्देन कामद्वेषौ सूच्येते । तमसः किं प्रयोजनम् । तमोगुणेन केनज्ञानां भूतात्मनां पृथक्त्वं भिन्नत्वं संपाद्यते । तमोगुणाभावे क्षेत्रज्ञभेदो न स्यात् ।

२३ अविज्ञातस्य=यावन्महानात्मा न ज्ञायते तावत् । विशुद्धचतः= विशुद्धस्य । विभूर्तिं कुर्वतः = सर्वाः विभूतयः महतः आत्मनः रूपाणि । सर्वाः विभूतयः महानात्मैव । किंतु ज्ञानाभावेन ताः भिन्नाः दृश्यन्ते । एतदेव क्षेत्रज्ञपृथक्त्वम् ।

' यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोशंसंभवम् ' (भ० गी० १० । ४१)

एतासां विभूतीनां वर्णनं भगवद्गीतायां दशमेऽध्याये ।

१ परिभातिलिङ्गो महानात्मा । ' प्रतिभातिलिङ्गः ' इति महाराष्ट्रपाठः । महानात्मा पारितः सर्वत्र भाति । आत्मनः ऋते न किञ्चिद्वापि वर्तते । प्रतिभाति = आत्मा आत्मानं प्रति भाति । आत्मा आत्मनः अन्यत् न किञ्चित् पश्यति । चतुर्थे खण्डे 'महानात्मा प्रतिभां अप्येति' इत्युच्यते । तेन ' प्रतिभालिङ्गः ' इति पाठः स्यात् । 'तमोलिङ्गः' अस्य कः अन्ययः । ' तमोलिङ्गो भवति ' इति स्यात् । स्वयं परिभातिलिङ्गोऽपि सन् केनचित् कारणेन महानात्मा तमोलिङ्गो भवति । तत्कारणं माया । ' विद्या प्रकाशलिङ्गस्तमः ' इदं अतीव अशुद्धम् । ' विद्या प्रकाशलिङ्गा ' इत्यवश्यम् । विद्या प्रकाशलिङ्गाऽपि सती केनचित् कारणेन तमः (अविद्या) भवति । महान् आत्मा = विद्या । परिभातिलिङ्गः = प्रकाशलिङ्गा । द्वयोर्वाक्ययोः एकः एव अर्थः ।

१-२ ' अपि निश्चयलिङ्गः ' इत्यादि । अपिशब्देन सिद्धान्तः सूच्यते । आकाशः = महानात्मा । निश्चयः लिङ्गं यस्य ।

पत्र
१००८

पङ्क्तिः

१-२ आकाशस्य महत अत्मान् लिङ्ग स्वरूपं निश्चितमेव ।
महानात्मा स्वयंप्रकाश । अथवा । ' निश्चयालिङ्ग आकाश ' इदं चतुर्थरण्डस्य सूचक म्यात् । यस्मात् आकाशगुण निश्चित एव । अयं मण्ड अशुद्ध दुर्बोधश्च ।

४ ' आकाशगुण शब्द ' इत्यादि वैशेषिकमतम् । ' गन्ध रसरूपस्पर्शशब्दानां स्पर्शपर्यन्ता पृथिव्यप्तेजोवायूनां पूर्वं पूर्वं अपोह्य आकाशस्य उत्तर ' (न्यायदर्शने ३ । १ । ६४) । पृथिव्या स्पर्शान्ता सर्वे गुणा । अप्सु गन्ध अपोह्यते । तेन अप्सु रसरूपस्पर्शा । तेजसि गन्धरसौ अपोह्यते । तेन तस्मिन् रूपस्पर्शा । वायौ स्पर्श एव । तथाच आकाशे शब्द । ' रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी । रूपरसस्पर्शवत्यो आप । तेजो रूपस्पर्शवत् । स्पर्शवान् वायु । ते आकाशे न विद्यन्ते ' (वैशेषिकसूत्राणि २ । १-१) । शब्द आकाशस्य एव गुण इति गौतमकणादमतम् । शब्द पृथिव्यप्तेजोवायुषु अपि वर्तते इति साख्या वेदान्तिनश्च । ' प्रकृतेर्महाम्ततोऽहकारस्तस्माद्गुणश्च षोडशक । तस्मादपि षोडशकात् पञ्चम्य पञ्च भूतानि ' (साख्यतत्त्वकीमुदी २२) । द्रविडोपाधिधरानेश्वरशास्त्रिकृत अस्य श्लोकस्य विवरणम् । " शब्दतन्मात्रादाकाश शब्दगुणम् । शब्दतन्मात्रसहितात्स्पर्शतन्मात्राद्वायु शब्दस्पर्शगुण । शब्दस्पर्शतन्मात्रसहितात् रूपतन्मात्रात्तेज शब्दस्पर्शरूपगुणम् । शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहितात् रसतन्मात्रात् आप शब्दस्पर्शरूपरसगुणा । शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहितात् गन्धतन्मात्रात् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी जायते इत्यर्थे " । पञ्चीकरणेन एतत् सिध्यति । " सर्गाद्यकाले परमेश्वर सृज्यमानप्रपञ्चवैचित्र्यहेतुप्राणिकर्मसहकृत मायासहित नामरूपात्मनिखिलप्रपञ्च प्रथम बुद्ध्या आकलय्य इदं वारिण्यामीति सत्प्रलयति । तत आकाशादीनि पञ्चभूतानि अपञ्चीकृतानि तन्मात्रप्रतिपाद्यानि उत्पद्यन्ते । तत्र आकाशस्य शब्दो गुण । वायो शब्दस्पर्श । तेजस शब्दस्पर्शरूपाणि । अपा शब्द-

पङ्क्तिः

- ४ स्पर्शरूपरसाः । पृथिव्याः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः ” (वेदान्तपरिभाषायाम्) ।
- ६ ‘ पृथिव्या भूतग्रामस्थावरजङ्गमाः ’ । इदं अशुद्धम् । ‘ भूतग्रामाः ’ इत्यवश्यम् । भूतानां ग्रामाः संज्ञा । ते स्थावराश्च जङ्गमाश्च । पर्वतादयः स्थावराः । प्राणिनः जङ्गमाः । ‘ स्थावरजङ्गमाः ’ इदं विशेषणं अनवश्यम् । पृथिव्याः स्थावरजङ्गमा भूतग्रामा जायन्ते । तदेतद् मायोपाधिकं विशरिणतं ब्रह्म । अहर्द्युगसहस्रमेतस्मिन्नेव खण्डे व्याख्यायते ।
- ७ ‘ सुपुप्स्यन् ’ कस्य विशेषणम् । ‘ तदेतत् ’ इदं नपुंसकम् । ‘ सुपुप्स्यन् ’ इत्यस्य विशेष्यं पुंलिङ्गं भवितुमर्हति । अङ्गानि प्रत्याहरति कूर्मवत् ।
‘ यदा संहरते चाऽयं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वश ’ (भ० गी० २ । १८) ।
- ८ अपियन्ति = तस्यां प्रलीना भवन्ति । एकी भवन्ति । पृथिवीरूपमापाद्यन्त इत्यर्थः । पृथिवी अपः अप्येति । अत्रूपं गृह्णाति । आपो ज्योतिषमापियन्ति । ‘ ज्योतिषम् ’ इति अशुद्धम् । ‘ ज्योतिः ’ इति शुद्धम् । ज्योतिः वायुमप्येति । वायुः आकाशमप्येति ।
- ९ आकाशः मनः अप्येति । मनः विद्यामप्येति । विद्या = व्यष्टिवुद्धिः । विद्या महान्तमात्मानमप्येति । महान् आत्मा = समष्टिवुद्धिः । महानात्मा प्रतिभामप्येति । केयं प्रतिभा इति न ज्ञायते । सांख्यकारिकासु सा न दीयते । ‘ निमित्तानपेक्षं मनोमात्रजन्यमविसंवादकं द्राक् उत्पद्यमानं ज्ञानं प्रतिभा । विवेकात् पूर्वभावि ज्ञानं प्रातिभम् ’ (पानञ्जलयोगसूत्राणां भोजदेवविरचिततृती ३ । ३३) । द्वयोरस्तुनोः बहूनां वस्तूना वा भेदज्ञानं विवेकः । तद्विरुद्धज्ञानं प्रातिभम् । एतद् ज्ञानं वस्तुनि नावलम्बते । इदं ज्ञानं न केनापि वस्तुना संबन्धनि नापि विभंजति । तन्मनस एव प्रतिष्ठितं उत्पद्यते । तस्मात् तन्निर्पिरम्परज्ञानश्च मामान्यम् ।

त्रे

पङ्क्ति

०८

१० प्रतिभा प्रकृतिमप्येति । 'प्रत्ययत्रयम् — शृथिव्या अप्सु । अपा तेजसि । तेजसो वायौ । वायोरात्राशे । आकाशस्य जीवाह्वाररे । जीवाह्वारस्य हिरण्यगर्भाह्वाररे । हिरण्यगर्भाह्वारस्य अविद्यायाम्' (वेदान्तपरिभाषायाम्) । सा प्रकृति स्वपिति । 'युगसहस्रं रात्रि' एतस्य प्राक् 'युगसहस्रमह' इत्यवश्यम् । अहं अनन्तरं रात्रि । रात्रि अनन्तरमह । एतादृशं भ्रमणम् । अत्र 'अहोरात्र' इत्यवश्यम् । 'अहोरात्रौ' इति निर्भयम् ।

१०-११ अत्र = अनवरतम् । परिवर्तते = चक्रवत् भ्रमत ।

११ स काल अहोरात्ररूप । युगसहस्रद्वयपरिमाण । तदेतत् अहं = ब्रह्मण अहं । अहोरात्रकाल अहं परिमाणं कथं भवेत् । 'स काल ० भवति' इदं वाक्यं किञ्चित् दुर्बोधम् । युगसहस्रं ० । 'यत्' इत्यस्य स्थाने 'ये' इत्यवश्यम् । ये जना ब्रह्मण युगसहस्रपर्यन्तमहर्षिदु युगसहस्रान्ता च रात्रिं विदुः ते अहोरात्रविदः । भगवद्गीताया 'सहस्रयुग' इति पाठः (भ० गी० ८ । १७) ।

१४ न कालम् । अन्य = जीवात्मा । जीवात्मा ब्रह्मण अन्य । अनुप्रवर्तते अहं चेषते । रात्रौ स्वपिति । हिरण्यगर्भोऽपि परिवर्तमानं कालमनु प्रवर्तते । अहं चेषते । रात्रौ स्वपिति । स्रष्टा सर्गकाले । 'बहु म्या प्रजायेय' इति सङ्कल्पं करोति । विभक्ता । 'तदनुप्रविश्य सच्च त्यक्त्वाभवत्' (तै० उप० २ । ६ । १) अतिमात्रं = तन्मात्रेभ्यो भिन्नम् ।

१५ अहमिति गम्यते । अयमह्वारस्य निर्देशः । 'स मिथ्या ० भूतेषु' इत्यमपूर्णमतीवाशुद्धमतिदुर्बोधं च । स जीवात्मा मिथ्याशनेन जगत आत्मनि ज्ञानं करोति । 'पापत्र' इत्यस्य स्थाने 'पापक' इति पाठो भवेत् । इदं पापत्रं शरीरम् । इदं शरीरं महाभूतपरिणामम् । स जीवात्मा (भूतात्मा) मिथ्याशनेन पाप्म-भौतिः शरीरमहं मम इति मन्यते । पूर्णं वाक्यमित्थं म्यात् ।

पङ्क्तिः

१९ ' स मिथ्यादर्शनेन इदं पापकं शरीरं महाभूतेषु लभते ' ।
चिरोष्वाकाशात् । किमिदं चिरोणु । ' अस्मिन् पञ्चात्मके
शरीरे यत्कठिनं सा पृथिवी । यद् द्रवं ता आपः । यदुष्णं
तत्तेजः । यत्संचरति स वायुः । यत्सुपिरं तदाकाश-
मिति । तत्र पृथिवी धारणे । आपः पिण्डीकरणे । तेजः
प्रकाशने । वायुर्व्यूहने । आकाशमवकाशप्रदाने' (गर्भोपनिषदि) ।
चिरोणु = सुपिरम् (?) । अयं शब्दः कुत्रापि नोपलभ्यते ।

१६ आकाशात् चिरोणु लभते । वायोः प्राणं लभते । तेजसः
चक्षुश्च वक्तरं लभते । अद्भ्यः स्नेहं लभते । पृथिव्याः
मूर्तिं लभते । ' मूर्तिः' इति अपपाठः । वक्तरं = जिह्वां वाचं
वा । ' अग्निर्वाग्भूत्वा मुसं प्राविशत् ' (ऐ० उ० २ । ४) ।
' वक्तरं ' इत्यस्य स्थाने ' पक्तरं ' इति पाठोऽवश्यः ।
यस्मात् वाग्भटकृते अष्टाङ्गलदये शारीरस्थाने ' बहेः दृक्-रूप-
पक्तयः' (३ । ३) । बहेः = तेजसः । दृक् = चक्षुः । पक्तिः =
पक्ता । पक्ता = कोष्ठयः अग्निः । ' अन्नं पचत्यामाशय-
स्थितम् । औदर्योऽग्निः (वाग्भट-शारीर० ३ । १९-१६) ।

१७ विद्यात् = विन्दते लभते ।

१८-१९ ' त्रीन् मातृतः० पितृतः ' ।

' अस्थि स्नायुश्च मज्जा च जानीमः पितृतो द्विज ।
त्वद्मांसशोणितश्चेति मातृजान्यापि शुश्रुम ' (महामा०
शा० प० ३०९ । ६) । ' गर्भस्य केशश्मध्रुलोमास्पिनत्-
दन्तासिरास्त्रायुधमनीरेतःप्रभृतीनि स्थिराणि पितृजानि । मांसशो-
णितमज्जाहृद्वाभियकृन्डीहान्त्रगुदप्रभृतीनि मृदूनि मातृजानि '
(सुश्रुते) । मज्जा मातृतः इति चरकमुश्रुता । पितृतः
इति निरुक्तम् ।

१९ सर्वमयः = सर्वाणि महाभूतानि तस्मिन् वर्तन्ते । वल्लभः =
रहितः । स्वल्पेण आत्मा सर्वज्ञः । तथाऽपि मादया (अविद्यया)
सः जगत् आत्मानि अध्यागते । तेन सर्वमात् भिन्नोऽपि सर्वदयो
भवति ।

पत्रं

पङ्क्तिः

१००८

२१ 'यदि' इत्यस्य स्थाने 'यत्' इत्यवश्यम् । स भूतात्मा यत्
अनुरूच्यते तत् भवति ।

'य य वाऽपि स्मरन्भाव त्यजत्यन्ते केलवरम् ।

त तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभाषित ' (भ० गी० ८।१) ।

'अनो रूधू कामे' (घा० ४ । ६८) । अनुरूच्यते = काम
यते । यदि धर्म० । धर्म अनुरूच्यते पुरुषेण । 'धर्म' इत्यस्य
स्थाने 'धर्म' इत्यवश्यम् ।

२२ सच्यवते = पतति । 'स' अनवश्यम् ।

२३ सट्ध्यात् । इमा मानवयोनि सदध्यात् सकल्पयेत् । मतम् ।
मत शरीररचनामन्तरेण । कस्य इद मतम् । गर्भोपनिषदि
'श्लेष्मा रेतसः सभवति । श्लेष्मणो रसः' इति न विद्यते ।
नापि सुश्रुतचरकयोः ।

२५ गर्भोपनिषदि 'रेतः' इत्यस्य स्थाने शुक्रम् ।

२५-२६ तदिदं सभवति । 'शुक्रशोणितसयोगादावर्तते गर्भः' इति
गर्भोपनिषदि ।

२६ पुरप = मानवदेहः ।

१००९

१ 'समेन' इत्यत्र 'समाभ्या' इत्यवश्यम् ।

२ यमो भवति । 'बीजेऽन्तर्वायुना भिल्ले द्वां जीवौ कुक्षिमागतौ ।
० ० ० ० यमौ इत्यभिधीयते' (सुश्रुते) । शुक्रशो-
णित० । इदं वाक्यमशुद्धम् । शुक्रशोणितसयोग
मातृपितृसयोगान्' इत्यवश्यम् । इदं वाक्यं 'पुरपः सम-
वति' (१००८ । २) इत्यस्य अनन्तरं भवितुमर्हति ।
रेतः शब्दस्थाने शुक्रशब्दादेशः किमर्थः ।

३ 'पर' इत्यस्य कोऽर्थः । सयम्यते = धनी भवति । 'सयम्यते'
इत्यस्याः त्रियाया 'पर' विशेषणं स्यात् । इदं धनीभूतं शरीरं
कथमुत्पद्यते । सौम्यो भवति । अस्य कोऽर्थः । सुश्रुते इदं लिख्यते ।
श्रीऽस्यो 'सयोगे वायुः शरीरात् तेन उदीरयति । ततः

पङ्क्तिः

३ तेजोऽनिलसंनिपातात् शुक्रं च्युतं सत् योनिमभिप्रातिपद्यते
संसृज्यते चाऽऽतवेन । ततः अग्निसोमसंयोगात् संसृज्यमानः गर्भा-
शयमनुप्रातिपद्यते । क्षेत्रज्ञः वेदायिता म्रष्टा घाता द्रष्टा श्रोता
रसयिता पुरुषः स्रष्टा गन्ता साक्षी धाता वक्ता योऽस्तावित्ये-
वमादिभिः पर्यायवाचकैः नामभिः अभिधीयते । देवसंयोगात्
(देवं = प्राक्तनजन्मकर्म) अक्षयः अचिन्त्यः भूतात्मना सह
अन्वक्षं सत्त्वरजस्तमोभिः देवासुरैः अपरैश्च मावैः वायुना
अभिप्रेर्यमाणो गर्भाशयमनुप्राविश्य अवतिष्ठते । सौम्यः =
अग्निसोमसंयोगात् संसृज्यमानः देहः । ' सौम्यो भवति ' इद-
मपि ' पुरुषः संभवति ' (१००८ । २६) इत्यस्यानन्तरं
भवितुमर्हति । एकस्यां रात्रौ योनौ स्थितं रेतः कललमि-
त्युच्यते । वाग्मटस्तु ' अन्यक्तः प्रथमे मासि सप्ताहात्क-
ल्ली भवेत् ' इति ।

३-५ पञ्चरात्रात् ० कटिनो भवति । ' द्वितीये मासि कललात् घनः
पेशी अथवा अर्बुदम् । पुंस्त्रीहीनाः क्रमात्तेम्यः ' (वाग्मटः) ।
बुद्बुदरूपः रेतःपारिणामः कास्मिन् वैद्यकग्रन्थे उपलभ्यते । गर्भो-
पनिषदि ' सप्तरात्रोपितं बुद्बुदं भवति ' इति । ' पञ्चविंशति-
रात्रः ' इत्यस्य स्थाने ' पञ्चविंशतिरात्रात् ' इत्यवश्यम् ।
गर्भोपनिषदः नारायणविरचितदीपिकायां यास्कमतं पठ्यते ।
तत्र ' बुद्बुदाः ' इत्यस्य स्थाने ' बुद्बुदः ' । ' द्विसप्तरा-
त्रात् ' इत्यस्य स्थाने ' द्विः सप्तरात्रात् ' इति । (गुर्जर-
पाठोऽपि तथैव) । ' मासचतुष्केण ' इत्यस्य स्थाने ' मास-
चतुष्टयेन ' । ' अध्यवस्यति ' इत्यस्य स्थाने ' व्यवस्यति ' ।
गर्भोपनिषदि शरीरसंघातस्य इदं वर्णनम् । ' ऋतुकाले प्रयो-
गात् एकरात्रोपितं कलिलं भवति । सप्तरात्रोपितं बुद्बुदं भवति ।
अर्धमासाभ्यन्तरेण पिण्डो भवति । मासाभ्यन्तरेण कटिनो
भवति । मासद्वयेन शिरः कुरुते । मासत्रयेण पादप्रदेशः भवति ।
अथ चतुर्थे मासि अङ्गुल्य(गुल्फ)नठरकटिप्रदेशो भवति ।

पङ्क्तिः

- ९-१२ यदि योन्यां प्रमुञ्चामि सांख्यं योगं समभ्यसेत् ।
 अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायिनम् ॥ ९ ॥
 यदि योन्यां प्रमुञ्चामि तं प्रपद्ये महेश्वरम् ।
 अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायिनम् ॥ १० ॥

(गर्भोपनिषदि) ।

१२-१३ एव समन्वितः । अत्र ' एव ' इत्यस्य स्थाने ' एवं ' इत्य-
 वश्यम् । समन्वितः प्राक्तनजन्मकर्मणा शरीरेण च ।

१३ ' समभ्यसेत् ' इत्यस्य ' जन्तुः ' कर्ता । सांख्यशास्त्रं योग-
 शास्त्रं पञ्चविंशकं पुरुषं च समभ्यसेत् । पञ्चविंशकम् । ' मनो
 दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी ' (चरक० ११९) ।
 चतुर्विंशक इत्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः । (चरक० १३३) ।
 आत्मा पञ्चविंशः । पञ्चविंश एव पञ्चविंशकः । पञ्चविंशकं
 पुरुषं समभ्यसेत् = पुरुषः आत्मा चतुर्विंशतितत्त्वेभ्यः भिन्नः
 इति मनसि निश्चिनुयात् । ' द्विर्द्वादशेभ्यस्तत्त्वेभ्यः ख्यातो
 यः पञ्चविंशकः । पुरुषो निष्क्रियश्चैव ज्ञानदृश्यश्च कथ्यते '
 (म० भा० शा० प० ३३९ । २४) । ' अहं हि पुरुषो
 ज्ञेयो निष्क्रियः पञ्चविंशकः । ' (म० भा० शा० प०
 ३३२ । ४२) ।

१४ ' जातश्च० । ' जातमात्रस्तु वैष्णवेन वायुना संस्पृश्य तदा न
 स्मरति जन्ममरणं न च कर्म शुभाशुभम् (गर्भोपनिषदि(१०)।

१५ ' जन्ममरणेऽन्ते ' अयं संधिः अशुद्धः । ' जन्ममरणे अन्ते '
 इति शुद्धः । एतच्छरीरस्य प्रामाण्यम् । गर्भोपनिषदि वर्तमानं
 एतत् वर्णनं शरीरप्राप्तिं शरीररचनां च विवृणोति । गर्भो-
 पनिषद् अत्र प्रमाणम् ।

१७ अष्टोत्तरं संधिशतम् । ' साशीतिकं संधिशतम् ' (गर्भोपनि-
 षत्) । ' द्वे संधिने ' (चरकः) । ' द्वे दशोत्तरे संधि-

पत्रं
१००९

पङ्क्तिः

१७ शते । (सुश्रुतः) । अष्टकपालं शिरः । ' चतुष्कपालं शिरः ' (गर्भोपनिषत्) । ' षोडश पलानि वषा ' इत्यन्वयः । वषा मांसजन्यस्नेहः ।

१८ नव स्नायुशतानि । ' सनवकं स्नायुशतं ' (गर्भोपनिषत्) । सप्तशतं पुरुषस्य मर्मणाम् । ' सप्तोत्तरं मर्मशतं ' इति चरकः गर्भोपनिषच्च ।

१९ हृदयं ह्यष्टकपालानि । ' हृदयं पलान्यष्टौ ' (गर्भोपनिषत्) । द्वादश कपालानि जिह्वा । जिह्वायाः कपालानि कथं स्युः । ' कफशोणितमांसानां सारो जिह्वा ' इति सुश्रुतः । ' द्वादश पलानि जिह्वा ' इति गर्भोपनिषत् । ' सुवर्णौ ' इत्यस्य स्थाने ' सुवर्णौ ' इति महाराष्ट्रपाठः अशुद्धः ।

२० ' उपम्वगुदपायु ' ममाहारद्वंद्वः । गुदं = पायुः । ' गुदं त्वपानं पायुर्ना ' (अमरः । २ । ६ । ७३) । पायुशब्दः अनवश्यः । उपम्वं = योनिः शिश्रं च । ' आहारपानसिक्तत्वात् ' इति अशुद्धम् । ' आहारस्य पानसिक्तत्वात् ' इति शुद्धम् । आहारः = जटालम् । तत् पानेन वेपवस्तुना सिच्यते आर्द्रा भवति । जटालात् पुरीषं पानात् मूत्रम् ।

अत्र वाग्भटः किट्टं—' सारश्च तत्पकमन्नं संभवति द्विधा । तत्राच्छं किट्टमस्य मूत्रं विद्यात् घनं शश्टु ' (वाग्भटः ३।६) ।

२०-२१ अनुपचिन० इति । इदं आकस्मिकं अतिदुर्बलं च । इति-शब्देन अनुपचिनेत्यादि आहारपानसिक्तत्वात् इत्यस्य कारणं भानि । ' अनुपचिनकर्माणि ' इति म्यात् । यदा आहारः उप-चेष्टुं अदाक्यो भवति तदा पुरीषं उद्भवति । मूत्रमपि तथैव । यदा शरीरे आहारः पानं वा पूर्णं भवति तदा मूत्रपुरीषे उद्भवतः इत्यर्थः म्यात् । अम्मिन् शरीरवर्गेन शोणितं मांसं मेदः अम्मिनि विमर्षं न पट्यन्ते । इदं वर्णनं द्रुष्टिनं भवति ।

पङ्क्तिः

- २१ त = जीवात्मानम् । विद्या अन्वेति कर्म च । पूर्वजन्मन प्रज्ञा स्मरण च । ' त परलोकाय गच्छन्तमात्मान विद्या-कर्मणी । विद्या सर्वप्रकारा विहिता प्रतिपिद्धा च अविहिता अप्रतिपिद्धा । तथा कर्म । विहित प्रतिपिद्ध च अविहितम-प्रतिपिद्ध च । समन्वारभेते सम्यगन्वारभेते अनुगच्छत । पूर्वप्रज्ञा च । पूर्वानुभूताविषया प्रज्ञा पूर्वप्रज्ञा । अतीतकर्मफलानुभववासना इत्यर्थ ' (वृ० उ० शा० भा० ४ । ४ । २) । इद पूर्वेण असवद्धम् ।
- २३ द्वद्वै = चित्तक्षोभकारिभि भावै । अभिभूयमान = पीड्यमान । अस्मात् = शरीरात् ।
- १ आर्जव० । इदमनवश्यमतीवाशुद्ध दुर्बोध च । महाभूमि कावत् । यथा नर महाभूमिना कम्यचित् महत् पुरपम्य भूमिना गृह्णाति अन्यभूमिनाग्रहणाय च ता त्यजति । तथा अयमात्मा इद पाप शरीर त्यक्त्वा तैजस शरीर गृह्णाति ।
- २ निमेषमात्रै = अल्पेन कालेन । प्रक्रम्य = निष्क्रम्य । शरीरात् निष्क्रम्य = प्रकृतिं स्थूलदेहमधिपरीत्य त्यक्त्वा । ' प्रकृति ' इति अशुद्धम् । ' प्रकृति ' इत्यवश्यम् । तैजस शरीर = लिङ्गशरीरम् ।
- ३ अनुभूय परस्मिन् लोके । इम लोक = पृथिवीलोकम् ।
- ६ हिंसा = यज्ञकर्मसंबद्धा प्राणिहत्याम् । विद्या = ब्रह्मविद्याम् । तत्र यन् व्राय विश्राति । हृद्योगात्मक कर्म । ' तोषरे ' अत्र लिट् अनवश्य । ' तपन्नि ' इति इष्टम् ।
- ७ धूममभिमभवन्ति = घ्नाभिमानिनी देवता प्रतिपद्यन्ते । धूमव्यप गृह्णन्ति ।
- ८ अपस्वीयमाणपक्ष = वृष्णपक्षं यस्मिन् पञ्चरात्र अपस्वीयन्ते ।
- ९ ' ओषधय ' इति अशुद्धम् । ' ओषधी ' इत्यवश्यम् ।
- १० एतद्दृष्ट्वा = ओषधयो भूया । तस्य मस्ये = वृत्तकर्मकाम्य

पत्रं

पङ्क्तिः

१०१०

१० संक्षेपे । अत्र च्छान्देनागमम्—‘अथ ये ग्रामे इष्टापुर्ते दत्तामित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति । धूमात् रात्रिम् । रात्रेः अपरपक्षम् । अपरपक्षात् यान् पट् दक्षिणा एति मासान् तान् एते संवत्सरं अभिप्राप्नुवन्ति ’ (९ । १० । ३) । ‘ मासेभ्यः पितृ-लोकात् । पितृलोकात् आकाशम् । आकाशाच्चन्द्रमसम् । एष सोमो राजा । तत् देवानामन्नम् । तं देवा भक्षयन्ति ’ (४) । ‘ तस्मिन् यावत्संपातमुपित्वा अथ एतमेवमध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशम् । आकाशात् वायुम् । वायुर्भूत्वा धूमो भवति । धूमो भूत्वा अन्नं भवति ’ (९) । ‘ अन्नं भूत्वा मेधो भवति । मेधो भूत्वा प्रवर्षति । ते इह ब्रीहियवा ओषधिवनस्पतयः तिलमाषा इति जायन्ते । अतो वै खलु दु-र्निष्प्रतरम् । यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति ’ (६) ।

बृहदारण्यकं च—‘ अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकान् जयन्ति ते धूममभिसंभवन्ति । धूमात् रात्रिम् । रात्रेः अपक्षीयमाणपक्षम् । अपक्षीयमाणपक्षात् यान् पण्मासान् दक्षिणा आदित्य एति । मासेभ्यः पितृलोकम् । पितृलोकात् चन्द्रम् । ते चन्द्रं प्राप्य अन्नं भवन्ति । तस्मिन् देवा यथा सोमं राजानमाप्यायस्व अपक्षीयस्व इत्येवमेनास्मिन् भक्षयन्ति । तेषां यदा तत्पर्यवैति अथ इममेव आकाशमभिनिष्पद्यन्ते । आकाशाद्वायुम् । वायोः वृष्टिम् । वृष्टेः पृथिवीम् । ते पृथिवीं प्राप्य अन्नं भवन्ति । ते पुनः पुरुषाणो हूयन्ते । ततो योषाणो जायन्ते । लोकान् प्रस्युत्यायिनः ते एवमेव अनुपरिवर्तन्ते । अथ ये एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गाः यद्विदं दन्द्शूकम् ’ (६ । २ । १६) । भगवद्गीतायामपि ‘ धूमो रात्रिस्तथा ऋष्णः पण्मासा दक्षिणायनम् । तत्र पान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ’ (म० गी० ८ । २९) ।

१२ महत्तपस्तेषिरे । येन ब्रह्म प्राप्येत तादृशं तपः । ‘ तपसा ब्रह्म विभिन्नासम् । तपो ब्रह्मति ’ (तै० उ० ३ । २ । १) । ‘ सत्येन लभ्यस्तपसा हि एष आत्मा ’ इति (मुण्ड० ३ । १ । ९) ।

पङ्क्तिः

१२ १६ ज्ञानोक्तानि । उपनिषत्सु अथवा ब्रह्मविद्यायामुक्तानि । श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिभ्यासितव्य इत्यादीनि । आपूर्यमाणपक्षम् । यस्मिन् चन्द्रकलाना वृद्धिर्भवति । अथ ये हिंसामुत्सृज्य ००० न पुनरावर्तन्ते ।

अत्र च्छान्दोग्यम्—‘तद्य इत्य विदु ये चेमे अरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिपमभिसभवन्ति । अर्चिपो अह । अह आपूर्यमाणपक्षम् । आपूर्यमाणपक्षात् यान् पद् उदङ् एति मासौन्तान्’ (१) ।

‘मासेभ्य सवत्सरम् । सवत्सरात् आदित्यम् । आदित्यात् चन्द्रमसम् । चन्द्रमसो विद्युतम् । तत्पुरषो मानव । स एनान् ब्रह्म गमयति । एष देवयान पन्था इति ’ (९ । १०) ।

वृहदारण्यक च—‘ ते ये एव एतद् विदु ये चामी अरण्ये श्रद्धा सत्यमुपासते तेऽर्चि अभिसभवन्ति । अर्चिपोऽह अह आपूर्यमाणपक्षम् । आपूर्यमाणपक्षान् यान् पणमासान् उदङ् आदित्य एति । मामेभ्यो देवलोऽम् । देवलोऽनात् आदित्यम् । आदित्यात् वैद्युतम् । तान् वैद्युतान् पुरषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति । तेषु ब्रह्मलोकेषु परा परावतो वसन्ति । तेषु न पुनरावृत्ति ’ (६ । २ । १९) । भगवद्गीतायामपि—

‘ अग्निर्ज्योतिरह शुक्र पणमासा उत्तरायणम् ।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना ’ (८ । २४) ।

छान्दोग्ये—‘ मानस पुरष ’ न तु ‘ मानस पुरष ’ ।

‘ आदित्याच्चन्द्रमसम् । चन्द्रमसो विद्युतम् ’ इति च ।

१६ शिष्टा दन्द्शूरा इत्यादि । एताभ्या ह्याभ्यामभ्ये दन्द्शूरा भवन्ति । दन्द्शूरा = दशमशूरा । अष्टमनभमवण्डं कम्पाश्चिदुपनिषद् उद्धृते अवतरणे भात । वृहदारण्यके ‘ अथ ये हिंसा आश्रित्य ० ० ० कुर्वन्ति ’ । ‘ अथ ये हिंसामुत्सृज्य ० कुर्वन्ति ’ इति च नास्ति ।

१६-१७ अत्र च्छान्दोग्यम्—‘ अर्षतयो एषो न वनरेण वन तानी मानि सुद्राणि अमृतावर्णानि मृतानि भवन्ति । नायम् श्रियम् इत्येतत्तृतीयं स्थानम् ’ (८) । अत्र वृहदारण्यक च—‘ अथ ये एतौ पन्थानौ न विदुम्ने वीडा पतद्वा

परं पङ्क्ति

१०१०

१६-१७

यद्विद दन्तशूत्रम् ' (६ । २ । १६) । अष्टमनवमात्रण्टयो
बृहदारण्यकेन साम्य स्पष्टम् ।

१७ इद = ब्रह्म । अथाप्याह मन्त्रदृक् ।

१९ त = विश्वकर्माणम् । विदथ = विदथ । य = विश्वकर्मा ।
इमा = इमानि भुवनानि । जनान = जनयामास । अन्तर =
अन्त करण मन । युष्माक् मन अन्यत् विश्वकर्माज्ञानाय
अनुपयुक्त बभूव भवति । यूय विश्वकर्माण ज्ञातुमसमर्था ।
यस्मात् युष्माक् ज्ञानमन्विष्येव ।

२० जल्प्या । इद जल्पिशब्दस्य तृतीयैकवचनम् । जल्पि =
जल्पन वाक्त्वम् । ' मा नो निद्रा ईषत मोत जल्पि '
(ऋ० स० ८ । ४८ । १४) । वय निद्रावशा मा भूम
नापि जल्पिवशा । नीहारशब्द सकृदेव ऋक्षात्पाया
वर्तते । ' अवश्यायस्तु नीहार ' इत्यमर (१ । २ । १९) ।
नीहार = निद्रा ? । नीहारेण निद्रया जल्प्या वाक्त्वत्वेन
च प्रावृता पूर्णा जडा इत्यर्थ । उक्त्यशास = ये केवल
मुक्त्यानि शासति पठन्ति । ये अर्थ न जानन्ति । अमुतृप ।
' उरूणसावसुतृपा उदुम्बलो यमस्य दूतौ चरतो जनां अनु ' ।
(ऋ० स० १० । १४ । १२) । अत्र यमस्य दूतौ द्वौ
श्वाना । तौ अमुतृपा इति उच्येते । तौ अमुभि तृप्येते ।
जनाना मरण ताभ्या रोचते । इमे उक्त्यशास जनानाममुभि
तृप्यन्ति । जनान् घातयन्ति इत्यर्थ । यस्मात् ते जडा ।

२१ ' विद्यया विदुप ' अय कस्य अर्थ ।

२१-२२ ' य० ब्रह्मणस्पति ' इद न वेपामपि शब्दाना विवरणम् ।
' विद्यया ' इदमर्थ्याने स्यात् । ' एव विद्वांस ' इत्यस्य
प्राक् भवितुमर्हति । ' विदुप ' इद विदथ इत्यस्य अपपा
ट स्यात् । न त विदथ य ब्रह्मणस्पति विद्यया एव विद्वांस
अन्तर वन्ति । युष्माक्मविदुपा मन अन्यत् बभूव भवति ।
एषा विदुपा तु अन्तरमन्यन् भवति । इतिशब्द न त
विदथ इत्यस्य कारण दर्शयति ।

पङ्क्तिः

२२ युष्माक् = अविदुषाम् । अन्तर = मनः । एषा = विदुषाम् ।
नीहारेण = तमसा ।

२३ नीहारेण तमसा प्रावृता यूयम् । तेन यूय न किमपि
जानीथ ।

२४ अविद्वास० । अविद्वास क्षेत्रज्ञ कथमनुप्रवदेयु । ' अवि-
द्वास ' इति अशुद्ध भाति । यस्मात् विद्वास एव क्षेत्रज्ञम-
नुप्रवदितु समर्था । ' न अनुप्रवदन्ति ' इति म्यात् ।
अविद्वास क्षेत्रज्ञ नानुप्रवदन्ति । अथाहो विद्वास० । विद्वासस्तु
तत्कर्तुं समर्था । क्षेत्रज्ञ अनुप्रवदन्ति । इदं ' क्षेत्रज्ञमनुकल्पन्ते'
इति स्यात् । अथ विद्वास क्षेत्रज्ञमनुकल्पन्ते । क्षेत्रज्ञ ज्ञातु
समर्था भवन्ति ।

१

१ ' तस्य ' इत्यस्य स्थाने ' त ' म्यात् । विद्वान् तपसा सह
तप साहाय्येन अप्रमाद प्रमाद विना त क्षेत्रज्ञमेति । उच-
च मै-युपनिषदि । यथा ' विद्यया तपसा चिन्ताया वा
उपलभ्यते ब्रह्म ' (४ । ४) इति ।

१-२ क्षेत्रज्ञ आप्तयोः भवति । ' असतत ' इति अशुद्ध भाति ।
' सतत ' इति म्यात् । सतत सरयमिच्छेत् । तेन असतत-
मिच्छेत् इति अनवश्यम् ।

३ अत्र ' ज्ञातृ ' शब्द कुत्र वर्तते । ज्ञातृशब्द जायते कथ
स्यात् । ' जानते ' इत्यशुद्धम् । ' जानाते ' इत्यवश्यम् ।
सरयभाष्ये धातुपाठे न वर्तते ।

३-४ स = सह + स = भूतेन्द्रिये । ' शेते ' इति अयाहनम् ।
अथवा । स + स = सैन्द्रियाणि महाभूतानि । ' प्रज्ञया
कर्म कारयति ' इति अयाहनम् ।

५ तस्य = क्षेत्रज्ञस्य । यदाप = यत् आप । यत् आप
सा प्रतिष्ठा । क्षेत्रज्ञस्य प्रतिष्ठा म्पिरम्बरूपमप्सदृशमेव ।
' तदाप ' इति पाठे ' तत् ' व्यर्थम् । क्षेत्रज्ञस्य शीलमुप-
शम इत्यर्थः । यस्मान् आत्मा ब्रह्म तस्मान् स क्षेत्रज्ञ-
ज्ञान भवति ।

पत्रं

१०११

पङ्क्तिः

६ अवन्ध = बन्धाभाव । स बन्धाभाव ज्ञानोपपन्नः ।

७ भूतनामधेयानि । भूताना नामधेयानि । एकादशखण्डे वर्तमानानि सर्वाणि नामानि न भूतनामधेयानि । यथा—विभु प्रभु यज्ञ । ' भूतनामधेयानि ' इदं ' भूतस्य नामधेयानि ' इति स्यत् । आत्मा महत् भूतम् । तस्य एतानि नामधेयानि ।

९ आत्मार्थे हसशब्द उपनिषत्सु बहुकृत्व प्रयुज्यते । यथा ' एष हि खलु आत्मा हस ' (मै० उ० ६ । ८) । ' हसो लेलायते वहि ' । (श्वे० उ० ३ । १८) । ' घर्म ' शब्द जेकवृत्तोपनिषद्वाक्यकोशे न विद्यते । ' अनस्रो घर्मो हविरास्मि नाम ' (निरु० १४ । २) । घर्म = अग्नि । अथवा तप्त पय । यज्ञ । ' त्व ब्रह्म त्व यज्ञस्त्व लोफ ' (वृ० उ० १ । ९ । १७) । वेन । ' वेनस्तत्पश्यन् विश्वा भुवनानि विद्वान् ' (महा० ना० उ० २ । ३) । भूमि ।

' भूमिरापोऽनलो वायुः स मनो बुद्धिरेव च ।

अहकार इतीय मे भिन्ना प्रवृत्तिरष्टधा ' (भ० गी० ७ । ८) । विभु । ' आदिदेवमत्र विभुम् ' (भ० गी० १० । १२) । ' विभु ' शब्द उपनिषत्सु बहुकृत्व ।

१० ' प्रभु ' शब्दोऽपि तथैव । ' लोम्य सृजति प्रभु ' (भ० गी० ९ । १४) ' महान् प्रभुर्नै पुरुष ' (श्वे० उ० ३ । १२) । शम्भु । ' एष हि स्वल्वात्मा शम्भु ' (मै० उ० ६ । ८) ' शम्भु ' शब्द कुत्रापि नोपलभ्यते । ऋग्वेदिन् अयमामु इति स्यात् । शम्भु + आमु = शम्भुरामु । प्रमादेन सधे शम्भु शम्भु इति विग्रहः इतो भवेत् । आ सर्वत्र भवतीति आम्भु । अत्रे आत्मैव सर्वत्र आर्मान् । ' मुन्नेनाऽऽम्भुपिहित यदासीन् ' (ऋ० म० १० । १२९ । ३) । वरुणार्थं । अयम् अत्र न विमपि प्रयोजनम् । ऋग्निन् तानु वरुणार्थं वरुणार्थं

पङ्क्तिः

१० भवेत् । तस्यात्र किं प्रयोजनम् । सोमः । ' यास्ते सोम प्राणा-
श्न्ताञ्जुहोमि । ये ब्राह्मणाः त्रिमुपर्णं पठन्ति । ते सोमं
प्राप्नुवन्ति' । (म० ना० उ० १७ । ६) ' यश्च सोम-
स्तस्मै वो नमो नमः' (नृ० पू० ता० उ० ४ । ३ । २९) ।
भूतम् । ' विश्वं भूतं भुवनम् ' (म० ना० उ० २४) ।
' स एव सर्वं यद्भूतम् ' (कै० उ० १ । ९) । ' पुरुष
एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ' (ऋ० सं० १० । १२ । २) ।

११ भुवनम् । ' विश्वं भूतं भुवनम् ' (म० ना० उ० २४) ।
आपः । ' भूमिरापः० ' (भ० गी० ७ । ८) । ' एष
ब्रह्म० आपो ज्योतीषि इत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव '
(ऐ० उ० ५ । ३) । महत् । ' अस्य महतो भूतस्य
निःश्वसितम् ' (वृ० उ० २ । ४ । १०) । आत्मार्थे महच्छब्दः
उपनिषत्सु बहुकृत्वः । ल्योम । ' तदक्षरे परमे ल्योमन् ' (म०
ना० उ० १ । २) । यशः । ' यशोऽहं भवामि ब्राह्म-
णानां० ' (छा० उ० ८ । १४ । १) । ' संज्ञानं० यशः
इति । सर्वाण्येवैतानि प्रधानस्य नामधेयानि भवन्ति ' (ऐ०
उ० ५ । २) । महः । ' मह इति ब्रह्म ' (तै० उ०
१ । ३) ।

१२-१३ महत्तम्-गर्भारम् । ' अचिन्त्योऽमूर्तो गर्भारो गुहोऽनवधो
घनो गहनो निर्गुणः ' (मे० उ० ७ । १ । १)

१३ कम् । ' कर्म देवाय हविषा विधेम ' (ऋ० सं० १० ।
१२ । १) । अन्नम् । ' अहमन्नम् ' (तै० ब्रा० २ ।
८ । ८) । हविः । ' हविरस्मि नाम ' (निरु० १४ । २) ।
मघ । ' विष्टं सन्न नचिकेतमं मन्ये ' (कटो० २ । १३) ।

१४ ऋतम् । ' ऋतं मत्स्यं परं ब्रह्म ' (म० ना० उ० ५
६) । ' अहमस्मि प्रथमता ऋतादस्य ' (निरु० १४ । २) ।
योनिः । ' मम योनिर्महद्ब्रह्म ' (म० गी० १४ । ३) ।
' शिवं प्रशान्तं ब्रह्म योनिम् ' (कै० उप० ६) । ऋतस्य

पत्रं

पङ्क्तिः

१.०।१।१

१४ योनिः । ऋतस्य योनिः—योनिं—योनौ इति प्रयोगः अग्नि-
संवन्धेन सोमसंवन्धेन च बहुकृत्वः । ऊनविंशतिप्रयोगेषु नैक-
दाऽपि आत्मार्थे अस्ति । सत्यम् । 'तत्सत्यं स आत्मा'
(छा० उ० ६ । ८ । ७) । 'सत्यं त्वेव विनिज्ञासितव्य-
मिति' (छा० उ० ७ । १६ । १) । 'ब्रह्मणो नाम
सत्यमिति' (छा० उ० ८ । ३ । ४) । 'सत्यं ज्ञान-
मनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २ । १ । १) । सत्यशब्दः
आत्मार्थे उपनिषत्सु बहुकृत्वः ।

१५ हविः । हविः केषुचित् पुस्तकेषु नास्ति । अयं शब्दः अत्र
पुनरुक्तः । रयिः । 'एष वै रयिरात्मा' (छा० उ० ५ ।
१६ । १) । सत् । 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे सच्च त्यच्च । न
विदुः सति संपद्यामहे' (वृ० उ० २ । ३ । १) ।
आत्मार्थे सच्चब्दः बहुकृत्वः । पूर्णम् । 'ॐ पूर्णमदः
पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्ण-
मादाय पूर्णमेवावशिष्यते' (ई० उ०) । सर्वम् ।
'सर्वाय स्वाहा' (वृ० उ० ६ । ३ । ३) । 'सर्वैः
कश्चित् प्रभुः साक्षी' (मै० उ० ६ । १६) । 'यो वै
नृसिंहः यच्च सर्वं तस्मै नमो नमः' । (नृ० उ० ता०
उ० ९) । अक्षितम् । 'अक्षितमासि अच्युतमासि'
(छा० उ० ७ । १ । ४) ।

१६ अपः । कर्मार्थे अप्शब्दः उपनिषत्सु नास्ति । आपः प्रथमा-
बहुवचनम् । अपः द्वितीयाबहुवचनम् । 'अप्शब्दः
पूर्ण (पङ्क्तिः ११) उक्तः एव । पवित्रम् । 'पवित्रं परमं
भवान्' (म० गी० १० । १२) । 'पवित्रमहम्' ।
(अथर्वशीर्षो० १) । अमृतम् । 'एतदमृतममयमेतद्ब्रह्म'
(छा० उ० ४ । १५ । १) । उपनिषत्सु बहुकृत्वः ।
इन्दुः । 'एष हि सत्त्वात्मा इन्दुः' (मै० उ० ९ । ८) ।

१७ व्योम । अयं पूर्व (पङ्क्तिः ११) उक्त एव ।

१८ आकाशम् । 'इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते' ।
(छा० उ० १ । ९ । १) । 'आकाश आन्मा' ।

पङ्क्तिः

१

१८ (तै० उप० १ । ७ । १) । आत्माथे आकाशः न तु आकाशम् । आपः । अयं शब्दः (पूर्व पङ्क्तिः ११) उक्त एव । पृथिवी । ' पृथिवी वायुराकाश इत्यादि ' (ऐ० उप० ३ । ९ । ३) । स्वयंभूः । ' पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः ' । (कठो० ४ । १) । ' परिभूः स्वयंभूः ' (ईशा० उप० ८) ।

१९ पुष्करम् । ' क्षरमहं पुष्करमहम् पवित्रमहं ' (अथर्वशीर्षो० १) । समुद्रः । ' अपरिमितानन्दसमुद्रः स तत्पदार्थः परमात्मा परं ब्रह्म ' (सर्वोपनिषत् ४) । तपः । ' तपो ब्रह्म ' (तै० उप० ३ । २ । १) । ' यद्धि परं तपस्तद्दुर्धर्षं तस्मात्तपसि रमन्ते ' (म० नारा० उप० २१ । २) । तेजः । ' अयमशरीरः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव ' (बृह० उप० ४ । ४ । ७) । ' यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते ' (छा० उप० ६ । ८ । ७) । तेजसा हि तदा संपन्ने भवति ' (छा० उप० ८ । ६ । ३) ।

२० नाभिः । ' अमृतस्य नाभिः ' (निरु० १४ । २) । तत् । ' तत्त्वमासि श्वेतकेतो ' (छा० उप० ६ । ८ । ७) । ब्रह्म । उपनिषत्सु अनेकशः । वरेण्यम् । ' एतज्ज्ञानय सदसद्वरेण्यम् ' (मुण्ड० उप० २ । २ । १) ।

२१ हंसः । पूर्व (पङ्क्तिः ९) उक्त एव । आत्मा । उपनिषत्सु अनेकशः ।

२२ अव्ययम् । उपनिषत्सु अव्ययमनेकशः । ' अव्ययं च संस्कुरुते ' इति नोपलभ्यते । यज्ञः । पूर्व (पङ्क्तिः ९) उक्त एव । आत्मा । पूर्व (पङ्क्तिः २१) उक्त एव । अस्मिन्नामधेयगणे कानि चिन्नामानि पुनरुक्तानि । कानि चिन् क्रियापदानि । कानि चिद् वान्यानि । क्रियापदानि वाक्यानि च आत्मनः नामधेयानि कथं स्युः । तथैव ' शरीराणि ' (पङ्क्तिः २२) इति शब्दः । ' यद्वाहिया ' (पङ्क्तिः २१) इदं कस्याश्चिन् क्रमः प्रारम्भ इव भानि । अयं स्रष्टः केषां

पत्रं

पङ्क्तिः

१०११

२२ चिद् वाक्याना पृथक्करणं स्यात् । तानि वाक्यानि मया नोप-
लब्धानि । एतानि नामधेयानि ' भूतनामधेयानि ' इति
क्रिमर्थमुच्यन्ते । हंसः विभु. प्रभु. महत् सत्यम् सत् अमृतम्
ब्रह्म आत्मा अव्ययम् एतानि आत्मार्थे अनेकशः उपनिषत्सु
प्रयुज्यन्ते । मेघ कृमिः भविष्यत् गह्वरम् स०सनम् ऋतस्य
योनि. नीरं बर्हिः सर्पि. अप. हेम स्वः सर्गा. शम्बरम्
अम्बरम् वियत् घन्व अन्तरिक्षम् भू अध्वा सगरः सिन्धु.
अर्णव वृक्ष. ऊर्ध्व. यत् किम् भवति वधन्त्यध्वानम् यद्वा-
हिण्या शरीराणि अव्ययं च सस्वरुते यदेनं तन्वते एतानि
आत्मार्थे प्रयुज्यमानानि न मया कापि दृष्टानि । रामु. स्वर्णा-
कम् स्मृतीकम् स्वृतीकम् सतीनम् एते शब्दा. अत्यन्तमप-
रिचिता । मया न कदा श्रुता । हंस यज्ञः आप. व्योम
हवि बर्हि भवति आत्मा एतानि द्वि. पठ्यन्ते । सत् भू तत्
यत् किं यदेन तन्वते इमानि क्रिमर्थे स्वररहितानि । वदा
चित् ' हम आत्मा भवति ' ' शरीराणि अव्ययं च संस्वरुते '
' यज्ञ आत्मा भवति ' एतादृशानि इमानि वाक्यानि स्युः ।

१०१२

- १-२ एतानि सूक्तानि । अत्र परमृच एव पठ्यन्ते न सूक्तानि ।
६ सोम = सूर्य । 'सूर्यं संतेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा' (निर० १२।१४)
यग्मात् सूर्यं सूर्यं जगत् प्रमूते । ' सोम'शब्दः सूतेः धातोः
न्युन्पाटित । सू + म = सोम । ' सोमः सुनोते. । येदनम-
भिपुण्वन्ति ' (निर० ११।२) ।
७ जनिता = जनयिता । मनीना = पराशक्तर्मणामादित्यरदर्श-
नाम् । रदमाना र्मं प्रशास. । ' रश्मय ' मन्थ इत्यु-
च्यन्ते । यस्मात्ते मन्दन्ते प्रकाशयन्ति । द्यौं द्योतनेः ।
८ पृथिवी प्रथयने । अग्नि गच्छने । ' अग्निगच्छ ' (निर०
७।१४) इत्यत्र न्युन्पाटित. । यथा अग्रणीर्भवतीत्यादि ।
९ सूर्यं स्वीकरोति सर्वमान्ममान्करोति ।

पङ्क्तिः

१० इन्द्र इन्दते ऐश्वर्यकर्मण (निरु० १०।८) । विष् व्यापने ।
‘ अय यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति । विष्णु विशतेर्वा
व्यश्वेनेर्वा ’ (निरु० १२।१८) ।

११ अधिदेवतम् । अम्या ऋच देवतापरत्वे सोम मूर्ध । तस्य
रश्मय प्रकाशयन्ति द्योतयन्ति प्रथयन्ति गच्छन्ति स्वीकुर्वन्ति
ईशते व्याप्नुवन्ति च । अन्यात्मम् । ऋच आत्मपरत्वे सोम
आत्मा । तस्य इन्द्रियाणि अर्थान् प्रकाशयन्ति द्योतयन्ति प्रथ-
यन्ति गच्छन्ति स्वीकुर्वन्ति व्याप्नुवन्ति तेषामीशते च । अय
द्विविध अर्थे क्लिष्ट । सोम सोम एव । स न केवल जनानां
मती जनयति किंतु सर्वा देवता अपि जनयति ।

१२ ‘ इत्यर्थे ’ इट् ‘ इत्यादीति ’ स्यात् । पृथिव्यादय सर्वा
आत्मन एव विभूतय । ‘ विभूतय ’ अय शब्द दुर्बो ।
कदाचित् कस्यचित् क्रियारूपस्य अपभ्रश स्यात् । कदाचित्
‘ म्भूयते ’ इति स्यात् ।

१७ ब्रह्मा = वर्चयिता नेता वा । ‘ बृह बृद्धौ ’ (धा० १ ।
७३७) ।

१८ देवन = द्योतनम् । ‘ दिवु द्युतौ ’ (वा० ४ । १) ।

१९ पटवी = पट वेत्ति । ‘ वी गति-याप्त्यादिषु ’ (धा० २ ।
३८) । पट वेत्ति अग्न्य म्यान च्छति । कवि क्वते
वर्णयति । ‘ कुड् शब्दे ’ (धा० १ । २७६) । ‘ कवीय ’
इति नामधातु । कवीयमानाना = गच्छताम् ।

२० ऋषिण = द्रष्टा । ‘ ऋषी रतौ ’ (धा० ६ । ७) ।
(निरु० १० । २६) इत्यत्र ‘ ऋषीणानि ’ इति रूपम् ।
विप्राणा = व्यापनकर्मणाम् ।

२१ महिष = महान् । वस्तुत महिष रक्षित हिंस्र प्राणी ।
मृगाणा = मार्गणकर्मणाम् । मृगा हिंस्रा पशव ।

२२ गृध्राणाम् । ‘ गृधु अभिकाङ्क्षायाम् ’ (धा० ४ । ३७) ।
अत्र गृयति म्यानार्थ । यस्मात् एतस्मिन् आन्त्ये तिष्ठति ।

पत्र

पङ्क्तिः

१०१२

२२ यदि श्येन आदित्य गृध्रोऽपि आदित्य तर्हि श्येनो गृध्राणा
मित्यस्य आदित्य आदित्यानामित्यर्थं स्यात् । कोऽर्थः ।

१०१३

१-२ 'गृध्र आदित्यो० तिष्ठति' अयमपाठः स्यात् । गृध्राणा गर्ध
नकर्मणा (गतिरुर्मणाम्) आदित्यरश्मीनामिति पाठः अवश्यः ।
'यत् एतस्मिन् तिष्ठति' इत्यत्र 'एतस्मिन्' इत्यस्य स्थाने
'एतेषु' इत्यवश्यम् । श्येन आदित्य । एतेषु आदित्यर-
श्मिषु तिष्ठति ।

२ स्वधिति = स्व + धिति । स्व = स्वयम् + धिति = धत्ते
(र्मोणि) । स्वधिति परशु 'द्वयो कुठार स्वधिति पर
शुश्च परश्वध' (अमर २ । ८ । ९३) ।

३ वनाना = वननकर्मणाम् । वनाना = वृक्षसमूहानाम् ।

४-९ 'एष हि पवित्र रश्मीनामत्येति स्तूयमान' इत्यस्य कोऽर्थः ।
पवित्र = रश्मीन् । 'रश्मीना' इत्यस्य स्थाने 'रश्मीन्'
इत्यवश्यम् । यथा आत्मपरे अर्थे 'पवित्रमिन्द्रियाणि'
(१४) इत्युच्यते । आदित्य स्वराश्मिभ्यः अधिक । रेभन् =
स्तूयमानः ।

९ अक्षरम् । देवतापरे अर्थे आदि य अक्षर ब्रह्म कथं स्यात् ।

११ 'शैड् गतौ' (धा० १ । ९६३) । 'यत् एतस्मिन्
तिष्ठति' इत्यस्य पूर्वेण ऋ सन्न्य । एतस्मिन् कस्मिन् ।
एतस्मिन् ज्ञाने इति स्यात् । 'एतेषु' इत्यवश्यम् । एतेषु
इन्द्रियेषु आत्मा तिष्ठति ।

१३ 'आत्मनि धत्ते' 'आत्मनि' इत्यस्य स्थाने 'आत्मा'
इति स्यात् । यथा पूर्व 'एष हि स्वयं कर्माणि आग्नित्यो
धत्ते' (पङ्क्ति २-३) इत्युक्तम् ।

१३-१४ अयमपि आत्मा स्वयमिन्द्रियेषु कर्माणि धत्ते । पवित्रम् =
इन्द्रियाणि । आत्मा इन्द्रियेभ्यः अधिकः । इन्द्रियाणि केवलं
ज्ञानमाधनानि । आत्मा ज्ञानमेव । अयमेव आत्मा एतत्सर्वम्
नुभवति । सर्वज्ञ अयमित्यर्थः ।

पत्रं पङ्क्तिः

१०१३ १५ आत्मगतिं ' इत्यस्य प्राक् ' इति ' शब्दः अवश्यः ।
 ऋचः देवतापरत्वे अयमर्थः । आदित्यः स्वरश्मान् वर्धयति ।
 गमनकर्मणः तान् जानाति । व्याप्नुवतः तान् पश्यति ।
 तेभ्यः महत्तरो भवति । तेषु तिष्ठति । तेषु कर्माणि आधत्ते ।
 तेभ्यः अयमतिशयेन अधिकः । तस्मात् आदित्यः स्तुतिमर्हति ।
 आत्मा इन्द्रियाणि वर्धयति । अर्थेषु संचरन्ति तानि जानाति ।
 व्याप्नुवन्ति तानि पश्यति । तेभ्यः महत्तरो भवति । ज्ञान-
 साधनानि तानि जानाति । तेषु च विषयज्ञानार्थं तिष्ठति ।
 सर्वथा आत्मा इन्द्रियेभ्योऽधिकः । तस्मात् स स्तुतिमर्हति ।
 एतौ द्वावपि अर्थौ छिद्यौ । केवलेयं सोमस्तुतिः । यथा
 देवानां ब्रह्मा श्रेष्ठः कवीनां अग्निः श्रेष्ठः विप्राणां (ज्ञानिनां)
 ऋषिः श्रेष्ठः मृगाणां (हित्तपशूनां) महिषः (कश्चित् हित्ततमः
 पशुः) श्रेष्ठः गृध्राणां श्येनः श्रेष्ठः वनानां
 छेत्ता स्वाधितिः श्रेष्ठः एवं सोमः श्रेष्ठः । रेभु धातुः
 ऋक्शाखायां स्तवने वर्तते । ' कविर्गीर्भिः काव्येना कविः
 सन्त्सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ' (ऋ० सं० ९ । ९६ ।
 १७) । अत्र सोमः कविः । सः देवान् गीर्भिः काव्येन
 च रेभति स्तौति । ' महान् कविर्निर्वचनानि शंसन् ' (ऋ०
 सं० ९ । ९७ । ९) । अत्रापि महान् कविः सोमः
 निर्वचनानि स्तुतीः शंसति । अतः रेभन् = शंसन् । क्वचित्
 प्रकाशनेऽपि । रेभः = स्तोता । सोमः बहुकृत्वः रेभः
 इत्युच्यते । पवित्रं = सोमरसपावनं साधनम् । सोमः पवि-
 त्रमत्येति = पवित्रे सोमरसः गाल्यते । तेन शुद्धिः भवति
 प्रकाशने च ।

२१ धीतिं = कर्माणि । मनीषां = मतानि ।

२२-२३ विद्यामतिबुद्धिमताम् = विद्यावतां मतिमतां बुद्धिमतामेतेषां
 त्रयाणां तिष्ठो वाचः । विद्यावतां वाग् भिन्ना । तथा मति-
 मताम् । तथैव बुद्धिमताम् । ते विद्यावन्तः ये श्रुतिं जानन्ति ।
 ते मतिमन्तः ये तर्केण अर्थान् निश्चिन्वन्ति । ते बुद्धिमन्तः ये

परं पङ्क्तिः

१०१३ २२-२३ ब्रह्म जानन्ति । (निरु० ३१ । १३) इत्यत्र ' सेय विद्या श्रुतिमतिबुद्धि ' इत्युच्यते । श्रुतिरूपा विद्या प्रथमा । मतिरूपा उहरूपा वा अस्या उच्चतरा । बुद्धिरूपा सर्वासा मुत्तमा । ' विद्यामतिबुद्धिमता ' इत्यत्र विद्याशब्दस्य 'श्रुति' इत्यर्थं स्यात् ।

२४ 'आत्मगति' इत्यस्य प्राक् इति शब्द अवश्य । अस्यामृचि आदित्यस्य आत्मनोऽपि न किमपि प्रयोजनम् । अत्र वह्नि सोम एव । सर्वेषां देवानां कर्माणि शक्तयश्च सोमे स्तुत्यर्थमा रोप्यन्ते । वह्नि सोम तिसृणां वाचा प्रेरक अग्नि । अत्र सोम मनुष्यपशुपक्षिणा तिस्रो वाच प्रेरयति । ऋतस्य यज्ञस्य धीर्ति स्तुतिं ब्राह्मणश्च मनीषा स्तुतिं प्रेरयति । यथा गाव गोपतिं (गोस्वामिन न तु वृषभ) पृच्छमाना अन्वेपयन्त्य तमेव यन्ति तथा वावशाना सोम कामयमाना मतय स्तुतय सोममेव यन्ति ।

- १०१४ १-२ गाव धेनव = रश्मय । वावशाना = वावश्यमाना कामयमाना सोम = आदित्यम् । 'यन्ति' एतन् पठमभ्याहृतम् ।
- ३ विप्रा = रश्मय । पृच्छमाना = कामयमाना ।
- ४ सूत = प्रेरित । अज्यमान = गच्छन् । एतम् = आदित्यम् ।
- ५ सनवन्ते = एकी भवन्ति । ते एते सर्वे रश्मय एतग्मिन् सोमे आदित्ये एव भवन्ति ।
- ६ गाव धेनव = इन्द्रियाणि । वावशाना = वावश्यमानानि कामयमानानि ।
- ७ विप्रा = इन्द्रियाणि ।
- ८ पृच्छमाना = पृच्छमानानि । कामयमानानि सोमम् = आत्मानम् ।
- ९ अन्यमान = इन्द्रियेषु प्रचरन् । 'इमम्' इत्यस्य क मन्त्र इमम् = आत्मानम् । अर्का त्रिष्टुभ = आत्मा च सप्त ऋष यश्च । आत्मा = बुद्धि । सप्त ऋषय = इन्द्रियाणि । तानि इमानि इन्द्रियाणि ।

पदंक्ति

९ अत्रापि सोमपर एव अर्थ । गाव धेनव = पय । पय. सोमेन मिश्रच्यते । तेन पय सोम कामयते इत्युच्यते । विप्रा स्तोतार मतिभि स्तुतिभि पृच्छमाना अन्वेपयन्त सोममेव यन्ति । सोम प्रथम सूयते पश्चाज्जान्ति मिश्रच्यते । अर्का स्तुतय त्रिष्टुभ त्रिष्टुप् छन्दसि विरचिता स्तुतय सोमे समिलन्ति । अर्का = स्तुतय त्रिष्टुप् छन्दासि वर्तमाना ।

१४ अक्रान् = अति+अकृमात् । समुद्र = आदित्य ।

१५ प्रथमे = परमे व्यवने । विधर्मन् = वर्षकर्मणा । भुवनस्य = सर्वस्य ।

१८ समुद्र = आत्मा ।

१९ विधर्मन् = ज्ञानकर्मणा ।

देवतापरत्वे अयमर्थ । समुद्र आदित्य प्रथमे परमे व्यवने उच्चतम स्वर्ग लोकमक्रान् अतिक्रामति । विधर्मन् वर्षकर्मणा भुवनस्य सर्वस्य राजा सन् प्रजा जनयति । वृषा वर्षस्य कर्ता सोम आदित्य पवित्रे स्वर्गलोके अधि सानो उच्चतमे अव्ये अव्यये सुवान गच्छन् बृहत् वावृषे अतिशयेन वर्धते । ऋच आत्मपरत्वे अयमर्थ । आत्मा उच्चतमायामवस्थाया विधर्मन् ज्ञानकर्मणा प्रजा ज्ञानिन जनयति । ऋच द्वितीयस्य अर्धस्य अर्थ यास्वेन न दीयते । अत्रापि सोम सोम एव । 'अक्रान्' इद न क्रियापदम् । किंतु विशेषणम् । तस्य ' सर्वव्यापी विस्तृत ' अर्थ स्यात् । सोम अत्र विस्तृत समुद्र इत्युच्यते । ' त्व समुद्रो असि विधविन् ' (ऋ० स० ९ । ८६ । २९) । ' अक्रान् देवो न सूर्य ' (ऋ० स० ९ । ६४ । ९) । अत्र सोम । देव सूर्य इव अक्रान् । विधर्मन् = विधर्मणि । ' हिन्वानो वाचमिप्यासि पवमान विधर्मणि ' (ऋ० स० ९ । ६४ । ९) । ' विधर्मा ' इति स्वर्गस्य नाम । यथा तिस्रो धाव. प्रीणि रोचनानि तथा त्रयो विधर्माणि आसन् इति भाति । अत्र विधर्मा पवित्रम् । ' त्व पवित्रे रजसो विधर्मणि देवेभ्यः

पत्रं

पङ्क्तिः

१०१४

१९ सोम पवमान पूयसे ' (ऋ० सं० ९ । ८६ । ३०) ।
 ' त्वा रिहन्ति मातरो हरि पवित्रे अट्टुहः । वत्सं जातं न
 धेनवः पवमान विधर्मणि ' (ऋ० सं० ९ । १०० ।
 ७) । अनयोः द्वयोः ऋचोः ' पवित्रं ' ' विधर्मा ' इत्यु-
 च्यते । जनयन् प्रजाः यथा सूर्यादयः प्रजाः जनयन्ति तथा
 सोमः । इन्द्रादिवत् सोम भुवनस्य विश्वस्य राजा । यथा
 इन्द्रादयः वृषप वृषभा उच्यन्ते तथा सोमः वृषा उच्यते ।
 सानो = सानौ श्रेष्ठे स्थाने । पवित्रं श्रेष्ठं स्थानम् ।
 ' अव्ये ' शब्दे परे ' सानो ' इत्यस्य ' सानो ' भवति ।
 अव्यमवय मेपा तेपा वाला । तन्मयमव्यम् । पवित्राणि
 अविरोष्णामक्रियन्त । अत एव पवित्रमव्यमिति उच्यते ।
 यथा ' सुता पवित्रमति यन्ति अन्यम् ' (ऋ० सं० ९ ।
 ६९ । ९) । पवित्रं ' सानु ' इत्युच्यते । यथा ' यदव्य
 एषि सानवि ' (ऋ० सं० ९ । ९० । २) । ' दश
 क्षिपो अयत सानो अन्ये ' (ऋ० सं० ९ । ९७ । १२) ।
 अये सानो पवित्रे अधि सुवान मृगमान इन्दु सोमः बृहत्
 महत् वावृधे वर्धने ।

१०१४

१०१५

२४

१

' देवानामाधिपत्यमदधान् ' इदं केषा शब्दाना विवरणम् ।

देवतापरत्वे इन्दु आदित्य । स अपा गर्भः सन् (ममु-
 द्रान्) उच्यते देवानामाधिपत्यमिन्द्रे अदधान् । आत्मपरत्वे
 इन्दु आत्मा । देवानामिन्द्रियाणामाधिपत्यमिन्द्रे आत्मन्येव
 अदधान् । भाष्ये यावत् ' इन्दुगादित्य इन्दुगात्मा ' इत्येव
 ब्रवीति । देवतापरमात्मपर वा अर्थः न दृश्याति । महिष =
 कश्चिन् हिंस्रतम महान पशु । तेन सोमः उपसी-
 यते । महिष इव उग्र अथवा निर्भीक । सोम असां गर्भं
 यस्मान् सोमत्त पवनार्थं तन्मवदद्यम् । अथवा । यस्मात्
 अद्रि ममिधयेन यस्मान् सोम पवनार्थं दधान् भृशणीत । देवाः
 सोमस्य विबन्धु इति दृश्यन्तः । एतत् सोमस्य महत् रम्यं ।

पत्रं

पङ्क्तिः

०१९

०१

१ पवमानः पूष्यमानः सोमः इन्द्रे ओजः बलमदधात् । बलार्थ-
मिन्द्रः सोममपात् । तस्य मदे च वृत्रवमधीत् इति बहुकृत्वः
उच्यते । इन्द्रः वृत्रेण प्रावृतं सूर्यं ज्योतिः तमसः निरमुञ्चत् ।
तत् सूर्यस्य जननमित्युच्यते । इदं सोमे आरोप्यते । बर्हीषु
ऋक्षु सोमस्य इन्द्रेण तदात्म्यं दृश्यते ।

६ विधुं = विधमनशीलम् । दद्राणं = दमनशीलम् ।

७ युवानं = चन्द्रमसम् । पलितः = आदित्यः । जगार = गिरति ।
अद्या = सद्यः । ममार = म्रियते । स चन्द्रमाः दिवा समु-
दितः सन् । 'समुदिता' इत्यस्य स्थाने 'समुदितः' इत्य-
वश्यम् । सूर्यतेजसा छन्न चन्द्रमाः दिवा न दृश्यते । अयं
देवतापरः अर्थः ।

९ युवानं = महान्तम् । पलितः = आत्मा । अद्या = रात्रौ ।

९-१० 'रात्रिः समुदिता' इत्यस्य कोऽर्थः । आत्मा महान्तमात्मानं
हिरण्यगर्भस्य बुद्धिं प्रलयकाले गिलति । प्रलये आत्मा एव
अवशिष्यते । एवमात्मपरोऽर्थः । ऋच आभ्यामर्थाभ्यां
भिन्नः अर्थः । 'पलितो धूमकेतुः' (ऋ० सं० १०।४।९)
इत्यत्र अग्निः पलितः इत्युच्यते । 'दिवा न नक्तं पलितो
युवाननि' (ऋ० सं० १।१४।४) । 'नि वेवेति पलितो
इत आसु' (ऋ० सं० ३।९।९) इत्यत्रापि तथैव ।
'विधुं दद्राणं' इति ऋक् इन्द्रभूक्ते विधते । तेन पलितः
इन्द्रः । बहूनां तारकाणां समने संगतौ दद्राणं गच्छन्तं विधुं
चन्द्रमसं युवानं सन्तमपि पलितः इन्द्रः जगार निर्गीर्णवान् ।
देवस्य इन्द्रस्य काव्यं कृतिं पश्य । तस्य महित्वां महत्त्वेन
विधुः अद्य ममार । स एव विधुः ह्यः समान सन्निवः आसीत् ।
इन्द्रः सर्वभ्यः अधिकः सन् उपआदीन् सर्वान् हिनस्ति ।
'समान' इत्येतत् 'अन प्राणने' (धा० २।६०) इत्यस्य
लिटि रूपम् । विधुशब्दः अत्रैव प्रयुज्यते । तस्य वृत्रः इत्यपि
अर्थः स्यात् । इन्द्रः वृत्रं युवानमपि सन्तं मिलति । वृत्रः
इन्द्रेण आल्पायुः कृतः । इदमिन्द्रस्य काव्यम् ।

पत्र

पङ्क्तिः

१०१९

१४ साकंजाना = साकं सह जानां जातानाम् । 'पण्णां ऋषीणाम्' इति अभ्याहृतम् । एकजः = आदित्यः । तं विद्वांसः सप्तथं सप्तममाहुः ।

१५-१६ इष्टानि = कान्तानि । अथवा । कान्तानि गतानि मतानि नतानि ।

१६-२१ 'अद्भिः सह० एकं भवन्ति' अयं कस्य अर्थः । 'तेषामिष्टानि० एकं भवन्ति' इदं सर्वं (निरु० १० । २६) इत्यत्र वर्तते । तत्र तत् अवश्य न अत्र ।

१८ साकंजाना = सह जाताना पण्णामिन्द्रियाणाम् । एकजः = आत्मा । अभ्या द्वाभ्यामर्थाभ्यामृगर्थो भिन्नः ।

अत्र सायणभाष्यम्—'साकंजानामेकस्मादादित्यात् सहोत्पन्नानां सत्यानामृतूना मन्थे सप्तथं सप्तममृतुम् । एकजमेकेनोत्पन्नमाहुः कालतत्त्वविद् । त्रैत्र्यादीनां द्वादशानां मासानां द्वयमेकस्मिन् वसन्ताद्या पङ्क्तौ ऋतवो भवन्ति । अधिकमासेनैक उत्पद्यते सप्तमर्तुं । न च तादृशो नास्तीति मन्तव्यम् । अस्ति त्रयोदशो मास इत्याहुः (तै० सं० ६ । १ । ३ । ४) इति श्रुतेः । तदेवोच्यते—'पडिद्यमा' इच्छब्द एवकारार्थः । पडेव ऋतवो मासद्वयरूपा 'ऋषयः' गन्तारः । ते च 'देवना' देवादादित्यात् जाता इत्येवमाहुः । सप्तमाधारस्य त्रयोदशम्य मासस्य देवाभावः । 'नि सूर्योऽधिकमासो मण्डलं तपते रवे' इत्यादि श्रुतेः । तस्मात् पडेव देवनाः । अदेवज एकः । 'तेषाम्' ऋतूनां स्वरूपाणि 'इष्टानि' सर्वलोकभिमतानि 'धामश' तत्तत्स्थाने 'विहितानि' पृथक् पृथक् म्यापितानि । 'रूपश' रूपभेदेन विकृतानि विविधाकृतियुक्तानि । स च रूपभेदस्मैतिरीयैराध्यातः 'स रसमह वपन्ताय प्रायच्छत् यवं प्रीप्साय' (तै० सं० ७ । २ । १० । १) इत्यादि । 'स्यात्रे' अधिष्ठात्रे । तदर्थाय 'रेजन्ते' चलन्ति जगद्भवहाराय पुनः पुनरावर्तन्त इत्यर्थः । ऋगर्थं मादणभाष्यादपि भिन्नः । साकंजाताः मरतः । एकजः

पङ्क्तिः

१९ १८ इन्द्रः । ऋषयः सप्तथमेकजमाहुः । पङ् यमाः देवजाः इति च आहुः । तेषां मरुतामिष्टानि कर्माणि धामशः तत् तत् प्रभावानुरूपं विहितानि इन्द्रेण । यथा इन्द्रः तान् आज्ञापयति तथा ते कुर्वन्ति । स्थात्रे = इन्द्राय । इन्द्रः सर्वेषामुपारि तिष्ठति तस्मात् सः स्थाता । रेजन्ते = भयेन कम्पन्ते । विष्टृतानि = कृत्रिमाणि । रूपशः = स्वभावानुरूप्येण । यदा मरुतः इन्द्राज्ञप्ताः स्वकर्माणि कुर्वन्ति तदा सर्वे जगत् भयेन कम्पते । पङ् यमाः के इति न ज्ञायते । ' स हि द्युता विद्युता वेति साम शृथुं योनिमसुरत्वा सप्ताद् । स सनीलेभिः प्रसहानो अस्य भ्रातुर्न ऋते सप्तथस्य मायाः ' (ऋ० सं० १० । ९९ । २) । अस्यामृचि ' सप्तथः ' इति कस्य चित् इन्द्रस्य शत्रोः नाम । सरस्वती सप्तथी इत्युच्यते (ऋ० सं० ७ । ४६ । ६) ।

१६ ३-४ शब्दस्पर्शरूपरसगन्धहारेण्यः इन्द्रियमात्राः । ताः आत्मने प्राणाय वा शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् आहरन्ति । किंतु आत्मा प्राणो वा निराहारः शब्दादीन् नेच्छति ।

४ अमुं प्राणमित्यर्थः । ताः अमुं पुंशब्देन पश्यन् = इन्द्रियमात्राः प्राणः एव इति विद्वान् पश्यति । स च प्राणः पुमान् ।

५ अन्धः एतत् न विजानाति यस्मात् तत् ज्ञानं कष्टं कठिनम् । ईमाः = इमाः । इदं सूक्तं कूटार्थपरिपूर्णम् । तस्यार्थः अतीव दुर्बोधः । यास्कभाष्यस्य कश्चित् भागः गलितः इति भाति । अत्र सायणभाष्यम् । मे मदीया या दीधितयः स्त्रियः संस्त्यानवक्त्यो योषितः सतीः सत्यः । योषिद्वत् उदक-रूपगर्भधारणात् स्त्रीत्वम् । एषां रश्मीनामाविष्टलिङ्गत्वात् स्त्रीलिङ्गता । तान् उ तान् रश्मीनेव पुंसः आहुः प्रभूतवृष्ट्युदकसेकान् पुरुषानाहुः । प्रतिनिर्देशापेक्षया पुंलिङ्गता । अमुमर्थमत्यन्तनिगूढमक्षष्वान् ज्ञानदृष्ट्युपेतः कश्चित् महान् पश्यत् जानाति । अन्धः अतथारूपः स्थूलदृष्टिः न विचेतत् न विचेतयति न जानाति । किं च यः कविः क्रान्तदर्शी पुत्रः स्त्रीपुरुपरूपाणां रश्मीनां पुत्रस्थानीयः । पुरु जगतां प्राता वृष्ट्युदकलक्षणोऽस्ति । सः ई स एव पुत्रः ।

पत्रं

पङ्क्तिः

१०१६

१ यद्वा । ईमेनमर्थं स्त्रीणां सतीनां पश्चात् पुरुषभावमा विचेतं सर्वतो जानाति । पित्रोः स्थितिं पुत्र एव जानाति न अन्यः । यः कश्चित् ता तानि विजानत् स्त्रीपुरुषपुत्ररूपाणि जानीयात् । सः पितुः पिता असत् । पिता वृष्ट्या जगत्यालको रश्मिसमूहः । तस्यापि पिता आदित्यः स भवति । आदित्य एव भवतीत्यर्थः । यद्वा । लौकिकोक्तिरियम् । यस्तानि जानाति स एवं भवति । स्वयं पितुः पुत्रः सन्नपि स्वपुत्रापेक्षया पिता च भवति । पुत्रपौत्रादिसहितश्चिरकालं जीवी भवति । इत्याधिदेवतम् । अथाध्यात्मम् । या इदानीं स्त्रियः सतीः स्त्रीत्वं प्राप्ताः आहुः लौकिकाः तानु तानेव मे मह्यं पुंसः पुरुषान् आहुः प्रतिपादयन्ति तत्तद्ज्ञाः । कथमन्यस्य अन्यभावः उच्यते । एकस्यैव निरस्तसमस्तोपाधिकस्याऽऽत्मनस्तद्देहावस्थानमात्रेण तत्तद्द्वेषदेशोपपत्तेः । द्वितीयः पादः पूर्ववत् । किञ्च पुत्रो वयसाऽल्पोऽपि यः कविः कान्तप्रज्ञः ज्ञानी स्यात् ईमिममर्थं स विचिकेत जानाति । एवमुक्तलक्षणस्य परमात्मनः ता तानि स्त्रीपुंस्त्वादीनि यो विजानात् औपाधिकानि जानीयात् । सः पितुः स्वोत्पादकस्यापि ज्ञानरहितस्य पिता असत् पितृवत् पूज्यो भवति ।

वस्तुतः एताः स्त्रियः किंतु अज्ञाः एताः पुमांसः इति वदन्ति । अक्षण्वान् यस्य ज्ञानचक्षुः वर्तते सः एव तत्त्वं पश्यत् पश्यति । अन्यः तत्तत्त्वं न विचेतत् जानाति । कविः मुघः पुत्रोऽपि सन् ईमेताः स्त्रियः आचिकेत । तस्य पिता एतत् न विजानाति । तस्मात् ज्ञानेन स्वपितुः पिता असत् अस्ति । अज्ञाः इन्द्रियाण्येव आत्मा इत्याहुः । वस्तुतः इन्द्रियाणि श्रीसदृशानि एव । उपभोगमाधनानि इत्यर्थः । तानि पुमान् आत्मा उपमुह्यते । वयमा वृद्धाः अपि एतन्न जानीयुः । अल्पवयस्योऽपि कश्चित् तत् जानीयान् । तस्मात् वृद्धाऽपि सः प्रशस्यतरः ।

१० सप्त आदित्यरदमयः तान् आदित्यः गिरति इति ऋषः संशेषार्थः ।

पत्रं

पङ्क्तिः

०१६

११ 'मध्यस्थानोर्ध्वशब्दः' इदं दुर्बोधम् । मध्यस्थानश्च उर्ध्वशब्दश्च इति विग्रहः । आदित्यः उर्ध्वशब्दमर्हति । किंतु वर्षणार्थं स मध्यमे स्थाने तिष्ठति ।

१२ तानि = ये रश्मयः अस्मिन् आदित्ये तिष्ठन्ति तानि । ते धीतिभिश्च मनसा च स्तुतिभिः वि-परि-अयन्ति । पृथिव्यां वर्षन्ति । परिभुवः पृथिवीं व्याप्नुवन्तः प्राणिमात्राणां सर्वाणि कर्माणि वर्षकर्मणा परिभवन्ति व्याप्नुवन्ति । सर्वे प्राणिकर्म वर्षायत्तम् । वर्षाभावे प्राणिनः न किमपि कर्तुं शक्नुयुः ।

१३ सप्त इन्द्रियाणि । तानि आत्मा गिरति इति मथितार्थः । आत्मा ऊर्ध्वशब्दमर्हति । किंतु शरीरमध्ये अन्तःकरणे तिष्ठति । यानि याः शक्तयः अस्मिन् आत्मनि तिष्ठन्ति तानि ताः धीतिभिश्च मनसा च चेतनत्वेन च विपर्ययन्ति संसारविपरीतं कर्म कुर्वन्ति । सर्वे व्याप्नुवत्यः ज्ञानकर्मणा सर्वाणि इन्द्रियाणि परिभवन्ति । ज्ञानदशायामिन्द्रियाणि निष्क्रियाणि भवन्ति । सप्त = सप्त मातरः आपः । अर्धे स्थाने उदरे गर्भः यासां ता अर्धगर्भाः । ताः भुवनस्य रेतः आत्मनि गर्भत्वेन धारयन्ति । ताः विष्णोः प्रदिशा सूर्यस्य आज्ञया विधर्मणि नाके तिष्ठन्ति । विपश्चितः बुद्धियुक्ताः सन्तः देवाः विश्वतः सर्वत्र परिभुवः वर्तमानाः परिभवन्ति जानन्ति धीतिभिः मनसा च ।

अत्र सायणभाष्यम् । सप्त रूर्पणस्वभावाः सप्तसंख्या वा रश्मयः अर्धगर्भाः संवत्सरम्यार्धे गर्भे गर्भस्थानीयमुदकं धारयमाणाः । यद्वा । ब्रह्माण्डस्यार्धे मध्येऽन्तरिक्षे गर्भवद्बर्तमानाः । भुवनस्य लोकस्य रेतः सारं वृष्टिप्रदत्त्वेन रेतोभूताः तादृशा रश्मयः विष्णोः व्यापकस्याऽऽदित्यस्य विधर्मणि जगद्धारण-व्यापारे प्रदिशा प्रदेशेन तिष्ठन्ति वर्तन्ते । किंच ते धीतिभिः प्रज्ञाभिः मनसा जगदुपकारः कर्तव्य इति बुद्ध्या च विश्वतः सर्वतः । द्वितीयार्धे तसिः । विश्वं परिभवन्ति परितो भावयन्ति । कृत्स्नं जगद् व्याप्नुवन्ति इत्यर्थः । यस्मादेवं तस्मात् ते एव विपश्चितः बुद्धियुक्ताः परिभुवः सर्वत्र व्याप्ताश्च । यद्वा । सप्तार्धगर्भाः । 'सप्त महदहंकारी पञ्च तन्मात्राणीति मिलित्व

पत्रं पङ्क्तिः

१०१६ ।

१३ सप्तसंख्याकानि तत्त्वानि । अर्धगर्भा अविकृतिरूपा ।
विकाराश्रयाया मूलप्रकृते प्रकृतिविकृते उदासीनस्य आत्मन
श्रोतपन्नत्वात् अर्धांशेन प्रपञ्चाकारेण परिणामादर्धगर्भा ।
पुरपाशस्याविक्रियत्वात् इत्यभिप्राय । अत एव तेषां प्रकृति
विकृतित्वम् । यस्मादेव तस्मात् भुवनस्य रेत कारणम् ।
कारणभूतानि तान्येव विष्णो व्यासस्य पुरुषस्य विधर्मणि
प्रदिशा प्रदेशेन तिष्ठन्ति । इतस्तु समानम् ।

१८-१९ इयमृक् याम्बेन (निर० ७।३) इत्यत्र पठिता ।

१ ' न हि० परिवेद्यन्ते ' अय कस्य अर्थ । इद वाक्यमशुद्ध
दुर्बोध च । अत्र दुर्गवृत्ति (६२२) इत्यत्र द्रष्टव्या ।

२ अयमादित्योऽयमात्मा = अस्या ऋच आदित्यपर आत्मपर
इति द्वावर्थो । किन्तु एतौ द्वावर्थौ अत्र न दीयेते । आदित्य
पर क अर्थ ।

अत्र सायणभाष्यम् । ' अह यद् इव इद यदपीद विश्वं अस्मि
वृत्स्मन् प्रपञ्च्योऽप्यहमेवास्मि । नामरूपाश्च परमार्थं त्यक्त्वा
सर्वप्रानुगतोऽस्मि । योऽय सच्चिदानन्दाकारोऽस्ति सोहम-
स्मीति न विजानामि । विविच्य नाज्ञासिपम् । पर शास्त्रज
नितमिदमहमस्मीति ज्ञान न जातम् । अविचेर्या अहमित्यर्थ ।
कार्यकारणयोरभेदात् । वृत्स्मन्प्रपञ्चस्यापि ब्रह्मानन्यत्वेन ब्रह्मै
कत्वावगमे प्रपञ्चजातमपि स्वरूपमेव भवति । ' इद सर्वं
यदयमात्मा ' ' ब्रह्मैवेद सर्व ' ' आत्मवेद सर्व ' ' स ईक्षत
बहु म्या प्रनायेय ' इत्यादिश्रुतिभ्य ण्वविज्ञानेन सर्वविज्ञान-
प्राप्तिज्ञानात् । ' तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य ' (वेदान्त०
२ । १ । ४) इत्याद्युपपत्तिभिश्च प्रपञ्चस्य ब्रह्मानन्यत्वं
मिद्धम् । यद्वा । इव शब्द उपमार्थ । यद्विव परोक्षज्ञान
सर्वमहमस्मीति ज्ञान मे जातम् । अतित्वेनद् दार्ष्टान्तिरभूत् ।
आनुभाविर् मावर्त्त्य यदस्ति तन् न विजानामि न
प्राप्सोऽस्मि । शास्त्रनैमित्तिक मावर्त्त्य ज्ञान न त्वानुभाविर्मा

पङ्क्तिः

२ त्थर्थे । तत्र कारणमाह-यतोऽहं निष्पद्ये । अन्तर्हितनामैतत् ।
 अन्तर्हितं मूढचित्तं चित्तप्रत्यक्षप्रवणताभावेन पारिच्छिन्न
 इत्यर्थे । तत्रोपपत्तिमाह-सनद्धं अनिद्याकामकर्मभिः सम्यक्
 बद्धो वेष्टितः । अत एव मनसा युक्तं भावनासाहिष्णुना बहि-
 र्मुखेण निक्षिप्तेन चेतसा युक्तं सचरामि ससारे । अथवा ।
 मनसा सनद्धं चरामि । इन्द्रियपरवश एव सन् ससारे दुःख-
 मनुभवामि । न सार्वान्म्यं जानामि इति पारिदेवते । यास्कोऽपि
 इमं पारिदेवनार्थत्वेन उदाजहार 'अथापि पारिदेवना कस्मा-
 च्चित् भावात् न वि जानामि यदिवेदमस्मि' (निरु. ६१८ ।
 १९-२१) । बहिर्मुखचेतसः स्वरूपापरिज्ञानजनित
 तु खमन्यत्र श्रूयते । ' पराञ्चि खानि व्यकृणत् स्वयभूस्तस्मात्
 पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ' (कठो० ४ । १) इति ।
 तर्हि कर्देत्द् भवति इत्याह । यदा माऽऽगन् आगमिष्यति तदा ।
 किं तत् इति उच्यते । ऋतस्य परमार्थस्य परस्य ब्रह्मण
 प्रथमजा प्रथमोन्मेष प्रथमोत्पन्नं चित्तप्रत्यक्षप्रवणजनितोऽनु-
 भवः । स यदा मा मा प्राप्नोति आदित् अनन्तरमेव अव्य-
 वधानेन अस्या वाच ऐकात्म्यप्रतिप्रादिकाया उपनिषद्वाचो
 यदिवेदमस्मीत्युक्ताया वा । भागं भजनीयं शब्दब्रह्मणा
 व्याख्यं परं ब्रह्मपदं अक्षुभे प्राप्नोमि । चित्तस्य बहिर्मुखता
 परित्यज्य अन्तर्मुखतैव तु संपादा । सा यदा स्यात् तदानीमेव
 स्वरूपं द्रष्टुं मुशक् भवति पश्चात् बिलम्बाभावात् । यथा
 गिरिशिखरात् पतन् पापाणोऽविलम्बेन पतति तद्वत् ।
 चित्तप्रत्यक्षमुखत्वस्य तु शक्यत्वमपि तत्रैव श्रूयते । ' कश्चिद्धीर
 प्रत्यगात्मानं च्छेत्तवृत्तक्षुरमृतं वामिच्छन् ' (कठो० ४ । १)
 इति । इत् = शरीरम् । किमहमिदं शरीरमस्मि अथवा अशरीरं
 आत्मा आम्हि इति न विजानामि निष्पद्ये = शरीरे अन्तर्हितं ।
 सनद्धं शरीरेण । मनसा चरामि = मनोव्यापारान् अनुसरामि ।
 रिक्तु आत्मज्ञानाय मनोव्यापारं अङ्घ्रिचित्करं । यदा क्रमस्य
 परमात्मनः प्रथमजा बुद्धिः सा आगन् आगच्छत् । आत् इत्

पञ्च पङ्क्तिः

। १० १७ १२ १२

०२ ११

६ अपाङ् एति = अपाञ्चयति = अपगच्छति । प्राङ् एति = प्राञ्चयति = प्रगच्छति । चुरादिगणम्यस्य अञ्चघातोः इमे रूपे । 'अपाञ्चयति प्राञ्चयति' इत्यनयोः कौ०र्थः ।

७ स्वधया = जलरूपेण अत्रेण । गृभीतः = गृहीतः । अमर्त्यः = आदित्यः । मर्त्येन = चन्द्रमसा । सयोनिः = सह ।

७-८ शश्वन्ता = शश्वद्गामिनौ । विपूचीना = विश्वगामिनौ । वियन्ता = बहुगामिनौ । 'वा' शब्दो ऋचि नाम्नि । नि अन्यं चिक्यु = आदित्यं पश्यति । न नि चिक्युरन्यं = चन्द्रमसं न पश्यति । आदित्यः जलं गृहीत्वा चन्द्रमसा सह उदेति अस्तं च गच्छति । तौ सर्वदा सह वर्तेते । जनाः दिवा आदित्यमेव पश्यन्ति न चन्द्रमसम् ।

१० अमर्त्य = आत्मा । मर्त्येन = मनसा ।

११ 'नि अन्यं चिक्यु अत्र अन्यम् = आत्मानम् । 'न नि चिक्युः अन्यम्' अत्र अन्यं = मनः । आत्मा ज्ञानं गृहीत्वा मनसा सह जगति आविर्भवति तिरोगच्छति च । आत्मा मनश्च सर्वदा सह वर्तेते । ज्ञानी आत्मानं पश्यति न मनः । अत्र सायणभाष्यम् । अमर्त्यं अमरणधर्मा अयमात्मा मर्त्येन मरणधर्मणा भूतात्मना देहेन सयोनिः समानस्थान । यत्र परिच्छेदरो देहोऽस्ति तत्र सर्वत्र सोऽयमपि तिष्ठन्नित्यर्थः । यद्वा । भवानोपति सहवासेन स्वस्मिन्नप्युत्पत्तिरपचर्यते । एवंभूतं मन् स्वधया अत्रोपलक्षिततद्भोगेन गृभीतः । यद्वा । स्वधाशब्देन अन्नमयं शरीरं लक्ष्यते । तेन गृहीतः सन् अगाद् एति । अशुद्धं कर्म कृत्वा अधो गच्छति । प्राङ् एति । स्वर्गाः श्लोकं प्राप्नोति । परमात्मैव मुद्मशरीरोपाधिकः सन् नानाविधं कर्म कृत्वा तद्भोगाय जीवमंज्ञां लब्ध्वा शरीरत्रयेण मंचदो व्योमान्तरेषु मंचगति । म्यूलमूःमोमयशरीरपग्निप्रदेन

पङ्क्तिः

११ लोके गुणत्रयान्वित सन् परिभ्रमति । तथा च श्रूयते—
 गुणान्वयो य फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
 स विश्वरूपस्त्रिगुणास्त्रिवर्त्मा प्राणाधिप सचरति स्वकर्मभि ।
 (श्वे० उ० ९ । ७) इति । इदानीमुभयप्राधान्येन आह—ता तौ
 भूतात्मकर्त्तात्मानौ शश्वन्ता अविभागेन सर्वदा वर्तमानौ । यद्वा ।
 सूक्ष्मशरीरपक्षे सर्वदा सहवास उपपद्यते । स्थूलशरीरपक्षेऽपि
 सात्त्विकजाते । तत्कारणाना भूतसूक्ष्माणा सद्भावात् तत्र
 शरीरसम्बन्ध उपपद्यते । विपूचीना इह लोके सर्वत्रगमनौ
 वियन्ता तत्प्रोपभोगाय सर्वत्र लोकान्तरेषु गच्छन्तौ वर्तते ।
 तत्र नरा अन्य भूतात्मान नि चिक्वु । नितरा विशेषेण पश्यन्ति
 जानन्ति । अन्यमपर देहवच्छायातिरिक्त न नि चिक्वु न जान-
 न्ति । केचन परा देहव्यतिरिक्त न जानन्ति । केचन विवेकिन
 कर्तृत्वभोक्तृत्वोपेत देहातिरिक्त कश्चिदस्ति इति अनुमिते । न
 केऽपि देहत्रयव्यतिरिक्तमात्मान जानन्ति । अतो दुर्लभमात्मज्ञान
 मित्यर्थ । अमर्त्य आत्मा मर्त्येन देहेन सयोनि समानन्धान स्व
 धया अन्नेन गृहीत गृहीत सासारिकै र्मभि परिवेष्टित अपाङ्
 एति नीचानि जन्मानि प्राप्नोति । प्राङ् एति उत्तमानि जन्मानि
 प्राप्नोति । ता तौ देहात्मानौ शश्वन्ता शश्वन्तौ द्वे भिन्ने
 व्यक्तौ । विपूचीना विपूचीनौ विरुद्धस्वभावौ न सद्भीचीनौ ।
 वियन्ता वियन्तौ भिन्नमार्गौ । देहात्मानौ भिन्नौ एव । प्राकृत्या
 तयो देहात्मनो अन्य देह नि चिक्वु निश्चयेन जानन्ति ।
 अन्यमात्मान न जानन्ति ।

१९ जास = भवति । भुवनेषु = भूतेषु । ज्येष्ठ = आदित्यम् ।

१६ त्वेपनृम्ण = दीप्तिनृम्ण ।

१८ ज्येष्ठम् = अव्यक्तम् ।

१९ त्वेपनृम्ण = ज्ञाननृम्ण ।

पत्रं

पङ्क्तिः

१०१७

२० 'श्वे = सर्वे । देवतापरेऽर्थे ' जज्ञे ' इत्यस्य जायते ' विश्वे ' इत्यस्य सर्वे इत्यर्थो विभिति न दीयेते । आदित्यमित्यस्य स्थाने आदित्य इत्यवश्यम् । सर्वेषु भूतेषु आदित्यः ज्येष्ठः । तस्मात् आदित्यात् दीप्तिरूपमुग्रं बलं जायते । जातमेव शत्रून् देवानां शत्रून् निरिणाति हिनास्ति । अत्र निरिणातिः प्रीतिकर्मा दीप्तिकर्मा वा कथं स्यात् । इममादित्यं विश्वे सर्वे उमाः अकितारः देवाः अनुमदन्ति अनुहृष्यन्ति । आदित्यं दृष्ट्वा सर्वे प्राणिनः हृष्यन्ति । अयं देवतापरः अर्थः । सर्वेषु भूतेषु किञ्चित् अव्यक्त-मात्मरूपं तत्त्वमस्ति । तस्मात् आत्मनः ज्ञानरूपमुग्रं बलं जायते । जातं च शत्रून् अनात्मवस्तूनि निरिणाति हिनास्ति । अत्रापि निरिणातिः प्रीतिकर्मा दीप्तिकर्मा वा नास्ति । इममात्मानं दृष्ट्वा इतरे सर्वे आत्मानः हृष्यन्ति । अयमात्मपरोऽर्थः । अत्र सायणभाष्यम् । तत् जगत्कारणत्वेन सर्ववेदान्तप्रसिद्धम् । इत् शब्दोऽवधारणे । भुक्नेषु । भू सत्तायाम् । सत्सु पृथिव्यादिषु लोकेषु मध्ये जगत्कारणं ब्रह्मैव ज्येष्ठं प्रशस्ततममास बभूव । तस्य परमार्थत्वात् तदव्यतिरिक्तानां व्यावहारिकत्वाच्च । यद्वा । ज्येष्ठं वृद्धतमं जगत्कारणत्वेन सर्वेषामादिभूतं बभूव । यद्वा । वृद्धं तदेव ब्रह्म स्वप्रकाशतया आस दिदीपे । यतः उपादानभूतात् यस्मात् ब्रह्मणः उग्रः उद्गूर्णः त्वेषनृष्णः प्रदी-ह्वलः सूर्यात्मकः इन्द्रः जज्ञे जातो बभूव । ध्रुयते हि— ' वक्षोः सूर्यो अजायत ' (ऋ० सं० १० । १९० । ३) इति । ' सूर्याचन्द्रमर्मां धाता यथापूर्वमकल्पयत् ' (ऋ० सं० १० । १९० । ३) इति च । स च जज्ञानः जायमानः एव मघ । शीघ्रं शत्रून् शानयितृन् मन्द्देहादीन् राक्षसान् निरिणाति निहिनास्ति । यद्वा । उपासकानां पापरूपान् शत्रून् निहन्ति । तथा च ब्राह्मणम् ' सद्यो ह्येष जातः पाप्मानमपा-हन ' (ऐ० आ० १ । ३ । ४) इति । विश्वे सर्वे उमाः अवन्ति गच्छन्ति इति उमाः प्राणिनः । सर्वे प्राणिनो यं सूर्या-त्मकमुद्यन्तमिन्द्रमनुलक्ष्य मद्रथमुद्गान् मद्रथमुद्गान् इति मद्रन्ति हृष्यन्ति । तथा च ब्राह्मणम् ' भूतानि वै विश्व उमान्

पत्रं

पङ्क्तिः

१०१७

२० एतमनुमदन्ति उदगाद्दुदगात् ' (ऐ० आ० १।३।४)
इति । तैत्तिरियिकं च । तस्मात्सर्वे एव मन्यन्ते मा प्रत्युदगा-
दिति ' इति । द्वा । यं म्बुत्यादिभिर्मादन्तमनु पश्चात् सर्वे
प्राणिनोऽभीष्टप्राप्त्या हृष्यन्ति स इन्द्रो यज्ञे इत्यन्वयः ।
सूक्तमिन्द्रपरम् । ऋगपि इन्द्रपरैव । यतः यदा त्वेपेनृष्णः
महावीर्यः उग्रः भयंकर इन्द्रः यज्ञे अजायत तदा इन्द्ररूपं
तत् एव सर्वेषु भूतेषु ज्येष्ठमास आसीत् । इन्द्रः एव सर्वेषां
ज्येष्ठः । सद्यो जज्ञानः जायमानः एव शत्रून् वृत्रादीन् निरि-
णाति हिनग्ति । यमिन्द्रं दृष्ट्वा उग्रमा अवितारः सर्वे मरुतः
हृष्यन्ति ।

१०१८

३ कः = आदित्यः ।

४ गाः = रश्मीन् । शिमीवतः = कर्मवतः । भामिनः = भानु-
मतः । दुर्हणायून् = दुराधर्षान् । आसून् = असून् = अमु-
नवन्ति ।

४-५ इयून् = इपुणवन्ति । मयोभून् = मयोभूनि = सुतभूनि । एपा-
मिमम् ।

५ भृत्यां = संभृतम् । ऋणभृत् = वेद । स जीवात् = कथं स
जीवति । अत्र ' कथं ' कस्यार्थः । आत्मपरे अर्थे ' निरं '
शब्दः प्रयुज्यते । ' अमुनवन्ति ' ' इपुणवन्ति ' इत्यनयोः
कोऽर्थः । अमुनवन्ति इपुणवन्ति मयोभूनि एतानि कस्य विशेष-
णानि । अमुमतः इपुमतः मयोभून् इति पुल्लिङ्गानि एव
विशेषणानि । तेषां रश्मीन् इति विशेष्यम् । एवं गुणयुक्तान्
रश्मीन् आदित्यः धुरि नियुङ्क्ते । यः मनुष्यः इममादित्य-
मेव जानाति स कथं जीवेत् ।

६ कः = आत्मा । गाः = इन्द्रियाणि ।

७ शिमीवतः = कर्मवन्ति । भामिनः = भानुवन्ति । दुर्हणायून्
= दुराधर्षान् । ' दुराधर्षाणि ' इत्यस्यम् । आसून् = असून्
= अमुनवन्ति । ' अमुवन्ति ' इत्यस्यम् । इयून् = इपुण-

पत्र

पङ्क्तिः

१०१८

७ वन्ति । ' इदुमन्ति ' इत्यवश्यम् । आत्मा एवंगुणयुक्तानि इन्द्रियाणि ज्ञानाय उपयुङ्क्ते । य ज्ञाता सभृतानि एवगुणयुक्तानि इन्द्रियाणि वेद स चिर जीवति ।

अत्र सायणभाष्यम् । अद्य अग्निन् कर्मणि ऋतम्य गच्छत इन्द्रसवन्धिनो रथस्य धुरि अश्ववहनप्रदेशे गा गतिमन्तोऽधान् क युङ्क्ते । को नाम नियोक्तु शक्नोति । न कोऽपीत्यर्थे । कीदृशान् अश्वान् । शिमीवत वीर्यकर्मोपेतान् भामिन तेजसा युक्तान् दुर्हणायून् परैर्दु सहेन क्रोधेन युक्तान् । आसन्नपून् येषामासनि आस्ये मुखप्रदेशे शत्रूणा प्रहरणार्थमिषव बाणा बद्धा तान् । हृत्स्वस हृत्सु शत्रूणा हृदयेषु अम्यन्ति स्वकीय पाद क्षिपन्तीति हृत्स्वस । ' मयोभून् ' मयस मुखस्य भावायितृन् । स्वकीयाना मुखप्रदान् इत्यर्थे । य यजमान एषामीदृशानामश्वाना भृत्या भरणक्रिया रथवाहन क्रिया ऋणधत् समर्धयति । स्तौतीति यावत् । स यजमान जीवान् जीवनवान् भवेत् । यद्वा । क इति प्रजापतिरच्यते । 'को ह मे नाम प्रजापति' इति श्रुते । ऋतम्य यज्ञम्य धुरि निर्वाहे गा वेदरूपान् वाग्भिशेषान् अद्य इदानीं ' युङ्क्ते ' सयोजयति । कीदृशान् शिमीवत प्रतिपाद्यै कर्मभि युक्तान् भामिन उज्ज्वलान् दुर्हणायून् । हृणीयतिर्हानिकर्मा । हाधुमश कयान् । वेदाध्ययनम्य नित्यत्वात् । आसन्नपून् आसनि आस्ये इषु एषण गमनमुच्चारण येषा तान् । हृत्स्वस हृत्सु हृदयेषु टीप्यमानान् । प्रमाशमानान् इत्यर्थे । मयोभून् मयस अययनप्रभवम्य मुखसाधनम्य अदृष्टम्य भावायितृ । य यजमान एषा इच्छता भृत्या भरणक्रियामृणधत् ऋद्धिमती करोति स जीवान् स एव जीवति । अन्ये जीवन्मृता इत्यर्थे । सूक्तमिद्वपरम् । ऋगपि इन्द्रपरा । क युङ्क्ते । अम्योत्तरमिन्द्र एव युङ्क्ते इति । कान् युङ्क्ते । गा वृषभान् । हे ते वृषभा । मरुत । शिमीवत बलिन । भामिन बलिन । दुर्हणायून् शत्रुनाशकान् । आसन्नपून् । आसनि इषव येषा तान् । हृत्स्वस हृत्सु हृदयेषु (इपून्) अम्यन्ति

पङ्क्तिः

७ ते ह्रस्वसः । मरुतः अतिशयेन बलवन्तः । आस्येषु इपून् धारयन्ति । शत्रूणां हृदयेषु च तान् अस्यान्ति । एवं कृत्वा तान् नाशयन्ति । यज्वनां च मयः सुखं भावयन्ति । इन्द्रः एतान् मरुतः ऋतस्य यज्ञस्य धुरि नियुञ्जे । अत एव सः नियुत्वान् इत्युच्यते । यस्मात्ते इन्द्रमेव विभ्रति तस्मात् सः एव एषां मरुतां भृत्यां सेवां ऋणधत् समर्घयति सफली करोति । सोमपानेन तान् तर्पयति । तस्मात् सः एव इन्द्रः सत्यं जीवति । मरुद्रूपाः वृषभाः यस्य स एव जीवितु-मर्हति ।

१२ कः = कः एव । ईपते = गच्छति । तुज्यते = ददाति ।

१३ विभाय = विभेति । तोकाय = अपत्याय । इभाय = महते ।

१३-१४ ' नो रणाय ' इदं नञि नास्ति । अस्याः ऋजः = भाष्यम-पूर्णम् । अत्र देवतापरः आत्मपरश्च अर्थो न दीयते ।

अत्र सावणभाष्यम् । अनुग्रहीतरि इन्द्रे आगते सति कः ईपते । शत्रोः भीतः सन् को निर्गच्छति । न कोऽपीत्यर्थः । कः तुज्यते को हिंस्यते । शत्रुहिंस्योऽपि कश्चिन्नास्तीत्यर्थः । कः यजमानः विभाय विभेति । इन्द्रे रसके सति मयमपि नोपपद्यते । दूरे तस्य शत्रुकृता हिंसा । अन्ति अन्तिके समीपे सन्तमस्माकं रक्षकत्वेन वर्तमानमिन्द्रं कः पुरुषः मंसते जानाति । वयमेव जानीमः न अन्यः इत्यर्थः । एकः कः पूरकः । युद्धे सहायार्थमिन्द्रे आगते सति कः यजमानः तोकाय पुत्राय अधिद्वत् । हे इन्द्र, अस्मदीयं पुत्रं रसेत्येवंरूपमधि-वचनं पक्षपातेन वचनं ब्राह्मणायाधिव्यादिति यथा एवंपरमधि-वचनं को यजमानः कुर्यात् । स्वयमेवेन्द्रो रसतीति भावः । इभाय गनाय कः अधि द्रवत् । उत अपि च राये शत्रुभि-रपहियमाणाय धनाय कः अधि द्रवत् । अपहियमाणमस्मदीयं धनं रसेत्यधिवचनमपि को यजमानः कुर्यात् । न कोऽपीत्यर्थः । अपि च तन्वे स्वकीयाय शरीराय जनाय परिजनाय च कः अधि

पत्रं पङ्क्तिः

१०१८ १३-१४ ब्रवत् । स्वशरीररक्षार्थं पारिजनरक्षार्थं च इन्द्रस्याधिवचनं नाप-
दितम् । मृत्युया प्रीत इन्द्रः स्वयमेव रक्षतीत्यर्थः । यदा तु
कशब्दाभिधेयस्य प्रजापतेः संबन्धिनि कर्मणि विनियोगः
तदानीं परमैश्वर्ययोगात् इन्द्रशब्देन प्रजापतिरेवाभिधीयते ।
यथा ' ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते ' इतिविनियोगानुसारेण
कदाचन इत्यम्यामृचि विश्वमान इन्द्रः गार्हपत्यपरतया नीषने
तद्धत् ।

ईपते = पलायते । तुज्यते = कम्पते । इभाय = राये ।
इन्द्रमान्ति सन्तमिन्द्रे अन्तिके सति कः ईपते पलायते ।
तुज्यते क । क० कम्पते । बिभाय कः । क० विभेति ।
मसते क । शत्रुणा आत्मानं हतं क० मज्यते । इन्द्रात्
अन्य क तोकाय तनयाय इभाय धनाय राये धनाय क्तने
शरीराय जनाय भृत्यादिभ्यः अधि ब्रवत् अधिब्रूयात् न ।
इन्द्रात् अन्य क अस्मभ्यं तनयं धनं भृत्यान् सुखमयशरीरं
च दद्यात् ।

१८ अग्निम् = आदित्यम् । ईष्टे = पूजयति ।

२० होम = अर्थान् । सुदेव = कल्याणदेव ।

२१ अग्निम् = आत्मानम् ।

१ सुदेव = सुप्रज्ञ कल्याणप्रदा । ' सुप्रज्ञः ' इत्यस्य स्थाने
' सुदेव ' इत्यवदगम् ।

अत्र सायणभाष्यम् । क यजमानः अग्निमीष्टे इन्द्रार्थं हवि-
र्निरूप्य अग्निं स्तौति । इन्द्राय हविर्निर्वापोऽपि सम्यक् इष्टुं
न शक्यते । इन्द्रस्य दुर्बिज्ञानत्वात् । को वा इन्द्रयागार्थमग्निं
शुचा जुहा ध्रुवेभि ध्रुवे नित्यैः ऋतुभिः यत्नतादिकत्वेन
पलस्तिनेन वृतेन हविषा यजति यजेत् । यद्वा । ऋतव प्रया-
जदेवता ' ऋतवो वै प्रयानाः ' इति ध्रुते । ताभि
ध्रुवे प्रहृता विहृता च अनुष्ठेयनया निश्चलै ऋतुभिः सह
अग्निमाज्यभागदेवता वृतेन हविषा को यजेत् । न कोऽपीत्यर्थः ।
कस्मै यजमानाय होमं हातन्यं प्रशम्यं धनमाशु शान्तं देवाः

पङ्क्तिः

१ आ वहान् आवहन्ति प्रयच्छन्ति । न कामै अपि इत्यर्थ । इन्द्र एव धनस्य दाता ना ये देवा इति इन्द्र स्तुयते । वीति होत्र प्राहुरङ्ग सुदेव शोभन् देवताव क यजमान मसते इन्द्र सम्यक् जानाति । न कोऽप्यर्थे । बहुविधेन स्तोत्रेण चिरमालोपासनेन च इन्द्र प्रत्यक्षो भवति । नाभ्येन प्रकीर्ण इति तात्पर्यार्थ ।

इन्द्रसूक्ते इयमेव एका अग्निपरा ऋ३ । अर्यामि द्रस्य नाम अपि नास्ति । हविषा = घृतेन । इदं घृतरूप हवि सृचि दूर्या गृह्यते । अग्निं च तत् देवानां रुते प्रक्षिप्यते । अग्निं ऋतुभि सह हवि विवति । ' नेगृत्सोम द्रविणोद् पिव ऋतुभि ' (ऋ० स० २ । ३७ । ३) । अथवा । ऋतुभि = ऋतुनामकै पात्रै । ध्रुवोभि = ध्रुवामि । यजाते = यजते । एतेषु पात्रेषु सोम गृह्णित्वा अग्निं प्रक्षिपन्ति । स तेन कर्मणा देवान् प्राणयति । अग्निं घृतेन सोमेन च क प्राणयति । अग्निं देवान् आशु त्वारितमध्वरस्य होम (गृह) यज्ञभूमिमावहति । अग्निं इन के देवा यज्ञगृहमावहन्ति । वीतये होत्र दस्य स वीतिहोत्र । अग्निं होत्राणि हवीषि देवाना वीतये भक्षणाय गृह्णाति । एव घृत्वा देवान् मसते देवान् तर्पयति । अग्न्यर्थं होत्राणि क नयति । तत् कृत्वा च अग्नि क मसते तर्पयति । ईष्टे = यजते = मसते । अग्निं देवाना दूत । न कोऽपि देव अग्ने दूत ।

१-७ मडिता = पाता वा पालयिता वा जेता वा मुत्तयिता वा । मडिता=पालयिता एव । ' न ह्यन्य बळं कर मडितार शतक्रतो । त्व न इन्द्र मृळ्य ' (ऋ० स० ८ । ८० । १) । हे शविष्ठ इन्द्र त्वमङ्ग एव मर्त्यं प्रशसिष । माधु अय मर्त्यं इति प्रशससे । हे मधवन् इन्द्र त्वत्त अन्य मडिता रक्षिना नास्ति । इदं सत्यं स्तुतियुक्तं च ते तुभ्य व्रजामि ।

६ प्र शसिष = प्र शर्मात् । तृतीयपुर विपेरिणाम विमर्ष । 'प्रशामि' इत्यवश्यम् ।

पत्रं पङ्क्तिः

- १०१९ १०-११ अन्या ऋच भाष्यमतीवाशुद्ध दुर्बोधनं च ।
 १२ हस = हंसा = सूर्यरश्मय । हंस = परमात्मा परं
 ज्योति ।
 १३ शुचि = पृथिवी । सा सूर्यरश्मिभि व्याप्ता । सर्वं जगत्
 वननकर्मणा आदित्यमण्डलेन न्याप्तम् । द्वितीयं 'व्याप्तं'
 पठं किमर्थम् । 'अनभ्यासेन' इत्यम्य कोऽर्थः ।
 १४ 'त्ययतीति लोको त्यदतीति हसयन्त्ययतीति' अय क्म्या-
 अर्थः । कश्चासौ अर्थः । 'त्ययति' अत्र क धातु । गुर्नर-
 पाठ 'त्यजतीति लोकेत्यजतीति हंसम्यजतीति' इति ।
 लोक हंसो वा किं त्यजति । हस = हसा = परमहसा ।
 १५ हस = परमात्मा । 'सूर्यरश्मिभि ००० कुट्टता रिभन्ता'
 अय क्म्यार्थः । कश्चासौ अर्थः । वमतीतिवमु । स रश्मिरु-
 पेण वद्विरूपेण मुवर्णरूपेण च त्रिभि त्रिधा वसति ।
- १७-१८ अन्तरिक्षसत् = अन्तरिक्षा अन्तरिक्षेण पथा चरत् परति ।
 १८ अन्तरिक्षा चरत् = अन्तरिक्षयो = दिवि भुवि । चरत् =
 गमनम् । 'वा'शब्द विमर्षः ।
- १८-१९ 'सुभानु ० गता भरन्ति' अय रस्य अर्थः को वा अर्थः ।
 १९ 'सर्वं दुर्योगसत् द्रव' । त्रौऽर्थे । 'सर्वं रमा' इत्यम्य स्थाने
 'सर्वान् रमान्' इत्यवश्यम् ।
- १०२० १ आदित्य मर्वाण् रमान् विरपयति । तथैव रश्मि । तथैव
 वदि । 'विरपयति' इति अनुद्धम् । 'विरपयति' इति
 शुद्धम् । 'वनन भवति' । रस्य अर्थः यो वा अर्थः ।
- १-२ अञ्जा - अञ्जोना ।
 २ अञ्जिना = अञ्जिनीना = अञ्जिनीना । मर्षं गोना फलना ।
 फलना = बहुशब्दा । के मर्षं गोना । 'गोना' इत्ये
 रवचन न बहुवचनम् ।
 ३ 'निगमो निगमयति' कोऽर्थः । 'निगमयति' इति किं रूपम् ।
 'भक्तयेव निर्द्वन्नाय' । निर्द्वन्नाय किं भवति । अथवा । एष
 उत्तर मन्त्र निर्द्वन्नाय भवति ।

पञ्च

पङ्क्तिः

१०१९-२०

३ अत्र सायणभाष्यम् “ अनया सौर्यर्चा य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः दृश्यते हिरण्यश्मश्रुरित्यादि श्रुत्युक्तो मण्डलामिमानी देवोऽस्ति यश्च सर्वप्राणिवित्तरूपम्यितः परमात्मा यश्च निरस्तसमस्तौपाधिकं परं ब्रह्म तत् सर्वमेकमेव इति प्रतिपाद्यते । हंसः हन्तिर्गत्यर्थः । सर्वत्र सर्वदा गन्ता योऽहं सोऽसावित्यादिश्रुत्युक्तप्रकारेण एकीकृत्य उपाम्य-परमात्ममन्त्रप्रतिपाद्यः आदित्यः । स च शुचां दीप्ते द्युल्लोके सीदतीति शुचिपत् । अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्ति इत्यादिश्रुतेः । अनेन द्युस्थान आदित्यः प्रतिपादितः । स एव मध्यस्थानो वायुः इत्याह । वसुः सर्वस्य वासायिता वायुः । स च अन्तरिक्षसत् । अन्तरिक्षसंचारी । अथ तस्यैव स्थितिस्थानवैदिकाग्निरूपतामाह—होता देवानामाहाता होमनिष्पादको वा । वेदिपत् वेद्यां गार्हपत्यादिरूपेण स्थितः । अतिथिः अतिथिवत् सर्वदा पूज्योऽग्निः । दुरोणसत् । दुरोणं गृह्णाम । तत्र पाकादिसाधनत्वेन स्थितः । अनेन लौकिकाग्न्यात्मकत्वमुक्तम् । नृपत् । नृप मनुष्येषु सीदतीति नृपत् । अनेन परमात्मरूपत्वमुक्तम् । पुनरप्यादित्यात्मतामाह । वरसत् । वरं वरणीये मण्डले सीदतीति वरसदादित्यः । वरं वा ण्तत् सधना यम्मिन्नेप आसन्नः तपतीति हि श्रूयते । ऋतं सत्यं ब्रह्म यज्ञो वा । तत्र सीदति इति ऋतसद् आग्निः । व्योमान्तरिक्षम् । तत्र सीदति इति व्योमसन् वायुः । इदानीमादित्यतोच्यते । अन्ना उदकेषु जातः । उदकमध्ये सत्वयं जायते । गोना गोषु रक्षिषु जातः । ऋतं सत्यम् । सर्वैः दृश्यत्वेन सत्यजातः । न त्सो इन्द्रादिवन् परोक्षो भवति । उदकं । उदकेषु वैद्युतरूपेण वाऽथग्न्येण वा जातः । अग्निना अग्नी उदकान्ते जातः । एतं महानुभाव आदित्यः ऋतं सत्यमवायं महाविष्टानं ब्रह्मतत्त्वम् । तद्रूपं ह्यर्षा एव । आदित्यस्य उक्तरूपत्वं ‘ हंसः शुचिपत् इत्येव वै हंसः शुचिपत् ’ इत्यादिना ब्राह्मणे (ऐ० ब्रा० ४ । २ । ६) समस्तातम् ” ।

पत्रं

पङ्क्तिः

१०२०

३ दधिक्रावणः सूक्ते इयमृक् अस्थाने यस्मात् अस्याः अर्थः आत्मपरः । आत्मा हंसः इन्द्रः अग्निः इत्युच्यते । शुचिपत् अन्तरिक्षसत् इत्यादयः शब्दाः अस्यामेव ऋचि उपलभ्यन्ते । उपनिषत्कालीना इयमृक् स्यात् । यथा हंसः शुची जले सीदति तथा सोमः शुची प्रदेशे वर्तते । वसु. इन्द्रः अन्तरिक्षे सीदति । होता अग्निः वेद्या सीदति । अतिथिः अग्निः दुरोणे यजमानगृहे सीदति । तथा सोमः सर्वत्र वर्तते । सः नृणा मये सीदति । वरे श्रेष्ठे म्याने सीदति । ऋते यज्ञे जले वा सीदति । व्योम्नि सीदति । जलमिश्रणात् सोमः अबजाः ऋतनाश्च । क्षीरमिश्रणात् गोजाः । प्रावमिः सवनात् अद्रिजाः इत्युच्यते । तथा च सः ऋतं ब्रह्माण्डतत्त्वमुच्यते । सोमस्य सर्वैः देवैः तादात्म्यं वर्तते । तस्मात् आत्मा वेदान्तिभि 'सोम' इति निरूप्यते । इयमृक् कठोपनिषदि (९ । २) महानारायणोपनिषदि (९ । ३ । १७ । ८) नृसिंहपूर्वतापन्युपनिषदि च (३ । १) वर्तते ।

७ ' द्वां द्वां ' इय द्विरुक्तिः किमर्था । मुकृतौ = धर्मकर्तारौ । ' प्रतिष्ठितौ मुकृतौ ' इदमृचि न वर्तते ।

८ परिसारकम् = यत् अमृतत्वात् अथवा देवयानपितृयाणाभ्यां परिसारयति बहिष्करोति । अतः पापं परिसारकमित्याचक्षते विद्वांसः । यदि ' मुकृन् ' विरुद्धः ' दुष्कृन् ' शब्दः तर्हि दुष्कृन् दुष्टस्य कर्मणः कर्ता पापः परिसारकः । सः दुर्मार्गं देवयानपितृयाणाम्यामन्येन पथा याति ।

८-९ आत्मानं = दुरात्मानं (नीचात्मानं) परमात्मानं च । एवं द्वां आत्मानौ इयमृक् कथयति । तन् आत्मद्वयं प्रत्युत्तिष्ठति मनीषे शरीरे एव जायते । द्वावप्यात्मानौ शरीरे तिष्ठतः-१

९ ' वृक्षं वृक्षं ' इति वक्ष्यार्थः । शरीरं = शरीररूपं वृक्षम् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

०२०

१० ' पक्षौ ' इत्यस्य केनान्वयः । कश्च प्रतिष्ठापयति । ऋचि
 ' तयोः अन्यः ' । भाष्ये ' तयोः अन्यत् ' । अन्नं भुक्त्वा
 किं करोति । ऋचि ' अनश्नन्नन्यो ' । भाष्ये ' अनश्नन्नन्या ' ।
 अत्र सायणभाष्यम् ' अत्र लौकिकपक्षिद्वयदृष्टान्तेन जीव-
 परमात्मानौ स्तूयते । यथा लोके द्वौ सुपर्णौ सुपतनौ शोभनगमनौ
 सयुजा समानयोगौ । सखाया समानख्यानौ समानं वृक्षं परि पस्व-
 जाते । एकमेव वृक्षं परिपस्वजाते आश्रयतः । तयोरन्य एकः
 पिप्पलं पक्षं स्वादुतरमत्ति । ३.परोऽनश्नन् अभि चाकशीति
 अभिपश्यति । तद्वत् द्वौ सुपर्णस्थानीयौ क्षेत्रज्ञपरमात्मानौ ।
 सयुजा समानयोगौ । योगो नाम संबन्धः । स च तादात्म्यलक्षणः ।
 स एवाऽऽत्मा जीवात्मनः स्वरूपं यस्य परमात्मनः स
 तदात्मा । एवमन्यस्यापि स एव आत्मा परमात्मनः स्वरूपं
 यस्य जीवात्मनः । एवमेकस्वरूपौ इत्यर्थः । अनेन भास्कर-
 मतानुसारिणः अतिरेकिनाम्नः जीवात्मा परमात्मनः नून्यः । स
 च परमात्मा जीवादन्यः नानाजीवाश्रयणात् इति मतं निरस्तं
 भवति । ननु संबन्धः द्विष्टः । स च पक्षिणोरेव भेदमपेक्षते । अतः
 कथमैकात्म्यमिति । न । औपाधिकभेदं वास्तवभेदं चापेक्ष्य
 प्रवृत्तः । अत एव सखायौ समानख्यानौ नान्यख्यानौ । ननु
 एकस्य यादृशं ख्यानं तादृशमेव अन्यस्य इति व्युत्पत्त्या भेदः
 स्फुटं प्रतिभाति । कथं तादात्म्यमुच्यते इति न वक्तव्यम् । नात्र
 परस्परं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावः । अपि तु यस्य यादृशं ख्यानं
 स्फुरणं परमात्मनस्तदेव ख्यानमितरस्यापि जीवात्मनः इति
 सत्त्वयौ इत्युच्यते । एकरूपप्रकारौ इत्यर्थः । अनः उपपन्न-
 मैकात्म्यम् । अनेन वास्तवभेदोऽपि निरस्तः । समानं वृक्षं
 परि पस्वजाते इत्यत्र यथा आश्रयान्तराभावात् उभयोः एकाश्रय-
 त्वमभ्युपगन्तव्यं तद्वत् सयुजा सखायौ इति उभयत्रापि
 एकयोगस्थाने आश्रयणीये । वृक्षचते इति वृक्षो देहः ।
 स च उभयोः समानः एक एव । जीवस्य भोगार्थत्वात्
 परमात्मना सृष्टेः महाभूतैः आरन्धत्वान् तस्य उपलब्धिस्थान-
 त्वाच्च उभयोः अपि समानः । तादृशं समानं वृक्षं परि पस्वजाते

पत्रं

पङ्क्तिः

१०२०

१० परिप्वञ्जतः आश्रयतः । न च जीवम्य वस्तुतः ईश्वरत्वे कथं जीवबुद्ध्या संसारशोकौ इति वाच्यम् । तयोः मोहदृष्टत्वात् । तथा चाऽऽथर्वणिका अनुमन्त्रमाध्याय अस्य संदेहनिवर्तकमुत्तरं मन्त्रमेवमामनन्ति—‘ समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ’ । (मु० उ० ३।१।२) इति । अस्य अयमर्थः । एक एव शरीरे पूर्णः पुरुषः परमात्मा निमग्नो निगूढः सन् स्वयमपीश्वरोऽप्यनीशत्वबुद्ध्या मुह्यमानः मूढः सन् शोचति । संसारेऽहं कर्ता सुखी दुःखी इति जननमरणे अनुभवति । यदा तु जुष्टं नित्यतृप्तमन्यं संसारशोकातीतमीशं परमेश्वरं पश्यति स्वानन्यतया साक्षात्करोति तदा वीतशोकः देहात् व्यतिरिक्तः स्वस्वरूपसाक्षात्कारेण गततापत्रयः सन् अस्य महिमानमिति । निरस्तसमन्तोपाधिकस्य परमेश्वरस्य महिमानं सार्वत्म्यसर्वज्ञत्वादिमहिमानमिति एति प्राप्नोति । न च तद्भावनाद्यै तन्महिमा प्राप्यते । अतस्तद्वृषो भवतीत्यर्थः । तस्मात् वस्तुत एक एव । भेदस्तु मोहकृतः इति प्रसिद्धम् । अनुभवदशायां लौकिकबुद्ध्या भेदमभ्युपेत्य उच्यते । तयोरन्यो जीवात्मा पिप्पलं कर्मफलं स्वादुभूतमिति भुङ्क्ते । यस्य यदुपाजितं तत्तस्य स्वादु भवति । अन्यः परमात्मा अनश्नन् आसक्तमत्वेन अभुञ्जानः । स्पृहाया अभावात् । ‘आसक्तमस्य का स्पृहा’ इति स्मृतेः । तस्माद् वास्तवभेदमुपनीत्य तयोरन्य इत्युक्तम् । वस्तुतस्तु ‘अनीशया शोचति मुह्यमानः’ इत्युक्तत्वात् अभेद एव । तादृशः परमात्मा स्वात्मनि अध्यस्तं जगत् साक्षित्वेन ईक्षते । ‘अत्र द्वौ द्वौ प्रतिष्ठितौ सुहृदौ धर्मकर्तारौ’ इत्यादि निरुक्ते (१४।३०) गतमम्य मन्त्रस्य व्याख्यानमनुसंधेयम् ” ।

इयमृक् मुण्टकोपनिषदि (३ । १ । १) श्रेताश्रमरोगोपनिषदि च (४ । ६) वर्तेते । यथा द्वौ पक्षिणौ सह वर्तमानौ मग्नौ सन्तौ एकस्मिन्नेव वृक्षे नैकद्वयेन वनेने यथा च तयोरेवः तस्य वृक्षस्य स्वादु फलमिति अन्यस्तु फलानि अनश्नन्नेव इत्यन्तः पश्यति एवं संसारयात्रायां मह वर्तमानौ मग्नौ

पदाक्तिः

१०

१० बद्धात्ममुक्तात्मानौ वर्तेते । बद्धात्मा ससारं भुनक्ति । परमात्मा तु केवलं साक्षा भवति । अयमर्थः ' अजामकां लोहित-शुक्लवृष्णां ' इत्यत्र स्पष्टः । ऋग्माप्यमर्तावाशुद्धं दुर्बोधं च ।

१६ आयाहि = आगमिष्यन्ति । इन्द्रः = शत्रो देवतास्ताः । पथिभिः ईळितेभिः = त्रिभिः तीर्थैः

१७ शक्रप्रतरैः ईळितेभिः = त्रिभिः तीर्थैः । भागधेयं = यज्ञभागम् = अग्नीषोमभागौ ।

१८ ' इन्द्रो जुपस्व ० निदर्शनम् ' अयं कस्यार्थः । कश्चार्थः । हे इन्द्र, इमं नः यज्ञमीळितेभिः पूज्यैः पथिभिः आयाहि । भागधेयं जुपस्व । उत्तरार्थः दुर्बोधः ।

२१

२-६ ' विदुर्वेद ००० वदन्ति ' अयं कस्य अर्थः ।

७ ' अग्निः सर्वा देवताः ' इति (निरु० ७ । १७) । तस्य अग्नेः भूयसे निर्वचनाय उत्तरा ऋक् निरुच्यते । विप्रासः विप्राः मर्तासः मर्ताः ऊतये अवसे रक्षणाय गार्भिः स्तुतिभिः विप्रं देवमग्निं हवामहे ।

११ जातवेदसे = जातमिदं सर्वं सचराचरं स्थित्युत्पत्तिप्रलयन्यायेन । इदं विधरणमपूर्णम् । 'यः वेद ' इति अवश्यम् । यः जातमिदं सर्वं सचराचरं जगत् स्थितौ उत्पत्तौ प्रलये च वेद जानाति स जातवेदाः । उत्पत्तिस्थितिप्रलय० इति क्रमः अवश्यः । ' न्यायेन ' इत्यस्य कोऽर्थः । इदं पदमनवश्यम् ।

१२ ' अच्छाय ' इत्यस्य कोऽर्थः ।

१२-१३ ' प्रसवेनाभिषवाय सोमं राजानममृतमरातीयतो यज्ञार्थमिति स्मः ' अयं कस्य अर्थः । कश्चार्थः ।

१३ नि = निश्चये ।

१४ दहाति = दहति भस्मी करोति । सोमः दंद्दित्यर्थः । अत्र ' ददत् ' इति कस्यार्थः । दुर्गाणि = दुर्गमनानि स्थानानि ।

- पत्रे पङ्क्तिः
 १०२१ १५ 'सिन्धोः' अयमपपाठः । 'सिन्धुः' इत्यवश्यम् । 'सिन्धुः
 स्यन्दनात्' (निरु० ९ । २६) ।
 १६ सिन्धुं = नदीं जलदुर्गा महाकूट्याम् । पर्पत् = तारयति ।
 १७ तस्य = अग्नेः । इयच्छक् गुर्जरनिरुक्तमूले सप्तमाध्यायस्य
 एकोनविंशत्खण्डस्य अनन्तरं दीयते । यास्कभाष्यं च तत्र
 वर्तते । द्वयोर्भाष्ययोः बहवः अपपाठाः । द्वयोः पाठभेदोऽपि ।
 तद्भाष्यमालोचनीयं विद्यार्थिभिः । जातवेदसे सोमं सुनवाम ।
 यन्मात्सः अरातीयतः शत्रुवत् आचरतः । वेदः धनं निदहाति
 निश्चयेन दहति । स अग्निः नः विश्वा विश्वानि दुर्गाणि
 नावेव सिन्धुमति पर्पत् अति पारयतु । दुरिता दुरितानि
 अति पर्पत् पारयतु ।
 १०२२ ३ 'असमानाभिः' अयम् 'असमानमाद्भिः' इत्यस्य अपपाठः
 स्यात् । सिन्धुं प्रवहन्ति = सिन्धुं पतिं कृत्वा वहन्ति ।
 ४ जहाति = त्यजति । पापं त्यजन्ति । बहुवचनं किमर्थम् ।
 ४-५ 'आप आप्रोतेऽनासामेपा भवति' इदं (निरु० ९ । २६)
 इत्यत्र वर्तते । अत्र तत् अस्थाने एव । यस्मात् 'व्यम्बकं
 यजामहे' इत्यस्यामृचि आपो न विद्यन्ते । याः काश्च सर्वाः नद्यः
 सिन्धुं समुद्रं प्रवहन्ति । हे नदि इदं ते जलमन्याभिः
 आद्भिः अन्यासां नदीनामाद्भिः असमानम् । तव जले पाप-
 क्षालनसामर्थ्यमग्निं न नासाम् । यथा सशिरस्कः सर्पः जीर्णा
 वृषमनायामेन जहाति तथा नरः तव जलमभि उप
 इत्य तव जलं स्पृष्ट्वैव पापं जहाति । अहो तव महिमा ।
 एवं काचिल्लदी संवोभ्यते । सशिरस्कः इत्यनेन शरीराच्छादिनी
 सर्वा त्वक् सूच्यते ।
 ९ ३२म्बकं = रुद्रम् । सुगन्धिं = सुष्ठुगन्धिम् ।
 २-१० पुष्टिवर्धनं = पुष्टिकारकम् ।
 १० 'पुष्टिकारकमिव' अत्र 'इव' शब्दः अनवश्यः ।

पद्यं

पङ्क्तिः

१०२२

१० उर्वारुकम् = तन्नामकं फलम् । बन्धनात् = आरोधनात् ।
: बन्धनं फलानि पतनात् ऋणद्धि ।

१०=११ मृत्योः = मृत्योः सकाशात् ।

११ मुक्षीय = मुञ्चस्व । ' मुक्षीय ' इत्मुत्तमदुरूपस्यैकवचनम् ।
मुच् धातुः । लेटः सः । ईय लिटः प्रत्ययः । मा = माम् =
' कस्मादित्येषामितरेषा ' अम्य क्रोऽर्थः कश्च संबन्धः ।

अत्र सायणभाष्यम् " अत्र शौनकः -- ' त्रिरात्रं नियतोऽ-
पोप्य श्रपयेत् । पायसं चरुम् : तेनाऽऽहुतिशतं पूर्णं जुहुया-
च्छंसितव्रतः ॥ समुद्दिश्य महादेवं व्यम्बकं व्यम्बकेत्यृचा ।
एतत् पर्वशतं कृत्वा जीवेद्वर्षशतं सुखी ' (ऋग्विधानं २ ।
२७) । त्रयाणां ब्रह्मविष्णुरुद्राणामम्बकं पितरं यनामहे
इति शिष्यसमाहितो वसिष्ठो ब्रवीति । किंविशिष्टमित्यतः
अ.ह—सुगन्धिं प्रसारितपुण्यकीर्तिम् । पुनः किंविशिष्टम् ।
पुष्टिवर्धनं जगद्धीजम् । उरुशक्तिमित्यर्थः । उपासकस्य वर्ध-
नमणिमादिशक्तिवर्धनम् । अतस्त्वत्प्रसादादेव मृत्योर्म-
रणात् संसाराद्वा मुक्षीय मोक्षय । यथा बन्धनादुर्वारुकं कर्क-
टीफलं मुच्यते तद्वत् मरणत् संसाराद्वा मोक्षय । किं मर्या-
दीकृत्य । आ मृतात् । सायुज्यतामोक्षपर्यन्तमित्यर्थः । अथ
तैत्तिरीयभाष्ये (तै० सं० १।८।६।२) ' शोभनः शरीरगन्धः
पुण्यगन्धो वा यस्य असौ सुगन्धिः । यथा वृक्षस्य संपुष्पितस्य
दूराद्गन्धो वाति एवं पुण्यस्य कर्मणः दूराद्गन्धो वाति ' इति
श्रुतेः । पुष्टिं शरीरधनादिविषयां वर्धयतीति पुष्टिवर्धनः ।
तादृशं व्यम्बकं यनामहे पूजयामः । लोके यथा उर्वारुकफ-
लानि बन्धनात् वृन्तात् स्वयमेव मुच्यन्ते तद्वदहं व्यम्बकप्र-
सादेन मृत्योः मुक्षीय मोक्षनयुक्तो भूयासम् । अमृतात् चिरजी-
वितात् स्वर्गादेर्वा मा मुक्षीय । चतुर्थपादार्यमन्नस्य तात्पर्या-
तिशयं दर्शयति ' व्यम्बकं यनामहे इत्याह । मृत्योर्मुक्षीय
मामृतादिति वाचैतद्वाहेति " ।

व्यम्बकं यनामहे पूजयामः । यथा सुगन्धिं सुगन्धिं पुष्टिवर्धन-

पत्रं

पङ्क्तिः

१०२२

११ मत एव पिपतिषु उर्वारुन् वन्धनात् स्वयमेव मुच्यते तथा
अह मृत्यो मुक्षयि । अमृतात् ब्रह्मण मा अह हीये ।

१५-१६ ' इत्यपि निगमो भवति ' । इदमनवश्य यस्माद्ग्र सर्वा ऋक्
पठ्यते ।

१६ शत = दीर्घमायु । ' मरुत एना वर्धयन्ति ' इद 'मरुद्वधा'
इत्यस्य भाष्य (निर० ९।२६) अत्र असबद्धमेव ।

१६-१७ ' शतमेनमेव ० ऐश्वर्यं भवति ' अय कस्य अर्थ ।

१७ ' शतात्मान भवति ' इदमशुद्धम् ।

१७-१८ ' शतमिति शत दीर्घमायु ' इद पूर्वत्र कथितमेव ।
राजयक्षमुक्त अत एव शरीरेण वर्धमान त्व शत शरद
शत हेमन्तान् शत उ च वसन्तान् जीव । इन्द्राग्नी सविता
बृहस्पति शतायुषा दीर्घमायु ददता हविषा इम राजयक्ष्म
मुक्त जन शत वर्षाणि जीवतु इत्यर्थमस्मभ्य पुन दु अट्ट
अयच्छन् ।

२२ राधासि = धनानि । ' कदा च न सरिषु ' अय कस्य अर्थ ।

१०२३

१ विश्वा = सर्वाणि । ' प्रज्ञानानि ' इति अ याहृतम् । उपमि
मीहि = उपनामय । मानुष = मनुष्यहित । ' अयमादित्योऽ
यमात्मा ' । अयमात्स्य इत्यधिदैवतम् । अयमात्मा इत्यग्या
त्मम् । इमा द्वौ अर्थौ भाष्ये न दीयेते ।

अत्र सायणभाष्यम् ' हे वसो निवासयितारिन्द्र ते तव सब
न्धीनि राधोत्येभिरिति राधासि भूतान्यस्मान् कदाचन कदाचि
दपि मा दधन् मा विनाशयन्तु । तथा उतयो मन्तार । यद्वा ।
धृतय इत्यत्र वर्णलोप । धृतय कम्पयितारम्ने त्वदीया
मरुतश्च मा दधन् । हे मानुष मनुष्यहितेन्द्र वर्षणिभ्यो
मन्त्रद्रष्टृभ्यो नो अम्मभ्य विश्वा विश्वानि सर्वाणि वसुनि धनानि
च आ उपमिमीहि सर्वान् जाहृत्य अम्मन्समीपे कुरु । मवत्र
वर्धमान वनपम्मभ्य प्रयच्छ इत्यर्थ " ।

१३

१०२३

पङ्क्ति.

- १ हे वसो इन्द्र ते राधासि धनानि उतय रक्षणानि कदाचन कदापि
अस्मान् मा दधन् हिंस-तु । हे मानुष मनुष्यहित न अम्मभ्य
चर्षणिभ्य जनेभ्य आ = च) वमूनि धनानि उपामिमीहि देहे ।
- १-२ ' अथैतदनुप्रवर्तति ० प्रवर्तति ' इत् प्रथमखण्डे उक्तमेव ।
२ ' वैश्वकर्मणि ' इत्यस्य केनान्वय । ' सक्ते ' इत्यथाहतस्य
विशेष्यस्य इदं विशेषण म्यात् क्ति ' देवाना नु वय जाना'
' नासदासीत् ' इति च द्वे ऋचां न विश्वकर्मपरे ।
- २ ३ ' देव ना नु वय जाना न प्रबोचाम विपन्यया उक्थेषु
शस्यमानेषु य पश्यादुत्तरे युगे ' (ऋ० स० १०।७२।१) ।
' नासदासीत् ' (ऋ० स० १०।१२९।१) इति । जाना=
जन्मानि । अस्मिन् सूक्ते देव ना ज म वर्णयते । असत् सदजायत
इत्यपि उच्यते । ' असत् सदजायत ' इत्येतद्वर्जयित्वा अस्मिन्
सूक्ते आत्मपरोऽर्थो नास्ति । अस्मिन् अ याये आत्मा कीदृश
तन्मात् सर्वाणि भूतानि च कथं जायन्ते इत्यतत् निरूप्यते ।
- ४ सारिष्टम् । छान्दोग्ये (२।२० २) महानारायणीये च
(१२ । ३) ' सारिष्टा ' इति विद्यते । ' रिष हिंसायाम् '
(धा० ७।२१) इत्यस्य क्तान्त रूप ' रिष्टम् ' । न रिष्टम्
अरिष्टम् आरिष्ट ' अत्र नामीभूतम् । अरिष्टम् = हिंसा
भाव = दुःखाभाव । ब्रह्म अरिष्ट तु खरहितम् । समानम् अरिष्ट
यस्य स सारिष्ट । तस्य भाव सारिष्टता । एव ' सारिष्टता '
इति भाववाचक रूपमवश्यम् । यथा सरूपता सलोकताम् ।
उपनिषदि ' सारिष्टता शब्द ' सारिष्टता ' इत्यस्य अपभ्रंशो भाति ।
समान रूप यस्य स सरूप । तस्य भाव सरूपता । समान
लोक यस्य स सलोक । तस्य भाव सलोकता । ब्रह्मज्ञ ब्रह्म
वत् दुःखरहितो भवति । ब्रह्मण रूप ब्रह्मण लोक च आप्नोति ।
- ४-९ आत्मनिज्ञासा त ब्रह्मज्ञ सारिष्टता सरूपता सलोकता गमयति ।
९ महते भूताय । इत् महद्भूत ब्रह्म एव ।
नम पारम्पराय । अयम याय पारम्परेण ररित । तत्र च तेन
याम्कानुकरणकृतम् । तन्मात् याम्कायापि नम । पारम्पर ऋचा
मन्यात्मार्यान् निरूपयति । तन्मात् स याम्कात् पूज्यतर ।
- ६ ऋगोपनिषदि (६।३९) ' तच्छुद्ध परमलिङ्गम् ' इति ।
' असीय ' इति अशुद्धम् । ' सीय ' इत शुद्धम् । असीय = म्याम् ।
समाप्तेय टिप्पणी ।

पत्रं पङ्क्तिः

१०२२

११ मत एव पिपतिषु उर्वारुकं बन्धनात् स्वयमेव मुच्यते तथा अहं मृत्योः मुक्षायि । अमृतात् ब्रह्मणः मा अहं हीये ।

१५-१६ ' इत्यपि निगमो भवति ' । इदमनवश्यं यस्मादत्र सर्वा ऋक् पठ्यते ।

१६ शतं = दीर्घमायुः । ' मरुत एना वर्धयन्ति ' इदं 'मरुद्वधा' इत्यस्य भाष्यं (निरु० ९।२६) अत्र असंबद्धमेव ।

१६-१७ ' शतमेनमेव ० ऐश्वर्यं भवति ' अयं कस्य अर्थः ।

१७ ' शतात्मानं भवति ' इदमशुद्धम् ।

१७-१८ ' शतमिति शतं दीर्घमायु ' इदं पूर्वत्र कथितमेव । राजयक्षमुक्तं अत एव शरीरेण वर्धमानं त्वं शतं शरदः शतं हेमन्तान् शतं उ च वसन्तान् जीव । इन्द्राग्नी सविता बृहस्पतिः शतायुषा दीर्घमायु ददता हविषा इमं राजयक्षमुक्तं जनं शत वर्षाणि जीवतु इत्यर्थमस्मभ्यं पुनः दुः अदुः अयच्छन् ।

२२ राधासि = धनानि । ' कदा च न. सरिषु.' अयं कस्य अर्थः ।

१०२३

१ विश्वा = सर्वाणि । ' प्रज्ञानानि ' इति अव्याहृतम् । उपमिमीहि = उपनामय । मानुष = मनुष्यहितः । 'अयमादित्योऽयमात्मा ' । अयमादित्यः इत्यधिदैवतम् । अयमात्मा इत्यव्यात्मम् । इमां द्वां अयो भाष्ये न दीयेते ।

अत्र सायणभाष्यम् ' हे वसो निवासयितारिन्द्र ते तव संबन्धीनि राधोत्येभिरिति राधासि भूतान्यस्मान् कदाचन कदाचिदपि मा दधन् मा विनाशयन्तु । तथा उतयो गन्तारः । यद्वा । धृतयः इत्यत्र वर्णल्लेषः । धृतयः कम्पयितारम्ने त्वदीया मरुतश्च मा दधन् । हे मानुष मनुष्यहितेन्द्र वर्षाणिभ्यो मन्त्रद्रष्टृभ्यो नो अस्मभ्य विश्वा विश्वानि सर्वाणि वसुनि धनानि च आ उपमिमीहि सर्वान् आहृत्य अस्मत्समीपे कुरु । सर्वत्र वर्तमानं वनमस्मभ्यं प्रयच्छ इत्यर्थः ' ।

त्रि

पङ्क्तिः

- १ हे वसो इन्द्र ते राधासि धनानि ऊतय रक्षणानि कदाचन कदापि अम्मान् मा दभन् हिंसन्तु । हे मानुष मनुष्यहित न अम्मभ्य चर्षणिभ्य जनेभ्य आ(=व) वसूनि धनानि उपामिमीहि देहि ।
- १-२ ' अथैतदनुप्रवदति ० प्रवदति ' इदं प्रथमवचने उक्तं भवेत् ।
- २ ' वैश्वर्म्मणि ' इत्यस्य केनान्वयः । ' सूक्ते ' इत्ययाहतस्य विशेष्यस्य इदं विशेषणं स्यात् । किंतु ' देवानां नु वयं जानां ' ' नासदासीत् ' इति च द्वे ऋचौ न विश्वकर्मपरे ।
- २ ३ ' देवानां नु वयं जानां न प्रदोचाम विपन्यया । उक्थेषु शस्यमानेषु यं पश्यादुत्तरे युगे ' (ऋ० स० १०।७२।१) । ' नासदासीत् ' (ऋ० स० १०।१२९।१) इति । जानां = जन्मानि । अस्मिन् सूक्ते देवानां जन्म वर्णयते । असत् सदजायत इत्यपि उच्यते । ' अमन सदजायत ' इत्येतद्वर्जयित्वा अस्मिन् सूक्ते आत्मपरोऽर्थो नास्ति । अस्मिन् अयाये आत्मा कीदृशं तस्मात् सर्वाणि भूतानि च कथं जायन्ते इत्येतत् निरूप्यते ।
- ४ सारिष्टम् । छान्दोग्ये (२।२०२) महानाराच्यर्णाय च (१२ । ३) ' सारिष्टिना ' इति विद्यते । ' रिप हिंसायाम् ' (धा० ८।२१/) इत्यस्य क्तान्तं रूपं ' रिष्टम् ' । न रिष्टम् अरिष्टम् । ' आरिष्ट ' अत्र नामाभूतम् । अरिष्टम् = हिंसाभावः = दुःखाभावः । ब्रह्म अरिष्टं दुःखरहितम् । समानम् अरिष्टस्य स सारिष्टम् । तस्य भावः सारिष्टता । एवं ' सारिष्टता ' इति भाववाचकं रूपमवश्यम् । यथा सरूपता सलोकताम् । उपनिषदि ' सारिष्टता ' शब्दः ' सारिष्टता ' इत्यस्य अपभ्रंशो भाति । समानं रूपं यस्य स सरूपम् । तस्य भावः सरूपता । समानं लोकं यस्य स सलोकम् । तस्य भावः सलोकता । ब्रह्मज्ञं ब्रह्मवत् दुःखरहितं भवति । ब्रह्मणं रूपं ब्रह्मणं लोकं च आप्नोति ।
- ४-५ आत्मजिज्ञासा तं ब्रह्मज्ञं सारिष्टतां सरूपतां सलोकतां गमयति ।
- ५ महते भूताय । इदं महद्भूतं ब्रह्म एव ।
नमः पारम्बराय । अयमभ्यासः पारम्बरेण रचितः । तत्र च तेन याम्बानुकरणकृतम् । तस्मात् याम्बानुपि नमः । पारम्बरे ऋचा-मभ्यासार्थान् निरूपयति । तस्मात् स याम्बानु पूज्यतरः ।
- ६ ऋगुपनिषदि (६।३५) ' तच्छुद्धं पुरुषमलिङ्गम् ' इति । ' असीय ' इति अशुद्धम् । ' सीय ' इति शुद्धम् । असीय = म्याम् ।
समाप्तं टिप्पणी ।

परं पङ्क्तिः

अनुपलक्ष्यसूत्रं नि

| | |
|-------------|--|
| ६१४ । १०-११ | इन्द्रे कामा अयमन्त० । |
| ६२७ । १० | अत्र वे सर्वा वसन्ति देवता । |
| ६२७ । १२ | अपरिग्रहे च श्रेष्ठगामाति न्यायः । |
| ६२९ । ८-९ | अपरिग्रहे च पञ्चानगामीति न्यायः । |
| ६३१ । १७-१९ | अणिमा महिमा लपिमा प्राप्ति० । |
| ६३४ । १३ | नोष्टयाग्नेर्नादि इन्द्रो० । |
| ६३६ । ७-८ | आत्मैरेषा रथो भरति० । |
| ६६० । ३ | ऋतुयाजेप विनियोगः । |
| ६७३ । ९ | नान्द्रन्दसि वागुच्चरति । |
| ६७३ । १०-११ | यदेभिरात्मानमच्छादयन्तेवा० । |
| ६७४ । १२-१३ | गायत्रीमेव त्रिपदा सर्वा० । |
| ६७५ । १ | शरा वेषु शूद्र शल्यमिति ह निज्ञायते । |
| ६७५ । १९-२० | जलालयमानोऽसृजदिति च ब्राह्मणम् । |
| ६८२ । २ | शब्दप्रह्लाणि निष्पात पद्महाग्निगन्तनि । |
| ६८२ । ११ | अग्निर्वै देवाना सनाना । |
| ६८४ । ८-९ | आश्विने विनियोगः । |
| ७१५ । ५ | प्रातरनुवाकाश्विनयो शम्यते । |
| ७१८ । १३-१४ | शशब्द वा एष नोदिया० । |
| ७१९ । २-३ | यदस्य दिवि तृतीय तदमावादिन्य इति ब्राह्मणम् । |
| ७३३ । १०-११ | मामिषेणीप्सश्चेऽन्नाद्यनामवर्मणि शय्या । |
| ७३३ । १६ | असे वाजस्य० (अत्र टिप्पणी द्रष्टव्या) |
| ७५० । १ | प्रागुदम्भा बर्हिदिउत्ति । |
| ७५० । ३ | प्राचीन बर्हि स्तृणानि । |
| ७५० । २० | प्राश्चमुद्धरन्ति । |
| ७५५ । ८ | नानग्निरो यज्ञो म्ति । |
| ७६७ । १०-११ | त्रिचिदाज्यस्य । तुभ्यमित्म । |
| ७६९ । २३ | आग्नेया वै प्रयाजा आग्नेया अनुयाजा । |
| ७६९ । २३-२४ | छन्दामि वै प्रयाजाः छन्दाम्यनुमाना । |
| ७७० । १ | ऋतवो वै प्रयाजा पशवोऽनुयाजा (अथवा ऋतवोऽनुयाजा) पशवो वै प्रयाजा पशवोऽनुयाजा (२४) । |

पत्रं पङ्क्तिः

| | |
|-------------|---|
| ७७० । २-३ | प्राणा वै प्रयाजा प्राणा अनुयाजा (२४) । |
| ७७० । ४-५ | आत्मा वै प्रयाजा आत्मा वा अनुयाजा (२६) । |
| ७७३ । ९ | आश्रिकमुत्तमाया चितौ । |
| ७७३ । ११ | द्वादशाप्रीरप्येषु । |
| ७७३ । १३ | आप्रीभिर्हन्त गृह्णाति । |
| ७७६ । १७ | पुरुषानन्तरजन्मेनि हि विज्ञायते । |
| ७८९ । १७ | विकारपक्षेषु तदर्थान्यधातूपादानम् । |
| ८०३ । ४ | सितासिता यद्गुणा । |
| ८०३ । ९-१० | वैदेह्यो नामाग्नि । स क्विल नदीरन्या निर्दवाह नाम् । |
| ८०३ । १५ | पाशा अग्न्या व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमुर्षत । |
| ८०३ । १८ | पूर्वमासीदुरुक्षिरा । |
| ८०८ । १९ | नाश्रद्धानाय हविर्जुषन्ति देव । |
| ८०९ । १ | अश्रद्धाम्नृते दधाच्छ्रद्धा सत्ये प्रजापति । |
| ८२१ । २४-२५ | वान्ति पर्णशुपो वाता ० । |
| ८२२ । २०-२१ | आ रथे वै वाय-योपस्थाने विनियोग । |
| ८२४ । १०-११ | निष्प्रेवल्ये विनियोगात् । |
| ८२६ । २५-२६ | स क्विल पितर प्रजापतिमिदुणा विभ्यन्तमनुशोचन्नरदत्तुद्रस्य रुद्रत्वम् । |
| ८३९ । १३-१४ | विनियोगो महाव्रते । अदित्यं चतुरूपश्चतुस्तनग्रह । तस्य तृतीयमनयर्चा गृह्यते । |
| ८४७ । १२ | प्रातरनुवाकाश्विनयोर्विनियोग । |
| ८५० । १-२ | अववृष्टहोमे प्रागश्वित्तम । |
| ८५१ । १३-१४ | प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्त । तयोपारिष्टादभिषेकस्य जुहुयात् । |
| ८५५ । २ | यद्येन्द्री वैश्वकर्मणी विद्यात्तयैव गृहीयात् । |
| ८५८ । २१-२६ | स यत्साय जुहोति ० । |
| ८५९ । ७-९ | वर्षुतानि विशेषान् सामान्यात्मानि जुहाव ० । |
| ८६७ । १९ | वैश्वदेवे विनियोग । |
| ८७३ । २१ | दर्शपूर्णमासादिषु हविषामभिभर्शने विनियुज्यते । |
| ८८७ । ८ | सोमो नूनमेप तद्देवानामन्नमिति ह विज्ञायते । (' एष सोमो राजा तद्देवानामन्नं त देवा भक्षयन्ति' छा० उ० ५।१०।४) । |

पत्रं पङ्क्तिः

| | |
|-------------|---|
| ८९२ । २० | आज्यहोम । |
| ८०७ । १२-१३ | शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्चेत्येवमाज्य सप्तमसप्तम मरुद्रणा प्रसिद्धा अग्निपुराणे । |
| ८९९ । १२ | आग्निमारते शम्भ्यते । |
| ९०९ । १३ | वैश्वदेवे शम्भ्यते । |
| ९३३ । ४-६ | पण्या म्भन्ति पूर्वा यजति । |
| ९३७ । १ | आग्निमारते विनियोग । |
| ९४० । ७-८ | ता यां प्रत्यसद्वैवतमश्विनाविमे एव ते द्यावापृथिव्यौ । |
| ९४८ । १७-१९ | सविता मूर्धा प्रायच्छत्सोमाय राज्ञे प्रजापतये वेति च त्राक्षणम् । |
| ९५८ । ९ | एष वै विश्वेपा देवाना चक्षु । |
| ९५ । १८-१९ | पाँप्णे हविषि पञ्चमेऽहनि व्यूढे विनियोग । |
| ९६२ । १२ | निष्केवल्ये विनियोग । |
| ९७० । ५ | एक पाद नोन्विदति० । |
| ९७१ । १ | वैश्वदेवे शस्त्रे विनियो । |
| ९७८ । १९-२० | आथर्वणे आत्मन्तुता विनियोग । |
| ९८२ । १९ | प्रउगे ग्रहे विनियोग । |
| ९८६ । ४ ५ | अग्नि पशुरासीत्तमाल्पन्त तेनायजन्त । |
| ९८७ । १५-१६ | सुगा वो देवा ० । |
| १००० । १५ | ॐकारमृते न ह्यर्चयन्ति । |
| १००० । २५ | ॐकार एवे सर्वम् । |
| १०२२ । १-२ | इत् तेऽन्याभिरसमान० । |
| | मुद्रणानन्तरमुत्पद्यमूलम् । |
| ७४३ । १३-१४ | गौणमुख्ययोश्च मुख्ये सप्रत्यय (पा० ८ । ३ । ८२ यात्ररणमहाभाष्ये ' गौणमुख्ययोर्मुख्ये सप्रतिपत्ति ') । ' गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्ये सप्रत्यय ' (पारि० शेषर ३२) । |

शुद्धिपत्रकम् ।



विषयानुक्रमणी ।

| पत्रं | अर्थ | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|------|----------|------------------|----------------------|
| १ । | १ । | १७ | अध्व | आध्व |
| ३ । | २ । | १६ | आग्नि | आग्ना |
| ४ । | १ । | २८ | केषां चि | केषांचि |
| ४ । | २ । | १६ | अग्निर्माले | ' अग्निर्माले ' |
| ४ । | २ । | १७ | आग्निः पूर्वेभि० | ' आग्निः पूर्वेभि० ' |
| ४ । | २ । | २१ | अभि० योपा | ' अभि० योपा ' |
| ४ । | २ । | २४ | समुद्रादूर्भिः | ' समुद्रादूर्भिः ' |
| ४ । | २ । | २८ | इन्द्रं मित्रं० | ' इन्द्रं मित्रं० ' |
| ५ । | १ । | ८ | प्र० वेदसम् | ' प्र० वेदसम् ' |
| ५ । | १ । | १० | दृशाणां | दृशानां |
| ५ । | १ । | १० | मन्त्रानां | मन्त्राणां |
| ५ । | १ । | १७ | वैश्वा० मतौ | ' वैश्वा० मतौ ' |
| ५ । | १ । | २१ | प्र नू महित्वं० | ' प्र नू महित्वं० ' |
| ५ । | २ । | २४ | कृष्णं नियानम् | ' कृष्णं नियानम् ' |
| ६ । | २ । | १८ | यो | ' यो |
| ७ । | १ । | ४ | द्राँत्र्यः | ' द्राँत्र्यः |
| ८ । | २ । | ८ | ध्वरे | ध्वरे ' |
| ९ । | १ । | ५ | पात्वन्वि | पात्वन्ति |
| १० । | १ । | ७ | पृतनाज्य | पृतनाज्य- |
| १० । | १ । | १४ | छा | छा ' |
| १० । | १ । | २८ | मुपहये | मुप हये |
| १० । | १ । | २४ | आसग्ना | असग्ना |
| ११ । | २ । | ८ | ७४३ | ८४३ |
| १२ । | २ । | २१ | एष | एषु |
| १३ । | १ । | १८ | अघ्रा | अघ्रा- |
| १३ । | १ । | २५ | षाद | षाद |

| पत्रं | अर्थ | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|------|----------|------------|-----------|
| १३ । | १ । | २९ | प्रवो | प्र वो |
| १३ । | २ । | १६ | त्स्वमा | त्स्वस्मा |
| १५ । | १ । | १४ | उपह्ये | उप ह्ये |
| १५ । | १ । | २२ | पथ्ना | पथ्या |
| १५ । | १ । | २५ | अनत्त | अनत्तः |
| १५ । | २ । | ३ | द्युस्थान | द्युस्थान |
| १५ । | २ । | ९ | | ... ” |
| १५ । | २ । | १० | कर्मणोः... | कर्मणोः |
| १५ । | २ । | २१ | प्रातर्यु | प्रातर्य |
| १६ । | १ । | १५ | विश्वारू | विश्वा रू |
| १६ । | २ । | २७ | परिवान | परि वाच |
| १६ । | २ । | २८ | उतनो | उत नो |



| पत्रं | पङ्क्तिः-- | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|------------|---------------|----------------|
| ६११ | ८ | भवन्ति | भवन्ति । |
| " | ३० | °यंसतेति | ट. ड. °यंसतेति |
| " | ३१ | व्यानि । स्तो | व्यानि ; मा |
| " | " | °व्यानि~ स्तो | °व्यानि~ मा |
| ६१२ | २३ | रेणो | रेणो° |
| " | " |) |) |
| " | २७ | श्रेष्टे, | श्रेष्टे. |
| ६१३ | २९ | रेणो° | रेणोः |
| ६१४ | ३२ | क्रियते, | क्रियते) |
| ६१५ | २१ | चिद् | चिर्द् |
| " | २६ | ह | हे |
| " | २७ | न | न. |
| ६१६ | ५ | कीळं | ' क्रीळं |
| " | २७ | नाम्ति | नाम्ति. |
| " | ३० |) |) |
| ६१७ | " | २ | ११ |
| " | " | ३ | १२ |
| " | " | ४ | १३ |
| ६१९ | २७ | त्स्°, | त्स्°; |
| ६२० | ६ | न | न |
| " | " | नापि° | नापि° |
| " | ७ | आसति° | आसति° |
| " | १० | द्येते° | द्येते° |
| " | १७ | दिति° | दिति° |
| " | २० | असति° | असति° |
| " | " | गृह्ळ | गृह्ळ |
| " | २७ | ३ | ४ |
| " | २८ | ४ | ५ |
| " | " | ५ | ६ |
| " | २९ | ६ | ७ |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|---------------|-------------------------------------|
| " | " | ७ | ८ |
| " | ३० | ८ | ९ |
| " | ३१ | ९ | १० |
| ६२१ | २६ | त्वा°; म | त्वा° म. |
| ६२३ | २३ | त्वैवं | त्वैवं |
| " | २६ | देवता | ' देवता |
| " | २७ | याश्चं | °याश्चं |
| " | " | मृसंज | संमृज |
| ६२४ | " | र्मादीव्यः | °र्मा दीव्यः |
| ६२६ | १५ | ऐन्द्रै | ऐन्द्रैः |
| " | २६ | कल्पेषु | °कल्पेषु |
| ६२७ | १० | °ताः ' ' अ० | °ताः ' (का० सं० १० । १) । ' अ० |
| ६३१ | १५ | २५ | १५ |
| ६३३ | ४ | हि । ' स | हि ' स |
| " | २९ | प्रकृ°; °त्यु | प्रकृ°; च. °त्यु |
| ६३४ | २७ | आत्मनः | आत्मनः. |
| ६३५ | ९ | रथादिस° | रथादि स° |
| " | १२ | रथादिसा° | रथादि सा° |
| " | २९ | प्र°, ट. | प्र°; ट. |
| " | " | आदित्ता | आदितो |
| ६३७ | २३ | निःश्रेणी | निःश्रेणी°. |
| " | २४ | ठ इ | ठ. ट. |
| " | २५ | सेन | मेन° |
| ६३८ | २६ | वृह | वृह° |
| " | २७ | म्यान° निम्न | म्यानेगित्त्न |
| ६४० | २५ | न स° | न स°. |
| ६४१ | ८ | पायि | पायि- |
| " | १३ | गुणयोगे | गुणयोगे |
| ६४३ | २८ | भेदेह° | भेदे ह° |
| ६४४ | ३ | तत्रत | तत्रैत |

| सं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-----|----------|-------------------|-------------------|
| ६४४ | २३ | नाभेदा | न भेदा |
| ६४५ | २४ | सहे | सहेति |
| " | ३० | कारवत्त्वं | कारवत्त्व° |
| ६४६ | २९ | धावनत्वं | °धावनत्वं |
| ६४७ | १८ | नत्वात् । | नत्वात् |
| " | २४ | संशय. | संशयः. |
| " | २६ | नास्ति. | नास्ति; |
| ६४८ | ३१ | (शेन) | (शेन). |
| ६५१ | ७ | कमदने | कमदन |
| ६५३ | " | मिति ^३ | मिति ^५ |
| " | २१ | रंधा | रंधा |
| " | २९ | ड. भूता | ड. °भूता |
| " | " | च. भूता | च. °भूता |
| ६५४ | २० | वा पुरुष | वापुरुष |
| ६५५ | १ | मेतेना | मेतेना |
| " | " | धीयैत | धीयत |
| " | २ | अथवा देवताः | देवताः |
| ६५७ | ९ | तैत्समा | तत्समा |
| " | २६ | इडा | इडा |
| ६५९ | २० | वरुणे° | वरुणे°. |
| ६६० | २२ | दशतय्यः | दशतय्यः । |
| ६६१ | २५ | दधाते° | °दधाते° |
| " | २७ | स्कर्णे; | स्कर्णे°; |
| ६६४ | २२ | यायेषु | यागेषु |
| ६६५ | ३ | बृहस्पतिना | ब्रह्मणस्पतिना |
| " | २४ | किंच; ७ च. | किंच; च. |
| " | २६ | मदत्ता | मदन्ता |
| ६६६ | २ | निः पी | निः पी° |
| " | २७ | रान | रान् |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|-------------------|-------------------|
| " | २७ | च; हो° | च. हो° |
| " | २८ | वतु ऋ. | वतु ऋ; |
| " | " | ट | ट. |
| " | " | ट. | ठ. |
| " | २९ | मुत् जातम् उत | मुत् मन्य |
| ७३२ | २१ | मन्ये मन्य | रिति ^६ |
| ७३३ | १९ | रिति | रिति |
| " | " | रिति ^६ | देवस्य |
| " | २७ | देवस्य | स्तैस्य° |
| ७३४ | २८ | स्तैन्य. | देवस्य |
| " | " | देनस्य | इत्यत्र |
| " | " | इत्यत्र | राथे° य° |
| ७३६ | २० | राथे° य° | दशा- |
| ७३८ | २८ | दशा | वाहाग्रेयं |
| " | ३० | वोहाग्रेयं | यत् तत् त्व |
| ७४१ | २७ | यत्तत्त्व | पेक्षमाणोप |
| ७४२ | ३ | पेक्षमाण उप | दृच्या |
| " | ९ | दृच्या | एषे |
| ७४४ | १७ | एषे | वा. १ |
| " | २३ | वा ३ | वयं |
| " | २६ | वयं | यानि |
| " | १४ | याति° | यानि |
| ७४९ | २१ | यानि° | वं० तदे |
| " | " | वं तदे | बेल इ° |
| " | २४ | बेल इ° | सामं |
| " | २९ | सामं | द. १ |
| ७४६ | १२ | द. | ति। |
| ७४७ | २९ | ति तत्सुवम् । | दृष्टी |
| ७४८ | १२ | प्रथित्यै | |
| ७५० | | | |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|----------------|-----------------|
| ६६७ | २६ | ख्यास्तु | ख्या म्बु |
| ६६८ | २७ | सोमः | सोमः. |
| ६७१ | २४ | परतौ, | परतौ. |
| ६७३ | २७ | भतीति | भतीति. |
| ६८८ | २८ | रणत्वस्या | रणत्वस्य |
| " | " | रणस्या | रणस्य |
| ६८९ | ६ | प्रपीन | प्रपीने |
| " | ७ | १६ | १७ |
| " | २९ | अङ्का | अङ्को |
| ६९० | ९ | तद्गान् | तद्गान् । |
| ६९१ | २७ | (तथैव) | (तथैव). |
| ६९३ | ६ | १७) | १७) । |
| " | २७ | पादः | पादः. |
| ६९४ | २ | निर्धारणे | निर्धारणे |
| ६९६ | १३ | विांते कुत्स | विति । कुत्स |
| ६९८ | ८ | श्चिकीर्षितस्त | श्चिकीर्षितस्ता |
| ६९९ | २२ | ड नात्मा | ड. नात्मा |
| ७०२ | २९ | प्रविभा° । | प्रविभा°. |
| ७०४ | २८ | । एवा | । एवा |
| ७०७ | ८ | छ° | छा° |
| ७०९ | " | पङ्भि | पङ्भि |
| " | १२ | तदा वृत्ति | तदावृत्ति |
| " | १८ | इरयति | ईरयति । |
| " | २९ | भिसंपति | भिसंप्रति |
| ७११ | " | अन्तं | अन्त |
| ७१३ | ११ | हविः | । रविः |
| ७१४ | " | भावयि | भावयि |
| ७१९ | २६ | ८ | ७ |
| ७१६ | २७ | ६ म | ६ ग |
| ७१९ | २६ | ३ ठ. | ९ ट. |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|--------------|---------------|
| ७६० | १९ | रुय ज्यो° | रुयं ज्यो° |
| ७६१ | १२ |) |) ॥ |
| " | २५ | वा दे°. | वा दे;° |
| ७६२ | २ | ब्रवीमि | ब्रवीमि । |
| ७६५ | २३ | धाददधौत् | धानादधौत् |
| " | " | दानातौ | दादताौ |
| ७६७ | ५ | इनोते | दमक्षोते |
| " | २३ | मध्यस्था° | मध्यस्था°. |
| ७६८ | १६ |) |) । |
| ७६० | २ | माश्रित्य | मनाश्रित्य |
| ७६१ | ४ | मृतौ | वृत्तौ |
| " | २३ | मन्या | त्मन्या |
| ७६२ | २४ | ३ | .३ |
| ७६३ | ८ | शब्दना | शब्देना |
| " | २५ | ड. | ड. |
| ७६४ | ८ | -५२- | । ५२ । |
| ७६५ | २९ | ड. | ड. |
| ७६६ | २८ | प्रज्ञानानि. | प्रज्ञानानि; |
| " | २९ | निर्वक्त°. | निर्वक्त°; |
| ७६७ | २७ | ३ | .३ |
| ७६८ | २४ | तस्यौ | °तस्यौ |
| " | २५ | एकादश° | एकादश°; |
| " | २६ | ता° इ. | ता°. |
| " | २८ | क्रान्ताः | °क्रान्ताः |
| " | " | क्रान्तास्ता | क्रान्तास्ता |
| ७६९ | २९ | ठ. २ | ठ. यत्तो २ य° |
| ७७० | २७ | तत्र | तत्र° |
| ७७१ | १३ | मेवे | मेवे |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|----------------------------|-------------------|
| " | २७ | च; हो° | च. हो° |
| " | २८ | वतु ऋ. | वतु ऋ; |
| " | " | ट | ट. |
| " | २९ | ट. | ठ. |
| ७३२ | २१ | मुत जातम् उत मन्ये मन्य | मुत मन्य |
| ७३३ | १९ | रिति | रिति ^६ |
| " | " | रिति ^६ | रिति |
| ७३४ | २७ | देवस्य | देवस्य |
| " | २८ | स्तस्य. | स्तस्य° |
| " | " | देनस्य | देवस्य |
| ७३६ | २० | । इत्यत्र | इत्यत्र |
| ७३८ | २८ | राथोय° | राथो य° |
| " | ३० | दशा | दशा- |
| ७४१ | २७ | बोहाभ्रयं | बाहाभ्रयं |
| ७४२ | ३ | यत्तत्त्व | यत् तत् त्व |
| " | ५ | पेक्षमाण उप | पेक्षमाणोप |
| ७४४ | १७ | दन्या | दृच्या |
| " | २३ | एपै | एपै |
| " | २६ | वा ३ | वा. ३ |
| ७४५ | १४ | वयं | वयं |
| " | २१ | याति° | याति |
| " | " | यानि° | यानि |
| " | २४ | वं तदे | वं० तदे |
| ७४६ | २५ | बेल इ° | बेल इ° |
| ७४७ | १२ | सामं | सोमं |
| ७४८ | २९ | दृ. | दृ. ९. |
| ७५० | १२ | नि तन्मुग्वम् । | नि । तन्मुग्वम् |
| " | " | पृथिव्यै | पृथिव्यै । |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|---------------|------------|
| ७८६ | २९. | त्मे° | त्मे° |
| " | " | ६ | . ६ |
| ७८७ | २३, | पात्तिः | पात्तिः. |
| ७८८ | १९ | जाषेणः | जोषणः |
| " | २९ | ड | ड. |
| " | २६ | ड | ड. |
| ७९० | २१ | अभीषवो | अभीशवो |
| ७९१ | २९ | शिक्षितो° | शिक्षितो.° |
| ७९२ | १८ | द्वितीयम् । ६ | द्वितीयं ६ |
| ७९३ | ९ | रिषते | रिषते |
| " | ११ | प्रत्या | प्रति आ |
| " | २९ | छ. त. द. | छ. द. |
| ७९४ | " | द | द. |
| ७९६ | १२ | तेऽप | ते प |
| " | २९ | ऊ; | ऊ°; |
| " | " | ऊ. | ऊ°. |
| ७९७ | " | शस्यपादः | शस्य पादः |
| ७९८ | १२ | ति । म | ति म |
| " | २४ | यदूध्वे | यदूध्वे— |
| " | २९ | बूध्वे के | बूध्वेके |
| " | " | दूध्वे के | दूध्वेके |
| ७९९ | २२ | भर्ष्यश्च | भर्ष्यश्च |
| " | " | स्यश्च. | स्यश्च; |
| " | २६ | द | द. |
| " | २९ | माजन्त | माज्यन्त |
| ८०० | २२ | (२४) | २४ |
| ८०१ | ८ | पितुम् | पितुः |
| " | २९ | (२९) | (२९); |
| ८०२ | २ | वितस्ता वि | वितस्तावि |
| " | ९ | स्य । मु | स्य मु |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|------------|------------|
| ७७१ | २६ | भव | भव. |
| ७७२ | २४ | प्राप्त° | प्राप्त°; |
| ७७३ | १७ | धाम | धाम' |
| " | २९ | तय्यादा | तय्यादा° |
| " | २९. | ज. °सौर्यो | ज. सौर्या |
| " | " | च. सौर्या | च. °सौर्या |
| ७७४ | २८ | निरु° | निरु°; |
| ७७६ | १० | सत्त्वा | सत्त्वा |
| " | १६ | भवति | भवति' |
| ७७७ | २७ | बोल्हा | बोल्हा |
| ७७८ | २८ | लुरु.° | लुरु.° |
| " | " | लुरु° | लुरु° |
| " | ३१ | ठ | ट. |
| ७७९ | २६ | इति | इति । |
| ७८१ | २० | उप गम्य | उपगम्य |
| " | ३० | ण्डूकि० | ण्डूकि० |
| " | ३२ | ड | ड. |
| " | " | ३० | ३२ |
| ७८२ | ४ | षा । | वा ' । |
| " | २४ | षौ | षौ |
| ७८४ | २९ | घ. | घ. |
| " | २७ | ङ | ङ. |
| " | २८ | ७ | .७ |
| ७८९ | १९ | धिसि | वि सि |
| " | २२ | रामानूर्ण | रामा तूर्ण |
| " | २६ | ~ नि | ~ नि° |
| " | २७ | १० | . १० |
| ७८६ | २९ | ॥ इति | इति |
| " | २९ | मेवा | मेवा |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|------------|------------|
| ८१९ | २६ | तीति) | तीति) |
| " | २९ | नः | नाः |
| ८२० | ५ | सुपर्ण | सुपर्ण |
| " | ६ | पितुन्वि | पितुन्वि |
| " | " | म आ | मआ |
| " | " | धारा | धारा |
| ८२१ | २० | वाय्वा | वाय्वा |
| " | २५ | ॥ इति | इति |
| ८२२ | २७ | वरुद्° | व रुद्° |
| " | " | वरुद्दः | व रुद्दः |
| ८२५ | १८ | उन्तरस्यां | उत्तरस्यां |
| ८२८ | ६ | त तव | ते तव |
| ८३१ | २४ | दह. | दहं |
| " | २५ | ड | ड' |
| ८३३ | १ | ॥) |) ॥ |
| " | १० |) |) । |
| ८३५ | २९ | °शनिमु° | °शनि मु° |
| " | " | °शनैमु° | °शनै मु° |
| ८३९ | १५ | दम्. उ | दम् उ |
| " | २१ | मतः परं | मतःपरं |
| ८४१ | ४ | यथां | यथा । |
| " | २४ | त्रभवति | त्र भवति |
| ८४२ | २५ | द्यते | द्यते, |
| ८४३ | १ | अमीषा | अमीषा |
| ८४७ | २८ | आं- | आ- |
| ८४९ | १५ | दाद्ददाति | दात् ददाति |
| ८५३ | २ | सतत्वं | सतत्त्वं |
| ८५४ | १८ | बद्ध | बद्धं |
| ८५६ | १५ | मादन्ते | मोदन्ते |
| " | २४ | माघं स | माघं सं |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|------------|------------------|
| ८०२ | ६ | दापआ | दाप आ |
| " | २० | १-२६०॥३-१७ | १ । २६० ॥ ३ । १७ |
| ८०४ | १८ | कर्मणि | कर्मणि |
| " | २६ | हीध्वम् | हीध्वम्, |
| " | " | धयन्ति | धयन्ति. |
| " | २७ | आत्ताः | आत्ताः. |
| ८०६ | १ | बभ्र | बभ्रू |
| ८०७ | ४ | १-२६१॥३-१६ | १ । २६१ ॥ ३ । १६ |
| " | १५ | बहु वच | बहुवच |
| " | १९ | । असौ | असौ |
| " | २२ | खण्डः, | खण्डः; |
| ८०९ | १४ | पुरोऽनु | पुरोनु |
| ८१० | १३ | यन्ती | यन्ती |
| " | १४ | यन्ती | यन्ती |
| ८११ | २४ | इतिः | इहः |
| ८१२ | २७ | वचने | वचने |
| ८१३ | ९ | हरी- | हरी |
| " | २६ | १२ क. | १२ क. |
| ८१४ | ८ | तयोरेपो | तयोरेपा |
| " | १८ | नियच्छानां | नियच्छतां |
| ८१५ | २५ | उशान्यौ | उशान्त्यौ |
| " | २६ | मादिभ्यो | मादिभ्यो |
| " | " | हिभ्यो | हिभ्यो |
| " | २७ | वाभरण्यौ | वाभरण्यौ |
| ८१७ | २३ | वायक्यः | वायक्यः |
| " | २८ | जोष्टी | जोष्टी |
| ८१८ | २६ | विभ्योवभ्य | विभ्यो वभ्य |
| ८१९ | १९ | अशानां | अशानां |
| " | २२ | दुर्नानि | दुर्नानि |

| अं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-----|----------|--------------|-------------|
| ८८५ | २५ | २० | २५ |
| " | २८ | स्वात | म्वा त |
| " | ३२ | २७ | ३२ |
| " | २९ | सोमोमेऽय° | सोमोमे° य |
| ८८६ | ५ | ११ । २ | ८८५ । ८ |
| " | १७ | निति° | निति° । |
| ८८७ | २४ | भक्ष्यत्ये | भक्ष्यत्वे |
| ८८८ | २८ | तेन | तेन० |
| " | ३० | च. सौपल | च. सौपल |
| ८८९ | ३१ | तरे | तरे- |
| ८९० | २५ | विभा० | विभा° |
| " | ३० | च. °धात्यै | च. °धात्यै |
| " | " | त्ये; | त्ये; |
| " | ३२ | म्युप | °स्युप |
| ८९१ | १५ | इहं तु | इहं तुं |
| " | २६ | पठचने | पठचते. |
| ८९२ | २४ | स्तव वि° | स्तव । वि° |
| " | ३१ | गवर्ज | ग. वर्ज |
| ८९४ | १५ | मुप. | मुप- |
| " | २५ | रिति व° | रिति । व° |
| ८९५ | २१ | धा | धात्रा |
| ८९६ | २६ | प्रलु | वलु |
| ८९८ | १७ | घनो | घन्तो |
| ८९९ | २९ | मणि, (म्) | मणि; |
| " | " | मिन्; (म्) | मिन् (म्) |
| " | " | (णे) | (णे). |
| " | ३० | णे. ५ | ७ |
| ९०२ | २४ | निगू ९ | निगू. ९ |
| ९०३ | ११ | ति° ॥ १७ | ति° ॥ १° |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|---------------------|---------------------|
| ८९७ | ८ | वत्तमान | वर्तमान |
| " | २० | पिन् ^० य | पीन् य ^० |
| " | २२ | मस्ति | मस्ति ^० |
| ८९८ | ३ | तत्परं | तत् परं |
| " | ८ | मान । ए५ | मान ए५ |
| ८९४ | ७ | भन्द | भिन्द |
| ८९२ | १४ | वा त्वर | वात्वर |
| ८९६ | ११ | अथ | अत्र |
| " | २४ | हे वाजे | हे वाजे |
| ८९७ | ९ | मिअन | मि अन |
| " | १५ | रत्वमेकं | रत्वमेकं |
| " | १६ | यनर्था | त्यनर्था |
| " | २३ | मे कत्वं | मेकं त्वं |
| ८९८ | २१ | ३४ | ॥ ३४ |
| ८७१ | १८ | आष्ट. आष्ट. | आष्टः आँष्टः |
| " | २७ | आष्टः | प्राष्टः |
| ८७२ | २९ | प्राणान् नने | प्राणान् नने |
| ८७३ | ९ | प्रतिरा | प्र तिरा |
| ८७४ | २५ | त्यृचं | त्यृचं. |
| ८७६ | १४ | स्मद् अघ | स्मद्घ |
| " | १७ | श्रुतः । अ | श्रुतः अ |
| " | २६ | ७ ग. | ७ क. ख. श्रुतः; ग. |
| ८७७ | २ | तत् | तत् |
| " | ३० | पेक्ष्य | पेक्ष्य |
| ८८० | १३ | नन्य | नमन्य |
| " | २० | मिको वार् | मिका वार् |
| ८८२ | ३ | ममाष्टम् | समाष्टम् |
| " | २५ | नाम्नि | नास्ति. |
| ८८३ | २६ | नाम्नि | (८८४ । २) नास्ति |
| ८८४ | २९ | क्रीनः; इति | क्रीनः इति; |

| सं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-----|----------|--------------|--------------|
| ९२१ | २७ | वा ११ | वा. ११ |
| " | २८ | °दङ्गेभेत्य° | °दङ्गेत्य° |
| ९२२ | १० | एकौ | एकौ |
| " | १२ | इति | इति |
| " | १४ | यमि | यमि |
| " | २६ | छ | छ. |
| " | २१ | मुपवि | नुपवि |
| ९२३ | २९ | छ | छ. |
| ९२४ | ३० | ट. न. | ट. |
| ९२८ | २४ | (ट | (ट. |
| ९२९ | १३ | यमिवा | युमिवा |
| " | १८ | महद्भि । | महद्भि |
| " | २८ | रश्मीन् | रश्मीन्. |
| ९३० | २ | मपि च | मपि |
| " | १७ | प्रज्वीमि | मु प्रज्वीमि |
| " | २७ | च | च. |
| " | २८ | ~हर | ~हर° |
| ९३१ | ४ | दोर् वेनाम् | दोर् वेनाम् |
| " | ६ | । म्तम | । तम |
| ९३२ | २७ | दार्प । | दार्प । |
| ९३३ | २९ | दान् | दान्° |
| ९३४ | १८ | संपि द्य | मपिद्व्य |
| ९३६ | २३ | यन्ती ७ | यन्ती. ७ |
| ९३७ | १६ | यद्वा | यद्वा |
| ९३८ | २ | पोषा ए | पोषाए |
| " | " | अभि | अभि |
| ९३९ | २६ | । व्या° | । व्या°. |
| " | २७ | तैयोग | तैशेर |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|--------------|---|
| ९०४ | २८ | णाः पि° यां, | णाः पि° यां; |
| ९०६ | २३ | गम्भारा वि | गम्भीरावि |
| ९०८ | ” | न वान् | नवान् |
| ९०९ | २८ | ड. | ड |
| ९१० | १३ | पावकम् | पावक मृ |
| ” | ३० | इ ज | इ ज. |
| ९११ | २८ | दाशयना° | °दाशयना° |
| ९१३ | ११ | अचिता° | अचितो गतो |
| ” | १४ | परितकम् | परितकनम् |
| ” | २७ | समू | समू° |
| ९१४ | २ | स्यात्सा | स्यात्स |
| ” | ३ | पतनुयात्सं | संतनुयात्प |
| ” | ३० | इति ७ | इति. ७ |
| ” | ” | हविपि च. | हविपि; च. |
| ९१५ | २५ | पया- | पयां- |
| ९१६ | १३ | हरन्तीति | हरन्तीति । |
| ” | २४ | यित् | °यित् |
| ” | ” | यित्° | यित्° |
| ” | २५ | कैत नि | कैतानि |
| ” | २७ | जानाति. जगाम | जानाति जगाम. |
| ९१७ | ” | वृत्तेः. | वृत्तेः व्य°; च. °न्ति ~ व्य° तत्पूर्वकत्वाद् वान्प्रवृत्तेः. |
| ९१८ | १ | श्वाडु | श्वनु |
| ” | २७ | भाष्ये | भाष्ये° पञ्चमाध्याये ३० खण्डः १ ग. घ. वर्जमितरे- पन्डको नास्ति. |
| ९२० | २३ | तेनि बो ये | तेति° बोऽये |
| ” | २८ | दिदिद्दिनः | दिदिद्दि नः |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|-------------------|--------------------------|
| ९५७ | ३ | मूर्धमिति | सूर्यमिति |
| " | १३ | परा | परां |
| ९५८ | ९ | हि । | हि |
| " | २३ | रूपम् | रूपम् । |
| ९५९ | ८ | इयं वै पूषा | ' इयं वै पूषा ' |
| ९६० | २८ | ड | ड. |
| ९६१ | ३ | °ध्यन्दि | °ध्यंदि |
| " | ५ | ध्यन्दि | ध्यंदि |
| " | ६ | स्वप्ने | ' स्वप्ने. |
| " | २६ | ५ पि | ५ पिं |
| ९६२ | ६ | रयनरव | रयनैरव |
| " | २५ | ३ ड. घ. ङ. छ. २१. | क. ख. २ (२१); न. द. २. |
| ९६७ | २७ | वपति° द. | वपति द° |
| ९६९ | १५ | प्रख्यं सुखनि | प्रख्यं सुखनि |
| ९७० | ७ | । | ॥ |
| ९७१ | २६ | यां. वां | यां वां |
| " | २८ | सर्वे; च. देवाशु | सर्वे च देवाः शु |
| ९७२ | १ | पृथिन्या | पृथिन्याः |
| " | २१ | भेते माध्य | सने माध्य |
| " | २५ | °ग्नीवृष | °ग्नी वृष |
| " | २८ | निरुक्ताप्ये | निरुक्तभाप्ये |
| ९७३ | ५ | प्रवर्ग्येवि | प्रवर्ग्ये वि |
| " | २८ | वृ० | वृ० |
| ९७४ | ६ | दध्यङ्प्र | दध्यङ् प्र |
| " | २८ | वाहु | वा हु |
| " | " | कवि | कवि— |
| " | २९ | ऐक° | ऐ क° |
| " | " | मृताः | मृताः° |
| ९७५ | २ | मुञ्चानि | मुञ्चति । |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् - |
|-------|----------|---------------------|---|
| ९४० | २ | दकेन सर्व | दकेन |
| " | ३ | प्रोति । | प्रोति सर्वम् । |
| " | ३० | °स्तयो.° | °स्तयोः° इ. क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'सर्वम्' नास्ति; च. सर्वम्. |
| ९४१ | १३ | समाने | समाने । |
| " | १५ | रूपाणि | रूपाणि । |
| " | २६ | ट | ट. |
| ९४४ | २९ | तौ श्विनौ | तौऽश्विनौ |
| ९४६ | २७ | ली. | लीं. |
| " | २८ | ण्येभि | ण्येभिः |
| ९४७ | २७ | ग. ज. | ग. ज. ठ. ड. |
| " | २७-२८ | ; ठ ड. 'प्याण्येभि° | . |
| " | २९ | ४ | .४ |
| ९४८ | ६ | कुरुष्वेति | कुरुष्वेति |
| " | १६ | वा' | वां' |
| " | २८ | हिंसायो | हिंसायो |
| ९४९ | १८ | धनवति | धनवति |
| " | २७ | भूनि. | भूतिः. |
| ९५० | ५ | मु | मुं |
| " | १७ | यर्मा | यर्मां |
| ९५१ | ४ | त्तम | त्तस |
| " | २३ | ननाश । | ननाश |
| " | २७ | (तद्र) | (तद्र); |
| " | २८ | भाविष्यं | भाविष्यं |
| ९५४ | १६ | अनुप्रया | अनु प्रया |
| ९५९ | ५ | नां । गृह | ना गृह |
| " | ६ | हभन्य | अहन्य |
| " | " | पूतन् | पूतन् |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|--------------------|--|
| ९८३ | २६ | श्चरवो | श्चरवो |
| " | २७ | द्दर्शन | द्दर्शनं |
| ९८७ | ३० | यूयं; च. यूयं | यूयं; च. यूयं |
| ९८८ | २४ | ड. वति | ट. °वति |
| " | २९ | °यन्त | °गमयन्त |
| ९९२ | १ | दाज्यज्यम् । | दाज्यम् । |
| " | ८ | साति+पु | सातिपु + |
| " | " | मुपन्त | मुपन्त |
| " | १८ | + °ति | + ड. °ति |
| ९९३ | १४ | तदय | तदर्थ |
| " | २८ | नियत्ता | नियताः |
| ९९४ | ९ | इति । (ऋ० | (ऋ० |
| " | ६ |) । |) इति । |
| " | ८ | श्च नेश | श्चनेश |
| " | १० | हो । नहि | हो नहि |
| ९९६ | ९ | ममद्वृसत | ममंसत |
| " | २८ | रश्मिः° | रश्मि° |
| ९९७ | १८ | आविवेश | आ विवेश |
| " | २८ | निरे ॥ | निरे (य० वा० सं० १७ । ६६) ॥ |
| ९९८ | ९ | कसमानि | कतमानि |
| ९९९ | १८ | प्रवदन्त्याचा | प्रवदन्त्याचा |
| " | २९ | ॥ ९ ^३ ॥ | ॥ ९ ^४ ॥ |
| " | ३० | ३ | ३ ग. ज. प्र. ट. ठ. ड. °दत्याचा° . ४ |
| १००० | १९ | अक्षरम् । ॐ | अक्षरम् ॐ |
| १००१ | २९ | इति । प्रान्ते | इति प्रान्ते |
| १००२ | २९ | २ ड. | २ क. ख. वाञ्छयो; ड. |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|-----------------|--|
| ९७५ | १९ | गच्छन्ति | गच्छन्ति' |
| " | २६ | छ | छ. |
| " | २८ | १२ | ११ |
| " | २९ | अभि °न्द्रं | अभि° न्द्रं |
| ९७६ | १ | ७६ | ९७६ |
| " | २० | —इत्यत्र | इत्यत्र |
| " | ३२ | प्वको | प्वङ्को |
| ९७७ | २६ | गिर इति कू | गिर इति । कू |
| ९७८ | ३ | ऋषिर्द | ऋषिर्द |
| " | १३ | विद्यासप्त | विद्या सप्त |
| ९८३ | १ | °न्तः । म | °न्तः म |
| " | १२ | यत् | यत |
| " | २६ | सन्तीति | सन्तीति । |
| " | ३० | छन्दस्ये | छन्दस्ये |
| " | " | तच्छन्दसमयेष्व° | तच्छन्दसाम्येष्वलम् |
| ९८४ | ५ | °दलं कर्म | °दलं कर्म |
| " | २३ | ग. °यामेति | ग. °यामेति ३८ |
| " | २४ | सर्वस्यम° | सर्वस्य म° |
| " | " | रणस्थाने | रणस्य स्थाने |
| " | २५ | मेव; | मेव । |
| " | " | लिख्यते. वयं | लिख्यते । ' वयं |
| " | ३३ | मध्यमः । | मध्यमः ' । इदं सर्वं सायण- भाष्यम्. |
| " | ५ | सूक्तं | सूक्तं ' |
| " | ८ | मंजिनं | मंजिनं |
| " | २० | कर्माणि उ | कर्माणि० उ |
| " | " |] किंच |] °किंच |
| " | २६ | ट ट | ट. ट. |
| " | " |] |]. |
| ९८६ | " | नेतित्यत्र । | नेति त्यत्र |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् । | शुद्धम् |
|-------|----------|--------------|--------------|
| १०१० | २८ | तेन° | तेन पु° |
| १०१२ | २३ | २४ द. | २४; द. |
| " | २५ | २५ ब्रह्मा | २५ । ब्रह्मा |
| १०१३ | २९ | २७ द. | २७; द. |
| १०१५ | २३ | ३० द. | ३०; द. |
| " | " | (३१) | (३१); |
| " | २४ | ३१ द. | ३१; द. |
| १०१६ | २१ | ताः २ | ताः . २ |
| " | २३ | एतस्मिन्ति. | एतस्मिन्ति°. |
| १०१७ | ६ | प्राञ्चयति । | प्राञ्चयति |
| " | ७ | तो मर्त्य | तोऽमर्त्य |
| १०१८ | १७ | मंसन्ते | मंसते |
| " | २४ | चिरंजी° | चिरं जी° |
| १०१९ | १७ | न्तरिक्षा | न्तारिक्षा |
| " | २१ | < (| २८ (|
| " | २३ | सुपर्णा° | सुपर्णा |
| " | २४ | सुपर्ण° | सुपर्णा; |
| " | २७ | त. द | त. द. |
| १०२१ | ५ | तेज. प्रभं | तेजःप्रभं |
| " | २५ | जातवेसे | जातवेदसे |
| " | " | सुन° | सुन° |
| " | २९ | ४६ द. | ४६; द. |
| १०२२ | १ | समनं | समान |
| " | २ | इदं— | इदं |
| " | १३ | ञ्छत° | ञ्छत° |
| " | १६ | शतमेन | शतमेन |
| १०२३ | ६ | ब्रह्मशुक्ल | ब्रह्म शुक्ल |
| " | १० | द्रोणभोक्तं | द्रोणभोक्तं |
| " | १८ | शृङ्खला | शृङ्खला |
| " | " | शृङ्खला | शृङ्खला |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|--|---|
| १००२ | २५ | वाक्शरं च भ | वाक्शरं म |
| " | २६ | भ्यूहं | भ्यूहं |
| १००३ | १७ | इति (| (|
| " | " |) । |) इति |
| " | २३ | ज्ञानयोगे | ज्ञाननियोगे |
| " | २५ | स्तौति । | स्तौति |
| १००४ | २२ | चे । दृश्यन्ते ते | चे दृश्यन्ते । ते |
| १००५ | २७ | श्वानदोद्देशे | श्वानेदोद्देश |
| " | " | तीयाद्य | तीत्याद्य |
| " | २८ | च. | ; च. |
| १००६ | ९ | ॥ १३ ॥ | ॥ १३ ॥ |
| " | ११ | वाँसिनो | वाँसिनो |
| " | १२ | वृत्तौ | वृत्तौ |
| " | १४ | निरुक्त | निरुक्त |
| " | १८ | इति | ईति |
| " | २२ | २ ट. | २ क. ख. वर्जमितरेष्वङ्को नास्ति ३ ट. |
| " | २३ | समाप्त क. ख. वर्ज- मितरेष्वङ्को नास्ति. ४ | समाप्त . ५ |
| " | २४ | ५ | ६ |
| १००७ | १२ | इति स | इति । स |
| " | १३ | न्यम्या | न्यम्मा |
| " | २६ | अह° ७ | अह.° ७ |
| १००८ | २८ | त. न. | त. |
| १००९ | १६ | वपापन्वा | वपा प |
| " | १८ | व्यष्टकपा | व्यष्ट वपा |
| " | " | द्वादशकपा | द्वादश वपा |
| १०१० | १ | स्मात्पान्म | स्मात्पापान्म |
| " | २५ | १ क. ख. | १ क. ख. स्मात्पापान्म महा° |
| " | " | घ. त. ट. | घ. द. |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|-------------|----------------|
| ९ | ३ | मनुष्याणाम् | मनुष्याणाम् ' |
| , | ५ | अग्नि | 'अग्नि |
| " | " | देवता. | देवताः' |
| " | " | स० | सं० |
| " | ६ | अग्नि | 'अग्नि |
| " | ७ | देवता | देवता' |
| १० | ११ | क्वचित् नतु | =न तु क्वचित्= |
| " | १२ | विस्तृतः | =विस्तृतः |
| " | १३ | स । | । |
| " | १६ | पितरः तथा | पितरः |
| ११ | १२ | अगत | 'अगत |
| " | १४ | भवति | भवति ' |
| " | २३ | ऋषभो | 'ऋषभो |
| " | " | सादयति | सादयति' |
| " | २५ | प्रजापयते | 'प्रजापतये |
| " | २६ | जुहोति । | जुहोति' |
| " | २७ |)) |) । |
| " | ३० | संस्कार | 'संस्कार |
| " | " | श्रुतेः | श्रुतेः ' |
| १२ | ५ | नैष्टिको | 'नैष्टिको |
| " | ६ | विमोक्षात् | विमोक्षात् ' |
| " | " | षेद | 'वेद |
| " | ७ | उदाहृतः | उदाहृत. ' |
| १३ | " | अश्वः | 'अश्व. |
| " | " | मण्डूकाः | मण्डूकाः ' |
| " | < | असा | 'असाः |
| " | " | रथः | रथः ' |
| " | ९ | अथा | 'अथा |
| " | " | द्वंद्वानि | द्वंद्वानि ' |
| " | १० | भाति | भाति । |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|--------------|----------------|
| १०२३ | १९ | शङ्खलानास्ति | शृङ्खला नास्ति |

टिप्पणी ।

| | | | |
|---|----|-----------|--------------------|
| १ | ६ | शास्त्रेण | शास्त्रेण । |
| " | ९ | तानि | तानि । |
| २ | १४ | येन | ' येन ' |
| " | " | सूर्य | 'सूर्य |
| " | " | यजेत | यजेत ' |
| ३ | २१ | येषाम् | विद्यते येषां तानि |
| ४ | ९ | । इति | इति |
| " | २२ | क्षुत्वा | 'क्षुत्वा |
| " | २३ | जपेत् | जपेत् ' |
| " | २९ | = ईष्टे | ईष्टे |
| ५ | ६ | आख्या | आख्या |
| " | १५ | हं | ह |
| ६ | २४ | स = | म + |
| " | १३ | उद्यतमा | उद्यतमा । |
| " | २० | यदि | 'यदि |
| " | २१ | इति | 'इति |
| ७ | १५ | विमानम् । | विमानम् |
| " | २५ | प्रमादान् | प्रमादान् |
| " | २७ | अग्निना | आग्निना |
| ८ | १८ | किं | 'किं |
| " | १९ | विनामहः | विनामहः' |
| " | २५ | यज्ञो | ' यज्ञो ' |
| " | २६ | प्रनापतिः | प्रनापतिः' |
| " | " | नद् | ' नद् |
| " | २७ | प्रनापतिः | प्रनापतिः' |
| " | २८ | प्रनापतिः | प्रना-पतिः |
| " | ३१ | अग्नि | ' अग्नि |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|-------------|----------------|
| ९ | ३ | मनुष्याणाम् | मनुष्याणाम् ' |
| १० | ५ | अग्नि | 'अग्नि |
| ११ | ७ | देवताः | देवताः' |
| १२ | ११ | स० | सं० |
| १३ | १३ | अग्नि | 'अग्नि |
| १४ | १५ | देवता | देवता' |
| १० | ११ | क्वचित् नतु | =न तु क्वचित्= |
| ११ | १२ | विस्तृतः | =विस्तृतः |
| १२ | १३ | स । | । |
| १३ | १६ | पितरः नथा | पितरः |
| ११ | १२ | अगत | 'अगत |
| १२ | १४ | भवति | भवति ' |
| १३ | २३ | ऋषभो | 'ऋषभो |
| १४ | ११ | सादयति | सादयति' |
| १५ | २५ | प्रजापद्यते | 'प्रजापतये |
| १६ | २६ | जुहोति । | जुहोति' |
| १७ | २७ |)) |) । |
| १८ | ३० | संस्कार | 'संस्कार |
| १९ | ११ | श्रुतेः | श्रुतेः ' |
| २० | ५ | नैष्टिको | 'नैष्टिको |
| २१ | ६ | विमोक्षात् | विमोक्षान् ' |
| २२ | ११ | वेद | ' वेद |
| २३ | ७ | उदाहृतः | उदाहृत. ' |
| २४ | ११ | अश्वः | 'अश्वः |
| २५ | ११ | मण्डूकाः | मण्डूकाः ' |
| २६ | ८ | अक्षा | 'अक्षाः |
| २७ | ११ | रथः | रथः ' |
| २८ | ९ | अथा | 'अथा |
| २९ | १ | द्वंद्वानि | द्वंद्वानि ' |
| ३० | १० | भाति | भाति । |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|---------------|--------------|
| १३ | १६ | (देवता) | (देवता—) |
| " | २२ | न ह्रिष्टम् | ह्रिष्टम् |
| " | २६ | न शब्दो | 'न' शब्दो |
| १४ | ९ | इत्यन्वय | इत्यन्वयः । |
| " | २४ | यावदवधारणे | 'यावदवधारणे' |
| १५ | २६ | ३ | ४ |
| " | " | १००७ अत्र | अत्र |
| " | २८ | (१८) | (१८) । |
| १६ | ८ | वानय स्यान् । | वाक्यम् । |
| " | १० | बहो | 'बहो |
| " | ११ | बहो | बहो ' |
| " | १८ | द्यौस्ते | 'द्यौस्ते |
| " | १९ | पठति | पठति ' |
| " | २९ | हरेत् | हरेत् ' |
| १७ | ५ | नलोप | 'नलोपः |
| " | " | न्तस्य | न्तस्य ' |
| १९ | १७ | र्थान् ' | र्थान् ' |
| " | २२ | प्रलये | । प्रलये |
| २० | ४ | योगेन । | योगेन |
| " | " | तत | तत । |
| " | " | त्मन. | त्मनः । |
| " | ६ | ४ | ४-५ |
| " | १० | तत् | । तत् |
| २१ | ३ | १ | १५ |
| " | ९ | इति | 'इति' |
| " | " | योगान् । | योगात् |
| " | १२ | अर्था । | अर्था |
| " | " | मनुष्याणाम् । | मनुष्याणाम् |
| " | १३ | इति | इति । |
| " | १४ | हृदयने । | हृदयने |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|-------------|-----------------|
| २१ | १४ | तथा | । तथा |
| " | १६ | अरोपयेत् | आरोपयेत् |
| २२ | ८ | शरीरे | शरीरे स्वशरीरे |
| " | २४ | तदनु | । तदनु |
| २४ | ९ | वशा स्त्री | १० ' वशा स्त्री |
| " | " |) वशा । |) । वशा |
| " | १० | च | च ' |
| " | १६ | तथाऽपि | तथापि |
| २८ | २१ | यज्ञम् | यज्ञम्, |
| २९ | १७ | अनियमः | अनियमः । |
| " | १९ | = को | । को |
| ३० | ३ | तत्= | तन् |
| " | - ४ | इति | इति न |
| " | ६ | अन्यत् | अन्यत् कारणम् |
| " | ७ | सति | सति । |
| " | १४ | एके | एकं |
| ३२ | २० | विकल्पते (| विकल्पते |
| " | " | स विकल्पं | विकल्पं |
| " | २१ | । अयमर्थः | अयमर्थः |
| " | , | वदति) | वदति |
| ३३ | ९. | (भावना | भावना |
| " | " |) स | । |
| " | ९ | शक्तिम् । | शक्तिः |
| " | २९ | भ्युक्तम् । | भ्युक्तम् |
| " | " | कतमच्च नाह | कतमच्चन।ह |
| ३४ | २२ | सह स्थानेन | सहस्थानेन |
| " | ३१ | संदेहा | संदेहाः ' |
| ३९ | ९ | प्यम् | प्यञ् |
| " | ६ | यादव | यावद् |
| " | १४ | दधते, | दधते |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|-----------|-------------------|
| ३६ | ६ | (१०) | (१०) । |
| " | २६ | = | (६४८ । १) = |
| ३७ | १२ | नामानि | नामानि । |
| ३८ | ११ | , यत्र | यत्र |
| " | २५ | < | ७ |
| " | २८ | लोद् प्र | लोद्प्र |
| ३९ | ३ | < | ७ |
| " | < | ११-१२ यदि | यदि |
| " | १० | १४ | १३ |
| " | ११ | २१ | २० |
| " | १५ | १८-१९ | १७-१८ |
| " | २६ | रथस्य । | रथस्य |
| ४२ | ४ | वर्तमानां | वर्तमानां देवताम् |
| " | " | एवम् | एवं ते |
| ४३ | ९ | येषु | येषु मन्त्रेषु |
| ४६ | ४ | २२९ । २ | ७२९ । ५ |
| " | ६ | परित | परितः |
| " | " | (= भव) | = भव |
| " | १३ | ' दर्श | १३ — १४ ' दर्श |
| " | १४ | आन्वा | आन्वा |
| ४७ | १६ | गीयते | गीयते । |
| ५० | २३ | यश्च । | यः । |
| ५१ | ४ | १६ | १५ |
| " | ९ | — शठशो | शठशो |
| ५२ | ३ | १३ | १२ १३ |
| ५३ | " | वायुना च | वायुना |
| " | ९ | उक्ताः । | उक्ताः |
| " | ११ | पृथिवी. | पृथिवी— |
| " | १० | (म०) | (म०) |
| ५५ | २० | पङ्क्तिः | पङ्क्तिः |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|-----------------|-------------------|
| ६० | ३ | ग्रन्थोः | ग्रन्थो |
| " | ४ | विदुस्ते । | विदुस्ते |
| " | १५ | मन्यमाना गा | मन्यमानागा |
| " | १७ | यगांस्तत्रे | गयांस्तत्रे |
| ६१ | १६ | चतुष्पाद् | चतुष्पाद् |
| ६३ | १२ | पिपीलिकामध्या | पिपीलिकमध्या |
| " | २५ | । (| (|
| ६५ | ११ | शब्देन । | शब्देन ' |
| " | १८ | विशे षणैः | विशेषणैः |
| ६६ | ४ | २२ | २३ |
| ६७ | ५ | १८ | १४ |
| " | १२ | पद्धतौ ' | पद्धतौ ' । |
| " | १५ | २२) | २२) । |
| " | १९ | च स्थानं | च कर्म |
| ६९ | ५ | कर्तव्यरूपे | कर्तव्यरूपे । |
| ७१ | १० | एष | एषं |
| " | १६ | स्तुत्या | स्तुत्या |
| " | २० | इग्निफर् | इग्निफर् |
| ७२ | ५ | अपत्यं- | अपत्यं |
| " | १० | यज्ञाः ' | यज्ञाः |
| " | ११ | इत्यादि | इत्यादि ' |
| ७३ | १३ | २३ ' अग्निः | ' अग्निः |
| ८० | ३ | इतरयोः | इतरयोः इतराभ्यां |
| " | ८ | २० | २०-२२ |
| " | २४ | ध्याहरेण (३) या | ध्याहारेण (३) या- |
| ८२ | १८ | शंभामो दे | शंभामोदै |
| " | २१ | " | " |
| " | ३१ |) ॥ (| ॥ |
| ८३ | ३ | प्रनापनिः | प्रनापतिः० |
| " | ४ | मिद्वग | मिन्द्रग |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|-----------|----------------------------|
| ८३ | १ | भजत् । अ | भजत्' (ए० ब्रा० १२।२) । 'अ |
| ८४ | ११ | नुचरः । | नुचरः |
| " | १२ |) |) । |
| " | २१ | पद्यत ' । | पद्यत ' |
| ८५ | २३ |) |) । |
| " | २५ |) । |) |
| ८६ | २७ | । (| (|
| " | २८ | । सौर्य | सौर्य |
| " | ३० |) ॥ (| ॥ |
| ८९ | ८ | ८ | ९ |
| " | १२ | मध्यम | मध्यमे |
| " | १४ | अथवा | अथवा । |
| ९० | २१ |) ॥ (| ॥ |
| ९१ | १५ | अग्नि | । अग्नि |
| " | २५ |) |) — |
| ९२ | १५ | संहिता पा | संहितापा |
| ९४ | २१ | ११ | ९ |
| ९७ | १ | अन्त म्य. | अन्तम्यः |
| " | ९ | । इत्यनेन | इत्यनेन |
| " | १७ | १७ | १८ |
| " | १९ | , | । |
| " | २० | (प्रति | । प्रति |
| ९८ | २१ | श्वानरीय | = श्वानर |
| ९९ | ३ | हेतव = | (हेतवः) |
| " | " | ऽधिकाः = | अधिका. |
| " | २२ | २२-२३ | २३ |
| " | " | = (| (. |
| १०० | १६ | ८।९ | ८-९ |
| " | २२ | = त्रि | = "त्रि |
| " | २३ | इति | " इति |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|------------------|-----------------------|
| १०० | २७ | ‘ अपि ’ | ‘ अपि ’ (७२६ । २६) |
| ” | २९ | दुलाच | दुला च |
| ” | ३० |) ॥ | ॥ |
| १०१ | २९ | घा० | त्रा० भाष्ये |
| ” | ३० | द्रवि | ७ द्रवि |
| ” | ३ | ६ पो | पो |
| १०२ | ६ | निरुक्तम् ९१ | ९१ |
| ” | ७ | मितिशब्दात् | मिति शब्दात् |
| ” | १० | ‘ इन्द्रम्य ’ | ७३० । < ‘ इन्द्रत्य ’ |
| ” | १३ | < | ७२९ । < |
| ” | १४ | ≡ | (१०) = |
| ” | १६ | ‘ तेषा | तेषां |
| ” | १९ | १० तत्पात्रस्य | ९ तुरीयपात्रस्य |
| ” | ” | एतमेव | ७२८ । < एतमेव |
| ” | २० | मन्त्रः | स मन्त्रः |
| ” | ” | वाक्यरचना | विग्रहः |
| ” | २१ | ह्रिष्टा | ह्रिष्टः |
| ” | २२ | पठति | पठति (७२६ । २७) |
| ” | २३ | ऋगन्तः | ऋगन्तः (७२९ । १०) |
| ” | २४ | ‘ तथा | “ ‘ तथा |
| ” | ” | इति | इति ” |
| १०३ | ९ | मांसैः | मांसैः |
| ” | २१ | ४-६ | ७२९ । <-१० |
| ” | २६ | ६ | ७३० । ६ |
| १०४ | ६ | अत्र ऋत्पाठोऽना- | । |
| ” | ” | वश्यकः । | |
| ” | ६ | ७-< | ७ शेषः |
| ” | ” |) शेषः |) |
| ” | १० | ‘ इदं | । ‘ इदं |
| ” | १२ |) |) । |
| ” | १४ |) |) । |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|---------------------|---------------------|
| १०४ | १६ | १-४ | १-६ |
| " | २० | कर्माणिक | कर्माणि क |
| " | " | तस्य | तस्या |
| " | २२ | इन्द्र स्तुति | इन्द्रस्तुति |
| १०५ | < | ७३२।२ | ७३६।११-१२ |
| " | १६ | १२ | १३ |
| १०७ | २२ | अभित्यं | अभि त्यं |
| ११० | ६ | < | < इति |
| " | " | ४ | ४ भाष्ये |
| " | २७ | प्रवृत्तः | प्रवृत्त |
| ११२ | ५ | यजति क | यजतिक |
| ११३ | १३ | ३३ | ३२ |
| ११४ | ७-< | इत्यत्र , नापि (७४५ | |
| " | " | । ५) इत्यत्र । | इत्यत्र |
| " | १६ | ४ | ३-४ |
| ११५ | ९ | ' हृदयस्यावद्यति ' | हृदयस्यावद्यति |
| ११७ | < | ओपधी | ओपधि |
| " | १३ | क्यम् । | क्यम् |
| ११८ | ७ | ' इदमपि | ' इदमपि ' |
| ११९ | ३-४ | । न सा० द्वारेण । | । |
| " | १८ | पुरणः | पुरणः (१८-१९) |
| १२० | १७ | मनुष्य | ' मनुष्य |
| " | " | वरुणा । | वरुणो |
| " | १८ | णम् | णम् ' |
| " | २९ |) । |) |
| १२२ | ७ | १५ | ४-५ |
| " | १५ | यो दशानि | दशानि |
| " | " | इत्यत्र | इत्यत्र 'स्र'न्याने |
| " | २६ | यस्य | यं तस्य |
| १२३ | ३४ | विशिष्टं दं | विशिष्टदे |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|----------------------|--------------------------|
| १२४ | १३ | किंरूपम् | किं रूपम् |
| १२५ | ६ | पुरोरुग्य | पुरोरुक् य |
| " | ९ |) । |) |
| " | २३ | १६ | १७ |
| " | २७ | वश्यं केवलं निरूपणम् | वश्यम् |
| १२७ | १४ | प्रजायत | प्रयाजा |
| " | २१ |) |) । |
| " | २८ | इत्याग्निधः | इत्याग्निधिः |
| १२८ | ४ | प्रजाया | प्रयाजा |
| " | २० | दृष्टे | दृष्टे (ऋ०सं० १०।५।१८-९) |
| " | २२ | भीषाया | भीषापा |
| १२९ | ९ | द्वे ऋचौ० वृहदे० | वृहदे० |
| " | २६ | १६ | ११ |
| १३० | ३ | तत्र | । तत्र |
| " | ५ | १४३ | १४२ |
| १३१ | २८ |) । |) । |
| १३२ | २६ | प्रचिप्र | प्र चिप्र |
| " | २७ | अत्राप्य | अत्रा |
| " | २९ | प्रचित्रं | प्र चित्रं |
| १३३ | ११ | माप्रीऋक् | माप्री ऋक् |
| " | १६ | समैकमत्येनानु | सम् ऐकमत्येन अनु |
| १३४ | ५ | वार्वारि | वार वारि |
| " | ८ |) |) । |
| " | १२ | गमे | गमेः |
| " | १७ | इत्यत्र) |) इत्यत्र |
| १३६ | ४ | वत्साङ्गं सत्पा | वन् साङ्गं सन् पा |
| १३७ | ३ | मूले वा | मूले ' वा ' |
| " | ७ | वर्ण | व ऋण |
| " | १२ | टेऽम्माद्या | टे ' अस्मान् ' ना |
| " | १६ | वारं वार | वारंवार |

| पत्रं | व्यक्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् : |
|-------|----------|-----------------|------------------|
| १३७ | १६ | च्छदद्वय | च्छदत् ल्व |
| " | २० | मुञ्जादि | मुञ्जात् इ |
| १३९ | २५ | १२) । | । १२) |
| १४२ | ६ | अ ' अभी | अत्र ' अभी |
| " | २४ | प्रत्याग | प्रति आग |
| " | २६ | प्रत्याकृ | प्रति आकृ |
| " | २८ | य- | व |
| " | २९ | वानान्पक्षान् | वानान् पक्षान् अ |
| " | " | ऋषि | । ऋषि |
| " | " | सुपर्ण | सुपर्ण- |
| १४३ | १२ | तत्रास्म | तत्रास्म |
| " | २९ | अश्वानामश्वा | अश्वानाम् अश्वा |
| १४४ | २० | एको वृत्राणि | एको वृत्राणि |
| १४५ | ३ | कमलं | कम् अलं |
| " | २१ | मन्त्र्य | मन्त्र्य । |
| " | २४ | संस्कार | संस्कारे |
| १४६ | ३ | वृषण | वर्षण |
| " | ८ | अश्वो | अश्वः । |
| " | १० | २६ | २० |
| १४७ | १५ | सुभगं वा | सुभगं |
| " | १६ | स्वादिनः | स्वादिनः |
| " | ३० | उयन्त | उयन्ते |
| १४८ | ७ | आज्वन्त | आज्वन्ते |
| १५१ | १० | इदं प्रामादिकम् | प्रामादिकः |
| १५२ | २२ | रुणात् | रुणौ अ |
| " | " | मादि | मै इ |
| १५४ | ३ | म्वालि | म्वाल् नि |
| " | १९ |) । |) |
| १५६ | ४ | उर्कं | उर्कं त |
| " | १७ | वायू | क्युः |
| " | २४ | सोऽन्न | मः अन्न |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|----------------|--------------------|
| १५७ | २७ | २३ | २२ |
| १५८ | ३ | १३ | ८२३ । १३ |
| " | ५ | मूले | मूले (८२३ । १४) |
| " | ७ | सन्नै | सन् ऐ |
| " | " | कर्षा | + कर्षा = |
| " | १६ | अथैष | अथैष एव |
| " | २८ | द्रो | द्रः |
| १५९ | ५ | रो | रः |
| १६० | १३ | द्युत् = | द्यु + त् = |
| " | १६ |) |) । |
| १६२ | २७ | ८ | ८-१९ |
| १६३ | ३ | जनान्तेभ्यो | जनान् तेभ्यो |
| " | " | ऐकदेशिकः | ऐकदेशिकः (११-१२) |
| " | १२ | न | (८३५ । २१) न |
| १६५ | ७ |) । |) |
| १६६ | ८ | रचना | रचना । |
| " | १९ | अतोऽ | अतः अ |
| १६९ | ११ | चारुताऽ | चारुता अ |
| " | १३ | अनङ् | अनङ् |
| " | ३० | हविरववृष्टम् । | हविः भववृष्टम् |
| १७० | २६ | मन्तः प्र | मन्त प्र |
| १७१ | ३ | पान्त्य | पान् त्य |
| " | २५ | तेषु | = तेषु |
| " | " | भूतेष्वि | भूतेषु । |
| " | २६ | दन्त | दन्ते । |
| १७४ | १९० | सैर्वा | सैवा |
| " | २६ | शाह् | शाहा |
| १७५ | ३ | शाह् | शाहा |
| " | ६ | १ । | १ |
| " | २३ |) |) । |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|---------------|-----------------------|
| १७६ | १८ | इतः | इतरः |
| " | " | घोऽ | घः अ |
| " | २९ | केच | के च |
| १७७ | ६ | । इति | इति |
| १७८ | ७ | समानप | समानं प |
| " | १८ | ८-६० | ८६० |
| " | २० | अर | अर् |
| १७९ | " |) । |) |
| " | २७ | नत्व | नतु अ |
| १८० | ३ | मनुष्यः | मनुष्याः |
| " | " | रूपमेतृ | रूपम् एतृ |
| " | " | नत्वितृ | नतु इतृ |
| " | २९ | प्रोवाच | ०० प्रोवाच |
| १८१ | २२ | सर्वाणि | ' सर्वाणि |
| " | १६ | १५ | । १५ |
| " | २१ | व्यक्ते सर्वे | ' व्यक्तेः सर्वे ' |
| १८२ | १२ |) |) = |
| १८३ | ६ | इति | ' इति |
| " | " | षाशब्दः | ' षा ' शब्दः |
| १८६ | २० | सोमोप | ' सोमोप |
| " | ३१ | ण पूर्वम् | णं पूर्वम् (८८८।१८) |
| १८८ | ३० | सं २ | सं० २ |
| १८९ | ४ | सप्तमस | सप्त सप्त |
| " | ८ | सप्तम्वन्धाः | सप्त सप्त |
| १९० | १६ | १० | ९०२।१० |
| " | १८ | १५ | ९०१।१५ |
| १९१ | ९ | द्विपर्यय- | त् ' द्विपर्ययः ' |
| " | १३ | श्चि | ' श्चि |
| " | १४ | एव | ' एव ' |
| " | " | आधा | आधा |

| पं० | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-----|----------|------------|----------------------|
| १९१ | १९ | संवादं | ' संवादं |
| " | " | प्रचक्षते | प्रचक्षते' |
| १९२ | ३ | यत् | यदा |
| " | " | यत्=यदा । | |
| " | १० | ऽऽत्माऽ | आत्मा अ |
| " | " | जन्म | जन्म तस्मात् |
| १९३ | ९ | विपं | विपं |
| " | ११ | पापकर्म यः | यः पापकर्म |
| १९४ | ६ | अर्थ | कम् अर्थ |
| " | " | किं त्वं | त्वं |
| " | ९ | आश्व | आश्व० |
| " | १२ | वाग् | वाक् अ |
| " | १४ | निवच | निर्वच |
| १९५ | १५ | असास्वेषु | असा स्वेपु |
| " | २७ | भाष्ये | इति भाष्ये |
| १९६ | ३ | प्वजस्व ' | प्वजम्ब ' अथवा |
| " | ५ | आधा | अधा |
| " | १२ | नीष्टान्यु | नि इष्टानि उ |
| " | १४ | क्षर | वा क्षर |
| " | १५ | न्यम् | नि अम् |
| " | १७ | प्यान्यु | प्यानि उ |
| " | ११ | १६ | ९२३ । १६ |
| " | २७ | | (मै० सं० ४ । १२) । |
| १९७ | ३ | १ अ | १७ दशमा |
| " | ६ |) |) । |
| " | १५-१६ | अपरंचन | अपरं चन |
| १९८ | ९ | साहाय्ये | साहाय्येन |
| " | १६ | सुषुदुषां | सुषुषां |
| " | २४ | ऽऽत्म | (आत्म |
| " | " | त्कृत्वा । | त्कृत्वा) |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|-----------------|-----------------|
| २०० | २४ | स्तुनिर्न | स्तुतिर्न |
| २०१ | ३ | संध्यन्तरं | संध्यनन्तरं |
| " | १३ | वाक | वाके |
| " | १५ | पुरा | 'पुरा |
| " | १६ | तमस | तमसः |
| " | " | | ' |
| " | १८ | पुरावाचः | पुरा वाचः |
| २०२ | ४ |) अत्र | अत्र |
| " | " | भाष्ये आधि०डाशः | भाष्ये) |
| " | ६ |) |) |
| " | २८ | इदित्यं | इत्य |
| २०५ | १५ | त्प्राक्शि | त्प्राक् शि |
| " | २५ | कार्या | कार्यः ' |
| २०६ | ६ | आढ्यालुः | आढ्यालुः |
| २०७ | ५ | यज्ञे | यज्ञेन |
| " | ११ | ' प्रज्ञा | प्रज्ञा |
| " | २४ | पिंशानि | पिंशानी |
| " | २८ | स्थाना | स्थानां |
| २०८ | २४ | चद्वयं ' | च ' द्वयं |
| २१२ | ५ | ग्विल | ग्विलः |
| २१३ | ६ |) |) |
| २१५ | ७ | स्वगा | ' स्वगा |
| " | ८ | ' नास्ति | नास्ति |
| " | १० | आग्ने | आग्ने |
| " | २९ | कदाचिद् | कदाचिन् ' व |
| " | " | माना | मानाः ' |
| २१६ | ८ | = | (९८०, १ १३) = |
| " | २४ | १० | १ |
| " | २६ | म्नोत्रिनु | म्नोत्रियानु |
| २१७ | १४ | शब्द- | शब्दः |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|-----------------|--|
| २१७ | १९ | इत्यर्थः । | इत्यर्थः । |
| २१८ | ३ | ९ अ | अ |
| ” | ६ | तुर्फरीत् | तुर्फरी |
| ” | ” | तर्फि | तुर्फरी |
| ” | २१ | रिवत् | रिवत् |
| २१९ | ३ | ९ (| (|
| २२० | ११ | (| ’ (|
| ” | ” | परिभा. | परिभा० |
| २२१ | ३ | २४-२५ वृ | वृ |
| २२२ | ” | २ रो | रो |
| ” | १२-१३ | गुहा० १०) | गुहा० १०) न पठितं न वा व्याख्यातम् । |
| २२३ | १७ | यज्ञ | यज्ञे |
| ” | ” | दैव | दैवे |
| ” | २३ | सर्वम् । | सर्वम् । |
| ” | ” | मा० | माण्डू० |
| २२५ | ” | (| (धा० |
| ” | २४ | इत्त्वत्र | भाष्ये । वृत्तौ |
| २२८ | १४ | दन्त मा | दन्तमा |
| २३१ | १ | १३१ | २३१ |
| २३४ | २२ | काले । | काले |
| ” | २५ | अह | ‘ अह |
| ” | ” | म्वते | म्वते ’ |
| २३५ | ४ | चिरो | ‘ चिरो |
| ” | ” | काशात् | काशात् ’ |
| ” | ११ | वक्तारं | वक्तारं च |
| ” | १८ | न्वितम् । | न्वितम् |
| २३६ | २८ | सौम्यो भवति | ‘ सौम्यो भवति ’ |
| ” | २९ | स्त्रीपुंसयोः ‘ | ‘ स्त्रीपुंसयोः |
| २४१ | १८ | ८ | । |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|--------------|---------------------|
| २४३ | ९ | १ | १ । १० । १ |
| " | १२ | १० | १० । २ |
| " | ३१ | ८ | १ । १० । ८ |
| २४५ | २८ | रूपमप्स | रूपम् अप्स |
| २४७ | २६ | विवृतं | ' विवृतं |
| २४८ | ४ | कृत्वः | कृत्वः ऋत्नशाखायाम् |
| " | ३२ | आत्मा ' । | आत्मा ' |
| २४९ | ७ | ।) |) |
| " | ९ | शीर्षं | शीर्षं |
| " | १६ | तेजसा | ' तेजसा |
| " | २७-२८ | कानि चिन् | कानिचित् |
| " | ३१ | केषां | केषां- |
| २५० | ७ | सदमनम् | सदनम् |
| " | १४ | कदा | कदापि |
| " | १६ | कदा | कदा- |
| " | २२ |) |) । |
| " | २३ | यम्मात् | प्रमथनान् यम्मात् |
| " | " | ' सोम ' | अत्र ' सोम ' |
| " | २८ | ' इदमय ' | इदमयः |
| २५२ | २० | दीर् | दीर् |
| २५३ | ४ | अय | आत्मस्यत्वे नाय |
| " | २५ | शुद्धिः | शुद्धो |
| " | ३८ | मतामेत | मताम् । ए |
| २५४ | ८ | इति | ' इति ' |
| " | ११ | अग्नि | भोग्निवन् |
| " | १३ | मद्य | मद्य |
| " | १७ | कामयमानाः | कामयमानाः । |
| " | २० | सुतः | सुतः |
| " | २६ | । कामयमानानि | कामयमानानि । |
| " | ३७ | संस्कृतः | संस्कृतः । |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|--------------|---------------|
| २९५ | ७-८ | त्रिष्टुप् छ | त्रिष्टुप्छ |
| " | २६ | सोमः । | सोमः |
| २९६ | ९ | वृषपः | वृषणः |
| " | १२ | अव्यम | अव्यम् अ |
| " | २९ | सोमः | । सोमः |
| २९७ | ४ | । तस्य | तस्य |
| " | २१ | इत | दूत |
| " | ३१ | आल्पा | अल्पा |
| २९८ | १४ | सत्याना | सप्ताना |
| " | " | । एक | एक |
| २९९ | ३ | १८इन्द्रः | इन्द्रः |
| " | १३ | कस्य चित् | कस्याचित् |
| " | २३ | मे | ' मे |
| " | २८ | निगूढम् | निगूढम् अ |
| २६० | ३ | १ यद्वा | यद्वा |
| " | " | ईमेन | ईम् ऐन |
| " | " | भाषमा | भावम् आ |
| " | १२ | तानु | तान् उ |
| " | १६ | पुत्रो | पुत्रो |
| " | १७ | ईमिम | ईम् इम |
| " | २० | असत् | असत् |
| " | २५ | ईमि | ईम् ए |
| २६१ | ३२ | । मिलित्व | मिलित्वा |
| २६२ | ३ | १३ सप्त | सप्त |
| " | १७ | प्रपञ्चयो | प्रपञ्चो |
| " | १८ | सोह | सोऽह |
| " | २३ | ईक्षत | ऐक्षत |
| " | २५ | वेदान्त० | वेदान्तसूत्रं |
| " | २७ | इव | ' इव ' |
| २६३ | ३ | १ त्पर्यः | त्पर्यः |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|-------------|--------------|
| २६३ | ७ | मुलेण | मुलेन |
| " | २८ | निष्पः | । निष्पः |
| २६४ | ३ | २ तद | तद |
| " | १७ | चिक्युः | चिक्युः' |
| " | ११ | अमर्त्यः | ' अमर्त्यः |
| २६५ | ३ | ११ लोके | लोके |
| " | ११ | सर्वत्र | सर्वत्र |
| " | " | वर्तते | वर्तते |
| " | १७ | इत्यर्थः | इत्यर्थः ' |
| २६६ | १५ | तत् | 'तत् |
| " | १७ | मास | म् आस |
| " | २९ | ऊमाः | ऊमाः । |
| २६७ | ६ | यज्ञे | जज्ञे |
| " | " | न्वयः | न्वयः ' |
| " | ९ | मास | म् अस्स |
| " | १८ | मिमम् | म्=इमस् |
| २६८ | ६ | अद्य | 'अद्य |
| " | १३ | ' मयोभून् ' | मयोभून् |
| " | १२ | 'युद्धे' | युद्धे |
| " | २० | कीदृशान् | कीदृशान् । |
| " | २३ | गमनमु | गमनम् उ |
| " | २६ | क्रियाम् | क्रियाम् क्र |
| " | २८ | इत्यर्थः | इत्यर्थः ' |
| २६९ | ३ | ७ ते | ते |
| " | ७ | विभ्रानि | विभ्रानि |
| " | १३ | अपत्यायः | अपत्याय । |
| " | १४ | ऋचः = | ऋचः |
| २६९ | १६ | अनु | ' अनु |
| " | २४ | अधिम् | अधि इ |
| " | " | इन्द्रः | इन्द्र |

| पत्रं | पदशक्तिः | भशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|----------|------------|-------------|
| २७० | ३ | १३-१४ व | व |
| " | " | नाप | नापे |
| " | ७ | इतिवि | इति वि |
| " | ११ | सन्तमि | सन्तम् इ |
| " | २३ | कः | ' क. |
| २७१ | ३ | १ आ | आ |
| " | ८ | यर्थः | यर्थ ' . |
| " | २२ | अग्निः | अग्नि |
| २७२ | १४ | तीतिव | तीति व |
| " | २६ | धरि | धरि |
| २७३ | ३ | ३ अत्र | अत्र |
| " | ६ | समस्तौ | समस्तो |
| २७४ | २९ | पितृणाया | पितृयाणा |
| २७५ | ३ | १० ' पक्षौ | ' पक्षौ |
| " | ८ | योगौ । | योगौ |
| २७६ | ३ | १० परि | परि |
| " | १६ | मानमिति | मानम् इति |
| २७७ | ३ | १० व | व |
| " | ७ | तीर्थेभिः | तीर्थेभिः । |
| " | १८ | ११ | ११-१२ |
| २७८ | ३ | १९ | १६ |
| " | १० | । वेद. | वेद. |
| २७९ | ७ | माम् = | माम् । |
| " | १० | अपयेत् । | अपयेत् |
| २७९ | २० | अम मृ | आमृ |
| २८० | ३ | ११ मत | मन |
| " | ७ | शातं | शानं |
| २८१ | ३१ | करणंष्टनम् | करणं ष्टनम् |

४४

शुद्धिपत्रकम् ।

| पत्रं | 'पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|-----------|------------|------------|
| २८२ | १८ | सनानाः | सेनानीः |
| ” | ३१ | स्यनुमानाः | स्यनुयाजाः |

- अस्यां टिप्पण्यां बहुषु स्थानेषु स्वरे परेऽनुस्वारस्य मकारः कर्तव्य आसीत् । सोऽनवधानेन न कृतः ।

इति शुद्धिपत्रकम् ।

